श्रीः

सुश्रुतसंहितायाः विषयानुक्रमणिका

सूत्राङ्काः विषयाः पृष्ठाङ्काः

प्रथम अध्याय

१ वेदोत्पत्ति अध्याय का उपक्रम १
२–४ औपधेनव आदि शिष्यों का आयुर्वेदाध्ययनार्थ धन्वन्तरि के समीप आगमन २–३
५ औपधेनवादि का धन्वन्तरिद्वारा स्वागत करना ३
६ आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है ,,
७ आयुर्वेद के शल्यादिक आठ अङ्ग ४
८ शल्यादिक आठ अङ्गों का संक्षेप से लक्षण ,,
शल्य का लक्षण ,,
शालाक्य का लक्षण ,,
कायचिकित्सा का लक्षण ५
भूतविद्या का लक्षण ५
कौमारभृत्य का लक्षण ५
अगदतन्त्र का लक्षण ५
रसायनतन्त्र का लक्षण ५
वाजीकरणतन्त्रका लक्षण ५
९ अष्टाङ्ग उपसंहार ५
१० शल्याङ्ग प्रधान आयुर्वेदोपदेश की भगवान् धन्वन्तरि के आगे औपधेनवादि शिष्यों की प्रार्थना ६
११ सब की ओर से सुश्रुत को प्रश्नादि का अधिकार देना ६
१२ सुश्रुत को आयुर्वेद का प्रयोजन बताना ६

सूत्राङ्काः विषयाः पृष्ठाङ्काः

१३ आयुर्वेद की निरुक्ति ६
१४ प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा शल्यार्थ की अनुकूलता सिद्धि ६
१५ शल्याङ्ग का आदित्व निरूपण करना ७
१६ आयुर्वेद तन्त्रों में शल्याङ्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करना ७
१७ शल्यतन्त्र की प्रशंसा ७
१८ आयुर्वेद की गुरु परम्परा से प्राप्ति ७
१९ भगवान् धन्वन्तरि का आत्मपरिचय देना ८
२० आयुर्वेदाधिष्ठान भूत पुरुष का निरूपण ८
२१ व्याधियों का सामान्य वर्णन ८
२२ व्याधियों के चार भेद ८
२३ आगन्तु व्याधियाँ ८
२३ शारीरक व्याधियाँ ८
२३ मानसिक व्याधियाँ ८
२३ स्वाभाविक व्याधियाँ ८
२४ व्याधियों का आश्रय निरूपण करना ९
२५ व्याधियों के निग्रह के कारण ९
२६ संशोधन आदि में आहार की मुख्यता तथा स्थावर, जङ्गम भेद से ओषधियों का द्विविध वर्णन १०
२७ स्थावर ओषधियों के चार भेद १०
२८ जङ्गम ओषधियों के चार भेद १०

सूत्राङ्काः विषयाः पृष्ठाङ्काः

२९–३० ओषधियों के चिकित्सोपयोगी अङ्गों का वर्णन ११
३१ पार्थिव ओषधियां ११
३२ कालकृत ओषधियों का निरूपण ११
३३ कालकृत ओषधियों का प्रयोजन ११
३४ पूर्वोक्त चतुर्विध ओषधियां शारीर विकारों के प्रकोप और प्रशम में कारणभूत हैं १२
३५–३६ आगन्तु रोगों की आश्रय भेद से चिकित्सा १२
३७ पूर्व निर्दिष्ट (व्याधि, पुरुष, औषध, क्रियाकाल) चतुष्टय का उपसंहार १२
३८ प्रथमाध्यायोक्त संक्षिप्तार्थ को चिकित्सा बीज सिद्ध करना १२
३९ सुश्रुततन्त्रान्तर्गत स्थान एवं अध्यायों की संख्या सूची १२
४० सुश्रुत तन्त्र के अध्ययन का फल १२

द्वितीय अध्याय

१ शिष्योपनयनीय अध्याय का उपक्रम १३
२ शिष्यपरीक्षा १३
३ आयुर्वेद दीक्षा विधि १३
४–५ आयुर्वेदाध्ययन के अधिकारी १३
६ शिष्य का कर्तव्य निरू-

पण १४
७ शिष्य के विषय में गुरु का आत्मकर्तव्य निरूपण १४
८ रोगी के लिये वैद्य का कर्तव्य १४
९-१० आयुर्वेद के अध्ययन में वर्जित काल १४

तृतीय अध्याय

१ अध्ययन सम्प्रदानीय अध्याय का उपक्रम १५
२ सूत्रादि प्रत्येक स्थानों की अध्याय संख्या १५
३-१० सूत्रस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम १५
११ 'सूत्रस्थान' की निरुक्ति १५
१२ निदानस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम १५
१३ 'निदानस्थान' की निरुक्ति १५
१४-१५ शारीरस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम १६
१६ 'शारीरस्थान' का प्रयोजन १६
१७-२४ चिकित्सास्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम १६
२५ चिकित्सास्थान की निरुक्ति १६
२६ कल्पस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम १६
२७ कल्पस्थान की निरुक्ति १६
२८ उपसंहार १६
२९ उत्तरतन्त्र के प्रथम अध्याय के 'औपद्रविक' नामकरण में कारण १७
३०-३३ शालाक्यतन्त्रान्तर्गत अध्यायों के नाम १७
३४-३६ कौमारतन्त्रान्तर्गत अध्यायों के नाम १७
३७-३९ कायचिकित्सान्तर्गत अध्यायों के नाम १७
४० भूतविद्यान्तर्गत अध्यायों के नाम १७
४१ 'तन्त्रभूषण' अध्यायों के नाम १८
४२ उत्तरतन्त्र की निरुक्ति १८
४३-४५ अष्टाङ्ग आयुर्वेद का संक्षेप से तन्त्रद्वय में नियमन १८
४६ आयुर्वेद का उपासक वैद्य राजार्ह होता है १८
४७-५१ केवल शास्त्रज्ञ अथवा केवल कर्मनिष्णात भिषक् का चिकित्सा कार्य में अनधिकार १८
५२ उभयज्ञ अर्थात् शास्त्रज्ञ और कर्म निष्णात भिषक् की प्रशंसा १९
५३ आयुर्वेद शास्त्र के अध्यापन और अध्ययन का प्रकार १९
५४-५५ अध्ययन समाप्त कर लेने पर शिष्य का कर्तव्य १९

चतुर्थ अध्याय

१ प्रभाषणीय अध्याय का उपक्रम १९
२-३ प्रभाषण का प्रयोजन २०
४ इस शास्त्र के व्याख्यान की आवश्यकता २०
५-६ इतर शास्त्रों में वर्णित विषयों के विज्ञान का उपाय २०
७ गुरु मुख से आयुर्वेद को अध्ययन करने वाले ही व्यक्ति 'वैद्य' संज्ञा के अधिकारी हो सकते हैं २०
८ औपधेनवादि तन्त्रों की अन्य समानतन्त्रों में प्रधानता का निर्देश २१

पांचवां अध्याय

१ अग्रोपहरणीय अध्याय का उपक्रम २१
२ त्रिविध चिकित्साकर्म २१
३ शस्त्रकर्म की प्रधानता २१
४ शस्त्रक्रिया के आठ भेद २१
५ शस्त्रक्रिया में उपहरणीय साधन २२
६ शस्त्रक्रिया का उपदेश २२
७-८ शस्त्रक्रिया में प्रशस्त व्रण के लक्षण २३
९ शस्त्र व्यवहार करने वाले चिकित्सक के गुण २३
१०-११ एक व्रण से पाक स्थान की शुद्धि न होने पर और व्रण कर देने चाहिये २३
१२ तिर्यक् छेद करने के स्थान २३
१३-१४ उक्त स्थानों के अतिरिक्त इतरत्र तिर्यक् छेद से हानि २३
१५ मूढ़गर्भादि में खाली पेट शस्त्रक्रिया करनी चाहिये २४
१६ शस्त्रक्रिया के अनन्तर उपचार विधान २४
१७ व्रण के धूपन द्रव्य २४
१८-३१ व्रण रोगी का रक्षाकर्म २५
३२ सुरक्षित व्रणरोगी के स्वकर्तव्य २६
३३-३४ व्रण में पट्टी आदि बांधने और खोलने के समय पर विचार २६
३५ व्रण रोग में कषाय लेपन बंधन आदि एवं आहारादि का विधान २६
३६-३७ व्रण की रोपण चिकित्सा कब करनी चाहिये ? २६
३८ काल विशेष से व्रण में पट्टी आदि बांधने और खोलने का निर्णय २६
३९ अतिपाती रोगों में पूर्वोक्त विधि आवश्यक नहीं २६
४० शस्त्रजनित पीडा को शान्त करने लिये घृत का परिषेक (टकोर) करना चाहिये २६

छठा अध्याय

१ ऋतुचर्या अध्याय का उपक्रम २७
२ काल शब्द की निरुक्ति २७
३ संवत्सरात्मक काल के गति विशेष से निमेषादि विभाग २७

४ निमेषादि के लक्षण २७
५ छः ऋतुओं का विभाग २८
६ दक्षिण और उत्तर दो प्रकार का अयन-विभाग २८
७ चन्द्र, सूर्य और वायु ही प्रजापालन में कारण हैं २८
८ युगों का वर्णन २९
९ संशोधनाश्रय वर्षादिक्रम से ऋतुविभाग २९
१०–१२ वर्षादि ऋतुओं में पित्तादि दोषों के चयप्रकोप किस प्रकार होते हैं? २९–३०
१३ प्रकुपित दोषों के संशोधन का उपदेश ३०
१४ वात आदि दोषों का स्वाभाविक संशमन काल ३१
१५ अहोरात्र में भी संवत्सर लक्षणों का अतिदेश ३१
१६ अव्यापन्न ऋतुओं में औषधों का गुणशाली होना ३२
१७ ऋतुओं की विकृति के कारण ३२
१८ विकृत ओषधियों के उपयोग से रोगोत्पत्ति ३२
१९ विकृत ऋतुओं का चिकित्सा सूत्र ३२
२० ऋतुविकृति के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी व्याधियां हो जाती हैं ३२
२१ ऋतुविकृतिजन्य रोगों की चिकित्सा ३३
२२–३७ अव्यापन्न ऋतुओं के लक्षण ३३–३४
३८ संक्षेप से ऋतुविकृति वर्णन ३५
३९ वसन्त आदि ऋतुओं में दोषहरण व्यवस्था ३५

सातवां अध्याय

१ यन्त्रविधि अध्याय का उपक्रम ३५
२ यन्त्रों की गणना ३५
३ यन्त्रों का सामान्य लक्षण ३६
४–५ यन्त्रों के छः प्रकार और अवान्तर भेद ३६
६ यन्त्र बनाने के द्रव्य ३६
७–८ यन्त्र निर्माण विधि ३६
९ स्वस्तिक यन्त्रों के नाम लक्षण और कर्म ३७
१० संदंशयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ३८
११ तालयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ३८
१२ नाडीयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ३८
१३ शलाकायन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ४०–४१
१४–१५ उपयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ४२–४४
१६–१७ यन्त्र कर्म ४४
१८ यन्त्र दोष ४४
१९ प्रशस्त यन्त्र ४५
२० यन्त्रों के विषय भेद ४५
२१ यन्त्रों में कङ्कमुख की प्रधानता ४५

आठवां अध्याय

१ शस्त्रावचारणीय अध्याय का उपक्रम ४५
२ बीस प्रकार के शस्त्र ४५–४८
३ शस्त्रों का अष्टविध कर्म में विषय भेद ४८
४ शस्त्रकर्म में शस्त्रग्रहण करने की विधि ४८–४९
५ संक्षेप से शस्त्राकृतिनिदर्शन एवं शस्त्रों के प्रमाण ४९
६ शस्त्रों के गुण ४९
७ शस्त्रों के दोष ४९
८ शस्त्रों की धारा ५०
९ आहरण और एषण कर्म में धाराओं का भेद ५०
१० शस्त्रों की त्रिविध पायना का निरूपण ५०
११ शस्त्र तीक्ष्ण करने के लिये शिला ५०
१२ किस प्रकार का शस्त्र कर्म में प्रयुक्त करना चाहिये ५०
१३ अनुशस्त्र ५०
१४–१६ अनुशस्त्रों के विषय ५०
१७ शस्त्रों की गुणसम्पत्ति में कारण ५१
१८ वैद्य को शस्त्र परिचय अवश्य करना चाहिये ५२

नवम अध्याय

१ योग्यासूत्रीय अध्याय का उपक्रम ५२
२ योग्या करने की आवश्यकता ५२
३ छेद्यादि शस्त्र कर्म में योग्या प्रदर्शन ५२
४–१० अनिर्दिष्ट योग्यार्ह पुष्पफलादि में योग्या करानी चाहिये ५२

दशम अध्याय

१ विशिखाऽनुप्रवेशनीय अध्याय का उपक्रम ५३
२ किस प्रकार का वैद्य चिकित्साधिकारी हो सकता है ५३
३ रोग विज्ञान के छः साधन ५३–५४
४ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और प्रश्न द्वारा रोग विज्ञान प्रकार ५४
५ अपरीक्षित रोगों में चिकित्सक किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है ५६
६ साध्य, याप्य और असाध्य रोगों में वैद्य का कर्तव्य ५६
७ किन व्यक्तियों की साध्य व्याधियाँ भी दुश्चिकित्स्य होती हैं? ५६
८ वैद्य को परदारा सम्पर्क का निषेध ५७

ग्यारहवां अध्याय

१ क्षारपाक विधि अध्याय का उपक्रम ५७

२ शस्त्रानुशस्त्रों में क्षार की प्रधानता ५७
३ क्षार की निरुक्ति ५७
३ क्षार के गुण और कर्म ५७
४ क्षार के दो भेद ५८
४ प्रतिसारणीय क्षार के विषय ५८
४ पानीय क्षार के विषय ५८
५ क्षारचिकित्सा के अयोग्य रोगी ५८
५ पानीय क्षार पाक विधान ५८
६–९ प्रतिसारणीयक्षार निर्माण विधि ५९–६०
१० पाक्य संज्ञक तीक्ष्णक्षार का निर्माण प्रकार ६०
११ व्याधि के बलाबल को देखकर क्षार प्रयोग करना चाहिये ६०
११ मृदु क्षार में बलाधानार्थ क्षारोदक का प्रक्षेप ६०
१२ क्षार के गुण ६१
१३ क्षार के दोष ६१
१४ क्षार प्रतिसारण की विधि ६१
१५ क्षार से सम्यग् दग्ध के लक्षण ६२
१५ सम्यग् दग्ध के पश्चात् लक्षण ६२
१६–२१ क्षारदग्ध वेदना अम्ल से शान्त होती है, इसमें युक्ति ६३
२२ क्षार द्वारा सम्यक्, हीन और अतिदग्ध के लक्षण ६४
२३ क्षारदग्ध व्रणकी चिकित्सा ६४
२४ द्विविध क्षार का प्रतिषेध विषय ६४
२५ प्रदेश विशेष में क्षार का निषेध ६४
२६ क्षार का अवस्था विशेष में निषेध ६४
२७ सम्यक् प्रयुक्त क्षार का महागुण शाली होना ६४-६५

बारहवां अध्याय

१ अग्निकर्म विधि अध्याय का उपक्रम ६५
२ अग्निकर्म का महत्त्व ६५
३ अग्निकर्म के साधन ६५
४ अग्निकर्म का काल और अपवाद ६५
५ सर्वाग्निकर्माङ्ग-विधान ६६
६ अग्निकर्म में एकीयमत ६६
७ त्वगादि में अग्निदाह के पृथक् २ लक्षण ६६
८ रोगभेद से शरीराङ्गों में अग्निकर्म विधान ६६
९ अग्निकर्म विषय ६६
१० दाहकर्म के वलयादि आकृतिभेद ६७
११ रोगस्थान, मर्म, बलादि देखकर अग्नि कर्म निश्चित करे ६७
१२ सम्यग्दग्ध चिकित्सा ६७
१३ अग्निदाह के अनधिकारी ६७
१४ स्नेहदग्ध के लक्षण ६७
१५ अग्निदग्ध के चार भेद ६७
१६–१७ दहन के सार्वदैहिक लक्षण और उनकी सम्प्राप्ति ६८
१८–२० प्लुष्टदग्ध की चिकित्सा ६८
२१ दुर्दग्ध की चिकित्सा ६८
२२–२३ सम्यक् दग्ध की चिकित्सा ६९
२४–२५ अतिदग्ध की चिकित्सा ६९
२६–२७ सर्वाग्नि दग्धव्रणों के लिये रोपण घृत ६९
२८ स्नेहदग्ध की चिकित्सा ६९
२८–३६ धूमोपहत लक्षण
,, ,, चिकित्सा ६९
३७–३८ उष्णवात-आतप और विद्युद् आदि से दग्ध की चिकित्सा ७०

तेरहवां अध्याय

१ जलौकावचारणीय अध्याय का उपक्रम ७१
२ जलौका विषय ७१
३ जलौकाप्रसङ्गप्राप्त शृङ्ग और अलाबुद्वारा रक्तमोक्षण ७१
४–६ वातादि दुष्ट रक्त क्रमशः शृङ्ग, जलौका और अलाबु से निकालना चाहिये ७१
७ जलौका प्रसङ्ग में शृङ्ग और अलाबु का प्रकार ७१
८ जलौका शब्द की निरुक्ति ७२
९ जलौकाओं का संख्या-निर्देश ७२
१० सविष जलौकाएं ७२
११ निर्विष जलौकाएं ७२
१२ निर्विष जलौकाओं के प्रशस्त क्षेत्र ७२
१३–१४ क्षेत्रभेद से जलौकाओं का सविष निर्विषत्व ७३
१५ जलौकाओं के पकड़ने का उपाय ७३
१६ जलौकाओं का पोषणक्रम ७३
१७ त्याज्य जलौका ७३
१८ जलौकाओं का प्रयोग ७३
१९ रोगाधिष्ठान में उनका ग्रहण लक्षण ७३
२० जलौका द्वारा शुद्धरक्तपान का विज्ञानोपाय
२१ रक्ततृप्त जलौकाओं में से रक्त निकालने का विधान ७४
२२ रक्त मोक्षण के अनन्तर कालीन उपाय ७४
२३ संग्रह श्लोक ७५

चौदहवां अध्याय

१ शोणितवर्णनीय अध्याय का उपक्रम ७५
२–४ रस का वर्णन ७५–७६
५–६ रक्त की उत्पत्ति का वर्णन ७७
७ रक्त से आर्तव की उत्पत्ति ७८
८ रक्त और आर्तव का स्वभावतः भेद ७८
९–१० रक्तस्वभाव में मतान्तर ७८
१० रक्त पञ्चभूतात्मक है ७८
११ रक्तादि धातुओं की क्रमोत्पत्ति का वर्णन ७८
१२–१३ रस अन्य धातुओं का पोषक है ७८

१४ रस की निरुक्ति ८०
१५-१६ रस का एक एक धातु में अवस्थान काल ८०
१७ शरीर में तीन प्रकार से रसगति ८०
१८ वाजीकरण ओषधियों में शीघ्रशुक्ररेचकतागुण ८१
१९ बालकों में शुक्र प्रतीत न होने में युक्ति ८२
२० वृद्धावस्था में अन्नरस पोषक नहीं होता ८२
२१ धातुशब्द की निरुक्ति ८३
२२ विकृत रक्त के दोषभेद से लक्षण ८३
२३ शुद्ध शुक्रशोणित के लक्षण ८४
२४ विस्राव्य रोगियों का अतिदेश से कथन
२४ अविस्राव्य रोगी ८४
२५ दो प्रकार का रक्तमोक्षण ८४
२६ पछने का विधान ८४
२७-२८ रक्तस्राव में प्रयोग के हेतु ८४
२९ दुष्टरक्त के न निकालने में दोष ८४
३० रक्तातियोग और अतियोगजन्य व्यापत्तियां ८४
३१ रक्तविस्रावण का योग्य समय ८५
३२ समयोगस्रुत रक्त के लक्षण ८५
३३-३४ रक्तविस्रावण का फल ८५
३५ अप्रवृत्त रक्त का प्रवर्तन ८५
३६-३९ रक्तातिप्रवृत्ति में रक्तरोध के उपाय ८५-८७
४०-४३ रक्तस्रावण को रोकने के चार उपाय ८७
४४ रक्तस्राव में अतिक्रम का निषेध ८७
४५ शोणितरक्षा का महत्त्व ८८
४६ शोणित मोक्षण में पश्चात्कर्म ८८

पन्द्रहवां अध्याय

१ दोष-धातु-मलों के क्षयवृद्धि-विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम ८८
२ दोषों के क्षयवृद्धि वर्णन का कारण ८८
३ प्रकृतिस्थ वात के कार्य ८८
४ प्रकृतिस्थ पित्त के कार्य ८८
५ ,, ,, कफ के कार्य ८८
६ प्रकृतिस्थ धातुओं के कार्य ८९
७ मलों के स्वाभाविक कार्य ८९
८ उपधातुओं के स्वाभाविक कार्य और धातुओं के परिरक्षण का उपदेश ८९
९ दोषों के क्षयलक्षण और चिकित्सा ९०
१० धातुक्षय के लक्षण और संक्षेप से धातुक्षय-चिकित्सा ९०
११ मलक्षय के लक्षण और चिकित्सा ९१
१२ उपधातु क्षय के लक्षण और चिकित्सा ९२
१३-१४ अतिवृद्ध दोषों के लक्षण ९२
१५ अतिवृद्ध धातुओं के लक्षण ९२
१६ अतिवृद्ध मलों के लक्षण ९३
१७ अतिवृद्ध उपधातुओं के लक्षण ९३
१८ अतिवृद्ध दोषधातुमलादि की चिकित्सा ९३
१९ वृद्ध पूर्वधातु उत्तरधातु को बढ़ाता है ९३
२० बल (ओज) के लक्षण ९३
२१ ओज के प्राकृत कर्म ९३
२२-२३ ओज के गुण निर्देश ९४
२४-२५ ओज के क्षयहेतु ९५
२६-२८ ओज की तीन व्यापत्तियां ९५
२९-३२ ओजःक्षय की चिकित्सा ९५
३३-३४ मेद वृद्धि का निदान और चिकित्सा ९६
३५ कार्श्य के लक्षण ९७
३६ ,, चिकित्सा ९७
३७ मध्यशरीर के कारण और गुण ९७
३८ स्थूल और कृश व्यक्ति दोषवान् और मध्यशरीर श्रेष्ठ होते हैं ९७
३९ दोष ही धातु और मलों के क्षय में कारण होते हैं ९८
४० दोष, धातु और मलों के परिमाण निर्देश न करने के कारण ९८
४१ विना स्वास्थ्य के दोषसमता के ज्ञान का अभाव ९८
४२ दोष क्षय वृद्धि लक्षण अनुमान से जाने जाते हैं ९८
४३ स्वस्थ और अस्वस्थ के प्रति वैद्य का कर्तव्य ९८
४४ स्वस्थ के लक्षण ९८

सोलहवां अध्याय

१ कर्णव्यधबंध विधि अध्याय का उपक्रम ९९
२ कर्णव्यध का विधान ९९
३ अन्यदेशविद्ध का ज्ञानोपाय ९९
४ कर्णसिरावेध के दोष ९९
५ दुर्विद्ध कर्ण की व्यापत्ति और चिकित्सा १००
६ सम्यग् विद्ध में पश्चात्कर्म १००
७ कर्णोपद्रव शान्त होने पर वर्धन के उपाय १००
८ छिन्न कर्ण संधान १००
९-११ कर्णवेध की पन्द्रह आकृतियां १००-१०१
१२-१५ कुछ कर्णबन्धों के सन्धानसूत्र १०१
१६ कर्णबन्ध विधि १०२
१७ कर्णबन्ध में परिहार्य १०२
१८ किस प्रकार का कर्ण सन्धेय नहीं होता १०२
१९-२२ कर्णव्यध में पश्चात् कर्म १०२
२३-२४ व्रण रूढ होने पर कर्ण का पुनर्वर्धन १०३
२५ अरूढ व्रण के वर्धन में दोष १०३
२६ किस प्रकार का कर्ण बढ़ाना चाहिये १०३
२७ बन्धों का अपरि-

संख्येय होना १०३
२८-४६ कर्णपालि रोग और चिकित्सा १०३-१०४
४७-५१ छिन्न नासिका की संधान विधि १०४
५२ छिन्न ओष्ठ संधानविधि १०५

सत्रहवां अध्याय

१ आमपक्वैषणीय अध्याय का उपक्रम १०५
२ व्रणशोफ सामान्य लक्षण १०५
३-४ दोष भेद से शोफ के विशेष लक्षण १०६
५-९ आम, पच्यमान और पक्व शोफ के लक्षण १०७-१०८
१० शोफ की आमादि अवस्थाओं को जानने वाला ही वैद्य है और इतर तस्कर होते हैं १०८
११-१२ एक दोष से भी आरम्भ होने वाले शोफ के पाक काल में सब दोषों का मिश्रण १०९
१३-१४ आम व्रण को न काटे और पक्व की उपेक्षा न करे १०९-११०
१५-१७ शस्त्रकर्म में पूर्व कर्म ११०
१८ शोफ की चिकित्सा न करने में हानि ११०
१९ पक्व व्रण की चिकित्सा करने में सफलता प्राप्त होती है १११
२० पक्व शोफ की उपेक्षा में दोष १११
२१-२२ शोफ के विम्लापनादि उपक्रम १११

अठारहवां अध्याय

१ व्रणालेपन बन्धन विधि अध्याय का उपक्रम १११
२ व्रण के उपक्रम, आलेप और बन्धन की प्रधानता १११
३ प्रतिलोम कृत आलेपन फल १११
४ लेप को सूखने न देना चाहिये १११
५-६ प्रलेप, प्रदेह और आलेप भेद से लेप तीन प्रकार का होता है ११२
७-१० आलेप की कालावधि और फल ११२
११ पतले लेप का कारण ११२
१२-१५ आलेप लगाने के कुछ नियम ११२-११३
१६ व्रण बन्धन द्रव्य ११३
१७ चौदह बन्धन भेदों का नाम निर्देश ११३
१८ पूर्वोक्त बन्धों के विषय ११३
१९ बन्ध यन्त्रण के भेद ११७
२० बंध (पट्टी) बांधने की विधि ११७
२१ अतिस्निग्धरूक्ष वर्ति-कल्क का निषेध ११७
२२ व्रणायतन विशेष से तीन प्रकार का बन्ध ११७
२३ गाढ़, शिथिल और सम बन्धनों के लक्षण ११७
२४ व्रण के आयतन विशेष में बन्ध विशेष की योजना ११७
२५ दोष भेद से बन्ध-भेद ११७
२६ दोष काल विशेष से बंध में विशेषता ११८
२७ गाढादिस्थान में अन्यथाऽबद्ध बन्ध के दोष ११८
२८ यथोचित बंध के गुण ११८
२९ विना बंध के व्रणदोष ११८
३०-३१ बन्ध अत्यन्त गुणवान् होता है ११८
३२ अबन्ध्य रोग ११८
३३ कुष्ठ, अग्निदग्ध आदि रोगों में बंध निषेध ११८
३४-३५ देश और दोषादि की परीक्षा कर बन्ध निश्चित करना चाहिये ११८
३६-४२ व्रणबन्ध की विधि ११९
४३-४५ व्रणबंध के गुण ११९

उन्नीसवां अध्याय

१ व्रणितोपासनीय अध्याय का उपक्रम ११९
२-३ व्रणित के योग्य आगार का निर्माण ११९
४-५ व्रणरोगी की शय्या १२०
६-७ व्रणरोगी के पास मित्रों का निवास १२१
८-९ व्रणरोगी को दिन में नहीं सोना चाहिये १२१
१०-१२ व्रणरोगी को उठने बैठने में व्रणरक्षा करनी चाहिये १२१
१३-१४ व्रणरोगी को गम्य स्त्रियों के दर्शन आदि का निषेध १२१
१५-१६ व्रणरोगी को वर्ज्य आहार १२१
१७-१८ व्रणरोगी को मद्य नहीं पीना चाहिये १२२
१९-२१ व्रणरोगी के लिये वर्ज्य वातातपादि का वर्णन १२२
२०-२१ व्रणरोगी को यह क्यों छोड़ने चाहिये १२२
२२ व्रणरोगी को विशेष आगन्तु बाधाओं का परिहार करना चाहिए १२२
२३ राक्षस भूतादि से रक्षार्थ धूप बलि उपहारादि देना १२२
२४ राक्षस भूतादि की प्रसन्नता का फल १२२
२५ मन की प्रसन्नता का फल १२३
२६ प्रातः सायं वेदमन्त्रों द्वारा रोगी की रक्षा करनी चाहिये १२३
२७ व्रण रोगी की रक्षा के लिये धूप १२३
२८ शिरोधार्य ओषधियों का वर्णन १२३
२९ व्यजनबीजनादि द्वारा व्रण की रक्षा करना १२३

३० राक्षसों को नष्ट करने वाली विधि का फल १२३
३१-३३ व्रण रोगी के पथ्य आहार १२३
३४-३६ यथोक्त आहार आचार पर नियमित रोगी १२४

बीसवां अध्याय

१ हिताहितीय अध्याय का उपक्रम १२४
२ हिताहितीय विषय में अन्य मत १२४
३ एकान्त हित द्रव्य और एकान्त अहित द्रव्य १२४
४ सर्वप्राणिहित रक्तशाल्यादि आहारवर्ग १२५
५ हितविहार १२५
६ हिताहित १२५
७ संयोग से अहित १२५
८ विरुद्ध द्रव्यों का भी क्वचित्प्रयोग १२५
९ स्वस्थ व्यक्ति में ही एकान्त हिताहित की व्यवस्था होती है १२५
१०-१२ संयोग से अहित द्रव्यों का वर्णन १२६
१३ कर्म विरुद्ध द्रव्यों का वर्णन १२६
१४ मान विरुद्ध द्रव्यों का वर्णन १२७
१५ वीर्य और विपाक से विरुद्ध रसद्वन्द्व १२७
१६ अतियोग युक्त स्निग्धादि द्रव्य भी अहित होते हैं १२७
१७-१८ विरुद्ध रस वीर्य वाले द्रव्यों के सेवन से हानि १२७
१९ अहित का सामान्य वर्णन १२७
२० विरुद्धाशनजन्य रोगों की चिकित्सा १२८
२१ कई व्यक्तियों को विरुद्धाशन भी अहित नहीं होता १२९
२२-२९ दिग्भेद से वातगुण कथन १२९

इक्कीसवां अध्याय

१ व्रणप्रश्न अध्याय का उपक्रम १२९
२-३ वात पित्त कफ ही देह की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के कारण होते हैं १२९
४ वातादि की निरुक्ति १३०
५ प्रकृतिस्थ वातादि दोषों के स्थान १३०
६ प्रत्येक स्थान के पुनः पांच विभाग १३१
७ कफ, पित्त, वात—यह देह के धारक हैं १३१
८ अग्नि और पित्त म परस्पर भेद विचार १३१
९ पञ्चविध पित्त का वर्णन १३२
१० पित्त का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण १३३
११-१३ पंचविध श्लेष्मा का स्थान और कर्म १३३-१३४
१४ श्लेष्मा का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण १३४
१५ रक्त का स्थान कथन १३४
१६ रक्त का स्वलक्षण १३५
१७ दोषों के संचय का लक्षण १३५
१८ वातप्रकोपण द्रव्य १३५
१९ वातप्रकोपण का समय १३६
२० पित्त के प्रकोपण द्रव्य १३६
२१ पित्त प्रकोप का समय १३६
२२ कफ प्रकोपण द्रव्य १३६
२३ कफ के प्रकोपण का समय १३६
२४ रक्तप्रकोपण द्रव्य १३६
२५ रक्तप्रकोपण का काल १३६
२६ दोष प्रकोप के लक्षण १३६
२७ प्रकुपित दोषों के प्रसर के विशेष लक्षण १३७
२८-२९ प्रकुपित्त दोष जहां प्रसर करता है, वहां ही रोग उत्पन्न होता है १३७
३० प्रसर से अन्य स्थान गत दोष का प्रतीकार १३८
३१ दोषों का प्रसार लक्षण १३८
३२ दोषों के स्थान संश्रय का वर्णन १३८
३३ व्याधि प्रकट होने की अवस्था १३९
३४ व्याधियों की भेदावस्था १३९
३५ व्याधियों के संचय प्रकोपादि जानने वाला ही वैद्य हो सकता है १३९
३६ संचयावस्था में दोष हरण में गुण १४०
३७ संसर्ग में अंशांश बल विकल्प से अनुबन्धानुबन्धिभाव १४०
३८ संसर्ग और सन्निपात का चिकित्सा सूत्र १४०
३९ व्रण शब्द की निरुक्ति १४१

बाईसवां अध्याय

१ व्रणा स्राव विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम १४१
२ व्रण के आठ अधिष्ठान १४१
३ सुचिकित्स्य और दुश्चिकित्स्य व्रण १४१
४ व्रण की आकृतियां १४१
५ व्रणों के शीघ्र भरने और प्रदुष्टि में कारण १४२
६ दुष्ट व्रणों के लक्षण १४२
७ सम्पूर्ण व्रणों के आस्राव लक्षण १४२
८-१० स्थान भेद से व्रणास्राव के लक्षण और असाध्यता १४३
११ सम्पूर्ण व्रण वेदनाओं का वर्णन १४३
१२ व्रणवर्ण वर्णन १४३
१३ इस प्रकार की व्रणास्राव वर्णवेदनाएं अन्यत्रोक्त सम्पूर्ण शोफ विकारों में जानना १४४

तेईसवां अध्याय

१ कृत्याकृत्यविधि अध्याय का उपक्रम १४४

२ सुखसाध्य व्रण १४४
३ कष्टसाध्य १४४
४ सुख रोपणीय व्रण १४४
५-६ दुश्चिकित्स्य व्रण १४४-१४५
७ याप्य व्रण १४५
८ प्रतिकार न करने से साध्य व्रण याप्य और याप्य असाध्य हो जाते हैं १४५
९-१० याप्य लक्षण १४६
११-१३ असाध्य व्रण १४६
१४-१५ साध्य व्याधि की उपेक्षा करने से असाध्यता १४६
१६ व्याधि की सुखसाध्यता १४६
१७ शुद्ध व्रण लक्षण १४६
१८ भर रहे व्रण के लक्षण १४६
१९ सम्यग् रूढ व्रण के लक्षण १४६
२० दोष प्रकोपादि से रूढ भी व्रण फट जाता है १४७

चौबीसवां अध्याय

१ व्याधिसमुद्देशीय अध्याय का उपक्रम १४७
२ शस्त्रसाध्यत्व और स्नेहादिसाध्यत्व से रोगों के दो भेद १४७
३ त्रिविधं दुःख १४८
४ सप्त प्रकार की व्याधियां १४८
५ त्रिविध आध्यात्मिक व्याधियों के लक्षण १४८
६ आधिभौतिक व्याधियों के लक्षण १५१
७ आधिदैविक व्याधियों के लक्षण १५१
८ सब व्याधियों के वात-पित्त कफ ही कारण होते हैं १५३
९ रसदोषज विकार १५४
१० रक्तदोषज ,, १५४
११ मांसदोषज ,, १५४
१२ मेदोदोषज ,, १५४
१३ अस्थिदोषज ,, १५४
१४ मज्जदोषज ,, १५४
१५ शुक्रदोषज ,, १५४
१६ मलदोषज विकार १५४
१७ इन्द्रियातन विकार १५५
१८ व्याधियों के अनेकत्व में कारण १५५
१९-२० व्याधि और दोषों का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध १५५-१५६
२१ अध्यायोपसंहार १५६

पच्चीसवां अध्याय

१ अष्टविध शस्त्रकर्मीय अध्याय का उपक्रम १५६
२-३ छेद्य व्याधियां १५६
४-७ भेद्य व्याधियां १५७
८ लेख्य व्याधियां १५७
९ वेध्य व्याधियां १५७
१० एष्य और आहार्य व्याधियां १५७
११-१४ विस्राव्य व्याधियां १५७
१५ सीव्य रोग १५७
१६ सीवन का विषयविशेष में प्रतिषेध १५७
१७-१८ विशोधनीय रोग १५७
१९-२४ सीवनकर्म का विस्तार से वर्णन १५८-१५९
२५-२६ सीवन में पश्चात् कर्म १५९
२७ सूत्र में संक्षिप्त अष्टविध शस्त्रकर्म का चिकित्सा में विस्तार संकेत १५९
२८ अष्टविध शस्त्रकर्म की व्यापत्तियां १५९
२९ व्यापत्तियों में हेतु १५९
३० अनभिज्ञ वैद्य का त्याग कर देना श्रेय है १५९
३१ अतियुक्त शस्त्र व्यापद्-वर्णन १५९
३२-३३ मर्मविद्ध के सामान्य लक्षण १५९
३४-३७ अमर्मविद्ध सिरादि के लक्षण १६०
३८ अनुक्तविद्ध मांसमर्म के लक्षण १६०
३९ मोह से निजगात्रच्छेद करने वाले वैद्य का त्याग १६०
४० तिर्यक् शस्त्र प्रयोग की व्यापत्तियां १६०
४१ रोगी को वैद्य पर विश्वास चाहिये १६०
४२ विश्वस्त रोगी के प्रति वैद्य का कर्तव्य १६०
४३ हितपूर्वक सम्यक् चिकित्सा करने का फल १६१
४४ साध्य व्याधि भी अनेक कर्मों से साध्य होती है १६१

छब्बीसवां अध्याय

१ प्रणष्ट शल्य विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम १६१
२ शल्य की निरुक्ति और शल्य के चिकित्सोपयोगी भेद १६१
३ शल्य शास्त्र की निरुक्ति १६१
४ शारीर और आगन्तु शल्यों के लक्षण १६१
५ शल्यों में शर की प्रधानता १६१
६ शर के दो भेद १६२
७ शल्यों के आहरणोपयोगी गतिभेद १६२
८ शरीर में शल्य किस प्रकार स्थिति करते हैं १६२
९ शल्य स्थिति के लक्षण १६२
१०-११ त्वगादिगत शल्यों के लक्षण १६२-१६३
१२ शल्य के व्रण रोहण का लक्षण १६३
१३-१४ त्वगादि में प्रणष्ट शल्यों का विज्ञानोपाय १६३-१६४
१५-१७ सशल्य व्रणों के सामान्य लक्षण १६४
१८-१९ निःशल्य के लक्षण १६४
२० त्वगादिगत शल्य की आहरणोपयोगी अवस्था १६४
२१ वार्क्ष (काँटा) आदि शल्य न निकाले जावें

तो रक्त मांस आदि को पका देते हैं १६४
२२-२३ सुवर्णादि (धातुज) शल्य न निकालने पर समय पाकर रक्तादि में लीन हो जाते हैं १६५
२४ विषाणादि शल्य शरीर में नहीं गलते १६५
२५ सम्यक् शल्यज्ञाता वैद्य राजा की चिकित्सा कर सकता है १६५

सत्ताईसवां अध्याय

१ शल्यापनयनीय अध्याय का उपक्रम १६५
२ शल्य के दो भेद १६५
३ अनवबद्ध शल्योद्धरण में पन्द्रह हेतु १६५
४ स्वभावादि कारण का विषय १६५
५ शल्यों का अनुलोम प्रतिलोम भेद से द्विविध आहरणोपाय १६६
,, द्विविध आहरण का विषय १६६
,, उत्तुण्डित को काट कर निकाले १६६
,, हाथ द्वारा आहरण योग्य शल्य को हाथ से ही निकाले १६६
,, हस्ताशक्य शल्य में शस्त्रक्रिया करे १६६
६ शल्याहरण में उपद्रवों की चिकित्सा १६६
७ शल्य आहरण के पश्चात्कर्म १६७
८ शिरादिलग्न शल्याहरणोपाय १६७
९ वक्षःपतित शल्यापहरण में विशेष विधि १६७
१० अवबद्धशल्य निकालने के उपाय १६७
११ कुक्षि आदि अच्छेदनीय प्रदेशस्थ उत्तुण्डित शल्य निकालने के उपाय १६८
१२ कर्णवान् शल्यों के आहरण का उपाय १६८
१३ कण्ठासक्त लाक्षा आदि एवं इतर शल्यों के आहरण का उपाय १६८
१४ तिर्यक् कण्ठासक्त अस्थ्यादि शल्य के आहरण का उपाय १६८
१५ जलमग्न व्यक्ति के उदरान्तःस्थ जल के आहरण का उपाय १६८
१६ कण्ठासक्त ग्रासशल्य के आहरण का उपाय १६९
१७ बाहु-रज्जुपाश (फांसी) पीडित कण्ठ प्रकुपित वातश्लेष्म को अनुलोम करने के उपाय १७०
१८-१९ शल्याकृतियों के अनन्त होने से अनुक्त उपायों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये १७०
२०-२१ अनिर्हृत शल्य के दोष १७०

अठाईसवां अध्याय

१ विपरीताविपरीत व्रणविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम १७१
२-३ अरिष्ट मृत्यु सूचक होते हैं १७१
✓ ४ रिष्ट में भी मृत्यु रोकने के उपाय १७१
५ कालान्तर में भी रिष्ट पीडा होती है १७२
६ अरिष्ट ज्ञान प्राप्त न करने में दोष १७२
✓ ७ व्रण के अरिष्ट १७२
८-९ प्राकृत व्रण गंध कथन १७२
१०-११ गंध विकृतिं १७२
१२-१४ वर्ण विकृति १७२
१५ शब्द विकृति १७२
१६ स्पर्श विकृति १७२
१७-१८ रूप विकृति १७२
१९ असाध्य व्रण १७३
२० अध्यायोपसंहार १७३

उनतीसवां अध्याय

१ विपरीताविपरीत स्वप्ननिदर्शनीय अध्याय का उपक्रम १७३
२-३ निर्देश्य दूत कथन १७३
४-५ अशस्त दूत १७३
६-७ अशस्त दूत वेषादि १७३
८ अशस्त दूत संभाषण १७३
९-१३ ,, दूत चेष्टित १७३
१४-१६ दूतागमन काल में वैद्य की अशस्त चेष्टा आदि १७४
१७-२२ दूत और वैद्य के समागम का प्रशस्ताप्रशस्त काल १७४
२३-२५ प्रशस्त दूत दर्शन १७४
२६-४० शुभाशुभ शकुन कथन १७५
४१ शुभाशुभ वायु लक्षण १७५
४२-४४ वैद्य की यात्रा में रोगविशेषानुसार शुभाशुभ शब्द १७६
४५-४८ वैद्य की यात्रा में अप्रशस्त चेष्टा; आतुर गृह में भी वैद्य विधि का अतिदेश १७६
४९-५३ यात्रोन्मुख एवं आतुरगृहगत वैद्य के विपरीत निमित्त १७६
५४ स्वप्नों द्वारा शुभाशुभ ज्ञान १७७
५५-६६ अशस्त स्वप्न १७७
६७ विफल स्वप्न १७८
६८-७० रोग विशेष में विशिष्ट स्वप्न देखना रिष्ट होता है १७८
७१-७४ अशुभ स्वप्नों का परिहार १७८
७५-८१ प्रशस्त स्वप्न १७८

तीसवां अध्याय

१ पञ्चेन्द्रियार्थ विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम १७९
२ शरीर और शील की प्रकृति का विकृत

होना ही अरिष्ट होता है १७६
३-५ आतुरग्राह्य विरुद्ध शब्द-विप्रतिपत्ति १७६
६-७ ,, ,, स्पर्श-विप्रतिपत्ति १७६
८ आतुरग्राह्य विरुद्ध रूप-विप्रतिपात्ति १८०
६ ,, विरुद्ध रस-विप्रतिपात्ति १८०
,, ,, विरुद्ध गन्ध-विप्रतिपत्ति १८०
१०-११ रसग्रहण विप्रतिपत्ति १८०
१२ गन्धग्रहण विप्रतिपात्ति १८०
१३ स्पर्शग्रहण विप्रतिपात्ति १८०
१४-२२ रूपग्रहण विप्रतिपात्ति १८०-१८१

इकतीसवां अध्याय

१ छायाविप्रतिपात्ति अध्याय का उपक्रम १८१
२ रिष्टभूत छाया १८१
३ शीलविकृति जन्य अरिष्ट १८१
४-८ ओष्ठादि अवयव विकृति जन्य अरिष्ट १८१
६-१६ काय, अवयव और क्रियाओं की रिष्टभूत विकृतियां १८२
१७-२८ शरीरदेशविशेषाश्रित रिष्ट भूत व्याधियां १८३
२६ मृत्यु के कारण १८४
३०-३१ गतायु प्राणियों की चिकित्सा विफल होने में कारण १८४

बत्तीसवां अध्याय

१ स्वभाव विप्रतिपात्ति अध्याय का उपक्रम १८४
२ शरीरावयवों का अन्यथा होना मरण सूचक होता है १८४
३-५ शरीरावयवों के अन्यथा भाव का विस्तृत वर्णन १८५
६-७ सम्पूर्ण रोगों के अनुक्त रिष्टों का उपसंहार १८६
८ अरिष्ट ज्ञान का फल १८६

तेतीसवां अध्याय

१-२ अवारणीय अध्याय का उपक्रम १८६
३ स्वभाव से ही दुश्चिकित्स्य महागद १८७
४-५ रोगों की असाध्यता में हेतुभूत उपद्रव १८७
६ असाध्य वातव्याधि के उपद्रव १८७
७ ,, प्रमेह के उपद्रव १८७
८ ,, कुष्ठ के उपद्रव १८७
६ ,, अर्श के उपद्रव १८७
१० ,, भगन्दर के उपद्रव १८७
११ ,, अश्मरी के उपद्रव १८७
१२ ,, मूढ़गर्भ के उपद्रव १८८
१३ ,, उदर के उपद्रव १८८
१४-१७ ,, ज्वर के उपद्रव १८८
१८ ,, अतिसार के उपद्रव १८८
१६ ,, यक्ष्मा के उपद्रव १८८
२० ,, गुल्म के उपद्रव १८८
२१ ,, विद्रधि के उपद्रव १८८
२२ ,, पाण्डुरोग के उपद्रव १८८
२३ ,, रक्तपित्त के उपद्रव १८८
२४ ,, उन्माद के उपद्रव १८८
२५ ,, अपस्मार के उपद्रव १८८

चौतीसवां अध्याय

१ युक्तसेनीय अध्याय का उपक्रम १८६
२-३ विषादि से राजा की रक्षा करनी चाहिये १८६
४ विषप्रयोग के भेद १८६
५ प्रमाणों द्वारा अकाल-मृत्युसिद्धि १८६
६ वैद्य और पुरोहित का कर्तव्य है कि दोषज और आगन्तुज मृत्युओं से राजा की रक्षा करें १६०
७ वैद्य से पुरोहित की प्रधानता १६०
८ वर्णसंकरादि भय से राजा की रक्षा करनी चाहिये १६०
६-१० वैद्य देवसमान राजा की उपासना करे १६०
११-१३ प्रतिक्षण उपयोगी होने से वैद्य का निवास राजा-निवास के समीप ही उचित स्थान में होना चाहिये १६०
१४-१५ चिकित्सा के चार पाद उनमें वैद्य की प्रधानता १६१
१६-१७ पादत्रय के ठीक न होने पर भी गुणवान् वैद्य चिकित्सा में सफल होता है १६१
१८-१६ वैद्य के गुण १६१
२० रोगी के गुण १६१
२१-२२ भेषज के गुण १६१
२३ परिचारक के गुण १६१

पैंतीसवां अध्याय

१ आतुरोपक्रमणीय अध्याय का उपक्रम १६२
२ रोगी को देखने पर वैद्य को प्रथम रोगी की आयु परीक्षा ही करनी चाहिये १६२
३ आयु लक्षण १६२

४–५ दीर्घायु के लक्षण १९२
६–७ मध्यमायु के लक्षण १९३
८–१० अल्पायु के लक्षण १९३
१–१३ आयु ज्ञान के लिये अङ्ग प्रत्यङ्ग प्रमाणोपदेश १९३–१९४
१४ स्त्री की श्रोणि और पुरुष के वक्षःस्थलादि की यौवन में ही यथोक्त प्रमाणता होती है १९५
१५–१६ उक्त प्रमाण ज्ञान का प्रयोजन १९५
१७ सार द्वारा आयु निर्देश १९६
१८ अङ्ग प्रत्यङ्ग मान और सार ज्ञान का फल १९६
१९–२१ व्याधि के साध्यादि भेद निरूपण १९६
२२ अनुक्त रोग में लक्षणों द्वारा रोग का उपचार करना चाहिये १९७
२३–२४ आत्ययिक व्याधि में ऋतुचिकित्सा विधि १९८
२५ कौन क्रिया सिद्ध नहीं होती १९८
२६ क्रिया और अक्रिया का लक्षण १९८
२७ अग्नि परीक्षा और पाचक अग्नि के चार भेद
२८ अग्नियों के लक्षण १९९
२९ विषम आदि अग्नि वातादि दोषों के प्रकोपक हैं १९९
३० समादि अग्नियों की चिकित्सा १९९
३१ सूक्ष्म होने से रस ग्रहण करने वाले अग्नि की विवेचना नहीं हो सकती १९९
३२ वायु जठराग्नि का सहायक है १९९
३३–३५ वय की परीक्षा १९९–२००
३६ भेषजमात्रा प्रयोग ही वय ज्ञान का फल है २०१
३७ दोषचयादि में भी वय ज्ञान आवश्यक है २०१
३८ क्रिया विशेष में भी वय ज्ञान का फल होता है २०१
३९ स्थूल, कृश और मध्य भेद से देह के भेद २०१
४० स्थूलादि की कर्षण चिकित्सा करनी चाहिये २०१
४१ बल विचार २०१
४२ बल और उपचय के लक्षणों में व्यभिचार २०१
४३ सत्त्व परीक्षा २०२
४४–४६ सात्म्य परीक्षा २०२
४७ प्रकृति और औषधि का अतिदेश से वर्णन २०२
४८ देश परीक्षा, आनूपदेश २०२
४९ जाङ्गल तथा साधारण देश २०२
५१–५२ देश परिज्ञान का फल २०२
५३–५४ साध्यासाध्य व्याधियों के लक्षण २०३
५५ क्रियासंकर निषेध २०३
५६ कृच्छ्र व्याधियों में एक क्रिया से फल न होने पर भी कुछ काल तक वही क्रिया करनी चाहिये २०४
५७ काल और देश के अनुसार चिकित्सा करने वाले वैद्य की प्रशंसा २०४

छत्तीसवां अध्याय

१ मिश्रक अध्याय का उपक्रम २०४
२–६ वातादि दोषों के प्रतिकूल विम्लापन योग २०४
७ दोषभेद से लेप के संस्कार विशेष २०४
८ शोथपाचन द्रव्य २०४
९ ,, दारण द्रव्य २०४
१० व्रणपीडन द्रव्य २०४
११ व्रणसंशोधन द्रव्य २०५
१२–१३ वर्ति द्रव्य २०५
१४–१५ कल्क द्रव्य २०५
१६ शोधन घृत २०५
१७–१८ शोधन तैल २०५
१९ शोधन चूर्ण २०५
२० शोधन की रसक्रिया २०५
२१ व्रणधूपन २०५
२२–२३ रोपण कषाय २०५
२३ रोपण वर्तियां २०५
२४ रोपण कल्क द्रव्य २०५
२५ रोपण घृत २०६
२६ रोपण तैल २०६
२७–२८ रोपण चूर्ण २०६
२९ रोपणी रसक्रिया २०६
३० रोपण उत्सादन २०६
३१–३२ अवसादन द्रव्य २०६
३३ शोधन रोपण द्रव्य सम्पूर्ण न मिलें तो उनके स्थान में कल्पान्तर २०६

सैंतीसवां अध्याय

१ भूमिप्रविभाग विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २०६
२–३ औषध लेने योग्य भूमि २०६
४ पंचमहाभूतगुण विशिष्ट भूमि के विशेष गुण कथन २०७
५ किन ऋतुओं में औषध ग्रहण करनी चाहिये २०७
६ शोधन द्रव्य कैसी भूमि के ग्राह्य हैं २०७
७ नूतन औषध ही गुणवाले होते हैं २०७
८–९ लिङ्गादि पुरातन ही ग्राह्य हैं २०७
१० किन लोगों से औषध ज्ञान प्राप्त करना चाहिये २०८
११ ऋतुविशेष में मूलादि ग्रहण के नियम का अपवाद २०८
१२–१४ कार्यविशेष में द्रव्यगुण की विशेषता २०८

होना ही अरिष्ट होता है १७९
३–५ आतुरग्राह्य विरुद्ध शब्द-विप्रतिपत्ति १७९
६–७ ,, ,, स्पर्श-विप्रतिपत्ति १७९
८ आतुरग्राह्य विरुद्ध रूप-विप्रतिपात्ति १८०
९ ,, विरुद्ध रस-विप्रतिपत्ति १८०
,, ,, विरुद्ध गन्ध-विप्रतिपत्ति १८०
१०–११ रसग्रहण विप्रतिपत्ति १८०
१२ गन्धग्रहण विप्रतिपत्ति १८०
१३ स्पर्शग्रहण विप्रतिपत्ति १८०
१४–२२ रूपग्रहण विप्रतिपत्ति १८०–१८१

इकतीसवां अध्याय

१ छायाविप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम १८१
२ रिष्टभूत छाया १८१
३ शीलविकृति जन्य अरिष्ट १८१
४–८ ओष्टादि अवयव विकृति जन्य अरिष्ट १८१
९–१६ काय, अवयव और क्रियाओं की रिष्टभूत विकृतियां १८२
१७–२८ शरीरदेशविशेषाश्रित रिष्ट भूत व्याधियां १८३
२९ मृत्यु के कारण १८४
३०–३१ गतायु प्राणियों की चिकित्सा विफल होने में कारण १८४

बत्तीसवां अध्याय

१ स्वभाव विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम १८४
२ शरीरावयवों का अन्यथा होना मरण सूचक होता है १८४
३–५ शरीरावयवों के अन्यथा भाव का विस्तृत वर्णन १८५
६–७ सम्पूर्ण रोगों के अनुक्त रिष्टों का उपसंहार १८६
८ अरिष्ट ज्ञान का फल १८६

तेतीसवां अध्याय

१–२ अवारणीय अध्याय का उपक्रम १८६
३ स्वभाव से ही दुश्चिकित्स्य महागद १८७
४–५ रोगों की असाध्यता में हेतुभूत उपद्रव १८७
६ असाध्य वातव्याधि के उपद्रव १८७
७ ,, प्रमेह के उपद्रव १८७
८ ,, कुष्ठ के उपद्रव १८७
९ ,, अर्श के उपद्रव १८७
१० ,, भगन्दर के उपद्रव १८७
११ ,, अश्मरी के उपद्रव १८७
१२ ,, मूढ़गर्भ के उपद्रव १८८
१३ ,, उदर के उपद्रव १८८
१४–१७ ,, ज्वर के उपद्रव १८८
१८ ,, अतिसार के उपद्रव १८८
१९ ,, यक्ष्मा के उपद्रव १८८
२० ,, गुल्म के उपद्रव १८८
२१ ,, विद्रधि के उपद्रव १८८
२२ ,, पाण्डुरोग के उपद्रव १८८
२३ ,, रक्तपित्त के उपद्रव १८८
२४ ,, उन्माद के उपद्रव १८८
२५ ,, अपस्मार के उपद्रव १८८

चौतीसवां अध्याय

१ युक्तसेनीय अध्याय का उपक्रम १८९
२–३ विषादि से राजा की रक्षा करनी चाहिये १८९
४ विषप्रयोग के भेद १८९
५ प्रमाणों द्वारा अकाल-मृत्युसिद्धि १८९
६ वैद्य और पुरोहित का कर्तव्य है कि दोषज और आगन्तुज मृत्युओं से राजा की रक्षा करें १९०
७ वैद्य से पुरोहित की प्रधानता १९०
८ वर्णसंकरादि भय से राजा की रक्षा करनी चाहिये १९०
९–१० वैद्य देवसमान राजा की उपासना करे १९०
११–१३ प्रतिक्षण उपयोगी होने से वैद्य का निवास राजा-निवास के समीप ही उचित स्थान में होना चाहिये १९०
१४–१५ चिकित्सा के चार पाद उनमें वैद्य की प्रधानता १९१
१६–१७ पादत्रय के ठीक न होने पर भी गुणवान् वैद्य चिकित्सा में सफल होता है १९१
१८–१९ वैद्य के गुण १९१
२० रोगी के गुण १९१
२१–२२ भेषज के गुण १९१
२३ परिचारक के गुण १९१

पैंतीसवां अध्याय

१ आतुरोपक्रमणीय अध्याय का उपक्रम १९२
२ रोगी को देखने पर वैद्य को प्रथम रोगी की आयु परीक्षा ही करनी चाहिये १९२
३ आयु लक्षण १९२

४–५ दीर्घायु के लक्षण १९२
६–७ मध्यमायु के लक्षण १९३
८–१० अल्पायु के लक्षण १९३
११–१३ आयु ज्ञान के लिये अङ्ग प्रत्यङ्ग प्रमाणोपदेश १९३–१९४
१४ स्त्री की श्रोणि और पुरुष के वक्षःस्थलादि की यौवन में ही यथोक्त प्रमाणता होती है १९५
१५–१६ उक्त प्रमाण ज्ञान का प्रयोजन १९५
१७ सार द्वारा आयु निर्देश १९६
१८ अङ्ग प्रत्यङ्ग मान और सार ज्ञान का फल १९६
१९–२१ व्याधि के साध्यादि भेद निरूपण १९६
२२ अनुक्त रोग में लक्षणों द्वारा रोग का उपचार करना चाहिये १९७
२३–२४ आत्ययिक व्याधि में ऋतुचिकित्सा विधि १९८
२५ कौन क्रिया सिद्ध नहीं होती १९८
२६ क्रिया और अक्रिया का लक्षण १९८
२७ अग्नि परीक्षा और पाचक अग्नि के चार भेद
२८ अग्नियों के लक्षण १९९
२९ विषम आदि अग्नि वातादि दोषों के प्रकोपक हैं १९९
३० समादि अग्नियों की चिकित्सा १९९
३१ सूक्ष्म होने से रस ग्रहण करने वाले अग्नि की विवेचना नहीं हो सकती १९९
३२ वायु जठराग्नि का सहायक है १९९
३३–३५ वय की परीक्षा १९९–२००
३६ भेषजमात्रा प्रयोग ही वय ज्ञान का फल है २०१
३७ दोषचयादि में भी वय ज्ञान आवश्यक है २०१
३८ क्रिया विशेष में भी वय ज्ञान का फल होता है २०१
३९ स्थूल, कृश और मध्य भेद से देह के भेद २०१
४० स्थूलादि की कर्षण चिकित्सा करनी चाहिये २०१
४१ बल विचार २०१
४२ बल और उपचय के लक्षणों में व्यभिचार २०१
४३ सत्त्व परीक्षा २०२
४४–४६ सात्म्य परीक्षा २०२
४७ प्रकृति और औषधि का अतिदेश से वर्णन २०२
४८ देश परीक्षा, आनूपदेश २०२
४९ जाङ्गल तथा साधारण देश २०२
५१–५२ देश परिज्ञान का फल २०२
५३–५४ साध्यासाध्य व्याधियों के लक्षण २०३
५५ क्रियासंकर निषेध २०३
५६ कृच्छ्र व्याधियों में एक क्रिया से फल न होने पर भी कुछ काल तक वही क्रिया करनी चाहिये २०४
५७ काल और देश के अनुसार चिकित्सा करने वाले वैद्य की प्रशंसा २०४

छत्तीसवां अध्याय

१ मिश्रक अध्याय का उपक्रम २०४
२–६ वातादि दोषों के प्रतिकूल विम्लापन योग २०४
७ दोषभेद से लेप के संस्कार विशेष २०४
८ शोथपाचन द्रव्य २०४
९ ,, दारण द्रव्य २०४
१० व्रणपीडन द्रव्य २०४
११ व्रणसंशोधन द्रव्य २०५
१२–१३ वर्ति द्रव्य २०५
१४–१५ कल्क द्रव्य २०५
१६ शोधन घृत २०५
१७–१८ शोधन तैल २०५
१९ शोधन चूर्ण २०५
२० शोधन की रसक्रिया २०५
२१ व्रणधूपन २०५
२२–२३ रोपण कषाय २०५
२३ रोपण वर्तियां २०५
२४ रोपण कल्क द्रव्य २०५
२५ रोपण घृत २०६
२६ रोपण तैल २०६
२७–२८ रोपण चूर्ण २०६
२९ रोपणी रसक्रिया २०६
३० रोपण उत्सादन २०६
३१–३२ अवसादन द्रव्य २०६
३३ शोधन रोपण द्रव्य सम्पूर्ण न मिलें तो उनके स्थान में कल्पान्तर २०६

सैंतीसवां अध्याय

१ भूमिप्रविभाग विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २०६
२–३ औषध लेने योग्य भूमि २०६
४ पंचमहाभूतगुण विशिष्ट भूमि के विशेष गुण कथन २०७
५ किन ऋतुओं में औषध ग्रहण करनी चाहिये २०७
६ शोधन द्रव्य कैसी भूमि के ग्राह्य हैं २०७
७ नूतन औषध ही गुणवाले होते हैं २०७
८–९ विडङ्गादि पुरातन ही ग्राह्य हैं २०७
१० किन लोगों से औषध ज्ञान प्राप्त करना चाहिये २०८
११ ऋतुविशेष में मूलादि ग्रहण के नियम का अपवाद २०८
१२–१४ कार्यविशेष में द्रव्यगुण की विशेषता २०८

१५ कैसा औषध द्रव्य ग्राह्य है २०८
१६ जङ्गम औषधियों का ग्रहण काल २०८
१७ भेषजागार कैसा होना चाहिये २०८

अठतीसवां अध्याय

१ द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय का उपक्रम २०९
२ द्रव्यगण संख्या २०९
३-४ विदारीगन्धादि गण २०९
५-६ आरग्वधादि गण २०९
७-८ वरुणादि गण २०९
९-१० वीरतर्वादि गण २१०
११-१२ सालसारादि गण २१०
१३-१४ रोध्रादि गण २१०
१५-१६ अर्कादिगण २१०
१७-१८ सुरसादि गण २११
१९-२० मुष्ककादि गण २११
२१-२२ पिप्पल्यादि गण २११
२३-२४ एलादि गण २११
२५-२७ वचादि हरिद्रादि गण २१२
२८-२९ श्यामादि गण २१२
३०-३१ बृहत्यादि गण २१२
३२-३३ पटोलादि गण २१२
३४-३५ काकोल्यादि गण २१२
३६-३७ ऊषकादि गण २१३
३८-३९ सारिवादि गण २१३
४०-४१ अञ्जनादि गण २१३
४२-४३ परूषकादि गण २१३
४४-४६ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादि गण २१३
४७-४८ न्यग्रोधादि गण २१३
४९-५० गुडूच्यादि गण २१४
५१-५२ उत्पलादि गण २१४
५३-५४ मुस्तादि गण २१४
५५-५६ हरीतक्यादि गण (त्रिफला) २१४
५७-५८ पिप्पल्यादिगण(त्रिकटु) २१४
५९-६० आमलक्यादि गण २१४
६१-६२ त्रप्वादि गण २१४,२१५
६३-६४ लाक्षादि गण २१५
६५ पञ्चपञ्चमूल २१५
६६-६७ लघुपञ्चमूल गण २१५
६८-६९ बृहत्पञ्चमूल गण २१५
७०-७१ दशमूल गण २१५
७२ विदार्यादि गण २१५
७३-७४ करमर्दादि गण २१५
७५-७६ कुशादि तृणपञ्चमूलगण २१५
७७ पञ्च पञ्चकों के गुण २१६
७८ त्रिवृदादि गण का अतिदेश २१६
७९ संक्षेप से प्रोक्त इन गुणों का चिकित्सा में विस्तारसंकेत २१६
८० इन गणों का उपयोग २१६
८१ संग्रहीत द्रव्यों की धूमादि उपद्रवों से रक्षा २१६
८२ इन गणों की योजना का प्रकार २१६

उनतालीसवां अध्याय

१ संशोधन संशमनीय अध्याय का उपक्रम २१६
२ ऊर्ध्वभागहर द्रव्य २१६
३ अधोभागहर द्रव्य २१६
४ उभयभागहर द्रव्य २१७
५ शिरोविरेचन द्रव्य २१७
६ वातसंशमन वर्ग २१७
७ पित्तसंशमन वर्ग २१८
८ कफसंशमन वर्ग २१८
९ संशोधक एवं संशमन द्रव्यों का मात्रा-नियमन २१८
१० दुर्बल रोगी को तीव्र शोधन नहीं देना चाहिये २१८
११-१२ अति दुर्बल को भी अवस्थानुकूल शोधन देना चाहिये २१८
१३ मध्यमबल व्याधि, अग्नि और पुरुष में औषध मात्रा २१८

चालीसवां अध्याय

१ द्रव्य, रस, गुण, वीर्य विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २१९
२ द्रव्य की प्रधानता का युक्तियुक्त प्रतिपादन २२०-२२१
३ रसप्रधानता में एकीयमत २२१
४ वीर्यप्रधानता में एकीयमत २२१
५-८ रसाश्रित वीर्य कर्म २२२
९ अन्य मत से विपाक की प्रधानता २२२
१०-१४ विपाकविवेचन २२२
१५ द्रव्यादि समुदाय प्राधान्य लक्षणों में युक्त स्वमतस्थापन २२३
१६ समस्त द्रव्यादि का क्रियाकारित्व २२३
१७-२० रसादि द्रव्य कार्य होते हैं अतः द्रव्य प्रधान है २२४
२१-२२ आगमोक्त गुण सिद्ध औषधियों पर स्वतर्क करने का निषेध २२४
२३ प्रत्यक्षफलदायी होने से आगम की सर्वश्रेष्ठता २२४

एकतालीसवां अध्याय

१ द्रव्य विशेष विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २२५
२ द्रव्य पाञ्चभौतिक होते हैं २२५
३ पार्थिव द्रव्य के लक्षण एवं गुण २२५
४ आप्य द्रव्य के लक्षण एवं गुण २२५
५ आग्नेय द्रव्य के लक्षण एवं गुण २२५
६ वायव्य द्रव्य के लक्षण एवं गुण २२६
७ आकाशीय द्रव्य के लक्षण एवं गुण २२६
८ सब द्रव्य औषध भूत हैं २२६
९-११ विरेचनीयादि द्रव्य महाभूतों के तारतम्य से स्व-स्वकार्य करते हैं २२६-२२७
१२-१५ पार्थिवादि द्रव्यों में वातादि दोषों की प्रकोप-प्रशमकारिता २२७
१६-१९ शीतोष्णादि गुणों में पार्थिवादि विवेचन २२७-२२८

२० शरीर की स्थिति वृद्धि और क्षय द्रव्यमूलक होते हैं २२८

बयालीसवां अध्याय

१ रस-विशेषविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २२८
२ रस सम्भव हेतु २२८
३ रस भेद २२८
४ भूम्यादि महाभूत गुण विशेष से रस विशेष २२९
५ मधुरादि छः रस वातादि दोषों को शान्त करते हैं २२९
६ दोषों की उत्पत्ति का कारण २२९
७ सौम्य, आग्नेय भेद से रस के दो भेद २२९
८ कषाय रस वातल होता है २२९
९ कटु रस पित्तल होता है २२९
१० मधुर रस श्लेष्मल होता है २२९
११ कटुरस श्लेष्मघ्न होता है २२९
१२ छः रसों के लक्षण २३०
१२ मधुर लक्षण २३०
१३ अम्ल लक्षण २३०
१४ लवण लक्षण २३०
१५ कटु लक्षण २३०
१६ तिक्त लक्षण २३०
१७ कषाय लक्षण २३०
१८ मधुर रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३०
१९ अम्ल रस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३०
२० लवणरस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३१
२१ कटुरस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१
२२ तिक्त रस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३१
२३ कषायरस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३१
२४ संक्षेप से मधुर वर्ग २३१
२५ ,, अम्ल वर्ग २३२
२६ ,, लवण वर्ग २३२
२७ ,, कटु वर्ग २३२
२८ ,, तिक्त वर्ग २३२
२९ ,, कषाय वर्ग २३२
३० त्रेसठ रस संयोग २३३
३१ विशिष्ट विषय में रसाभ्यास दोष नहीं होता २३३

तेतालीसवां अध्याय

१ वमन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २३३
२-६ वमनीय मदन फल कल्प २३३-२३४
७ ,, जीमूत फल कल्प २३४-२३५
७ ,, कुटज कल्प २३५
७ ,, कृतवेधन कल्प २३५
७ ,, इक्ष्वाकु कल्प २३५
८ धामार्गव कल्प २३५
९ वमन के लिये आघ्राण-योग २३५
१०-११ वमनौषधों का योजना-प्रकार २३५

चौवालीसवां अध्याय

१ विरेचन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २३५
२-४ विरेचन में प्रधान द्रव्य २३५
५ वातज रोग में त्रिवृत्कल्प २३६
६ पित्तज रोग में त्रिवृत्कल्प २३६
६ कफज रोग में ,, २३६
७-८ वातश्लेष्म रोग में ,, २३६
९-११ सर्वविषयक गुलिकादि योग २३६
१२-१३ मोदक भक्ष्यरूप त्रिवृत्कल्प २३६
१४ यूष रूप त्रिवृत्कल्प २३६
१५ पुटपाक रूप त्रिवृत्कल्प २३७
१६ वैरेचनिक अवलेह २३७
१७ अन्य अवलेह २३७
१८ पित्तघ्न अवलेह २३७
१९ श्लेष्मघ्न ,, २३७
२०-२१ अन्य अवलेह २३७
२२ चूर्णावलेह २३७
२३ वैरेचनिक मोदक २३७
२४-२५ ,, लेह और गुटिका प्रयोग २३७
२६-२७ वैरेचनिक चूर्ण २३७
२८-३० वैरेचनिक आसव २३८
३१-३४ वैरेचनिक पिष्टीकृत सुरा २३८
३५-३९ वैरेचनिक सौवीर २३८
४०-४४ ,, ,, तुषोदक २३८
४५ सब विरेचन द्रव्यों में त्रिवृत्मूल विधि का अतिदेश २३९
४६ दन्ती-द्रवन्ती का विशेष कल्प २३९
४७-४८ दन्ती द्रवन्ती के स्नेहयोग २३९
४९-५१ दन्त्यादि चूर्ण २३९
५२-५३ दन्त्यादि मोदक २३९
५४-५९ व्योषादि विरेचन २३९
६०-६१ तिल्वक कल्प २४०
६२-६३ हरीतकी कल्प २४०
६४-६९ हरीतकी योग २४०
७० आमलक के गुण २४०
७१ विभीतक के गुण २४०
७१ त्रिफला के गुण और कल्प २४०
७२ वैरेचनिक फलों में हरीतकी विधान का अतिदेश २४०
७३-७५ चतुरङ्गुलकल्प २४०
७६-७७ एरण्ड तैल कल्प २४१
७८-८५ स्नुहीक्षीर कल्प २४१
८६-८७ उपसंहार २४१
८८-८९ वैरेचनिक त्रिवृदादि-मोदक २४१
९० अनुक्त अन्न-पानादि में प्रयोग कल्प २४२
९१ क्षीर रस आदि छः औषध कल्प और

उनकी उत्तरोत्तर लघुता २४२

पैंतालीसवां अध्याय

१ द्रवद्रव्यविधि अध्याय का उपक्रम २४२

पानीयवर्ग-

२ आन्तरिक्ष जल के गुण २४२
३ पृथ्वी पर पड़े हुए जल में स्थान भेद से विशिष्ट रसोत्पत्ति २४२
४ लोहितादि भूमि भेद से पानीय रसोत्पत्ति में एकीयमत २४३
५ पानीय में अन्योन्यानुप्रविष्ट पार्थिवादि गुण विशेष से रस विशेष की उत्पत्ति २४३
६ आन्तरिक्ष उदक के चार भेद और उसके गुण २४३
७ ऋतुभेद से आन्तरिक्षादि उदक की सेवन विधि २४४
८-९ नवीन उदक के दोष २४४
१० व्यापन्न जल के लक्षण २४५
११ स्पर्शादि मात्रा दोष २४५
१२ व्यापन्न जल को शुद्ध करने के उपाय २४५
१३ किस पात्र में जल पीना चाहिये २४५
१४-१६ विकृत जल का वर्जन २४५-२४६
१७ कलुष जल को शुद्ध करने के सात द्रव्य २४६
१८ जल के पांच निक्षेपण २४६
१९ जल के सात शीतीकरण उपाय २४६
२० कौन सा भौम जल गुणवान् होता है २४६
२१ दिग्भेद से नदीजल के गुण तथा नदियों की गुरुलघुता में कारण २४६
२२-२३ गति एवं देशभेद से नदियों में गुणविशेष २४७
२४ भौमजल का अपेक्षाकृत ग्रहण काल २४७
२५ भौमजल सूर्यरश्मियों के प्रभाव से आन्तरिक्ष सम गुण रखता है २४७
२६ आकाश जल के गुण २४७
२७ चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न जल के गुण २४७
२८ शीतजल का विषय २४७
२९-३० पार्श्वशूलादि में शीतजल का निषेध २४८
३१-३६ नदी तडागादि भेद से भौमजल के गुणविशेष २४८
३७-३८ अनूपादि देशजन्य जल के गुण २४८
३९ उष्णोदक के गुण २४८
४० उष्णोदक विधि २४८
४१ बासी उष्णोदक त्याज्य है २४८
४२-४३ शृतशीत जल के गुण २४८
४४ नारिकेलफलोदक के गुण २४८
४५-४६ जल की अल्पदेयता २४९

क्षीरवर्ग-

४७ दुध के गव्यादि आठ भेद २४९
४८-४९ सब दुग्धों के सामान्य गुण कर्म २४९
५० गव्य दुग्ध के गुण २५०
५१-५२ अजा दुग्ध के गुण २५०
५३ उष्ट्री दुग्ध के गुण २५१
५४ भेड़ के दुग्ध के गुण २५१
५५ माहिष दुग्ध के गुण २५१
५६ ऐकशफ (घोड़ी आदि) दुग्ध के गुण २५१
५७ नारी दुग्ध के गुण २५१
५८ हस्तिनी दुग्ध के गुण २५१
५९ प्राभातिक दुग्ध के गुण २५१
६० अपराह्ण कालीन दुग्ध के गुण २५१
६१ आम और पक्व दुग्ध के गुण २५१
६२ नारी दुग्ध के पाक का निषेध २५१
६३ धारोष्ण और बहुत कढ़े हुए दुग्ध के गुण २५१
६४ वर्जनीय दुग्ध २५२

दधिवर्ग-

६५ दधि के सामान्य गुण २५२
६६ मधुर, अम्ल और अत्यम्ल तथा मन्दजात दधि के गुण २५२
६७ गव्य दधि के गुण २५२
६८ अजा दधि के गुण २५३
६९ माहिष दधि के गुण २५३
७० उष्ट्री दधि के गुण २५३
७१ भेड़ी के दधि के गुण २५३
७२ घोड़ी के दधि के गुण २५३
७३ नारी दधि के गुण २५३
७४ हस्तिनी दधि के गुण २५३
७५ सब दधियों में गोदधि श्रेष्ठ है २५३
७६ वस्त्रादि में छने हुए दधि के गुण २५३
७७ क्वथित दुग्धजन्य दधि के गुण २५३
७८ दधिसर के गुण २५३
७९ उद्धृत सार दधि के गुण २५३
८० ऋतुभेद से दधि का ग्रहण और त्याग २५३
८१-८२ दधि मस्तु के गुण २५३
८३ दधि वर्ग का उपसंहार २५३

तक्रवर्ग-

८४ सामान्य तक्र के गुण २५४
८५ तक्र और घोल के लक्षण २५४
८६ तक्र का निषेध २५४
८७ तक्र योग्य रोगी २५४
८८ तक्र में रस विशेषता से गुण विशेष २५४
८९ संयोग विशेष से त्रिदोषनाशकता २५४
९० तक्र कूर्चिका और मण्ड के गुण २५४
९१ किलाट, पीयूष और मोरट के गुण २५४

९२ नवनीत के गुण २५४
९३ दुग्ध से निकाले हुए नवनीत के गुण २५४
९४ सन्तानिका (मलाई) के गुण २५५
९५ पूर्वोक्त तक्रादि गुण गव्य-तक्र के जानने २५५

घृतवर्ग–

९६ सामान्य घृत के गुण २५५
९७ गव्य घृत के गुण २५५
९८ बकरी के घृत के गुण २५५
९९ भैंस के घृत के गुण २५५
१०० ऊँटनी के घृत के गुण २५५
१०१ भेड़ी के घृत के गुण २५५
१०२ घोड़ी आदि के घृत के गुण २५५
१०३ नारी घृत के गुण २५५
१०४ हस्तिनी घृत के गुण २५५
१०५ दुग्ध से निकाले हुए घृत के गुण २५५
१०६ घृतमण्ड के गुण २५५
१०७-१११ पुराण घृत के गुण २५५

तैलवर्ग–

११२-११३ सामान्यतया तैल के गुण और कर्म २५६
११४ प्रत्येक तैल के गुण और कर्म २५६
११५ निम्बादि फलों के तैल के गुण २५७
११६ अलसी तैल के गुण २५७
११७ सरसों के तैल के गुण २५७
११८ इङ्गुदी तैल के गुण २५७
११९ कुसुम्भ तैल के गुण २५७
१२० चिरायतादि तैल के गुण २५७
१२१ मधुकादि तैल के गुण २५७
१२२ तुबरक और भल्लातक-तैल के गुण २५७
१२३ चीड़ आदि सार स्नेह के गुण २५७
१२४ तुम्बी आदि के तैल के गुण २५७
१२५ यवानिका तैल के गुण २५७
१२६ कैषिका तैल के गुण २५७
१२७ आम्र तैल के गुण २५७
१२८ फलतैलों के फल समान गुण होते हैं २५८
१२९ स्थावर स्नेहों में तिल तैल के गुण २५८
१३० तिल तैल की श्रेष्ठता २५८
१३१ वसा, मेद और मज्जा के गुण २५८

मधुवर्ग–

१३२ मधु के सामान्य गुण २५८
१३३ मधु के भेद २५९
१३४–१३९ पैत्तिकादि मधुजातियों में प्रत्येक के गुण २५९
१४० नवीन और पुराण मधु के गुण २५९
१४१ पक्व और अपक्व मधु के गुण २५९
१४२ मधु योगवाही है २६०
१४३–१४५ मधु उष्णविरोधी है २६०
१४६ वमनार्थ मधु का उष्ण से विरोध नहीं है २६०
१४७ अजीर्ण मधु कष्टप्रद है २६०

इक्षुवर्ग–

१४८ इक्षु के सामान्य गुण २६०
१४९–१५० इक्षुओं की बारह जातियां २६०
१५१–१५५ इक्षु विशेषों के गुण २६०
१५६ इक्षु के अवयव विशेष में गुण विशेष २६१
१५७ दांत से चूसे हुए इक्षु-रस के गुण २६१
१५८ यन्त्रपीडित इक्षुरस के गुण २६१
,, अग्नि पक्वरस के गुण २६१
१५९ फाणित के गुण २६१
१६० गुड़ के गुण २६१
१६१ पुराने गुड़ के गुण २६१
१६२–१६३ गुड़ के संस्कार विशेष से नामान्तर और गुण २६१
१६४ गुडादि के संस्कार समय में अपसार्यमाण मल के गुण २६१
१६५ शर्करा के गुण २६१
१६६ मधुशर्करा के गुण २६१
१६७ यवासशर्करा के गुण २६१
१६८ अवशिष्ट शर्कराओं के गुण २६१
१६९ मधूकपुष्पजनित फाणित के गुण २६२

मद्यवर्ग–

१७०–१७१ मद्यों के सामान्य गुण कर्म २६२
१७२–१७३ द्राक्षा के मद्य के गुण २६२
१७४ खर्जूरमद्य के गुण २६२
१७५ सामान्य सुरा के गुण २६२
१७६ प्रसन्ना के गुण २६२
१७७ श्वेतसुरा के गुण २६२
१७८ यवसुरा के लक्षण २६२
१७९ कुधान्य सुरा के गुण २६२
,, आक्षिकी सुरा के गुण २६२
१८० कोहल और जगल के गुण २६२
१८१ बक्कस के गुण २६२
१८२ गुड़शीधु के गुण २६३
१८३ शर्कराशीधु के गुण २६३
१८४ पक्वरसशीधु के गुण २६३
१८५ अपक्वरसशीधु के गुण २६३
१८६ आक्षिकशीधु के गुण २६३
,, जाम्बवशीधु के गुण २६३
१८७ सुरासव के गुण २६३
१८८ मध्वासव के गुण २६३
१८९ मैरेयक के गुण २६३
१९० इक्षुरसासव के गुण २६३
१९१ मधूक पुष्प सीधु के गुण २६३
१९२ नव मद्य के दोष २६३
१९३ जीर्ण मद्य के गुण २६३
१९४–१९५ अरिष्ट के गुण २६३
१९६ पिप्पल्याद्यरिष्ट के गुण २६३
१९७ शेष अरिष्टों के गुण २६३-२६४
१९८–२०२ दोष युक्त मद्य २६४
२०३ मद्य के गुण २६४
२०४–२०५ किस प्रकार का मद्य नशा करता है २६४
२०६ शारीर दोषभेद से मद के भेद २६४
२०७–२०९ मानस दोष से मद भेद २६४
२१०–२११ शुक्र के गुण तथा शुक्र-

संधित कंदादि के गुण २६५
२१२ योनि भेद से शुक्त के गुण २६५
२१३ तुषाम्बु और सौवीरक के गुण २६५
२१४-२१६ धान्याम्ल के गुण २६५

मूत्रवर्ग–

२१७-२१९ सामान्य मूत्र के गुण २६५
२२०-२२१ गोमूत्र के गुण २६५
२२२ माहिष मूत्र के गुण २६५
२२३ छाग मूत्र के गुण २६५
२२४ मेषीमूत्र के गुण २६६
२२५ अश्व मूत्र के गुण २६६
२२६ गजमूत्र के गुण २६६
२२७ गर्दभी मूत्र के गुण २६६
२२८ उष्ट्र मूत्र के गुण २६६
२२८ मनुष्य मूत्र के गुण २६६
२२९ पूर्वोक्त सब द्रव्य देश-कालाभिज्ञ वैद्य को प्रयुक्त करने चाहिये २६६

छयालीसवां अध्याय

१ अन्नपान विधि अध्याय का उपक्रम २६६
२ प्राणियों के आहार के विषय में सुश्रुत का प्रश्न २६६

शालिवर्ग–

३-४ विविध धान्यों का नाम-निर्देश तथा गुण २६७
५-६ लोहितशालि के गुण तथा अन्य शालि-धान्यों की क्रमशः अल्पगुणता २६७
७-८ षष्टि धान्य के भेद और गुण २६७
९-१० गौरषष्टि तथा शेष षष्टि धान्यों के गुण २६७
११ व्रीहिधान्य के भेद २६७
१२-१३ व्रीहिधान्य के सामान्य गुण २६७
१४ कृष्ण व्रीहि के गुण २६७
१५-१६ भूमि भेद से शाल्यादि-धान्यों के गुण विशेष २६७
१७ उपाड़ कर अन्यत्र बोए हुए शालि धान्यों के गुण २६७
१८ छिन्न रूढ धान्यों के गुण २६७
१९ शालिवर्ग का उपसहांर २६८

कुधान्यवर्ग–

२०-२२ कोरदूष्यादि कुधान्य और इनके गुण २६८
२३ कोद्रवादि धान्यों के गुण २६८
२४ प्रियङ्गु के गुण २६८
२५ मधूलिका, नान्दीमुख, करक और मुकुन्दकादि धान्यों के गुण २६८
२६ वेणुयव के गुण २६८
२७-२८ शमी धान्य और उनके सामान्य गुण २६८
२९ मुद्ग के गुण २६८
३० मसूर, मकुष्ठ और कलाय के गुण २६८
३१-३२ आढ़की और चणक के गुण २६८
३३ हरेणु और सतीन के गुण २६८
३४ माष के गुण २६८
३५ राजमाष के गुण २६९
३६ आत्मगुप्ता, काकाण्ड और अरण्यमाष के गुण २६९
३७ कुलत्थ के गुण २६९
३८ वनकुलत्थ के गुण २६९
३९ तिल के गुण २६९
४० तिल के उत्तम, मध्यम और अधमादि भेद २६९
४१-४२ यव के गुण २७०
४३ अतियव और गोधूम के गुण २७०
४४-४५ सामान्यतया शिम्बी के गुण २७०
४६ मुद्गपर्ण्यादि शिम्बी के गुण २७१
४७ मुद्गादि की हरी फलियों के गुण २७१
४८-४९ कुसुम्भ, अलसी और सरसों के गुण २७१
५० त्याज्य धान्य २७१
५१ नवीन और विरूढ़ धान्यों के गुण २७१
५२ धान्यवर्ग का उपसंहार २७१

मांसवर्ग–

५३ मांसवर्ग २७२
५४ जङ्घालवर्ग २७३
५५ एण के गुण २७३
५६ हरिण गुण २७३
५७ हरिण भेद २७३
५८ मृगमातृका के गुण २७३
५९-६० विष्किर वर्ग का वर्णन और उसके गुण २७३
६१ लावक के गुण २७३
६२-६३ कृष्ण और गौरतित्तिर के गुण २७३
६४ क्रकर और उपचक्रक के गुण २७३
६५ मयूर के गुण २७३
६६ कुक्कुर के गुण २७३
६७ प्रतुदवर्ग २७४
६८ प्रतुदवर्ग के सामान्य गुण २७४
६९ मेदाशी और काणकपोत के गुण २७४
७० पारावत के गुण २७४
७१ गृहकुलिङ्ग के गुण २७४
७२ गुहाशय प्राणी २७४
७३ गुहाशय प्राणियों के सामान्य गुण २७४
७४-७५ प्रसह प्राणी और उनके सामान्य गुण २७४
७६ पर्णमृग २७४
७७ पर्णमृगों के सामान्य गुण २७४
७८ बिलेशय प्राणी २७५
७९ बिलेशय प्राणियों के सामान्य गुण २७५
८० शशक के गुण २७५
८१ गोधा के गुण २७५
८२-८४ शल्यक, अजगर और सर्प के गुण २७५
८५ ग्राम्य प्राणी २७५
८६ ग्राम्य प्राणियों के सामान्य गुण २७५
८७ छगल गुण २७५
८८ मेष और मेदःपुच्छ के गुण २७५

८९ गव्यगुण २७५
८९ एकशफ मांस गुण २७५
९०–९२ अल्पाभिष्यन्दी और महाभिष्यन्दी प्राणी २७५
९३ आनूपवर्ग भेद २७५
९४ कूलचर प्राणी २७५
९५ कूलचरों के सामान्य गुण २७५
९६ गजमांस के गुण २७६
९७ गवयमांस के गुण २७६
९८ महिषमांस के गुण २७६
९९ रुरु मांस के गुण २७६
१०० चमर मांस के गुण २७६
१०१ सृमर मांस के गुण २७६
१०२ वराह मांस के गुण २७६
१०३ खड्गी मांस के गुण २७६
१०४ गोकर्ण मांस के गुण २७६
१०५ हंसादि प्लव प्राणी २७६
१०६ प्लवों के सामान्य गुण २७६
१०७ हंसमांस के गुण २७६
१०८ कोशस्थ प्राणी २७६
१०९ पादी प्राणी २७६
११० कोशस्थ और पादी प्राणियों के सामान्य गुण २७६
१११ कर्कटक के गुण २७६
११२ मत्स्यों के नादेय और सामुद्र भेद से दो प्रकार २७७
११३ नादेय मत्स्य २७७
११४ नादेय मत्स्यों के सामान्य गुण २७७
११५ पाठीन मत्स्य के गुण २७७
११६ रोहित मत्स्य के गुण २७७
११६ गुरल मत्स्य के गुण २७७
११७ सर और तड़ागादि स्थित मत्स्यों के गुण २७७
११८ सामुद्र मत्स्य २७७
११९ सामुद्र मत्स्यों के सामान्य गुण २७७
१२०–२१ सामुद्रादि मत्स्यों की उत्तरोत्तर सारता २७७
१२२–२४ नादेयादि मत्स्यावयवों की गुरुलघुता २७७
१२६ अनुपादेय मांस २७८
१२७–१२८ शुष्कादि मांसों के दोष २७८
१२९ मांस के लिङ्ग भेद और शरीर भेद से गुण २७९
१३०–१३३ स्थानादि भेद से मांस की गुरुलघुता २७९
१३४ आहार विशेष से मांस के गुण २७९
१३५–१३६ उक्त मांस वर्गों की गुरुलघुता २७९
१३७ सम्पूर्ण शरीर में से गुण वाले अङ्ग ग्रहण करने चाहिये २७९
१३८ मांस के गुरु लाघव के निर्णय में परीक्षणीय विषय २७९
फलवर्ग–
१३९ दाडिमादि अम्ल फल वर्ग २८०
१४० दाडिमादि फलों के सामान्य गुण २८०
१४१–१४२ दाडिम के गुण २८०
१४३–१४४ आमला के गुण २८०
१४५–१४६ बदर, सिञ्चितिका के गुण २८०
१४७–१४८ कपित्थ के गुण २८०
१४९–१५१ मातुलुङ्ग के गुण २८०
१५२–१५३ आम्र के गुण २८०
१५४–१५५ आम्रातक और लकुच के गुण २८१
१५६–१६२ करमर्द, प्रियाल, भव्य, पारावत, प्राचीनामलक, तिन्तिडीक, कोशाम्र, अम्लीका, नारङ्ग, जम्बीर, ऐरावत और दन्तशठ के गुण २८१
१६३ कषायरस प्राय फल २८१
१६४ कषायरस प्राय फलों के सामान्य गुण २८१
१६५ क्षीर वृक्ष फल २८१
१६६ जाम्बव और राजादन क गुण २८१
१६७ तोदन के गुण २८१
१६८ तिन्दुक के गुण २८१
१६९ वाकुल के गुण २८१
१७० धान्वगाङ्गेरुक और अश्मन्तक के गुण २८१
१७१ फल्गु के गुण २८२
१७२ परूषक के गुण २८२
१७३ पौष्कर ,, २८२
१७४–१७५ बिल्व ,, २८२
१७६ बिम्बी तथा अश्वकर्ण फलों के गुण २८२
१७७–१७८ तालादि मधुर फल और उनके सामान्य गुण २८२
१७९ ताल के गुण २८२
१८० नारिकेल के गुण २८२
१८१ पनस और मोच के गुण २८२
१८२ द्राक्षादि मधुर फल २८३
१८३ द्राक्षा के गुण २८३
१८४ काश्मर्य के गुण २८३
१८५ खर्जूर के गुण २८३
१८६ मधूक के गुण २८३
१८७ वातामादि मधुर फल २८३
१८८ उनके सामान्य गुण २८३
१८९ लवली फल के गुण २८३
१९० वसिरादि के गुण २८३
१९१–१९३ ऐरावत दन्तशठ, टङ्क ऐङ्गुद, शमीफल और श्लेष्मातक के गुण २८३
१९४–१९५ करीर, आक्षिक, पीलु, तृणशून्य फलों के गुण २८३-२८४
१९६ तुबरक फल के गुण २८४
१९७ करञ्ज, पलाश और निम्ब फल के गुण २८४
१९८ विडङ्ग फल के गुण २८४
१९९ हरीतकी के गुण २८४
२०० विभीतक फल के गुण २८४
२०१ पूगफल के गुण २८४
२०२–२०४ जातीकोश, कर्पूर, जातीफल, कङ्कोलक, लवङ्ग और लताकस्तूरी के गुण २८४

२०५-२०७ प्रियाल, विभीत, कोल, आमलक, बीजपूर, शम्याक और कोशाम्र की मज्जाओं के गुण २८४
२०८ मज्जागुण भी फल समान होते हैं २८४
२०९ पक्क फल गुण युक्त होते हैं २८४
२१० त्याज्य फल २८५

शाकवर्ग-

२११ कूष्माण्डादि फलशाक २८५
२१२ कूष्माण्डादि के सामान्य गुण २८५
२१३-२१५ कूष्माण्ड, कालिन्द और अलाबु के गुण २८५
२१६ त्रपुसादि फल शाक २८५
२१७ त्रपुसादि के सामान्य गुण २८५
२१८-२१९ त्रपुस, ऐर्वारुक और कर्कारुक के गुण २२५
२२० शीर्णवृन्तक के गुण २८५
२२१ पिप्पल्यादि कटु फलशाक २८५
२२२ पिप्पल्यादि के सामान्य गुण २८५
२२३ पिप्पली के गुण २८६
२२४ मरिच के आर्द्र शुष्क भेद से गुण २८६
२२५ श्वेतमरिच के गुण २८६
२२६ शुण्ठी के गुण २८६
२२७ आर्द्रक के गुण २८६
२२८ हिङ्गु के गुण २८६
२२९ द्विविध जीरक के गुए २८६
२३० कारवी और उपकुञ्चिका के गुण २८६
२३१ कुस्तुम्बरी के गुण २८६
२३२-२३५ जम्बीर, सुरस, सुमुख, अर्जक और भूस्तृण के गुण २८६
२३६ कासमर्दक के गुण २८६
२३७ मधुशिग्रु के गुण २८६
२३८ सर्षपशाक, गण्डीरशाक और वेगनाम शाक के गुण २८६
२३९ चित्रक, तिलपर्णी और वर्षाभूशाक के गुण २८६
२४०-२४३ मूली के अवस्था भेद से गुण २८६
२४४-२४५ रसोन के गुण २८७
२४६-२४७ पलाण्डु के गुण २८७
२४८ कलायशाक के गुण २८७
२४९ कषायमधुरशाकवर्ग २८८
२५० उनके सामान्य गुण २८८
२५१ चुञ्चू के गुण २८८
२५२ फञ्जी शाक के गुण २८८
२५३ क्षीरवृक्ष और उत्पलादि के पल्लव गुण २८८
२५४ पुनर्नवादिशाक २८८
२५५ पुनर्नवादि के सामान्य गुण २८८
२५६ तण्डुलीयकादि शाक २८८
२५७ उनके सामान्य गुण २८८
२५८ तण्डुलीय के गुण २८८
२५९ उपोदिका के गुण २८८
२६० वास्तुक के गुण २८८
२६१ चिल्वी, पालङ्की और अश्वबला के गुण २८८
२६२ मण्डूकपर्णी आदि शाकवर्ग २८८
२६३ उनके सामान्य गुण २८९
२६४ मण्डूकपर्णी, गोजिह्वा के गुण २८९
२६५ सुनिषण्णक, अवल्गुज के गुण २८९
२६६ सतीन, काकमाची के गुण २८९
२६७ बृहतीफल के गुण २८९
२६८ पटोल के गुण २८९
२६९ वार्तिक कार्कोटक के गुण २८९
२७० अटरूषक, वेत्राग्र, गुडूची, निम्ब, पर्पट, किराततिक्त के गुण २८९
२७१ वरुण और प्रपुन्नाडशाक के गुण २८९
२७२ कालशाक और कुसुम्भशाक के गुण २८९
२७३ नलिका और चाङ्गेरी के गुण २८९
२७४ लोणिकादि शाक २८९
२७५ इनके सामान्यगुण २८९
२७६ कुन्तलिका, कुरण्टिका राजक्षवक और शटीशाक के गुण २८९
२७७ हरिमन्थ और कलायशाक के गुण २८९
२७८ पूतिकरञ्ज के गुण २९०
२७९-२८० ताम्बूल पत्र के गुण २९०

पुष्पवर्ग—

२८१ कोविदारादि पुष्पशाक २९०
२८२ अगस्त्य पुष्प के गुण २९०
२८३ करीरादि पुष्पों के गुण २९०
२८४ रक्तवृक्ष, निम्ब, मुष्कक, अर्क, असन और कुटुज के पुष्पों के गुण २९०
२८५ पद्म पुष्पादि के गुण २९०
२८६ सिन्दुवार, मालती, मल्लिका पुष्पों के गुण २९०
२८७ वकुल, पाटल, नागकेशर और कुङ्कुम के गुण २९०
२८८ चम्पक, किंशुक और कुरण्टक के गुण २९०
२८९ मधुशिग्रु और करीर पुष्पों के गुण २९०
२९० क्षवकादि उद्भिद शाक २९०
२७१ क्षवक के गुण २९०
२९२ वेणुकरीर के गुण २९०
२९३ आधार विशेष से उद्भिदों के गुण विशेष २९०
२९४ शुष्कशाक के विशेष गुण २९१
२९५ वटक और सिण्डाकी के गुण २९१
२९६. शाक सामान्य के गुण और शाकों के पुष्प, फल, नाल और कन्द शाकों में उत्तरोत्तर गुरुता २९१

२९७ वर्जनीय पत्रशाकादि २९१
२९८ विदार्यादि कन्दशाक २९१
२९९ उनके सामान्य गुण २९१
३०० विदारीकन्द के गुण २९१
३०१-३०२ शतावरी के गुण २९१
३०३ विस के गुण २९१
३०४ शृङ्गाटक कसेरुक, पिण्डालु और सुरेन्द्र कन्दों के गुण २९२
३०५ वंशाङ्कुरों के गुण २९२
३०६ स्थूल सूरण और माणकादि कन्दों के गुण २९२
३०७ माणक और सूरण कन्दों के विशेष गुण २९२
३०८-३०९ कुमुद, उत्पल, पद्म और वराह कन्दों के गुण २९२
३१०-३१२ ताल, नारिकेल, खर्जूर आदि मस्तक मज्जा के गुण २९२
३१२ वर्ज्य कन्द २९२

लवणवर्ग—

३१३ सैन्धवादि लवणों के सामान्य गुण २९२
३१४ सैन्धव २९२
३१५ सामुद्र २९२
३१६ विड २९२
३१७ सौवर्चल २९२
३१८ रोमक २९३
३१९ औद्भिद २९३
३२० गुटिका लवण के गुण २९३
३२१ ऊषर, वालुकैल, शैल मूलाकरोद्भूत लवणों के गुण २९३
३२२ क्षार और उनके सामान्य गुण २९३
३२३-३२५ यवक्षार-स्वर्जिका, ऊषक्षार और टङ्कणादि के गुण २९४
३२६-३३० सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, त्रपु, सीसक, मुक्ता, विद्रुम, वज्र, वैदूर्य, स्फटिकादि के गुण २९४
३३१ अनुक्त द्रव्य के ज्ञान का उपाय २९४
३३२-३३९ उक्त धान्यादि वर्गों में प्रधान द्रव्य २९४

कृतान्नवर्ग—

३४१ लाजमण्ड के गुण २९५
३४२ पेया के गुण २९५
३४३-३४४ शाकादि संयोग से विलेपी के गुण २९५
३४५ मण्डादि के लक्षण २९५
३४६ पायस और कृसरा के गुण २९५
३४७ ओदन के गुण २९५
३४८ भृष्टतण्डुलकृत ओदन के गुण २९५
३४९ स्नेह, मांस, कंदादि योग से सिद्ध ओदन के गुण २९५
३५० सूप और शाकों के संस्कार विशेष से गुण विशेष २९५
३५१ मांस के गुण २९६
३५२ सिद्ध मांस के गुण २९६
३५३ प्रदिग्ध मांस के गुण २९६
३५४ परिशुष्क मांस के गुण २९६
३५५-३५६ अंगारपक्व मांस के गुण २९६
३५७ शूल्यमांस के गुण २९६
३५८ तैलघृतसाधित मांस के गुण २९६
३५९-३६१ मांस रस के गुण २९६
३६२ सौराव के गुण २९६
३६३ उद्धृतरस मांस के गुण २९६
३६४ खानिष्क के गुण २९६
३६५-३६६ वेसवार के गुण २९७
३६७ मुद्ग यूष के गुण २९७
३६८ रागषाडव के गुण २९७
३६९ मसूरादिपञ्चक यूषगुण २९७
३७० पञ्चक यूष में मृद्वीकादि योग से गुण विशेष २९७
३७१ पटोल निम्ब यूष के गुण २९७
३७२ मूलक यूष के गुण २९७
३७३ कुलत्थ यूष के गुण २९७
३७४ दाडिमामलक यूष के गुण २९७
३७५ मुद्गामलक यूष के गुण २९७
३७५ यव, कोल, कुलत्थ-यूष और सर्वधान्य कृत यूष के गुण २९७
३७६-३७७ खड, काम्बलिक, दाडिमाम्ल, दध्यम्ल, तक्राम्ल यूष के गुण २९७
३७८ खड, यवागू, षाडव और पानक २९७
३७९ कृत और अकृत यूष की परिभाषा २९७
३८० संस्कृत और असंस्कृत यूष मांसादि के गुण २९७
३८१ काम्बलिक यूष लक्षण २९८
३८२ शुष्क शाक विशेष, कृतान्न तथा वटकों के गुण २९८
३८३ राग-षाडव गुण २९८
३८४ रसाला, एवं गुडयुक्त दधि के गुण २९८
३८५ मन्थ के लक्षण तथा गुण २९८
३८६-३८७ द्रव्यान्तर संयुक्त मन्थ के गुण २९८
३८८-३९१ पानक के गुण २९८

भक्ष्यवर्ग—

३९२ भक्ष्य निर्देश २९८
३९३ क्षीर कृत भक्ष्यों के गुण २९८
३९४ घृतपूर के गुण २९८
३९५ गुडकृत भक्ष्यों के गुण २९८
३९६ मधुमस्तक, संयाव, अपूप और मोदकों के गुण २९८
३९७ सट्टक के गुण २९९
३९८ विष्यन्दन के गुण २९९
३९९ सामिता कृत फेनकादिकों के गुण २९९

४०० मुद्गादि वेसवार गर्भ भक्ष्य के गुण २९९
४०१ पालल, शष्कुली के गुण २९९
४०१ पैष्टिक भक्ष्य के गुण २९९
४०२ मुद्गादि वैदलकृत भक्ष्य के गुण २९९
४०२ माष कृत भक्ष्य के गुण २९९
४०३ कूर्चिका कृत भक्ष्य के गुण २९९
४०४ अङ्कुरित मुद्गादि कृत भक्ष्य के गुण २९९
४०५-४०६ घृत तैल पक्व भक्ष्यों के गुण विशेष २९९
४०७ भक्ष्यों के योनि विशेष से गुण विशेष २९९
४०८ कपाल एवं अङ्गार पक्व भक्ष्यों के गुण विशेष २९९
४०९ किलाटादि तथा कुल्माष भक्ष्यों के गुण २९९
४१० वाट्य, धानोलुम्ब भक्ष्यों के गुण २९९
४११-४१२ सक्तु के गुण २९९
४१३ लाजागुण ३००
४१४ लाज सक्तु के गुण ३००
४१५ पृथुक के गुण ३००
४१६ धान्य पिष्ट के गुण, तथा नव और पुराण भेद से तण्डुल के गुण ३००
४१७ उक्तानुक्त धान्यों का उपसंहार ३००

—अनुपानवर्ग—

४१८ अनुपान विचार ३००
४१९ अनुपान द्रव्यों का संग्रह ३००
४२०-४२१ अनुपानों में जल की श्रेष्ठता ३००
४२२-४३० उष्णोदकादि अनुपान का विस्तार ३००-३०१
४३१-४३२ पूर्वोक्त शाल्यादि वर्गों के पृथक् २ अनुपान ३०१
४३३ महेन्द्र जल के अनुपान की प्रशंसा ३०१
४३४-४३६ अनुपान सामान्य के गुण ३०२
४३७ भोजन के आदि, मध्य एवं अन्त में उपयुक्त अनुपान के गुण ३०२
४३८ अनुपान न होने के दोष ३०२
४३९ अनुपान के अयोग्य प्राणी ३०२
४४०-४४१ अनुपान पीने के पश्चात् वर्ज्य ३०२
४४२ गुरु लाघव चिन्ता, स्वभाव संस्कार एवं मात्रा की अपेक्षा रखती है ३०२
४४३ गुरु लाघव चिन्ता-योग्य पुरुष ३०२
४४४ किन में गुरु लाघव चिन्ता आवश्यक नहीं है ३०२
४४५ महानस विचार ३०२
४४६ सुसंस्कृत अन्न का रक्षास्थान ३०२
४४७ आहारदूषक विषनाशन ३०२
४४८-४५६ भोजन की उपकल्पना ३०३
४५७ भोजन का स्थान ३०३
४५८ किस प्रकार का अशन हितकर होता है ३०३
४५९-४६३ कालभेद से भी आहार की विधि ३०३
४६४ किस प्रकार बैठ भोजन करना चाहिये ३०३
४६५-४६६ समय पर मात्रापूर्वक किये हुए भोजन का फल ३०४
४६७-४६९ ऋतुभेद से भोजन का काल ३०४
४७०-४७२ अकाल भोजन के दोष ३०४
४७३ हीनमात्र और अतिमात्र भोजन के दोष ३०४
४७४ किस प्रकार का अन्न सेवन करना चाहिये ३०४
४७५-४७६ हेय अन्न का वर्णन ३०४
४७७ यथोत्तर मधुरतर भोजन सेवन करना चाहिये ३०४
४७८-४७९ भोजनकाल में गण्डूष करने के गुण ३०५
४८० स्वादु अन्न के गुण ३०५
४८१ स्वादु अन्न का लक्षण ३०५
,, भोजन में जल पीने का विधान ३०५
४८२ दांतों में फंसे हुए अन्न के शोधन का विधान ३०५
४८३ जीर्ण और जीर्णकाल में दोष विशेष का प्रकोप ३०५
४८४-४८५ भोजनोत्तर कुपित श्लेष्मा का प्रतिकार ३०५
४८६ भोजनोत्तर कर्तव्य ३०५
४८७ भुक्तान्नस्थिरता के लिये मनःप्रिय शब्दादि विषयों का सेवन ३०५
४८८ भोजनोत्तर जुगुप्सित शब्दादि विषयों का त्याग ३०५
४८९ भोजनोत्तर वर्ज्य ३०५
४९० अतिमात्र सेवित रसों के दोष ३०६
४९१ मन्दाग्नि में दो बार भोजन का निषेध ३०६
४९२ मन्दाग्नि में गुरु आहार का निषेध ३०६
४९३ पिष्टान्न का निषेध ३०६
४९४ लेह्यपेयादि चतुर्विध आहार की यथोत्तर गुरुता ३०६
,, लघु-गुरु द्रव्यों का मात्रा विचार ३०६
४९५ प्रभूत द्रवयुक्त शुष्कान्न सेवन में दोषाभाव ३०७
४९६ शुष्कान्न सेवन में दोष ३०७
४९७ अन्नविदाह के हेतु ३०७
४९७ शुष्क, विरुद्ध और विष्टम्भी अन्न अग्नि को मन्द कर देते हैं ३०७
४९८ अजीर्ण के भेद ३०७
४९९-५०० अजीर्ण के कारण ३०७

५०१–५०२ अजीर्णों के लक्षण ३०८
५०३ अजीर्ण बहुत व्याधियों का कारण है ३०८
५०४–५०६ अजीर्ण की चिकित्सा ३०८
५०७–५०८ समशन, विषमाशन और अध्यशन के लक्षण ३०८
५०९ विदग्धाजीर्ण की चिकित्सा ३०८
५१० आमाशयगत अन्न-विदाह की चिकित्सा ३०८
५११ रसशेषाजीर्ण की शान्ति ३०९
५१२ अजीर्ण में भी बुभुक्षा विनाशकरी होती है ३०९
५१३–५२३ उष्ण आदि बीस गुणों के कर्म ३०९
५२४ आहार गुणकथन ३१०-३१४
५२५ आहारावस्था पाक से दोषवृद्धि के लक्षण ३१४
५२६ रस से ही अन्य धातुओं की उत्पत्ति होती है ३१४
५२७ धातुओं से क्रमशः मलोत्पत्ति का वर्णन ३१४
५२८–५२९ अजीर्ण में भोजन विचार ३१४
५३० सूत्र के पठन का फल ३१५

सूत्रस्थान समाप्त

निदानस्थान

प्रथम अध्याय

१ वात व्याधि निदान का उपक्रम ३१७
२–३ प्रकृति भूत एवं व्यापन्न वायु के स्थान, कर्म और रोगों के सम्बन्ध में प्रश्न ३१७
४–७ वायु का स्वरूप वर्णन ३१७
८–९ शरीर में विचरण करने वाले वायु के कर्म ३१८
१० वायु के नाम, स्थान, कर्म भेद से पांच प्रकार ३१८
११ स्थान भेद से वायु के नाम ३१८
१२ प्राण वायु के स्थान और कर्म ३१८
१३–१४ उदान वायु के स्थान और कर्म ३१८
१५ समान वायु के स्थान और कर्म ३१८
१६–१७ व्यान वायु के स्थान और कर्म ३१९
१८ अपान वायु के स्थान और कर्म ३१९
१९ विकृत व्यान और अपान के कर्म ३१९
२०–२३ वायु की स्थान विशेष से रोगविशेषकारिता ३१९
२४–२८ वायु की धातु विशेषाश्रय से रोगविशेषकारिता ३१९
२९ सर्वाङ्गगत वायु के कार्य ३२०
३० दोषान्तरमिश्र वायु मिश्रित पीडाओं को करता है ३२०
३१–३७ कफपित्तावृत्त वायु जनित पीडाएं ३२०
३८–३९ वात रक्त प्रकोप के कारण ३२१
४०–४२ वात रक्त सम्प्राप्ति ३२१
४३–४४ वातादि विशेष से वात रक्त के विशिष्ट लक्षण ३२१
४५ वातरक्त का पूर्व रूप ३२२
४६ हस्त पाद मात्र से आरम्भ होकर वातरक्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है ३२२
४७ वातरक्त के असाध्य लक्षण ३२२
४८ आक्षेपक के लक्षण ३२३
४९–५४ आक्षेपक भेद-अपतानक, दण्डापतानक, धनुःस्तम्भ, अभ्यन्तरायाम और बाह्यायाम के लक्षण ३२३
५५ आगन्तु अपतानक ३२४
५६ अपतानक के असाध्य लक्षण ३२४
५७–५८ पक्षाघात के लक्षण ३२४
५९–६० पक्षाघात का साध्यासाध्य विचार ३२४
६१–६३ अपतन्त्रक का लक्षण ३२५
६४ मन्यास्तम्भ लक्षण ३२६
६५–६९ अर्दित का लक्षण ३२६
७० अर्दित वायु का असाध्य लक्षण ३२६
७१ गृध्रसी लक्षण ३२६
७२ विश्वाची लक्षण ३२६
७३ क्रोष्टुक शीर्ष लक्षण ३२७
७४ खञ्ज और पङ्गु वात के लक्षण ३२७
७५ कलाय खञ्ज का लक्षण ३२७
७६ वातकण्टक लक्षण ३२७
७७ पाद दाह लक्षण ३२७
७८ पाद हर्ष लक्षण ३२७
७९ अंसशोष और अवबाहुक के लक्षण ३२७
८० बाधिर्य के लक्षण ३२७
८१ कर्णशूल लक्षण ३२७
८२ मूकमिन्मिन और गद्गद के लक्षण ३२७
८३–८४ तूनी प्रतितूनी के लक्षण ३२७
८५ आध्मान के लक्षण ३२८
८६ प्रत्याध्मान के लक्षण ३२८
८७ वाताष्ठीला के लक्षण ३२८
८८ प्रत्यष्ठीला के लक्षण ३२८

द्वितीय अध्याय

१ अर्शोनिदान का उपक्रम ३२८
२ अर्श के छः प्रकार ३२८
३ अर्श के निदान और सम्प्राप्ति ३२९
४–७ गुदवलियों का वर्णन ३२९
८ अर्श के पूर्वरूप ३३०
९ अर्श के सामान्य लक्षण ३३०
१० वातार्श के लक्षण ३३०
११ पित्तार्श के लक्षण ३३१
१२ श्लेष्मार्श के लक्षण ३३१
१३ रक्तजार्श के लक्षण ३३१
१४ सन्निपातजार्श के लक्षण ३३१

१५ सहजार्श के लक्षण ३३१
१६ अर्श की स्थानानुसार साध्यासाध्यता ३३२
१७–१८ मेढ्रनाभि आदि स्थानों में होने वाले अर्श के लक्षण ३३२
१९ चर्म कील का लक्षण ३३२
२०–२१ चर्मकील में दोषों के चिह्न ३३२
२२ मेढ्र आदि में होने वाले अर्श में वातादि लक्षणातिदेश ३३३
२३ संसर्गज अर्श का लक्षण ३३३
२४–२५ अर्श का साध्यासाध्य विचार ३३३
२६ सर्ववलि व्याप्त अर्श असाध्य होता है ३३३

तृतीय अध्याय

१ अश्मरी निदान का उपक्रम ३३३
२ अश्मरी चार प्रकार की होती है ३३३
३ अश्मरी की सम्प्राप्ति ३३३
४–५ अश्मरी का पूर्व रूप ३३४
६ अश्मरी का सामान्य लक्षण ३३४
७ श्लेष्माश्मरी का लक्षण ३३४
८ पित्ताश्मरी का लक्षण ३३४
९ वाताश्मरी का लक्षण ३३५
११ शुक्राश्मरी प्रौढायु मनुष्यों को ही होती है ३३५
१२ शुक्राश्मरी की सम्प्राप्ति, निदान और लक्षण ३३५
१३–१६ शर्करा और सिकता के लक्षण ३३६
१७ मूत्रमार्गगत अश्मरी के लक्षण ३३६
१८–२३ अश्मरी का आधारभूत बस्ति के स्थान, संस्थान और द्वार ३३६–३३७
२४–२६ अश्मरी की उत्पत्ति का वर्णन ३३८
२७–२८ बस्तिगत रोगों का वायु ही कारण होता है ३३८

चतुर्थ अध्याय

१ भगन्दर निदान का उपक्रम ३३८
२ भगन्दर के नाम और भेद ३३९
३ भगन्दर की निरुक्ति ३३९
४ भगन्दर के पूर्वरूप ३३९
५ शतपोनक भगन्दर के लक्षण ३३९
६ उष्ट्रग्रीव भगन्दर के लक्षण ३३९
७ परिस्रावी भगन्दर के लक्षण ३४०
८ शम्बूकावर्त भगन्दर के लक्षण ३४०
९ उन्मार्गी भगन्दर के लक्षण ३४०
१०–११ भगन्दरेतर एवं भगन्दरपिडका का भेद ३४०
१२ भगन्दर का पूर्वरूप ३४०
१३ असाध्य भगन्दर ३४०

पञ्चम अध्याय

१ कुष्ठनिदान का उपक्रम ३४१
२ कुष्ठ सम्प्राप्ति ३४१
३ कुष्ठ पूर्वरूप ३४२
४ अष्टादश कुष्ठ ३४२
५ सप्त महाकुष्ठ तथा एकादश क्षुद्रकुष्ठों के नाम ३४२
६ दोषभेद से कुष्ठ विशेष की उत्पत्ति ३४२
७–८ सप्त महाकुष्ठों (अरुण, उदुम्बर, ऋष्यजिह्व, कपाल, काकणक, पुण्डरीक और दद्रु) के लक्षण ३४२–३४३
९ स्थूलारुष्क और महाकुष्ठ के लक्षण ३४३
१० एककुष्ठ और चर्मदल कुष्ठ के लक्षण ३४३
११ विसर्प कुष्ठ के लक्षण ३४३
१२ परिसर्प और सिध्मकुष्ठ के लक्षण ३४३
१३ विचर्चिका, विपादिका कुष्ठ के लक्षण ३४३
१४ किटिभ और पामा कुष्ठ के लक्षण ३४४
१५ कच्छु रकसा के लक्षण ३४४
१६ दोषानुसार क्षुद्र कुष्ठ ३४४
१७ किलास का लक्षण ३४४
१८ कुष्ठों के वातपित्त कफ भेद तथा असाध्य लक्षण ३४५
१९–२० कुष्ठ का प्रतिकार न करने से असाध्यत्व निदर्शन ३४५
२१–२६ धातुगत कुष्ठों के लक्षण ३४६
२७ कुष्ठी माता पिता की सन्तान भी कुष्ठी होती है ३४६
२८ कुष्ठों का साध्यासाध्य विचार ३४६
२९ कुष्ठ कर्मज व्याधि है ३४६
३० कुष्ठोत्पादक कर्म का जन्मान्तर तक अनुबन्ध लगा रहता है ३४६
३१ कुष्ठ से मुक्ति ३४६
३२–३३ कुष्ठादि रोग संक्रामक होते हैं ३४७

षष्ठ अध्याय

१ प्रमेहनिदान का उपक्रम ३४७
२ प्रमेह के हेतु ३४८
३ प्रमेह की सम्प्राप्ति ३४८
४ प्रमेह के पूर्वरूप ३४८
५ प्रमेह के सामान्य लक्षण ३४८
६ प्रमेहपिडकाएं त्रिदोषज होती हैं ३४८
७ कफ प्रमेह ३४८
८ पित्त प्रमेह ३४९
९ वात प्रमेह ३४९
१० सर्व प्रमेह सर्वज होते हैं ३४९
११ कफज दश मेहों के क्रमशः लक्षण ३४९
१२ पित्तज प्रमेहों के लक्षण ३५०
१३ वातज प्रमेहों के लक्षण ३५१

१४ प्रतिदोष प्रमेहों के उपद्रव ३५२
१५ प्रमेह पिडकाओं की सम्प्राप्ति ३५२
१६–२१ प्रमेह पिडकाओं के लक्षण ३५३
२२ पिडकाओं के असाध्य लक्षण ३५३
२३ वातज प्रमेहों की असाध्यता के कारण ३५३
२४–२५ प्रमेह रोगी के सामान्य लक्षण ३५४
२६–२७ मधुमेही का लक्षण ३५४
२८ तीन दोषों का बीस प्रमेहों के उत्पादक होने में दृष्टांत प्रदर्शन ३५४
२९ प्रमेह उपेक्षा करने से असाध्य होते हैं ३५४

सप्तम अध्याय

१–२ उदर निदान का उपक्रम ३५४
३ उदर रोगों की संख्या ३५५
४ उदर रोगों के हेतु ३५५
५ उदर सम्प्राप्ति ३५५
६ उदर के पूर्वरूप ३५६
७ वातोदर के लक्षण ३५६
८ पित्तोदर के लक्षण ३५६
९ कफोदर के लक्षण ३५६
१०–१२ सन्निपातोदर के लक्षण ३५६
१३–१४ प्लीहोदर के लक्षण ३५७
१५ यकृद्दाल्युदर के लक्षण ३५७
१६–१७ बद्धगुदोदर के लक्षण ३५८
१८–१९ परिस्रावी उदरके लक्षण ३५८
२०–२१ जलोदर के लक्षण ३५९
२२ अष्टविध उदर रोगों के सामान्य लक्षण ३६०
२३ उदर रोगों का साध्यासाध्य विचार ३६०

अष्टम अध्याय

१ मूढ़गर्भ निदान का उपक्रम ३६०
२ मूढ़गर्भ के हेतु ३६०
३ मूढ़गर्भ के लक्षण ३६१
४ मूढ़गर्भ के चार भेद ३६१
५–६ मूढ़गर्भ के अन्य भेद ३६२
७ असाध्य मूढ़गर्भ के लक्षण ३६२
८–९ स्वाभाविक प्रजनन के लक्षण ३६३ ३६५
१० गर्भ विच्युति में दृष्टान्त प्रदर्शन ३६५
११ गर्भ का चतुर्थ मास तक स्राव और पञ्चम षष्ठ मास में पात ३६५
१२ मूढ़गर्भ के असाध्य लक्षण ३६५
१३ अन्तर्मृत गर्भ के लक्षण ३६५
१४ गर्भमृत्यु के कारण ३६५
१५ माता के मरने पर भी जीवित गर्भ का निकालना ३६६-३६७

नवम अध्याय

१–२ विद्रधि निदान का उपक्रम ३६७
३–५ विद्रधि रोग की सम्प्राप्ति ३६७
६ वात विद्रधि के लक्षण ३६७
७ पित्त विद्रधि के लक्षण ३६७
८ श्लेष्म विद्रधि के लक्षण ३६७
९ विद्रधिस्राव के लक्षण ३६८
१० सान्निपातिक विद्रधि के लक्षण ३६८
११–१२ आगन्तु विद्रधि की संप्राप्ति ३६८
१३ रक्त विद्रधि के लक्षण ३६८
१४ सन्निपातज विद्रधि असाध्य होती है ३६८
१४–१६ आभ्यन्तर विद्रधि के हेतु और सम्प्राप्ति ३६८
१७ अन्तर्विद्रधि के स्थान ३६८
१८ अन्तर्विद्रधि के लक्षण ३६९
१९–२२ बाह्य और आभ्यन्तर विद्रधियों के अधिष्ठान भेद से लक्षण ३६९
२३ मर्मोत्थ विद्रधियां सर्वावस्था में कष्टप्रद होती हैं ३६९
२४–२५ विद्रधियों की अवस्था भेद से साध्यासाध्यता ३६९
२६–२७ रक्तविद्रधि के लक्षण ३६९
२८–३३ विद्रधि और गुल्म में भेद ३७०
३४–३८ अस्थिगत विद्रधि के लक्षण ३७१

दशम अध्याय

१ विसर्प, नाड़ी, स्तन रोग निदान का उपक्रम ३७१
२ विसर्पों की सम्प्राप्ति, निदान, लक्षण और निरुक्ति ३७१
३ वातिक विसर्प के लक्षण ३७२
४ पैत्तिक विसर्प के लक्षण ३७२
५ श्लैष्मिक विसर्प के लक्षण ३७२
५ सान्निपातिक विसर्प के लक्षण ३७२
६ क्षत विसर्प के लक्षण ३७२
७ विसर्पों का साध्यासाध्य विचार ३७३
८–९ नाडीव्रण के निदान, सम्प्राप्ति तथा निरुक्ति ३७३
९ नाडी रोग की संख्या ३७३
१० वातिक एवं पैत्तिक नाडी रोग के लक्षण ३७३
११ कफज एवं द्वन्द्वज नाडी रोग के लक्षण ३७४
१२ सान्निपातिक नाडी के लक्षण ३७४
१३ शल्यनिमित्तज नाडी के लक्षण ३७४
१४ स्तन रोग संख्या ३७४
१५ असंभूतगर्भा स्त्रियों को स्तन रोग नहीं होते ३७४
१६ प्रजात एवं गर्भवतियों को ही स्तन रोग होते हैं ३७४
१७ स्तन्य के लक्षण ३७४
१८–२१ शुक्रप्रवृत्ति के समान ही स्त्रियों में स्तन्यप्रवृत्ति होती है ३७५
२२–२३ वातादि दुष्ट स्तन्य के लक्षण ३७५
२४ निर्दोष स्तन्य के लक्षण ३७५
२५ स्तन रोग की सम्प्राप्ति ३७६

२६ संक्षेप से स्तन रोग के लक्षण का अतिदेश ३७९

एकादश अध्याय

१ ग्रंथि, अपची अर्बुद, तथा गलगण्ड निदान का उपक्रम ३७९
२ ग्रंथि का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण ३७९
३ वातज ग्रंथि के लक्षण ३७९
४ पित्तज ग्रंथि के लक्षण ३७९
५ कफज ग्रंथि के लक्षण ३७९
६ मेदोज ग्रंथि के लक्षण ३७९
७–८ सिराज ग्रंथि की सम्प्राप्ति और साध्यासाध्य लक्षण ३७७
९–११ अपची रोग के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण और निरुक्ति ३७७
१२ अर्बुद रोग के निदान और सम्प्राप्ति ३७८
१३ वातादि दोषज अर्बुद के ग्रंथि के समान लक्षण होते हैं ३७८
१४-१५ रक्तार्बुद के लक्षण ३७९
१६ मांसार्बुद के लक्षण ३७९
१७–१८ अर्बुद के असाध्य लक्षण ३७९
१९ अर्बुद के पाकाभाव में कारण ३७९
२० गलगण्ड का निदान सम्प्राप्ति ३८०
२१–२२ गलगण्ड के लक्षण ३८१
२३ कफज गलगण्ड के लक्षण ३८१
२४ मेदोज गलगण्ड के लक्षण ३८१
२५ गलगण्ड के असाध्य लक्षण ३८१
२६ गलगण्ड का स्वरूप कथन ३८२

द्वादश अध्याय

१ वृद्धि उपदंश, श्लीपद के निदान का उपक्रम ३८२
२ वृद्धि के सात भेद ३८२
३ वृद्धिरोग की सम्प्राप्ति ३८२
४ वृद्धिरोग के पूर्वरूप ३८२
५ वातज, पित्तज, कफज वृद्धि के लक्षण ३८२
६ रक्तज, मेदोज वृद्धि के लक्षण ३८२
७ मूत्रवृद्धि के लक्षण ३८३
८ अन्त्रवृद्धि लक्षण ३८३-३८५
९ उपदंशरोग के निदान और सम्प्राप्ति ३८५
१० उपदंश के भेद ३८५
११ वातादि प्रत्येक उपदंश के लक्षण ३८६-३८८
१२ श्लीपद निदान संप्राप्ति ३८८
१३ वातजादि भेद से श्लीपद के लक्षण ३८९
१४ श्लीपद के असाध्य लक्षण ३८९
१५ श्लीपदों में कफाधिक्य निरूपण ३९०
१६ किन देशों में श्लीपद अधिकतया होता है ३९०
१७ श्लीपद के स्थान ३९०

त्रयोदश अध्याय

१ क्षुद्ररोग के निदान का उपक्रम ३९०
२ चौवालीस क्षुद्ररोगों के नाम ३९०
३ अजगल्लिका का लक्षण ३९०
४ यवप्रख्या का लक्षण ३९१
५ अन्धालजी का लक्षण ३९१
६ विवृता का लक्षण ३९१
७ कच्छपी का लक्षण ३९१
८–९ वल्मीक का लक्षण ३९१
१० इन्द्रवृद्धा का लक्षण ३९२
११ पनसिका का लक्षण ३९२
१२ पाषाणगर्दभ का लक्षण ३९२
१३ जालगर्दभ का लक्षण ३९२
१४ कक्षा का लक्षण ३९२
१५ विस्फोटक का लक्षण ३९२
१६–१७ अग्निरोहिणी का लक्षण ३९३
१८ चिप्प का लक्षण ३९३
१९ कुनख का लक्षण ३९३
२० अनुशयी का लक्षण ३९३
२१ विदारिका का लक्षण ३९३
२२–२४ शर्करार्बुद का लक्षण ३९३
२५ पामा, विचर्ची, रकसा के लक्षण ३९३
२६ पाददारी के लक्षण ३९३
२७–२८ कदर का लक्षण ३९३
२९ अलस का लक्षण ३९४
३०–३१ इन्द्रलुप्त का लक्षण ३९४
३२ दारुणक का लक्षण ३९४
३३ अरुंषिका का लक्षण ३९४
३४ पलित का लक्षण ३९४
३५ मसूरिका का लक्षण ३९४-३९७
३६ मुखदूषिका का लक्षण ३९७
३७ पद्मनीकण्टक का लक्षण ३९७
३८ जतुमणि का लक्षण ६९७
३९ मषक का लक्षण ३९७
४० तिलकालक के लक्षण ३९७
४१ न्यच्छ का लक्षण ३९७
४२ चर्मकील के लक्षण ३९७
४२–४३ व्यङ्ग का लक्षण ३९७
४४–४६ परिवर्तिका का लक्षण ३९८
४७–४८ अवपाटिका का लक्षण ३९८
४९–५१ निरुद्धप्रकश का लक्षण ३९८
५२–५३ संनिरुद्ध गुद का लक्षण ३९९
५४–५५ अहिपूतन का लक्षण ३९९
५६–५७ वृषणकच्छू का लक्षण ३९९
५८ गुदभ्रंश का लक्षण ३९९

चतुर्दश अध्याय

१ शूकदोष निदान का उपक्रम ४००
२ शूकदोषजन्य रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति
३ सर्षपिका का लक्षण ४००
४ अष्ठीलिका का लक्षण ४००
५ ग्रथित और कुंभिका के लक्षण ४००
६ अलजी और मृदित के लक्षण ४००

Digitized by Sarayu Trust.

७ संमूढपिडका और अवमंथ के लक्षण ४००
८ पुष्करिका के लक्षण ४००
९ स्पर्श हानि के लक्षण ४००
१० उत्तमा के लक्षण ४००
११ शतपोनक के लक्षण ४०१
१२ त्वक्पाक और शोणितार्बुद के लक्षण ४०१
१३ मांसार्बुद के लक्षण ४०१
१४ मांसपाक के लक्षण ४०१
१५ विद्रधि के लक्षण ४०१
१६-१७ तिलकालक के लक्षण ४०१
१८ शूक दोषों का साध्यासाध्य विचार ४०१

पञ्चदश अध्याय

१ भग्ननिदान का उपक्रम ४०१
२ भग्नहेतु ४०१
३ भग्न के दो प्रकार, सन्धिमुक्त और काण्डभग्न ४०१
४ सन्धिमुक्त भेद ४०१
५ संधिमुक्त का सामान्य लक्षण ४०२
६ उत्पिष्टादि छः सन्धिमुक्त भग्नों के लक्षण ४०२
७ काण्डभग्न के प्रकार ४०२
९ प्रत्येक काण्डभग्नके विशेष लक्षण ४०३
१०-१३ साध्यासाध्यता ४०३
१४ मध्यम आयु में भग्न साध्य होता है ४०३
१५ अस्थि विशेष के अनुसार भग्न के प्रकार ४०४

षोडश अध्याय

१ मुख रोगों के निदान का उपक्रम ४०४
२ मुख रोगों की संख्या और आयतन ४०४
३ आयतनानुसार संख्या ४०५
४ ओष्ठ रोग ४०५
५ वातज ओष्ठप्रकोप ४०५
६ पित्तज ओष्ठप्रकोप ४०५
७ कफज ओष्ठप्रकोप ४०५
८ सन्निपातज ओष्ठप्रकोप ४०५
९-१० रक्तज और मांसज ओष्ठप्रकोप ४०५
११ मेदोज ओष्ठप्रकोप ४०५
१२ क्षतज ओष्ठप्रकोप ४०५
१३ मूलगत रोग ४०५
१४-१५ शीताद लक्षण ४०६
१६ दन्त पुप्पुटक ४०६
१७ दन्त वेष्ट के लक्षण ४०६
१८ सौषिर के लक्षण ४०६
१९ महासौषिर के लक्षण ४०६
२० परिदर के लक्षण ४०६
२१-२२ उपकुश के लक्षण ४०६
२३ वैदर्भ के लक्षण ४०६
२४ वर्धन के लक्षण ४०६
२५ अधिमांस के लक्षण ४०७
२६ दन्तनाड़ी का लक्षण ४०७
२७ दन्त रोग ४०७
२८ दालन ४०७
२९ कृमिदन्तक ४०७
३० दन्तहर्ष ४०७
३१ भञ्जनक ४०७
३२ दन्तशर्करा ४०७
३३ कपालिका ४०७
३४ श्यावदन्तक ४०८
३५ हनुमोक्ष ४०८
३६ जिह्वागत रोग ४०८
३७ त्रिविध कण्टक के लक्षण ४०८
३८ अलास लक्षण ४०८
३९ उपजिह्विका लक्षण ४०८
४० तालुगत रोग ४०९
४१ गलशुण्डिका ४०९
४२ तुण्डिकेरी और अध्रुष के लक्षण ४०९
४३ कच्छप और रक्तार्बुद के लक्षण ४०९
४४ मांससंघात और तालु पुप्पुट के लक्षण ४०९
४५ तालु शोष और तालु पाक के लक्षण ४०९
४६ **कण्ठगत रोगों के नाम** ४०९
४७-५० कण्ठरोहिणी के वातजादि भेद से लक्षण ४१०
५१ कण्ठशालूक के लक्षण ४१०
५२ अधिजिह्वा ,, ४१०
५३ वलय ,, ४११
५४ बलास ,, ४११
५५ एक वृंद ,, ४११
५६ वृंद ,, ४११
५७ शतघ्नी ,, ४११
५८ गिलायु ,, ४११
५९ गलविद्रधि ,, ४११
६० गलौघ ,, ४११
६१ स्वरघ्न ,, ४११
६२ मांसतान ,, ४१२
६३ विदारी के लक्षण ४१२
६४ सर्वसर (मुखपाक) के भेद ४१२
६५-६६ मुखपाक के वातजादि भेद से लक्षण ४१२

शुद्धिपत्र

सूत्रस्थान

पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	२	४६	Deetetic	Dietetic
२०	२	२५	Heridity	Heredity
,,	,,	२६	Diacteties	Dietetics
२१	१	३६	पश्चत	पश्चात्
२७	१	७	च का	चर्य का
२८	२	२०	Homiothermic	Homoio-thermic
२९	१	अंतिम	सूत्र चार में	सूत्र पाँच और छः में
,,	२	३९	सूत्र आठ में	सूत्र नौ में
,,	२	४२	सूत्र ९, १०, ११ में	सूत्र १०, ११, १२ में
३३	१	५	Burn Geo	Burn Yeo
३६	१	४१	Siqmoido Scope	Sigmoidoscope
,,	,,	४७	Herine	Hernia
,,	,,	,,	Traenum	Fraenum
,,	२	२	Caustie	Caustic
,,	,,	१८	Pick lock	Scoop
३७	२	२०	Tix	Fix
,,	,,	३३	Tarabeuf	Farabeuf
३८	१	१७	Torceps	Forceps
,,	,,	३४	,,	,,
३९	१	२१	Tistula	Fistula
,,	२	१२	Boll	Ball
,,	,,	२७	Canula	Cannula
४०	१	३२	Suetion	Suction
,,	२	२१	Liver	Lever
४६	१	४२	पोखे	पोरवे
,,	२	१३	च(व)क्धा	च(व)क्धार
४७	२	१७	Scratted	Serrated
,,	,,	२२	Cloded	Bladed
५१	१	१४	Scober	Scaber
५५	२	२३	नई है	नई नहीं है
,,	,,	२४	नहीं मिलता है	मिलता है
५६	१	४	Stethescope	Stethoscope
५९	१	१	श्रम	श्रम
,,	२	१७	सागर, गोटा	सागरगोटा
६०	१	अंतिम	करन	करना
६२	२	२५	Fseharatie	Escharotic
,,	,,	३४	Caloz	$Ca\ CO_3$
,,	,,	३६	Cox	CO_2
६३	२	२२	Sapponny	Saponi
,,	,,	३५	Chlnide	Chloride
,,	,,	३९	laste	Paste

पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६४	१	३९	इक्कीस	सोलह
,,		१६	क्लीब	क्लीब
६५	१	३६	Poquilin	Paquelin
६६	२	६	Distriaichiasis	Distichiasis
६७	१	३७	पित्तप्रकृति	रक्तपित्ती
७०	२	१०	Humia	Humid
,,	,,	३३	शीतवातातपदग्ध	शीतवर्षानिलदग्ध
,,	,,	३६	कर्ण में खुले	कर्ण खुले
७४	१	८	मुंह स्कन्ध	मुँह कर, और स्कन्ध
७५	१	२६	जलसंभन	जलसंभव
७७	२	२४	कार्यरक्त मज्जा	कार्य रक्तमज्जा
८१	१	३७	१९२८	१६२८
,,	,,	४४	Moluntary muse	Involuntary muse
८२	१	३२	वाल	बाल
८३	२	२१	Salls	Salts
,,	,,	४२	Scaray, Hacmephilia	Scurvy, Haemophilia
८४	१	१४	Hle co_2	$Hb\ CO_2$
८५	१	२	Conoalsions	Convulsions
८६	१	१८	Forsion	Torsion
,,	२	२५	मालूम हो, प्रयोग	मालूम हो तो प्रयोग
८७	१	४४	रक्तवाहिनियों	रक्त वाहिनियों
९१	१	२८	Scbaceous	Sebaceous
९३	१	३	Bory tumove	Bony tumour
,,	,,	१२	Borboryama	Borborygma
,,	,,	१६	निरोध न होकर	निरोध होकर
९५	१	५	Glacogen	Gly cogen
९६	१	१	आजं	आजं गुड
१०२	२	१८	रक्त (चि. २५)	(चि. २५)
१०७	१	३४	शोध	शोथ
१०६	२	२९	Pyosaplinx	Pyosalpinx
११४	२	१८	श्राम्यत्	श्राम्यत्
१२०	२	१९	Helisotherapy	Heliotherapy
१२३	१	४३	Virsu	Virus
१२७	१	१०	स्थाति	स्थाली
१३०	१	२२	प्राधान्य अन्य बंतलाने	प्राधान्य बतलाने
१३१	१	२	Intericus	Entericus
१३२	१	३६	साधकाग्नि	साधकाग्नि
१३३	१	४७	नियम–न	नियमन
१३९	१	४०	Prodrom	Prodrome
,,	,,	४१	Symplom	Symptom

पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४०	१	२७	संचयावस्था	संचयावस्था में
१४१	२	२	Friterous	Fibrous
१४५	१	२१	Lapri	Lepri
१४७	२	४२	आन्त्रपुच्छा शोथ	आन्त्रपुच्छशोथ
१४८	१	२	Strangulatea hervia	Strangulated hernia
१४९	१	१६	Consanguincous	Cosanguineous
,,	२	१४	Knnown	Known
१५२	१	४३, ४४	इन जनपदोद्ध्वंसक.............मानते थे यह वाक्य अनावश्यक है।	
,,	२	५	Eondemic	Pandemic
,,	,,	३६	संबंध	संबंध में
१५६	१	अंतिम	–व्याधि	–(५) व्याधि
१५७	१	२३	Epiglattitis	Epiglottitis
१६०	१	३७	शोणितवर्णनीयाध्यायोक्ता	शोणितवर्णनीयाध्यायोक्तान्
१६२	१	४२	शरीर	शर
१६३	२	५	विरल	विरत
१६६	१	४६	Ocsophagus	Oesophagus
१६७	१	२८	न कर्तव्यं	कर्तव्यं
,,	,,	३१	अर्थ	अर्थ में
१६८	२	३२	Coccum	Coecum
,,	१	४४	Ocsophagoscope	Oesophagoscope
१६९	१	अंतिम	Asphysia	Asphyxia
१७२	१	१५	धमर्थि	धर्मार्थ
,,	२	१८	स्वसंवेधन	स्वसंवेद्य
१७४	२	२७	सामास्य	सामान्य
१७५	१	२६	(ल्हण)	(डल्हण)
१८३	१	१८	Apnoca	Apnoea
,,	,,	२६	Biats	Biot's
१८६	२	२५	वर्जित	वर्णित
१९२	२	४३	श्लोक संदर्भ	अर्थ संदर्भ
१९५	१	२५	जाय चौरासी	जाय तो वह चौरासी
,,	२	२३	शरीर	शारीर
१९८	१	६	रोग में	रोग
२००	१	३०	Meisor	Incisor
,,	२	१८	(मध्यमायु)	(मध्य वय)
२०६	१	३८	उत्सादन द्रव्य	अवसादन द्रव्य
२०९	१	३६	Frutiscens	Frutescens
२१०	१	२७	Lougifolia	Longi folia
,,	,,	३०	पायरचूर	पाथरचूर
२१०	२	१२	Flabellifrmis	Flabelliformis
,,	,,	२६	Symflocos	Symplocos
,,	,,	३०	Clerodendrov	Clerodendron
२११	२	४१	Fatamarsi	Jatamansi
२१२	२	१	Coneinna	Concinna
,,	,,	३	Igomoea	Ipomoea
२१३	१	३४	Sulhhide	Sulphide
,,	२	२३	Tsl	Fl
२१४	१	८	मघूक	मधूक
,,	२	१५	Tafmeualia	Terminalia
२१५	२	४	Stereosp	Stercosp
,,	,,	५	armum Swaveolens	ermum Suaveolens
२१७	१	२	Concinra	Concinna
,,	,,	६	Pescaprac	Pescaprae
,,	,,	१५	Hali	Heli
,,	२	३८	Boerhaavia	Boerhavia
२२२	२	१४	Sugareoatid	Sugar-coated
२२५	१	१७	Empherical	Empirical
,,	,,	२३	,,	,,
२२९	१	१	८३	६३
२३३	१	१	Maeraci	Macraei
२४५	२	३८	निधारक	नितारक
२४६	१	१६	गलगण्डश्वयथु	गलगण्ड श्वयथु
,,	,,	४५	चुंबक	चुंबल
२५०	१	४	है। संसार	है कि संसार
,,	२	२०	किया गया	पर किया गया
,,	,,	२९	Anti toxie	Anti toxic
२५२	१	२	Morganic	Inorganic
,,	,,	३	नष्ट हो	नष्ट होने से हो
,,	२	१२	इनमें	इनके
२५९	१	११	Acidosie	Acidosis
२६९	१	३	Phascolus	Phaseolus
,,	,,	५	Rocule	Eocule
२७०	१	३८	Hordcum	Hordeum
,,	२	१	,,	,,
२७३	१	१२	हरिण (सफेद)	हरिण (ताम्र)
२७९	२	१६	धारणा	(साधारण)
२८३	२	३१	Phyllamthus	Phyllanthus
२८४	१	९	तृणशन्य	तृणशून्य
,,	,,	२०	तौवरक	आरुष्कर और तौवरक
,,	२	१६	कक्कोलक	कङ्कोलक
२८७	२	२१	Expcatorant	Expectorant
२८९	१	८	Anthalmintica	Anthelmintica
,,	,,	१२	उसबूक	उरूबक
२९१	२	२५	Hysoor	Kysoor
,,	,,	२६	Aculcata	Aculeata
२९२	१	२६	सार्थक	सार्थ
२९९	१	१	शरी	शरीर
३०५	१	३२	तरह से भोजन	तरह से। भोजन
३०६	१	३१	विकृति	विकृत
३१३	२	१५	Ptylin	Ptyalin
,,	,,	४१	Invertose	Invertase

पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१४	२	३१	मत	मल

निदानस्थान

पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१८	१	१३	स्पशशब्द गुण युक्त	स्पर्श शब्द गुण युक्त
३२१	२	३३	अनघुल	अनघुल
३२४	२	२०	आक्षेप उत्पन्न	आक्षेप (पृष्ठ ८५) उत्पन्न
,,	,,	४३	Motar	Motor
३३३	२	३१	का या थक्का	का थक्का या
३३४	१	३०	Interval	Internal
३३७	२	५	स्रोतोस्र	स्रोतसों
,,	,,	२७	प्रणाली फो	प्रणाली को
३४४	१	२७	Ecaczeme	Eczema
३४५	१	१	Leery	Very
३५१	१	२	Alkolincurin	Alkaline urine
३५५	२	४४	पीछे ८१ पर	पीछे पृष्ठ ८१ पर
३५९	२	१७	महासिराओं	महासिरा
३६१	१	४	Oroxytocics	Or oxytocics
३६१	२	७	अपरा गर्भाशय	अपरा की गर्भाशय
३६२	२	३५	asynelitism	Asynclitism
३६३	१	४१	Clorie	Clonic
,,	२	३७	जमीन से	जमीन पर
,,	,,	३९	गर्भजन्य	गर्भजन्म
३६४	२	३९	चार महीने का	चार सप्ताह का
,,	,,	४०	कालप्रसर	कालप्रसव
३७०	२	४४	गुल्मविद्रधि	गुल्म विद्रधि
३७२	१	२	Tramatic	Traumatic
३७३	१	२	Taylor's	Taylor's
३७७	१	१२	Sebaccous	Sebaceous
,,	,,	१३	,,	,,
,,	,,	४२	wrism	urism
३७९	२	४६	घूम	घूस
३८४	१	२७	यदि वृषणवृद्धि	वृषणवृद्धि
,,	२	३५	कुरण्डप्रकोप	अण्डप्रकोप
३९५	१	३१	दोनों के	दानों के
३९७	१	२८	साधारण मसूरिका	साधारण रोमान्तिका
,,	,,	३१	श्वसनास्थान	श्वसनसंस्थान

नोट—ग्रन्थ को इस शुद्धिपत्र के अनुसार प्रथम शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें।

. श्रीः ।

सुश्रुतसंहिता ।

सूत्रस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आयुर्वेदोत्पत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे श्री धन्वन्तरि भगवान् ने सुश्रुत के प्रति वर्णन किया ॥१॥

वक्तव्य—यहां वेद शब्द के पहले आयुः शब्द लुप्त समझना चाहिये। इस प्रकार आयुर्वेद के लिये वेद शब्द का प्रयोग बहुत होता है।

प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम् ॥ (चरक)
प्राणाचार्यं वेदपारं प्रयातम्। (अ० संग्रह)

आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है, अतः उसकी नवीन उत्पत्ति नहीं हो सकती। उत्पत्ति का अर्थ केवल अभिव्यक्ति है और आयुर्वेद में जहां आयुर्वेदोत्पत्ति शब्द प्रयोग होता है वहां उत्पत्ति का यही अर्थ करना चाहिये। चरक-संहिता में लिखा है—सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्। एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके। (सूत्रस्थान अ० ३०)

आयुर्वेद एक अत्यन्त प्राचीन चिकित्साशास्त्र है। भारतीयों की दृष्टि से आयुर्वेद अनादि है, जिस की केवल अभिव्यक्ति ब्रह्मदेव प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में किया करते हैं। इस आयुर्वेद में अत्यन्त प्राचीन काल से कायचिकित्सा और शल्यचिकित्सा नामक चिकित्सा के दो संप्रदाय प्रचलित हैं। प्रथम संप्रदाय महर्षि आत्रेय के नाम से और द्वितीय संप्रदाय भगवान् धन्वन्तरि के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक संप्रदाय के आचार्यों ने कई ग्रन्थ निर्माण किये थे। इन में से अधिकांश ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में चरक-संहिता आत्रेय संप्रदाय का और सुश्रुत-संहिता धन्वन्तरि संप्रदाय का प्रधान ग्रंथ है। भगवान् धन्वन्तरि से महर्षि सुश्रुत जी ने शल्य-प्रधान आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर जो ग्रंथ निर्माण किया था उसका नाम सुश्रुत तंत्र था। महर्षि सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। सुश्रुत का काल निश्चित करने के लिये कोई ठीक साधन नहीं है। आधुनिक पुराण-शास्त्रविदों का यह मत है कि सुश्रुत का काल ख्रिस्तपूर्व एक हजार साल से कम नहीं हो सकता। परन्तु आज जो सुश्रुत-संहिता उपलब्ध है वह यद्यपि सुश्रुत के नाम पर प्रसिद्ध है तथापि वह सुश्रुत-प्रणीत मूल संहिता नहीं है। इसके कई प्रमाण उपलब्ध सुश्रुत-संहिता में मिलते हैं।

(१) कहीं कहीं ग्रंथारंभ में निम्न पाठ मिलता है—

नमो ब्रह्मप्रजापत्यश्विबलभिद्धन्वन्तरिसुश्रुतप्रभृतिभ्यः ॥

उपलब्ध संहिता मूल सुश्रुत-प्रणीत होती तो ग्रंथारंभ में सुश्रुत को प्रणाम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

(२) मूल सुश्रुत तंत्र के कई पाठ वृद्ध सुश्रुत के नाम से सर्वांगसुंदरी, व्याख्या मधुकोश, व्याख्या कुसुमावलि, निबंध संग्रह, तोडरानन्द, भावप्रकाश इत्यादि ग्रंथों में उद्धृत किये हैं जो उपलब्ध सुश्रुत-संहिता में नहीं मिलते हैं।

(३) इस अध्याय के पहले सूत्र पर टीका लिखते हुए डल्हणाचार्य कहते हैं—

यत्र यत्र परोक्षे लिट्प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यम्। प्रतिसंस्कर्ताऽपीह नागार्जुन एव ॥

(४) सुश्रुत-संहिता के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ अध्याय में संहिता के केवल एक सौ बीस अध्याय और पांच स्थान लिखे हैं। उत्तर तंत्र का उल्लेख स्वतंत्र किया है।

बीजं चिकित्सितस्यैतत्समासेन प्रकीर्तितम्।
सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥

तच्च सविंशमध्यायशतं पंचसु स्थानेषु। तत्र सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेषु अर्थवशात् संविभज्य उत्तरे तंत्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः।

इससे यह स्पष्ट है कि उत्तरतंत्र को किसी ने बाद में इस संहिता में समाविष्ट किया है।

(५) पंचम स्थान के अंत में आयुर्वेद का महत्त्व वर्णन कर संहिता की समाप्ति के सूचक श्लोक मिलते हैं।

(६) उत्तर तंत्र के प्रारम्भ में निमि नामक अन्य ऋषि का निर्देश किया है। वस्तुतः सुश्रुत-संहिता में भगवान् धन्वन्तरि के सिवाय अन्य किसी का भी निर्देश नहीं होना चाहिये। चूंकि सुश्रुतादि ऋषि भगवान् धन्वन्तरि के पास आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिये गये थे। इस से यह मालूम होता है कि मूल सुश्रुत, जो शल्य-प्रधान था, की पूर्ति करने के लिये अन्य अंगयुक्त उत्तरतंत्र किसी ने इस में समाविष्ट कर दिया।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज की सुश्रुत-संहिता मूल सुश्रुत तंत्र की प्रतिसंस्कृत आवृत्ति है। यह संस्करण नागार्जुन नामक आचार्य के द्वारा हुआ है ऐसी किंवदन्ति प्राचीन काल से प्रचलित थी जिस का जिक्र डल्हणाचार्य ने अपनी पहले अध्याय के पहले ही सूत्र की टीका में किया है।

भारतवर्ष में सिद्ध नागार्जुन, बौद्ध नरपति नागार्जुन और महायान प्रतिष्ठापक नागार्जुन नामक अनेक नागार्जुन हो चुके हैं। इन में से महायान प्रतिष्ठापक बौद्ध नागार्जुन ने सुश्रुत का प्रतिसंस्करण किया—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। यह नागार्जुन दो हजार साल के पहले था। इस से यह सिद्ध है कि आज की उपलब्ध सुश्रुत-संहिता कम से कम दो हजार साल की पुरानी है।

इस सूत्र की टीका में डल्हण सूत्र के चार प्रकार लिखते हैं-

(१) शिष्यसूत्रम्। उदाहरण—

वायोः प्रकृतिभूतस्य व्यापन्नस्य च लक्षणम्।
स्थानं कर्म च रोगांश्च वदस्व वदतांवर॥

(२) गुरुसूत्रम्। उदाहरण—

देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे।

(३) एकीयसूत्रम्। उदाहरण—

तत्र लोहितकपिलपाण्डुपीतनीलशुक्लेष्ववनिप्रदेशेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणि यथासंख्यमुदकानि भवन्ति इत्येके भाषन्ते॥

(४) प्रतिसंस्कर्तृसूत्रम्। उदाहरण—

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः।

लक्षण—यत्र यत्र परोक्षे लिट्प्रयोगस्तत्र तत्र प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यम्।

चक्रपाणिदत्त चरक की अपनी टीका में चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख करके लिखते हैं कि यद्यपि सूत्र चार प्रकार के होते हैं तथापि उन के प्रणेताओं को भिन्न भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है। एक ही मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार की भूमिका लेकर भिन्न भिन्न प्रकार के सूत्र निर्माण करता है। इसलिये चरक-संहिता में मिलने वाले सब सूत्र अग्निवेश प्रणीत और सुश्रुत में मिलने वाले सब सूत्र सुश्रुत प्रणीत समझने चाहिएं।

'अनेन न्यायेन चरकेऽपि प्रतिसंस्कर्तृसूत्रपक्षे लिट्विधिर्नास्ति। तस्माच्चरकेऽग्निवेशः सुश्रुते सुश्रुत एव सूत्राणां प्रणेता कच्चित् किंचिदर्थं स्तोतुं निंदितुं वा आख्यायिकारूपं पुराकल्पं प्रदर्शयन् किमपि सूत्रं गुरूक्तानुवादरूपतया किमप्येकीयमतानुवादरूपतया लिखति॥ (विशेष विवरण के लिये चरक सूत्र स्थान अध्याय १ में 'इति ह स्माह भगवानात्रेयः' सूत्र की टीका देखो)

अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतय ऊचुः॥२॥

एक समय ऋषिगणों से परिवेष्टित अपने आश्रम* में विराजमान देवश्रेष्ठ काशिराज दिवोदास भगवान् धन्वन्तरि जी से औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, सुश्रुत प्रभृति ऋषि पूछने लगे॥२॥

वक्तव्य—समस्तैश्वर्य माहात्म्य यशः श्रीकामार्थ प्रयत्न युक्त जो होता है, उसे भगवान् कहते हैं। यथा—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥(विष्णुपुराण)

किंवा—उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

धन्वन्तरि की योग्यता, सर्वज्ञता और विश्वसनीयता प्रदर्शित करने के लिये भगवान् विशेषण प्रयुक्त किया गया है। शस्त्र-चिकित्सा में जो पारंगत है वह धन्वन्तरि कहलाता है। धन्वं शल्यशास्त्रम् तस्य अन्तं पारम् इयर्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः।

सुश्रुतप्रभृतयः—भगवान् धन्वन्तरि के पास शल्यशास्त्र पढ़ने के लिये जो ऋषि गये थे उनकी संख्या सात से अधिक थी यह बतलाने के लिये प्रभृति शब्द का उपयोग किया गया है। उन में जो महत्त्व के या नाम ग्रहण योग्य ऋषि रहे उनके नाम यहां दिये हैं। जो विशेष महत्त्व के नहीं थे, उन सबों का समावेश प्रभृति शब्द में किया है। प्रभृति शब्द से 'भोजादयः' तथा 'निमिकाङ्कायनगार्ग्यगालवाः' ऐसा अपना और दूसरे का मत डल्हण ने टीका में दिया है। गोपुररक्षित नाम से कोई गोपुर और रक्षित ऐसे दो ऋषि मानते हैं।

भगवन्! शारीरमानसागन्तुव्याधिभिर्विविधवेदनाभिघातोपद्रुतान् सनाथानप्यनाथवद्विचेष्टमानान् विक्रोशतश्च मानवानभिसमीक्ष्य मनसि नः पीडा भवति; तेषां सुखैषिणां रोगोपशमार्थमात्मनश्च प्राणयात्रार्थं प्रजाहितहेतोरायुर्वेदं श्रोतुमिच्छाम इहोपदिश्यमानम्॥३॥

हे भगवन्! शारीर, मानस और आगंतुक रोगों से, नाना प्रकार की पीड़ा के क्लेश से दुःखित और धन मित्रादिक वस्तुओं की अनुकूलता होते हुए भी दीन असहाय की भांति तड़फते और विलाप करते हुए मनुष्यों को देखकर हमारे मन में दुःख होता है। अतः उन आरोग्याभिलाषी रोगियों की रोग-शांति के लिये प्रजा-कल्याणार्थ और हमारे स्वास्थ्यरक्षण के लिये आप यहां आयुर्वेद का जो उपदेश किया करते हैं उसे श्रवण करने की हम सब इच्छा करते हैं॥३॥

वक्तव्य—शारीर, मानस, आगंतुक और स्वाभाविक ऐसे व्याधियों के चार प्रकार इसी अध्याय में आगे लक्षणों के साथ बतलाये गये हैं। इन में से केवल तीनों का ही यहां

---

* टीकाकारों ने 'वानप्रस्थाश्रम में विराजमान' ऐसा अर्थ किया है।

निर्देश सहेतुक किया है। कारण यह है कि केवल तीनों प्रकार के रोगों की चिकित्सा यानि उपायों द्वारा प्रतिकार हो सकता है। अर्थात् आयुर्वेद की अधिकार-मर्यादा इन तीनों पर ही है। इसी अर्थ से चरक-संहिता में लिखा है—

त्रयो रोगा इति–निजाऽऽगन्तुमानसाः । (सूत्रस्थान अ० ११)

स्वाभाविक रोगों की चिकित्सा असंभव होने के कारण उनका निर्देश यहां नहीं किया।

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥(चरकशा.अ०१)

परंतु कहीं कहीं 'शारीरमानसागन्तुस्वाभाविकैर्व्याधिभिः' ऐसा भी पाठ मिलता है। वहां स्वाभाविक रोग का अर्थ अकाल कृत स्वाभाविक रोग समझना चाहिये। व्याधिसमुद्देशीय (सू. सू. अ० २४) अध्याय में लिखा है—

स्वभावबलप्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः, तेऽपि द्विविधाः कालकृता, अकालकृताश्च । तत्र परिरक्षणकृताः कालकृता, अपरिरक्षणकृता अकालकृताः ।

इन में अपरिरक्षण कृत रोग अन्नपानमूलक होने के कारण चिकित्स्य हैं। परिरक्षग कृत निष्प्रतिक्रिय होते हैं।

सुख का अर्थ आयुर्वैदिक परिभाषा के अनुसार आरोग्य होता है।

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ (चरक. सू. अ०९)
शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः ।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥ (चरक. सू. अ. १)

'प्राणयात्रार्थे' पद का सरल अर्थ 'जीवरक्षणार्थ' होता है। इसी अर्थ का थोड़ा दूरान्वय करके डल्हण-टीका के अनुसार तथा आयुर्वेद के आगे जो दो उद्देश्य बतलाये गये हैं उनके अनुसार तथा 'प्रजाहितहेतोः' पद का विचार कर 'स्वास्थ्य रक्षण के लिये' ऐसा अर्थ किया है। कुछ टीकाकार 'प्राणयात्रार्थे' का अर्थ 'वृत्तिकर' ऐसा करते हैं। परन्तु 'व्याधिभिर्विविधवेदनाभिघातोपद्रुतान्मानवानभिसमीक्ष्य मनसि नः पीडा भवति' इस वाक्य का ध्यान रखते हुए 'प्राणयात्रार्थे' का अर्थ वृत्तिकर करना यहां उचित नहीं है। जो ऋषि जनता का क्लेश देखकर मन में दुःखित हुए वे उन रोगियों से चिकित्सा के ऐवज में धन लेकर अपना निर्वाह करने की इच्छा कभी भी नहीं कर सकते हैं। इस विषय का अधिक विवेचन आगे सूत्र १७ के वक्तव्य में किया गया है।

अत्राऽऽयत्तमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः । तद्भगवन्तमुपपन्नाः स्मः शिष्यत्वेनेति ॥४॥

सांसारिक और पारलौकिक कल्याण इस आयुर्वेद के अधीन है, इसलिये हम शिष्य-भाव से आपकी शरण में उपस्थित हुए हैं ॥४॥

वक्तव्य—आयुर्वेद यद्यपि वेद का उपांग है तथापि वेद की अपेक्षा इस में एक विशेषता होती है। वेदों का अध्ययन करने से केवल स्वर्गलाभादि पारलौकिक श्रेय प्राप्त होता है; परंतु आयुर्वेद का अध्ययन करने से धनमानादि सांसारिक सुख और रोगियों को जीवन दान करने के कारण स्वर्गलाभादि पारलौकिक सुख भी प्राप्त होता है। सुश्रुत और चरक में लिखा है—

'स पुण्यकर्मा भुवि पूजितो नृपैरसुक्षये शक्रसलोकतां व्रजेत्'॥ (सू.अ. १)

'धर्मार्थसदृशस्तस्य दाता नेहोपलभ्यते ।
नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥' (चि० अ० १)
'तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितः ॥'(च०सू०अ०१)

तानुवाच भगवान्—स्वागतं वः, सर्व एव अमीमांस्या अध्याप्याश्च भवन्तो वत्साः ॥५॥

भगवान् धन्वन्तरि ने उन से कहा कि आप लोगों का आगमन बहुत ही उत्तम है, आप सब शिष्य (कुलशीलादि दृष्टि से) अविचारणीय और पढ़ाने योग्य हैं ॥५॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के पास जो ऋषि आयुर्वेद पढ़ने के लिये आये थे, उनका वर्ण, कुल, वय इत्यादि ज्ञात होने के कारण वे ऋषि अविचारणीय (अमीमांस्याः) थे और उनकी बुद्धि, शक्ति तथा नीति ज्ञात होने के कारण वे अध्याप्य थे।

याज्ञवल्क्यस्मृति में अध्याप्य शिष्यों के लिये निम्न गुण बतलाये गए हैं।

कृतज्ञाऽद्रोहिमेधाविशुचिकल्पानसूयकाः ।
अध्याप्या धर्मतः साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदाः ॥ (अ० १–२८)

सुश्रुत में भी आगे द्वितीय अध्याय में आयुर्वेद पढ़ाने योग्य विद्यार्थियों के लक्षण दिये हैं।

इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः, ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान् ॥६॥

इस संसार में वह ही आयुर्वेद कहलाता है जो अथर्ववेद का उपांग है और जो ब्रह्मदेव ने सृष्टि की उत्पत्ति के पहले एक लक्ष श्लोकों और एक हजार अध्यायों में निर्मित किया है। फिर मनुष्यों की स्वल्प आयु और बुद्धि देखकर पुनः (ब्रह्मदेव ने) उसके आठ भाग कर दिये हैं ॥६॥

वक्तव्य—सुश्रुत की भांति चरक और हस्त्यायुर्वेद में भी आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। परन्तु व्यास कृत चरणव्यूह और शंकरकृत आयुर्वेद नामक ग्रन्थों में ऋग्वेद का उपवेद माना गया है।

सुश्रुत-संहिता में आयुर्वेद के आठ विभाग ब्रह्मदेव कृत बतलाये हैं परन्तु अष्टांग संग्रह में आयुर्वेद के आठ विभाग अग्निवेशादि ऋषि-प्रणीत बतलाये हैं।

आयुर्वेदः श्लोकलक्षेण पूर्वं ब्राह्मस्त्वासीदग्निवेशादयस्तु ।
कृच्छ्राज्ज्ञेयप्राप्तपाराः सुतन्त्रास्तस्यैकैकं नैकधाङ्गानि तेनुः ॥ (उ.अ.५०)

हारीत-संहिता में लिखा है कि लोगों की थोड़ी आयु और बुद्धि देखकर लक्ष श्लोकात्मक आयुर्वेद की छोटी छोटी पाँच संहिताएँ बनाई गई।

आयुर्वेदमपारं तं श्लोकानां लक्षसंख्यया ।
कथं तस्य परिज्ञानं कालेनाल्पेन पुत्रक ॥
अल्पायुषोऽल्पवक्तारः स्वल्पशास्त्रविशारदाः ।
अल्पावधारणे शक्ताः कलौ जाता इमे नराः ॥
चतुर्विंशसहस्रैस्तु मयोक्ता चाद्यसंहिता ।
तथा द्वादशसाहस्री द्वितीया संहिता मता ॥

तृतीया पट्सहस्रैस्तु चतुर्थी त्रिभिरेव च ।
पंचमी पंचदशशतैः प्रोक्ताः पञ्चात्र संहिताः ॥ (अ० १)

इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में भी अपने अपने शास्त्र की उत्पत्ति और विस्तार ब्रह्मदेव से बताया गया है। वात्स्यायन के कामशास्त्र के प्रारम्भ में लिखा है—

प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच ॥

अल्पायुष्ट्वम्—स्मृति और पुराणों के अनुसार आयुर्वेद में भी यह माना गया है कि युग के अनुसार मनुष्यों की आयु घटती जा रही है। कृतयुग में चार सौ साल की, त्रेतायुग में तीन सौ साल की, द्वापर में दो सौ साल की और कलियुग के आरम्भ में एक सौ साल की आयु होती है। इस से भी आयु और धीरे धीरे घटती जा रही है। मनुस्मृति और चरक में लिखा है—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ (मनु. १,८३)
युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते ।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम् ।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥(चरक. वि. अ. ३)

तद्यथा—शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति ॥७॥

वे आठ भाग ये हैं—(१) शल्यतंत्र (२) शालाक्यतंत्र (३) कायचिकित्सा (४) भूतविद्या (५) कौमारभृत्य (६) अगदतंत्र (७) रसायनतंत्र (८) वाजीकरणतंत्र ॥७॥

अथास्य प्रत्येकमङ्गलक्षणसमासः ॥८॥

अब उपर्युक्त प्रत्येक अङ्ग के संक्षिप्त लक्षण कहते हैं ॥८॥

(१) तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिवालनखपूयास्रावान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च ॥

घास, लकड़ी, पत्थर, रजःकण, लोह, मिट्टी, हड्डी, बाल, नख, पूय, अन्य स्राव, अन्तर्गत मूढगर्भादि नाना प्रकार के शल्य निकालने का ज्ञान, शस्त्रयन्त्राग्नि क्षारों का प्रयोग करने का ज्ञान तथा व्रणों का निश्चय किस प्रकार से किया जाय? इस का ज्ञान आयुर्वेद के जिस अंग में होता है उसे शल्यतंत्र कहते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त सूत्र में नाना प्रकार के शल्यों के उदाहरण देकर शल्य का विशेष स्वरूप बतलाया गया है। अतः शल्य का सामान्य स्वरूप बतलाने के लिये डल्हण ने अपनी टीका में निम्न श्लोक दिया है।

अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजंगमानाम् ।
यत् किंचिदाबाधकरं शरीरे तत् सर्वमेवं प्रवदन्ति शल्यम् ॥

इस श्लोक का अर्थ अधिक व्यापक कर कुछ लोग शल्य से आगे बतलाये गये चारों प्रकार के रोग समझते हैं। परन्तु यह गलत है। इस श्लोक का अर्थ उपर्युक्त सूत्र तथा छब्बीसवें अध्याय में शल्य का जो स्पष्टीकरण किया है, उसके अनुसार करना उचित है।

‘शरीरिणां मनुष्याणां शरीरे अतिप्रवृद्धं मलजं मूत्रपुरीषकर्णमलप्रभृतिकम् अतिप्रवृद्धं दोषजं (दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु दोषसंज्ञा) वालनखास्थिपूयास्रावादिकं वा, तथा स्थावराणां तृणकाष्ठपाषाणलोहलोष्ठप्रभृतीनां जंगमानां कृमिकीटादीनां वा यत् किंचिदाबाधकरं पीडाकरं तत् सर्वं शल्य प्रवदन्ति’ ॥

शल्यतंत्र विभाग पाश्चात्त्य वैद्यशास्त्र में ‘सर्जरी’ (Surgery) नाम से प्रसिद्ध है।

(२) शालाक्यं नाम ऊर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थं, शलाकायन्त्रप्रणिधानार्थं च ॥

कर्ण, नेत्र, मुख, नासादि जत्रु के ऊपर के अंगों में उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति करने के लिये तथा शलाका यन्त्र का उपयोग करने के लिये जो (आयुर्वेद का) अंग होता है, उसे शालाक्यतंत्र कहते हैं।

वक्तव्य—‘शलाका, तस्याः कर्म, तत्प्रधानं तंत्रं शालाक्यम् ।’ जिस अंग में शलाका यंत्र का उपयोग विशेष रूप से होता है उसे शालाक्यतंत्र कहते हैं। अष्टांग संग्रह और हृदय में इसका उल्लेख ‘ऊर्ध्वांग’ शब्द से किया गया है। ‘घ्राणादि’ यहां आदि शब्द से सिर समझना चाहिये। हारीत संहिता में लिखा है—

शिरोरोगा नेत्ररोगाः कर्णरोगा विशेषतः ।
भ्रूकण्ठशंखमन्यासु ये रोगाः संभवन्ति हि ॥
तेषां प्रतीकारकर्म नस्यवर्त्यंजनानि च ।
अभ्यंगमुखगण्डूपक्रिया शालाक्यसंमिताः ॥

जत्रु—इस के अर्थ के सम्बन्ध में बहुत मत-भिन्नता पाई जाती है। इस से छाती और ग्रीवा के तरुणास्थि, ग्रीवा, कण्ठनाडी (Trachea), ग्रीवामूल, वक्षोंऽससंधि, हनुसंधि इत्यादि अर्थ भिन्न भिन्न टीकाकार समझते हैं। सांप्रत आयुर्वैदिक परिभाषा में जत्रु शब्द अक्षक (Clavicle) का पर्याय माना जाता है। जैसे—

‘अक्षकं नाम अंसमूलादुरःफलकसङ्गतं धनुर्वक्रं नलकास्थि । तदेव ‘जत्रु’ संज्ञमिति प्राज्ञः’ (प्रत्यक्ष शरीर पृ. ५२)। परन्तु इस अर्थ से जत्रु का उपयोग प्राचीन आयुर्वैदिक ग्रंथों में क्वचित् दिखलाई देता है। चरक में अस्थि गणना के समय ‘द्वावक्षकौ, एकं जत्रु’ इस प्रकार अक्षक और जत्रु का स्वतंत्र निर्देश किया है। यह शब्द सदैव एकवचन में प्रयुक्त होता है और अक्षक द्विवचन में प्रयुक्त होता है। इन सब बातों का विचार करने पर अक्षक के स्थान में जत्रु से कण्ठनाड़ी समझना अधिक प्रशस्त है। विशेष विवरण के लिये डॉ० होर्नले की Studies in the medicine of ancient India Part I पृष्ठ १५८–१६८ देखो।

शालाक्य में समाविष्ट किये अंगों में से आधुनिक पाश्चात्त्य वैद्यक में कर्ण, नासा और कण्ठ (Ear, Nose and Throat) का एक विभाग होता है, आँख का (Ophthalmology) स्वतंत्र विभाग होता है, दाँत का (Dentistry) स्वतंत्र विभाग होता है और शिरोरोग सामान्य कायचिकित्सा में समाविष्ट होते हैं।

(३) कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम् ॥

ज्वर, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसारादि सर्व शरीर में फैले हुए रोगों की शान्ति किस प्रकार से की जाती है इस विषय का ज्ञान जिस अंग में है उसे कायचिकित्सा कहते हैं ।

(४) भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ॥

देव, दैत्य, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, ग्रहादि से पीडित चित्तवाले लोगों के ग्रहादि दोष होम (हवन) बलिदानादि उपायों से दूर करने के लिये जो अंग होता है उसे भूतविद्या कहते हैं ।

(५) कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम् ॥

बालकों का पोषण करने के लिये, धात्री के दूध के दोष शोधन करने के लिये, दूषित दूध से तथा बालग्रहों से उत्पन्न होने वाले बालकों के रोगों की शांति करने के लिये जो अंग होता है उसे कौमारभृत्य कहते हैं ।

वक्तव्य—अष्टांग संग्रह और हृदय में इसी अंग का नाम 'बालचिकित्सा' दिया है । अंग्रेजी में बालकों के धारण पोषण के इस अंग को (Science of Paediatrics) कहते हैं । कौमारभृत्य में बालरोगों के सिवाय 'योनिव्यापच्चिकित्सा' का भी समावेश होता है यद्यपि इसका उल्लेख यहाँ नहीं किया है ।

(६) अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च ॥

सर्पकीटलूतादि से डसे हुए, अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोगविष से उपहत मनुष्यों के विषों का निदान तथा चिकित्सा के लिये जो अंग होता है उसे अगदतंत्र कहते हैं ।

वक्तव्य—अष्टांग संग्रह और हृदय में इस अंग का नाम 'दंष्ट्राचिकित्सा' दिया है । अंग्रेजी में इसे Toxicology कहते हैं । चरक में 'विषगरवैरोधिकप्रशमनम्' और कहीं कहीं 'जांगलि' शब्द से इसका उल्लेख किया गया है ।

(७) रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च ॥

तारुण्यावस्था (योग्य काल तक या उस से भी अधिक काल तक) स्थापन करने के लिये, आयु, बुद्धि और बल की वृद्धि करने के लिये तथा (शरीर के भीतर स्वाभाविक) रोग प्रतिरोधक शक्ति (Natural immunity) बढ़ाने के लिये जो अंग है, उसे रसायनतन्त्र कहते हैं ।

वक्तव्य—वयःस्थापन का अर्थ तारुण्यावस्था की वृद्धि करने वाला अर्थात् अप्रत्यक्षतया शरीर स्थिर करके जराहरण करनेवाला होता है । रसायन के गुणों का वर्णन करते समय चरक में लिखा है—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम् ॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात् ॥ (चि.अ.१)
अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा ॥
स्थिरं शरीरं क्रियते शरीरिणाम् ॥ (अ.सं.उ.अ.४९)

(८) वाजीकरणतन्त्रं नाम अल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च ॥

अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य और शुष्कवीर्य लोगों में वीर्यपुष्टि, वीर्यशोधन, वीर्यवृद्धि और वीर्योत्पादन के लिये तथा (स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय) हर्ष बढ़ाने के लिये जो अंग होता है उसे वाजीकरणतंत्र कहते हैं ।

वक्तव्य—इस सूत्र का एक वैकल्पिक व्याख्यान डल्हण ने अपनी टीका में दिया है—

अल्परेतसः पंचविंशतिमप्राप्ताः । क्षीणरेतसस्तु मध्यमवयसः कारणादल्पीभूतरेतसः । शुष्करेतसो वृद्धाः ।

पुरुषों में वाजीकरण सेवन का अधिकार केवल तारुण्यावस्था में होता है । बाल और वृद्धावस्था वाजीकरण के लिये निषिद्ध है । इसलिये ऊपर अल्परेतस और शुष्करेतस का जो अर्थ दिया गया है वह हो नहीं सकता । चक्रपाणिदत्त चरक (चिकित्सास्थान अ० २) के 'वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्' श्लोक पर टीका करते हुए लिखते हैं—

'पुरुषः' इति पदेन तरुणपुरुषग्राहिणा बालवृद्धौ निषिद्धव्यवायौ निराकरोति । उक्तं हि—

अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियं व्रजन् ।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम् ॥
शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुदग्धं विजर्जरम् ।
स्पष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ॥ (च. चि. अ. २)

इसलिये अल्परेतस्त्वादि चारों दोष युवावस्था में ही विरुद्ध आहार विहार के कारण उत्पन्न हुए समझना चाहिये । इस अंग का उल्लेख कामशास्त्र में 'औपनिषदिक' नाम से होता है ।

एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यते । अत्र कस्मै किमुच्यताम् ॥९॥

इस प्रकार यह आयुर्वेद अष्टाङ्ग कहलाता है । इस में से किस को किस अंग का उपदेश किया जावे ॥९॥

वक्तव्य—यद्यपि उपर्युक्त आयुर्वेद के आठ चिकित्सा विभाग स्वतंत्र रूप से बतलाये गये हैं तथापि कायचिकित्सा और शल्य के सिवाय अन्य अंगों के ग्रन्थ आज लुप्तप्राय हैं । उन अंगों के ग्रन्थों का ज्ञान संग्रह-ग्रन्थों से होता है । प्राचीन काल में इन अंगों के ग्रन्थ तथा उनके विशेषज्ञ भी थे । इस का ज्ञान वैद्यक ग्रंथों के सिवाय अन्य ग्रंथों से होता है ।

उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः ।
सर्वोपकरणैर्युक्ता कुशलैः साधु शिक्षिताः ॥ (महाभारत) ।
चिकित्सकः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः ॥ (कौ० अर्थ०) ।
आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजने च वियतेत ॥ (कौ०)
तस्मादस्य जांगलिविदो भिषजश्चासंन्नाः स्युः ॥ (कौ०अर्थ०) ।
कुचुमार औपनिषदिकमिति ॥ (वात्स्यायन कामसूत्र) ।

परन्तु आज कायचिकित्सा के सिवाय अन्य सब सम्प्रदाय विलुप्तप्राय हैं।

त ऊचुः—अस्माकं सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति। स उवाचैवमस्त्विति ॥१०॥

सब शिष्य बोले—हम सब ही को शल्यप्रधान आयुर्वेद का उपदेश आप कीजियेगा। भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—ऐसा ही होगा ॥१०॥

वक्तव्य—मूल शब्द का अर्थ आद्य है। परन्तु यहां प्रधान अर्थ सुश्रुत के निम्न आधार पर किया है—

अस्य तु शास्त्रस्य शस्त्रकर्मप्राधान्यात् शस्त्रकर्मैव तावत् पूर्वमुपदेक्ष्यामस्तत्संभारांश्च ॥ (सूत्र० अ० ५)

त ऊचुर्भूयोऽपि भगवन्तम्। अस्माकमेकमतीनां मतमभिसमीक्ष्य सुश्रुतो भगवन्तं प्रक्ष्यति, अस्मै चोपदिश्यमानं वयमप्युपधारयिष्यामः। स उवाचैवमस्त्विति ॥११॥

सब शिष्य फिर धन्वन्तरि भगवान् से बोले—एक मति वाले हम सब का मत देखकर सुश्रुत आप से प्रश्न करेंगे और उनके लिये आप जो उपदेश करेंगे हम सब उसको धारण करेंगे। उस पर धन्वन्तरि भगवान् बोले—ऐसा ही होगा ॥११॥

वत्स सुश्रुत! इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं-व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च ॥१२॥

हे पुत्र सुश्रुत! रोग से पीड़ित मनुष्यों का रोग निवारण करना और स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना यह आयुर्वेद का प्रयोजन है ॥१२॥

वक्तव्य—चरक में भी आयुर्वेद का यही प्रयोजन बतलाया गया है। वहाँ अनुक्रम उलटा है। परन्तु चरक का ही अनुक्रम स्वाभाविक और योग्य है।

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।
(च. सू. ३०)

कारण यह है कि प्रजा जो उत्पन्न होती है वह स्वस्थ और नीरोग अवस्था में जन्म के समय होती है। तत्पश्चात् प्रज्ञापराधादि कारणों से वह व्याधित हो जाती है। अतः प्रजाहितार्थ जो आयुर्वेद प्रजोत्पत्ति के साथ या उसके पहले उत्पन्न हुआ उसका प्रयोजन भी स्वस्थ प्रजा का स्वास्थ्यरक्षण और व्याधित प्रजा का व्याधि परिमोक्ष इस अनुक्रम से होना चाहिये।

डल्हण ने अपनी टीका में 'स्वस्थस्य रक्षणं चेति चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः' ऐसी व्याख्या की है परन्तु यह व्यर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से तथा आयुर्वैदिक संप्राप्ति की दृष्टि से प्रयोजन के उपर्युक्त दो ही विभाग हो सकते हैं। धातुसाम्य रखना यह आयुर्वेद का उद्दिष्ट है। यह उद्दिष्ट समधातु का धातुसाम्यानुवर्तन करके और विषम धातु की विषमता का प्रशमन करके साध्य होता है।

धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। (चरक सू. १)

आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में भी ये ही दो प्रयोजन के विभाग होते हैं। स्वास्थ्यरक्षण विभाग का नाम Preventive Medicine and Hygiene है, दूसरे का नाम Curative Medicine है।

आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः ॥१३॥

जिस शास्त्र में आयु (के संबंध में विचार होता) है वा जिस शास्त्र के द्वारा (दीर्घ) आयुष्य की प्राप्ति होती है उसे आयुर्वेद कहते हैं ॥१३॥

वक्तव्य—चरक में भी आयुर्वेद की निरुक्ति सुश्रुतमतानुसार परन्तु अधिक स्पष्ट रूप से बतलाई गई है।

आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। (सू. अ. ३०)
हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ (सु. अ. १)

शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व-आत्मसंयोग से जो उपलक्षित काल है उसे आयु कहते हैं।

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारिजीवितम्।
नित्यगश्चानुबंधश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ (चरक सू.अ.१)

यह आयु हित-अहित-सुख-दुःखात्मक चार प्रकार की होती है। इस का विशेष विवरण चरक सूत्रस्थान के दशमहामूलीय अध्याय (३०वाँ) में देखना चाहिये।

आयुर्वेद पठन से आयु इसलिये बढ़ती है कि आयुर्वेद आयु के लिये हितकर तथा अहितकर द्रव्यगुण कर्मों का भी विचार करता है। उक्तं च चरके—

यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः ॥ (सू. अ. ३०)

तस्याङ्गवरमाद्यं प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय ॥१४॥

उस आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ और आद्य अंग का मैं प्रत्यक्ष, आगम, अनुमान और उपमान इन चारों प्रमाणों से विरोध न दिखाते हुए जो उपदेश कर रहा हूँ उसको तुम धारण करो ॥१४॥

वक्तव्य—शल्य शास्त्र का आद्यत्व तथा श्रेष्ठत्व आगे सूत्र १५ और १६ में सकारण बतलाया गया है। यहाँ शल्यशास्त्र की विश्वसनीयता प्रतिपादन करने के लिये प्रत्यक्षादि जो चार प्रमाण निर्दिष्ट किये हैं वे महर्षि गोतम के न्याय शास्त्रानुसार हैं—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' (न्यायसूत्र)। वैशेषिक और सांख्य मतानुसार प्रमाण तीन होते हैं और उपमान का समावेश वहाँ अनुमान में होता है। वे उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। आयुर्वेद चार प्रमाण मानता है। चरक में लिखा है—द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति। (सू. अ. ११)

उनके **लक्षण=प्रत्यक्ष**—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना पंचेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। प्रत्यक्षाविरुद्ध का उदाहरण—नासा में वर्ति प्रवेश करने से या सूरज की तरफ़ देखने से छींक उत्पन्न होना।

आगम का अर्थ शास्त्र या वेद होता है। आगमाविरुद्ध का उदाहरण—

श्रूयते हि यथा—'रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति' ॥

अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ **उदाहरण**—स्त्यानघृतमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धायां शल्योष्मणा आशु विसरति घृतमुपशुष्यति वा लेपो यत्र तत्र शल्यं विजानीयात् ॥ (सुश्रुत. सू. अ. २५)

उपमान का लक्षण—'अन्येन अन्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्। यथा माषवन्माषः, विदारीकन्दवद् विदारीरोगः ॥

एतद्धि अङ्गं प्रथमम्, प्रागभिघातव्रणसंरोहात्, यज्ञशिरःसंधानाच्च। श्रूयते हि यथा—'रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति। ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—भगवन्तौ! नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः। भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धातव्यमिति। तावूचतुरेवमस्त्विति। अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन्। ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम्' इति ॥१५॥

(शारीरिक रोग उत्पन्न होने के) पूर्व (देव दैत्यों के युद्ध में) प्रहारजन्य व्रणों का रोपण करने के कारण तथा यज्ञ के कटे हुए शिर को (धड़ के साथ) जोड़ देने के कारण यही (शल्य ही) आयुर्वेद का अंग आद्य होता है। ऐसा सुना जाता है कि रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया था तब सब देवता अश्विनीकुमारों के पास जाकर कहने लगे 'आप दोनों भगवान् हमारे से श्रेष्ठ हो; आपको यज्ञ का सिर जोड़ना चाहिये'। दोनों अश्विनीकुमार बोले 'ऐसा ही हो जायगा'। तदनन्तर उन दोनों को यज्ञ का भाग मिलने के लिये देवताओं ने इन्द्र को प्रसन्न किया और अश्विनीकुमारों ने यज्ञ का सिर जोड़ दिया ॥१५॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शल्यशास्त्र का आद्यत्व या प्रधानता बतलाने के लिये दो योग्य कारण दिये हैं। प्राचीन आर्य क्षात्रवृत्ति और प्रवासी थे। उनका और अनार्य लोगों का हमेशा संग्राम हुआ करता था; इसलिये उन को कायचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रचिकित्सा की अधिक आवश्यकता थी जिस के कारण शल्यांग अन्य अंगों की अपेक्षा प्रधान माना गया था।

दूसरे कारण में ऐसी घटना बतलाई गई है जो शल्यचिकित्सा के सिवाय अन्य अङ्गों से होना असंभवनीय है और जिसके कारण समाज में चिकित्सकों का संमान पहले से अधिक होने लगा। इस से भी शल्यचिकित्सा का प्राधान्य सिद्ध होता है।

यह घटना शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में मिलती है—यज्ञस्य शिरोच्छिद्यत ते देवा अश्विनावब्रुवन् भिषजौ वै स्थ इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिधत्तमिति तावदब्रूतां वरं वृणावहे ग्रह एव नावत्रापि गृह्यतामिति ताभ्यामेतमाश्विनमगृह्णन्ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम् ॥ (तैत्तिरीय संहिता ६ । ४ । ९)

चरक संहिता में भी अश्विनीकुमारों का वर्णन करते समय इस घटना का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है—

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ ।
दक्षस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥ (चि. अ. १)

अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेषु एतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रियाकरणात्, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्, सर्वतन्त्रसामान्याच्च ॥१६॥

अन्य अंगों की समान चिकित्सा इस में होने के कारण, यन्त्र शस्त्रक्षार और अग्नि का व्यवहार करने के कारण, तथा चिकित्साफल शीघ्र मिलने के कारण आयुर्वेद के आठों अंगों में यही अंग सब से अधिक अभिमत अर्थात् उत्कृष्ट है ॥१६॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शल्यतंत्र का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने के लिये तीन कारण दिये हैं। इन में 'सर्वतन्त्रसामान्याच्च' शब्द प्रयोग जरा संदिग्ध है। इसके कई अर्थ हो सकते हैं। इनमें से जो अर्थ अधिक प्रशस्त प्रतीत हुआ वह ऊपर दिया है। इससे सुश्रुत का वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से दिखलाया जाता है। जैसा कि दृढबल ने चरकसंहिता की विशेषता बतलाने के लिये 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्।' श्लोकार्ध बनाया है, वैसा भी उपर्युक्त सूत्र के अनुसार सुश्रुतसंहिता की विशेषता बतलाने के लिये निम्न श्लोकार्ध हो सकता है—

'तदिहास्ति यदन्यत्र यदिहास्ति न तत्कचित् ॥'

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति ॥१७॥

यह शल्यतन्त्र मोक्षदायक, पुण्यदायक, स्वर्गदायक, यश फैलाने वाला, आयु बढ़ाने वाला और (द्रव्योपार्जन से) निर्वाहोपयोगी है ॥१७॥

वक्तव्य—सांप्रत वैद्य लोग रोगियों से फ़ीस लेकर अपना निर्वाह करते हैं। इस प्रकार चिकित्सा के बदले धन या अन्य वस्तु मांगना श्रुति, स्मृति तथा आयुर्वेद संमत नहीं है। तैत्तिरीयसंहिता में लिखा है कि यज्ञशिरःसंधान के बदले अश्विनीकुमारों ने यज्ञ में भाग मांग लिया अतः देवता उनको अपवित्र मानने लगे—यदाश्विनौ गृह्यते यज्ञस्य निष्कृत्यै तौ देवा अब्रुवन्न पूतौ वा इमौ मनुष्यचरौ भिषजाविति।

चरकसंहिता में लिखा है—

धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः । प्रकाशितः—
कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम् ।
ते हित्वा कांचनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥ (चि. अ. १)

यह वचन सच्चे वैद्यों के लिये नहीं परन्तु वेशधारियों के लिये है।

वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा ।
पीतमत्यग्निसंतप्ता भक्षिता वाप्ययोगुडाः ॥
न तु श्रुतवतां वेशं बिभ्रता शरणागतात् ।
गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं बा रोगपीडितात् ॥ (च. सू. अ. १)

यहाँ चिकित्सा के बदले अन्नपान वित्तादिक का ग्रहण करने के लिये निषेध किया है। रोगी या उसके आप्तमित्र अपने संतोष से यदि कुछ दान करें तो उसका ग्रहण करने के लिये निषेध नहीं है।

या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थानामवाप्तिः…………सोऽस्यार्थः ॥ (चरक. सू. अ. ३०)

इस प्रकार धन धान्यादिक की जो प्राप्ति होती है उस पर निर्वाह करना यह वृत्तिकर शब्द का अर्थ है। धन की प्राप्ति न होने के कारण रोगी की चिकित्सा न करना पातक है अष्टांगसंग्रह में चिकित्सा विषयक एक बहुत ही सुंदर और रोचक सुभाषित है।

क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मित्रं क्वचिदर्थः क्वचिद्यशः ।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥ (उ.अ.५०)

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः, इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥१८॥ भवति चात्र—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो
जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम् ।

शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं
प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥१९॥

इस आयुर्वेद को सर्व प्रथम ब्रह्माजी वर्णन करते रहे, ब्रह्मा से दक्षप्रजापति पढ़ते रहे, दक्षप्रजापति से अश्विनीकुमार, अश्विनीकुमारों से इन्द्र और (धन्वन्तरि जी कहते हैं) इन्द्र से मैं पढ़ता रहा, अब मुझे प्रजाकल्याणार्थ मृत्यु लोक में विद्यार्थियों के लिये इसका दान करना (पढ़ाना) है ॥१८॥

इसमें बात यह है कि—मैं देवों की वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु हरण करने वाला आदि देव धन्वन्तरि आयुर्वेद के अन्य अंगों के साथ शल्यतंत्र का उपदेश करने के लिये फिर इस पृथिवी पर प्राप्त हुआ हूँ ॥१९॥

वक्तव्य—सूत्र १८ में धन्वन्तरि संप्रदाय की परम्परा बतलाई गई है। इससे और पहले सूत्र की टीका से उपलब्ध सुश्रुत-संहिता की निम्न परम्परा होती है।

ब्रह्मा–दक्षप्रजापति–अश्विनीकुमार–इन्द्र–धन्वन्तरि–सुश्रुत–नागार्जुन ॥ 'शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतुम्' का अर्थ समझने के लिये देखो अध्याय ३ श्लोक ४३—४५।

अस्मिंस्तु शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते । तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं, कस्मात्? लोकस्य द्वैविध्यात्; लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च; द्विविधात्मक एवाग्नेयः सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात्; पञ्चात्मको वा; तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः स्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजसंज्ञः, तत्र पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्; तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम् ॥२०॥

आयुर्वेद में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा इन छः तत्त्वों के संयोग का नाम पुरुष है। इसी पुरुष की चिकित्सा की जाती है, और यही पुरुष चिकित्सा कर्मफल का आश्रय है। क्योंकि जगत् दो प्रकार का होने से, सजीव सृष्टि स्थावर और जंगम दो प्रकार की है, उष्ण तथा शीत के आधिक्य के अनुसार आग्नेय और सौम्य ऐसी भी दो प्रकार की है, अथवा पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायवीय और आकाशीय इस प्रकार पंचात्मक है। स्थावर जंगमात्मक सृष्टि में स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज ऐसे चार प्रकार के जीव हैं; इन सब में मनुष्य प्रधान (उपकार्य) है और अन्य सब उसके उपकरण हैं, इस कारण से मनुष्य सब चिकित्सा का आधार है ॥२०॥

वक्तव्य—पुरुष शब्द से यहाँ यद्यपि पशु पक्ष्यादिक सर्व सजीव सृष्टि का बोध हो सकता है तथापि आयुर्वेद मनुष्याधिकारी शास्त्र होने के कारण पुरुष का अर्थ मनुष्य करना आवश्यक है। चरक में लिखा है—

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितः ॥ (सू. अ. १)

लोक शब्द से यहाँ केवल सजीव सृष्टि समझना चाहिये।

षड्धातवः समुदिता लोक इति शब्दं लभन्ते । (च. शा. अ.)
सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदंडवत्
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ (च. सू. अ. १)

तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते ॥२१॥ ते चतुर्विधाः—आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति ॥२२॥

जिनका संयोग उस मनुष्य को दुःख देता है उनको रोग कहते हैं ॥२१॥

वे रोग चार प्रकार के हैं—१ आगन्तु, २ शारीर, ३ मानस, ४ स्वाभाविक ॥२२॥

वक्तव्य—विविधं दुःखमादधातीति व्याधिः। नाना प्रकार के दुःख जो देती है वह व्याधि है। दुःख का अर्थ कायवाङ्मानसी पीडा या प्रतिकूल वेदना है।

तेष्वागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः । शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः । मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति । स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृतयः ॥२३॥

इनमें से आगन्तुक रोग चोट आदि लगने के कारण होते हैं। शारीरिक रोग (विषम) अन्नपानादि से वात पित्त कफ और रक्त इनमें से एक या अनेक की विषमता होने के कारण होते हैं। क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, मनोदैन्य, मात्सर्य, काम, लोभादि मानसिक रोग इच्छा और द्वेष के अनेक प्रकारों के कारण होते हैं। क्षुधा, तृषा, वृद्धावस्था, मृत्यु, निद्रा आदि स्वाभाविक रोग होते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—अभिघात शब्द से शस्त्र, व्याल, दैव और काल का अभिघात समझ कर संघातबल प्रवृत्त, दैवबल प्रवृत्त और कालबल प्रवृत्त (सू. अ. २४) रोगों का समावेश आगन्तुक रोगों में करना चाहिये। शारीर रोगों का दूसरा नाम निज रोग है। सन्निपात शब्द का अर्थ एकत्र अवस्थान या समवाय है। वातपित्तकफ की विषमावस्था यह जो सन्निपात शब्द का विशेष अर्थ है वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यद्यपि सुश्रुत मत से भी शरीर में केवल तीन ही दोष होते हैं।

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः । (सू. अ. २१)
सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम् । (सू. अ. २४)

तथापि शल्यतन्त्र में व्रणोत्पत्ति तथा व्रणसंधान के लिये रक्त का प्राधान्य होने के कारण यहाँ तथा अन्य स्थानों में भी रक्त का निर्देश दोषों में किया गया है—तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ।

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥ (सू. अ. २४)

इसलिये रक्त का दोषत्व केवल शल्यतन्त्र प्रसिद्ध समझना चाहिये।

इच्छा द्वेषजनित मानसिक अवस्थाओं का नाम मानसिक रोग है। चरक में लिखा है—

मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते ॥ (सू. अ. ११)

यथा वात पित्त कफ शरीर के तीन दोष होते हैं तथा सत्त्व रज और तम मन के तीन (गुण) दोष होते हैं। परन्तु शारीरिक रोगोत्पत्ति में यथा तीनों कारण होते हैं तथा मानसिक रोगों में

तीनों कारण नहीं होते। केवल रज और तम मानसिक रोगों के कारण हैं। वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥(च.सू.अ.१)

स्वभाव बल के कारण या प्रकृति शक्ति के कारण उत्पन्न हुए रोग स्वाभाविक कहलाते हैं। इनके कालकृत और अकालकृत दो भेद होते हैं—

तेऽपि द्विविधाः कालकृता अकालकृताश्च। (सू. अ. २४)

इनमें जो कालकृत हैं, उनका प्रतिकार नहीं हो सकता है। यथा—जरा और मृत्यु। क्षुधा तृषा निद्रादिक जो दूसरे स्वाभाविक रोग हैं, उनका प्रतिकार यद्यपि हो सकता है तथापि स्वास्थ्य की दृष्टि से करना हितकर नहीं है। इसलिये कालकृत रोग निष्प्रतिक्रिय हैं। अकालकृत रोगों का प्रतिकार करना चाहिये। वास्तव में अकालकृत रोगों का समावेश शारीर रोगों में होता है।

आगन्तुक और शारीर रोगों का भेद—आगन्तुक में रोग उत्पन्न होने के पश्चात् वातादि दोषों की विषमता होती है। शारीर में प्रथम वातादि दोषों की विषमता उत्पन्न होकर पश्चात् रोग उत्पन्न होता है। चरक में लिखा है—

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्माणं वैषम्यमापादयति, निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति ॥ (सू. अ. २०)

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः ॥२४॥ तेषां संशोधनसंशमनाहाराचाराः सम्यक्प्रयुक्ता निग्रहहेतवः ॥२५॥

ये चारों प्रकार के रोग मन और शरीर के आश्रयभूत हैं ॥२४॥ देशकालादिक का विचार करके संशोधन, संशमन, आहार और आचार का प्रयोग करने से इन रोगों का प्रतिकार होता है ॥२५॥

वक्तव्य—इन चारों प्रकार के रोगों में मानसिक और कुछ आगन्तुक रोगों का अधिष्ठान मन है और शारीर, आगन्तुक और स्वाभाविक रोगों का अधिष्ठान शरीर है, यद्यपि मानसिक रोगों से शरीर में पीड़ा होती है और शारीर रोगों से मन में पीड़ा होती है। मद मूर्च्छा संन्यास ग्रहभूतोन्मादापस्मारादि रोग वातादि दोषज होने के कारण शारीर ही मानना चाहिये परन्तु व्यवहार में उनका समावेश सदैव मानसिक रोगों में होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि ये दोषज होते हैं तथापि इनका अधिष्ठान शरीर की अपेक्षा मन में अधिक होता है। वास्तव में ये रोग उभयात्मक हैं। शुद्ध मानस रोग वे हैं, जिनके कारणभूत दोष रज तम और जिनका अधिष्ठान मन है।

मानस इति न कामक्रोधादिवन्मानसो व्याधिः, किन्तु शारीरदोषदूषितमनःप्राधान्यात् शरीरस्थत्वे चाप्राधान्यान्मानस इति व्यपदेशः।

संशोधन—जो शरीरस्थ दोषों को बाहर निकाल देता है, उसे संशोधन कहते हैं। यह बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार का होता है। वमन, विरेचन, शिरोविरेचन और बस्ति चतुः प्रकार अन्तः संशोधन है और यन्त्र शस्त्र क्षार अग्नि जलौका द्वारा छेदन भेदन वेधन लेखन उत्पाटन प्रच्छनकर्म से बाह्य संशोधन होता है।

यदीरयेद्बहिर्दोषान् पंचधा शोधनं च तत्।
निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः ॥(अ.सं.सू.अ.२४)

संशमन—जो शरीरस्थ दोषों को बाहर नहीं निकालता है, समदोषों में वैषम्य नहीं उत्पन्न करता है तथा विषम दोषों का उपशम करता है, वह संशमन है।

न शोधयति यद् दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् शमनं तत्—॥ (अ. सं. सू.अ. २४)

यह संशमन तीन प्रकार का है—१ दैवव्यपाश्रय, मन्त्रौषधि मणि मंगल बल्युपहारादि, २ बाह्य, आलेप परिषेकावगाहादि ३ आभ्यन्तर पाचन लेखन बृंहणादि।

आहार—मधुरादि भेद से छः प्रकार का, पेयादि भेद से चार या छः प्रकार का, उष्ण और शीत वीर्य की दृष्टि से दो प्रकार का, पृथिव्यादि भेद से पांच प्रकार का होता है। रोगी को आहार देते समय इन सब बातों का विचार करना चाहिये।

आचार—शारीरिक, मानसिक और वाचिक कर्म। यद्यपि आहार और आचार का समावेश संशमन चिकित्सा में होजाता है तथापि इनका प्राधान्य प्रदर्शित करने के लिये स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है। इनके पथ्य के सिवाय चिकित्सा में सफलता मिलना अनेक रोगों में असम्भव सा प्रतीत होता है। इसलिये लिखा है—

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणम्।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणम् ॥
विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि ॥

सम्यक् प्रयुक्त—अष्टाङ्गहृदय में प्रदर्शित की हुई निम्न बातों पर ध्यान देकर।

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः ॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥ (सू.अ.१२)

निग्रहहेतु—धातुवैषम्य दूर करने के लिये जो जो उपयोगी हो सकता है वह सब है, चरक की परिभाषा में इसको 'भेषज' कहते हैं।

भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य। तद्द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्, दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं चेति। (वि. ८)। युक्तिव्यपाश्रयं संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः। आहारौषधद्रव्याणां योजना। (च. सू. अ. ११)

इससे यह स्पष्ट है यहाँ रोगों की जो सामान्य चिकित्सा बतलाई है वह चरक के साथ पूर्णतया मिलती है। आगे दोनों का समन्वय बतलाया गया है।

ऊपर चिकित्सा के जो चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनके लिये अँग्रेजी में निम्न नाम प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि वे पूर्णतया समानार्थी नहीं हैं।

संशमन चिकित्सा—Sedative or Conservative treatment.
संशोधन चिकित्सा—Eliminative or Redical treatment.
आहार चिकित्सा—Deetetic treatment.
आचार चिकित्सा—Regiminal treatment.

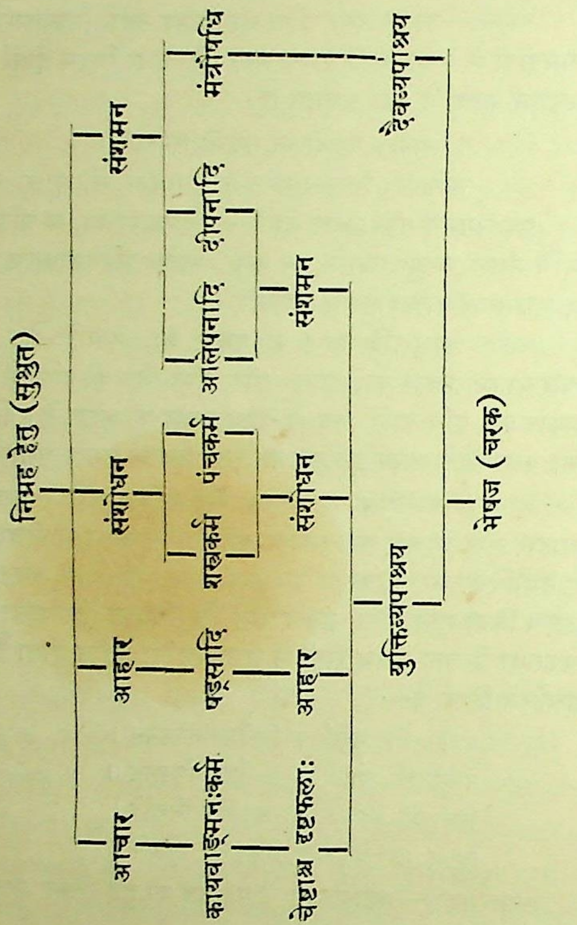

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च; स षट्सु रसेष्वायत्तः; रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः; द्रव्याणि पुनरोषधयः । तास्तु द्विविधाः स्थावरा जङ्गमाश्च ॥२९॥

आहार तो प्राणियों की उत्पत्ति तथा उनके बल, वर्ण और ओज (vitality) का प्रधान कारण है। वह आहार षड्रसाश्रयी है और रस द्रव्याश्रयी होते हैं। (वैद्यक शास्त्र में) ओषधियों को द्रव्य कहते हैं और इनके स्थावर और जंगम दो भेद हैं ॥२९॥

वक्तव्य—माता-पिता में शुक्रशोणित (sperm और ova) की उत्पत्ति आहार से ही होती है। दोनों का संयोग होने के पश्चात् भी गर्भ की वृद्धि माता के आहाररस से ही होती है। जन्म होने के पश्चात् भी आहार सेवन से शरीर की वृद्धि होती है और बलवर्णादिक प्राप्त होते हैं। आहार ओषधियों से आता है। अतः शरीर की उत्पत्ति और स्थिति आहार पर निर्भर है।

ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरुषः । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अन्नं भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वौषधमुच्यते ।
(तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली)

परीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसंभवः । **(च. सू. अ. २८)**

वैद्यक शास्त्र में ओषधि शब्द से जङ्गम, उद्भिज और पार्थिव द्रव्यों का बोध होता है, तथापि रसगर्भ आहारोपयोगी द्रव्यों के लिये मुख्यतया ओषधि शब्द यहाँ प्रयुक्त होने के कारण पार्थिव द्रव्यों का समावेश ओषधि में नहीं करना चाहिये। दूसरा कारण यह है कि सूत्र २७-२८ में ओषधि के जो आठ विभाग बतलाये हैं, उनमें भी पार्थिव द्रव्यों का समावेश न करके उनका स्वतन्त्र उल्लेख सूत्र ३१ में किया है। स्थावर शब्द का भी यहाँ जो वनस्पत्यादि चतुर्विधगण अर्थ दिया है, वह एकदेशीय और अन्य स्थान के उद्भिज्जगण के लिये है। वास्तव में स्थावर शब्द से पार्थिव और उद्भिज्ज दोनों गणों का बोध होता है।

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयो, वृक्षा, वीरुध, ओषधय इति । तासु, अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ॥२७॥

उनमें स्थावरों के चार भेद हैं—वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओषधि। इनमें से जिनके पुष्प न हों परन्तु फल हों वे वनस्पतियाँ हैं, जिनके फूल भी हों और फल भी हों वे वृक्ष हैं, जो फैलने वाली या गुल्म के स्वरूप की होती हों वे वीरुध हैं, जो एक बार ही फल के पक जाने पर नष्ट हो जाती हों वे ओषधियाँ हैं ॥२७॥

वक्तव्य—अपुष्पाः—इसका अर्थ 'अविद्यमानपुष्पाः' (डल्हण) या 'येषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म' (हाराणचंद्र) ऐसा किया गया है और इस वर्ग के उदाहरण में औदुंबर इत्यादि वृक्ष निर्दिष्ट किये हैं। इन वृक्षों का विचार आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से करने पर यह मालूम होता है कि इनके भी असंख्य सूक्ष्म फूल हैं जो एक बंद आधार में (closed receptacle) रहते हैं और इनका फल सामासिक (compound) होता है जिसके भीतर इन फूलों से बने हुए अनेक बीज होते हैं। इसलिये अपुष्प का अर्थ 'अदृश्यपुष्प' करना प्रशस्त है, क्योंकि ये फूल बाहर से दिखाई नहीं देते हैं।

प्रतानवत्यः—तंतुयुक्त यथा त्रपुषालाबुप्रभृति । **स्तम्बिन्यः**—काण्डरहिताः यथा शालपर्णीपृश्निपर्ण्यादयः । इसको गुच्छ भी कहते हैं। इन दोनों के सिवाय वीरुधवर्ग में तृणजाति तथा गुल्म (एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः) और वल्लि (गुडूच्यादयः या भूमेर्वृक्षमारोहन्ति) का भी समावेश होता है—गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः । बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च (मनु. अ. १)। **ओषधिः**—बहुत पुष्प फलयुक्त परंतु फल पक जाने पर नष्ट होने वाली। यथा—शालिगोधूम यवतिलमुद्ग इत्यादि।

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । **(मनु० अ० १)**

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः ॥२८॥

जङ्गम भी चार प्रकार के हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ॥२८॥

वक्तव्य—जो चलने वाले होते हैं उनको जङ्गम कहते हैं, गच्छतीति जंगमम्। गर्भाशय में गर्भ का जो आवरण होता है उसे जरायु कहते हैं—गर्भवेष्टनचर्म्मपुटकं जरायु। अँग्रेजी में जरायु का अर्थ Placenta with the membranes होता है। अर्थात् गर्भाशय में एक विशेष आवरण में जिनकी उत्पत्ति होती है, उनको जरायुज कहते हैं। अँग्रेज़ी में इस वर्ग का नाम Placentalia or viviparous है। अण्डज—अण्डे से

उत्पन्न होने वाले जीव। अँग्रेज़ी में इस वर्ग का नाम Oviparous है। स्वेदज वर्ग का दूसरा नाम ऊष्मज भी है। जमीन फोड़कर जो उत्पन्न होते हैं वे उद्भिज्ज हैं—उद्भिद्य पृथिवीं जायन्ते इति उद्भिज्जाः। अँग्रेजी में इस वर्ग का नाम Vegetable Kingdom है।

तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, क्रिमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः ॥२९॥

उनमें से (गोमहिषादि तृणाहारी) पशु, मनुष्य, (व्याघ्र सिंहादि मांसाहारी) हिंस्र पशु इत्यादि जरायुज होते हैं। पक्षी, सर्प, मत्स्य, मकरादि अण्डज होते हैं। क्रिमिकीट पिपीलिकादि स्वेदज होते हैं। इन्द्रगोप मण्डूक प्रभृति उद्भिज्ज होते हैं ॥२९॥

वक्तव्य—यहाँ जङ्गम सृष्टि के चार भाग किये हैं; परन्तु अन्यत्र केवल तीन ही भाग होते हैं—जरायुज, अण्डज और स्वेदज और इन तीनों में समस्त जंगमसृष्टि का समावेश होता है। यहाँ उद्भिज्जवर्ग में जिन जंगम जीवों का निर्देश किया है, उनका समावेश अण्डजवर्ग में होता है।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥(मनु. अ. १.४४)

उद्भिज्ज वर्ग में केवल चतुर्विध वनस्पत्यादिगण होते हैं और वह स्थावर का एक विभाग होता है।

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ॥ (मनु. अ. १.४६)

चरक और भेल संहिता में लिखा है—

औद्भिदं तु चतुर्विधम्। वनस्पतिस्तथा वीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः।
(च. सू. अ. १)

उद्भिज्जास्तु तृणलतावृक्षवनस्पतयः। (भेलसंहिता)

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्पत्रपुष्पफलमूलकन्दनिर्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जङ्गमेभ्यश्चर्मनखरोमरुधिरादयः ॥३०॥

इनमें स्थावरों के छाल, पत्ते, फूल, जड़, कन्द, गोंद, स्वरसादिक प्रयोजन में आते हैं, और जंगमों के चर्म, नख, बाल, रक्तादिक प्रयोजन में आते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—रुधिरादयः—मज्जा, यकृत्, पित्त इत्यादि। यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्। (उत्तरस्थान अ. ४५)। इन जंगमावयवों का आभ्यन्तरीय प्रयोग करके रोगों की चिकित्सा करने का अंग पाश्चात्त्य वैद्यक में सांप्रत बहुत उन्नत हुआ है। उसे Organo-Therapy कहते हैं। इसमें यकृत्, प्लीहा, मज्जा, अग्न्याशय, थायराईड, प्याराथायराईड, जननग्रन्थियाँ आदि शरीर के अनेक अवयव विविध रोगों में सफलता से प्रयुक्त हो रहे हैं।

स्थावर और जंगमों से जो जो चीज़ें काम में लाई जाती हैं, उनके कुछ अधिक नाम चरकसंहिता में दिये हैं—

मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जासृगामिषम्।
विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुशृङ्गनखाः खुराः।
जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचनाः॥ (सू. अ. १)
मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवाः।
क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्मतैलानि कण्टकाः।
पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः ॥(च.सू.अ.१)

पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः ॥३१॥

पार्थिव द्रव्यों में सुवर्ण, रौप्य, मणि, मुक्ता, मनःशिला, मिट्टी, ठिकरी आदि पदार्थ काम में लाये जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—उपर्युक्त द्रव्यों के सिवाय शिलाजतु, सिकता, सुधा, हरिताल, लवण, गैरिक, रसांजनादि द्रव्यों का भी समावेश पार्थिव ओषधियों में होता है। पार्थिव द्रव्यों का समावेश ऊपर स्थावर विभाग में न करने के कारण यहाँ उनका स्वतन्त्र उल्लेख किया है। आहार की दृष्टि से यद्यपि यह गण अत्यन्त गौण होता है तथापि ओषधि की दृष्टि से यह एक अत्यन्त महत्त्व का गण है। चरक में भी ओषधि द्रव्यों के सुश्रुत के अनुसार तीन विभाग किये हैं—

तत्पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम् ॥ (च. सू. अ. १)

कालकृताः प्रवातनिवातातपच्छायाज्योत्स्नातमःशीतोष्णवर्षाऽहोरात्रपक्षमासर्त्वयनादयः संवत्सरविशेषाः ॥३२॥ त एते स्वभावत एव दोषाणां सञ्चयप्रकोपप्रशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तश्च ॥३३॥

वायु चलना, वायु बंद होना, धूप, छाया, चाँदनी रात, अँधेरा, सरदी, गरमी, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन और संवत्सरादि विशेष कालकृत (ओषधि) हैं ॥३२॥ (कारण) ये सब काल विशेष स्वभाव से ही (वात पित्त कफ) दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन और प्रतीकार करते हैं (और चिकित्सा के) प्रयोजन में आते हैं ॥३३॥

वक्तव्य—इन कालकृत विभागों का ज्ञान स्वास्थ्यरक्षण तथा रोग चिकित्सा में आवश्यक होने के कारण इनका समावेश ओषधियों के साथ किया गया है। इनसे स्वास्थ्यरक्षण में, ओषधि आहरण करने में, ओषधियाँ तैयार करने में, द्रव्यों का गुण धर्म जानने में, ओषधि का प्रयोग किस समय और कितने काल तक करना चाहिये इस विषय में, शस्त्रकर्म करने में बहुत ही सहायता मिलती है। कालकृत विभागों का विचार न करते हुए यदि चिकित्सा की जाय तो उसमें सफलता मिलना बहुत ही कठिन है। चरक में काल का वर्णन करके अन्त में लिखा है—

कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति॥ (च० विमान अ.८)

चिकित्सा में काल विभाग का निर्देश विधि और निषेध के स्वरूप का होता है। ऊपर जो काल के विभाग दिये हैं, उनके प्रयोजन के कुछ उदाहरण ग्रन्थों में से नीचे दिये हैं।

लाजोत्पलोशीरकुचंदनानि दत्त्वा **प्रवाते** निशि वासयेच्च। **निवातदेशे** निचितिं कृत्वा। मदनफलानाम**आतप**परिशुष्काणाम्। **छायाशुष्कं** विधायाथ वटी कार्या चणोपमा। वायवश्च**न्द्रपादाश्च** शीतदाहज्वरापहाः। अपेतलोष्टकाष्ठाद्यैः संरोध्यश्च **तमोगृहे**। नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते। सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन॥

न च आलेपं **रात्रौ** प्रयुञ्जीत। प्रदेहसाध्ये व्याधौ तु हितमालेपनं **दिवा**। **पक्षा**ज्जातरसं पिबेत्। स्नानादिनानाविधिना जहाति **मासाद-**

शेषं नियमेन शोषन्। हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्। वर्षासु शमयेद्वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्। अजां वा पर्युपासीत षण्मासानुटजे वसन्।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

शारीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः।
प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः ॥३४॥

शारीरिक व्याधियों के प्रकोप और प्रशम का यही स्थावरादि चार प्रकार का वर्ग (पूर्व) चिकित्सकों ने कारण वर्णन किया है ॥३४॥

वक्तव्य—चतुर्विध वर्ग से स्थावर, जंगम, पार्थिव और कालकृत विभाग समझना चाहिये। 'आहाराचारपार्थिवकालभेदात्' ऐसा चतुर्विध का अर्थ टीका में डल्हण ने दिया है, वह योग्य नहीं है।

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषां तु द्विविधा क्रिया ॥३५॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः ॥३६॥

आगन्तुक जो रोग हैं उनके दो अधिष्ठान हैं; कोई मन में और कोई शरीर में अधिष्ठित होते हैं; उनकी चिकित्सा भी दो प्रकार की है ॥३५॥ जो शरीर में होते हैं उनकी चिकित्सा शारीरिक रोगों के अनुसार होती है और जो मन में होते हैं उनकी चिकित्सा सुखकारक शब्दादि वर्ग से करना उचित होता है ॥३६॥

वक्तव्य—यहाँ शब्दादि वर्ग उपलक्षण समझ कर उस में मानसव्याधियों के सर्व उपक्रमों का समावेश करना चाहिये। इससे शब्दादि वर्ग में शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तथा ज्ञान विज्ञानादिक का समावेश होता है। सुखावह का अर्थ आरोग्यदायक 'सुखसंज्ञकमारोग्यम्' है। चरक में लिखा है—

मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः। (सू. अ. १)
मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः॥ (सू. अ. ११)

ये मानसिक रोग बहुधा आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने के कारण इनका समावेश आगन्तु वर्ग में और इनका उल्लेख आगन्तु नाम से होता है।

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसंभवाः।
कामक्रोधभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः॥ (अ.सं.सू.अ.?)
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः॥ (च. सू. अ. ७)

स्वाभाविक छोड़कर ऊपर चिकित्स्य रोगों के जो तीन प्रकार वर्णन किये हैं, उनका अधिक विचार करने पर निदान की दृष्टि से शारीर और आगन्तुक तथा चिकित्सा की दृष्टि से शारीर और मानस ऐसे दो ही विभाग होते हैं। अतः चरक, अष्टांगसंग्रह इत्यादि ग्रंथों में निदान की दृष्टि से निज और आगन्तु दो विभाग और चिकित्सा की दृष्टि से शारीर और मानसिक दो विभाग बतलाये गये हैं। (अष्टांग हृदयसूत्र स्थान अ. १-२०-२५ और चरक सू. अ. १. ५७ देखो)

एवमेतत् पुरुषो व्याधिरौषधं क्रियाकाल इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम्। तत्र पुरुषग्रहणात् तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तस्तदङ्गप्रत्यङ्गविकल्पाश्च त्वङ्मांसास्थिसिरास्नायुप्रभृतयः, व्याधिग्रहणाद्वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः सर्व एव व्याधयो व्याख्याताः, औषधग्रहणाद् द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकानामादेशः, क्रियाग्रहणाच्छेद्यादीनि स्नेहादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि, कालग्रहणात् सर्वक्रियाकालानामादेशः ॥३७॥

इस प्रकार यह पुरुष, व्याधि, औषध और क्रियाकाल का चतुष्टय है, जिसका संक्षेप से वर्णन किया है। इनमें पुरुष शब्द से पुरुषोत्पत्तिकारक पंच महाभौतिक शुक्रशोणितादि, अंगप्रत्यंगविभाग तथा त्वचा मांस अस्थि सिरा स्नायु आदि धातु समझे जाते हैं। व्याधि शब्द से वात पित्त कफ और रक्त के वैषम्य से उत्पन्न हुए सर्व रोग ग्रहण होते हैं। औषधि शब्द से द्रव्य गुण रस वीर्य विपाक प्रभावादि का ग्रहण होता है। क्रिया शब्द से छेदादिक अष्टविध शस्त्रकर्म और स्नेहन व स्वेदन पूर्व पंचकर्मों का ग्रहण होता है। और काल शब्द से उपरोक्त सर्व क्रियाओं के लिये जो योग्य काल होते हैं, उनका ग्रहण होता है।

वक्तव्य—इस अध्याय में पुरुष, व्याधि, औषधि और क्रियाकाल का संक्षेप में वर्णन किया गया है। अब आगे इस संहिता में इस चतुष्टय का जो विस्तार होगा, उसका कुछ दिग्दर्शन करने के लिये प्रत्येक शब्द का थोड़ा विस्तार करके बतलाया गया है। इससे संहिता में जिन विषयों का विचार होगा उसकी कल्पना हो सकती है।

भवति चात्र—

बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम्।
सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥३८॥

तच्च सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेष्वर्थवशात् संविभज्योत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः ॥३९॥

यहाँ सम्पूर्ण चिकित्साशास्त्र का बीज संक्षेप से वर्णन किया है और एक सौ बीस अध्यायों में इसकी (विस्तारपूर्वक) व्याख्या होने वाली है ॥३८॥ वे एक सौ बीस अध्याय सूत्र, निदान, शारीर, चिकित्सा और कल्प ऐसे पांच स्थानों में (स्थानों के विशिष्ट) विषयों के अनुसार बाँटकर शेष विषयों का व्याख्यान उत्तरतन्त्र में करेंगे ॥३९॥

वक्तव्य—अर्थवशात्—प्रत्येक स्थान का जो विशिष्ट अर्थ है, उसके अनुसार। यथा—सूत्रणार्थ सूत्रस्थान, शरीर विज्ञानार्थ शारीर, हेतुलक्षण निर्देशार्थ निदान, चिकित्सा निर्देशार्थ चिकित्सा और विषभेषज कल्पनार्थ कल्पस्थान। ये प्रत्येक स्थान के अर्थ तृतीय अध्याय में दिये हैं।

भवति चात्र—स्वयम्भुवा प्रोक्तमिदं सनातनं
पठेद्धि यः काशिपतिप्रकाशितम्।
स पुण्यकर्मा भुवि पूजितो नृपै-
रसुक्षये शक्रसलोकतां व्रजेत् ॥४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वेदोत्पत्तिर्नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

ब्रह्मा जी से वर्णन किया हुआ और काशिराज धन्वन्तरि से (मृत्युलोक में) प्रकाशित हुआ यह सनातन (आयुर्वेद शास्त्र) जो पढ़ेगा, वह पुण्यकर्म पुरुष पृथ्वी पर राजाओं से संमानित होकर मृत्यु के पश्चात् इन्द्रलोक में प्राप्त होगा ॥४०॥

वक्तव्य—पठन शब्द से यहाँ पठन-पाठन तथा कर्माभ्यास तीनों का बोध लेना चाहिये । आयुर्वेद का केवल पठन करने से ऐहिक या पारलौकिक सुख नहीं मिल सकता है । पठन करके द्विज गुरु साधु अनाथादि लोगों की चिकित्सा करने से पारलौकिक और सनाथ राजे और धनी लोगों की चिकित्सा करने से ऐहिक सुख मिलता है। चरक में लिखा है—

यच्चायुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति, वेदयत्यनुविधीयते वा सोऽप्यस्य परो धर्मः॥ (सू. अ. ३०)

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

अब यहाँ से शिष्योपनयनीय नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के प्रति वर्णन किया ॥१॥

वक्तव्य—अध्ययनार्थमाचार्यसमीपं नीयतेऽनेनेत्युपनयनम् । आयुर्वेद पठनारम्भ में जो उपनयन होता है वह पुनरुपनयन है । पहला उपनयन गृह्योक्त विधि से वेद का पठन प्रारम्भ करने के समय होता है ।

गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च ।
देवतानां समीपं वा येनासौ नीयते द्विजः ।
तदुपानयनं प्रोक्तम् ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयःशील-शौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृतिमति-प्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयेत्; अतो विपरीतगुणं नोपनयेत् ॥२॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में से किसी को जो अच्छे वंश, योग्य वय, उत्तम शील, शौर्य, पवित्रता, आचार, नम्रता, उत्साह, बल, मेधा, धृति, स्मृति, मति और प्रतिपत्ति आदि गुणों से युक्त हो, तथा जिसके जिह्वा, होंठ और दाँतों के अग्रभाग पतले हों, और मुख आँख और नाक सीधे हों तथा जिसके चित्त वाणी और आचरण सदैव प्रसन्न हों, जो क्लेश सहन करने की शक्ति रखता हो, ऐसे शिष्य को भिषक् इस शास्त्र का उपदेश करे । इनसे विरुद्ध गुणवाले शिष्य को कदापि इसका उपदेश न करे ॥२॥

वक्तव्य—अन्वय—उत्तम कुल । वय—बाल्य या तरुणावस्था । शौर्य—शल्यचिकित्सा के लिये इसकी विशेष आवश्यकता होती है—शौर्यमाशुक्रिया……वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते । शौच—अन्तर्बाह्य स्वच्छता । शक्ति—उत्साह । बल—शारीरिक शक्ति । मेधा—धारणाबुद्धि । धृति—नियमात्मिका बुद्धि—'धृतिर्हि नियमात्मिका' (चरक) । स्मृति—'दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते' (चरक) । 'अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः' (योगसूत्र) । मति—समतादर्शक बुद्धि—'समं बुद्धिर्हि पश्यति' (चरक) । प्रतिपत्ति—प्रागल्भ्य या प्रत्युत्पन्नमतित्व ।

जिह्वा, होंठ इत्यादि पतले होने से शब्दोच्चारण में स्पष्टता होती है, अन्यथा उच्चार अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं । दूसरे के लिये क्लेश सहन करने की प्रवृत्ति यदि शिष्य में न हो तो उससे 'नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति' इस आयुर्वेद के उच्च ध्येयानुसार वर्तन होना असंभव होगा । उपर्युक्त गुण-विहीन शिष्य को पढ़ाने से शास्त्र तथा गुरु की बदनामी होगी । अतः उनके लिये निषेधार्थक वचन फिर लिखा है ।

उपनयनीयस्तु ब्राह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुरस्रं गोमयेन स्थण्डिलमुपलिप्य, दर्भैः संस्तीर्य, पुष्पैर्लाजभक्तै रत्नैश्च देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिषजश्च, तत्रोल्लिख्याभ्युदय च दक्षिणतो ब्रह्माणं स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय, खदिरपलाशदेवदारुबिल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां वा क्षीरवृक्षाणां (न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थमधूकानां) दधिमधुघृताक्ताभिर्दार्वीहोमिकेन विधिना स्रुवेणाऽऽज्याहुतीर्जुहुयात्, सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः, ततः प्रतिदैवतमृषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात्, शिष्यमपि कारयेत् ॥३॥

उपनयन करने वाला जो ब्राह्मण है वह शुभ तिथि करण मुहूर्त नक्षत्रों में अच्छी (पूर्व या उत्तर) दिशा और पवित्र तथा समतल स्थान में चार हाथ लम्बा और चौड़ा चौकोर स्थंडिल बनाकर उसे गोबर से पोतकर उस पर दर्भ बिछाकर पुष्प धान की लाजा और रत्नों से देवता ब्राह्मण और वैद्यों का पूजन करके तदनन्तर स्थंडिल पर ऊर्ध्वमुख रेखाएँ खींच के और जल का प्रोक्षण करके दक्षिण दिशा में ब्रह्मा की स्थापना और समीप अग्नि स्थापन करके खैर, ढाक, देवदार तथा बिल्व की या बड़, गूलर, पिप्पल और महुआ इन चार क्षीरी वृक्षों की दही, मधु और घृत से लिप्त समिधाओं से दार्वी होम विधि के अनुसार लकड़ी की दर्वी से घृत की आहुति देवे । और ओङ्कार-पूर्वक महाव्याहृतियों का उच्चार कर प्रत्येक देवता और ऋषि के नाम से स्वाहाकार करे और शिष्य से भी करावे ॥३॥

वक्तव्य—सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः—ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा इति । स्रुव—लकड़ी की कड़छी ।

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यवेति ॥४॥ शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके ॥५॥

ब्राह्मण (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) तीन वर्णों को, क्षत्रिय (क्षत्रिय और वैश्य) दो वर्णों को और वैश्य केवल वैश्यवर्ण को

(आयुर्वेद का) उपदेश करे ॥४॥ शूद्र भी उत्तम कुल और गुणसंपन्न हो तो उसको वैदिक मन्त्र का भाग छोड़कर और उपनयन के बिना आयुर्वेद का उपदेश करे, ऐसा कई आचार्यों का मत है ॥५॥

वक्तव्य—'स च अध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः' इस प्रकार का विधिवाक्य चरक (सू. अ. ३०) में है। परन्तु इससे शूद्रों के लिये निषेध सिद्ध नहीं होता है। शूद्रों के लिये केवल वेदमन्त्र पठन का निषेध है 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयीताम्'। इसलिये मन्त्रवर्जित और बिना उपनयन के आयुर्वेद पठन का जो अधिकार यहाँ एकीय मत से प्रदर्शित किया है वह शास्त्रविरुद्ध नहीं है और समाज के लिये अत्यन्त हितकर भी है। साम्प्रत शल्यचिकित्सा पहले तीन वर्णों में लुप्त हो गई है और केवल नाड़ीवैद्य, नाई, माल इत्यादि त्रैवर्णेतर लोगों में शेष है जो अभी तक देहातों में पथरी और मोतियाबिंद निकालना, तुंबी आदि से रक्त निकालना तथा फोड़े फुन्सियां चीरना इत्यादि कर्म किया करते हैं।

ततोऽग्निं त्रिः परिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्—कामक्रोधलोभमोहमानाहङ्कारेर्ष्यापारुष्यपैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा, नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्याभिवादनतत्परेणाऽवश्यं भवितव्यं, मदनुमतस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा, मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम्; अतोऽन्यथा ते वर्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति ॥६॥

तदनन्तर अग्नि की तीन परिक्रमा करके अग्निसाक्ष शिष्य से कहे—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहङ्कार, द्वेष, कठोरता, नीचता, असत्य, आलस्य तथा बदनामी करने वाले कार्य इन सब को छोड़कर केश और बाल कटवा कर पवित्र कषाय वस्त्र पहन कर सत्यव्रत और ब्रह्मचर्य धारण कर प्रणाम आदि में तत्पर अवश्य रहना चाहिये और मेरी अनुमति के अनुसार कहीं जाना, सोना, बैठना, भोजन करना और पढ़ना इन बातों में तत्पर होकर मेरे लिये जो प्रिय और हितकर हो ऐसा वर्तन रखना चाहिये। इससे विपरीत बर्ताव रखने से तुम्हारा धर्म नष्ट होगा और विद्या निष्फल होकर प्रकाशित (प्रसिद्ध) भी न होगी ॥६॥

वक्तव्य—चरक में अग्नि के सिवाय ब्राह्मण और भिषक् साक्षी करके कहने के लिये कहा है। आयुर्वेद में प्रत्येक पाँचवें दिन बाल और नख कटवाने के लिये कहा है—

त्रिः पक्षस्य नखश्मश्रुकचरोमाणि वर्धयेत्। (अ. सं. सू. अ. ३)

ब्रह्मचर्य—कायिक, वाचिक और मानसिक या अष्टविध मैथुन पराङ्मुखता। मैथुन के सिवाय मद्य मांसादि भक्षण निषेधादि अनेक नियम ब्रह्मचर्य के लिये पालन करने पड़ते हैं। विशेष विस्तार के लिये मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १७५ से ४९ तक देखो। अभिवादन-गुरु को प्रणाम करने की विशेष वृत्ति को अभिवादन कहते हैं। अभिवादन में प्रत्युत्थान, दोपसंग्रह और स्वनामपूर्वक प्रणाम इन बातों का समावेश होता है (मनु अध्याय २, १२०–१२६)। इस सूत्र में शिष्य का गुरु के प्रति जो कर्तव्य होता है, उसका वर्णन किया गया है।

अहं वा त्वयि सम्यग्वर्तमाने यदि अन्यथादर्शी स्यामेनोभाग् भवेयमफलविद्यश्च ॥७॥

तेरे यथोचित बर्ताव करने पर भी यदि मैं तुम्हें यथाशास्त्र विद्या न पढ़ाऊँ तो मैं पाप का भागी होऊँगा और मेरी विद्या निष्फल हो जायगी ॥७॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शिष्य के प्रति गुरु का कर्तव्य वर्णन किया गया है। एनोभाग्-पापभाजन। यथोचित बर्ताव करने वाले शिष्य को यदि गुरु विद्या का दान एक साल के भीतर न करेगा तो शिष्य के सर्व पातकों का वह भाजन होगा—'संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानमनिर्दिशन्। हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरोः।' (कूर्मपुराण)।

द्विजगुरुदरिद्रमित्रप्रव्रजितोपनतसाध्वनाथाभ्युपगतानां चात्मबान्धवानामिव स्वभेषजैः प्रतिकर्तव्यमेवं साधु भवति; व्याधशाकुनिकपतितपापकारिणां च न प्रतिकर्तव्यम्; एवं विद्या प्रकाशते मित्रयशोधर्मार्थकामांश्च प्राप्नोति ॥८॥

ब्राह्मण, गुरु, दरिद्र, मित्र, संन्यासी, आश्रित, सत्पुरुष, असहायऔर अभ्यागत इन की चिकित्सा निज बान्धवों के तुल्य अपने पास की ओषधियों से करना उत्तम है। पशु और पत्नी हिंसक, आचारभ्रष्ट, पापी जनों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। ऐसा करने से विद्या प्रकाशित होती है और मित्र, यश, धर्म, अर्थ, कामादि सब प्राप्त होते हैं ॥८॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शिष्य को किस वर्ग के रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये और किस की नहीं करनी चाहिये इसका दिग्दर्शन कुछ उदाहरण देकर किया गया है। नीचे श्लोक ९ और १० में आयुर्वेदाध्ययन के लिये अनध्याय काल बतलाये गये हैं।

भवतश्चात्र—

कृष्णेऽष्टमी तन्निधनेऽहनी द्वे
शुक्ले तथाऽप्येवमहर्द्विसन्ध्यम्।
अकालविद्युत्स्तनयित्नुघोषे
स्वतन्त्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु ॥९॥
स्मशानयानायतनाहवेषु
महोत्सवौत्पातिकदर्शनेषु।
नाध्येयमन्येषु च येषु विप्रा
नाधीयते नाशुचिना च नित्यम् ॥१०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शिष्योपनयनीयो नाम
द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

कृष्णपक्ष की अष्टमी और उसकी समाप्ति के दो दिन (चतुर्दशी और अमावास्या), इसी भांति शुक्लपक्ष में अष्टमी, चतुर्दशी और पौर्णमा, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय (सन्धिकाल), अकाल बिजली चमकना और मेघगर्जन होना, अपने शरीर, परिवार, देश और राजा की पीड़ा के समय ॥९॥ और जिस दिन स्मशान में गमन हो, युद्ध महोत्सव और

उत्पात के दिन तथा जिन दिनों में ब्राह्मण सदैव अनध्याय करते हैं, उन दिनों में और अशुद्ध अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥१०॥

वक्तव्य—तन्निधनेऽहनि द्वे—कृष्ण और शुक्ल पक्ष के दो अन्तिम दिन चतुर्दशी और अमावास्या तथा चतुर्दशी और पौर्णिमा। अकालविद्युत्स्तनयित्नुघोषे—अकाल में बिजली चमकना, मेघगर्जन होना। इसी में अकाल वृष्टि और अकाल मेघदर्शन का भी समावेश करना चाहिये चूंकि मनुस्मृति में 'विद्युत्स्तनितवर्षेषु' 'अनृतौ चाभ्रदर्शने' ऐसा लिखा है। अकाल का अर्थ वृष्टि के लिये अकाल, यह काल मार्गशीर्ष मास से चैत्र मास तक होता है। ये अकालिक अनध्याय दिन में जिस समय विद्युत्स्तनितादि प्रारम्भ होता है, तब से दूसरे दिन उसी समय तक होते हैं। 'निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत्स एव कालस्तावत्पर्यन्तमनध्यायम्' (कुल्लूकभट्ट)। 'स्वतंत्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु' स्व आत्मा, तंत्र परिजन, राष्ट्र देश, और क्षितिप राजा। अपने शरीर, परिजन, देश और राजा के संकट के समय। उत्पात, अनिष्टसूचक निमित्त। ये उत्पात भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य तीन प्रकार के होते हैं। इन दो श्लोकों में अनध्याय के जो दिन बतलाये हैं, इनके सिवाय अधिक अनध्याय दिनों का ज्ञान करने के लिये मनुस्मृति अध्याय चार १०१-१२५ तक श्लोक देखो।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातोऽध्ययनसंप्रदानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

अब अध्ययनसंप्रदानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि धन्वन्तरि भगवान् ने सुश्रुत के प्रति किया ॥१॥

वक्तव्य—इस अध्याय में भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को जिस क्रम से आयुर्वेद का उपदेश दिया वह अनुक्रम वर्णन किया है। अध्ययनं शास्त्रम्। सम्यक् प्रविभज्य दानं संप्रदानम्।

प्रागभिहितं सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु। तत्र सूत्रस्थानमध्यायाः षट्चत्वारिंशत्, षोडश निदानानि, दश शारीराणि, चत्वारिंशच्चिकित्सितानि, अष्टौ कल्पाः, तदुत्तरं षट्षष्टिः ॥२॥

पहले अध्याय में कहा गया है कि इस संहिता के एक सौ बीस अध्याय पांच स्थानों में विभक्त हैं। इन में से ४६ अध्याय का सूत्रस्थान, १६ अध्याय का निदानस्थान, १० अध्याय का शारीरस्थान, ४० अध्याय का चिकित्सास्थान, ८ अध्याय का कल्पस्थान, इसके बाद उत्तरस्थान में ६६ अध्याय हैं ॥२॥

वेदोत्पत्तिः शिष्यनयस्तथाऽध्ययनदानिकः।
प्रभाषणाग्रहरणावृतुचर्याथ यान्त्रिकः ॥३॥
शस्त्रावचारणं योग्या विशिखा क्षारकल्पनम्।
अग्निकर्मजलौकाख्यावध्यायौ रक्तवर्णनम् ॥४॥
दोषधातुमलाद्यानां विज्ञानाध्याय एव च।
कर्णव्यधामपक्वैषावालेपो व्रणयुपासनम् ॥५॥
हिताहितो व्रणप्रश्नो व्रणास्रावश्च यः पृथक्।
कृत्याकृत्यविधिर्व्याधिसमुद्देशीय एव च ॥६॥
विनिश्चयः शस्त्रविधौ प्रनष्टज्ञानिकस्तथा।
शल्योद्धृतिर्व्रणज्ञानं दूतस्वप्ननिदर्शनम् ॥७॥
पञ्चेन्द्रियं तथा छाया स्वभावाद्वैकृतं तथा।
वारणो युक्तसेनीय आतुरक्रममिश्रकौ ॥८॥
भूमिभागो द्रव्यगणः संशुद्धौ शमने च यः।
द्रव्यादीनां च विज्ञानं विशेषो द्रव्यगोऽपरः ॥९॥
रसज्ञानं वमनार्थमध्यायो रेचनाय च।
द्रवद्रव्यविधिस्तद्वदन्नपानविधिस्तथा ॥१०॥
सूचनात् सूत्रणाच्चैव सन्धानाच्चार्थसन्ततेः।
षट्चत्वारिंशदध्यायं सूत्रस्थानं प्रचक्षते ॥११॥

(सूत्रस्थान के अध्यायों के क्रमानुसार नाम—) १ वेदोत्पत्ति, २ शिष्योपनयनीय, ३ अध्ययनसंप्रदानीय, ४ प्रभाषणीय, ५ अग्रोपहरणीय, ६ ऋतुचर्या, ७ यन्त्रविधि, ८ शस्त्रावचारणीय, ९ योग्यासूत्रीय, १० विशिखानुप्रवेशनीय, ११ क्षारपाकविधि, १२ अग्निकर्मविधि, १३ जलौकावचारणीय, १४ शोणितवर्णनीय, १५ दोषधातुमलक्षयवृद्धि विज्ञानीय, १६ कर्णव्यधबंधविधि, १७ आमपक्वैषणीय, १८ व्रणालेपनबंधविधि, १९ व्रणितोपासनीय, २० हिताहितीय, २१ व्रणप्रश्न, २२ व्रणस्रावविज्ञानीय, २३ कृत्याकृत्यविधि, २४ व्याधिसमुद्देशीय, २५ अष्टविधशस्त्रकर्मीय, २६ प्रनष्टशल्यविज्ञानीय, २७ शल्यापनयनीय, २८ विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीय, २९ विपरीताविपरीतदूतशकुन स्वप्ननिदर्शनीय, ३० पञ्चेन्द्रियार्थ विप्रतिपत्ति, ३१ छायाविप्रतिपत्ति, ३२ स्वभावविप्रतिपत्ति, ३३ अवारणीय, ३४ युक्तसेनीय, ३५ आतुरोपक्रमणीय, ३६ भूमिविप्रविभागविज्ञानीय, ३७ मिश्रक, ३८ द्रव्यसंग्रहणीय, ३९ संशोधनसंशमनीय, ४० द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीय, ४१ द्रव्यविशेष विज्ञानीय, ४२ रसविशेष विज्ञानीय, ४३ वमनद्रव्यविकल्प विज्ञानीय, ४४ विरेचनद्रव्यविकल्प विज्ञानीय, ४५ द्रवद्रव्यविधि, और ४६ अन्नपानविधि। आयुर्वेद के विषय विस्तार का दिग्दर्शन (सूचना) करने से, संक्षेप में (सूत्ररूप) वर्णन करने से तथा सर्व विषयों का ग्रन्थन (संधान) करने से इन छयालीस अध्यायों को सूत्रस्थान कहते हैं ॥१-११॥

वातव्याधिकमर्शांसि साश्मरिश्च भगन्दरः।
कुष्ठमेहोदरा मूढो विद्रधिः परिसर्पणम् ॥१२॥
ग्रन्थिवृद्धिक्षुद्रशूकभग्नाश्च मुखरोगिकम्।
हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानीति षोडश ॥१३॥

(निदानस्थान के अध्यायों के अनुक्रम से नाम—) १ वातव्याधिनिदान, २ अर्शोनिदान, ३ अश्मरीनिदान, ४ भगन्दर निदान, ५ कुष्ठनिदान, ६ प्रमेहनिदान, ७ उदरनिदान, ८ मूढगर्भनिदान, ९ विद्रधिनिदान, १० विसर्पनाडीस्तनरोग निदान, ११ ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डनिदान, १२ वृद्ध्युपदंशश्लीपद निदान, १३ क्षुद्ररोगनिदान, १४ शूकदोषनिदान, १५ भग्ननिदान, १६ मुखरोगनिदान।

रोगों के हेतु लक्षणादि का निर्देश होने के कारण इन सोलह अध्यायों का निदान स्थान है ॥१२-१३॥

वक्तव्य—हेतु-व्याधिजनक कारण। यथा—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम । लक्ष्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधय एभिरिति लक्षणानि-जिनसे व्याधियों का ज्ञान होता है, उनको लक्षण कहते हैं। अर्थात् लक्षण से यहाँ निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति समझना चाहिये। 'तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसंप्राप्तितः' (चरक निदान अ० १) । हेतु से रोगोत्पत्ति तथा रोग विज्ञान में सहायता मिलती है, अतः पूर्वरूपादिक से हेतु की विशेषता प्रतिपादन करने के लिये इसका स्वतन्त्र उल्लेख किया है । निदान शब्द की निरुक्ति—'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्'। अथवा 'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्'। अथवा 'निदीयते निबध्यते हेत्वादिपंचकमनेनेति निदानम्'॥

भूतचिन्ता रजःशुद्धिर्गर्भावक्रान्तिरेव च ।
व्याकरणं च गर्भस्य शरीरस्य च यत् स्मृतम् ॥१४॥
प्रत्येकं मर्मनिर्देशः सिरावर्णनमेव च ।
सिराव्यधो धमनीनां गर्भिण्या व्याकृतिस्तथा॥१५॥
निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा ।
विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि ॥१६॥

(शारीरस्थान के अध्याय—) १ सर्वभूत चिन्ताशारीर, २ शुक्रशोणित शुद्धि शारीर, ३ गर्भावक्रान्ति शारीर, ४ गर्भव्याकरण शारीर,५ शरीर संख्या व्याकरण शारीर,६ प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर, ७ सिरावर्णविभक्तिशारीर, ८ सिराव्यधविधिशारीर, ९ धमनीव्याकरणशारीर, १० गर्भिणीव्याकरणशारीर ।

ये शरीर के दश अध्याय महर्षि धन्वन्तरि ने वैद्यों तथा योगियों को शरीर का ज्ञान करने के लिये वर्णन किये हैं ॥१४-१६॥

द्विव्रणीयो व्रणः सद्यो भग्नानां वातरोगिकम् ।
महावातिकमर्शांसि साश्मरिश्च भगन्दरः ॥१७॥
कुष्ठानां महतां चापि मैहिकं पैडकं तथा ।
मधुमेहचिकित्सा च तथा चोदरिणामपि ॥१८॥
मूढगर्भचिकित्सा च विद्रधीनां विसर्पिणाम् ।
ग्रन्थिवृद्ध्युपदंशानां तथा च क्षुद्ररोगिकम् ॥१९॥
शूकदोषचिकित्सा च तथा च मुखरोगिणाम् ।
शोफस्यानागतानां च निषेधो मिश्रकं तथा ॥२०॥
वाजीकरं च यत् क्षीणे सर्वाबाधशमोऽपि च ।
मेधायुष्करणं चापि स्वभावव्याधिवारणम् ॥२१॥
निवृत्तसन्तापकरं कीर्तितं च रसायनम् ।
स्नेहोपयौगिकः स्वेदो वमने च विरेचने ॥२२॥
तयोर्व्यापच्चिकित्सा च नेत्रवस्तिविभागिकः ।
नेत्रवस्तिविपत्सिद्धिस्तथा चोत्तरवस्तिकः ॥२३॥
निरूहक्रमसंज्ञश्च तथैवातुरसंज्ञकः ।
धूमनस्यविधिश्चान्त्यश्चत्वारिंशदिति स्मृताः ॥२४॥
प्रायश्चित्तं प्रशमनं चिकित्सा शान्तिकर्म च ।
पर्यायास्तस्य निर्देशाच्चिकित्सास्थानमुच्यते ॥२५॥

(चिकित्सास्थान अध्यायों के क्रम से नाम—) १ द्विव्रणीयचिकित्सित, २ सद्योव्रणचिकित्सित, ३ भग्नचिकित्सित, ४ वातव्याधिचिकित्सित, ५ महावातव्याधिचिकित्सित, ६ अर्शचिकित्सित, ७ अश्मरीचिकित्सित, ८ भगन्दरचिकित्सित, ९ कुष्ठचिकित्सित, १० महाकुष्ठचिकित्सित, ११ प्रमेहचिकित्सित, १२ प्रमेहपिडकाचिकित्सित, १३ मधुमेहचिकित्सित, १४ उदरचिकित्सित, १५ मूढगर्भचिकित्सित, १६ विद्रधिचिकित्सित, १७ विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सित, १८ ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सित, १९ वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सित, २० क्षुद्ररोगचिकित्सित, २१ शूकरोगचिकित्सित,२२ मुखरोगचिकित्सित, २३ शोफचिकित्सित, २४ अनागताबाधप्रतिषेधनीयचिकित्सित, २५ मिश्रकचिकित्सित, २६ क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्सित, २७ सर्वोपघातशमनीयरसायन, २८ मेधायुष्कामीयरसायनचिकित्सित,२९ स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयरसायन, ३० निवृत्तसंतापीयरसायन, ३१ स्नेहोपयौगिकचिकित्सित,३२ स्वेदावचरणीयचिकित्सित,३३ वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सित, ३४ वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सित, ३५ नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सित, ३६ नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सित,३७ अनुवासनोत्तरवस्तिचिकित्सित,३८ निरूहक्रमचिकित्सित, ३९ आतुरोपद्रवचिकित्सित, और अन्तमें ४० धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सित, इस क्रम से चालीस अध्याय हैं।

प्रायश्चित्त, प्रशमन, चिकित्सा और शान्तिकर्म ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं। इनका विवरण इसमें करने के कारण इसको चिकित्सास्थान कहते हैं ॥१७-२५॥

वक्तव्य—पर्याय—एकार्थवाचक शब्द । प्रायश्चित्त—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपोनिश्चयसंयोगात प्रायश्चित्तमितीर्यते'॥ (हेमाद्रि)। प्रायश्चित्त से यहाँ दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का बोध हो सकता है। जिस प्रकार शारीरिक दोषों से उत्पन्न हुए रोगों का निवारण चिकित्सा द्वारा होता है, उसी प्रकार कर्मज दोषों से उत्पन्न हुए रोगों का निवारण प्रायश्चित्त द्वारा होता है। अथवा कर्मज व्याधियों का निवारण प्रायश्चित्त की भाँति चिकित्सा से होता है, इसलिये चिकित्सा को प्रायश्चित्त कह सकते हैं। 'प्रायश्चित्तम् इति भेषजसंज्ञा प्रायश्चित्तवद्भेषजस्याऽधर्मकार्यव्याधिहरत्वेन' (चक्रपाणिदत्त)।

अन्नस्य रक्षा विज्ञानं स्थावरस्येतरस्य च ।
सर्पदष्टविषज्ञानं तस्यैव च चिकित्सितम् ॥२६॥
दुन्दुभेर्मूषिकानां च कीटानां कल्प एव च ।
अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात् ॥२७॥

(कल्पस्थान के अध्याय—) १ अन्नपानरक्षाकल्प, २ स्थावरविषविज्ञानीय, ३ जङ्गमविषविज्ञानीय, ४ सर्पदष्टविषविज्ञानीय, ५ सर्पदष्टविषचिकित्सितकल्प, ६ दुन्दुभिस्वनीयकल्प, ७ मूषिककल्प, ८ कीटकल्प । इन आठ अध्यायों में विषचिकित्सा की कल्पना होने के कारण इनको कल्प (स्थान) कहते हैं ॥२६-२७॥

वक्तव्य—भेषज शब्द से यहाँ चिकित्सा अर्थ अभिप्रेत है—चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते, चिकित्सितं व्याधिहरं······विद्याद्भेषजनामानि । (चरक) ।

अध्यायानां शतं विंशमेवमेतदुदीरितम् ।
अतः परं स्वनाम्नैव तन्त्रमुत्तरमुच्यते ॥२८॥

(अब तक पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार) एक सौ बीस अध्यायों

का वर्णन इस प्रकार किया। अब यहाँ से आगे 'उत्तर' नाम से ही उत्तरतन्त्र का वर्णन किया जायगा ॥२८॥

अधिकृत्य कृतं यस्मात्तन्त्रमेतदुपद्रवान् ।
औपद्रविक इत्येष तस्याग्र्यत्वान्निरुच्यते ॥२९॥
सन्धौ वर्त्मनि शुक्ले च कृष्णे सर्वत्र दृष्टिषु ।
संविज्ञानार्थमध्याया गदानां तु प्रति प्रति ॥३०॥
चिकित्साप्रविभागीयो वाताभिष्यन्दवारणः ।
पैत्तस्य श्लैष्मिकस्यापि रौधिरस्य तथैव च ॥३१॥
लेख्यभेद्यनिषेधौ च छेद्यानां वर्त्मदृष्टिषु ।
क्रियाकल्पोभिघातश्च कर्णोत्थास्तच्चिकित्सितम्॥३२॥
घ्राणोत्थानां च विज्ञानं तद्गदप्रतिषेधनम् ।
प्रतिश्यायनिषेधश्च शिरोगदविवेचनम् ॥३३॥
चिकित्सा तद्गदानां च शालाक्यं तन्त्रमुच्यते ।

चूंकि उपद्रवों का विचार करने के लिये यह तन्त्र रचा गया है, इसलिये (उपद्रवाधिकारी) इस तन्त्र के प्रारम्भिक अध्याय को 'औपद्रविक' कहते हैं ॥२९॥ सन्धि, वर्त्म, शुक्ल, कृष्ण, सर्व और दृष्टि इनके रोगों का ज्ञान कराने के लिये एक एक अध्याय प्रत्येक के लिये है ॥३०॥ अध्यायों के नाम— १ औपद्रविक, २ सन्धिगतरोगविज्ञानीय, ३ वर्त्मगतरोगविज्ञानीय, ४ शुक्लगतरोगविज्ञानीय, ५ कृष्णगतरोगविज्ञानीय, ६ सर्वगतरोगविज्ञानीय, ७ दृष्टिगतरोगविज्ञानीय, ८ चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीय, ९ वाताभिष्यन्दप्रतिषेध, १० पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेध, ११ श्लेष्माभिष्यन्दप्रतिषेध, १२ रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेध, १३ लेख्यरोगप्रतिषेध, १४ भेद्यरोगप्रतिषेध, १५ छेद्यरोगप्रतिषेध, १६ पक्ष्मकोपप्रतिषेध, १७ दृष्टिगतरोगप्रतिषेध, १८ क्रियाकल्प, १९ नयनाभिघातप्रतिषेध, २० कर्णगतरोगविज्ञानीय, २१ कर्णगतरोगप्रतिषेध, २२ नासागतरोगविज्ञानीय, २३ नासागतरोगप्रतिषेध, २४ प्रतिश्यायप्रतिषेध, २५ शिरोरोगविज्ञानीय, २६ शिरोरोगप्रतिषेध। इस (छब्बीस अध्याय समूह) को शालाक्यतन्त्र कहते हैं ॥२९—३३॥

नवग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निषेधनम् ॥३४॥
अपस्मारशकुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक् ।
पूतनायास्तथाऽन्धाया मण्डिका शीतपूतना ॥३५॥
नैगमेषचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा ।
कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम् ॥३६॥

२७ नवग्रहाकृतिविज्ञानीय, २८ स्कन्दग्रहप्रतिषेध, २९ स्कन्दापस्मारप्रतिषेध, ३० शकुनिप्रतिषेध, ३१ रेवतीप्रतिषेध, ३२ पूतनाप्रतिषेध, ३३ अन्धपूतनाप्रतिषेध, ३४ शीतपूतनाप्रतिषेध, ३५ मुखमण्डिकाप्रतिषेध, ३६ नैगमेषप्रतिषेध, ३७ ग्रहोत्पत्ति, ३८ योनिव्यापत्प्रतिषेध । यह (सत्ताईसवें अध्याय से अड़तीसवें अध्याय तक १२ अध्याय) कौमारतन्त्र है और शारीरस्थान में भी कहा गया है ॥३४-३६॥

वक्तव्य—आयुर्वेद के शल्य शालाक्यादि आठों अंगों की व्याख्या (प्रथम अध्याय) देखने से यह विदित होगा कि प्रसूतितन्त्र जैसे महत्त्व के अंग का उल्लेख किसी भी अंग में नहीं किया गया है । अब प्रश्न यह है कि प्रसूतितन्त्र का समावेश आयुर्वेद के किस अंग में किया जावे। इस प्रश्न पर महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन अपनी प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ३५) में लिखते हैं—"इदञ्चात्रावधेयम् । 'कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्' इति सुश्रुतः । प्रसूतितन्त्रस्य गर्भिण्युपचारादिप्रयोजनकस्य तु नात्रान्तर्भावः। तस्य हि वैद्यके शारीर एवान्तर्भावः, शल्यतन्त्रे च मूढगर्भचिकित्सादेः। एवञ्च सर्वथा कौमारभृत्यात् पृथगेव प्रसूतितन्त्रं मन्तव्यम् ।"

परन्तु निम्न प्रमाणों के आधार पर प्रसूतितन्त्र का समावेश कौमारभृत्य में ही करना उचित है ।

१ 'कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम्' इस श्लोकार्ध की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—किमेतावदेव कुमारतन्त्रमथवाऽन्यदप्यस्तीति पृष्ट आह—'शारीरेषु च कीर्तितम्' इति । किं तत् शारीरेषूक्तम् ? तद्यथा—रजःशुद्धिः, गर्भावक्रान्तिरित्यादि । इससे रजःशुद्धि, गर्भावक्रान्ति इत्यादि अध्याय कौमारभृत्य में समाविष्ट होते हैं।

२ हारीतसंहिता में कुमारतन्त्र की निम्न व्याख्या दी गई है।

गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रमं तथा ।
बालानां रोगशमनं क्रिया बालचिकित्सितम् ॥

३ कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिखा है कि रानी के गर्भवती होने पर कौमारभृत्य उसकी देख रेख करता रहे और प्रसूति के समय पर यथाविधि निर्विघ्न प्रसव करावे । 'आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजनने च वियतेत' (प्रथमाधिकरण अ. १७)

इससे आयुर्वैदिक कौमारभृत्य में योनिव्यापच्चिकित्सा (Gynecology), प्रसूतितन्त्र (Midwifery) और बालरोगचिकित्सा (Paediatrics) इन का समावेश होता है। आधुनिक पाश्चात्त्य वैद्यक में ये तीन विभाग स्वतंत्र हैं।

ज्वरातिसारशोषाणां गुल्महृद्रोगिणामपि ।
पाण्डूनां रक्तपित्तस्य मूर्च्छायाः पानजाश्च ये ॥३७॥
तृष्णायाश्छर्दिहिक्कानां निषेधः श्वासकासयोः ।
स्वरभेदचिकित्सा च कृम्युदावर्तिनोः पृथक् ॥३८॥
विसूचिकाऽरोचकयोर्मूत्राघातविकृच्छ्रयोः ।
इति कायचिकित्सायाः शेषमत्र प्रकीर्तितम् ॥३९॥

३९ ज्वरप्रतिषेध, ४० अतिसारप्रतिषेध, ४१ शोषप्रतिषेध, ४२ गुल्मप्रतिषेध, ४३ हृद्रोगप्रतिषेध, ४४ पाण्डुरोगप्रतिषेध, ४५ रक्तपित्तप्रतिषेध, ४६ मूर्च्छाप्रतिषेध, ४७ पानात्ययप्रतिषेध, ४८ तृष्णाप्रतिषेध, ४९ छर्दिप्रतिषेध, ५० हिक्काप्रतिषेध, ५१ श्वासप्रतिषेध, ५२ कासप्रतिषेध, ५३ स्वरभेदप्रतिषेध, ५४ कृमिरोगप्रतिषेध, ५५ उदावर्तप्रतिषेध, ५६ विसूचिकाप्रतिषेध, ५७ अरोचकप्रतिषेध, ५८ मूत्राघातप्रतिषेध, ५९ मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेध । इतना कायचिकित्सा का शेष भाग (उन्तालीसवें अध्याय से उनसठवें अध्याय तक) यहां वर्णन किया गया है ॥३७-३९॥

अमानुषनिषेधश्च तथापस्मारिकोऽपरः ।
उन्मादप्रतिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते ॥४०॥

६० अमानुषोपसर्गप्रतिषेध, ६१ अपस्मारप्रतिषेध, ६२ उन्मादप्रतिषेध—इनको भूतविद्या कहते हैं ॥४०॥

वक्तव्य—इन अध्यायों में भूतविद्यान्तर्गत विषयों का संक्षेप से वर्णन किया है।

रसभेदाः स्व[1]स्थवृत्तिर्युक्तयस्तान्त्रिकाश्च याः ।
दोषभेदा इति ज्ञेया अध्यायास्तन्त्रभूषणाः ॥४१॥

६३ रसभेदविकल्प, ६४ स्वस्थवृत्त, ६५ तन्त्रयुक्ति; ६६ दोषभेदविकल्प । ऐसे ये उत्तरतन्त्र के भूषणरूप (प्रकीर्ण) अध्याय हैं ॥४१॥

श्रेष्ठत्वादुत्तरं ह्येतत् तन्त्रमाहुर्महर्षयः ।
बह्वर्थसंग्रहाच्छ्रेष्ठमुत्तरं चापि पश्चिमम् ॥४२॥

यह तन्त्र (सब तन्त्रों के) अन्त में होते हुए भी अनेक विषयों का संग्रह करने के कारण सबसे श्रेष्ठ है, और इसी श्रेष्ठता का विचार कर महर्षियों ने इसका नाम उत्तरतन्त्र रक्खा है ॥४२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में उत्तरतन्त्र की निरुक्ति प्रतिपादन की गई है । उत्तर शब्द का अर्थ श्रेष्ठ होता है–'उपर्य्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः' अमरः । यह तन्त्र सबसे श्रेष्ठ होने के कारण इसको उत्तरतन्त्र कहते हैं । श्रेष्ठता का कारण यह है कि इस एक तन्त्र में शालाक्य, कौमार, भूतविद्या, कायचिकित्सा और तन्त्रभूषणाध्यायादि विविध अंगों का संग्रह किया गया है । उत्तरतन्त्र की दूसरी भी निरुक्ति हो सकती है । परन्तु ऊपर जो अनुवाद किया है, उससे वह स्पष्ट नहीं दिखाई देती है । उत्तरं चापि पश्चिमम्–पश्चिमत्वाद्वा इदं तन्त्रमुत्तरम् । सबसे पीछे वर्णन हुआ, इस से भी इस तन्त्र को उत्तरतन्त्र कह सकते हैं ।

शालाक्यतन्त्रं कौमारं चिकित्सा कायिकी च या ।
भूतविद्येति चत्वारि तन्त्रे तूत्तरसंज्ञिते ॥४३॥
वाजीकरं चिकित्सासु रसायनविधिस्तथा ।
विषतन्त्रं पुनः कल्पाः शल्यज्ञानं समन्ततः ॥४४॥
इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम् ।
विधिनाऽधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा भुवि ॥४५॥

शालाक्यतन्त्र, कौमारतन्त्र, कायचिकित्सा और भूतविद्या ये चार विषय उत्तरतन्त्र में हैं ॥४३॥ वाजीकरण और रसायनविधि चिकित्सास्थान में वर्णन किये हैं; कल्पस्थान में विषतन्त्र वर्णन किया है और शल्यशास्त्र का ज्ञान सर्वत्र वर्णन किया है ॥४४॥ इस प्रकार आदिदेव (भगवान् धन्वन्तरि) का प्रकाशित किया हुआ यह अष्टाङ्गतन्त्र (सुश्रुतसंहिता) है । जो यथाविधि इसको पढ़कर अभ्यास करेंगे, वे पृथ्वी पर (मनुष्यों के) प्राण बचाने वाले होंगे ॥४५॥

वक्तव्य—शल्यज्ञानं समन्ततः–आयुर्वेद के अन्य अङ्ग जिस प्रकार एक आध स्थान में मर्यादित हुए हैं, वैसा शल्यांग किसी स्थान में मर्यादित नहीं है । उसका वर्णन सर्वतन्त्रों में किया गया है । आदिदेव का अर्थ भगवान् धन्वन्तरि–अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवः । इन श्लोकों में आयुर्वेद के आठों अंगों का समावेश सुश्रुतसंहिता में कैसा किया है, इसका वर्णन है । इससे 'शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतम्' श्लोक का अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

एतद्ध्यवश्यमध्येयम्, अधीत्य च कर्माप्यवश्यमुपासितव्यम्, उभयज्ञो हि भिषक् राजार्हो भवति ॥४६॥

इसको अवश्य पढ़ना चाहिये और पढ़कर क्रियाओं में भी अवश्य अभ्यास करना चाहिये । दोनों जानने वाला वैद्य राजा से संमानित होता है ॥४६॥

भवन्ति चात्र—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥४७॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो धार्ष्ट्याच्छास्त्रबहिष्कृतः ।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः ॥४८॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥४९॥

इस पर श्लोक कहे हैं कि—जो वैद्य केवल शास्त्र का जानने वाला है और क्रियाओं में निपुण नहीं है, वह रोगी के पास जाकर (चिकित्सा करने में) घबरा जाता है, जैसे कि भीरु पुरुष संग्राम में जाकर घबरा जाता है ॥४७॥ जो अपनी धृष्टता के कारण वैद्यक्रियाओं में निपुण है, परन्तु शास्त्र से अनभिज्ञ है, वह उत्तम वैद्यों में सम्मान योग्य नहीं है और राजा की ओर से प्राणदण्ड देने योग्य होता है ॥४८॥ शास्त्र और कर्माभ्यास में से केवल एक ही का अभ्यास किये हुए ये दोनों एक एक पंख वाले दो पक्षी की भाँति अपने (चिकित्सा के) काम में असमर्थ और अयोग्य होते हैं (जैसे एक पक्ष वाला पक्षी उड़ने के काम में असमर्थ होता है, वैसे केवल शास्त्र या कर्माभ्यास किया हुआ वैद्य अपनी चिकित्सा का काम करने में असमर्थ होता है) ॥४९॥

वक्तव्य—धाष्टर्य—केवल सर्वदा कर्म करने के कारण उत्पन्न हुआ प्रागल्भ्य । अज्ञानपूर्वक चिकित्सा करने वाले वैद्य को दण्ड देने का विधान कौटिलीय अर्थशास्त्र में मिलता है—'भिषजः प्राणाबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्वस्साहसदण्डः । कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यमः । मर्मवेधवैगुण्यकरणे दण्डपारुष्यं विद्यात् ।'
(चतुर्थ अधिकरण अध्याय १)

ओषध्योऽमृतकल्पास्तु शस्त्राशनिविषोपमाः ।
भवन्त्यज्ञैरुपहृतास्तस्मादेतान्[1] विवर्जयेत् ॥५०॥

मूर्ख वैद्यों से प्रयुक्त हुई अमृत के समान (प्राणदायक) ओषधियां भी शस्त्र, वज्र और विष के समान (प्राणदायक) हो जाया करती हैं, इसलिये इनका परित्याग करे ॥५०॥

वक्तव्य—यद्यपि ओषधि शब्द फलपाकान्त उद्भिज्ज द्रव्यवाचक है तथापि यहां चिकित्सोपयोगी समस्तद्रव्यवाचक समझना चाहिये । अनेक प्रकार की आपत्तियों का दिग्दर्शन करने के लिये शस्त्र, अशनि और विष की उपमा दी गई है । शस्त्र से शरीर के एकाध अंग के मर्मघात की आपत्ति बतलाई जाती है, वज्र से आकस्मिक मृत्यु की आपत्ति और विष से आकस्मिक मृत्यु और चिरकालानुबन्धी रोगोत्पत्ति की आपत्ति बतलाई जाती है । चरक में भी ऐसा ही लिखा है—'यथाविषं यथाशस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा । तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा' ॥ (सूत्र अ० १) । इस श्लोक में शास्त्र से अनभिज्ञ वैद्यों के विषय में कहा है । अगले श्लोक में कर्माभ्यास से अनभिज्ञ वैद्यों के विषय में कहा गया है ।

स्नेहादिष्वनभिज्ञा ये छेद्यादिषु च कर्मसु ।
ते निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्या नृपदोषतः ॥५१॥

---

[1] स्वस्थवृत्तं.

[1] एतौ.

छेद्य, भेद्य आदि शस्त्रकर्मों में और स्नेह स्वेदपूर्वक पंचकर्मों में जो वैद्य अनभिज्ञ हैं, वे मूर्ख वैद्य राजा के दोष के कारण लोभ से जनता के प्राणों का नाश कर देते हैं ॥५१॥

वक्तव्य—वैद्य के निष्पन्न हो जाने के पश्चात् जनता में चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व कर्म और शास्त्र की दृष्टि से उसकी ठीक जांच करना तथा चिकित्सक वैद्य से अज्ञानपूर्वक या ज्ञानपूर्वक असंगत चिकित्सा हो जाने पर उसको दण्ड देने का विधान करना राजा का या राजसंस्था का कर्तव्य है। चक्रदत्त अपनी टीका में लिखते हैं—निष्पन्नेन वैद्येन प्रजापालके राज्ञि आत्मा गुणतो दर्शनीयः । ततो राज्ञा परीक्ष्य वैद्यः प्रजारक्षार्थमनुमन्तव्य एष धर्मः । अनिष्पन्नवैद्यगणश्चिकित्सां कुर्वाणो लोकापकारतया राज्ञा शासनीयः । इस कर्तव्य धर्म का योग्य पालन न करना राजा का दोष समझना चाहिये। चरक में भी लिखा है कि इस प्रकार के अज्ञानी प्राणहारक वैद्यों का जनता में होना राजा का ही प्रमाद है—'अतो विपर्ययेण विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणानां भिषक्छद्मप्रतिच्छन्नाः कण्टकभूता लोकस्य प्रतिरूपकत्यक्तधर्माणो राज्ञां प्रमादाच्चरन्ति राष्ट्राणि ।' (सू० २९)

यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥५२॥

जैसे कि दो पहियों का रथ संग्राम में कार्य करने में समर्थ होता है, वैसे ही जो बुद्धिमान् वैद्य (शास्त्र और क्रिया) दोनों विषयों का पूर्ण जानने वाला है वह (आयुर्वेद का) प्रयोजन सिद्ध करने में समर्थ होता है ॥५२॥

वक्तव्य—**अर्थसाधन**—व्याधितस्य व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च । यहां मतिमान् शब्द सहेतुक प्रयुक्त हुआ है। मति का अर्थ सहज बुद्धि । अपनी सहज बुद्धि का उपयोग किये बिना चिकित्सा में सफलता नहीं मिल सकती है। यदि शास्त्र और कर्म रथ के दो चक्र होते हैं तो मति रथ का सारथि है, जिसके बिना रथ का अस्तित्व व्यर्थ है । चरक में लिखा है—'शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः । ताभ्यां भिषक सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति' ॥ (सू० अ० ९)

अथ वत्स ! तदेतदध्येयं यथा तथोपधारय मया प्रोच्यमानम्—अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाव्याकुलायोपस्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरुपदिशेत् पदं पादं श्लोकं वा; ते च पदपादश्लोका भूयः क्रमेणानुसंधेयाः, एवमेकैकशो घटयेदात्मना चानुपठेत्; अद्रुतमविलम्बितमविशङ्कितमननुनासिकं व्यक्ताक्षरमपीडितवर्णमक्षिभ्रुवौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत् । न चान्तरेण कश्चिद्व्रजेत् तयोरधीयानयोः ॥५३॥

हे वत्स सुश्रुत ! जिस विधि से यह (आयुर्वेद शास्त्र) पढ़ना चाहिए वह विधि मैं वर्णन कर रहा हूँ, तू श्रवण कर। पवित्र, उत्तरीय वस्त्र पहने हुए एकचित्त ऐसे उपस्थित हुए शिष्य को गुरु अध्ययन के समय यथाशक्ति पद, श्लोक का चरण या संपूर्ण श्लोक पढ़ावे। फिर पढ़ाये हुए पदपादश्लोकों का क्रम से सूक्ष्म निरूपण करें; इस प्रकार एक एक (श्लोक को या शिष्य को) पढ़ावे पश्चात् गुरु स्वयं पढ़े। न बहुत शीघ्रता से, न बहुत विलंब से, शंकारहित होकर, नासिकोच्चार वर्ज्य कर, स्पष्ट उच्चार करके, अक्षरों के ऊपर आवश्यकता से अधिक जोर न देकर, आंख, भ्रुकुटि, होंठ तथा हाथों करके किसी प्रकार का भाव प्रकट न कर, न बहुत ऊँचे स्वर से, न बहुत नीचे स्वर से पढ़े और पढ़ते समय गुरु और शिष्य दोनों के बीच में कोई न जावे ॥५३॥

वक्तव्य—अथ—नित्य आह्निक कर्म से निवृत्त होकर। उत्तरासङ्ग—प्रावार या कमर के ऊपर ओढ़ने का वस्त्र। अध्ययनकाल—अनध्याय वर्ज्य कर शेष दिनों में प्रातःकालादि समय। अनुसंधान—सूक्ष्म निरूपण या अन्वेषण। अविशङ्कित—गुरु के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भीति मन में न रखकर। न कश्चिद् व्रजेत्—पढ़ाई के समय शिष्य और गुरु के बीच में कोई आने जाने से दोनों का ध्यान उसी की तरफ़ आकर्षित होता है, जिससे गुरु के विषयनिरूपण में और शिष्य के विषयग्रहण करने में बाधा उत्पन्न होती है। इसलिये यह निषेध किया गया है । इस प्रकार अन्तरागमन होने पर शास्त्र के अनुसार अनध्याय करना पड़ता है। मनुस्मृति में लिखा है—

पशुमंडूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ (अ. ४-१२६)

भवतश्चात्र—

शुचिर्गुरुपरो दक्षस्तन्द्रानिद्राविवर्जितः ।
पठन्नेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥५४॥

पवित्र, गुरुभक्त, (अपने कार्य में) दक्ष होकर निद्रा और आलस्य छोड़कर जो शिष्य उपर्युक्त विधि से इस शास्त्र का अध्ययन करेगा, वह इसमें पारंगत हो जायगा ॥५४॥

वक्तव्य—निद्रावर्जित, रात्रि का पहला और अन्तिम याम (ब्राह्ममुहूर्त) में तथा दिन में निद्रा वर्जित करके।

वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे ।
तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः ॥५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽध्ययनसंप्र-
दानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

और शास्त्रान्त तक पढ़ चुकने पर वाणी की शुद्धता के लिये, अर्थविज्ञान के लिये, धाष्टर्य तथा कर्म में नैपुण्य उत्पन्न करने के लिये, कर्माभ्यास और (आरब्ध कार्य में) सिद्धि प्राप्त करने के लिये सदैव यत्न करता रहे ॥५५॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातः प्रभाषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से प्रभाषणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के प्रति किया ॥१॥

वक्तव्य—प्रभाषणमधीतशास्त्रस्य प्रकर्षेणार्थानुसधानपूर्वकं व्याख्यानम्। पढ़े हुए शास्त्र का अनुसंधानपूर्वक जो व्याख्यान होता है, उसे प्रभाषण कहते हैं।

अधिगतमप्यध्ययनमप्रभाषितमर्थतः खरस्य चन्दनभार इव केवलं परिश्रमकरं भवति ॥२॥

भवति चात्र—

यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य
चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥३॥

सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लेने पर भी यदि अर्थ का तत्त्वज्ञान न हो तो गर्दभ के चन्दन भार की भांति शास्त्र केवल (भार के समान) परिश्रमजनक होता है ॥२॥ जैसे चन्दन का भार उठाने वाला गदहा केवल भार को ही जानने वाला होता है और चन्दन के गुणों को नहीं जानता है, वैसे ही जो बहुत शास्त्र पढ़ लेने पर भी उनके अर्थों को नहीं समझते हैं वे गर्दभ के तुल्य (चन्दन के स्थान में शास्त्रों का) भार उठाने वाले होते हैं ॥३॥

तस्मात् सर्विंशमध्यायशतमनुपदपादश्लोकम[1]नुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च, कस्मात् ? सूक्ष्मा हि द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकदोषधातुमलाशयमर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिगर्भसंभवद्रव्यसमूहविभागास्तथा प्रनष्टशल्योद्धरणव्रणविनिश्चयभग्नविकल्पाः साध्ययाप्यप्रत्याख्येयता च विकाराणामेवमादयश्चान्ये सहस्रशो विशेषा ये विचिन्त्यमाना विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः, तस्मादवश्यमनुपदपादश्लोकम[2]नुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च ॥४॥

इस कारण से एक सौ बीस अध्यायों को एक एक पद, चरण और श्लोक को लेकर (गुरु को खूब) वर्णन करना चाहिये और (शिष्य को खूब) श्रवण करना चाहिये । क्योंकि (स्थावरादि) द्रव्य, (मधुरादि) रस, (गुर्वादि) गुण, (शीतोष्णादि) वीर्य, (मधुरादि) विपाक, (वातादि) दोष, (रसादि) धातु, (मूत्रादि) मल, (वातादि) आशय, मर्म, सिरा, स्नायु, संधि, अस्थि (शुक्रशोणितादि) गर्भोत्पत्तिजनक द्रव्यसमूह तथा नष्ट शल्य को निकालना, व्रण का निश्चय करना, भग्न के भेद, रोगों के साध्य याप्यादि भेद इत्यादिक और अन्य हजारों सूक्ष्म विशेष बातें होती हैं जिनका विचार करने पर निर्मल और विपुल बुद्धिवाले मनुष्यों की बुद्धि भी व्याकुल हो जाती है फिर अल्पबुद्धि मनुष्य की तो क्या गति है । इसलिये अवश्यमेव एक एक पद, पाद और श्लोक लेकर उसका खूब विवरण करना चाहिये तथा सुनना भी चाहिये ॥४॥

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानामर्थवशात्तेषां तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यं, कस्मात् ? नह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम् ॥५॥

भवन्ति चात्र—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥६॥

प्रयोजन के कारण जो अन्य शास्त्रों के (थोड़े) विषय इस शास्त्र में आगये हैं, उनका व्याख्यान उन शास्त्रों के विद्वानों से ही सुनना चाहिये । क्यों ? एक शास्त्र में (अन्य आवश्यक) सब शास्त्रों का समावेश करना असंभव है ॥५॥ केवल एक ही शास्त्र पढ़ने वाला मनुष्य उस शास्त्र के तत्वों को निश्चयपूर्वक ग्रहण नहीं कर सकता है, इसलिये चिकित्सक वैद्य को चाहिये कि वह (अन्य आवश्यक) शास्त्रों का अभ्यास करके आयुर्वेद शास्त्र को पढ़ ले ॥६॥

वक्तव्य—प्रत्येक शास्त्र में अन्य कई शास्त्रों के सिद्धान्तों और तत्त्वों का संबन्ध आता है । कोई भी शास्त्र स्वयं पूर्ण नहीं है, न प्रत्येक शास्त्र में अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों का विस्तार से विवरण किया जा सकता है । परन्तु जबतक संबंधित शास्त्रों से विद्यार्थी अपरिचित होता है, तबतक उससे उसके शास्त्र का योग्य आकलन नहीं हो सकता है । इसलिये विद्यार्थी को चाहिये कि वह दूसरे शास्त्रों के सिद्धान्तों का ज्ञान उन शास्त्रों के पंडितों से कर ले । आयुर्वेद का आकलन करने के लिये वेदान्त सांख्य वैशेषिक ज्योतिष व्याकरणादि शास्त्रों के मौलिक सिद्धान्तों से परिचित होना अत्यंत आवश्यक है । इनके सिवाय रसायनशास्त्र (Chemistry), भौतिकविज्ञान (Physics), उद्भिज्जशास्त्र (Botany), जन्तुशास्त्र (Zoology), जीवशास्त्र (Biology), जीवनरसायन (Biochemistry), मानसशास्त्र (Psychology), वंशशास्त्र (Science of heridity), आहारशास्त्र (Diacteties) इत्यादि अनेक शास्त्रों का थोड़ा परिचय आवश्यक है । इनमें से पहले चार शास्त्र अत्यन्त आवश्यक होने के कारण पाश्चात्त्य वैद्यक के पाठ्यक्रम में समाविष्ट किये गये हैं । सांप्रत आयुर्वेद के अध्ययन में प्राचीन सांख्य वैशेषिक दर्शनों के सिवाय रसायनशास्त्र, उद्भिज्जशास्त्र तथा पाश्चात्त्य वैद्यक के आवश्यक अंगों का भी समावेश करना अत्यन्त आवश्यक है । प्राचीन काल में अन्य शास्त्रों का परिचय स्वयं आचार्यों से करने की आवश्यकता थी । आजकल प्रत्येक शास्त्र के सुंदर ग्रंथ मिलते हैं, जिनका परिशीलन करने से अधिकांश काम हो जाता है और आचार्यों से पढ़ने की उतनी आवश्यकता नहीं होती है ।

शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत् ।
यः कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः ॥७॥

गुरुमुख से निकले हुए शास्त्र को जो ग्रहण कर अनेक बार उसकी उपासना करके कर्म करता है, वही वैद्य है । अन्य सर्व चोर हैं ॥७॥

वक्तव्य—आयुर्वेद यद्यपि उपवेद है तथापि निम्न कारणों से उसे शास्त्र कहते हैं—रोगान् शास्ति इति शास्त्रम्, आयुरारोग्यदानेन धर्मार्थकामादीनां शासनाद्वा शास्त्रम्, मरणात् त्रायत इति वा शास्त्रम् । उपासना—प्रभाषणपद्धति तथा तद्विद्यसंभाषापद्धति द्वारा अर्थ तत्त्व का निश्चय करना । वित्तापहरण तथा प्राणापहरण करने के कारण कुवैद्य चोर कहलाता है ।

१-२ °श्लोकार्धश्लोक°.

औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम् ।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रभाषणीयो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

औपधेनव तन्त्र, औरभ्र तन्त्र, सौश्रुत तन्त्र और पौष्कलावत तन्त्र इन चार तन्त्रों को अन्य सर्व शल्यतन्त्र के ग्रन्थों में प्रधान समझना चाहिये ॥८॥

वक्तव्य—ऊपर पाँचवें सूत्र और छठे श्लोक में सामान्य आयुर्वेदाध्ययन के लिये अन्य शास्त्रों की आवश्यकता दिखलाकर इस श्लोक में शल्यविज्ञान पढ़ने के लिये अन्य महत्त्व के शल्यतन्त्र के ग्रन्थ बतलाए गये हैं। अर्थात् उपलब्ध सुश्रुतसंहिता का योग्य अभ्यास करने के लिये उपर्युक्त चार तन्त्रों का परिशीलन जरूर करना चाहिये। ये चारों तन्त्र आज अनुपलब्ध हैं। इस श्लोक से यह भी सिद्ध होता है कि पुराना सुश्रुततन्त्र उपलब्ध सुश्रुतसंहिता से स्वतंत्र है; अन्यथा सुश्रुततन्त्र का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं थी।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः । २१८५

अथातोऽग्रोपहरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से अग्रोपहरणीय नामक अध्याय का वर्णन करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया है ॥१॥

वक्तव्य—अग्रोपहरणीय—शस्त्रकर्म करने के पूर्व जिन सामग्रियों को सुसज्ज रखकर काम करना पड़ता है उनके संबंध में लिखा हुआ अध्याय। 'कर्मणामग्रे उपहरणं येषां यन्त्रशस्त्रादीनां तान्यग्रोपहरणानि तान्यधिकृत्य कृतोऽध्यायोऽग्रोपहरणीयः'। (चक्र)

त्रिविधं कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मेति;
तद्व्याधिं प्रति प्रत्युपदेक्ष्यामः ॥२॥

कर्म तीन प्रकार का होता है—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात् कर्म। इनका उपदेश प्रत्येक व्याधि का वर्णन करते समय किया जायगा ॥२॥

वक्तव्य—यहाँ कर्म के जो तीन प्रकार बतलाये हैं, वे केवल शल्यचिकित्सा में ही होते हैं। इनमें से जो कर्म रोग का निवारण करता है, उसे 'प्रधानकर्म' कहते हैं। प्रधान कर्म करने के पूर्व उसके संबंध में जो कुछ भी उपकारक कर्म करना पड़ता है, उसे 'पूर्वकर्म' कहते हैं। प्रधानकर्म के पश्चत् उसकी पूर्ति करने के लिये या उससे होने वाले उपद्रवों का निवारण करने के लिये जो कर्म करना पड़ता है, उसे 'पश्चात्कर्म' कहते हैं। 'प्रधानकर्मफलानुवृत्तिकरं कर्म पश्चात्कर्म' (हाराणचन्द्र)। चिकित्सास्थान के पहले अध्याय में व्रण के साठ उपक्रम वर्णन किये हैं। इन में अपतर्पण से विरेचन तक द्वादशकर्म पूर्वकर्म में आते हैं; अष्टविध शस्त्रकर्म प्रधानकर्म में आते हैं और शेष पश्चात्कर्म में समाविष्ट होते हैं—लङ्घनादिविरेकान्तं पूर्वकर्म व्रणस्य च। पाटनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म तत् स्मृतम्। बलवर्णाग्निकार्यं तु पश्चात्कर्म समादिशेत्'॥ परंतु इस प्रकार उपक्रमों का पूर्वपश्चिमत्व निश्चित न समझकर प्रधानकर्मसापेक्ष समझना चाहिये। यथा लङ्घन प्रधानकर्म के पूर्व होने से पूर्वकर्म और पीछे होने से पश्चात् कर्म हो जाता है। आधुनिक शस्त्रकर्म के संबंध में भी उपर्युक्त तीन विभाग किये जाते हैं। लंघन, विरेचन, बस्ति इत्यादि सामान्य तथा शस्त्रकर्म के स्थान का विशोधन (Sterilization) इत्यादि विशेषकर्म पूर्वकर्म में आते हैं, और इसको 'प्रिपरेशन आफ दी पेशंट' (Preparation of the patient) कहते हैं। प्रधान कर्म में मुख्यशस्त्रक्रिया समाविष्ट होती है। उसे 'मेन आपरेशन' (Main operation) कहते हैं। पश्चात्कर्म में व्रणितोपचारादि उपाय तथा व्रणचिकित्सा आती है। इसे 'आफ्टर ट्रीटमेंट' (After treatment) कहते हैं। तद्व्याधिं प्रति—ये त्रिविधकर्म प्रत्येक व्याधि के संबंध में भिन्न भिन्न होते हैं; अतः इनका वर्णन प्रत्येक व्याधि वर्णन के समय किया जायगा, क्योंकि यहां उनका वर्णन करने से कोई लाभ नहीं है।

अस्मिन् शास्त्रे शस्त्रकर्मप्राधान्याच्छस्त्रकर्मैव
तावत् पूर्वमुपदेक्ष्यामस्तत्सम्भारांश्च ॥३॥

शल्यतन्त्र में शस्त्रकर्म की प्रधानता होने के कारण शस्त्रकर्म तथा उसकी सामग्रियों का वर्णन प्रारम्भ में करेंगे ॥३॥

तच्च शस्त्रकर्माऽष्टविधं; तद्यथा—छेद्यं, भेद्यं,
लेख्यं, वेध्यम्, एष्यम्, आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति।

वह शस्त्रकर्म आठ प्रकार का है—१ छेदन, २ भेदन, ३ लेखन, ४ वेधन, ५ एषण, ६ आहरण, ७ विस्रावण, और ८ सीवन ॥४॥

वक्तव्य—अष्टविधं—चरकसंहिता में दृढबल ने एषण और आहरण छोड़कर शेष छः शस्त्रकर्म निर्दिष्ट किये हैं—'पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा। प्रोञ्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥' (चिकित्सास्थान)। वास्तव में एषण और आहरण यन्त्रकर्म हैं, शस्त्रकर्म नही हैं। परन्तु अनेक बार छेदन भेदन करके एषण आहरण करना पड़ता है। इसलिये सुश्रुत ने इनका समावेश शस्त्रकर्म में किया है—'एषणाहरणे शस्त्रकर्मणि केचिन्न मन्यन्ते तथापि छित्त्वा भित्त्वाऽप्येषणाहरणे क्रियेते, अतोऽत्र शस्त्रकर्मणि निर्दिष्टे' (डल्हणटीका)। छेदन—काट के द्विधा करना यथा भगन्दर या शरीर से अलग करना यथा अर्श, चर्मकील इत्यादि (Excision)। भेदन—चीरना यथा फोड़ा विद्रधि इत्यादि (Incision)। लेखन—खुरचना यथा मांसकन्द इत्यादि (Scraping, Scarification)। वेधन—अल्पमुख शस्त्र से छेद करना यथा सिरावेध, मूत्रवृद्धि जलोदर इत्यादि (Puncturing)। एषण—शलाका द्वारा नाडी व्रणादियों का अन्वेषण (Probing, Exploration)। आहरण—बाहर खींच के निकालना (Extraction)। विस्रावण—रक्त लसिका पूय इत्यादि को चुवाना (Drainage)। सीवन—सीना या टाँकें लगाना (Suturing, stitching)। वाग्भट ने इन आठ कर्मों के अतिरिक्त निम्न पांच कर्म अधिक वर्णन किये हैं। यथा—१ उत्पाटन, २ कुट्टन, ३ मन्थन, ४ ग्रहण, ५ दहन—उत्पाटय पाटय सीव्यैष्यलेख्यप्रच्छन्नकुट्टनम्। छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः ॥ उत्पाटन—इसी को अष्टाङ्गसंग्रह में उद्धरण कहा है। कुट्टन—सुई की सहायता से त्वचा में छोटे छोटे छेद करना (Pricking)। मन्थन—मन्थ की सहायता

से मन्थन क्रिया द्वारा छेद करना (Drilling)। 'निरुद्धेऽस्थिनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते। नाडीं दत्त्वाऽस्थिनि भिषक् चूषयेत् पवनं बली' ॥ (सुश्रुत)। दहन—यन्त्र तथा शस्त्र की सहायता से दहन कर्म होता है। शस्त्र द्वारा जो होता है, उसे अँग्रेजी में 'कॉटरी नाईफ' कहते हैं (Cautery Knife)। आधुनिक काल में इस पद्धति द्वारा शस्त्रकर्म करने की प्रथा बहुत बढ़ गई है। सुश्रुत में भी इसका निर्देश किया गया है—'अग्नितप्तेन शस्त्रेण च्छिन्द्यात्' (चि. अ. २)।

अतोऽन्यतमं कर्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि[1]—यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निशलाकाशृङ्गजलौकालाबूजाम्बवौष्ठपिचुप्रोतसूत्रपत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकषायालेपनकल्कव्यजनशीतोष्णोदककटाहादीनि; परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तः ॥५॥

उपर्युक्त आठ शस्त्रकर्मों में से किसी कर्म करने की इच्छा वाले वैद्य को पहले ही नीचे लिखी सामग्री अपने पास तैयार रखनी चाहिये। जैसे-यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, सींग, जोंक, तोंबा, जांबवोष्ठ, रुई, वस्त्र, सूत, पत्ते, (व्रणबंधन के लिये) पट, मधु, घी, चरबी, दूध, तेल, संतर्पण द्रव्य, क्वाथ, लेप की ओषधियाँ, लुगदी, पंखा, ठंडा और गरम जल तथा कड़ाही। (इसके सिवाय रोगी के ऊपर) प्रेम करने वाले, स्थिर चित्त और बलवान् ऐसे परिचारक भी होने चाहिये ॥५॥

वक्तव्य—इस सूत्र का आशय यह है कि शस्त्रकर्म के लिये जो जो चीजें आवश्यक होंगी, वे सब पहले इकट्ठा कर शस्त्रकर्म करने के समय अपने समीप तैयार रखनी चाहिये। प्रत्येक शस्त्रकर्म में आवश्यक वस्तुएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं। ऊपर सर्वसाधारणतया आठों प्रकार के शस्त्रकर्मों में उपयोगी वस्तुओं की सूची दी गई है। जाम्बवोष्ठ—जम्बुफलसदृशमुखाग्र-कृष्णपाषाणरचिता वर्तिः। इसका उपयोग अग्नि और क्षार कर्म में होता है। पट—व्रण बांधने के लिये उपयोगी विविध प्रकार के पट (Bandages)। तर्पण—शस्त्रकर्मजन्य ग्लानि निवारक और तृप्तिकारक खाद्य पदार्थ, जैसे जलयुक्त सक्तुक्षीरादि या लस्सी। बलवान्—शस्त्रकर्म के समय रोगी को यन्त्रण करने की या कस कर पकड़ रखने की आवश्यकता प्राचीन काल में थी। इसलिये शल्यचिकित्सक के परिचारक में अन्य सर्वमान्य गुणों के अतिरिक्त शक्ति भी होनी चाहिये। इसलिये सुश्रुत में परिचारक के गुण वर्णन करते समय बल का भी निर्देश किया है—'स्निग्धो जुगुप्सुर्बलवान्'। रोगी की केवल शुश्रूषा करने के लिये बल की कोई आवश्यकता नहीं होती इसलिये चरक-संहिता में (सूत्र. अ. ९) परिचारक के गुणों में बल का निर्देश नहीं किया गया है—'उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने'॥ कार्य भिन्नता के कारण उत्पन्न होने वाले इस सूक्ष्म भेद का विचार करने पर ऊपर के बलवान् शब्द का अर्थ केवल 'शरीरबल संपन्न करना' युक्त है। 'बलवन्तः सर्वकार्येषु समर्थाः' यह जो अर्थ डल्हण की टीका में दिया गया है, वह अतिव्याप्त है।

ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु दध्यक्षतान्नपानरत्नैरग्निं विप्रान् भिषजश्चार्चयित्वा, कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनं लघुभुक्तवन्तं प्राङ्मुखमातुरमुपवेश्य यन्त्रयित्वा, प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्, अनुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात्, सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च; महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलान्तरं[1] त्र्यङ्गुलान्तरं वा शस्त्रपदमुक्तम् ॥६॥

फिर शुभ तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र पर दही, अक्षत, अन्नपान तथा रत्नादि से अग्नि, ब्राह्मण और वैद्यों का पूजन कराकर बलिदान, मंगलाचरण और स्वस्तिवाचन भी करके हलके भोजन किये हुए रोगी को पूर्वाभिमुख बिठला कर दृढ़ बंधवा कर वैद्य स्वयं पश्चिमाभिमुख होकर मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, धमनी आदि को बचाकर जहाँ तक पीप दिखाई दे वहाँ तक लोम की दिशा में शस्त्र प्रवेश करे और ज़ल्दी से एक बार शस्त्र निकाल ले; पाकस्थान बड़ा होने पर व्रण की लम्बाई दो या तीन अंगुल होनी चाहिये ॥६॥

वक्तव्य—भुक्तवन्तं—शस्त्रकर्मजन्य ग्लानि निवारण करने के लिये तथा शस्त्रजनित घाव से रक्त का स्राव थोड़ा कम करने के लिये रोगी को भोजन शस्त्रकर्म के पहले दिया जाता था। विशेष विवरण के लिये अध्याय १७ श्लोक १५ की टीका देखो। प्रत्यङ्मुखः—प्रायः शस्त्रकर्म पूर्वाह्ण में होने के कारण शस्त्रनिपातस्थान सुप्रकाशित करने के लिये रोगी को पूर्वाभिमुख रखने की पद्धति थी। इससे चिकित्सक को शस्त्रकर्म-स्थान का निरीक्षण करने में भी सौकर्य मिलता था। यदि कारणवश शस्त्रकर्म दो पहर करना हो तो रोगी को पश्चिमाभिमुख रखना चाहिये। इसीलिये आगे सिराव्यध (शारीर अ. ८) और अर्शचिकित्सा (चि. अ. ६) में दिशा का निर्देश न कर केवल सूर्याभिमुख लिखा है—'तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखं' 'फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदं'। यन्त्रयित्वा—प्राचीन काल में सार्वदैहिक संज्ञाहर ओषधि (General Anaesthetic) मालूम न होने से शस्त्रकर्म के समय शस्त्रनिपातजन्य वेदना के कारण रोगी के एक या सर्वांग की हरकत बंद करने के लिये उसको बलवान् परिचारकों से या डोरी (यंत्रणशाटक) से कसकर बांधने की आवश्यकता होती थी और यह यन्त्रण प्रत्येक शस्त्रकर्म के समय किया जाता था। यन्त्रणविधि न करने से शस्त्रकर्म के समय रोगी हिल जाने के कारण अन्य स्थान पर शस्त्र से घाव हो जाने की भीति होती है। मर्म—'मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपातास्तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति'। अनुलोमं—पाकस्थान में शस्त्र भीतर प्रवेश करने की दिशा नीचे से ऊपर की तरफ़ लोम की भाँति होनी चाहिये। इससे पूय का स्राव बाहर आने के लिये सुभीता होता है। इससे उलटा छेद करने से पूय बाहर आने में बड़ी दिक्कत होती है। हाराणचन्द्र अनुलोम का अर्थ 'यथायोग' करते हैं। द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वा—जब पाकस्थान जरा विस्तृत होता है, तब एक जगह में शस्त्रद्वारा छेद

---

[1] ०तव्यानि भवन्ति, तद्यथा.

[1] द्व्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं वा.

करने से पूय निर्गम निःशेष नहीं हो सकता है। इसलिये व्रण दो या तीन अङ्गुल मोटा रखने की जरूरत होती है। कभी कभी इससे भी अधिक मोटा व्रण करना पड़ता है। व्रण की लम्बाई पाकस्थान के विस्तार के अनुसार होनी चाहिये और गहराई पूय दर्शन तक होनी चाहिये। यहाँ अङ्गुल से केवल लम्बाई का बोध होता है। जब पाकस्थान अत्यन्त विस्तृत होता है तब केवल द्व्यङ्गुल परिमाण एक व्रण करने से काम नहीं होता, उस समय द्व्यङ्गुल या त्र्यङ्गुल परिमाण अनेक व्रण करने की आवश्यकता होती है। ये व्रण एक दूसरे से दो या तीन अंगुल की दूरी पर होने चाहिये। यह व्यावहारिक अनुभव अष्टाङ्गहृदय के निम्न श्लोक की टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—'पाके तु सुमहत्यपि। पाटयेद्द्व्यंगुलं सम्यग् द्व्यंगुलत्र्यंगुलान्तरम्' ॥ (सू. अ. २९)। 'पाके तु सुमहत्यपि पाटयेत् द्व्यंगुलं द्व्यंगुलपरिमाणं व्रणं सम्यक् कुर्यान्नाऽधिकम्। अंगुलद्वयमथवांङ्गुलत्रयमन्तरीकृत्य पुनरन्यं व्रणं कुर्यान्नत्वासन्नम्'। (अरुणदत्त)। संक्षेप में जब पाकस्थान छोटा हो तो शस्त्रद्वारा एक छेद करने से काम होता है, अधिक मोटा हो तो द्व्यंगुल परिमाण एक व्रण करने से काम होता है, और जब अत्यन्त विस्तृत हो तब दो या तीन अङ्गुल के अन्तर पर कई व्रण करने की आवश्यकता होती है।

तत्रायतो विशालः समः सुविभक्तो निराश्रय इति व्रणगुणाः[1] ॥७॥

भवतश्चात्र—

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ॥८॥

(व्रणों के गुण)—आयत, विशाल, सम, सुविभक्त और निराश्रय ये व्रण के गुण होते हैं ॥७॥ यही आशय श्लोक से कहते हैं—(आवश्यकता के अनुसार) लम्बा तथा गहरा, (तीक्ष्ण शस्त्रद्वारा) अच्छे प्रकार से चीरा हुआ (अङ्गुली मर्दन से) निष्पूय किया हुआ तथा सम्यक् पक्वावस्था के समय किया हुआ व्रण शस्त्रकर्म में प्रशस्त माना जाता है ॥८॥

वक्तव्य—आयतश्च विशालश्च—शोथविस्तार के अनुसार विस्तृत। यदि व्रण छोटा किया जाय तो भीतर की शुद्धि शीघ्र और ठीक नहीं होती और कभी कभी शुद्धि होने के पूर्व व्रण मुख बंद भी हो जाता है और फिर कुछ समय के पश्चात् वहां शोथ उत्पन्न होता है। सुविभक्तः—तीक्ष्णशस्त्र का प्रयोग न करने से प्रशस्तव्रण करने के लिये कई बार काटना पड़ता है। इससे त्वचा और मांस का अधिक नाश होता है। परिणाम यह होता है कि व्रण का संधान शीघ्र नहीं होता और भर जाने पर निशानी अधिक दिखाई देती है। निराश्रयः-अंगुलि मर्दन द्वारा जिसके भीतर पूय के लिये कोई आश्रय (Pockets) नहीं बचा हुआ है। प्राप्तकालकृतः—आमावस्था में चीरने से दोषों का उत्सर्ग पूरा नहीं होता और त्वचादिधातुओं का अधिक नाश होता है। पक्वावस्था के पश्चात् चीरने से दोष अन्य स्थान में प्रविष्ट होकर नाड़ी (Sinus) बनाते हैं। इस लिये ठीक पक्व स्थिति में किया हुआ।

शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथु।
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥९॥

निर्भयत्व, शीघ्र क्रिया करना, शस्त्र की तीक्ष्णता, पसीना न आना, हाथ पाँव न काँपना और चित्त अवैक्लव्य—ये गुण शस्त्रकर्म करने के लिये वैद्य में होने चाहिये ॥९॥

वक्तव्य—शौर्य—मानसिक निर्भयता जिससे शस्त्रकर्म करने के लिये एक प्रकार का उत्साह वैद्य में होता है। शस्त्रतैक्ष्ण्य—शस्त्र की तीक्ष्णता यद्यपि वास्तव में शस्त्र का गुण है तथापि प्राचीन काल में आजकल की भाँति तीक्ष्णादि गुणयुक्त उत्तम शस्त्र कंपनी के द्वारा बने बनाए न मिलने के कारण वैद्य को उत्तम शस्त्र की बनावट पर स्वयं ध्यान देना पड़ता था-'शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु। कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ॥' (अ. ८)। इसलिये वैद्य के ऊपर शस्त्र का तीक्ष्ण गुण आरोपित किया गया है। असंमोह—शस्त्रक्रिया में रक्तस्राव सदैव न्यूनाधिक मात्रा में होता है। कुछ लोग रक्त देखने से संमोहित या मूर्च्छित हो जाते हैं—'स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च। दर्शनादसृजः' ॥ इसलिये वैद्य ऐसा होना चाहिये जो रक्त देख कर संमोहित नहीं होता है। प्रत्यक्ष मूर्च्छा उत्पन्न होने की जरूरत नहीं है। खाली मन में घबराहट होने से भी शस्त्र कर्म ठीक नहीं हो सकता है।

एकेन वा व्रणेनाऽशुध्यमाने नाऽन्तरा बुद्ध्याऽवेक्ष्यापरान् व्रणान् कुर्यात् ॥१०॥

भवति चात्र—

यतो यतो गतिं[1] विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्याद्यथा दोषो न तिष्ठति ॥११॥

यदि एक व्रण से पाकस्थान की शुद्धि ठीक न हो जाय तो वैद्य अपनी बुद्धि से विचार कर पाकस्थान में कई और घाव करे ॥१०॥ जहां जहां (पूय की) गति तथा उभार मालूम हो वहां वहां शस्त्र से व्रण कर देना चाहिये जिस से पूय भीतर न उभरने पावे ॥११॥

वक्तव्य—गति—दोष की गति या प्रसार। 'यतो दोषगतिं विद्यात्' ऐसा भी पाठ है। दोष शब्द से यहां पूय समझना चाहिये 'पूय एव दोषशब्देनोच्यते, कारणे कार्योपचारात्'।-(डल्हण)।

तत्र भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेष्टकक्षाकुक्षिवङ्क्षणेषु तिर्यक् छेद उक्तः ॥१२॥

(चन्द्रमण्डलवच्छेदान् पाणिपादेषु कारयेत्।
अर्धचन्द्राकृतींश्चापि गुदे मेढ्रे च बुद्धिमान् ॥१३॥)

अन्यथा तु सिरास्नायुच्छेदनम्, अतिमात्रं वेदना, चिराद्व्रणसंरोहो, मांसकन्दीप्रादुर्भावश्चेति ॥१४॥

दोनों भ्रू, कपोल, कनपटी, मस्तक, आँखों के ऊपर का पपोटा, होठ, मसूड़े, बगल, कूँख और जंघा का जोड़—इन स्थानों में तिरछा छेद होता है ॥१२॥ हाथों और पाँवों में चन्द्रमंडल के समान गोल छेद करे और गुदा तथा लिंग में अर्ध चंद्राकृति छेद करे ॥१३॥ अन्यथा छेद करने से सिरास्नायु कट जाती है, अधिक वेदना होती है, व्रण भरने के लिये अधिक

---

[1] व्रणकर्मणि प्राशस्त्य°.

[1] यतो दोषगतिं.

दिन लग जाते हैं और मांस की गांठ निकल आती है ॥१४॥

मूढगर्भोदरार्शोऽश्मरीभगन्दरमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म कुर्वीत ॥१५॥

मूढगर्भ, उदररोग, बवासीर, पथरी, भगन्दर और मुख रोग में विना भोजन कराये शस्त्रकर्म करना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—शस्त्रकर्म करने के पूर्व रोगी को भोजन देना सब से उत्तम मार्ग है–'प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक्'। परन्तु उदर, मूढगर्भ और मुख रोग में भोजन न करना प्रशस्त होता है। कारण यह है कि प्रत्यावर्तन क्रिया से (Reflex action) वमन तथा हिक्का उत्पन्न होकर क्रिया में बाधा उत्पन्न होती है। अर्श, अश्मरी, भगन्दर में प्रत्यावर्तन से वमनादि उत्पन्न होने की विशेष संभावना न होने के कारण हलका भोजन करने में कोई आपत्ति नहीं होती है। अतः इन रोगों की शस्त्रक्रिया में रोगी को हलका भोजन देने के लिये कहा है। चिकित्सास्थान अध्याय ६–७–८ में इन रोगों का शस्त्रकर्म देखो। अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय में वाग्भट ने अर्श और भगन्दर का निर्देश नहीं किया है और सुश्रुत में भी इन रोगों की शस्त्रक्रिया करने के पूर्व रोगी को भोजन देने के लिये लिखा है। इस आधार पर हाराणचंद्र चक्रवर्ती अपनी टीका में लिखते हैं—केनचिदत्रार्शोभगन्दरावपि पठ्येते, तदयुक्तं, चिकित्सिते तयोः शस्त्रकर्मणः प्राक् भोजनविधानादेतदर्थानुवादिना वाग्भटेनाप्यपठितत्वाच्च'। परंतु जब अर्श और भगन्दर की शस्त्रक्रिया में भोजन करने से कोई आपत्ति नहीं उत्पन्न होती है तब अश्मरी की क्रिया में भी भोजन करने से आपत्ति उत्पन्न होने की व्यावहारिक संभावना (शास्त्रप्रामाण्य के सिवाय) नहीं दिखाई देती है। और डल्हणसंमत अश्मरी चिकित्सा के पाठ में 'भुक्तवन्तं' ऐसा पाठ भी मिलता है। वाग्भट संमतपाठ 'अभुक्तवन्तं' ऐसा है। इसलिये सुश्रुतसंहिता के वचनों का समन्वय करने के लिये 'अभुक्तवतः' का अर्थ 'विना भोजन किये या थोड़ा हलका भोजन करके' करना अधिक संगत होगा। मूढगर्भ, बद्धगुदोदर, परिस्राव्युदर और मुखरोगों के सिवाय अन्य रोगों की शस्त्रचिकित्सा में रोगी की स्थिति देख कर यदि थोड़ा भोजन देना उचित प्रतीत हो तो नव्य दृष्टि से उस में कोई आपत्ति नहीं आ सकती।

ततः शस्त्रमवचार्य शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य, समन्तात् परिपीड्याङ्गुल्या, व्रणमभिमृद्य(ज्य), प्रक्षाल्य कषायेण, प्रोतेनोदकमादाय, तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढामौषधयुक्तां नातिस्निग्धां नातिरूक्षां वर्तिं प्रणिदध्यात्, ततः कल्केनाच्छाद्य घनां कवलिकां दत्त्वा, वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्, वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत्, रक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत ॥१६॥

तदनंतर (व्रण से) शस्त्र को निकालकर रोगी को ठंडे पानी से सांत्वन करे, फिर घाव के चारों ओर (बाहर तथा भीतर से) अंगुली द्वारा दबाकर (शोधन द्रव्यकृत) क्वाथ से धोवे, फिर (व्रण के भीतर बचे हुए) क्वाथ जल को कपड़े से सोख कर तिलकल्क, मधु और घृत में (संशोधक) ओषधियों से बनी हुई न बहुत चिकनी न बहुत रूखी बत्ती व्रण में स्थापन करे, फिर व्रण को लुगदी से ढांक कर ऊपर मोटी गद्दी रखकर कपड़े की पट्टी से बाँध दे। अन्त में वेदनाहर और राक्षसनाशक ओषधियों से धूपन करे और राक्षसविनाशक मन्त्रों से (व्रणित की) रक्षा करे ॥१६॥

वक्तव्य—शीताभिरद्भिराश्वास्य–ठंडे पानी का उपयोग पिलाने के लिये तथा मुख आदि पर छिड़काने के लिये होता है। ठंडे पानी का बाह्याभ्यंतर उपयोग करने से रोगी की घबराहट तथा बेहोशी दूर हो जाती है। व्रणमभिमृद्य–बाहर की तरफ व्रण के आस पास दबाने से भीतर की सब पीप निकल आती है। परंतु कभी कभी पाकस्थान में अनेक पूयसंचय (Pus lobules Pus pockets) होते हैं, जिनका संबंध व्रण के साथ नहीं होता है। उस अवस्था में व्रण के भीतर अंगुली द्वारा इनकी खोज करके इनकी दीवाल तोड़कर इनका व्रण के साथ संबंध करना पड़ता है। इसलिए व्रण के भीतर भी अंगुली द्वारा अभिमर्दन करना जरूरी है। कषाय–शोधनकषाय। शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः। शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः॥ (सू० अ० २७)। नातिरूक्षां नातिस्निग्धां–बत्ती अतिस्निग्ध रखने से व्रण में आर्द्रता बढ़ती है और अतिरूक्ष बत्ती रखने से व्रण के किनारे घर्षित हो जाते हैं। यस्मादतिस्नेहात् क्लेदो, रौक्ष्याच्छेदः। (सू० अ० १८)। वर्ति—इसको विकेशिका भी कहते हैं। व्रण के भीतर वर्ति रखने से पीप का बाहर निकलना सुगम हो जाता है। वर्ति न रखने से भीतर का मवाद पूर्णतया निःशेष होने के पहले ही व्रण के किनारे मिल जाने की संभावना होती है। आजकल पाश्चात्त्य शस्त्रचिकित्सा में बारीक जाली (Gauze) जन्तुघ्न द्रव्य के घोल में भिगोकर उसकी बत्ती बनाकर व्रण में रखते हैं या रबड़ की नाली में छेद बनाकर (Drainage tube) उसको रखते हैं। जैसे जैसे व्रण का रोपण होता जाता है वैसे वैसे बत्ती की लंबाई दिन प्रति दिन घटानी चाहिए और अन्त में बत्ती का उपयोग छोड़ देना चाहिये। यदि व्रण गहरा न हो तो बत्ती की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये संग्रह में लिखा है–अवश्यं साशये व्रणे विकेशिकां दद्यात्। वाग्भट ने बत्ती का वर्णन किया है–'सपूतिमांसं सोत्सङ्गं सगतिं पूयगर्भिणम्। व्रणं विशोधयेच्छीघ्रं स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका'॥ कवलिका–पट्टी बाँधने के पहले व्रण को ढाँकने के लिये कपड़े की जो गद्दी बनाई जाती है उसे कवलिका कहते हैं। यह कवलिका मृदु, स्वच्छ और चिकने कपड़े की बनाई जाती है ताकि व्रण पर किसी प्रकार की रगड़ न मालूम हो। आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में कवलिका (Gauze), रुई या लिंट (Lint) की होती है। आज की भाँति प्राचीन काल में भी कवलिका तथा अन्य पदार्थ उष्णता तथा धूपन द्वारा निर्जीवाणु करके प्रयुक्त (Sterile) होते थे। वाग्भट ने लिखा है–'शुचिसूक्ष्मदृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः। धूपिता मृदवः श्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिताः॥' (अ० हृदय० सू० अ० २९)। वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्–पट्टी की गाँठ व्रण के ऊपर नहीं आनी चाहिये–'न च व्रणस्योपरि कुर्याद् ग्रंथिमाबाधकरं च'॥ (सू० अ० १७)। वेदनारक्षोघ्नैः–वेदनाघ्नानि रुजाघ्नानि, रक्षोघ्नानि राक्षसघ्नानि तैः। वेदनाघ्न—वेदनाहारक (Anodyne)।

ततो गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैर्लवणनिम्बपत्रविमिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्; आज्यशेषेण चास्य प्राणान् समालभेत ॥१७॥

फिर गुग्गुलु, अगर, राल, वच और सफेद सरसों के चूर्ण से तथा लवण और नीम की पत्ती घृत के साथ मिलाकर उनसे धूपन करे। शेष घृत का व्रणित के हृदयादि मर्म भागों पर मालिस करे ॥१७॥

वक्तव्य—इस सूत्र में निर्दिष्ट किये हुए द्रव्यों के धूप से रोगी का व्रण, व्रणोपचार में प्रयुक्त कवलिका, विकेशिका, पट्टादि वस्तुएँ, रोगी का कमरा, बिस्तरा, पहनने के कपड़े आदि सर्व चीजें शुद्ध करनी चाहिएँ। धूपन से दुर्गन्ध नष्ट होती है, रोगवाहक कृमि-कीटकादि हट जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं और विकारी जीवाणु मर जाते हैं। अँग्रेजी में धूपन को फ्यूमिगेशन (Fumigation) कहते हैं। आज इन कामों के लिये धूपन का उपयोग थोड़ा होता है चूंकि धूपन से जीवाणु निश्चित रूप से नहीं मर जाते हैं। अतः व्रणविशोधन के लिये कार्बोलिक अम्ल, क्लोरीन जैसे तीव्र जन्तुघ्न रासायनिक पदार्थों के घोल और पट्टी रुई इत्यादि के विशोधन के लिये जलबाष्प का उपयोग करते हैं। परन्तु धूपन का उपयोग रोगी के कमरे तथा कपड़ों की शुद्धि करने के लिये आज भी होता है। धूपन के लिये हाल में फ़ार्मेलिन, गंधक, क्लोरीन आदि तीव्र जन्तुघ्न द्रव्यों का उपयोग किया जाता है।

उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म कुर्यात्। तद्वक्ष्यामः—

कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च।
रक्षाकर्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥१८॥
नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः।
अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा ॥१९॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे[1] च ये चरन्ति निशाचराः।
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥२०॥
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्म्या दिव्या राजर्षयस्तथा।
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः ॥२१॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च।
सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥२२॥
उदानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्नवः।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥२३॥
कामांस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु।
प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥२४॥
चक्षुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः।
नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥२५॥
रेतस्त्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा।
आकाशं खानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥२६॥
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम्।
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्माऽऽत्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥२७॥
एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥२८॥
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति[2] देवाश्च कुर्वताम्।
(स्वस्ति[1] ते चन्द्रसूर्यौ च स्वस्ति नारदपर्वतौ।)
स्वस्त्यग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ॥२९॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्धतां तव।
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥३०॥
इति स्वाहा ॥
एतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्याव्याधिविनाशनैः।
मयैवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥३१॥

कलश में से (हाथ में) पानी लेकर (व्रणित के ऊपर) प्रोक्षण करके (निम्न मंत्रों से) रक्षाकर्म करे। रक्षाकर्म के मंत्र—कृत्याओं तथा राक्षसों का निवारण करने के लिये मैं रक्षाकर्म कर रहा हूँ, स्वयम्भु भगवान् इसमें सहायता करें ॥१८॥ नाग, पिशाच, गन्धर्व, पितर, यक्ष, राक्षस जो जो तेरे समीप होकर पीड़ा देते हैं, उनको ब्रह्मादिक देवता सदैव दूर करें ॥१९॥ पृथ्वी पर, आकाश में, दिशाओं में और घर में जो राक्षस विचरते हैं, वे तेरे नमस्कार से (संतुष्ट हुए) तेरी रक्षा करें ॥२०॥ ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि तथा सब पर्वत, नदी और समुद्र तेरी रक्षा करें ॥२१॥ अग्नि तेरी जिह्वा की रक्षा करे, वायु प्राणों की, सोम व्यान वायु की और पर्जन्य अपान वायु की रक्षा करे ॥२२॥ बिजली उदान वायु की, मेघ समान वायु की, इन्द्र बल की और मनु ग्रीवा की सिराओं तथा बुद्धि की रक्षा करें ॥२३॥ गन्धर्व कामों की, इन्द्र सत्य की, वरुण प्रज्ञा की, समुद्र नाभिमण्डल की रक्षा करें ॥२४॥ सूर्य आँखों की, दिशा कानों की, चन्द्रमा मन की, नक्षत्र रूप की और रात्रि छाया की रक्षा करें ॥२५॥ जल तेरे रेत की वृद्धि करें, ओषधि रोमावलि की रक्षा करें, आकाश तेरे शरीर के छिद्रों की रक्षा करे और पृथ्वी तेरे देह की रक्षा करे ॥२६॥ वैश्वानर तेरे शिर की, विष्णु पराक्रम की, पुरुषोत्तम पौरुष की, ब्रह्मा आत्मा की और ध्रुव दोनों भ्रुकुटियों की रक्षा करें ॥२७॥ ये ही (उपर्युक्त) देवता विशेष करके तेरे शरीर में नित्य वास करते हैं, वे सब निरन्तर तेरी रक्षा करें और तू दीर्घायु हो ॥२८॥ भगवान् ब्रह्मा तेरा कल्याण करे, सब देवता तेरा कल्याण करें, चन्द्र और सूर्य तेरा कल्याण करें और नारद तथा पर्वत तेरा कल्याण करें, अग्नि और वायु तेरा कल्याण करें, इन्द्र प्रभृति देवता तेरा कल्याण करें ॥२९॥ स्वयम्भु भगवान् की की हुई रक्षा तेरा कल्याण करे और तेरी आयु दीर्घ हो, तुम्हारे सब कष्ट शांत हो जावें और तू सदा के लिये व्यथारहित हो ॥३०॥ इन मन्त्रों को पढ़कर 'स्वाहा' शब्द उच्चारण करे। कृत्या और रोगों को नाश करने वाले इन वेदात्मक मन्त्रों द्वारा मुझ से रक्षा किया हुआ तू दीर्घायुष्य को प्राप्त हो ॥३१॥

वक्तव्य—कृत्या—कुपितमन्त्रिणोऽभिचारकर्मजनिता राक्षसी 'कृत्या' इत्युच्यते। अभिद्रु—पीड़ा देना। स्तनयित्नु—मेघ। खानि—शरीर के कर्ण नासादि छिद्र या इन्द्रियाँ। पौरुष—शिश्न। ईतिः—'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभा खगाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता[2] ईतयः स्मृताः'॥ सात प्रकार की ईति (उपद्रव) होती हैं। परन्तु यहाँ ईति से केवल सामान्य आपत्ति समझना चाहिये चूंकि

---

[1] °रीक्षे. [2] स्वस्ति नारदपर्वतौ.

[1] कचिन्नास्ति. [2] प्रत्यासन्नांश्च राजानः षडैते.

उपर्युक्त सात प्रकार की ईति से व्रणित का कोई खास संबंध नहीं होता है।

ततः कृतरक्षमातुरमागारं प्रवेश्य, आचारिकमादिशेत् ॥३२॥

फिर रक्षा किये हुए आतुर को उसके स्थान में ले जाकर आचार का उपदेश करे ॥३२॥

वक्तव्य—आचारिकम्-व्रणित के आहारविहार संबंधी स्वास्थ्यपोषक नियम। ये नियम स्वतंत्र रूप से उन्नीसवें अध्याय (व्रणितोपासनीय) में दिये हुए हैं।

ततस्तृतीयेऽहनि विमुच्यैवमेव बध्नीयाद्वस्त्रपट्टेन; न चैनं त्वरमाणोऽपरेद्युर्मोक्षयेत् ॥३३॥

फिर तीसरे दिन पट्टी को खोल कर (व्रण कषाय से धोवे और फिर) उसी भाँति कपड़े से बाँध दे; शीघ्रता करके दूसरे ही दिन पट्टी कदाचित् न खोले ॥३३॥

द्वितीयदिवसपरिमोक्षणाद्विग्रथितो व्रणश्चिरादुपसंरोहति, तीव्ररुजश्च भवति ॥३४॥

दूसरे दिन खोलने से व्रण में गाँठें पड़ती हैं, देरी से व्रण भरता है और वेदना भी अधिक होती है ॥३४॥

अत ऊर्ध्वं दोषकालबलादीनवेक्ष्य कषायालेपनबन्धाहाराचारान् विदध्यात् ॥३५॥

तीसरे दिन के पश्चात् दोष, काल, रोगी का बल देखकर (योग्य) कषाय, लेप, बन्ध, आहार और आचार का उपयोग (व्रण का पूर्ण रोपण होने के समय तक) करे ॥३५॥

न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्; स ह्यल्पेनाप्यपचारेणाभ्यन्तरमुत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति ॥३६॥

भीतर पूययुक्त व्रण का रोपण नहीं कर देना चाहिये। क्योंकि थोड़े ही अपचार (अपथ्य) से दोष भीतर जोर करके विकार पैदा कर देता है ॥३६॥

वक्तव्य—व्रण आवश्यकता से अधिक छोटा रखने से यह आपत्ति हमेशा उत्पन्न होती है। इसलिये, इसको दूर करना हो तो पाकस्थान में व्रण काफी लंबा होना चाहिये, ऐसे स्थान में होना चाहिये कि जहां से पूय का बाहर निर्गम आसानी से हो सके। व्रण में बत्ती या रबड़ की नाली रखनी चाहिये। इतनी सावधानता रखते हुए भी यदि व्रण का मुख, भीतर का पूय पूर्णतया निःशेष होने के पहले, बंद हो जाने की संभावना दिखाई दे तो व्रण के मुख को चीर कर थोड़ा मोटा कर देना चाहिये।

भवन्ति चात्र—

तस्मादन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद्व्रणम्।
रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत् ॥
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावत् स्थैर्योपसंभवात् ॥३७॥

इसलिये जो बाहर और भीतर से निर्दोष (शुद्ध) हुआ है, उसी व्रण का रोपण कर देना चाहिये। और व्रण रूढ होने के पश्चात् भी व्रण के स्थान की पूरी आरोग्यता जब तक न हो, तब तक अजीर्ण, व्यायाम, मैथुन, हर्ष, क्रोध, भय इत्यादिक का त्याग करे ॥३७॥

वक्तव्य—अन्तर्बहिःशुद्ध व्रण का लक्षण—'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः। अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥' (सू. अ. २३)। रूढव्रण का लक्षण—'रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम्। त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत्' ॥ (सू. अ. २३)

सम्यग् रूढ व्रण-स्थान में नये कोमल सेल तथा केशिकाओं द्वारा बना हुआ एक प्रकार का सूक्ष्म पिटिकावान् धातु (Granulation tissue) होता है। जब तक इसका रूपान्तर तान्तव धातु में (Fibrocicatricial tissue) नहीं होता है, तब तक व्रण-स्थान में मजबूती या स्थैर्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। इस विषय का विशेष विवरण सूत्रस्थान अध्याय २३ में किया जायगा। अष्टाङ्गसंग्रह में मैथुनादि वर्ज्य करने का काल छः मास लिखा है—'रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्। मासान् षट् सप्त वा नृणां विधिरेष प्रशस्यते' ॥

हेमन्ते शिशिरे चैव वसन्ते चापि मोक्षयेत्।
त्र्यहाद्‌द्व्यहाच्छरद्ग्रीष्मवर्षास्वपि च बुद्धिमान् ॥३८॥

बुद्धिमान् वैद्य हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु में तीसरे दिन तथा शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में दूसरे दिन व्रण खोले ॥३८॥

वक्तव्य—इस श्लोक में व्रण खोलने के सामान्य दिन बतलाये गये हैं। परन्तु वात पित्त कफ और रक्त दूषित व्रणों के अनुसार व्रण खोलने में जो विशेषता होती है, वह आगे १८ अध्याय में निम्न प्रकार से बतलाई गई है—'तत्र पैत्तिकं शरदि ग्रीष्मे द्विरह्नो बध्नीयात्, रक्तोपद्रुतमप्येवं, श्लैष्मिकं हेमन्तवसन्तयोस्त्र्यहात्, वातोपद्रुतमप्येवम्'।

अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक्।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥३९॥

अत्यन्त शीघ्रविनाशक रोगों में वैद्य इस (उपरोक्त) विधि का पालन करने की इच्छा न करे। परन्तु जलते हुए स्थान के समान जिस विधि से तुरन्त प्रतिकार हो, उस विधि को अवलम्बन करे ॥३९॥

वक्तव्य—पाकादिना अति अत्यर्थं पातयितुं शीलं येषां तेषु अतिपातिषु। अतिपाती—आशुकारी या आत्ययिक।

या वेदना शस्त्रनिपातजाता
तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता
कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन ॥४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्रोपहरणीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

शस्त्र लगने से मनुष्य के शरीर को जो तीव्र वेदना पीड़ा देती है, वह मुलहठी युक्त किञ्चित् उष्ण घी लगाने से शान्त हो जाती है ॥४०॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथात ऋतुचर्यमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से ऋतुचर्या नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—दो महीने का जो काल होता है, उसे ऋतु कहते हैं। एक वर्ष में छः ऋतु होते हैं। च का अर्थ आचरण या वर्तन है। मधुरादि षट् रसों का उत्कर्षापकर्ष और वातादि दोषों का संचय प्रकोप प्रशमन इनके संबंध में ऋतुओं की चर्या कैसी होती है, इसका व्याख्यान इस अध्याय में किया हुआ है। अतः इसको ऋतुचर्याध्याय कहते हैं।

कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः ॥२॥

जिसे काल कहते हैं वह समस्त ऐश्वर्ययुक्त है, किसी से उत्पन्न हुआ नहीं है, आदि मध्य और अन्त रहित है। (द्रव्याश्रित) रसों की व्यापत्ति और संपत्ति तथा प्राणियों का जीवन और मरण उस काल ही के आधीन है। वह सूक्ष्म कला भर भी (गतिमान् होने के कारण) ठहरता नहीं है या (संहार द्वारा) सर्व प्राणियों का संकलन या ग्रहण करता है; इसलिये उसे काल कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—मनुष्याणाम्–आयुर्वेद मनुष्याधिकारी शास्त्र होने के कारण मनुष्य शब्द का प्रयोग किया है। परंतु इससे समस्त प्राणिमात्र का बोध यहां लेना चाहिये। काल शब्द की निष्पत्ति 'कलाशब्दस्य ककाराकारौ लीधातोश्च लकारमादाय कालशब्दनिष्पत्तिः'। कला शब्द का ककार और आकार तथा ली धातु का लकार लेकर काल शब्द बनता है। समस्त जीव-सृष्टि का संकलन करता है, इसलिये काल कहते हैं—'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः'। भागवत में लिखा है—'कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः। प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो यथा पशून्'॥ हाराणचन्द्र 'सूक्ष्मामपि कलां लीयते' ऐसा पाठ लेते हैं और व्याख्यान करते हैं कि—सूक्ष्मामपि कलां कालांशविशेषं लीयते श्लिष्यति कालस्य सर्वमूर्तसंयोगित्वात्'। काल सर्वमूर्तसंयोगी (विभु) होने के कारण सूक्ष्मकला का भी ग्रहण करता है। इसलिये उसे काल कहते हैं। **संकलयति**—संहरणादे राशीकरोति भूतानीति वा कालः, सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयतीति वा कालः, कालयति–संक्षिपतीति वा कालः, मृत्युसमीपं नयतीति वा कालः। रसव्यापत्संपत्ती—रसयुक्त द्रव्यों की विपन्नता और संपन्नता।

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति ॥३॥

भगवान् सूर्य अपनी गति विशेष से उस संवत्सरात्मक काल का निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग—इस प्रकार विभाग करता है ॥३॥

वक्तव्य—संवत्सरात्मनः—संवत्सरः आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य महाकालस्य संवत्सररूपेण व्यवहारपथारूढस्येत्यर्थः। (हाराणचन्द्रः)। काल का निर्देश या खयाल हमेशा संवत्सर की दृष्टि से होने के कारण यहाँ व्यावहारिक भाषा में 'संवत्सरात्मनः' लिखा है। डल्हण लिखते हैं–भगवानादित्य इत्युपलक्षणं; तेन चंद्रोऽपि गृह्यते, निशाकरणत्वादिहेतुत्वात्। यहां सूर्य के साथ चंद्र का ग्रहण भी करना चाहिये क्योंकि शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष चंद्र की गति के कारण से ही हुआ करते हैं। गतिविशेषेण—वास्तव में यह सूर्य की गति नहीं है, पृथ्वी की है। पृथ्वी की एक गति अपने अक्ष के चारों ओर होती है, जिससे दिन और रात्रि उत्पन्न होते हैं और दूसरी गति सूर्य के चारों ओर परिक्रमा के स्वरूप की होती है, जिससे ऋतु, अयन और वर्ष उत्पन्न होते हैं।

तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाऽक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः ॥४॥

जितने समय में लघु अक्षर का उच्चारण हो, उसे अक्षिनिमेष कहते हैं। पंद्रह अक्षिनिमेष की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला, बीस और $\frac{१}{१०}$ कला का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र, पंद्रह अहोरात्र का एक पक्ष। पक्ष दो होते हैं—एक शुक्लपक्ष और एक कृष्णपक्ष। दोनों मिलकर एक मास होता है ॥४॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह (सूत्र० अ० ४) में जो कालप्रविभाग दिये हैं, उनमें थोड़ा अन्तर है। 'ताः (कलाः) सदशभागा विंशतिर्नाडिका, नाडिकाद्वयं मुहूर्तश्च ते तुल्यरात्रिंदिवे राशिभागे चत्वारः पदोनायामः। तैश्चतुर्भिरहोरात्रिश्च'। २० $\frac{१}{१०}$ कला=नाडिका, २ नाडिका=मुहूर्त, ३ $\frac{३}{४}$ मुहूर्त=याम, ४ याम=अहोरात्र। यहां काल के प्रविभागों का निमेष से अहोरात्र तक जो क्रम दिया है, वह केवल आयुर्वेद ग्रन्थों के लिये प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि मनुस्मृति (अ० १–६४), न्यायशास्त्र (न्यायकन्दली), ज्योतिषशास्त्र (भास्कराचार्य-सिद्धान्तशिरोमणि-कालमानाध्याय), कौटिलीय अर्थशास्त्र (अ० ४१) में जो क्रम दिया है, वह भिन्न है। इस से यह स्पष्ट होता है कि ये प्रविभाग सूर्यगतिकृत नैसर्गिक नहीं हैं। इस शंका का निवारण डल्हणाचार्य अपनी टीका में करते हैं–'ननु, लघ्वक्षरोंच्चारणादिना निमेषादयो विभज्यन्ते, तत्कथं भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेषादीनां विभागं करोतीत्युक्तम्? नैष दोषः, यतो ज्योतिषिका निमेषादिप्रविभागेन शङ्कुछायामागमोक्तामर्कगत्याऽपि प्रमाणयन्ति, सा तु न सर्वजनप्रसिद्धेति न निर्दिष्टा'। परन्तु ज्योतिषशास्त्र के साथ भी यहां निर्दिष्ट किये हुए प्रविभाग नहीं मिलते हैं। अतः यह शङ्का निवारण व्यर्थ है।

तत्र माघादयो द्वादश मासाः संवत्सरः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड्तवो भवन्ति; ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः; तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति ॥५॥

इस कालविभाग में माघादि द्वादश मास का संवत्सर होता है। दो दो महीने का एक एक ऋतु करके छः ऋतु होते हैं। वे शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत् और हेमन्त हैं। उनमें से माघ और फाल्गुन, शिशिर; चैत्र और वैशाख, वसन्त; ज्येष्ठ और आषाढ़, ग्रीष्म; श्रावण और भाद्रपद, वर्षा; आश्विन और कार्त्तिक, शरद्; और मार्गशीर्ष तथा पौष हेमन्त ऋतु होते हैं ॥५॥

त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः; तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते। उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः; तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते ॥६॥

सर्दी, गरमी और वर्षा इन्हीं से लक्षित होने वाले ये ऋतु चन्द्र तथा सूर्य के काल विभाग के कारण दो अयन में विभक्त होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। वर्षा, शरद् और हेमन्त तीनों का दक्षिणायन होता है। इन तीनों ऋतुओं में भगवान् चन्द्रमा बलवान् होता है, अम्ल लवण और मधुर रस (क्रम से) बलवान् होते हैं और उत्तरोत्तर सर्व प्राणियों का बल बढ़ता जाता है। शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म तीनों का उत्तरायण होता है और इन तीनों ऋतुओं में भगवान् सूर्य बलवान् होता है, तिक्त कषाय और कटु रस (क्रम से) बलवान् होते हैं और उत्तरोत्तर सर्व प्राणियों का बल घटता जाता है ॥६॥

वक्तव्य—शुचि और शुक्र मास के नाम में थोड़ा मतभेद है। यहां जिस अनुक्रम से महीने के नाम दिये हैं, उससे शुचि का अर्थ ज्येष्ठ महीना और शुक्र का अर्थ आषाढ़ महीना होना चाहिये। परन्तु कुछ लोग, चरकसंहिता में दृढबल और हाराणचन्द्र चक्रवर्ती शुचि का अर्थ आषाढ़ और शुक्र का अर्थ ज्येष्ठ करते हैं—'प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ'। (सिद्धिस्थान अ० ६)। दक्षिणायन विसर्ग भी कहलाता है। क्योंकि यह अयन पृथिवी को जलांश और प्राणियों को बल देता है—'विसर्गश्च यद्बलं विसृजत्ययम्'॥ (अष्टांगहृदय सू. अ. ३)। 'विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः'। (चक्रपाणिदत्त)। दक्षिणायन में भगवान् सूर्य हीनशक्ति होता है। उस का आग्नेय प्रभाव भी दिन छोटे होने के कारण थोड़े समय के लिये होता है। चन्द्र बलवान् होता है और रात्रि लंबी होने के कारण चन्द्र का शीतल प्रभाव अधिक काल तक होता है। मेघ वृष्टि करके पृथिवी का ताप हरण करते हैं और वायु भी स्निग्ध और शीत होता है। इन कारणों से दक्षिणायन में सौम्यता होती है। अम्ल, लवण और मधुर रस बलवान् होते हैं और प्राणियों का बल भी बढ़ता जाता है—'विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति, वर्षाशरद्धेमन्तेष्वृतुषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगत्यरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति'। (चरक. सू. अ. ६)। उत्तरायण आदान कहलाता है। क्योंकि उसमें पृथिवी का जलांश और मनुष्यों का बल घटता जाता है—'आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्' (अ. हृदय. सू. अ. ३)। आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं प्राणिनां च बलमित्यादानम्'। (चक्रपाणिदत्त)। उत्तरायण में सूर्य बलवान् होता है, अधिक काल तक उसका आग्नेय प्रभाव पृथिवी पर पड़ता है, दिन बड़े और रात्रि छोटी होने के कारण चंद्र का शीतल प्रभाव नगण्य सा होता है, हवा बड़ी शुष्क और तेज चलती है जिन के कारण पृथिवी का सौम्यांश तथा प्राणियों का बल घटता जाता है और तिक्त, कषाय और कटु रस अधिक बलवान् हो जाते हैं। 'तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेष्वृतुषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसान् तिक्तकषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति'। (चरक)। इन ऋतुओं में से हेमन्त और शिशिर ऋतु में उत्तम बल होता है, शरद् और वसन्त में मध्यम बल होता है और वर्षा तथा ग्रीष्म में अल्प बल होता है। यह बल की अल्पमध्योत्कृष्टता नैसर्गिक है। प्राणियों का बल आहार पर निर्भर है—प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च'। आहार के सेवन से शरीर में चार कार्य होते हैं, क्षति की पूर्ति, धातुओं की वृद्धि, उष्णता और शक्ति। मनुष्य उष्णरक्तक (Warm blooded or homio thermic) प्राणी है, जिसकी शरीर की उष्णता एक विशिष्ट अंश (९८.४ फै.) पर सदैव हुआ करती है। जाड़े के मौसिम में शरीर की उष्णता तथा बाह्य उष्णता में महदंतर होने के कारण शरीर से उष्णता का बहुत नाश होता है जिसकी पूर्ति करने के लिये मनुष्य अधिक अन्न सेवन करता है तथा व्यायाम भी करता है। दोनों कारणों से शरीर का बल बढ़ता जाता है। गरमी के मौसिम में बाह्य उष्णता शारीरिक उष्णता के बराबर या उससे भी अधिक होती है, जिससे उष्णतोत्पादक पदार्थों का सेवन मनुष्य नहीं करता है तथा व्यायामादि का भी सेवन छोड़ देता है जिससे उसका शरीर सुस्त तथा निर्बल हो जाता है। वसन्त और शरद् ऋतु में बाह्य उष्णता मध्यम होने के कारण बल भी मध्यम होता है। इस नैसर्गिक बल के उत्कर्षापकर्ष के संबंध में चरक में लिखा है—'आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्। मध्ये मध्यबलं त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्'॥ (सू. अ. ६)। चन्द्रादित्ययोः कालविभागकरत्वात्—चंद्र और सूर्य अपने क्लेदन और शोषण प्रभाव द्वारा संवत्सरात्मक काल के सौम्य (दक्षिणायन) और आग्नेय (उत्तरायण) दो प्रविभाग बनाते हैं। इसलिये प्रभाव की दृष्टि से दोनों का निर्देश किया गया है। गति की दृष्टि से अयनोत्पत्ति में केवल सूर्य कारण है। ज्योतिषशास्त्रदृष्ट्या सूर्य स्थिर होता है और पृथिवी गतियुक्त होती है, जो अपनी एक प्रकार की गति से रात्रि और दिवस और दूसरी प्रकार की गति से अयन और वर्ष उत्पन्न करती है। परन्तु व्यवहार में उलटा दिखाई देने के कारण पृथिवी की गति सूर्य के ऊपर आरोपित हुई है।

भवति चात्र—

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ॥७॥

चन्द्रमा पृथिवी को आर्द्र करता है और सूर्य शुष्क करता है और दोनों का आश्रय लेकर वायु प्रजा का पालन करता है ॥७॥

वक्तव्य—प्रजा का पालन आहार से होता है और आहार की पालनशक्ति द्रव्यों के भीतरी रसों पर निर्भर होती है। इन रसों की उत्तम अभिनिवृत्ति केवल चन्द्र के क्लेदन से या सूर्य के शोषण से नहीं हो सकती। उसके लिये वायु की भी आवश्यकता होती है। इसलिये चरक में लिखा है—'तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते'। (सू. अ. ६)। वायु योगवाही होने के कारण चन्द्र तथा सूर्य दोनों को अपने क्लेदन और शोषण के कार्य में मदद करता है—'योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्'॥ (च. चि. अ. ३)। इसके सिवाय वायु के भी स्वतन्त्र कार्य होते हैं, जो प्रजापालन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं—'सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, उद्भेदनं चौद्भिदानां, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, बीजाभिसंस्कारः, शस्याभिवर्धनम्, अविक्लेदोपशोषणे' इत्यादि। (च. सू. अ. १२)। इससे यह स्पष्ट है कि वायु प्रजापालन में सूर्य और चन्द्र की भाँति बड़ा भाग लेता है।

अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति, ते तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते; स एष निमेषादिर्युगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्रमुच्यत इत्येके ॥८॥

और ये दोनों अयन (दक्षिणायन और उत्तरायण) मिल कर एक वर्ष होता है। पाँच वर्ष की युगसंज्ञा होती है। निमेष से लेकर युग तक चक्र की भाँति परिवर्तन करने वाले इस काल को कोई लोग कालचक्र कहते हैं ॥८॥

वक्तव्य—युग—यहाँ युग का जो काल बतलाया गया है, वह पारिभाषिक समझना चाहिये—'कालचक्रन्तु वर्षाणां पञ्चानां संप्रवर्तते। युगसंज्ञा च दैवज्ञैस्तत्र संपरिकीर्तिता'॥ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी पांच वर्ष का ही युग माना है—'पञ्चसंवत्सरो युगमिति'। (अ. ४१)।

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षडृतवो भवन्ति, दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तं; ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः; तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्त्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति ॥९॥

यहाँ तो (वर्षविभाग में) वात पित्त कफ इन दोषों के संचय प्रकोप और प्रशम निमित्त वर्षा, शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् इस भाँति छः ऋतु होते हैं। वे भाद्रपद से प्रारम्भ कर दो दो मास लेने से बन जाते हैं। जैसे—भाद्रपद आश्विन, वर्षा; कार्त्तिक मार्गशीर्ष, शरत्; पौष माघ, हेमन्त; फाल्गुन चैत्र, वसन्त; वैशाख ज्येष्ठ, ग्रीष्म; आषाढ़ श्रावण, प्रावृट् ॥९॥

वक्तव्य—इस सूत्र में संवत्सर के छः ऋतुओं की भिन्न रचना बतलाई है। सूत्र चार में प्राणियों का बल तथा रसोत्पत्ति की दृष्टि से ऋतुओं का क्रम दिया था; यहाँ वातादि दोषों का संचय प्रकोप प्रशमन की दृष्टि से दिया है। भौगोलिक दृष्टि से भी यह भिन्नक्रम हो सकता है। भारतवर्ष में शीतप्रधान और वर्षाप्रधान दो भूविभाग होते हैं। वर्षाप्रधान भाग में प्रावृट् विशिष्ट ऋतुक्रम और शीतप्रधान भाग में शरद् विशिष्ट ऋतुक्रम होता है। यथा—'भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्। तेन प्रावृड्वर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ॥ गङ्गाया उत्तरे कूले हिमवदंबुसङ्गमे। भूयः शीतमतस्तेषां हेमन्तशिशिरावृतू'॥ (काश्यप)। परंतु इस भौगोलिक दृष्टि से इस अध्याय में प्रावृडादि क्रम का उद्देश्य नहीं दिया है। इसका उद्देश्य संशोधन विषयक है। चक्रपाणिदत्त चरक की टीका (विमानस्थान अ. ८) में स्पष्ट लिखते हैं—'एतच्च न, अत्र 'संशोधनमधिकृत्य' इति वचनात्। यदि देशकृतोऽयं भेदः स्यात्, तदा तमेव भेदकं ब्रूयात्, न संशोधनम्। तेन काश्यपोक्तदेशभेदेन प्रावृडादिक्रमो न तावदिहाभिमतः'॥ अधिक विवरण के लिये सूत्र १३ की टीका देखो। कभी कभी क्षयमास तथा अधिक मास संवत्सर में आ जाता है। उस समय उपरोक्त महीनों के अनुसार ठीक विभाग नहीं हो सकता। इसलिये शार्ङ्गधर में सूर्यसंक्रान्ति के अनुसार ऋतुक्रम बतलाया है—'ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः, प्रावृण् मिथुनकर्कटौ। सिंहकन्ये स्मृता वर्षा, तुलावृश्चिकयोः शरत्। धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो, वसन्तः कुम्भमीनयोः'॥ (प्रथम खण्ड)। प्रावृट् और वर्षा का भेद—'प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः। तस्यानुबंधो वर्षाः'। (चरक. वि. अ. ८)।

तत्र, वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चा[1]प्रसन्नाः क्षितिमलप्रायाः, ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां[2] विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसंचयमापादयन्ति; स संचयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीन् जनयति ॥१०॥

उन ऋतुओं में से वर्षा में ओषधियाँ नवीन और अल्पशक्तिक होती हैं, जल दूषित तथा भूमिस्थ सड़े गले पदार्थों से युक्त होता है। ये ही ओषधियाँ, जब कि आकाश मेघाच्छादित और पृथिवी गीली हो, उपयोग में लाने से क्लिन्न देहवाले तथा शीत (प्रकुपित) वात के कारण मन्दाग्नि वाले मनुष्यों में विदाह उत्पन्न करती हैं और विदाह के कारण पित्त संचित करती हैं। फिर वही पित्त का सञ्चय शरद् ऋतु में जब आकाश निरभ्र हो जाता है, कीचड़ सूख जाती है, तब सूर्य किरणों से पिघला हुआ पित्त के रोग उत्पन्न करता है ॥१०॥

वक्तव्य—सूत्र आठ में दोषों की दृष्टि से जो भिन्न क्रम बतलाया है उसके अनुसार मनुष्यों के शरीर में वातादि दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशमन निसर्गतः कैसा हुआ करता है, उसका वर्णन सूत्र ९-१०-११ में किया है। ओषधि—वर्षाऋतु प्रारंभ होने के बाद इकट्ठा की हुई वनस्पत्यादि औद्भिद द्रव्य। वर्षा ऋतु के पहले इकट्ठा की हुई यव गोधूमादि ओषधियां इससे अभिप्रेत नहीं हैं, यद्यपि डल्हण अपनी टीका में इसका भी समावेश करता है—'ननु वर्षासु गोधूमादयः पुरातना एव भवन्ति,

---

[1] ०श्चाप्रशान्ताः. [2] ०विष्टब्धाग्नीनां.

कथमभिनवा इत्युच्यते ? नैष दोषः, गोधूमचणकशाल्यादयोऽन्तःसूक्ष्मजलप्रवेशान्म्रदिमानमुपगता अनवा अपि तरुण्य इत्युच्यन्ते'। परन्तु प्रावृट् तथा वर्षा ऋतु के आचरण में इनका सेवन करने के लिये लिखा है—'यवषष्टिकगोधूमान् शालींश्चाप्यनवांस्तथा। हर्म्यमध्ये निवाते च भजेत्।' (सु. उ. अ.६४)। 'अग्निसंरक्षणवता यवगोधूमशालयः। पुराणा जाङ्गलैर्मांसैर्भोज्याः' । (चरक. सू. अ. ६)। इसलिये पिछले साल के यवगोधूमादिक का समावेश तरुण ओषधियों में करना शास्त्रविरुद्ध होता है—'शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां शीतेन कुपितो वातः शीतवातः (शारीरिकदोषः), तेन मन्दीकृताग्नीनाम्'। सर्दी के कारण शरीरस्थ वात के प्रकोप से अग्निमान्द्य उत्पन्न हुए लोगों में ठंडी हवा से भीतर का अग्नि मंद होने के स्थान में अधिक तीव्र होता है—'शीते शीतानिलस्पर्शसंरुद्धो बलिनां बली। पक्ता भवति हेमन्ते मात्राद्रव्यगुरुक्षमः'॥ (चरक)। इसलिये यहां वात का अर्थ शरीरस्थ दोष करना चाहिये।

ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रसन्नाः स्निग्धा अत्यर्थं गुर्व्यश्च, ता उपयुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद्भानोः सतुषारपवनोपस्तम्भितदेहानां देहिनामविदग्धाः स्नेहाच्छैत्याद्गौरवादुपलेपाच्च श्लेष्मसंचयमापादयन्ति; स संचयो वसन्तेऽर्करश्मिप्रविलायित ईषत्स्तब्धदेहानां देहिनां श्लैष्मिकान् व्याधीन् जनयति॥११॥

वे ही ओषधियां हेमन्त ऋतु में समय के परिणाम से परिपक्ववीर्य, बलवान्, अत्यर्थ स्निग्ध और भारी हो जाती हैं तथा जल भी स्वच्छ, स्निग्ध और भारी हो जाता है। वे ही ओषधियाँ उपयोग करने पर सूर्य के शक्तिहीन किरणों के कारण और स्वयं मधुर स्निग्ध शीतल, गुरु और चिकनी होने के कारण हिमयुक्त ठंडी हवा से स्तम्भित देह वाले प्राणियों में कफ का संचय करती हैं। फिर वही कफ का संचय वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों से पिघला हुआ किंचित् स्तब्ध देह वाले प्राणियों में कफ की व्याधियाँ उत्पन्न करता है॥११॥

वक्तव्य—आपश्च प्रसन्नाः—जल की प्रसन्नता चन्द्र सूर्य की किरणों से, काल परिणाम से और अगस्ति के प्रभाव से उत्पन्न होती है। 'दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशि चंद्रांशुशीतलम्। कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम्'॥ (चरक)। यहाँ ओषधियों तथा जल का स्निग्धत्व और गुरुत्व मधुरता उत्पन्न होने के कारण समझना चाहिये। मधुर रस अन्य रसों से अधिक स्निग्ध तथा गुरु है—'स्निग्धानां मधुरः परः। स्वादुर्गुरुत्वादधिकः'॥ (चरक)। अविदग्धाः—मधुरपाकप्राप्ताः॥

ता एवौषधयो निदाघे निःसारा रूक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमानाः सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाद्वैशद्याच्च वायोः संचयमापादयन्ति; स संचयः प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातवर्षेरितो वातिकान् व्याधीन् जनयति। एवमेष दोषाणां संचयप्रकोपहेतुरुक्तः॥१२॥

वे ही ओषधियाँ ग्रीष्म ऋतु में निर्बल, रूक्ष और हलकी हो जाती हैं तथा जल भी। वे उपयोग करने से सूर्य के प्रचण्ड ताप से शोषित देहवाले मनुष्यों में (अपनी) रूक्षता, लघुता और निःस्नेहता के कारण वायु का संचय करती हैं। फिर वही वायु का संचय प्रावृट् ऋतु में पृथिवी गीली हो जाने पर क्लिन्न देह वाले प्राणियों में शीत वायु और वर्षा से उत्तेजित होकर वात के रोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह वातादि दोषों के संचय और प्रकोप का हेतु वर्णन किया गया है॥१२॥

वक्तव्य—निःसाराः—अल्पवीर्य इसलिये निर्बल तथा जलांशरहित। रूक्षाः—स्नेहभागरहित। वैशद्यात्—पिच्छिलत्व रहित होने के कारण।

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्॥१३॥

जो दोष वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म में संचित होकर शरद्, वसन्त और प्रावृट् ऋतु में प्रकुपित हुए हैं, उनका संशोधन करना चाहिये॥१३॥

वक्तव्य—प्रकुपितानां—प्रकोपेण कुपितानाम्। ऋतु स्वभाव के कारण संचित दोषों का संशोधन उनका पूर्ण प्रकोप होने के समय करना योग्य होता है। उस समय के पूर्व संशोधन करने से वे दोष फिर कालस्वभाव के कारण संचित हो जाते हैं। मिथ्याहार विहारादि अन्य कारणों से संचित दोषों का संशोधन चयावस्था में ही करना स्वास्थ्यकर होता है। क्योंकि प्रकोपादि अन्य अवस्थाओं में वे बलवत्तर हो जाते हैं और शरीर के बाहर निकालने में कठिनाई भी बहुत हो जाती है—

'चय एव जयेद्दोषम्'॥ (वाग्भट)।

'संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः। ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः'। (सुश्रुत)।

पूर्ण प्रकोप के समय दोष पक्व हो जाने के कारण उनका निर्हरण सौकर्य से और निःशेषतया हो जाता है। फिर संचय होने की भीति नहीं रहती है और वह काल ऐसा होता है कि संशोधन की आपत्तियाँ भी होने की संभावना बहुत कम होती है। इसलिये चरक में लिखा है—

तत्र साधारणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु; साधारणलक्षणा हि मन्दशीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्त्यविकल्पाश्च शरीरौषधानाम्, इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद्दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरौषधानाम्'। (वि. अ. ८)।

उपर्युक्त विवेचन से वात का निर्हरण श्रावण मास में, पित्त का मार्गशीर्ष मास में और कफ का चैत्र मास में होना चाहिये—'माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः। सहस्यप्रथमे चैव हारयेद् दोषसंचयम्'॥ (च. सू. अ. ७)।

वाग्भट ने भी मार्गशीर्ष के स्थान में पित्त संशोधन के लिये कार्त्तिक का निर्देश किया है—'श्रावणे कार्त्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्'॥

ऊपर जो दो ऋतु विभाग वर्णन किये हैं। उनका सुलभ ज्ञान करने के लिये नीचे नकशा दिया है—

---

१ देहिनां.

द्विविध ऋतुविभाग

	रसबलमधिकृत्य		संशोधनमधिकृत्य	
दक्षिणायन या विसर्ग	(अल्पबल) वर्षाऋतु (अम्लरस)	नभ-श्रावण	प्रावृट् संशोधन	वात
		नभस्य-भाद्रपद	वर्षा संचय	पित्त
	(मध्यमबल) शरद्ऋतु (लवणरस)	इष-आश्विन		
		ऊर्ज-कार्त्तिक	शरद् प्रकोप संशोधन	
	(श्रेष्ठबल) हेमन्तऋतु (मधुररस)	सह-मार्गशीर्ष		
		सहस्य-पौष	हेमन्त संचय	कफ
उत्तरायण या आदान	(श्रेष्ठबल) शिशिरऋतु (तिक्तरस)	तप-माघ		
		तपस्य-फाल्गुन	वसन्त प्रकोप संशोधन	
	(मध्यबल) वसन्तऋतु (कषायरस)	मधु-चैत्र		
		माधव-वैशाख	ग्रीष्म संचय	वात
	(अल्पबल) ग्रीष्मऋतु (कटुकरस)	शुचि-ज्येष्ठ		
		शुक्र-आषाढ	प्रावृट् प्रकोप	

ऊपर संशोधन के लिये जो विशेष काल बतलाया गया है, वह अनात्ययिक व्याधियों के संबंध में समझना चाहिये। आत्ययिक व्याधियों में तुरन्त संशोधन कृत्रिम उपायों का अवलंबन करके करना चाहिये—'आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेत्' ॥ (चरक)।

तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मिकाणां निदाघे, वातिकानां शरदि, स्वभावत एव; त एते संचयप्रकोपोपशमा व्याख्याताः[1] ॥१४॥

पित्त व्याधियों की शान्ति हेमन्त ऋतु में, श्लेष्म व्याधियों की ग्रीष्म ऋतु में और वात व्याधियों की शरद् ऋतु में काल के स्वाभाविक प्रभाव से आप से आप होती है ॥१४॥

वक्तव्य—ऊपर सूत्र नौ, दश और ग्यारह में दोषों के संचय प्रकोप के संबंध में जो विवरण किया है, वह प्रावृट् विशिष्ट (वर्षाप्रधान) ऋतुविभाग के अनुसार है। परन्तु यहाँ उपशम के लिये जो काल दिये हैं, वे शिशिरविशिष्ट (शीतप्रधान) ऋतुविभाग के साथ मिलते हैं—'चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु। वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु' ॥ (अ. हृदय. सू. अ. १२)। चरक के सूत्रस्थान अध्याय १७ में भी ये ही काल दिये हैं। प्रावृट् ऋतुविभाग के अनुसार प्रशमनकाल शार्ङ्गधर ने ऐसे लिखे हैं—'प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः। शरत्काले, वसन्ते च पित्तं, प्रावृड्ऋतौ कफः' ॥ (प्रथम खण्ड. अ. २)।

ऊपर द्विविध ऋतुविभाग का जो नकशा दिया है उसके प्रावृट् ऋतुविभाग पर ध्यान देकर यदि यहाँ (सूत्र १३ में) निर्दिष्ट किये हुए उपशम काल का विचार किया जाय तो यह मालूम होगा कि वातव्याधियों का प्रशमन वर्षाऋतु में होना चाहिये था। परन्तु यहाँ उपशम शरद्ऋतु में दिया है। उसका कारण यह है कि प्रावृट् और वर्षाऋतु गुणों में करीब समान होने के कारण वात का प्रकोप वर्षा में भी वैसा ही रहता है और शरद् ऋतु में प्रशम हो जाता है। 'अत्र वर्षाप्रावृषोस्तुल्यरूक्षशीतगुणतया सम्यक् वातकोपस्तिष्ठति, इत्युक्तं घनात्यये'। (हाराणचंद्रः)। इससे यह स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न ग्रंथों में वातादि दोषों के संचय प्रकोप और प्रशमन के काल में भिन्नता दिखाई देती है। यदि केवल दोषों के संचय प्रकोप प्रशमन के कारण प्रावृडादि ऋतुक्रम होता तो इस प्रकार मतभिन्नता उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं था। तथा एक ही भूमिविभाग में दो प्रकार के ऋतुप्रविभाग होना नैसर्गिक दृष्टि से भी असंभव है। इसलिये इन भिन्न ऋतुक्रमों का कारण देशभिन्नता मानना अधिक सयुक्तिक है यद्यपि चक्रपाणिदत्त इसका इनकार करते हैं। प्रत्येक ग्रन्थकार अपने प्रदेश के ऋतुविभाग के अनुसार वर्णन करता है। अतः यह भिन्नता दिखाई देती है—'इदञ्चात्रावधेयम्। द्विविधः खल्विह दृश्यते प्राचामृतुविभागो वर्षप्रधानः शीतप्रधानश्चेति। तत्र षड्ऋतवो वर्षा-शरद्-हेमन्त-वसन्त-ग्रीष्म-प्रावृषः इति वर्षप्रधानो विभागः। वर्षा-शरद्-हेमन्त-शिशिर-वसन्त-ग्रीष्मा इति शीतप्रधानः। तयोराद्यस्य प्राधान्यं सुश्रुतेऽभिहितं द्वितीयस्य चरके'। (सिद्धान्तनिदाने गणनाथसेनः)। काश्यप भी ऋतुविभागभेद का कारण देशभिन्नता ही मानता है।

तत्र, पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः[1], प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि[2] हैमन्तमुपलक्षयेत्; एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात् ॥१५॥

दिन के प्रथम भाग में वसन्त ऋतु का चिह्न होता है, मध्याह्न में ग्रीष्म का, तीसरे पहर प्रावृट् का, सायंकाल वर्षा का, अर्धरात्र शरद् का और पिछली रात हेमन्त का चिह्न होता है। इस प्रकार अहोरात्र भी वर्ष के समान शीत, उष्ण और वर्षा लक्षणों से दोषों के संचय, प्रकोप और शान्ति का हेतु जानना चाहिए ॥१५॥

वक्तव्य—दिन और वर्ष का तुलनात्मक नकशा—

दिन	वर्ष	संचय प्रकोप प्रशमन	
पूर्वाह्णे	वसन्त	कफप्रकोप	
मध्याह्ने	ग्रीष्म	कफशमन	वातसंचय
अपराह्णे	प्रावृट्		वातकोप
प्रदोषे	वर्षा	पित्तसंचय	वातकोप
अर्धरात्रे	शरत्	पित्तकोप	वातशमन
प्रत्युषसि	हेमन्त	पित्तशमन	कफसंचय

---

[1] एतदग्रे—'चयप्रकोपोपशमा दोषाणां हि द्वयोरपि। सन्धौ. साधारणा वत्स भविष्यद्वर्तमानयोः। ऋतुसन्धौ तु दोषाणां चयाद्याः (बहुधा) परिकल्पना (लिपताः)। एवंप्रकारा व्याख्याता विधिं वर्तमानर्तुकं विधिम्। भविष्यवक्ष्याम्यतः परम्। ह्रासयेदल्पशोऽभ्यस्तं वर्तमानर्तुकं विधिम्। भविष्यदृतुकं चापि यतेताश्वासकारणात्। यावन्त ह्रासयेत्पूर्वं तावन्तं स भजेत्परम्। स्यू रोगास्त्यागसेवाभ्यां सहसाऽसात्म्यसंभवाः। वह्निप्रणाशवैषम्ये स्यातां चासात्म्यसेवनात्। तस्माद्यथोक्तमभ्यस्येदृतुसन्धौ विधिं नरः ॥' इति क्वचिदधिकः पाठः।

[1] प्रावृषेण्यं. [2] प्रत्यूषसि.

वातादि दोषोंका दैनिक संचय और प्रकोप अल्पकालिक और अल्पकारणिक होने के सबब से दिनचर्या पालन करने से शान्त हो जाता है। परंतु ऋतुजन्य संचय और प्रकोप चंद्र-सूर्य के परिभ्रमण से, ओषधियों के रस वीर्य प्रभाव से तथा अधिक काल तक रहने से संशोधन के सिवाय पूर्णतया शान्त नहीं होता है।

तत्र, अव्यापन्नेष्वृतुष्वव्यापन्ना ओषधयो भवन्त्यापश्च; ता उपयुज्यमानाः प्राणायुर्बलवीर्यौजस्कर्यो भवन्ति ॥१६॥

इनमें से यथाकाल शीतोष्णवर्षायुक्त ऋतुओं में ओषधियाँ तथा जल भी ठीक रहते हैं और उपयोग करने से वे प्राण, आयु बल, वीर्य और ओज को बढ़ाती हैं ॥१६॥

वक्तव्य—अव्यापन्न—प्रसन्न या स्वाभाविक। ओषधि—बनस्पत्यादि चतुर्विध आहार द्रव्य।

तेषां पुनर्व्यापदोऽदृष्टकारिताः, शीतोष्णवातवर्षाणि खलु विपरीतान्योषधीर्व्यापादयन्त्यपश्च ॥१७॥

उन ऋतुओं की व्यापत्तियाँ सर्वजन सामान्य अधर्म से उत्पन्न होती हैं। उष्ण, शीत, वात और वर्षाओं का वैपरीत्य ओषधियों तथा जल को बिगाड़ देता है ॥१७॥

वक्तव्य—व्यापदः-स्वाभाविक ऋतुगुणों के अतियोग, विपरीत योग और विषमयोग को ऋतु की व्यापत्ति कहते हैं। यथा—ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य का ताप, ग्रीष्म ऋतु में वर्षा का होना तथा ग्रीष्म ऋतु में कभी प्रचण्ड ताप कभी वर्षा होना और कभी जाड़ा पड़ना। इस प्रकार प्रत्येक ऋतु की व्यापत्ति समझना चाहिये। अदृष्टकारिताः—अदृष्टेन कारिताः। अदृष्ट—सर्वजन सामान्य अधर्म। चरक में भी ऋतुवैगुण्य का यही कारण लिखा है—'कुतोमूलमेषां वाय्वदीनां वैगुण्यमुपपद्यते? वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम्।··· तेषां तथान्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते' (विमान अ. ३)। ओषधियों की खराबी ऋतु की व्यापत्तियों से उत्पन्न होती है और ऋतु की व्यापत्तियाँ अधर्म से उत्पन्न होती हैं।

तासामुपयोगाद्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेदिति ॥१८॥

उन व्यापन्न ओषधियों का तथा जल का उपयोग करने से अनेक प्रकार के रोग अथवा मरक भी उत्पन्न होता है ॥१८॥

वक्तव्य—मरक-जनपदोद्ध्वंसकरोग, महामारी। ये रोग जल वायु खाद्य पेयादि व्यवहार से फैलते हैं। 'तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात्'। (चरक वि. अ. ३) ॥ अँग्रेजी में मरक को (Pandemic या Epidemic disease) कह सकते हैं।

तत्र, अव्यापन्नानामोषधीनामपां चोपयोगः॥१९॥

उन रोगों के लिये शुद्ध तथा प्रसन्न जल और ओषधियों का उपयोग करना प्रशस्त है ॥१९॥

वक्तव्य—तत्र—ऋतुव्यापत्ति के समय उत्पन्न होने वाले रोगों से बचने के लिये (Prophylaxis) तथा उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा के लिये शुद्ध जल तथा ओषधियों का उपयोग करना चाहिये। अव्यापन्न ओषधि—ऋतु की व्यापत्ति उत्पन्न होने से पूर्व इकट्ठा की हुई पुरानी ओषधि। चरक में लिखा है—'तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धरध्वं सौम्य! भैषज्यानि यावन्नोपहतरसवीर्यप्रभावाणि। शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः'।

कदाचिदव्यापन्नेष्वप्यृतुषु कृत्याभिशापरक्षःक्रोधाधर्मैरुपध्वस्यन्ते जनपदाः; विषौषधिपुष्पगन्धेन वायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रकृत्यविशेषेण कासश्वासवमथुप्रतिश्यायशिरोरुग्ज्वरैरुपतप्यन्ते, ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावैर्वा ॥२०॥

कभी कभी ऋतु यथार्थ होने पर भी कृत्या, अभिशाप, पिशाच, राक्षसादिकों के क्रोध तथा अधर्म के कारण देश के देश नष्ट हो जाया करते हैं; किंवा विष से दूषित या ओषधि पुष्प गंध से दूषित वायु का आक्रमण जिस देश पर होता है वहाँ के निवासी सब लोग खाँसी, श्वास, वमन, जुकाम, शिरःशूल, ज्वरादि रोगों से पीड़ित हो जाते हैं; किंवा शनैश्चर सूर्यादि ग्रह तथा अश्विन्यादि नक्षत्रों के अनिष्ट प्रभाव से भी (रोग उत्पन्न होते हैं); किंवा गृह, स्त्री, शयन, आसन, यान, वाहन, मणि, रत्न तथा अन्य (घरेलू) उपकरणों की खराबी (दुष्टि) होने से तथा अनिष्टसूचक चिह्नों से भी रोग उत्पन्न होते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में विविध रोगों की उत्पत्ति के ऋतुजन्य व्यापत्ति के अतिरिक्त चार कारण वर्णन किये हैं। विषौषधिपुष्पगन्धेनेत्यादि—हाराणचन्द्र इसकी व्याख्या करते हैं—'विषौषध्यः कल्पोक्ता वेत्रादयः तासां पुष्पगंधेन'। कल्पस्थान में पाँच पुष्पविष दिये हैं—'वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि'। अर्थात् वेत्रादि पाँच ओषधियों के पुष्पगंध से दूषित ऐसा 'विषौषधिपुष्पगन्धेन' का अर्थ होता है। वेत्रादिक के पुष्पगंध से सिर्फ छर्दि आध्मान और मोह उत्पन्न होता है—'भवेत पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं मोह एव च' (सुश्रुत)। इसलिये यहां निर्दिष्ट किये तथा अन्य जानपदिक रोगों का कारण वेत्रादि ओषधिगंध से दूसरा होना चाहिये। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से यह सिद्ध हुआ है कि अनेक जानपदिक और औपसर्गिक रोगों का कारण भिन्न भिन्न प्रकार का विष ही (Virus) होता है। अनेक रोगों का विष भी वायु द्वारा आक्रमण करता है। मसूरिका, रोमान्तिका, प्रतिश्याय, दुष्टप्रतिश्याय (एनूल्फ्यूएन्जा), मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (Cerebrospinal), रोहिणी (डिप्थीरिआ), न्युमोनिआ, कास इत्यादि रोगों का विष वायु द्वारा ही आक्रमण करता है। इसलिये यहाँ विष ओषधि का विशेषण न करके स्वतंत्र नाम करना प्रशस्त है। इससे दूसरा भी एक प्रशस्त अर्थ निकलता है। नव्य विज्ञान से सिद्ध हुआ है कि प्रतिश्याय ज्वर (Hay fever) श्वास शिरःशूल इत्यादि रोग निर्विष ओषधियों के पुष्पपराग (Pollen) सूंघने से उत्पन्न होते हैं और ये पराग वायु के द्वारा फैलते हैं। गुलाबादि सुगंधित पुष्पों के गंध से भी ये रोग हो सकते हैं। The most Common external irritant is the pollen of certain grasses (hence the name 'hay fever') and of other plants.

The odours of roses and other sweet smelling plants have the same effect on certain persons. Various powders other than pollen such as ipecacuanha and lycopodium, have been found to give rise to similar symptoms ? Burn Geo. 'Hay fever and asthma are often manifestations of the same type of disease which also includes ......certain gastro intestinal disturbances; migraine. *Taylors Practice of medicine. 1930 edition.*

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'विषौषधिपुष्पगन्धेन वायुना' का अर्थ 'विष से दूषित तथा ओषधि पुष्पगन्ध से दूषित वायु द्वारा' करना अधिक प्रशस्त है। प्राचीन काल में भी आगन्तु ज्वरादि रोग नाना प्रकार के विष से उत्पन्न होते थे इसका ज्ञान था—'विषवृक्षानिलस्पर्शात् तथान्यैर्विषसम्भवैः। अभिषक्तस्य चाप्याहु- र्ज्वरमेकेऽभिषंगजम्'॥ (चरक)। इस विष के अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण इसके स्वरूप का ज्ञान प्राचीन काल में न हो सका। सांप्रत सूक्ष्मदर्शक यंत्र का आविष्कार होने से भिन्न भिन्न रोगों के कारणभूत विष का निश्चित ज्ञान हो गया है। अधिकांश विष जीवाणु (Micro organisms) होते हैं, जो वायु खाद्य पेय स्पर्शादि द्वारा मनुष्य से मनुष्यों पर फैलते हैं और विविध रोग उत्पन्न करते हैं। सर्व जनपदोद्ध्वंसक रोग, वातादिप्रकृति निरपेक्ष आक्रमण करनेवाले रोग, वायुद्वारा फैलने वाले रोग जीवाणुजन्य होते हैं। इसलिये यहाँ विष का अर्थ विकारी जीवाणु ज्ञात या अज्ञात करना उत्तम है। अज्ञात लिखने का कारण यह है कि मसूरिकादि कई विस्फोटक ज्वरों के कारण जीवाणु अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुए हैं। उनको केवल विष (Virus) कहते हैं। डल्हण की टीका में कासश्वासादि रोगों का दूसरा पाठ दिया है, जिस में मसूरिकादि ज्वरों का प्रत्यक्ष नाम दिया है—'कासश्वासप्रतिश्यायगन्धाज्ञानश्रमशिरोरुग्ज्वरमसूरिकादिभिरुपतप्यन्ते' इति। श्वास रोग का भी एक अज्ञात जीवाणु माना गया है, जो वायु द्वारा आक्रमण करता है—In the great majority of asthma cases the poisonous substance is unknown. It appears to be airborne and in some cases it may be a mould' *Taylor's Practice of medicine 1930 edition.* दोषप्रकृत्यविशेषेण—वातल, पित्तल, श्लेष्मल इत्यादि सात प्रकार की प्रकृति होती है और निज रोग बहुधा प्रकृति के अनुसार अधिक हुआ करते हैं—'तेषामिदं विशेषविज्ञानं, वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति'। (चरक. वि. अ. ६)। परन्तु आगन्तुक रोगों के संबंध में यह नियम नहीं है और जानपदिक रोग आगन्तुक रोगों में आते हैं और वे जिस देश पर आक्रमण करते हैं वहाँ के निवासी लोग प्रकृति निरपेक्ष व्याधित हो जाते हैं यह प्राचीन काल से ज्ञात है। इसलिये चरक में अग्निवेश भगवान् आत्रेय जी को पूछते हैं—'अपितु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेन व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहबलसात्म्यवयसां मनुष्याणां कस्माद्भवति'। (विमान अ. ३)।

तत्र, स्थानपरित्यागशान्तिकर्मप्रायश्चित्तमङ्गलजपहोमोपहारेज्याञ्जलिनमस्कारतपोनियमदयादानदीक्षाभ्युपगमदेवताब्राह्मणगुरुपरैर्भवितव्यम्; एवं साधु भवति ॥२१॥

उन रोगों के परिहार के लिये स्थानत्याग, शान्तिकर्म, प्रायश्चित्त, मंगल, जप, हवन, बलिदान, पूजा, बद्धांजलिनमस्कार, तप, नियम, दया, दान, दीक्षाग्रहण, देवता और ब्राह्मणों की सेवा इत्यादि कामों में तत्पर होना चाहिये; इन्हीं से आरोग्यता होती है ॥२१॥

वक्तव्य—स्थानपरित्याग—दूषित स्थान छोड़ कर दूसरे स्वास्थ्यकर स्थान का सेवन करना-'हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्'। (चरक)। शान्तिकर्म-वेदोक्त मन्त्रद्वारा अनिष्टग्रहादिक की शान्ति करना। शान्तिकर्म का दूसरा भी एक अर्थ हो सकता है। जनपदोद्ध्वंसक रोग व्यापन्न ऋतुओं के कारण होते हैं। इसलिये ऋतुव्यापत्ति के अनुसार आचरण करके उसकी शान्ति करना। यथा वर्षा ऋतु में यदि शीत अधिक हो तो शिशिर ऋतुचर्या के अनुसार आचरण करके व्यापत्ति की शान्ति करना। इसी दृष्टि से अष्टांगसंग्रह में लिखा है—'हेमन्तादिषु कुर्वीत स्वं स्वं चाकालिकेष्वपि। विधिं तच्छीलनं यस्माच्छीतादिद्वन्द्वकारितम्। ऋतुचर्यादिशीतोष्णवृष्टिदोषप्रतिक्रिया॥' (सू० अ० ९)। 'यस्मिन्नेव मासे शीतादयस्तस्मिन्नेव सा चर्या सेव्या। शीतादिदोषप्रतिकारा ऋतुचर्योक्ता नतु मासमात्रमाश्रित्य'। (इन्दुः)। इस व्यापत्ति के कारण जो दोष प्रकुपित होते हैं, उनकी भी शान्ति वमनादि पंचकर्म के द्वारा करना-'कर्म पंचविधं तेषां भेषजं परमुच्यते' (चरक)। संक्षेप में शान्तिकर्म से ऋतुव्यापत्ति के अनुसार भिन्न ऋतुचर्या तथा वमनादि पंचविध कर्म की आवश्यकता के अनुसार सेवन समझना भी प्रशस्त है। प्रायश्चित्त—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्'॥ किंवा पूर्वकर्म शान्ति के लिये चांद्रायणादिक का करना। मंगल—प्रशस्त ओषधि तथा मणियों का धारण करना। जप—ओंकारपूर्वक ऋग्यजुःसामवेद का आवर्तन करना किंवा विष्णुसहस्रनाम का जप करना-'विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्। स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति'॥ (चरक)। नियम—शास्त्रनियमों का पालन करना-'सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च'॥ (चरक)। उपहार-बलिदान। दीक्षा-मन्त्रग्रहण। पर शब्द स्थानत्यागादि प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ना चाहिये।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त चरक में निम्न उपाय अधिक बतलाये हैं-कर्म पंचविधं (वमनादिपंचकर्म) तेषां भेषजं परमुच्यते। सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥ सङ्कथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्। धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंमतैः'॥

अत ऊर्ध्वमव्यापन्नानामृतूनां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥२२॥

अब यहाँ से उत्तम ऋतुओं के लक्षण वर्णन करते हैं ॥२२॥

वायुर्वात्युत्तरः शीतो रजोधूमाकुला दिशः।
छन्नस्तुषारैः सविता हिमानद्धा जलाशयाः ॥२३॥
दर्पिता ध्वाङ्क्षखड्गाह्वमहिषोरभ्रकुञ्जराः।
रोध्रप्रियङ्गुपुन्नागाः पुष्पिता हिमसाह्वये ॥२४॥

हेमन्त ऋतु—इस ऋतु में उत्तर का शीतल वायु चलता है; सब दिशाएँ रजःकण तथा धूम से व्याप्त होती हैं; भगवान् सूर्य ओस से ढका हुआ रहता है। (तालाब बावड़ी आदि) जलाशय में बर्फ बन जाता है; काक, गैंडा, महिष, भेंड़ा और हाथी हर्षित (मदयुक्त) रहते हैं और लोध, कंगुनी और नागकेसर के वृक्ष फूल से भरे होते हैं ॥२३-२४॥

शिशिरे शीतमधिकं वातवृष्ट्याकुला दिशः ।
शेषं हेमन्तवत् सर्वं विज्ञेयं लक्षणं बुधैः ॥२५॥

शिशिर ऋतु—इस ऋतु में शीत अधिक हो जाता है, सब दिशाएँ वातमिश्रित वर्षा से व्याप्त होती हैं और शेष सब लक्षण हेमन्त ऋतु की भांति होते हैं। ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य समझ ले ॥२५॥

सिद्धविद्याधरवधूचरणालक्तकाङ्किते ।
मलये चन्दनलतापरिष्वङ्गाधिवासिते ॥२६॥
वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः ।
दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः ॥२७॥
दिशो वसन्ते विमलाः काननैरुपशोभिताः ।
किंशुकाम्भोजबकुलचूताशोकादिपुष्पितैः ॥२८॥
कोकिलाषट्पदगणैरुपगीता मनोहराः ।
दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पल्लवोज्ज्वलाः ॥२९॥

वसन्त ऋतु—इस ऋतु में सिद्ध और विद्याधरों की स्त्रियों के चरणों में लगे हुए लाक्षारंग से रञ्जित-चन्दन लताओं के आलिङ्गन से सुगन्धित, कामीजनों का आनन्द उत्पन्न करने वाला, कामोद्दीपक, दम्पतियों का परस्पर मानभंग करने वाला, मलयाचल का दक्षिणी वायु चलता है ॥२६-२७॥ वसन्त ऋतु में दिशाएँ निर्मल; पलाश, कमल, बकुल, आम्र और अशोकादि पुष्पित वृक्षों से शोभायमान; कोकिल तथा भृंगगणों के कर्णमधुर गुंजारव से मनोहर; दक्षिण दिशा की वायु से व्याप्त और वृक्षों के कोमल नवीन पत्तों से सुशोभित होती हैं ॥२८-२९॥

वक्तव्य—'दिशो वसन्ते विमलाः' के पहले निम्न दो श्लोक मिलते हैं—'सिद्धविद्याधरवधूचरणालक्तकाङ्किते । मलये चन्दनलतापरिष्वङ्गाधिवासिते ॥ वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः । दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः' ॥ परंतु इनमें वसन्त ऋतु का नैसर्गिक वर्णन नहीं हैं, कविकृत कृत्रिम काव्य है। इसलिये इनका समावेश वसन्त ऋतुवर्णन में करना अप्रशस्त है। विमलाः से लेकर पल्लवोज्ज्वलाः तक सब दिशा के विशेषण हैं।

ग्रीष्मे तीक्ष्णांशुरादित्यो मारुतो नैर्ऋतोऽसुखैः ।
भूस्तप्ता सरितस्तन्व्यो दिशः प्रज्वलिता इव ॥३०॥
भ्रान्तचक्राह्वयुगलाः पयःपानाकुला मृगाः ।
ध्वस्तवीरुत्तृणलता विपर्णाङ्कितपादपाः ॥३१॥

ग्रीष्म ऋतु—इस ऋतु में सूर्य की किरणें बड़ी तेज होती हैं, नैर्ऋत्य दिशा का दुःखदायी पवन चलता है, पृथ्वी गरम हो जाती है, नदियाँ (पानी कम हो जाने के कारण) अल्पप्रवाह युक्त होती हैं, दिशाएँ जलती हुई-सी प्रतीत होती हैं, (पानी की खोज करने में) भ्रान्त होकर चकवा और चकवी घूमती फिरती हैं, हरिण प्यास के मारे व्याकुल हो जाते हैं, छोटे पौदे, घास तथा वेल सूख जाते हैं और वृक्ष पत्रविहीन हो जाते हैं ॥३०-३१॥

प्रावृष्यम्बरमानद्धं पश्चिमानिलकर्षितैः[1] ।
अम्बुदैर्विद्युदुद्द्योतप्रस्रुतैस्तुमुलस्वनैः ॥३२॥
कोमलश्यामशष्पाढ्या शक्रगोपोज्ज्वला मही ।
कदम्बनीपकुटजसर्जकेतकिभूषिता ॥३३॥

प्रावृट् ऋतु—इस ऋतु में पश्चिम दिशा की वायुद्वारा खींचे हुए बादलों से आकाश व्याप्त रहता है और मेघगर्जन तथा बिजली की चमक के साथ कभी थोड़ा थोड़ा पानी बरसता है ॥३२॥ भूमि श्यामल रंग की कोमल हरियाली से समृद्ध; वीरबहूटियों से (चित्रित होने के कारण) उज्ज्वल होती है और कदंब, बन्धूक, कुड़ा, राल, केतकी आदि वृक्षों से शोभायमान दीखती है ॥३३॥

वक्तव्य—विद्युदुद्द्योतप्रस्रुतैः—विद्युदुद्द्योतेन सह प्रस्रुतैः । बिजली की चमक के साथ पानी की वर्षा करने वाले मेघों से। शक्रगोप—इन्द्रगोप या वीरबहूटी। यह एक लाल मखमली रंग का बरसाती कीड़ा है। श्रीवाल्मीकिरामायणान्तर्गत वर्षावर्णन में भी इन्द्रगोप का उल्लेख आया है—'बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन'।

तत्र वर्षासु नद्योऽम्भश्छन्नोत्खाततटद्रुमाः[2] ।
वाप्यः प्रोत्फुल्लकुमुदनीलोत्पलविराजिताः ॥३४॥
भूरव्यक्तस्थलश्वभ्रा बहुशस्योपशोभिता ।
नातिगर्जत्स्रवन्मेघनिरुद्धार्कग्रहं[3] नभः ॥३५॥

वर्षा ऋतु—इस ऋतु में नदियां जलपूर्ण होकर प्रवाह के जोर से तट तथा निकटवर्ती वृक्षों को नष्ट कर देती हैं, वापी प्रफुल्लित श्वेत तथा नील कमलों से सुशोभित दिखाई देती हैं, भूमि (तृणाच्छादित होने के कारण उसके पृष्ठभाग) की समता या विषमता दिखाई नहीं देती है तथा विविध प्रकार की फसलों से वह शोभित होती है और बहुत गर्जन न करके बरसने वाले बादलों से आकाश, सूर्य तथा ग्रहगण ढके रहते हैं ॥३४-३५॥

वक्तव्य—वापी—सोपानसहितकूपविशेषा वापी। जिस कुंए में पानी निकासने के लिये सीढ़ी होती है, उसे वापी कहते हैं। कुमुद—श्वेत कमल। नीलोत्पल—नील कमल। अव्यक्तस्थलश्वभ्रा—वर्षा ऋतु में काफी घास उगने के कारण भूपृष्ठभाग यद्यपि ऊँचा नीचा भी हो तथापि समतल दिखाई देता है।

बभ्रुरुष्णः शरद्यर्कः श्वेताभ्रविमलं नभः ।
तथा सरांस्यम्बुरुहैर्भान्ति हंसांसघट्टितैः ॥३६॥
पङ्कशुष्कद्रुमाकीर्णा निम्नोन्नतसमेषु भूः ।
बाणसप्ताह्वबन्धूककाशासनविराजिता ॥३७॥

---

१ एतदग्रे—'अवेर्मदावहोऽत्यर्थं केवलं रासभोष्ट्रयोः' इति क्वचिदधिकः पाठः.

१ एतदग्रे—'कुर्वद्भिश्चातकान् हृष्टान् हंसान्मानसगामिनः । भीमसंतमसे सायं पथि दुर्गमकर्दमे ॥ जघनोद्वहनक्लान्ताः प्रमृष्टासारमण्डनाः । तडित्प्रभाहतालोकनिमीलन्नयनोत्पलाः ॥ गर्जितध्वनिना त्रस्तहृदयाश्चाभिसारिकाः । सेव(स्तर)कल्लोतसंकाशैर्मेघैरुच्चाम्बुभूषणैः ॥ जितहंसावलीकान्तिबलाकापंक्तिसारितैः । केकागर्जवलद्ग्रीवनृत्यद्बर्हिणवीक्षितैः ॥' इति क्वचिदधिकः पाठः. २ नद्यम्भःपूरोद्धसतट . ३ निरुद्धार्कग्रहं. ४ पक्वशस्यविरा॰.

शरद् ऋतु—इस ऋतु में सूर्य पिङ्गलवर्ण और उष्ण होता है; आकाश निर्मल और कहीं कहीं श्वेतवर्ण मेघयुक्त होता है; सरोवर हंसों सहित कमलों से शोभायमान होते हैं; नीची, ऊँची और समभूमि कीचड़युक्त, सूखी और चींटियों से भरी हुई होती है और कुरंटक, सप्तपर्ण, दुपहरिया, कांस, विजैसार इन वृक्षों से सुशोभित होती है ॥३६-३७॥

वक्तव्य—वभ्रुः-पिङ्गलवर्ण । पङ्कशुष्केत्यादि-निम्नादिषु प्रदेशेषु यथासङ्ख्यं पङ्कादिकीर्णा भवति । द्रुमाश्च वल्मीककारिण्यः सूक्ष्माः पिपीलिकाः । (डल्हण) । भू :पङ्काकीर्णा निम्नस्थाने, शुष्कोन्नतस्थाने, समस्थाने द्रुमाकीर्णा भवति । वल्मीक उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म चींटियाँ 'द्रुमा' कहलाती हैं ।

स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः ।
विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम् ॥३८॥

ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों का अतियोग, विपरीतयोग, विषमयोग हो जाने से मनुष्यों के शरीर में वातादि दोष कुपित हो जाते हैं ॥३८॥

वक्तव्य—अति योग—ऋतुओं के शीत, वर्षा और उष्णता स्वाभाविक गुण होते हैं । उनकी अधिकता होना अतियोग है । यथा—ग्रीष्म में अधिक गरमी होना, वर्षा में अधिक पानी बरसना और हेमन्त में अधिक शीत पड़ना । विपरीतयोग—ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों से उलटा गुण होना । यथा-हेमन्त में गरमी, वर्षा में शीत और ग्रीष्म में वर्षा होना । विपरीतयोग को मिथ्यायोग भी कहते हैं—'यथा स्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः' (चरक) । विपरीतयोग का दूसरा अर्थ डल्हण टीका में ऐसा दिया है—'मन्दशीतादियुक्तेषु' । चरक वचनानुसार यह अर्थ करना प्रशस्त है । दूसरा कारण यह है कि एक योग के दो अर्थ करना ठीक नहीं है । विषमयोग—इसके भी दो अर्थ टीका में दिये हैं । पहला अर्थ मिथ्यायोग के साथ मिलता है, अतः उस अर्थ की अब आवश्यकता नहीं है । दूसरा अर्थ एकीयवचन से दिया है—'अन्ये तु ऋतूनां यथोक्तलिङ्गानामेकस्मिन्नृतौ सर्वेषां लिङ्गानां भावोऽभावश्चेति वैषम्यमाहुः' । एक ऋतु में सर्व ऋतुओं के गुणों का प्रादुर्भाव होना या अभाव होना, इसको विषमयोग कहते हैं । इसमें सर्व ऋतुओं के गुणों का प्रादुर्भाव मिथ्यायोग में आ जाता है । अतः बाकी केवल अभाव ही रहा । यही विषमयोग का अर्थ है और इसे अयोग या हीनयोग कहते हैं । चरक, वाग्भट में काल के केवल तीन योग दिये हैं—'कालार्थकर्मणां योगा हीनमिथ्यातिमात्रकाः ।' (वाग्भट) । 'त्रीण्यायतनानीति, अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः ।' (चरक) । उनके अनुसार भी विषमयोग का अर्थ अयोग या हीनयोग ही करना चाहिये । यथा—वर्षा ऋतु में पानी कम बरसना या नहीं बरसना इत्यादि । दोषाः कुप्यन्ति—दोषों का प्रकोप होकर मनुष्यों में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—'मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः' (चरक शा. अ. १) । इस प्रकार प्रत्येक ऋतु की तीन व्यापत्तियाँ होती हैं और सर्व ऋतुओं की अट्ठारह व्यापत्तियाँ होती हैं ।

हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत् ।
वर्षासु शमयेद्वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात् ॥३९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्या
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

(दोषों से शरीर में) विकार उत्पन्न होने के पहले ही वसन्त ऋतु में कफ का निर्हरण करना चाहिये, शरद् ऋतु में पित्त का हरण करना चाहिये और प्रावृट् ऋतु में वात की शान्ति करनी चाहिये ॥३९॥

वक्तव्य—वसन्ते—वसन्त ऋतु के दूसरे महीने में चैत्र मास में । शरदि—शरद् ऋतु के दूसरे महीने में, मार्गशीर्ष मास में । वर्षासु—वर्षा शब्द से यहाँ 'प्रथमः प्रवृष्टः कालः प्रावृट्' समझना चाहिये । क्योंकि प्रावृट् के दूसरे महीने में श्रावण में वात का संशोधन करने के लिये कहा गया है—'तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्' । (इस विषय का विशेष विवरण इस अध्याय में १२ वें सूत्र के वक्तव्य में देखो) इसलिये हाराणचन्द्र अपनी टीका में लिखते हैं—'वर्षास्विति वर्षन्ति मेघा अत्रेति व्युत्पत्त्या वर्षाशब्देन वर्षाप्रावृषोरभिधानेऽपि प्रावृडेवात्राभिधीयते, तस्यामेव निर्हरणविधानात्' ॥ विकारसमुच्छ्रय—काल स्वभाव के कारण प्रकुपित दोषों से उत्पन्न हुए रोग । इनको ऋतुज रोग या प्राकृत रोग भी कहते हैं—'कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः' (चरक) । हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले । घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु' ॥ (चरक) ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्या नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

११८५

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से यन्त्रविधि अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यन्त्रशतमेकोत्तरम्; अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ, किं कारणं ? यस्माद्धस्तादृते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणाम् ॥२॥

यन्त्र एक सौ एक होते हैं । परन्तु सब से प्रधान हाथ ही समझो । क्योंकि यन्त्रकर्म हाथ ही के अधीन होने के कारण हाथ के विना यन्त्रों का उपयोग असंभव होता है ॥२॥

वक्तव्य—यन्त्र पारिभाषिक शब्द है । इस की अगले सूत्र में तथा उसकी टीका में सविस्तर व्याख्या की गई है । एकोत्तरं शतम्—यह शब्द प्रयोग यहां यन्त्रसंख्या की इयत्ता निश्चित करने के लिये प्रयुक्त नहीं किया गया है । प्राचीन काल में प्रत्येक शल्यचिकित्सक अपने बुद्धिबल से भिन्न भिन्न शस्त्रकर्मों के लिये भिन्न भिन्न आकार के और भिन्न भिन्न प्रमाण के कई यन्त्र निर्माण कर लेता था, जिनका ठिकाना नहीं—'स्वबुद्ध्या च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्माणि च उपकल्प-

येत्। अतः कर्मवशात्तेषामियत्तावधारणमशक्यम्।' (अ. संग्रह. सू. ३)। इसलिये एक सौ एक शब्द असंख्येयवाची समझना चाहिये। वाग्भट ने एक सौ एक से अधिक यन्त्र वर्णन किये हैं। इनका विचार प्रत्येक प्रकार के यन्त्रों के साथ होगा। हस्तमेव प्रधानतमम्—हस्त की गणना यद्यपि उपयन्त्र में है तथापि उसको सर्व यन्त्रों में भी जो श्रेष्ठतम माना है, वह बिलकुल ठीक है। आज असंख्य प्रकार के सुंदर और सतेज यन्त्रशस्त्र होते हुए भी शल्यचिकित्सक की कीर्ति उसके हाथ के कौशल पर हुआ करती है। प्राचीन काल में जब यंत्रशस्त्रों की स्थिति आज के मुकाबले में कई दर्जे हीन थी, तब शल्यचिकित्सक का केवल हस्तकौशल ही रोगी के लिये भविष्यत्काल की आशा करने का स्थान था। इस हस्तप्राधान्य से अप्रत्यक्षतया यह भी निदर्शित किया जाता है कि जिस मनुष्य के पास स्वाभाविक हस्तकौशल नहीं है, वह सैकड़ों यंत्र-शस्त्र पास होते हुए भी शल्यचिकित्सक होने के लिये अयोग्य है।

तत्र, मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि; तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि ॥३॥

मन और शरीर को पीड़ा करने वाले जो होते हैं, वे शल्य कहलाते हैं; और उनके आहरण करने के उपाय यन्त्र कहलाते हैं ॥३॥

वक्तव्य—शल्य का स्वरूप पहले अध्याय में शल्यतंत्र की व्याख्या करते समय स्पष्ट किया गया है। शारीरिक शल्य से अप्रत्यक्ष मन में ही पीड़ा होती है। इसलिये मन का भी यहां निर्देश किया है। वास्तव में मनःशल्य कोई भौतिक वस्तु नहीं होती है कि जिसके आहरण के लिये यन्त्र-शस्त्रादिक की आवश्यकता हो। अतः मनःशल्य शल्यशास्त्र का विषय ही नहीं होता है। इस संदिग्धता को दूर करने के लिये प्रनष्टशल्यविज्ञानीय अध्याय (२६ अ.) में शल्य की व्याख्या 'सर्वशरीराबाधकरम् शल्यम्' ऐसी की गई है। मनःशल्य मानसशास्त्र का विषय है। परन्तु शस्त्रकर्म के समय रोगी को उत्साहित कर के उसका मनःशल्य दूर करने की आवश्यकता होती थी, इसलिये उपयन्त्र में केवल एक हर्ष का निर्देश किया है। आहरणोपाय—यह यन्त्रों का केवल एक कार्य है जो विशेष करके स्वस्तिक, संदंश और ताल यन्त्रों के संबंध में लागू होता है। इस कार्य के सिवाय यन्त्रों के निम्न कार्य भी होते हैं। (१) दर्शन—रोगदर्शन या शल्यदर्शन करने के लिये यन्त्रों का उपयोग होता है। यथा—कण्ठशल्यावलोकन यन्त्र, योनिव्रणेक्षण यन्त्र। नवीन शल्यशास्त्र के अनुसार दर्शनयन्त्रों में सब प्रकार के स्पेक्यूलम (Speculum) और स्कोपयन्त्र आते हैं। यथा—Laryngoscope, Pharynscope, Urethroscope, cystoscope. Auroscope, Proctoscope, Siqmoidoscope इत्यादि। (२) क्रियासौकर्य—अंगरक्षणार्थ; ये दोनों कार्य साथ साथ होते हैं। शस्त्रकर्म के समय शेष अंग की रक्षा करने के लिये तथा शस्त्रकर्म में सौकर्य प्राप्त करने के लिये अनेक यन्त्रों का उपयोग होता है। यथा—अर्शोयन्त्र, अंगुलित्राणक यन्त्र। आधुनिक यन्त्र सामग्री में सब प्रकार के स्पेक्यूलम, डायरेक्टर (यथा *Probe director, Herine director, Tracnum director. Lithotomy director* इत्यादि); रिट्राक्टर (यथा Eye lid retractor. wound retractor, Abdominal retractor इत्यादि), होल्डर (यथा Caustie holder, Needle holder, Tongue holder) इन कर्मों के लिये प्रयुक्त होते हैं। (३) विशोधन—शल्यस्थान की खोज तथा विशुद्धि के लिये भी यन्त्र प्रयुक्त होते हैं। यथा—मूत्रमार्ग विशोधक, तालयन्त्र इत्यादि। आधुनिक यन्त्रों में डायलेटर्स (यथा Uterine dilator, Urethral dilator, Rectal dilator, Prepuce dilator इत्यादि), क्याथेटर (Catheter), साउन्ड (Sound), स्पून (Spoon), स्कूप (Scope) विशोधन के लिये प्रयुक्त होते हैं।

तानि षट्प्रकाराणि; तद्यथा—स्वस्तिकयन्त्राणि, संदंशयन्त्राणि, तालयन्त्राणि, नाडीयन्त्राणि, शलाकायन्त्राणि, उपयन्त्राणि चेति ॥४॥

वे यन्त्र छः प्रकार के होते हैं। जैसे—स्वस्तिकयन्त्र, संदंशयन्त्र, तालयन्त्र, नाडीयन्त्र, शलाकायन्त्र और उपयन्त्र ॥४॥

वक्तव्य—आकार के अनुसार यन्त्रों के पांच प्रकार किये हैं। उपयन्त्र में अन्य सर्व उपयोगी प्रकीर्ण वस्तुओं का संग्रह किया है। अँग्रेजी में स्वस्तिकयन्त्रों को Cruci form instruments, संदंशयन्त्रों को Pincher-like forceps, तालयन्त्रों को Pick lock like instruments, नाडीयन्त्रों को Tubular instruments और शलाकायन्त्रों को Probes कहते हैं।

तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयन्त्राणि, द्वे संदंशयन्त्रे, द्वे एव तालयन्त्रे, विंशतिर्नाड्यः, अष्टाविंशतिः शलाकाः, पञ्चविंशतिरुपयन्त्राणि ॥५॥

उन में से स्वस्तिकयन्त्र चौबीस हैं, संदंशयन्त्र दो हैं, तालयन्त्र दो हैं, नाडीयन्त्र बीस हैं, शलाकायन्त्र अट्ठाईस हैं और उपयन्त्र पच्चीस हैं ॥५॥

वक्तव्य—वाग्भट ने संदंशयन्त्र चार, नाडीयन्त्र तेईस, शकालायन्त्र चौतीस और उपयन्त्र उन्नीस वर्णन किये हैं।

तानि प्रायशो लौहानि भवन्ति, तत्प्रतिरूपकाणि वा तदलाभे ॥६॥

यन्त्र प्रायः लोहे के होते हैं, लोहे के अभाव में उसके प्रतिरूपक अन्य पदार्थ के होने चाहियें ॥६॥

वक्तव्य—लोह शब्द में यद्यपि स्वर्णादि पंचधातु का समावेश होता है तथापि यहाँ लोह से केवल फ़ौलाद (स्टील) समझना अधिक प्रशस्त है। जब लोह मिलना कठिन होता है तब लोह के प्रतिरूपक स्वर्ण, ताम्र इत्यादि धातु तथा हस्तिदन्त, सींग, लकड़ी इत्यादिक पदार्थों का उपयोग करना चाहिये।

तत्र, नानाप्रकाराणां व्यालानां मृगपक्षिणां मुखैर्मुखानि यन्त्राणां प्रायशः सदृशानि; तस्मात्तत्सारूप्यादागमादुपदेशादन्ययन्त्रदर्शनाद्युक्तितश्च कारयेत्॥

इन यन्त्रों के मुख बहुधा नाना प्रकार के हिंसक पशु तथा पक्षियों के मुख के समान होते हैं। इसलिये (नवीन यन्त्र बनवाने के समय) उक्त प्राणियों के मुखसादृश्यानुसार, शास्त्र के (निर्दिष्ट हुए) प्रमाणानुसार, शिष्ट वैद्यों के उपदेशानुसार,

(पहले के बने हुए) अन्य यन्त्रों के अनुसार तथा प्रयोजन के अनुसार यन्त्र बनवाने चाहिएं ॥७॥

वक्तव्य—सुखैः सदृशानि यन्त्राणां मुखानि, 'भवन्ति' इत्यध्याहारः। प्रायशः—यन्त्रमुखों का सादृश्य प्राणियों के मुख से हू-बहू नहीं होता है। यन्त्राणाम्—यद्यपि यहाँ व्यालमुखसादृश्य सर्व यन्त्रों के संबंध में लिखा है तथापि केवल स्वस्तिक यन्त्रों के संबंध में यह होता है। इसलिये 'यन्त्राणां' के पहले 'स्वस्तिक' शब्द अध्याहृत समझना चाहिये। अष्टांग संग्रह तथा हृदय में वाग्भट ने यह संदिग्धता दूर की है—'तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि कङ्कसिंहगृध्रकुररादिविविधव्यालमुखान्याकारानुगताभिधानानि' ॥ (अ. सं. सू. अ. ३४)। युक्तितः–अपने अनुभवानुसार तथा चिकित्स्य पुरुष के वय तथा अवयव विभाग के परिमाण का विचार करके।

समाहितानि यन्त्राणि खरश्लक्ष्णमुखानि च ।
सुदृढानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत् ॥८॥

सब यन्त्र प्रमाणबद्ध, मजबूत, सुंदर, सुग्रह तथा (कतिपय) खुरदरे मुखवाले और (कतिपय) मृदु मुखवाले बनवाने चाहिएँ ॥८॥

वक्तव्य—समाहित—प्रमाण के अनुसार विविध अंग बने हुए अर्थात् सुडौल। खरश्लक्ष्णमुख—कार्यभिन्नता के अनुसार यन्त्रों के मुख (बाह्य भाग तथा आभ्यन्तर भाग) मृदु तथा खुरदरे रखने चाहिएँ। यथा—शल्यग्रहण तथा आहरण के लिये खरमुख यन्त्रों की और मार्गविशोधन (मूत्रोत्सर्गिका नाडी-क्योथेटर) के लिये मृदुमुख यन्त्रों की आवश्यकता होती है। सुग्रह–हस्तधार्य प्रदेश उत्तम होने के कारण जिसको विना परिश्रम पकड़ सकते हैं अथवा शल्य, हड्डी इत्यादि ग्राह्य वस्तु को जो यन्त्र भली भाँति पकड़ सकते हैं। इसी गुण के संबंध में आगे 'अग्राहि विषमग्राहि' यन्त्र के दोष बतलाये गये हैं। उत्तम यन्त्र में सुग्रह के बतलाये हुए दोनों गुण होने चाहियें।

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि-अष्टादशाङ्गुलप्रमाणानि, सिंहव्याघ्रवृकतरक्ष्वृक्षद्वीपिमार्जारशृगालमृगैर्वारुककाककङ्ककुररचासभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्रक्रौञ्चभृङ्ग[1]राजाञ्जलिकर्णावभञ्जननन्दि(न्दी)मुखमुखानि, मसूराकृतिभिः कीलैरवबद्धानि, मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवाराङ्गाणि, अस्थिविदं[2]ष्टशल्योद्धरणार्थमुपदिश्यन्ते ॥९॥

उनमें स्वस्तिकयन्त्र अठारह अंगुल प्रमाण के (सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, तरक्षु (चरख Hyaena), रीछ, चित्रव्याघ्र (चीता Panther), मार्जार, गीदड़, मृगैर्वारुक,) काक, कङ्क (बगला Heron), कुरर (टिटिहरी Osprey), चास (बहरी Blue joy), भास, शशघाती (बाज Hawk), उलूक (उल्लू Awl), चिल्ली (चील kite), श्येन (Vulture) गृध्र (गीध Taleon), क्रौंच (Catlew), भृङ्गराज, अञ्जलिकर्ण, अवभञ्जन, नन्दिमुख) इनके मुखसमान मुखवाले, मसूर के समान कील से (दोनों खंड बीच में) जुड़े हुए और धार्य (Handle) अंकुश के समान वक्र किये हुए होने चाहिएँ। ये यन्त्र हड्डी के तथा अन्य गहरे अदृश्य शल्य निकालने के लिये होते हैं ॥९॥

वक्तव्य—इन चौवीस पशु-पक्षियों में से कतिपय पक्षी प्राचीन काल से अज्ञात थे। यथा—अञ्जलिकर्ण, अवभञ्जन। मृगैर्वारुक–इसके विषय में मतभिन्नता दिखाई देती है। डल्हण इसका समावेश हिंस्र पशुओं में करता है। हाराणचंद्र भी इसका अर्थ 'हरिणसदृशो व्यालः' देते हैं। नव्य टीकाकार (An inter prelation of Ancient Hindu Medicine पृष्ठ ४९३–४९४ और Surgical instruments of the Hindus पृष्ठ १०२) इसका अर्थ केवल हरिण (Deer) करते हैं। अष्टांगसंग्रह में स्वस्तिकयन्त्र के सर्व पशु पक्षी हिंस्र बतलाये गये हैं—'तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि कङ्कसिंहगृध्रकुररादिविविधव्यालमुखानि'। इसलिये मृगैर्वारुक कोई हिंस्र पशु ही होगा, हरिण नहीं हो सकता है। मसूराकृतिभिः कीलैः—जिस कील का मध्य भाग पतला और दोनों सिरे मसूरदल सदृश चपटे होते हैं—'मसूराकारपर्यन्तैः कण्ठे बद्धानि कीलकैः'। (वाग्भट)। कील जिस स्थान में होता है, उसे कण्ठ प्रदेश कहते हैं। यह कण्ठ अग्र के जितना समीप होगा, उतनी यन्त्र की पकड़ (Grasp. Tix) मजबूत होगी। वारङ्ग–धार्यप्रदेश अथवा यन्त्र का मूल भाग, जिस में यन्त्र को हाथ से पकड़ते हैं (Handle)।

इन स्वस्तिक यन्त्रों के दो विभाग किये गये हैं। प्रथम विभाग सिंहमुख से मृगैर्वारुकमुख तक नव स्वस्तिक यन्त्रों का है और ये यन्त्र दृश्य या उपरितन शल्यों का आहरण करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। दूसरा विभाग काकमुख से नन्दीमुख तक पंद्रह स्वस्तिक यन्त्रों का होता है और इनका उपयोग गूढ़ या गहरे शल्यों का आहरण करने के लिये होता है। 'तेषां सिंहव्याघ्रभुजंगमकरादिमुखानि दृश्यवारंगेषु शल्येषु प्रयोजयेत्; इतरेषु तु यथायोगं व्रणाकारानुरोधेन कङ्ककाककुररादिमुखानि'। (अ. संग्रह)। कारण यह है कि सिंहमुखादि यन्त्र मोटे मुख के होने के कारण भीतर प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु कङ्कमुखादि पतले मुख के होने के कारण भीतर प्रवेश कर सकते हैं।

आधुनिक यन्त्र-संभार में भी हड्डी पकड़ने, बंदूक की गोली निकालने, दाँत निकालने, कर्ण नासागत शल्य निकालने तथा अन्य कामों के लिये अनेक पशु-पक्षियों के मुखानुकारी स्वस्तिक यन्त्र प्रयुक्त होते हैं। परन्तु इनके नाम क्वचित अन्वेषक के अनुसार और अधिकतर स्थानिक कार्य कें अनुसार रक्खे गये हैं। यथा—Ferguson's Forceps, Tarabeuf's Forceps, Bedfords's Forceps इत्यादि अन्वेषक के अनुसार नाम रक्खे हैं और Aural Forceps, Dental Forceps, Bone Forceps इत्यादि नाम स्थानिक कार्य के अनुसार हैं। तो भी कतिपय नाम प्राणियों के अंग–सादृश्यानुसार रक्खे गये हैं। यथा—सिंहमुख Lion Forceps, शशघातीमुख Dental Hawk bill Forceps, मूषिकमुख Mouse teeth Forceps, मकरमुख Crocodile Forceps, श्वामुख Bulldog Volsalla ets। स्वस्तिक यन्त्रों का समावेश Forceps वर्ग के यन्त्रों में होता है।

---

१ ॰भृङ्गराजाञ्जलीककर्णा॰. २ ॰विनष्ट॰.

सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदंशौ षोडशाङ्गुलौ भवतः; तौ त्वङ्मांससिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते॥

सनिग्रह और अनिग्रह ऐसे सोलह अंगुल के दो संदंश होते हैं और ये त्वचा मांस सिरा स्नायुगत शल्य निकालने के काम में आते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—सनिग्रह—कीलयुक्त । अनिग्रह-कीलरहित । डल्हण अपनी टीका में सनिग्रह का अर्थ सवारङ्ग (with handle) करता है । परंतु यह अर्थ अप्रशस्त है । प्रथम कारण यह है कि सनिग्रह का अर्थ सवारङ्ग करने से वह स्वस्तिक यन्त्र बन जाता है । परंतु स्वस्तिक यन्त्र ऊपर स्वतन्त्र विभाग में वर्णित हुए हैं । दूसरा कारण यह है कि अष्टांगसंग्रह में 'सनिबन्धनो निर्निबंधनश्च षोडशाङ्गुलौ संदंशौ द्वौ भवतः' ऐसा पाठ है और उसकी टीका में 'सनिबंधनः कीलबद्धः' ऐसा अर्थ दिया है । अष्टांगहृदय में भी कील का स्पष्ट निर्देश किया है—'कीलबद्धविमुक्ताग्रौ संदंशौ षोडशांगुलौ' । इन सब बातों का विचार करने से सनिग्रह संदंश अँग्रेजी V के आकार का या Dressing Torceps के आकार का और अनिग्रह संदंश अँग्रेजी U के आकार का होना चाहिये । सनिग्रह का दूसरा अर्थ with a catch और अनिग्रह का without a catch ऐसा भी अर्थ आधुनिक यन्त्रसंभार देखकर हो सकता है । परन्तु समय का विचार करने से इस अर्थ को स्वीकार करने में थोड़ी आपत्ति होती है ।

इन दो संदंशों के अतिरिक्त वाग्भट ने दो और संदंश वर्णन किये हैं । (१) 'षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम्' । सूक्ष्मशल्य तथा उपपक्ष्म पकड़ कर उखाड़ने के लिये छः अंगुली परिमाण का एक संदंश होता है । हारीतसंहिता में सूक्ष्मशल्याहरण के लिये संदंश का उपयोग बतलाया है—'अतिगुप्तं च शल्यं च संदंशेन समुद्धरेत्' । पक्ष्मकोप में आँखों को तकलीफ देने वाले केश संदंश की सहायता से निकालने की पद्धति थी । 'उपपक्ष्माणि तु लाक्षारसेन लक्षयित्वा संदंशेनोद्धृत्य तनुसूच्यग्रेणाग्निवर्णेन रोमकूपान् दहेत्' । (अ. संग्रह) । आधुनिक नेत्रविज्ञान में पक्ष्मकोप (Trichiasis, Distichiasis) के लिये यह एक चिकित्सा होती है और पलक निकालने की इस विधि को Epilation कहते हैं और संदंश को Epilation Torceps कहते हैं ।

(२) मुचुंडीसंदंश—'मुचुंडीसूक्ष्मदन्तर्जुमूले रुचकभूषणा । गंभीरव्रणमांसानामर्मणः शेषितस्य च' ॥ इसके मूल में एक वलय और अग्र में सूक्ष्म दांत होते हैं और गंभीरव्रण का मांस (Granulations) तथा अर्म (Pterygium) का शेष निकालने के लिये इसका उपयोग होता है ।

तालयन्त्रे-द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालुवदेकतालद्वितालके; कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम् ॥११॥

तालयन्त्र दो ही प्रकार के और बारह अंगुल के होते हैं । वे मछली के तालु के समान एक तालयुक्त और दो तालयुक्त होते हैं और कान, नासिका, नाड़ी इनमें से शल्य निकालने के काम में आते हैं ॥११॥

वक्तव्य—ताल—इसके अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता दिखाई देती है । परन्तु ताल का सरल अर्थ निम्न मध्यप्रदेश है । कांसे के बजाने के वाद्य विशेष को ही ताल कहते हैं । तालः—'वाद्यभाण्डे च कांस्यस्य' मेदिनी । हस्ततल की जो विशेष आकृति होती है, उसे भी ताल कहते हैं । संक्षेप में ताल का अर्थ किंचित् गर्तयुक्त प्रदेश है । मत्स्यतालुवत्—मत्स्यतालु के समान मृदु । जिस यन्त्र में एक ही ताल होता है, उसे एकताल यन्त्र कहते हैं और जिस में दो ताल होते हैं, उसे द्विताल कहते हैं । शल्याहरण के लिये प्रत्येक यन्त्र में कम से कम एक ताल और अधिक से अधिक दो ताल हो सकते हैं । इसलिये तालयन्त्र दो से अधिक होने असंभव हैं और इसी विचार से सूत्र पांच में लिखा है 'द्वे एव तालयन्त्रे' । आधुनिक दृष्टि से तालयन्त्र को स्कूप (Scoop) कह सकते हैं । स्पून (Spoon) भी तालयन्त्र में ही समाविष्ट होते हैं । एकताल (Single Scoop) और द्विताल (Double Scoop) होता है ।

नाडीयन्त्राणि-अप्यनेकप्रकाराणि, अनेकप्रयोजनानि, एकतोमुखान्युभयतोमुखानि च; तानि स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं, रोगदर्शनार्थम्, आचूषणार्थं, क्रियासौकर्यार्थं चेति; तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोगदीर्घाणि च । तत्र भगन्दरार्शोव्रणवस्त्युत्तरबस्तिमूत्रवृद्धिदकोदरधूमनिरुद्धप्रकशसन्निरुद्धगुदयन्त्राण्यलाबूश्रृङ्गयन्त्राणि चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥१२॥

नाडीयन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं और अनेक कामों में आते हैं । उनमें से कई एक मुख वाले और कई दो मुख वाले होते हैं । (कतिपय) नाड़ीयन्त्र स्रोतोगत शल्य निकालने के काम में, (कतिपय) रोगी के रोग की परीक्षा करने के लिये, (कतिपय) चूसने के काम में और (कतिपय शस्त्र कर्म के समय) क्रिया में सुगमता उत्पन्न करने के काम में आते हैं । इनकी मोटाई नाडियों के छिद्र में ठीक प्रवेश करने योग्य और लंबाई आवश्यकता के अनुसार (न्यूनाधिक) होती है ॥१२॥

वक्तव्य—नाडीयन्त्र—नाडीवान्तःशुषिराणि यन्त्राणि नाडीयन्त्राणि । नलिका की भांति भीतर पोले जो यन्त्र होते हैं, उन को नाडीयन्त्र कहते हैं । एकतोमुखानि—जिनका एक मुख बंद और एक मुख खुला है । उभयतोमुखानि—जिनके दोनों मुख खुले होते हैं । अलाबू, एक मुख नाडीयन्त्र का उदाहरण है । मूत्रवृद्धि, दकोदर, धूमनलिका उभयमुख नाडीयन्त्र के उदाहरण हैं । रोगदर्शनार्थम्—शरीर के आभ्यन्तरीय रोगों का निरीक्षण करने के लिये नाडीयन्त्रों का उपयोग होता है । यथा—योनिव्रणेक्षणयन्त्र, अर्शोयन्त्र । आधुनिक शल्यशास्त्र में रोगदर्शन के लिये जो नाडीयन्त्र व्यवहृत होते हैं, उनको 'स्पेक्यूलम' (Speculum) कहते हैं । यथा—Vaginal, Speculum, Rectal Speculum, Ear Speculum, Nasal Speculum इत्यादि । इनके सिवाय रोगदर्शन के लिये दूसरे प्रकार के नाडीयन्त्र होते हैं, जिन में प्रकाश का विशेष प्रबंध होता है । उनको स्कोप (Scope) कहते हैं । यथा—Auro Scope, cysto Scope, Recto Scope इत्यादि । इनका भी समावेश रोगदर्शक नाडीयन्त्रों में ही करना चाहिये । आचूषणार्थम्—अस्थिगतवात, दुष्टरक्त, स्तन्य इत्यादि चूसने के लिये नाडीयन्त्रों का उपयोग होता है । अस्थिगत वात—'निरुद्धेऽस्थिनि वा वायौ पाणि-

---

१ मत्स्यताल .

मन्थेन दारिते । नाडीं दत्त्वाऽस्थिनि भिषक् चूषयेत् पवनं बली' ॥ (सु. चि. अ. ४) । दुष्ट रक्त के लिये अलाबू, शृंग इत्यादिक का उपयोग होता है । दुष्टस्तन्य—दूषित दुग्ध निकाल देने के लिये स्तनरोग की चिकित्सा में कहा है परन्तु वहां किसी विशेष यन्त्र का निर्देश नहीं किया है—'धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत' । संप्रति दूषित दूध निकालने के लिये ब्रेस्ट पम्प (Breast pump) नामक नाडीयन्त्र का उपयोग होता है । इनके सिवाय छाती में जब जलसंचय (Pleurisy with effusion) होता है, तब जल निकालने के लिये पोटेनस् अस्पिरेटर (Potains Aspirator) नामक नाडीयन्त्र और पथरी फोड़ने के पश्चात् उसके कण निकालने के लिये (Eva cuator) इवैक्युएटर नाडीयन्त्र संप्रति व्यवहृत होते हैं । क्रियासौकर्यार्थं च—शस्त्रक्रिया में सुगमता तथा क्षारादि ओषधियों का उपयोग करने के काम में सहायता देने के लिये । यथा—एक छिद्र अर्शोयन्त्र अर्श के ऊपर क्षार या अग्नि प्रयोग करने में बहुत सहायता करता है । शस्त्रक्रिया में सौकर्य उत्पन्न करने के लिये प्राचीन काल में नाडीयन्त्रों का बहुत उपयोग नहीं दिखाई देता है । आधुनिक शल्यचिकित्सा में इस काम के लिये बहुत नाडीयन्त्र व्यवहृत होते हैं । इनको डायरेक्टर (Director) कहते हैं । यथा—Probe director, Hernia director, Lithotomy director, Tistula director इत्यादि ।

तत्र भगन्दरादि—यहां भगन्दरादि बारह नाडीयन्त्रों के नाम निर्दिष्ट किये हैं । परंतु इनमें से कई यन्त्र अनेक होने के कारण इनकी संख्या बीस होती है ।

	नाम और वर्णन (डल्हण की टीकानुसार)	संख्या
१	भगन्दरयन्त्र—(१) एकच्छिद्र (२) द्विच्छिद्र	२
२	अर्शोयन्त्र—(१) एकच्छिद्र (२) द्विच्छिद्र	२
३	व्रणयन्त्र—	१
४	बस्तियन्त्र—षडष्टदशद्वादशाङ्गुलभेदात्	४
५	उत्तरबस्ति—स्त्री-पुरुषभेदात्	२
६	मूत्रवृद्धिस्रावणयन्त्र—	१
७	जलोदरस्रावणयन्त्र—	१
८	धूमनेत्रयन्त्र-(१) वैरेचनिक, (२) स्नैहिक,(३)प्रायोगिक	३
९	निरुद्धप्रकशयन्त्र—	१
१०	सन्निरुद्धगुदयन्त्र—	१
११	अलाबूयन्त्र—	१
१२	शृंगयन्त्र—	१
		२०

	नाडीयन्त्राणि (हाराणचंद्र की टीकानुसार)	
१	अर्शोयन्त्र—स्त्री और पुरुष भेद के कारण	२
२	बस्तियन्त्र—षडष्टदशद्वादशाङ्गुलप्रमाणभेद्रात्—	४
३	उत्तरबस्तियन्त्र—पुंसां द्वे, स्त्रीणां द्वे, कन्यानां चैकम्—	५
४	दकोदरयन्त्र—	१
५	धूमयन्त्राणि—प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक, कासघ्न, व्रणधूपन—	५
६	निरुद्धप्रकशयन्त्र—	१
७	अलाबूयन्त्र—	१
८	शृंगयन्त्र—	१
		२०

भगन्दर और अर्शोयन्त्र (Rectal Speculum)—इनका वर्णन चिकित्सास्थान के अर्श और भगन्दर चिकित्सा में किया है । व्रणबस्ति—इसका उपयोग व्रण या नाडीव्रण का प्रक्षालन करने के लिये किया जाता था । यन्त्रवर्णन—'यन्त्रे नाडीव्रणाभ्यंगक्षालनाय षडङ्गुले । बस्तियन्त्राकृती मूले मुखेऽङ्गुष्ठकलायख । अग्रतोऽकर्णिके मूले निवद्धमृदुचर्मणि' ॥ (अ. हृदय) । सांप्रत व्रणप्रक्षालन के लिये सिरिंज (Syringe) तथा इरिगेटर (Irrigator) का उपयोग करते हैं ।

बस्तियन्त्र—इनका वर्णन चिकित्सा स्थान के नेत्रबस्ति प्रविभाग चिकित्सित अध्याय में किया है । बस्तिविधि के लिये अँग्रेजी में एनेमा (Enema) कहते हैं । एनेमा देने के लिये दो यन्त्र प्रयुक्त होते हैं । इनमें से बस्तियन्त्र का सादृश्य 'रबड़ बाल एनेमा सिरिञ्ज' (Rubber boll enema Syringe) के साथ होता है । दूसरा दीवाल के साथ टांगने का यन्त्र है । उसे 'इरीगेटर' कहते हैं ।

उत्तरबस्तियन्त्र—इस यन्त्र का वर्णन चिकित्सास्थान के अनुवासनोत्तर बस्ति चिकित्सित में किया है । उत्तरबस्तियन्त्र का सादृश्य आधुनिक रबड़ बाल व्हजायनल डूश (Rubber boll vaginal douche) के साथ होता है ।

मूत्रवृद्धिदकोदरयन्त्राणि—मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और जलोदर में (Ascites) पानी निकालने के लिये इनका उपयोग होता है । प्रथम व्रीहिमुख शस्त्र से छेद करके तत्पश्चात् उस छेद में यह यन्त्र प्रविष्ट किया जाता था । यह एक द्विमुख नलिका होती है जो सीसा, रांगा या पंख की बनाई जाती है । 'तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत्' । सांप्रत मूत्रवृद्धि और जलोदर में पानी निकालने के लिये प्राचीन काल के नलिका की भाँति लोहे की नलिका होती है । उसे 'क्यानूला' (Canula) कहते हैं ।

निरुद्धप्रकशयन्त्र सन्निरुद्धगुदयन्त्र—शिश्नचर्मसंकोच (Phimosis) और गुदसंकोच (Stricture of the rectum or onus) में स्रोतविस्तार करने के लिये इनका उपयोग किया जाता था । ये यन्त्र लोह, स्वर्ण, लकड़ी या लाक्षा की द्विमुख नलिकायुक्त होते हैं । सर्व यन्त्र एक मोटाई के न होकर एक से उत्तरोत्तर दूसरे बढ़कर होते हैं । इनका उपयोग छोटे से प्रारंभ करके मोटे यन्त्र तक धीरे धीरे किया जाता है । 'निरुद्धप्रकशे नाडीं द्विमुखीं कनकादिजाम् ।' (चक्रदत्त) । 'निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम् । दार्वीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत् ॥ त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ् नाडीं प्रवेशयेत् । स्रोतो-विवर्धयेत्' । (सुश्रुत) । आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में भी सन्निरुद्धगुद और निरुद्धप्रकश की चिकित्सा इसी प्रकार के नाडीयन्त्रों से की जाती है । परंतु ये यन्त्र भीतर पोले नहीं होते हैं । सन्निरुद्धगुद की चिकित्सा में प्रयुक्त नाडीयन्त्रों का नाम रेक्टल डायलेटर या बूजी (Rectal dilator or Bougie) है और निरुद्धप्रकश की चिकित्सा में प्रयुक्त यन्त्रों का नाम प्रेप्यूस या युरेथ्रल डायलेटर (Prepuce or Urethral dilator) हैं । आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में गर्भाशय ग्रीवा संकोच में भी नाडीयन्त्रों (Uterine dilators) का उपयोग करके ग्रीवा की वृद्धि की जाती है । सामान्यतया छोटे से लेकर मोटे यन्त्र तक इनकी

संख्या बारह होती है और प्रत्येक यन्त्र पर उसकी मोटाई और नंबर होता है।

धूमयन्त्र—इनका वर्णन चिकित्सास्थान के अंतिम अध्याय में किया गया है। इनका उपयोग व्रणधूपन (Fumigation) और धूमपान (Inhalation) के लिये किया जाता है। व्रणधूपन के लिये निम्बवचादि जीवाणुनाशक (Disinfectant) ओषधियों का उपयोग होता था—व्रणे निम्बवचाद्यं च धूपनं संप्रशस्यते। (शार्ङ्गधर)। इस व्रणधूपन में जीवाणुनाशक व्रणचिकित्सापद्धति की स्पष्ट कल्पना (Antiseptic method of treatment) दिखाई देती है। आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में व्रणशुद्धि के लिये धूपनपद्धति को अंगीकार नहीं करते हैं। क्योंकि अत्यंत तीव्र जीवाणुविनाशक रासायनिक ओषधियों के घोल व्रण धोने के लिये प्रयुक्त होते हैं। परन्तु आज भी प्राचीन काल की भांति राजयक्ष्मा, प्रतिश्याय, श्वास, कासादि श्वसनसंस्थान के रोगों के लिये ओषधि धूमपान (Inhalation) का प्रयोग होता है और इस प्रयोग के लिये जो यन्त्र होते हैं वे भी पुरानी पद्धति के यन्त्र की भांति होते हैं—'व्यपेतधूमाङ्गारे स्थिरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वर्ति मूलच्छिद्रेणान्येन शरावेण पिधाय तस्मिन् छिद्रे नेत्रमूलं संयोज्य धूममासेवेत' (सुश्रुत)। इनको इनहेलर्स (Inhalers) या रेस्पिरेटर्स (Respirators) कहते हैं।

अलाबूश्रृङ्गयन्त्राणि—ये यन्त्र दुष्टरक्त, विषदूषित रक्त, कर्णगत शल्यादि निकालने के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनका कार्य चूषण द्वारा होता है और यह चूषण मुख से ही किया जाता है। यथा—'कर्णच्छिद्रे वर्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा। शृंगेणापहरेद्धीमान्' (सुश्रुत)। श्रृङ्गयन्त्र—'त्र्यङ्गुलास्यं भवेच्छृंगं चूषणेऽष्टादशांगुलम्। अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति'॥ अलाबूयन्त्र—'स्याद्द्वादशांगुलोऽलाबुर्नाहे त्वष्टादशांगुलः। चतुस्त्र्यंगुलवृत्तास्यो दीप्तोऽन्तःश्लेष्मरक्तहृत्'॥ (अ. हृदय)। आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी फोड़े-फुन्सियों में से दुष्टरक्तादि कुपित भाग निकाल देने के लिये अलाबू और श्रृङ्ग की भांति कपिंग ग्लासेस (Cupping glasses) का उपयोग हुआ करता है। परंतु मुखचूषण में खतरा होने के कारण यह चूषण का कार्य रबड बाल (Suetion balls) द्वारा किया जाता है। इन दो यन्त्रों के सिवाय वाग्भट ने चूषण के लिये घटीयन्त्र का निर्देश किया है—'तद्वद्घटी हिता-गुल्मविलयोन्नमने च सा'। चरक (गुल्मचिकित्सा) में इस घटी का उपयोग गुल्मचिकित्सा के लिये कहा है। अलाबू तथा घटी में चूषण मुखद्वारा नहीं होता है। कारण, यह यन्त्र एकमुख होते हैं। इनके भीतर प्रदीप जलाकर चूषण का कार्य किया जाता है। इस के विवरण के लिये सूत्रस्थान अ. १३ सूत्र ७ की टिप्पणी देखो।

उपर्युक्त अर्शोभगन्दरादि यन्त्रों के अतिरिक्त वाग्भट में निम्न नाडीयन्त्र अधिक मिलते हैं। (१) कण्ठशल्यावलोकिनी नाडी (Throat Spec ulum)—'दशांगुलार्धनाहान्तःकण्ठ शल्यावलोकने। नाडी पंचमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य संग्रहे। वारंगस्य द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः'॥ (२) शल्यनिर्घातिनी—'पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशी द्वादशांगुला। चतुर्थसुषिरा नाडी शल्यनिर्घातिनी मता'॥ (३) अंगुलित्राणक—यह यन्त्र हस्तिदंत या लकड़ी का होता था और रोगी का मुख खोलते समय दाँतों से अंगुलि का रक्षण करने के लिये प्रयुक्त होता था—'अंगुलित्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरंगुलम्। द्विच्छिद्रं गोस्तनाकारं तद्वक्त्रविवृतौ सुखम्'॥ अँग्रेजी में अंगुलित्राणक को फिंगर गार्ड (Finger guard) कहते हैं। मामूली मलमूत्र तथा पूयरक्तादि दूषित पदार्थों से अंगुलियों की रक्षा करने के लिये आधुनिक शल्यचिकित्सा में अँगुलित्राणक की भांति मुलायम गोस्तनाकार रबड़ के पदार्थ प्रयुक्त होते हैं। उनको फिंगर स्टाल (Finger stall) कहते हैं। (४) शमीयन्त्र—यह यन्त्र अर्शोयन्त्र सदृश होता है परन्तु इसमें छिद्र नहीं रहता है। इस का उपयोग अर्श पर दबाव डालने के लिये होता था। 'शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यन्त्रमर्शःप्रपीडनम्'। (५) घ्राणार्बुदार्शोयन्त्र—नासा स्थित अर्बुद या अर्श (Polypus) देखने के लिये इस नाडीयन्त्र का उपयोग होता था। 'घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाड्यंगुलद्वया। प्रदेशिनीपरीणाहा स्याद्भगंदरयन्त्रवत्'॥ आधुनिक यन्त्र संभार में नेझल स्पेक्यूलम (Nasal Speculum) ऐसा ही होता है। परंतु उसमें पकड़ (Handle) द्वारा परिणाह छोटा और मोटा करने का प्रबंध होता है। (६) योनिव्रणेक्षणयन्त्र—योनि के अभ्यंतरीय प्रदेश का निरीक्षण करने के लिये इसका उपयोग होता था। यह नाडीयन्त्र एक तरफ नुकीला और दूसरे तरफ चौड़ा होता है। इसकी दीवाल चार खंडों में विभक्त होती है और ये खण्ड एक तरफ वलय के साथ लगे हुए रहते हैं। प्रत्येक खण्ड के साथ एक शलाका (Liver rod) लगी हुई रहती है और इनके उपर दबाव डालने से मुकुल सदृश यन्त्र का मुख विकसित होता है—'योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशांगुलम्। मुद्रावद्धं चतुर्भित्तमंभोजमुकुलननम्॥ चतुःशलाकमाक्रान्तं मूले तद्विकसेन्मुखे'॥ इस यन्त्र की रचना वाग्भटार्थकौमुदी में सुन्दर वर्णन की गई है—'अस्य यन्त्रस्य कल्पनायां चत्वारि खण्डानि तथा कार्याणि यथा मुद्रिकया बद्धानि मिलितानि च पद्ममुकुलाकारमुखा, अन्तरशुषिरा, षडंगुलपरिणाहवती नाडी स्यात्। ततस्तन्मध्ये प्रत्येकं खण्डसंलग्नं चतस्रः शलाका आमुखात् सन्निवेश्य शलाकानां मध्यभागे तथा बध्नीयात् यथा शलाकामूलपीडनेन यन्त्रस्य मुखं विकसेत्'। पाश्चात्त्य वैद्यकीय परिभाषा में योनिवीक्षण यन्त्र को 'व्हजायनल स्पेक्युलम' (Vaginal Speculum) कहते हैं। ये स्पेक्युलम अर्शोयन्त्र की भांति वृत्त (यथा Fergusson's Speculum), द्विभित्त (यथा Cusco's Vaginal Speculum), और चतुर्भित्त (Allingham's Speculum) होते हैं। वाग्भटोक्त योनिव्रणेक्षण यन्त्र आधुनिक चतुर्भित्त व्हजानल स्पेक्युलम के साथ बहुत कुछ सादृश्य रखता है।

शलाकायन्त्राण्यपि नानाप्रकाराणि, नानाप्रयोजनानि, यथायोगपरिणाहदीर्घाणि च; तेषां गण्डूपदसर्पफणशरपुङ्खबडिशमुखे द्वे द्वे, एषणव्यूहनचालनाहरणार्थमुपदिश्येते; मसूरदलमात्रमुखे द्वे किंचिदानताग्रे स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं; षट् कार्पासकृतोष्णीषाणि, प्रमार्जनक्रियासु; त्रीणि दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि, क्षारौषधप्रणिधानार्थं; त्रीण्यन्यानि जाम्बववदनानि, त्रीण्यङ्कुशवदनानि, षडेवाग्निकर्मस्वभिप्रेतानि; नासार्बुदहरणार्थमेकं कोलास्थिदल-

मात्रमुखं खल्लतीक्ष्णोष्ठम्; अञ्जनार्थमेकं कलायपरिमण्डलमुभयतो मुकुलाग्रं; मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलमिति ॥१३॥

शलाका यन्त्र भी अनेक प्रकार के होते हैं, अनेक कामों में आते हैं और प्रयोजन के अनुसार मोटे तथा लंबे होते हैं। उनमें केंचवे के समान मुखवाली दो शलाकाएँ होती हैं, जो एषण के काम में आती हैं। दो साँप के फण के समान मुख वाली होती हैं, जो व्यूहन के काम में आती है। दो शलाकाएँ बाणमूल के समान मुखवाली होती हैं, जो चालन के काम में आती हैं। और दो शलाकाएँ बडिश (आंकड़ा) के समान मुख वाली होती हैं, जो आहरण के काम में आती हैं। मसूर दाल के समान मुखवाली किंचित् नीचे की ओर मुड़ी हुई दो शलाकाएँ होती हैं, जो स्रोतोगत शल्य निकालने के काम में आती हैं। छः शलाकाएँ रुई से सिर लिपटी हुई होती हैं, जो (व्रणादि) पोंछने के काम में आती हैं। तीन शलाकाएँ निम्न मुख वाली (देखने में) कलछी के समान होती हैं, जो क्षार औषध पहुँचाने के काम में आती हैं। दूसरी तीन शलाकाएँ जामुन फल के समान मुख वाली और तीन अंकुश के समान मुखवाली होती हैं। ये छहों शलाकाएँ अग्निकर्म में उपयोगी होती हैं। छोटे बेर की आधी गुठली के समान मखवाली किंचित् निम्न तथा तीक्ष्ण किनारे की एक शलाका होती है, जो नासास्थित अर्बुदादिक का आहरण करने के काम में आती है। बीच में मटर के समान गोल मोटी और दोनों ओर पुष्प कलिका के समान पतली ऐसी एक शलाका होती है, जो नेत्रों में अञ्जन डालने के काम में आती है। मालती पुष्पवृन्त (डंठल) अग्र के समान गोल मोटी एक शलाका होती है, जो मूत्रमार्ग के विशोधन के काम में आती है ॥१३॥

वक्तव्य—गण्डूपदादि—यहाँ मुख शब्द का गण्डूपदादि प्रत्येक के साथ संबंध समझना चाहिये जिससे गण्डूपदमुख, सर्पफणामुख इत्यादि शब्द बन जाते हैं। इन गण्डूपदमुखादि चारों शलाकाओं का एषणादि कर्म यथासंख्य समझना चाहिये। वाग्भट में भी इन शलाकाओं के ये ही विशेष कार्य बतलाए गये हैं। वहाँ सर्पफणादि तीन शलाकाओं का निर्देश आकार के अनुसार शंकु के नाम से किया है। यथा—'शङ्कवः षट्'। हाराणचंद्र की सुश्रुतसंहिता में 'गण्डूपदशरपुङ्खसर्पफणबडिशमुखे द्वे द्वे' ऐसा पाठ स्वीकृत किया है और टीका में लिखते हैं—एषणादिकर्मैषां यथायोगमेव बोध्यं न तु यथासंख्यम्'। परन्तु गण्डूपदमुखी शलाका से आहरण का कार्य और सर्पफणमुखी शलाका से अन्वेषण का कार्य ठीक नहीं हो सकता है। अतः इन शलाकाओं का कार्य यथासंख्य समझना ही अधिक प्रशस्त है।

गण्डूपदमुखी—गण्डूपद केंचवा (Earthworm) को कहते हैं। इस कृमि का मुख जैसा थोथा होता है, वैसा इस शलाका का भी होता है। मुख स्थूल इस उद्देश्य से रक्खा जाता है कि व्रण नाड़ी इत्यादिक का अन्वेषण करते समय शलाका से किसी प्रकार की पीड़ा न होने पावे। अँग्रेजी में गण्डूपदमुखी शलाका को 'ब्लंट प्रोब' (Blunt probe) कहते हैं। इनकी मोटाई और लंबाई यथायोग समझना चाहिये।

सर्पफणमुखी—साँप के फणा के समान चौड़ा और चपटा मुख जिसका हो। एक शलाका की लंबाई सोलह अंगुल और दूसरे की बारह अंगुल होती है—'उभौ तेषां षोडशद्वादशाङ्गुलौ। व्यूहनेऽहिफणावक्त्रौ'। (अ. हृदय)। आधुनिक यन्त्रसंभार में भिन्न भिन्न प्रकार के रिट्राक्टरर्स (Retractors) का सादृश्य सर्पफणशलाका के साथ होता है।

शरपुङ्खमुखी—शरपुङ्ख बाणमूल को कहते हैं। एक शरपुङ्खशलाका दस अंगुल लम्बी और दूसरी बारह अंगुल लंबी होती है—'द्वौ दशद्वादशाङ्गुलौ। चालने शरपुङ्खास्यौ'॥ (अ. हृदय)।

बडिशमुखी—बडिश; मत्स्य पकड़ने का लोहे का आंकडा, तत्समान वक्रमुखी शलाका। अँग्रेजी में बडिशमुखी शलाका को हुक (Hook) कहते हैं।

एषणव्यूहनादि शब्दों के अर्थ आगे सूत्र १६ में यन्त्र कर्मों का वर्णन करते समय दिये गये हैं।

मसूरदलमुखी—मुख नासा कर्ण इत्यादि स्रोतों के शल्य निकालने के लिये इसका उपयोग होता है। एक शलाका आठ अंगुल और दूसरी शलाका नव अंगुल होती है। 'स्रोतेभ्यः शल्यहारिणी। मसूरदलवक्त्रे द्वे स्यातामष्टनवांगुले ॥' (अ० हृदय)।

कार्पासकृतोष्णीषाणि—इनका उपयोग गुद, कर्ण और नासा गत व्रण के पूयस्राव पोंछने के लिये तथा क्षारप्रयोग करने के पश्चात् पोंछने के लिये होता है—'विविधव्रणक्लेदक्षारप्रमार्जनक्रियासु' (अ० संग्रह)। इनमें से गुद के लिये दश और बारह अंगुल की दो, नासा के लिये छः और सात अंगुल की दो और कान के लिये आठ और नव अंगुल की दो होती हैं। कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट् प्रमार्जने। पायावासन्नदूरार्थे द्वे दशद्वादशांगुले। द्वे षट्सप्तांगुले घ्राणे द्वे कर्णेऽष्टनवांगुले॥ (अ० हृदय)। अँग्रेजी में इनको स्वाब प्रोब (Swab probes) कहते हैं।

खल्लमुख—'खल्लमौषधमर्दनपात्रमिव मुखं येषाम् तानि तथोक्तानि' (हाराणचन्द्र)। इनकी लंबाई आठ अंगुल की होती है, निम्नता और मोटाई कनिष्ठिका अनामिका मध्यमा अंगुली के नख समान यथाक्रम होती है—'क्षारविषौषधप्रणिधानाय च दर्व्यस्तिस्रोऽष्टांगुला दर्व्याकाराः कनिष्ठिकानामिकामध्यमांगुलिनखपरिमाणनिम्नमुखास्तथाञ्जलिसंस्थानाः' (अ० संग्रह)। अंग्रेजी में इनको स्पून (Spoon) कहते हैं। अंजलिसंस्थानाः—(Spoon shaped)।

अग्निकर्म—अंग्रेजी में इसको कोटरी (Cautery) कहते हैं।

नासार्बुदहरणार्थम्—इस शलाका को अंग्रेजी में नेसल क्युरेटी (Nasal curette) कह सकते हैं। वाग्भट में इस शलाका का आकार बेर की गुठली के समान और कार्य नासागत अर्श तथा अर्बुद का दहन बतलाया है—'कोलास्थिदलतुल्यास्या नासार्शोऽर्बुददाहकृत्'।

अञ्जनार्थम्—अञ्जन के लिये जो शलाका होती है वह मृदु, आठ अंगुल लंबी, बीच में किंचित् पतली, दोनों ओर मटर के समान मोटी, परंतु मुकुल समान अग्रवाली होती है—'वक्त्रयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला। अष्टाङ्गुला तनुर्मध्ये सुकृता साधुनिग्रहा'॥ (सु. उत्तरतन्त्र अ. १७)। लेखन, रोपण, प्रसादन के अनुसार यह भिन्न भिन्न पदार्थ की बनाई जाती है—'प्रशस्ता लेखने ताम्री, रोपणे काललोहजा। अङ्गुलीव सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने॥' (चक्रदत्त)। मूत्रमार्गविशोधनार्थम्—मूत्रमार्ग का अन्वेषण करने

के लिये। चरकसंहिता में दृढबल ने उत्तर बस्ति देने के पहले शलाका से मूत्रमार्ग का अन्वेषण करने के लिये कहा है—'ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृतान्विते। शलाकयान्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत् ॥ ततः शेफप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्' ॥ (सिद्धिस्थान अ.९)। अंग्रेजी में मूत्रमार्गविशोधक शलाका को 'युरेथ्रल साउन्ड या बूजी' (Urethral sound or Bougie) कह सकते हैं।

वाग्भट ने उपरोक्त शलाकाओं के अतिरिक्त निम्न शलाकाओं का अधिक वर्णन किया है।

(१) गर्भशङ्कु—यह शङ्कु मूढगर्भ का शिरोविदारण करने के पश्चात् आहरण करने के लिये प्रयुक्त होता था। इसकी लंबाई अन्य शङ्कु की भाँति दस से सोलह अंगुल होती है। 'नतोऽग्रे शङ्कुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः। अष्टाङ्गुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः' ॥ अंग्रेजी में गर्भ आहरण के इस यन्त्र को ब्लंट हुक एन्ड क्रोचेट (Blunt hook and crotchet) कहते हैं।

(२) सर्पफणमुखी—इसका उपयोग अश्मरी हरण के लिये होता था। सुश्रुत में यद्यपि इसका स्वतंत्र वर्णन नहीं है तथापि अश्मरी के शस्त्रकर्म में 'अग्रवक्त्र' नाम से इसका निर्देश किया है—'यथा च न भिद्यते न चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत, चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति, तस्मात् समस्तामग्रवक्त्रेणाददीत' ॥ अंग्रेजी में अश्मरीहरण शलाका को लिथोटोमी स्कूप (Lithotomy scoop) कहते हैं।

(३) कर्णशोधनयन्त्र—कर्णशोधनमश्वत्थपत्रप्रान्तं स्रुवाननम्। इस यन्त्र को 'इअर स्कूप' (Ear scoop) कह सकते हैं। कर्णरोगचिकित्सा में शलाका द्वारा कान का मल निकालने के लिये सुश्रुत और चक्रदत्त में लिखा है—'कर्णच्छिद्रे वर्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा। श्रृंगेणापहरेद्धीमानथवापि शलाकया' ॥ (सुश्रुत)। 'क्लेदयित्वा तु तैलेन स्वेदेन प्रविलाप्य च। शोधयेत् कर्णगूथं तु भिषक् सम्यक् शलाकया' ॥ (चक्रदत्त)

(४) शरपुङ्खमुखयन्त्र—यह यन्त्र चार अंगुल लंबा होता है और इसका उपयोग दाँत निकालने के लिये किया जाता है। इसका उपयोग और आकार आधुनिक टूथ एलिवेटर (Tooth elevator) के साथ मिलता है। 'शरपुङ्खमुखं दन्तपातनं चतुरङ्गुलम्'।

(५) अर्धेन्दुमुखी शलाका—इस शलाका का उपयोग वङ्क्षणस्थ आंत्रवृद्धि (Bubonocele) की चिकित्सा में दहन कर्म के लिये होता है। यद्यपि इस शलाका का स्पष्ट निर्देश यन्त्रविधि अध्याय में नहीं मिलता है तथापि आंत्रवृद्धिचिकित्सा में इसका नाम आया है—'तत्र या वङ्क्षणस्था तां दहेदर्धेन्दुवक्त्रया। सम्यङ्मार्गाविरोधार्थं कोशप्राप्तां तु वर्जयेत्' ॥ (सु. चि. अ. १९)। इसका वर्णन अष्टांगहृदय में ऐसा किया है—'शलाकामन्त्रवर्त्मनि। मध्योर्ध्ववृत्तदण्डां च मूले चार्धेन्दुसन्निभाम्' ॥ अष्टांगसंग्रह में भी आंत्रवृद्धिचिकित्सा में अर्धेन्दुमुखी शलाका का उपयोग दहन कर्म के लिये बतलाया है। इसलिये निर्णयसागर सुश्रुतसंहिता की टिप्पणी में अर्धेन्दुमुखी के लिये ट्रस (Truss) जो अँग्रेजी प्रतिशब्द दिया है, वह प्रशस्त नहीं हो सकता।

उपयन्त्राण्यपि-रज्जुवेणिकापट्टचर्मान्तर्वल्कल-लतावस्त्राष्ठीलाश्ममुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्त-नखमुखबालाश्वकटकशाखाष्ठीवनप्रवाहणहर्षायस्कान्तमयानि क्षाराग्निभेषजानि चेति ॥१४॥

उपयन्त्र भी (१) रज्जु, (२) वेणिका, (३) पट्ट, (४) चर्म, (५) अन्तर्वल्कल, (६) लता, (७) वस्त्र, (८) अष्ठीलाश्म (९) मुद्गर, (१०) पाणितल पादतल, (११) अङ्गुलि, (१२) जिह्वा, (१३) दन्त, (१४) नख, (१५) मुख, (१६) बाल, (१७) अश्वकटक, (१८) शाखा, (१९) ष्ठीवन, (२०) प्रवाहण, (२१) हर्ष, (२२) अयस्कान्त, (२३) क्षार, (२४) अग्नि, (२५) भेषज (इस प्रकार पच्चीस होते हैं) ॥१४॥

वक्तव्य—उपयन्त्र—यन्त्रसमीपवर्ती हीनयन्त्र 'उपमितानि यन्त्रैरित्युपयन्त्राणि'। जो काम पड़ने पर कई जगह यन्त्र का शल्यहरण का कार्य करते हैं अथवा यन्त्र की क्रियाओं में सहायता करते हैं, वे सब उपयन्त्र कहलाते हैं। इसलिये उपर्युक्त पच्चीस उपयन्त्रों के सिवाय अनेक उपयन्त्र हो सकते हैं। वाग्भट में आन्त्र, काल, पाक, भय ये चार उपयन्त्र अधिक दिये हैं।

आन्त्र—इसका उपयोग सिराधमनी का बंधन करके रक्तस्राव बंद करने के लिये होता था। चरक और सुश्रुत में आन्त्र का उपयोग नहीं दिखाई देता है। अष्टांग संग्रह और हृदय में इस का प्रथम उपयोग आया है—'अन्त्रं मेषादीनां शुष्कान्त्रम् इति ख्यातं शस्त्रच्छेदानन्तरं सूक्ष्मसिरादिबन्धनादिषु युज्यते'। (वाग्भटार्थ कौमुदी)। आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में भी शुष्कान्त्र का उपयोग सीने के लिये (Suture material) तथा रक्तस्तंभन के लिये (Ligature) होता है। इसे क्याट गट (Catgut) कहते हैं और यह बकरी के ही आँत से विशेष पद्धति द्वारा बनाया जाता है।

रज्जु—सूत्र या डोरी—क्षारयुक्त सूत्रों का उपयोग छेदन तथा भेदन के लिये होता था। 'कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या। क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्नतु शस्त्रेण बुद्धिमान्' ॥ (सुश्रुत)। 'भावितं रजनीचूर्णैः स्नुहीक्षीरे पुनः पुनः। बन्धनात् सुदृढं सूत्रं भिनत्त्यर्शोभगन्दरम्' ॥ (चक्रदत्त)। इसके सिवाय सर्पविषचिकित्सा में भी दंशस्थान के ऊपर बांधने के लिये रज्जु का उपयोग होता था—'सा तु रज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता'। (सुश्रुत)। वेणिका का भी यही उपयोग होता था।

पट्ट—व्रणस्थान में बाँधने के विविध आकार के वस्त्र। अँग्रेजी में इनको बेन्डेज (Bandage) कहते हैं। इनका विचार आगे अट्ठारहवें अध्याय में विस्तृत रूप से किया गया है।

चर्म—चर्म का उपयोग बंधन के लिये होता था। गुदभ्रंश में चर्म का गोफणबंध प्रयुक्त होता था—'गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्। कारयेद् गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा' ॥ (सुश्रुत)। अर्श, अश्मरी, भगन्दर, सिराव्यधादि शस्त्रकर्मों में रोगी को कसकर बांधने के लिये चर्मपट्ट का उपयोग होता था। आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में भी अर्शभगंदरादि गुदसमीपवर्ती शस्त्रक्रिया के समय पाँव को निश्चल करने के लिये चर्मपट्टों का (Lithotomy straps) का उपयोग होता है। इनके सिवाय रज्जुवेणिका की भांति सर्पदंश में बांधने के लिये भी चर्मपट्ट का उपयोग होता था—'दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरङ्गुले। प्रोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनान्यतमेन च' ॥ (सुश्रुत)। जलोदर

में जल निकालने के पश्चात् उदरबंधन के लिये चर्मपट्ट का उपयोग होता था–'निस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरं तथा नाध्मापयति वायुः'। (सुश्रुत)। भिन्न भिन्न बस्तियन्त्रों के लिये भी चर्म का उपयोग होता था।

अन्तर्वल्कल—इनका उपयोग अस्थिभग्न की चिकित्सा में कुशा (Splints) बनवाने के लिये होता था—'मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः। वंशसर्जवटानां वा कुशार्थमुपसंहरेत्'॥ (सुश्रुत)।

वस्त्र—रज्जु, वेणिका और चर्म का उपयोग जिन कामों के लिये होता था, उन कामों के लिये वस्त्र का भी उपयोग होता था।

अष्ठीलाश्म—'दीर्घवर्तुलपाषाणः'। एक विशेष प्रकार का पत्थर। इसका उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के समय शल्य पर प्रहार करने के लिये तथा हस्ततल अस्थिभग्न की चिकित्सा में होता था—'अस्थिदेशोत्तुंडितमष्ठीलाश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव'। (सुश्रुत)। 'प्राग्गोमयमयं पिण्डं धारयेन्मृण्मयं ततः। हस्ते जातबले चापि कुर्यात् पाषाणधारणम्'॥ (सुश्रुत)।

मुद्गर—इसका भी उपयोग अष्ठीलाश्म की भांति अस्थिशल्य निकालने के लिये होता था।

पाणिपादतलांगुलि—हाथ सर्व यन्त्रों में प्रधान है, यह पहले ही बतलाया जा चुका है। इसके सिवाय विम्लापन के लिये, ग्रासशल्य में आघात करने के लिये, अस्थिभग्न और भ्रंश में हड्डी ठीक करने के लिये हाथ प्रयुक्त होता था। 'अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः। विमर्दयेद् भिषक् प्राज्ञस्तलेनांगुष्ठकेन वा॥' (सुश्रुत)। 'ग्रासशल्ये कण्ठासक्ते स्कन्धे मुष्टिनाभिहन्यात्' (सुश्रुत)। 'कौर्परं तु तथा सन्धिमंगुष्ठेनानुमार्जयेत्'। (सुश्रुत)। 'व्यात्तानने हनु खिन्नामंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च। प्रदेशिनीभ्याश्चोन्नम्य चिबुकोन्नमनं हितम्'॥ (चरक)। पाँव का उपयोग अस्थिशल्य निकालते समय हड्डी पर दबाव देने के लिये होता था—'अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेद्'। (सु.)

जिह्वा—इसका उपयोग रोगी की परीक्षा के लिये होता है—'रसनेंद्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः'। (सुश्रुत)। परंतु जिह्वा का उपयोग अप्रत्यक्ष चींटी आदि द्वारा करके अनुमान से रोग परीक्षा करनी चाहिये—'रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्'। (चरक)। नेत्रगत शल्य भी जीभ से निकाला जाता है।

दन्त—हस्तिदन्त। इसका उपयोग अर्शोयन्त्र, अंगुलित्राणक इत्यादि यन्त्र बनवाने के लिये होता था। इसके सिवाय व्रणस्थान में रोम उत्पन्न करने के लिये इस का उपयोग होता था। 'हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसांजनम्। रोमाण्येतानि जायन्ते लेपात् पाणितलेष्वपि'॥ (सुश्रुत)।

नख—इनका समावेश अनुशस्त्रों में भी किया गया है। दृश्य शल्य आहरण के लिये नखों का उपयोग हमेशा होता है इसलिये इनका समावेश अनुयन्त्र में किया है। इसके सिवाय शस्त्रक्रिया के समय त्वचा के भिन्न भिन्न पर्त स्वतंत्र करने के लिये भी इनका उपयोग होता है।

मुख—मुख का उपयोग प्राचीन काल में मुख्यतया चूसने के लिये (Suction pump) होता था। आज कल जहाँ चूसने की आवश्यकता होती है, वहां रबड़ के चूषक गेंद (Suction Balls) प्रयुक्त होते हैं। बाल—घोड़े के तथा मनुष्यों के केश। इनका उपयोग व्रण सीने के लिये, शिर शल्य की चिकित्सा में, तथा कण्ठस्थ शल्य निकालने के लिये होता था। 'सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण, स्नाय्वा बालेन वा पुनः'। (सुश्रुत)। 'शिरसोपहते शल्ये बालवर्तिं प्रवेशयेत्'। (सुश्रुत)। 'अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोण्डुकं दृढैकसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं पाययेत्……शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा शाखासूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्'। (सुश्रुत)। आज भी सीवन द्रव्यों में (Suture material) घोड़े के केशों का समावेश होता है और कण्ठासक्त शल्य निकालने के लिए घोड़े के केशों का बनाया हुआ यन्त्र प्रयुक्त होता है। उसे (Probang) कहते हैं। इसके सिवाय प्राचीन काल में अपरा पातन के लिये केशवेष्टित अंगुलि द्वारा कण्ठप्रमार्जन करने की प्रथा थी—'अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्'। (सुश्रुत)। अश्वकटक और शाखा—इनका उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के लिये होता था—'पञ्चाङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकटिके बध्नीयात्। अथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति; दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद्बद्ध्वोद्धरेत्'। (सुश्रुत)। ष्ठीवनम्–श्लेष्मादिनिरसनम्। मुख से श्लेष्मा लाला इत्यादि थूकना। इससे मुख और गले में उपस्थित हुआ शल्य बाहर निकाला जाता है। प्रवाहण—कूंथना, वात मूत्र मल और गर्भ का संग जिस समय होता है तब प्रवाहण से फ़ायदा होता है—'वातमूत्रपुरीषगर्भसंगेषु प्रवाहणमुक्तम्। (सुश्रुत)। किंवा वमन विरेचन अश्रुप्रवर्तनादि द्वारा आमाशय, आन्त्र और आँखों का शल्य निकालना यह भी प्रवाहण का अर्थ हो सकता है। हर्ष—रोगी की चित्तवृत्ति प्रसन्न और हर्षित होने से शस्त्रक्रिया करने में सुभीता होता है तथा शस्त्रक्रिया हो जाने के पश्चात् व्रण का रोपण जल्दी होकर रोगी भी जल्दी सुधरता है, इसलिये हर्ष का निर्देश किया है—'हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेण'। (सुश्रुत)। 'सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः। आश्वासयन्तो बहुशस्त्वनुकूलाः प्रियंवदाः॥…… सम्पदाद्यनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः। आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाप्नुयात्'॥ (सुश्रुत)। वाग्भट ने हर्ष के साथ भय का भी निर्देश किया है। डर के मारे शरीर की सारी पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं जिससे शस्त्रकर्म करने में, शल्य निकालने में, टूटी हुई हड्डियां ठीक करने में सुभीता होता है। दातव्य अस्पताल में जब रोगी शस्त्रकर्म के पहले बहुत शोर-गुल मचाता है तब उसको कभी कभी भीति दिखलाने के सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं होता है। कभी कभी उसको मारने की भी आवश्यकता होती है। इससे रोगी शस्त्रकर्म का दुःख सहन करने के लिये तैयार होता है। उन्माद, हिक्का रोग भीति से एकाएक दूर हो जाते हैं। इस कारण से लिखा है—'भयहर्षौ शरीरस्य सहसा भावान्तरमुत्पादयन्तौ यन्त्रकार्यं कुरुतः'। (वाग्भटार्थकौमुदी)। अयस्कान्त—इसे चुंबक कहते हैं। अँग्रेजी में इसे लोडस्टोन (Loadstone) कहते हैं। यह एक खनिज लोहे का भेद है और इसमें लोहे के आकर्षण करने की शक्ति होती है। इसलिये इसका उपयोग लोहशल्य निकालने के लिये होता था। 'अनुलोममनवबद्धकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन'। (सुश्रुत)। आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में नेत्रगत लोहशल्य (Iron filings) निकालने के लिये कृत्रिम अयस्कान्त का उपयोग करते हैं।

इसको विद्युत् चुंबक (Electro magnet) कहते हैं। अग्निक्षार—इनका समावेश अनुशस्त्रों में भी किया गया है। इनका विशेष विवरण एकादश और द्वादश अध्याय में किया गया है। भेषज—इसमें शस्त्रक्रिया में तथा व्रणचिकित्सा में उपयोगी ओषधियों का समावेश और शस्त्र का कार्य (यथा दारण ओषधियाँ) करने वाली ओषधियों का समावेश होता है। इनका वर्णन मिश्रक अध्याय (सूत्रस्थान अ. ३७) में किया गया है।

एतानि देहे सर्वस्मिन् देहस्यावयवे तथा।
संधौ कोष्ठे धमन्यां च यथायोगं प्रयोजयेत् ॥१५॥

इन सब यन्त्रों और उपयन्त्रों को सर्व शरीर में, शरीर के किसी विभाग में संधि, कोष्ठ, धमनियों में जहाँ जहाँ जिससे कार्य सिद्ध हो वहाँ वहाँ उसका उपयोग करे ॥१५॥

यन्त्रकर्माणि तु—निर्घातनपूरणबन्धनव्यूहनवर्तनचालनविवर्तनविवरणपीडनमार्गविशोधनविकर्षणाहरणाञ्छनोन्नमनविनमनभञ्जनोन्मथनाचूषणैषणदारणर्जूकरणप्रक्षालनप्रधमनप्रमार्जनानि चतुर्विंशतिः ॥१६॥

यन्त्रों के कार्य भी (१) निर्घातन, (२) पूरण, (३) बंधन, (४) व्यूहन, (५) वर्तन, (६) चालन, (७) विवर्तन, (८) विवरण, (९) पीडन, (१०) मार्गविशोधन, (११) विकर्षण, (१२) आहरण, (१३) आञ्छन, (१४) उन्नमन, (१५) विनमन, (१६) भञ्जन, (१७) उन्मथन, (१८) आचूषण, (१९) एषण, (२०) दारण, (२१) ऋजूकरण, (२२) प्रक्षालन, (२३) प्रधमन, (२४) प्रमार्जन (इस प्रकार) चौबीस होते हैं ॥१६॥

वक्तव्य—निर्घातन—मुद्गर पाषाणादि से आघात करना (Hammering)। इससे निर्हरण अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं है। आगे विकर्षण आहरण कर्म स्वतंत्र दिये हैं। पूरण—नेत्रबस्ति द्वारा गुद योनि व्रण इत्यादि में ओषधियों को भरना। बंधन—रज्जुवेणिका चर्मपट्टादि से बांधना (Bandaging)। व्यूहन—शल्य निरीक्षण या निकालने के लिये व्रण के किनारों को खींचना (Retraction)। डल्हणमतानुसार 'ऊर्ध्वीकरणं छित्त्वोत्तुण्डितस्योद्धरणार्थम्'। यह अर्थ अप्रशस्त मालूम होता है। कारण, व्यूहन के लिये सर्पफणशलाका का उपयोग बतलाया गया है। हाराणचन्द्र के मतानुसार 'व्यूहनं तु चूर्णिताश्मर्यादीनां संग्रहणम्'। यह अर्थ अश्मरीचिकित्सा की दृष्टि से योग्य है। कारण यह है कि वहां अश्मरीसंग्रहण के लिये सर्पफणा का उपयोग लिखा है—'तस्मात् समस्तामग्रवक्त्रेणाददीत'। गणनाथ सेन के अनुसार 'व्रणौष्ठयोः सन्निहितीकरणम्'॥ वर्तन—फटे हुए व्रण को, टूटी हुई हड्डी को तथा शरीर के अन्य इतस्ततः हुए अवयव को यथास्थान स्थापना (Replacement)। डल्हण के अनुसार—'विवृत्तस्य वर्तुलीकरणम्'। चालन—एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाना या शल्य को चलायमान करना। हाराणचन्द्र के अनुसार गलादि स्थान में अटके हुए शल्य को निकालना—'गलादाववबद्धास्थिशल्यादीनामपनयनम्'। विवर्तन—यंत्र से पकड़ के ऐंठकर शल्य को निकालना। विवरण—नाडीव्रणादि घाव के मुँह को खोल देना (Dilatation)। पीडन—व्रणगत पूयस्रावादि निकालने के लिये अंगुलि तथा ओषधियों द्वारा दबाना। मार्गविशोधन—मल मूत्रादिक के अवरोध में शलाका के उपयोग से मार्ग को खोलना। विकर्षण—विगृह्य कर्षणम्। पकड़ के बाहर खींच लेना (Extraction)। आहरण—व्रणस्थित शल्य को बाहर ले आना। आञ्छन—संकुचित अंग को खींचना (Extension)। उन्नमन—अधःस्थित शल्य या हड्डी आदि को ऊपर करना (Elevation)। विनमन—उभरी हुई हड्डी आदि को नीचे दबाना (Depression)। भञ्जन—शल्य को खण्डित करना (Crushing)। आधुनिक शल्यचिकित्सा में अश्मरी का आहरण भञ्जन करके ही होता है। इस विधि को लिथोट्रैटी (Lithotrity) कहते हैं। उन्मथन—शल्य ज्ञान करने के लिये शलाका द्वारा विलोडन करना (Sounding)। आचूषण—मुख या शृङ्ग द्वारा वात दुष्ट रक्त स्तन्य आदि को चूसना (Suction)। एषण—नाडिव्रणादिक के अज्ञात मार्ग का अन्वेषण करना (Probing or Exploration)। दारण—चिरबिल्वादि दारण द्रव्यों का प्रलेप करके पक्व शोथ को फोड़ना। डल्हणमतानुसार—शरकरणादिद्विधाकरणम्। ऋजूकरण—सरल करना। प्रक्षालन—निम्ब त्रिफला आदि के क्वाथ से व्रणादि धोना। प्रधमन—नासा कर्णादि में नाड़ी की सहायता से ओषधि चूर्ण फूँक देना (Isufflation)। प्रमार्जन—अंगुली वस्त्र बाल इत्यादि से पोंछ के साफ़ करना।

स्वबुद्ध्या चापि विभजेद्यन्त्रकर्माणि बुद्धिमान्।
असंख्येयविकल्पत्वाच्छल्यानामिति निश्चयः ॥१७॥

शल्य असंख्य आकार के होते हैं। इस कारण से बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह अपने बुद्धिबल से (आवश्यकता के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के) यंत्र तथा उनके कर्म निर्माण कर ले। यही (यंत्र और उनके कर्म की संख्या के संबंध में) निश्चय है ॥१७॥

वक्तव्य—यन्त्रकर्म—यन्त्रं च कर्म च तानि यंत्र तथा कर्म। इति निश्चयः—इस अध्याय में यंत्र और उनके कर्म का वर्णन तथा संख्या बतलाई गई है। वह केवल इनकी असंख्येयतानिदर्शक है, निश्चितिदर्शक नहीं समझना चाहिये। इसलिये अष्टांगसंग्रह में लिखा है—'अतः कर्मवशात्तेषामियत्तावधारणमशक्यम्'।

तत्र, अतिस्थूलम्, असारम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अग्राहि, विषमग्राहि, वक्रं, शिथिलम्, अत्युन्नतं, मृदुकी ं, मृदुमुखं, मृदुपाशमिति द्वादश यन्त्रदोषाः ॥१८॥

यन्त्रों में (निम्न) द्वादश दोष होते हैं—(१) अतिस्थूल, (२) असार, (३) अतिदीर्घ, (४) अतिह्रस्व, (५) अग्राहि, (६) विषमग्राहि, (७) वक्र, (८) शिथिल, (९) अत्युन्नत, (१०) मृदुकील, (११) मृदुमुख, (१२) मृदुपाश ॥१८॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यन्त्रों के केवल आठ दोष बतलाये हैं—दीर्घह्रस्वस्थूलतनुवक्रविषमग्राह्यग्राहिशिथिलता इति अष्टौ यन्त्रदोषाः। असार—इसका अर्थ डल्हण के अनुसार 'अशुद्ध लोह से बना हुआ है'—'अशुद्धलोहादिघटित'। इसका दूसरा अर्थ हलका या तनु भी होता है। ऊपर वाग्भट के अनुसार जो आठ यन्त्रदोष बतलाये हैं, वे और सुश्रुतोक्त पहले आठ दोष मिल जाते हैं। केवल असार के स्थान में वाग्भट ने तनु

शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये असार और तनु दोनों शब्दे पर्यायवाचक समझने में कोई आपत्ति नहीं है। वैसा भी असार का अर्थ तनु या दुर्बल होता है—बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः । इसके सिवाय दीर्घ, ह्रस्व, स्थूल, तनु, अग्राहि, विषमग्राहि—इन युग्मों में भी तनु शब्द ठीक बैठता है। हाराणचन्द्र के अनुसार असार का अर्थ 'कालेन जीर्णं दुरुपादानं च' है। परन्तु यह अर्थ थोड़ा अप्रशस्त प्रतीत होता है। क्योंकि यहां निर्दिष्ट किये हुए दोष नये यन्त्रों की बनावट के हैं अर्थात् नये यन्त्र निर्माण करते समय टालने के लिये निर्दिष्ट किये हैं। विषमग्राहि—ग्राह्यवस्तु के एक देश में पकड़ने वाला और दूसरे देश में न पकड़ने वाला—'एकतो गृह्णात्यन्यतो नेति' (इन्दुटीका)। वक्र—अनावश्यक स्थान में टेढ़ा किया हुआ। शिथिलता—जो ढीला पकड़ता है। अत्युन्नत—जिस यन्त्र के कील कण्ठ या स्कन्ध प्रदेश में न होकर किञ्चित् ऊँचे मध्य प्रदेश के तरफ लगे हुए हैं। इससे लिवरेज (Leverage) कम होता है। जिससे यन्त्र समग्राहि होते हुए भी शल्य पकड़ते समय अधिक आयास पड़ता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जिसके कील बाहर आये हुए हैं।

मृदुकील—मृदु का अर्थ बारीक या कमजोर। जिस यन्त्र के दोनों खण्ड आपस में कमजोर कील से जुड़े हुए हैं। इन में से प्रथम चार और सातवां दोष सर्व प्रकार के यन्त्रों के लिये लागू होते हैं और बाकी स्वस्तिक यन्त्रों के लिये विशेषतया लागू होते हैं।

एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं यन्त्रमष्टादशाङ्गुलम् ।
प्रशस्तं भिषजा ज्ञेयं तद्धि कर्मसु योजयेत् ॥१९॥

इन ऊपर लिखे हुए (द्वादश) दोषों से विरहित, अट्ठारह अंगुल दीर्घ यन्त्र वैद्य को श्रेष्ठ समझना चाहिये ॥१९॥

वक्तव्य—अष्टादशांगुलम्—यह अंगुल प्रमाण विशेष करके स्वस्तिक यन्त्रों के संबंध में समझना चाहिये—'तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि—अष्टादशांगुलप्रमाणानि'। कारण यह है कि शल्याहरण में स्वस्तिक यन्त्रों का ही उपयोग अधिक होता है।

दृश्यं सिंहमुखाद्यैस्तु गूढं कङ्कमुखादिभिः ।
निर्हरेत्तु[1] शनैः शल्यं श(शा)स्त्रयुक्तिव्यपेक्षया ॥२०॥

शास्त्र और युक्ति दोनों का उपयोग करके जो शल्य बाहर होता हो, उसे सिंहमुखादि यन्त्र से निकाले और जो गहरा होता हो, उसे कङ्कमुखादि यन्त्र से निकाले ॥२०॥

वक्तव्य—सिंहमुखादि—सिंहमुखादि पहले नव स्वस्तिक यन्त्र। कङ्कमुखादि—कङ्कमुख से लेकर अंतिम पंद्रह यन्त्र। व्यपेक्षा—उपयोग, आलोचना या विमर्श। सिंहमुखादि यन्त्र स्थूल मुख होने के कारण उनका उपयोग प्रायः दृश्य शल्यों में और कङ्कमुख तनुमुख होने के कारण उनका उपयोग भीतर घुसे हुए अदृश्य शल्यों में होता है।

नि(वि)वर्तते साध्ववगाहते च
शल्यं निगृह्योद्धरते च यस्मात् ।
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं
स्थानेषु सर्वेष्वधि(वि)कारि चैव ॥२१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने यन्त्रविधिर्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

कङ्कमुखयन्त्र (शल्याहरण की दृष्टि से) सर्व यन्त्रों में प्रधान है। क्योंकि वह घाव में अच्छी तरह प्रविष्ट होता है, शल्य पकड़ कर खींच के बाहर शीघ्र निकल आता है तथा सर्व स्थानों में भी उसका उपयोग होता है ॥२१॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां यन्त्रविधिर्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

२८८५

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः शस्त्रावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शस्त्रावचारणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—शस्त्राणामवचारणमुपयोगो यस्मिन्नध्यायेऽस्ति स शस्त्रावचारणीयः। जिस अध्याय में शस्त्रों को काम में लाने की विधि वर्णन की है, वह अध्याय शस्त्रावचारणीय कहलाता है।

विंशतिः शस्त्राणि । तद्यथा—मण्डलाग्रकरपत्रवृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधारसूचीकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चककुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकबडिशदन्तशङ्क्वेषण्य इति ॥२॥

✓ बीस शस्त्र होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) मण्डलाग्र, (२) करपत्र, (३) वृद्धिपत्र, (४) नखशस्त्र, (५) मुद्रिका, (६) उत्पलपत्र, (७) अर्धधार, (८) सूची, (९) कुशपत्र, (१०) आटीमुख, (११) शरारिमुख, (१२) अन्तर्मुख, (१३) त्रिकूर्चक, (१४) कुठारिका, (१५) व्रीहिमुख, (१६) आरा, (१७) वेतसपत्रक, (१८) बडिश, (१९) दन्तशंकु, (२०) एषणी ॥२॥

वक्तव्य—विंशतिः—यह शब्द शस्त्रों का प्रकार निदर्शक है, कुल संख्या निदर्शक नहीं है। क्योंकि मण्डलाग्र, वृद्धिपत्र, सूची इत्यादि शस्त्र दो दो तीन तीन होते हैं। इन शस्त्रों के नाम बहुधा आकार के अनुसार रक्खे गये हैं—तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः।

(१) मण्डलाग्र—जिसका अग्रभाग गोल होता है, उसे मण्डलाग्र कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—यदग्रे मण्डलं वृत्तं क्षुरसंस्थानमेव वा। (डल्हण)। द्वे मण्डलाग्रे ये प्रोक्ते एकं वृत्तमुखं तयोः। तीक्ष्णधारं दृढं कार्यमेकं तच्च क्षुराकृति॥ (भोज)। एक वृत्तमुख और दूसरा क्षुराकार। वाग्भट में इसका वर्णन 'तर्जन्यन्तर्नखाकृति' ऐसा किया गया है। इसके अनुसार मण्डलाग्र शंकाकृति होता है। इसका उपयोग अर्म, पोथकी, सिराजाल इत्यादि अनेक नेत्ररोगों की चिकित्सा में तथा गलशुण्डिका, अधिजिह्वा में तथा मूढगर्भ की शस्त्रचिकित्सा में होता है। इन विविध कार्यों को देखकर यह अनुमान होता है कि मण्डलाग्र शस्त्र कई प्रकार का छोटा तथा मोटा होना आवश्यक है। इसके स्वरूप के विषय में भी आधुनिक पण्डितों में मतभिन्नता पाई जाती है। यथा—Circular knife, Round head knife, Razorlike roundheaded knife, Decapitating knife, Sharp. curette इत्यादि।

---

[1] निर्हरेत.

(२) करपत्र–'कण्टकैराचितत्वात् करात् पततीति करपत्रम्' (हाराणचन्द्र)। यह करपत्र लंबाई में षडङ्गुल (सुश्रुत), दशाङ्गुल (वाग्भट), द्वादशाङ्गुल (भोज) होता है—छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधारं दशाङ्गुलम् । विस्तारे द्व्यङ्गुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबंधनम् ॥ (वाग्भट)। द्वादशांगुलदीर्घं स्यात्तनु चाचितकंटकम्। करपत्रं विजानीयाद्भिषगाकृतिमानतः ॥ (भोज)। इसका मुख्य उपयोग अस्थिछेदन के लिये होता है । अंग्रेजी में करपत्र को बोन सा (Bone saw) कहते हैं।

(३) वृद्धिपत्र—वृद्धिनामक ओषधिपत्र के आकार का जिस शस्त्र का पत्र होता है, वह वृद्धिपत्र शस्त्र है। इसके दो भेद होते हैं। १ प्रयताग्र, २ अञ्चिताग्र। इन में से जो प्रयताग्रवृद्धिपत्र है, उसी को क्षुर कहते हैं—अत्रैवायताग्रं वृद्धिपत्रं क्षुरमाहुः। अत एव 'क्षुरकर्तरीसंदंशैः' (चि. अ. १) इत्याचार्यवचनं क्षुरसंज्ञान्तरवचनादुपपन्नं भवति। (चक्रः)। डल्हण अञ्चिताग्र को क्षुर मानता है—अनयोर्मध्येऽञ्चिताग्रं वृद्धिपत्रं क्षुरमाहुः। हाराणचंद्र के अनुसार जिस शस्त्र का फल पर्याप्त चौड़ा होता है, वह वृद्धिपत्र है—वृद्धिपत्रमिति वृद्धिरायतत्वेन समृद्धिः पत्रे पत्राकारे फले यस्य तद् वृद्धिपत्रम्। इस की लंबाई सात अंगुल–साढ़े पांच अंगुल वृन्त और डेढ़ अंगुल फल–होती है–अर्धपञ्चांगुलं वृन्तं कार्यं सार्धाङ्गुलं फलम्। वाग्भट ने वृद्धिपत्र का वर्णन ऐसा किया है—वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने। ऋज्वग्रमुन्नते शोथे गंभीरे च तदन्यथा। नताग्रं पृष्ठतः। इन में प्रयताग्र वृद्धिपत्र का सादृश्य 'स्कालपेल या डिसेक्टिंग नाइफ' (Scalpel, Dissecting knife) के साथ और अञ्चिताग्रवृद्धिपत्र का कर्व्हड बिस्चुरी (Curved Bistoury) के साथ होता है। इस वृद्धिपत्र का उपयोग विद्रधि चीरने के लिये, व्रण के बाल काटने के लिये, लूतादंश में त्वचा विदारण करने के लिये तथा मेदोवृद्धि (Elephantiasis of scrotum) में पाटन करने के लिये होता है।

(४) नखशस्त्र—नख काटने का शस्त्र—नखानां छेदने कार्यं शस्त्रमष्टांगुलायतम्। अर्धांगुलं मुखं तस्य तीक्ष्णधारं तु कल्पयेत् ॥ (भोज)। डल्हण के अनुसार इसका फल दो अंगुल लंबा और एक अंगुल चौड़ा होता है। वाग्भट के अनुसार इसकी लंबाई नौ अंगुल होती है और यह संदंशशस्त्र है, जिसका मुख वक्रधार और ऋजुधार दो फलों से बनता है—वक्रर्जुधारं द्विमुखं नखशस्त्रं नवांगुलम्। सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छानलेखने ॥ (वाग्भट)। तस्य एकं मुखं वक्रमन्यदृजुस्पष्टम्। (अरुणदत्त)। अष्टांगसंग्रह में इसके मुख का वर्णन ऐसा किया गया है—एकतोऽश्वकर्णमुखमन्यतो वत्सदंतमुखम्। कुछ लोग आठ अंगुल लंबाई का वक्रमुख और नौ अंगुल का ऋजुमुख ऐसे दो नखशस्त्र मानते हैं—अष्टांगुलं वक्रधारमृजुधारं नवांगुलम्। अँग्रेजी में नखशस्त्र को नेल पेरर (Nail parer) कहते हैं।

(५) मुद्रिका—तर्जनी के अगले पोरवे के समान इस शस्त्र का वलय होता है और उसी में वृद्धिपत्र समान एक शस्त्र जुड़ा हुआ रहता है—मुद्रिकायां निबद्धं स्याद् वृद्धिपत्रसलक्षणम्। द्व्यंगुलं मुद्रिकाशस्त्रं क्षुरसंस्थानमेव च ॥ (भालुकि)। वाग्भट ने इसको अंगुलिशस्त्र कहा है—कुर्यादंगुलिशस्त्रकम्। मुद्रिकानिर्गतमुखं फले र्धांगुलायतम् ॥ योगतो वृद्धिपत्रेण मण्डलाग्रेण वा समम्। तत्प्रदे- न्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम् ॥ सूत्रबद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदनभेदने ॥ गलरोग के सिवाय इसका उपयोग मूढगर्भदारण के लिये भी होता था—मण्डलांगुलिशस्त्राभ्यां तत्र कर्म प्रशस्यते। विष्कंभौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः ॥ (वाग्भट)। अँग्रेजी में इसको फिंगर नाइफ (Finger knife) कह सकते हैं।

(६) उत्पलपत्र—इस शस्त्र के फल का आकार नील कमलदलसमान, तीन अंगुल लंबा और एक अंगुल चौड़ा होता है—तुल्यमुत्पलपत्रेण तीक्ष्णधारं समाहितम्। षडंगुलं प्रमाणेन शस्त्रमुत्पलपत्रकम्। तत्पत्रं त्र्यंगुलायाम कार्यमंगुलविस्तृतम् ॥ अँग्रेजी में इसको लान्सेट (lancet) कह सकते हैं।

(७) अर्धधार—इस शस्त्र की कुल लंबाई आठ अंगुल होती है, फल दो अंगुल होता है और उसी के आधे भाग में तीक्ष्णधारा होती है। अर्धधारं तु कर्तव्यं शस्त्रमष्टांगुलायतम्। उरस्यंगुलविस्तारं फले तद् द्व्यंगुलं भवेत् ॥ (भोज)। कुछ लोग इसको च(व)क्रधा भी कहते हैं। वाग्भट ने इसको 'अध्यर्धधार' कहा है। उसके अनुसार इसकी धारा आधा से अधिक फल में होती है—अधिकमर्धं धारा यस्य तदध्यर्धधारम्। कुछ लोग अर्धधार का अर्थ जिसके फल में केवल एक तरफ धारा (Single edged) हो ऐसा कहते हैं। यह एक प्रकार का नाइफ (Knife) है।

(८) सूची—सूची तीन प्रकार की होती है—१ दो अंगुल लंबी और गोल, २ तीन अंगुल लंबी और तिधारी, ३ धनु के समान टेढ़ी आकार वाली। इनका एक अग्र अत्यंत तीक्ष्ण और दूसरा अग्र सूत्रण के लिये पाशयुक्त होता है। उपर्युक्त तीन प्रकार आकार के अनुसार केवल दो ही बन जाते हैं–सरल और वक्र। अंग्रेजी में सूची को 'नीडल' (Needle) कहते हैं। आधुनिक शल्यचिकित्सा में सीवन के लिये तीन प्रकार की सूची व्यवहृत होती है—(१) सरल (Straight) सूची, (२) वक्रमुख (Half curved) सूची, (३) धनुर्वक्र (Fully curved) सूची। सूची का वर्णन आगे पच्चीसवें अध्याय में किया गया है।

इनके सिवाय सुश्रुत में यवमुखी नामक एक स्वतंत्र सूची का निर्देश बंधन (Ligaturing) द्वारा अर्बुदों का निर्मूलन करने के लिये किया है। अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत्। सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितं वा समन्ततः। मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद् व्रणम् ॥ (चि. अ- १७)।

(९) कुशपत्र—दर्भपत्र के समान इसका फल और लंबाई दो अंगुल होती है। अंग्रेजी शस्त्रों में इसका सादृश्य 'पेजेट का नाइफ या बिस्चुरी' (Paget's knife or Bistoury) के साथ होता है।

(१०) आटीमुख—दलदल के स्थान में रहने वाला एक विशेष पक्षी होता है, उसे आटी (Tardus ginginia mus) कहते हैं। उसके मुख सदृश इस शस्त्र का मुख (फल) होता है। फल दो अंगुल लंबा और वृन्त चार अंगुल लंबा होता है। इस का उपयोग रक्तस्रावण के लिये होता है। चंद्र चक्रवर्ती (Interpretation of A. H. Medicine) आटीमुख शस्त्र को स्वस्तिक यन्त्र समान दो फलों का बना हुआ मानते हैं और इसको 'हाकबिल सीझर्स' (Hawk bill Scissors) कहते हैं। परंतु इसका वर्णन सुश्रुत, वाग्भट तथा अन्य स्थान में जो मिलता है तथा इसका रक्त स्रावण के लिये जो उपयोग बतलाया गया है उसी से यह शस्त्र कर्तरी सदृश नहीं हो

सकता—वृन्तं सप्तांगुलं विद्यात्तस्याग्रे फलमिष्यते । आटीमुखप्रकारं हि फलमंगुष्ठमायतम् । आटीमुखं विजानीयात्तत् स्रावणविधौ मतम् ॥ यह भी एक प्रकार का लान्सेट (Lancet) के सदृश शस्त्र है ।

(११) शरारीमुख—लंबी चोंच का एक विशेष पक्षी होता है । उसके दो भेद होते हैं—धवलस्कन्ध और रक्तशीर्ष । इनमें धवलस्कन्ध को शरारी कहते हैं । उसके मुख के सदृश जिस शस्त्र का मुख है, उसे शरारीमुख कहते हैं । इसी को सुश्रुत कर्तरी कहता है—दशांगुला शरारीमुखी सा कर्तरीति कथ्यते । रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति । क्षुरकर्तरीसंदंशैस्तस्य रोमाणि कर्तयेत् ॥ वाग्भट में शरारीमुख और कर्तरी दो स्वतंत्र शस्त्र बतलाये हैं और उनके कर्म भी स्वतंत्र दिये हैं । शरारीमुख का उपयोग विस्रावण के लिये और कर्तरी का उपयोग छेदन के लिये है । स्राव्ये शरार्यास्यत्रिकूर्चके । स्नायुसूत्रकचच्छेदे कर्तरी कर्तरीनिभा ॥ इसका अर्थ यह हो सकता है कि सुश्रुत का शरारीमुख शस्त्र दो फलका कर्तरी के सदृश था और वाग्भट का शरारीमुख एक फल का लान्सेट या नाइफ के सदृश था । अंग्रेजी में कर्तरी को (Pair of Scissors) कहते हैं ।

(१२) अन्तर्मुख—अर्धचन्द्राकार डेढ़ अंगुल लंबे फल का यह एक शस्त्र है । इसकी धारा अन्तर्भाग में होती है । तद्वदन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्धमंगुलम् । अर्धचंद्राननं चैतत् । (वाग्भट) । यह अंग्रेजी कर्वड़ बिस्चुरी (Curved Bis toury) के सदृश शस्त्र है । जी. एन. मुकर्जी (Surgical Instruments) अन्तर्मुख को कर्तरी समान शस्त्र समझते हैं ।

(१३) त्रिकूर्चक—तीन तीक्ष्णाग्र शलाका या सूची एक गोल पीठ पर बैठाकर बनाया हुआ शस्त्र—त्रयः कूर्चाः क्षुद्रच्छुरिका यस्य तत्त्रिकूर्चकम् । (हाराणचन्द्र) । अङ्गुलानि तथाष्टौ च शस्त्रं कार्यं त्रिकूर्चकम् । फलैरन्तर्मुखाकारैरङ्गुलैरन्वितं त्रिभिः ॥ एकैकस्य फलस्यैषामन्तरं व्रीहिसंमितम् । वृन्तं पंचांगुलायामं कार्यं रुचकभूषितम् ॥ (डल्हण) । कुछ अँग्रेजी टीकाकार कूर्च का अर्थ पार्श्व (Side) करके त्रिकूर्चक से अँग्रेजी ट्रोकार (Trocar) समझते हैं—(Trocar is derived from French 'trois'—three, +'carre'-Side, having the same meaning of tri-kurchchaka-Chandra Chakravarty) । परन्तु ऊपर इस शस्त्र का जो वर्णन दिया है, उसके अनुसार कूर्च का अर्थ पार्श्व नहीं हो सकता । इसके सिवाय वाग्भट में त्रिकूर्च की भाँति दो अधिक शस्त्र 'कूर्च और खज' के नाम से वर्णन किये हैं—सर्ववृत्तास्ताश्चतुरंगुलाः । कूर्चो वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताऽष्टौ वा सुबंधनाः ॥ अर्धांगुलैर्मुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः खजः ॥ इनका वर्णन देखते हुए ऊपर डल्हण ने जो त्रिकूर्चक का वर्णन किया है, वही प्रशस्त प्रतीत होता है । कूर्च का अर्थ सूची या कूंची (Brush) करना योग्य है ।

(१४) कुठारिका—कुठार सदृश शस्त्र । पृथुः कुठारी गोदन्तसदृशार्धाङ्गुलानना । (वाग्भट) । कुठारिकायां वृन्तं स्यात् सार्धसप्तांगुलायतम् । फलमर्धांगुलायामं गोदन्तसदृशं समम् ॥ (डल्हण) । अँग्रेजी में कुठारिका को एक्सशेपड् नाइफ (Axeshaped knife) कहते हैं ।

(१५) व्रीहिमुख—व्रीहिसदृश जिस शस्त्र का मुख होता है, उसे व्रीहिमुख कहते हैं । इसकी लंबाई कुल छः अंगुल होती है दो अंगुल वृन्त और चार अंगुल फल । 'शस्त्रं व्रीहिमुखं कार्यमंगुलानि षडायतम् । द्व्यंगुलं तस्य वृन्तं स्यात् तत्फलं चतुरंगुलम् ॥ तन्मुखं व्रीहिविस्तारं तनुसंगूढकंटकम् ॥ अँग्रेजी में व्रीहिमुख को ट्रोकार (Trocar) कहते हैं । इसका उपयोग मूत्रवृद्धि और जलोदर में जल निकालते समय वेध करने के लिये होता है ।

(१६) आरा—चमार लोग चर्म में छेद करने के लिये जो आर उपयोग में लाते हैं, उसके आकार का यह शस्त्र होता है । इसकी लंबाई आठ अंगुल होती है । फल तिल समान चपटा तथा पतला और पिछला भाग गोपुच्छ की भाँति ऊपर की ओर क्रमशः मोटा होता है—'आरा ह्यष्टांगुलायामा कर्तव्या तु विशांपते । तिलप्रमाणं तु फलं तस्याः कार्यं समाहितम् । दूर्वांकुरपरीणाहं वृन्तं गोपुच्छसन्निभम्' ॥ वाग्भट में आरा का वर्णन ऐसा किया है—आरार्धांगुलवृत्तास्या तत्प्रवेशस्तथोर्ध्वतः । चतुरस्रा तया विध्येच्छोफ पक्वामसंशये ॥ अंग्रेजी में आरा को आल (Awl) कहते हैं ।

(१७) वेतसपत्र—वेतपत्र की भाँति जिस शस्त्र का फल लंबा, पतला और तीक्ष्णाग्र होता है । इसकी धारा दन्तयुक्त (Scratted), फल की लंबाई चार अंगुल और वृन्त की लंबाई चार अंगुल होती है । 'वेतसपत्रवद्दन्तुरत्वादस्य वेतसं वेतसपत्रं वेति संज्ञा' (वाग्भटार्थकौमुदी) । तीक्ष्णमंगुलविस्तारं चतुरंगुलमायतम् । अंगुलानि तु चत्वारि वृन्तं कार्यं विजानता ॥ (भोज) । कुछ लोग इसकी धारा दन्तुर नहीं मानते हैं । अंग्रेजी में इस को न्यारो क्लेडेड नाइफ या स्कालपेल (Narrow claded knife or scalpel) कह सकते हैं ।

(१८) बडिश—मछली पकड़ने के लोहे के कांटे के समान शस्त्र । इसकी लंबाई छः अंगुल होती हैं-साढ़े पाँच अंगुल वृन्त और आधा अंगुल फल । इसके दो भेद होते हैं-स्वानतबडिश-अधिकवक्र और नात्यानत बडिश—थोड़ा मुड़ा हुआ या अर्धचंद्राकृति । बडिशे चापि कर्तव्ये प्रमाणेन षडंगुले । स्वानतं तु तयोरेकमेकं नात्यानतं भवेत् ॥ अर्धपंचांगुलं वृन्तं शेषं कार्यं मुखं तयोः । अर्धचंद्राकृति वक्त्रं कार्यं नात्यानतस्य तु । स्वानतं नामयेत्तत्र बडिशं च भिषग्वरः । वृन्ताग्रयोरन्तरं स्याद्यावदर्धांगुलं भवेत् ॥ (भोज) । इसका उपयोग ग्रहण (पकड़ने) के लिये होता था । आधुनिक शल्यशास्त्र में ग्रहण के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के खरमुख संदंश (Forceps) अधिक उपयोग में आते हैं, जिसके लिये प्राचीन काल में बडिश का उपयोग होता था । अंग्रेजी में बडिश 'हुक' (Hook) कहलाता है ।

(१९) दन्तशंकु—इसका उपयोग दांतों से शर्करा, कापालिका इत्यादि निकालने के लिये होता है । इसकी लंबाई छः अंगुल होती है । मुख चौकोर, तीक्ष्णाग्र और शंकु की भांति मुड़ा हुआ होता है—कार्यः षडंगुलायामो दन्तशंकुर्विजानता । चतुरस्रं समं चैव तीक्ष्णधारं शंकुवच्च मुखं तस्य कार्यमर्धांगुलायतम् ॥ वृन्ताग्रं तस्य कर्तव्यं शस्त्रव्रीहिमुखाकृति ॥ कपालिकां समाहितम् । शर्करां च दन्तस्थां तेन शोधयेत् ॥ (भोज) । वाग्भट में इसका नाम 'दन्तलेखन' दिया गया है—एकधारं चतुष्कोणं प्रवद्धाकृति चैकतः । दन्तलेखनकं तेन शोधयेद्दन्तशर्कराम् ॥ अंग्रेजी में दन्तशंकु को 'टूथ स्केलर' (Tooth scaler) कहते हैं ।

(२०) एषणी—गण्डूपदाकारमुखी एषणी का वर्णन यन्त्राध्याय में हो चुका है । यहां अन्य दो प्रकार की एषणी अभिप्रेत

है। एषणी के कुल तीन कार्य होते हैं—१ अन्वेषण, २ भेदन, ३ आनुलोमन। अन्वेषण के लिये गण्डूपदाकारमुखी एषणी व्यवहृत होती है। इसका समावेश शलाका में किया गया है। भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण के लिये तीक्ष्णमुखी एषणी चाहिये। इस तीक्ष्णमुखी एषणी का समावेश यहां शस्त्र में किया है। इसकी लंबाई आठ अंगुल होती है और पीछे सूत्र के लिये पाश होता है—भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा। (वाग्भट)। इसका उद्देश अन्वेषणपूर्वक भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण होता है। इसको अंग्रेजी में 'शार्प प्रोब' (Sharp Probe) या 'नीडल शेपड प्रोब' (Needle Shaped Probe) कह सकते हैं। एषणी का तीसरा कार्य आनुलोमन (Directing) होता है। इस काम के लिये जो एषणी उपयोग में आती है, उसे अंग्रेजी में डायरेक्टर (Director) कहते हैं। भगन्दर की शस्त्रक्रिया में जो एषणी का निर्देश–एषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत्—किया है, वहाँ आनुलोमक एषणी (Probe Director) समझना चाहिये। शस्त्रपात के समय आनुलोमक एषणी का उपयोग करने से व्रणगति के अनुसार भेदन होता है तथा शरीर के अन्य अंग पर शस्त्र का आघात होने का भय नहीं होता है। शस्त्र की भांति सूत्र का भी अनुलोमन करने के लिये पाश्चात्त्य शस्त्रों में कुछ आनुलोमक एषणी प्रयुक्त होती है—यथा हर्निया डायरेक्टर (Hernia Director), अन्यूरिझ्म नीडल (Aneurysm Needle) इत्यादि। इन का भी समावेश इसी प्रकार के एषणी में करना चाहिये।

उपर्युक्त बीस शस्त्रों के सिवाय वाग्भट में निम्न शस्त्र अधिक वर्णन किये हैं—१ सर्पास्य—यह शस्त्र नासाकर्णगत अर्श तथा अर्बुद छेदन के लिये होता है। इसका फल अर्धांगुल होता है—सर्पवक्त्रं वक्रमर्धांगुलफलं घ्राणकर्णाशोऽर्बुदच्छेदनार्थम्। (अ० संग्रह)। २ लिंगनाशवेधनी शलाका—ताम्रीशलाका द्विमुखी मुखे कुरुबकाकृतिः। सुश्रुत में भी उत्तरतन्त्र में लिंगनाशचिकित्सा के समय एक प्रकार की शलाका वर्णन की है—अष्टांगुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता। अंगुष्ठपर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः। ताम्रायसी शातकौम्भी शलाका स्यादनिंदिता॥ (अ. १७)। अँग्रेजी में लिंगनाशवेधनी शलाका को 'क्याटाराक्ट नीडल' (Cataract Needle) कहते हैं। ३ कूर्च—। ४ खज—इनका वर्णन त्रिकूर्चक शस्त्र के साथ किया गया है। ५ कर्तरी—इसका वर्णन शरारीमुख का वर्णन करते समय किया गया है। कर्तरी को अँग्रेजी में सीझर्स (Scissors) कहते हैं। ६ कर्णवेधनशस्त्र—अष्टांगसंग्रह में कर्णव्यधन नामक केवल एक शस्त्र वर्णन किया है—कर्णव्यधनं त्र्यंगुलायतमंगुलसुषिरं घनं यूथिकामुकुलाग्रम्। परन्तु अष्टांगहृदय में पतली कर्णपाली के लिये एक और मोटी कर्णपाली के लिये दूसरा शस्त्र वर्णन किया है—(१) व्यधनं कर्णपालीनां यूथिकामुकुलाननम्। (२) वहलायाश्च शस्यते। सूची त्रिभागसुषिरा त्र्यंगुला कर्णवेधनी॥ सुश्रुत में बालक के कर्णवेधन के समय तनुपाली के लिये सूची और कठिनपाली के लिये आरा का उपयोग करने के लिये लिखा है—प्रतनुकं सूच्या, वहलमारया। वाग्भट ने यद्यपि ये शस्त्रविशेष कर्णवेधन के लिये वर्णन किये हैं तथापि बालक के कर्णवेधन के लिये सुश्रुत के ही अनुसार सूची और आरा का उपयोग करने के लिये लिखा है।

तत्र मण्डलाग्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च, वृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधाराणि छेदने भेदने च, सूचीकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चकानि विस्रावणे, कुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने सूची च, बडिशं दन्तशङ्कुश्चाहरणे, एषण्येषणे आनुलोम्ये च, सूच्यः सीवने; इत्यष्टविधे कर्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः ॥३॥

इन शस्त्रों में से मण्डलाग्र और करपत्र छेदन और लेखन के काम में आते हैं; वृद्धिपत्र, नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्रक और अर्धधार छेदन और भेदन के काम में आते हैं; सूची, कुशपत्र, आटीमुख, शरारिमुख, अन्तर्मुख, त्रिकूर्चक विस्रावण के काम में आते हैं; कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा, वेतसपत्रक तथा सूची वेधन के काम में आते हैं; बडिश और दन्तशंकु आहरण के काम में आते हैं; एषणी एषण और आनुलोमन के काम में आती है; सूची सीवन के काम में आती है; इस प्रकार आठों प्रकार के कामों में शस्त्रों का उपयोग किया जाता है ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में भिन्न भिन्न शस्त्रों के कार्य वर्णन किये हैं। विस्रावण—इससे यहाँ रक्तविस्रावण विशेष करके प्रच्छान समझना चाहिये। मूत्रवृद्धि या जलोदर से जलविस्रावण का अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। विस्रावण का यह अर्थ करने के कारण ही त्रिकूर्चक का अर्थ ट्रोकार किया गया है। अष्टाङ्गसंग्रह में इन शस्त्रों का कार्य प्रच्छान ही लिखा है—कुशपत्रादीनि पञ्च प्रच्छाने। आहरण—बडिश का समावेश यन्त्रवर्ग में भी किया है और वहाँ उसका कार्य आहरण बतलाया है। शस्त्रवर्ग का बडिश तीक्ष्णाग्र होने के कारण आहरण की अपेक्षा वेधपूर्वक ग्रहण का कार्य इससे अधिक किया जाता है—बडिशेन समाहितः, बडिशेनावलंबितः। (सुश्रुत)। वाग्भट ने भी बडिश का कार्य ग्रहण ही लिखा है—ग्रहणे शुण्डिकामांदेर्बडिशः सुनताननः। (अ.हृ.)। बडिशो ग्रहणे। (अ.सं.)। इसलिये आहरण से निकालना (Extraction) तथा वेधपूर्वक पकड़ के रखना (Fixation) ये दो अर्थ समझना चाहिये। एषणे आनुलोम्ये च—इसका विवरण पीछे एषणी के वर्णन में किया गया है। आनुलोमन का अर्थ डल्हण के अनुसार विस्रावण होता है—आनुलोम्यमत्र विस्रावणमभिप्रेतम्, नतु ऋजुकरणं; कस्मात्, ऋजुकरणस्य शस्त्रकर्मस्वनिर्दिष्टत्वात्। हाराणचन्द्र आनुलोम्य का अर्थ जैसा ऊपर बतलाया गया है, वैसा करते हैं—आनुलोम्ये तेषामेव छेदानुक्रमे, त एव ह्येषण्यनुसारिणा शस्त्रेण यथाक्रममामूलं छिद्यन्ते, वक्ष्यति च 'एषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत्'।

तेषामथ यथायोगं ग्रहणसमासोपायः कर्मसु वक्ष्यते—तत्र वृद्धिपत्रं वृन्तफलसाधारणे भागे गृह्णीयाच्छेदनान्येवं सर्वाणि; वृद्धिपत्रं मण्डलाग्रं च किंचिदुत्तानेन पाणिना लेखने बहुशोऽवचार्यं, वृन्ताग्रे विस्रावणानि, विशेषेण तु बालवृद्धसुकुमारभीरुनारीणां राज्ञां राजपुत्राणां च त्रिकूर्चकेन विस्रावयेत्, तलप्रच्छादितवृन्तमङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां

व्रीहिमुखं, कुठारिकां वामहस्तन्यस्तामितरहस्तमध्यमाङ्गुल्याऽङ्गुष्ठविष्टब्धयाऽभिहन्यात्, आराकरपत्रैषण्यो मूले, शेषाणि तु यथायोगं गृह्णीयात् ॥४॥

अब उन शस्त्रों का (भिन्न भिन्न) कार्यों में ग्रहण करने का योग्य तरीका वर्णन किया जाता है। उनमें से वृद्धिपत्र वृन्त और फल के संयोग के स्थान में पकड़ना चाहिये तथा अन्य भेदन शस्त्रों को भी इसी प्रकार पकड़ना चाहिये। वृद्धिपत्र और मण्डलाग्र को लेखन कर्म के समय किंचित् ऊँचे हाथ से पकड़ कर कई बार चलाना चाहिये। (सूचीकुशपत्रादि) विस्रावण के शस्त्रों को दस्ते के अग्रभाग से पकड़ना चाहिये। विशेष करके बालक, वृद्ध, सुकुमारप्रकृति, डरपोक, स्त्री, राजा तथा राजकुमार—इनका रक्त त्रिकूर्चक से निकालना चाहिये। व्रीहिमुख शस्त्र को अंगुष्ठ और तर्जनी से ऐसे पकड़ना चाहिये कि उसका वृन्तभाग हथेली से ढक जाय। कुठारिका शस्त्र को उसके दण्ड में) बांएँ हाथ से पकड़ के दाहिने हाथ की बीच की अंगुली से अंगूठे का सहारा लेकर (उसके मस्तक पर) ताड़न करना चाहिये। आरा, करपत्र और एषणी को जड़ से पकड़ना चाहिये। और शेष शस्त्रों को जैसे उनका कार्य ठीक होवे, उसी भाँति पकड़ना चाहिये ॥४॥

वक्तव्य—वृन्तफलसाधारणे भागे—वृन्त और फल के संयोग के स्थान में। मुखवारंगसंधिः। (इन्दु)। इसका ग्रहण तर्जनी, मध्यमा और अंगुष्ठ—इन तीनों अंगुलियों से करना चाहिये। उत्तानेन पाणिना—लेखन के समय हलके हाथ से काम करना चाहिए। इसलिये हाथ किंचित् ऊँचा करने के लिये कहा है। बहुशः—लेखन अनेक बार करना पड़ता है, इसलिये 'बहुशः' लिखा है। अन्य कार्य साधारणतया एक समय शस्त्र का उपयोग करने से हो जाते हैं—सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च। विस्रावणानि—विस्रावण के शस्त्र अंगूठा और तर्जनी से पकड़ना चाहिये। तलप्रच्छादितवृन्तम्—वृन्त से यहां वृन्ताग्र समझना चाहिये। जलोदर में वेध करने के लिये केवल अंगुष्ठ तर्जनी की शक्ति से अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। वह शक्ति हथेली की सहायता लेने से मिल जाती है। इसलिये वेध करने के समय व्रीहिमुख शस्त्रमुख के पास अंगूठा और तर्जनी से इस प्रकार पकड़ना चाहिये कि उसका वृन्ताग्र हथेली के साथ लगा रहे। सर्व वृन्तभाग हथेली से ढाँकने की आवश्यकता नहीं होती। बहुधा वृन्ताग्र के सिवाय शेष भाग अंगुष्ठ तर्जनी के बीच में खुला रहता है। अंगुष्ठविष्टब्धया—अंगूठा मध्यमांगुलि के साथ मिला कर उस से ताड़न करना चाहिये। अंगूठा मिलाने का उद्देश्य उसीसे सहारा लेने के लिये होता है। अंगुष्ठाधारयुक्तया इत्यर्थः। वाग्भट ने शस्त्रग्रहण का वर्णन इस प्रकार किया है—छेदभेदनलेख्यार्थं शस्त्रं वृन्तफलान्तरे। तर्जनीमध्यमांगुष्ठैर्गृह्णीयात् सुसमाहितः॥ विस्रावणानि वृन्ताग्रे तर्जन्यङ्गुष्ठकेन च। तलप्रच्छन्नवृन्ताग्रं ग्राह्यं व्रीहिमुखं मुखे॥ मूलेष्वाहरणार्थं तु क्रियासौकर्यतोऽपरम्॥

तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः। तत्र नखशस्त्रैषण्यावष्टाङ्गुले,सूच्यो वक्ष्यन्ते, (प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका, दशाङ्गुला शरारिमुखी, सा च कर्तरीति कथ्यते।) शेषाणि तु षडङ्गुलानि ॥५॥

उन शस्त्रों का आकार प्रायः नामों ही से वर्णित हुआ है। उनमें नख-शस्त्र और एषणी आठ अंगुल के होते हैं। सूचियों का वर्णन आगे करेंगे। मुद्रिकाशस्त्र तर्जनी अंगुलि के अगले पोरवे के प्रमाण का होता है। शरारिमुखी दश अंगुल की होती है और उसी को कैंची भी कहते हैं। शेष शस्त्र छः अंगुल के होते हैं ॥५॥

वक्तव्य—प्रायेण—सूची, एषणी इत्यादिक का आकार नाम से ज्ञात नहीं होता है। इसलिये प्रायेण शब्द का प्रयोग किया है। सूची—इनका वर्णन आगे सूत्रस्थान के अष्टविध शस्त्रकर्माध्याय (२५ वें) में किया है। शेषाणि—ऊपर निर्दिष्ट किये हुए शस्त्रों के अतिरिक्त या जब शस्त्रों का प्रमाण निर्दिष्ट नहीं किया जाता है तब छः अंगुल की लंबाई होनी चाहिये। इन शस्त्रों में वृन्त और फल का प्रमाण कैसा होना चाहिये इसका वर्णन सुश्रुत में नहीं मिलता है। वाग्भट ने यह प्रमाण 'स्वोन्मानार्धचतुर्थांशफलानि' ऐसा दिया है। इसका अर्थ भिन्न भिन्न टीकाकार भिन्न भिन्न करते हैं। परंतु इसका सरल अर्थ यह है—'अपनी लंबाई से आधा या चतुर्थांश फल जिन का होता है'—स्वं च तदुन्मानं स्वोन्मानम्, उन्मानं दैर्घ्यम्, तस्मादर्धं चतुर्थांशं वा फलं येषां तानि स्वोन्मानार्धचतुर्थांशफलानि। यह सामान्य प्रमाण बतलाया गया है। शास्त्र और अनुभव के अनुसार इसमें अन्तर हो सकता है।

तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहितमुखाग्राणि, अकरालानि, चेति शस्त्रसम्पत् ॥६॥

ये शस्त्र उत्तम मूठ (Handle) युक्त, अच्छे लोह से बने हुए, उत्तम धारा युक्त, देखने में सुंदर, जिनका फल का भाग यथाप्रमाण ठीक बना हुआ हो तथा मुलायम होने चाहियें। ये गुण शस्त्रों की संपत्ति है ॥६॥

वक्तव्य—ग्रह—शस्त्रों का ग्राह्य भाग—गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहः। इसी को ही वारंग या वृन्त कहते हैं। अँग्रेजी में ग्रह को हैण्डल (Handle) कहते हैं। सुलोह—कान्तलोह। इसे अँग्रेजी में स्टील (Steel) कहते हैं। शस्त्र के लिये उत्तम लोह का उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा उसकी धारा ठीक नहीं होती है और उस पर मोर्चा जल्दी चढ़ता है। मुखाग्र—फल। अकराल—अदन्तुर, जिसका बाह्य भाग मृदु हो।

तत्र वक्रं, कुण्ठं, खण्डं, खरधारम्, अतिस्थूलम्, अतितुच्छम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, इत्यष्टौ शस्त्रदोषाः। अतो विपरीतगुणमाददीत, अन्यत्र करपत्रात्; तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थम् ॥७॥

टेढ़े होना, धारा कुण्ठित होना, टूटना या खण्डित होना, धारा खुरदरी होना, बहुत मोटे होना, अधिक पतले होना, बहुत लंबे होना, बहुत छोटे होना—ये शस्त्रों के आठ दोष होते हैं। करपत्र के सिवाय जिन में ये दोष नहीं हों, ऐसे शस्त्रों को काम में लाना चाहिये। करपत्र अस्थिच्छेदन के लिये होता है। इसलिये खरधारयुक्त काम में लाना चाहिये ॥७॥

वक्तव्य—कुण्ठ-स्थूलधारायुक्त, अरोमवाही। खरधार—कर्कशधार, दाँतयुक्त। तद्धि खरधारम्—'आददीत' इत्यध्याहारः।

तत्र धारा भेदनानां मासूरी, लेखनानामर्धमासूरी, व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी, छेदनानामर्धकैशिकीति ॥८॥

भेदन शस्त्रों की धारा मसूर के समान, लेखन शस्त्रों की अर्धमसूर के समान, व्यधन और विस्रावण के शस्त्रों की केश के समान और छेदन के शस्त्रों की अर्धकेश के समान धारा होनी चाहिये ॥८॥

वक्तव्य—मासूरी—मसूरदलसदृश तन्वी। कैशिकी—केशप्रमाणा तन्वी। अष्टाङ्गसंग्रह में छेदन शस्त्रों की धारा अर्धकैशिकी के स्थान में मासूरी करने के लिये लिखा है—धारा पुनश्छेदनानां मासूरी।

बडिशं दन्तशङ्कुश्चानताग्रे[1]। तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुख्येषणी (गण्डूपदाकारमुखी च) ॥९॥

बडिश और दन्तशंकु दोनों आगे मुड़े हुए होते हैं। तीक्ष्ण कंटक के समान मुखवाली, यव के प्रथम पत्र के समान मुखवाली और केंचुवे के आकार के समान मुखवाली (ऐसी तीन प्रकार की) एषणी होती है ॥९॥

वक्तव्य—एषणी—तीन प्रकार की एषणी का वर्णन पीछे हो चुका है। कुछ लोग तीक्ष्णकंटकमुख बडिश का विशेषण और प्रथम यवपत्रमुख दन्तशंकु का विशेषण मानते हैं। उनका पाठ ऐसा है—बडिशं दन्तशङ्कुश्चानताग्रे तीक्ष्णकंटकप्रथमयवपत्रमुखे, एषणी गण्डूपदाकारमुखी। हाराणचन्द्रसंमत पाठ भी ऐसा ही है।

तेषां पायना त्रिविधा क्षारोदकतैलेषु। तत्र क्षारपायितं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु ॥१०॥

शस्त्रों पर पानी चढ़ाने का काम तीन प्रकार से होता है—क्षार से, जल से और तैल से। उन में से क्षार द्वारा पानी चढ़ाये हुए शस्त्रों का उपयोग बाणशल्य और अस्थि काटने के काम में करना चाहिये। जल द्वारा पानी चढ़ाये हुए शस्त्र मांस छेदन, भेदन और पाटन के काम में लाने चाहिएँ और तैल द्वारा पानी चढ़ाये हुए शस्त्र सिरावेध तथा स्नायुछेदन के काम में लाने चाहिएँ ॥१०॥

वक्तव्य—पायना—शस्त्र तैयार करने के पश्चात् उसकी धारा कठिन करने के लिये सन्तप्त अवस्था में भिन्न भिन्न प्रकार के द्रवों में उसको डुबाना। भिन्न भिन्न द्रवों का धारा पर विशेष प्रभाव पड़ता है, जिससे वह अपना कार्य करने में अधिक समर्थ होती है—निवृत्तानां शस्त्राणां तत्क्षणाद्द्रवद्रव्येषु निर्वापणं पायना। सा च तत्तद्द्रवप्रभावात् कर्मविशेषोत्कर्षकरी भवति। (हाराणचन्द्र)। पायितं द्रवेण तैक्ष्ण्यकरणे शिल्पिनां भाषा। (इन्दु)। अँग्रेजी में पायना को टेम्परिंग (Tempering) कहते हैं। चन्द्र चक्रवर्ती (Ancient Hindu Medicine) पायना का अर्थ जीवाणुनाशन (Sterilization) समझते हैं। परन्तु ऊपर अष्टाङ्गसंग्रह टीकाकार इन्दु तथा हाराणचन्द्र के अनुसार जो अर्थ दिया गया है, उससे तथा संदर्भ के अनुसार भी पायना का अर्थ जीवाणुनाशन करना अयथार्थ प्रतीत होता है।

तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा; धारासंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति ॥११॥

उन शस्त्रों की धारा तीक्ष्ण करने के लिये उड़द के रंग की चिकनी शिला होनी चाहिये और धारा की तीक्ष्णता कायम रखने के लिये शाल्मली वृक्ष का फलक होना चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—निशानार्थम्—धारा उत्तेजित या तीक्ष्ण करने के लिये। इसके लिये जो शिला होती है, उसे निशातनी (Whet stone) कहते हैं। इस शिला पर कुण्ठित शस्त्रों को घर्षण द्वारा तीक्ष्ण किया जाता है। तत्पश्चात् उस धारा को अधिक स्पष्ट और मृदु करने के लिये शाल्मलीफलक का उपयोग होता है। इस प्रकार धारा को अधिक स्पष्ट और मृदु करना, इसका अर्थ धारासंस्था । इसको अंग्रेजी में स्ट्रापिंग (Stropping) कहते हैं। धारासंस्थापन का कार्य केवल तीक्ष्ण धारायुक्त शस्त्रों पर होता है। यदि धारा कुण्ठित हो तो प्रथम निशातनी पर तीक्ष्ण करना चाहिये। सुश्रुत में इन शस्त्रों को रखने के लिये किसी कोश का वर्णन नहीं किया है। परन्तु वाग्भट ने इनके लिये एक शस्त्रकोश का वर्णन किया है—स्यान्नवांगुलविस्तारः सुघनो द्वादशांगुलः। क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः॥ विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थशस्त्रकः। शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोशः सुसंचयः॥ शस्त्रकोश को अँग्रेजी में सर्जिकल इन्स्ट्रूमेन्ट केस (Surgical Instrument Case) कहते हैं।

भवति चात्र—

यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि[1] सुसंस्थितम्।
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ॥१२॥

(शस्त्रकर्म करने के पूर्व) निशातनी पर घर्षण से जब शस्त्र बाल काटने में उत्तम प्रकार से समर्थ हो जाता है, तब उसको योग्य स्थान में पकड़ कर काम में लाना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—यह श्लोक केवल उन शस्त्रों के संबंध में लागू हो सकता है, जो छेदन और भेदन का कार्य करते हैं। यथा—वृद्धिपत्र, मण्डलाग्र इत्यादि। रोमच्छेदि—रोमवाहि ऐसा भी पाठ है। वाग्भट में रोमवाहि शब्द प्रयुक्त किया है। इसका अर्थ त्वचा के बाल मूँडने में समर्थ ऐसा है। यह शस्त्रधारा की अन्तिम मर्यादा है। इतनी तीक्ष्णता उत्पन्न होने के समय तक निशातनी पर शस्त्र घर्षण करना चाहिए। प्रमाणेन—प्रमाणेन सुगृहीतमिति। जो प्रमाण पीछे 'तेषामथ यथायोगग्रहणसमासोपायः कर्मसु वक्ष्यते' इस चौथे सूत्र में वर्णन किया है, उसके अनुसार ग्रहण करके। डल्हण प्रमाणेन का अर्थ तेषां नखशस्त्रैषण्यावष्टांगुले इस पांचवे सूत्र के अनुसार करता है। सुगृहीतं का अर्थ ऊपर प्रमाणेन का जो अर्थ दिया है, वैसा करता है। अन्य लोग सुगृहीतं का अर्थ सुग्रहयुक्तं उत्तम मूठ से युक्त करते हैं।

अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकाऽग्निक्षारनखगोजीशेफालिकाशाकपत्रकरीरबालाङ्गुलय इति ॥१३॥

---

[1] ०ग्रे तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुखे, एषणी गण्डूपदाकारमुखी.

[1] रोमवाहि.

बाँस, स्फटिक, काच, कुरुविंद, जोंक, अग्नि, क्षार, नख, गोजी, शेफालिका, शाकपत्र, करीर, बाल और अँगुलियाँ ये अनुशस्त्र हैं॥१३॥

वक्तव्य—अनुशस्त्राणि—स्वयं शस्त्र न होते हुए भी जो शस्त्र का कार्य कर सकते हैं, वे अनुशस्त्र होते हैं—अशस्त्राण्येव शस्त्रकार्यं कुर्वन्तीत्यनुशस्त्राणि। (इन्दु)। अथवा शस्त्रसदृशानि—अनुशस्त्राणीति सादृश्येऽव्ययीभावः, ततो अर्शआद्यच्, शस्त्रसदृशानीत्यर्थः। (हाराणचन्द्र)। कुरुविन्द—एक अत्यन्त कठिन प्रकार का पाषाण। इसे अँग्रेजी में कोरंडम (Corundum) कहते हैं। इसका दूसरा अर्थ लोहिताश्मरत्नभेद पद्मरागमणि या माणिक है। इसे अंग्रेजी में रूबी (Rugby) कहते हैं। त्वक्सार—त्वचि सारोऽस्यासौ त्वक्सारः, वंश या बाँस। इसका उपयोग त्वचा का छेदन भेदन में होता है। परंतु इसका विशेष उपयोग अस्थिभग्न में कुशा (Splints) के लिये किया जाता है। गोजी–गोजिह्वा (Elephantopus Scober) या शाखोटक सिहोरावृक्ष (Streblus Asper)। शेफालिका–निर्गुंडी (Vitex Nigunds) या पारिजातक (Nyctanthes Abortristis)। हिन्दी में इसे हरसिंघार कहते हैं। शाक–सागवान का वृक्ष (Tectona Grandis) गोजी, शेफालिका और शाक तीनों के पत्रों का उपयोग होता है। जलौका, अग्नि और क्षार इनका संपूर्ण वर्णन त्रयोदश, द्वादश और एकादश अध्याय में किया गया है। क्षार और अग्नि का समावेश अनुयन्त्र में भी किया गया है। इसका कारण यह है कि क्षार का बाह्य तथा आभ्यंतरीय उपयोग करने से चर्मकील, तिलकालक, अश्मरी, शर्करा इत्यादि शल्यों का हरण होता है और अग्नि का उपयोग करने से कण्ठासक्त जातुषादि शल्य का हरण होता है। अनुशस्त्र में समावेश करने का कारण यह है कि छेद्यभेद्यादि कर्म अग्नि और क्षार से किये जाते हैं—छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्। वाल—इसका उपयोग बंधन (Ligature) द्वारा काटने के लिये होता है। विशेष करके यह पद्धति अर्श, चर्मकील, मशक इत्यादि के संबंध में प्रयुक्त होती है। करीर—अंकुर। हाराणचंद्र करीर से तीक्ष्णकंटक युक्त मरुदेशस्थ करीर वृक्ष के कंटक समझता है—करीरो मरुभूमिजः कण्टकिवृक्षविशेषः। तस्य कण्टकमत्र ग्राह्यम्। परंतु नीचे सुश्रुत के जो अवतरण दिये हैं, उनके अनुसार करीर का अर्थ उद्भिज्ज के कोमल नाल या अंकुर समझना अधिक प्रशस्त है—एष्येष्वेषण्यलाभे तु बालांगुल्यङ्कुरा हिताः। यहां अंकुर शब्द करीर के स्थान में प्रयुक्त हुआ है। नाडीव्रणान् शल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सङ्गिनः शनैः। करीरबालांगुलिभिरेषण्या वैषयेद्भिषक्॥ चुन्चुपोदकजैः श्लक्ष्णैः नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाड्योऽवक्त्रासशोणिताः। करीरैरेषयेत्तु ताः॥ चरक में भी उद्भिज्ज मृदुनाल की सहायता से उद्भिदैर्मृदुभिर्नालैः—एषण करने के लिये लिखा है।

शिशूनां शस्त्रभीरूणां शस्त्राभावे च योजयेत्।
त्वक्सारादिचतुर्वर्गं छेद्ये भेद्ये च बुद्धिमान् ॥१४॥
आहार्यच्छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत्।
विधिः प्रवक्ष्यते पश्चात् क्षारवह्निजलौकसाम् ॥१५॥
ये स्युर्मुखगता रोगा नेत्रवर्त्मगताश्च ये।
गोजीशेफालिकाशाकपत्रैर्विस्रावयेत्तु तान्।
एष्येष्वेषण्यलाभे तु बालाङ्गुल्यङ्कुरा हिताः ॥१६॥

बालकों और शस्त्रों से डरने वालों के लिये तथा जब शस्त्र न मिले, तब बुद्धिमान् वैद्य त्वक्सार, काच, कुरुविन्द और स्फटिक—इन चार अनुशस्त्रों को छेदन और भेदन के काम में लावे ॥१४॥ आहरण, छेदन और भेदन के कामों में जहाँ हो सके वहां नाखून से काम कर ले। क्षार, अग्नि और जोंक इनके उपयोग की विधि इसके पश्चात् वर्णन की जायगी ॥१५॥ मुख में और नेत्रों की पलकों में उत्पन्न हुए रोगों का विस्रावण गोजी शेफालिका शाकपत्रों से करें। एष्यकर्म में एषणी न मिले तो बाल, अंगुलि और अंकुर (एषण के लिये) प्रशस्त होते हैं ॥१६॥

वक्तव्य—प्रारंभ के श्लोकार्ध में अनुशस्त्रों का उपयोग करने के तीन समय बतलाये हैं। तत्पश्चात् भिन्न भिन्न अनुशस्त्रों के कार्य वर्णन किये हैं। विस्रावयेत्—गोजीशेफालिकादि वृक्षों के कर्कशपत्रों द्वारा घर्षण करके रक्त आदि निकाला जाता था। मुखगत रोग—संशोध्योभयतः कार्यं शिरश्चोपकुशे तथा। काकोडुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक् ॥ नेत्रवर्त्मगत रोग—ततः प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाङ्कितम्। लिखेच्छत्रेण पत्रै (शेफालिकादीनां)र्वा॥ (सुश्रुत)। एषण्यलाभे—चरक में दो प्रकार की एषणी वर्णन कर अंकुर मृदुनालादिक का उपयोग उत्तान व्रणों के अन्वेषण के लिये कहा है—द्विविधामेषणीं विद्यान्मृद्वीञ्च कठिनामपि। उद्भिदैर्मृदुभिर्नालैर्लोहानां वा शलाकया॥ गंभीरमांसगे देशे पार्श्वे लोहशलाकया। एष्यं विद्याद् व्रणं नालैर्विपरीतमतो भिषक्॥ (चरक चि. अ. २५)। उपर्युक्त १४ अनुशस्त्रों के अतिरिक्त अष्टांगसंग्रह में निम्न अनुशस्त्र अधिक दिये हैं। (१) सूर्यकान्त—यह एक नैसर्गिक स्फटिकमणि है, जो अपने ऊपर पड़े हुए सूर्य-किरणों को पर्याय से इकट्ठा करता है और उसीसे उसके नीचे जिस स्थान पर सूर्य की किरणें इकट्ठा होती हैं वहां ज्वलन उत्पन्न होता है। इसी लिये इसको तपनमणि, ज्वलनाश्मा भी कहते हैं। शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः। स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्तास्ते ह्यन्यतेजोभिभवाद्दहन्ति॥ (शाकुन्तल)। अंग्रेजी में इसको कानवर्जिंग ग्लास (Converging glass) कह सकते हैं। इसका उपयोग अग्निकर्म में होता था–सूर्यकान्तपिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाभिस्त्वग्दाहः। (२) समुद्रफेन—यद्यपि इसको समुद्र के पानी का घनीभूत फेन समझते हैं तथापि वास्तव में यह समुद्र में रहने वाले एक विशिष्ट प्राणी का कंकाल (Skeleton) है। यह बहुत कठिन परंतु भंगुर होता है। अंग्रेजी में इसको 'कटल फिश बोन' (Cuttle fish bone) कहते हैं। इसका उपयोग लेखन कर्म के लिये होता था—क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं ससैन्धवम्। कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत्॥ (३) शुष्क गोमय—सूखा गोबर।

शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु।
कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ॥१७॥

बुद्धिमान् वैद्य इन शस्त्रों को शुद्ध फौलाद के बनवावे और बनवाने के काम में अनुभवी और कर्मकुशल लौहकार को नियुक्त करे ॥१७॥

वक्तव्य—शैक्यायस—तीक्ष्णायस, फौलाद (Steel)। करणप्राप्त—उपकरण बनवाने में कुशल। कर्मकोविद—लौहकार के शास्त्र में पारंगत। कारयेत्—कर्तुं प्रयोजयेत, बनवाने के काम में नियुक्त करे।

प्रयोगज्ञस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति नित्यशः ।
तस्मात् परिचयं कुर्याच्छस्त्राणां ग्रहणे[1] सदा ॥१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शस्त्रावचारणीयो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

जो वैद्य (शस्त्रों का) उत्तम प्रकार से उपयोग (करना) जानता है, उसको (अपने व्यवसाय में) सर्वदा सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिये शस्त्रग्रहण का परिचय सदा करना चाहिये ॥१८॥

वक्तव्य—प्रयोगः—प्रकृष्टो योगः । सिद्धि–रोगी की दृष्टि से आरोग्य संपादन और वैद्य की दृष्टि से यश । परिचय–अभ्यास ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने शस्त्रावचारणीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो योग्यासूत्रीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से योग्यासूत्रीय नामक अध्याय का वर्णन करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—योग्या—शल्यचिकित्सा में यन्त्रशस्त्रों के जो विविध काम होते हैं, उनका प्रत्यक्ष परिचय कराने के लिये तथा उन में कौशल प्राप्त करने के लिये रोगी के शरीर पर उनका प्रयोग करने के पूर्व उन कर्मों के लिये योग्य वस्तुओं पर उन कर्मों का जो अभ्यास होता है उसे 'योग्या' कहते हैं। अंग्रेजी में शल्यचिकित्सा के इस विभाग को 'ओपरेटिव्ह सर्जरी' (Operative Surgery) कहते हैं।

अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत्। स्नेहादिषु छेद्यादिषु च कर्मपथमुपदिशेत् । सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यः कर्मस्वयोग्यो भवति ॥२॥

संपूर्ण शास्त्र का आशय जानने वाले शिष्य को भी योग्या करानी चाहिये। स्नेहन छेदनादि कर्मों का तरीका बतलाना चाहिये। क्योंकि बहुत शास्त्र पढ़ने पर भी कर्माभ्यास के विना मनुष्य प्रत्यक्ष कर्म करने के लिये अयोग्य होता है ॥२॥

वक्तव्य—स्नेहादिषु—स्नेहन स्वेदन वमन विरेचन शिरोविरेचन आस्थापन अनुवासन उत्तरबस्ति, इन कर्मों में। छेद्यादिषु–छेदनादि अष्टविध शस्त्र कर्म तथा पट्टबंधनादि अन्य सहायक कर्मों में। अयोग्य—अनिपुण ।

तत्र, पुष्पफलालाबूकालिन्दकत्रपुसै(सो)र्वारुककर्कारुकप्रभृतिषु छेद्यविशेषान् दर्शयेत्, उत्कर्तनपरिकर्तनानि चोपदिशेत् ॥३॥

कोहला, लौकी, तरबूज, ककड़ी, खीरा इत्यादि में काटने के संबंध में जितने कर्म हैं, दिखावे और ऊपर नीचे काटने का उपदेश करे ॥३॥

वक्तव्य—उत्कर्तन—ऊर्ध्वकर्तन । परिकर्तन—अधश्छेदः ।

दृतिबस्तिप्रसेवकप्रभृतिषूदकपङ्कपूर्णेषु भेद्ययोग्यां; सरोम्णि चर्मण्यातते लेख्यस्य; मृतपशुसिरासूत्पलनालेषु च वेध्यस्य ॥४॥

जलमिश्र कीचड़से युक्त दृति बस्ति प्रसेवक आदि में भेदन क्रिया का अभ्यास सिखावे; रोमयुक्त फैले हुए चर्म पर लेखन कर्म सिखावे; मरे हुए पशुओं की सिराओं में तथा कमलनालों में वेध करने का अभ्यास सिखावे ॥४॥

वक्तव्य—दृति—चर्मनिर्मित जलाधार कोश । प्रसेवक—चर्मनिर्मित भाण्ड ।

घुणोपहतकाष्ठवेणुनलनालीशुष्कालाबूमुखेष्वेष्यस्य; पनसबिम्बीबिल्वफलमज्जमृतपशुदन्तेष्वाहार्यस्य ॥५॥

कीड़ों से खाये हुए काष्ठ, बाँस, कमलनाल, सूखे तुंबे के मुख में एषण क्रिया सिखावे; कटहल, कुंदरू, बिल्वफल के गूदे में तथा मृत पशुओं के दाँतों में आहरण की क्रिया सिखावे ॥५॥

वक्तव्य—घुण—काष्ठ कृमि या काष्ठ कीट ।

मधूच्छिष्टोपलिप्ते शाल्मलीफलके विस्राव्यस्य; सूक्ष्मघनवस्त्रान्तयोर्मृदुचर्मान्तयोश्च सीव्यस्य ॥६॥

मोम लगे हुए संभल के फलक पर विस्रावण कर्म सिखावे; पतले तथा मोटे दो वस्त्र के टुकड़ों में और मृदु चर्म के टुकड़ों में सीवन कर्म सिखावे ॥६॥

पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गविशेषेषु बन्धनयोग्याम्; मृदुचर्ममांसपेशीषूत्पलनालेषु च कर्णसन्धिबन्धनयोग्याम् ॥७॥

कपड़े आदि का पुतला बनाकर उसके अंग प्रत्यंगों में, जहाँ जिस भांति बंध होते हैं, वहाँ उनका बांधने का अभ्यास करे; मृदुमांस तथा कमल की नाल में कान के संधि-बन्धों का अभ्यास करे ॥७॥

वक्तव्य—पुस्त—पुतला बनाने की चीज—पुस्तो दार्व्यादिमय्याः स्त्र्याद्याकृतेरुपादानकारणं यद्वस्तु तदुच्यते। (अरुणदत्त)। पुतला बहुधा लकड़ी, वस्त्र, मृत्तिका इत्यादि से बनाया जाता है—मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा । लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥ पुस्तमय आकृति को अँग्रेजी में डॅमी (Dummy) कहते हैं। पाश्चात्त्य वैद्यक में प्रसूति के समय की गर्भ की गति दिखलाने के लिये तथा मूढ गर्भ के ऊपर शस्त्र कर्मों के अभ्यास कराने के लिये पुस्तमय स्त्री का उपयोग होता है। परन्तु इस के सिवाय अन्य सर्व शस्त्र कर्मों के अभ्यास मृत मनुष्य के शरीर पर और क्वचित् प्राणियों के शरीर पर होते हैं। प्राचीन काल में मृत शरीर का स्पर्श अपवित्र माना जाता था—शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति। (मनु)। इसलिये शस्त्रकर्म का अभ्यास अधिकतर वनस्पतियों पर और क्वचित् मृत प्राणियों पर होता था। परन्तु सम्यक्कर्माभ्यास की दृष्टि से मनुष्य शरीर पर अभ्यास करना अधिक प्रशस्त है । इसलिये आज कल शस्त्र कर्मों का अभ्यास मृत मनुष्य शरीर पर ही विद्यार्थियों से कराया जाता है।

मृदुषु मांसखण्डेष्वग्निक्षारयोग्याम्, उदकपूर्णघटपार्श्वस्रोतस्यलाबूमुखादिषु च नेत्रप्रणिधानबस्तिव्रणबस्तिपीडनयोग्यामिति ॥८॥

---

[1] शस्त्राणामादितः. [2] उत्कर्तनापकर्तनानि.

मृदु मांस के खण्डों पर क्षार और अग्नि क्रिया सिखावे। जल से भरे हुए घड़े के पार्श्वच्छेद में तथा तुंबे के मुख आदि में नेत्र का प्रवेश कराना, बस्ति का पीड़न कराना और घाव में व्रणबस्ति देना आदि कार्यों का अभ्यास करावे ॥८॥

वक्तव्य—नेत्र—बस्तिनलिका । नीयते प्राप्यते स्नेहकल्काद्यपानमिति नेत्रम् । (अरुणदत्त) । नेत्रप्रणिधान—नेत्रप्रवेशन । बस्तिव्रणबस्तिपीडनयोग्याम्—बस्तिपीडनं व्रणबस्तिपीडनं च, अनयोर्योग्याम् ।

भवतश्चात्र—

एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि ।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु ॥९॥

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य योग्य द्रव्यों में विधिपूर्वक कर्माभ्यास करने वाला बुद्धिमान् वैद्य काम के समय नहीं घबराता है ॥९॥

तस्मात् कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु ।
यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत् ॥१०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने योग्यासूत्रीयो
नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

इसलिये शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म इन में कुशलता चाहे तो जिस कर्म का जिस द्रव्य में साधर्म्य होता है, वहाँ पहले उस क्रिया का खूब अभ्यास करके कार्य सीख ले ॥१०॥

वक्तव्य—यत्र यस्येह साधर्म्यम्—जिस कर्म के लिये जो द्रव्य योग्य हो। ऊपर विविध कर्मों के लिये जो अनेक द्रव्य बतलाये गये हैं, वे केवल उदाहरणमात्र हैं । इनके अतिरिक्त कई द्रव्य कर्म के लिये योग्य हो सकते हैं। उनके ऊपर कर्मों का अभ्यास करना चाहिये । परन्तु सब से उत्तम मृत मनुष्य शरीर है । इसलिये उसी के ऊपर अभ्यास करना चाहिये । अब प्राचीन काल की भाँति पुष्प-फलों पर अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने योग्यासूत्रीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विशिखानुप्रवेशनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया है ॥१॥

वक्तव्य—विशिखा—राजमार्ग या प्रशस्तमार्ग । यहां विशिखा से वैद्यक-व्यवसाय का कर्ममार्ग (Medical Professional Practice) अभिप्रेत है । इस कर्ममार्ग में प्रवेश योग्य कौन है, प्रवेश योग्य पुरुष को किस विधि से व्यवसाय करना चाहिये, इसका उपदेश (Ethics) जिस अध्याय में वर्णन किया है, वह विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय है । हाराणचन्द्र विशिखा से रोगी के घर का मार्ग समझते हैं—प्रशस्तवर्त्मापरपर्यायोऽपि विशिखाशब्दोऽत्रातुरावासवर्त्ममात्रे प्रवर्तते, गमकत्वात् ।

अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रं निगदता[1] राजानुज्ञातेन[2] नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानत्केनानुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहायवता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या ॥२॥

जिसने चिकित्सा शास्त्र पढ़कर उसका अभिप्राय भली भाँति समझ लिया है, चिकित्साकर्म देखकर फिर उसका खूब अभ्यास कर लिया है, जो शास्त्र को पढ़ा सकता है, जिसने (परीक्षा देकर) राजा से आज्ञा ले ली है, जो नाखून बाल कटवा कर, साफ सफेद वस्त्र पहन कर, छाता छड़ी हाथ में लेकर, अच्छा जूता पहन कर, मनोहर वेष धारण कर, शुद्ध मन से, कल्याणकारी भाषण कर, निष्कपट वृत्ति से, सब जीवों को निज बंधु के समान मानकर, उनकी सहायता करता है, वह चिकित्सक वैद्यकव्यवसाय में प्रवेश करने योग्य है ॥२॥

वक्तव्य—राजानुज्ञातेन—प्राचीन काल में जनता में चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व राजा की अनुज्ञा लेना वैद्यों के लिये आवश्यक था—राजाज्ञया विना नैव जनैः कार्यं चिकित्सितम् । (शुक्रनीति. अ. १-३०४)। और प्रजारक्षण के लिये वैद्यों की योग्य जांच करना राजा का धर्म था—ततो राज्ञा परीक्ष्य वैद्यः प्रजारक्षार्थमनुमन्तव्य एष धर्मः । (चक्र.) । परंतु कार्य किस प्रकार होता था, इस का विशेष विवरण कहीं नहीं मिलता है । आज पाश्चात्त्य वैद्यक में वैद्यों (डाक्टरों) की परीक्षा करने का कार्य विद्यापीठ (University) द्वारा होता है और अनुज्ञा (License) का कार्य राजसंस्था की ओर से वैद्य-सभा (Medical Council) करती है । छत्रवता इत्यादि—छत्र दण्ड और पादत्राण वैद्य की शरीर रक्षा के लिये हैं । पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम । सुखप्रचारमौजस्यं सदा पादत्रधारणम् ॥ पादत्राण का उपयोग करने से सर्प, वृश्चिक, मच्छर, पिस्सू, कण्टक आदि से शरीर की रक्षा होती है । वर्षानिलरजोधर्महिमादीनां निवारणम् । वर्ण्यं चक्षुष्यमौजस्यं शङ्करं छत्रधारणम् ॥ सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्धनम् । अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम् ॥ (सुश्रुत) । कल्याणाभिव्याहारेण—अभिव्याहार, भाषण । हित, मित और मधुर भाषण करने वाला । अकुहक—अवंचक या निष्कपट । कुहक—'शास्त्रहीनः परमविश्वासकारको मायावी' (डल्हण) । इस सूत्र में वैद्यक-व्यवसाय में श्रेय तथा सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक बातों का वर्णन किया है । इसके तीन विभाग होते हैं । अधिगततंत्रेण से राजानुज्ञातेन तक पहला विभाग है । इसमें चिकित्सक की व्यवसायविषयक योग्यता बतलाई गई है । नीचनखरोम्णा से अनुद्धतवेशेन तक द्वितीय विभाग बताया है । इसमें वैद्यक-व्यवसाय के लिये सहायक बाह्यवेश वर्णन किया है । सुमनसा से सहायवता तक तृतीय विभाग होता है । इसमें चिकित्सक की मानसिक स्थिति वर्णन की है ।

ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च, त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदि-

---

[1] शास्त्रार्थं निगदता. [2] राज्ञानु°.

तव्या इत्येके; तत्तु न सम्यक्, षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ॥३॥

फिर दूत, निमित्त, शकुन और मङ्गल की अनुकूलता देखकर रोगी के घर जावे और बैठकर उसे अच्छी तरह से देखे। हस्त से स्पर्श करे और (व्याधि के विषय में) प्रश्न करे। इन तीनों (दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न) उपायों द्वारा प्रायः सर्व व्याधियों को जानना चाहिये, ऐसा कई आचार्यों का मत है। परंतु यह ठीक नहीं है। क्योंकि रोग जानने के उपाय छः प्रकार के हैं। वे इस भांति कि कर्ण आदिक पांचों इन्द्रियों से और प्रश्न से ॥३॥

वक्तव्य—दूत—रोगी के यहां से बुलाने, खबर देने, पूछने आदि के लिये आया हुआ मनुष्य। निमित्त–उदकुंभादि। शकुन–पक्षियों के वाक्य इत्यादि। मङ्गल–स्वस्तिक पूर्णकुंभादि। आनुलोम्य–अविपरीतता या प्रशस्तता। इन का वर्णन सूत्रस्थान के विपरीताविपरीत स्वप्ननिदर्शनीय अध्याय (२९) में किया गया है। इत्येके–दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्। (वाग्भट)। दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता। (दृढबल)। तत्तु न सम्यक्–दर्शनादि केवल इन तीन उपायों द्वारा परीक्षा पूर्णतया नहीं हो सकती है। इसलिए इन तीन उपायों द्वारा रोगी की परीक्षा करना अप्रशस्त है। रोगाणां विज्ञानोपायः—रोगाणां विशेषेण निश्चितं ज्ञानं स्वरूपावधारणं तस्योपायः। रोगों का निश्चित रूप से ज्ञान करने का उपाय। रोग का ज्ञान निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति–इस पंच प्रकार से होता है–तस्माद् व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिर्हेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुध्येत। तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसंप्राप्तितः ॥ (चरक. वि. १)। निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा। संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ (वाग्भट)। पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः—श्रवण, नयन, नासा, जिह्वा और त्वचा द्वारा। चरक में भी पंचज्ञानेन्द्रियों का उपयोग रोगी की परीक्षा के लिये बतलाया है, परंतु उसमें जिह्वापरीक्षा का निषेध किया है—प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्। (वि. अ. ४)। इसका विवरण अगले सूत्र की टिप्पणी में किया जायगा।

तत्र श्रोत्रेन्द्रिय[1]विज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणास्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते—'तत्र सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छति' इत्येवमादयः, स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयः स्पर्शविशेषा ज्वरशोफादिषु, चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः, रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः, घ्राणेन्द्रिय[2]विज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानां च गन्धविशेषाः, प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्कसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रायं बलमन्तरग्निं[3] वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्त्यप्रवृत्ती कालप्रकर्षादींश्च विशेषान्। आत्म[1]सदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानीयात् ॥४॥

फेनयुक्त रक्त में गति उत्पन्न करने वाला वायु निकलते समय ध्वनि उत्पन्न करता है इत्यादि रोगों में श्रवणेन्द्रिय से जानने योग्य विशेषों का वर्णन आगे व्रणस्रावविज्ञानीयादि अध्यायों में किया जायगा। ज्वर शोथादि रोगों में शैत्य, औष्ण्य, श्लक्ष्णता, कर्कशता, मृदुता, कठिनता इत्यादि त्वचा के गुण स्पर्शनेन्द्रिय से जानने योग्य होते हैं। शरीर की स्थूलता, कृशता, आयु के लक्षण, उत्साह और वर्ण के विविध विकार चक्षुरिन्द्रिय से जानने योग्य होते हैं; प्रमेहादि रोगों में मूत्रादिक के रस रसनेन्द्रिय से जानने योग्य होते हैं। अरिष्टलिंगादि में व्रण से तथा अन्य स्थान से जो गंध आते हैं, वे घ्राणेन्द्रिय से जानने योग्य हैं। देश, काल, जाति, सात्म्य, रोगनिदान, वेदना की वृद्धि, बल, पाचकाग्नि, वातमूत्रमल की प्रवृत्ति या संग, रोग पाक काल इत्यादि की विशेषता रोगी से प्रश्न पूछ कर जानने योग्य हैं; उपर्युक्त रोगविज्ञान के उपाय यदि स्वयं प्रत्यक्ष करने योग्य हों तो उन उपायों (इन्द्रियों) के कर्ण, त्वक्, नेत्र, नासा, जिह्वा—इन अधिष्ठानों द्वारा इन्द्रियविज्ञेय विषयों का ज्ञान कर लेना चाहिये ॥४॥

वक्तव्य—आयुर्लक्षण—ये लक्षण आगे आतुरोपक्रमणीय अध्याय (अ. ३५) में वर्णन किये हैं। बल—उत्साह। अरिष्टलिंग—रोग का मृत्युदर्शक लक्षण—तथा लिंगमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः। (चरक)। देश–भूमि। यह जाङ्गल, आनूप और साधारण भेद से तीन प्रकार की है। तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोः। तद्यथा—कस्मिन्नयं भूमिदेशे जातः संवृद्धो व्याधितो वेति। (चरक)। काल—उष्णादि ऋतुलक्षण काल, प्रातरादि काल, बाल्यादि काल, रोगारंभकादि काल। कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। (चरक)। जाति—रोगों की संप्राप्ति। संप्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः। (चरक)। सात्म्य—जिसका सेवन शरीर के लिये सुखदायक होता है, उसे सात्म्य कहते हैं—यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः। व्यायामजातमन्यद्वा तत्सात्म्यमिति निर्दिशेत् ॥ (सुश्रुत)। वेदनासमुच्छ्राय—व्याधि की अत्युन्नति। अन्तरग्नि—पाचकाग्नि। यह सम, विषम, मन्द और तीक्ष्ण भेद से चार प्रकार का होता है। कालप्रकर्ष—व्याधेः कालसंततिः यावन्तं कालं व्याधिरुत्पन्न इति यावत्। व्याधि की प्रारंभ से काल-मर्यादा। रसनेन्द्रियविज्ञेयाः—यद्यपि यहां स्पष्टरूप से लिखा नहीं है तथापि रोगी के शरीरगत रस का ज्ञान अनुमान से ही करना चाहिये। चरक में इस उपाय का स्पष्ट निषेध किया गया है—अन्यत्र रसज्ञानात्—यह अनुमान मक्षिका, पिपीलिका, यूका, काक इत्यादि के रसनेन्द्रिय द्वारा किया जाता है। इस का प्रत्यक्ष ज्ञान करना उचित नहीं है—रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते। तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्। यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यम्। मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम्। लोहितपित्तसन्देहे तु धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति। श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्। एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत। (विमान अ. ४)। फिर इन्द्रिय स्थान

---

[1] शब्देन्द्रिय°. [2] गन्धेन्द्रिय°. [3] दीप्ताग्नितां.

[1] आत्मासदृशेषु.

के द्वितीय अध्याय में भी लिखा है—यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसंभवः। स एषां चरमे काले विकारं भजते द्वयम्॥ तमनेनानुमानेन विद्याद्विकृतितां गतम्। मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्॥ यही निषेध यहाँ अप्रत्यक्ष या 'आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु' इस शब्द प्रयोग से बतलाया गया है। आत्मसदृशेषु—वैद्य के लिये स्वयं अनुभव करने योग्य। सदृश—योग्य या उचित। आत्मसदृशेष्वित्यादि—आत्मसदृशेषु, आत्मनो युक्तेषु, विज्ञानाभ्युपायेषु, दर्शनस्पर्शनादिषु सत्सु तत्स्थानीयैस्तेषां स्पर्शनेन्द्रियादीनां स्थानीयैरधिष्ठानैर्जिह्वात्वक्कर्णनासिकानेत्रैर्जानीयात् तांस्तानिन्द्रियविज्ञेयान् भिषगित्यर्थः॥ इन छः उपायों में रसना का उपाय सर्वदा स्वयं करने योग्य नहीं होता है। इसलिये इसका स्पष्ट निषेध चरक में किया है। इसके सिवाय अन्य उपाय भी जो सर्वदा आत्मसदृश होते हैं रोगी अछूत होने पर, परदानशीन स्त्री होने पर या दूर स्थान में होने पर परसदृश हो जाते हैं। यदि स्त्री के गुह्यांग के रोग हों तो भी दर्शन तथा स्पर्शन के उपाय परसदृश (बहुधा नर्स के योग्य) हो जाते हैं, इत्यादि। डल्हण आत्मसदृश का अर्थ वातादि दोष सदृश करके इसकी व्याख्या इस प्रकार से करता है—आत्मसदृशेषु दोषसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु षड्विधेषु श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणप्रश्नेषु। तत्र वातसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु पञ्चेन्द्रियप्रश्नेषु, व्रणे सशब्दफेनरक्तानिलादिनिर्गमनं श्रवणेन्द्रियग्राह्यं, पारुष्यरौक्ष्यादिकं त्वगिन्द्रियग्राह्यम्, इत्यादि। पित्तसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु व्रणादीनामौष्ण्यं त्वगिन्द्रियग्राह्यम्, नीलपीतवर्णत्वं चक्षुरिन्द्रियग्राह्यम्, इत्यादि। श्लेष्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु स्निग्धपैच्छिल्यादिकं त्वगिन्द्रियग्राह्यं, श्वेतत्वं चक्षुरिंद्रियग्राह्यम्, इत्यादि। वैद्यो जानीयात्, इति कान्? व्याधीन्, अधिकारवशादक्षरैरनुक्तानपि केषु सत्सु? षड्विधेष्वपि विज्ञानाभ्युपायेष्वात्मसदृशेषु वातपित्तश्लेष्मसदृशेषु कैर्जानीयात्? तत्स्थानीयैः तेषां शब्दादीनां स्थानानि श्रोत्रादीनि, तेष्वधिकृतैः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः तत्स्थानीयैः। एतेनैतदुक्तम्–वातादिलिङ्गैरायुर्वेदेष्व निर्दिष्टनामधेयानपि व्याधीन् कुशाग्रमतिर्वैद्यो जानीयादिति। इस व्याख्यान का आशय यह है कि उपर्युक्त रोगविज्ञान के जो छः उपाय बतलाये गये हैं उन में से वातादि दोषों का स्वरूप जानने के लिये जो उपाय उपयोगी हों उनकी सहायता लेकर रोगों का ज्ञान दोष की परिभाषा में कर लेना चाहिये। इससे आयुर्वेद में अनिर्दिष्ट रोगों का भी ज्ञान बुद्धिमान् वैद्य को होता है। हाराणचन्द्र 'आत्मासदृशेषु' ऐसा पाठ लेकर व्याख्यान करते हैं—'नन्वात्मनो हीनेन्द्रियत्वे का गतिरित्याह–आत्मासदृशेष्वित्यादि। उचितापरपर्यायोऽयं सदृशशब्दः। 'सदृशं समे उचिते' इति मेदिनी। ततश्चात्मासदृशेषु आत्मनोऽनुचितेषु अयुक्तेषु हीनेष्विति यावत। विज्ञानाभ्युपायेषु विज्ञानोपायेष्विन्द्रियेषु सत्स्वित्यर्थः। तत्स्थानीयैरातुरावासस्थैः पुरुषैर्जानीयात् तांस्तानिन्द्रियविज्ञेयान् विषयान् भिषगित्यर्थः। "आत्मसदृशेषु' इति प्रामादिकः पाठः। इस का आशय यह है कि जब उपाय इन्द्रियहीनत्व से या अन्य अन्य कारण से स्वयं करने के लिये उचित नहीं होते हैं तब रोगी के घर के मनुष्यों से उन इन्द्रियविज्ञेय विषयों का ज्ञान कर लेना चाहिये। ऊपर 'आत्मसदृशेषु' पाठ के अनुसार जो अर्थ दिया है उसका विचार करने से इस पाठ को प्रामादिक मानने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। पाश्चात्यरोगविज्ञानोपाय—पाश्चात्य वैद्यक में रोगिपरीक्षा के मुख्य पाँच उपाय होते हैं।

(१) प्रश्न (Interrogation)—यह रोगी की परीक्षा का प्रथम उपाय है। इसके दो विभाग होते हैं—सामान्य प्रश्न (General Interrogation) और विशेष प्रश्न (Special Interrogation)। सामान्य प्रश्न में रोगी का नाम, आयु, व्यवसाय, विवाहित या अविवाहित, निवासस्थान, देश, वर्तमान रोग की अवस्था, कैसे आरम्भ हुआ, कैसे बढ़ता गया, क्या चिकित्सा की गई, उसका क्या परिणाम हुआ, रोगी के सामान्य स्वास्थ्य का वृत्तान्त, आहारसंबंधी, विशेष करके मादकद्रव्य सेवन संबंधी बातें, परिवार के स्वास्थ्य का परिचय इत्यादि बातें समाविष्ट होती हैं। विशेष प्रश्न में रुग्ण संस्थान या अङ्ग के संबंध में तथा यदि आवश्यक हो तो अन्य संस्थान या अङ्ग के संबंध में प्रश्न होते हैं। (२) दर्शन (Inspection)—इसमें आपादमस्तक रोगी के शरीर का निरीक्षण बोलते, चलते, सोते और बैठते समय किया जाता है। यदि आवश्यक हो तो रोगी को निर्वस्त्र करके भी देखना चाहिये। परन्तु अधिक समय तक निर्वस्त्र रखना अच्छा नहीं है। (३) स्पर्शन (Palpation)—दर्शन के पश्चात् हाथ से परीक्षा करनी चाहिये। स्पर्शपरीक्षा प्रायः एक हाथ से और कभी कभी दोनों हाथों से की जाती है। स्पर्श करने के समय हाथ न बहुत ठण्डा न गरम होना चाहिये। स्पर्श बहुत कोमलता से करना चाहिये ताकि रोगी को कष्ट न हो। स्पर्श सम हाथ से करना चाहिये, अंगुलियों से दबा दबा कर नहीं। (४) अंगुलिताडन (Percussion)—यह परीक्षाविधि आयुर्वेदीय वैद्य तथा विद्यार्थि लिये नई है। इस विधि का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। यह विधि निम्न तत्त्व पर निर्भर है—ठोस या कठिन स्थान पर ताड़न करने से प्रतिध्वनि मंद या भदभद (Dull) होती है। रिक्त स्थान पर ताड़न करने से प्रतिध्वनि डिमडिम, ढोलवत् (Tympanitic) होती है। जलगर्भ स्थान पर आघात करने से ध्वनि मंद होती है। परन्तु उसकी मन्दता ठोस स्थान से कुछ दूसरी होती है। इस विधि से शरीर के भीतरी ठोस, जलगर्भ और रिक्त (वायुयुक्त) स्थान का ज्ञान होता है। इस विधि में स्पर्शन और श्रवण का मिश्रण है। परंतु अभ्यास से हाथ की ज्ञानशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि बिना ताडन शब्द के सुनने से ही हाथ को यह मालूम हो जाता है कि परीक्ष्य स्थान ठोस, जलगर्भ या रिक्त है। ताड़न की विधि—इसके लिये दो चीजें आवश्यक हैं—एक वह जिससे ताड़न किया जाता है और दूसरी जिस पर ताड़न किया जाता है। प्रथम जब इस विधि का आविष्कार हुआ, तब रोगी के शरीर पर कोई भी चीज न रख कर ताड़न किया जाता था। इसे प्रत्यक्ष ताड़न (Direct Percussion) कहते हैं। इस प्रत्यक्ष पद्धति से अब ताड़न नहीं होता है। केवल फुफ्फुस–परीक्षा में अक्षकों के ऊपर इस प्रकार ताड़न कभी कभी होता है। प्रायः वाम हस्त की मध्यमांगुलि को परीक्ष्य स्थान पर सपाट रखकर उस पर दक्षिण हस्त की मध्यमांगुलि के सिरे से हथौड़ी की तरह प्रहार किया जाता है। प्रहार के समय केवल अंगुलि और हाथ हिलना चाहिये और प्रहार की शक्ति कलाई से आनी चाहिये। प्रत्येक स्थान में दो या तीन से अधिक प्रहार करने की आवश्यकता नहीं है। यह विधि उदर, छाती और हृदय की परीक्षा में

बहुत उपयोगी है। (५) श्रवणपरीक्षा—(Auscultation)—यह परीक्षा प्रत्यक्ष कर्ण परीक्ष्य स्थान पर लगाकर भी की जा सकती है। परन्तु इसके लिये एक विशेष प्रकार का नाडीयन्त्र व्यवहृत होता है। उसे स्टेथास्कोप (Stethescope) कहते हैं। यह स्टेथास्कोप एक नलिका का (Single) या दो नलिकाओं का (Binaural) होता है। इस नाडीयन्त्र का उपयोग फुफ्फुस और हृदय के रोगों में बहुत होता है। पाश्चात्त्य वैद्यक में रसनापरीक्षा के लिये किंचित् भी स्थान नहीं है। रसपरीक्षा की विशेष आवश्यकता मूत्रपरीक्षा में होती है—रसनेंद्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिरसविशेषाः। परन्तु पाश्चात्त्य वैद्यक में रासायनिक पदार्थों का मिश्रण मूत्र में करके उनकी मधुरता जानने का साधन उपलब्ध है। इसके सिवाय प्रत्यक्ष रोगी के मूत्रादिक का स्वाद लेना भी हानिकारक और घृणित है। इसलिये चरक में भी रासनी परीक्षा का स्पष्ट निषेध किया है और रासायनिक परीक्षा न होने के कारण मूत्र का रस जानने के लिये पिपीलिकादि पर निर्भर होने के लिये लिखा है—षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्। गंधपरीक्षा—पाश्चात्त्य वैद्यक में मल मूत्र की परीक्षा में, अहिफेन विष, मदात्यय और मधुमेह की मूर्च्छा (Diabetic coma) में गंध द्वारा रोग की परीक्षा की जाती है। परंतु इस परीक्षा के लिये कोई खास स्थान नहीं है। चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रथम रोगी की सम्पूर्ण और सम्यक् परीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने लिये पाश्चात्त्य वैद्यक में सैकड़ों यन्त्र (यथा—स्पेक्यूलम, स्कोप, एक्स-रे इत्यादि) व्यवहृत होते हैं। प्राचीन काल में इन यन्त्रों की कमी थी। अतः वैद्य को केवल अपनी इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। इसलिये इन इन्द्रियों का महत्त्व चरक में वर्णन किया है—आतुरस्यान्तरात्मानं यो नाविशति रोगवित्। ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन न स रोगान् चिकित्सति॥

भवति चात्र—

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम् ॥५॥

जिन रोगों की परीक्षा यथाशास्त्र नहीं की गई है, जिन के संबंध में वैद्य के सामने ठीक नहीं बताया गया है तथा जिनके ऊपर वैद्य ने ठीक विचार नहीं किया है, ऐसे रोग वैद्य को (चिकित्सा के समय) मोहित कर देते हैं ॥५॥

वक्तव्य—मिथ्यादृष्टाः—दृश शब्द यहाँ पंच इन्द्रियों का ज्ञानदर्शक समझना चाहिये। पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन की योग्य परीक्षा नहीं हुई है। दृशिरत्र प्रत्यक्षपरः, पञ्चेन्द्रियविज्ञानाधिकारात्। तदयमर्थः–मिथ्यादृष्टा याथातथ्येनाविज्ञाताः। (हाराणचंद्र)। इस श्लोक का आशय यह है कि वैद्य को रोगी की शारीरिक परीक्षा पञ्चेन्द्रिय द्वारा यथाशास्त्र करनी चाहिये। रोगी को चाहिये कि वह वैद्य के प्रश्नों का उत्तर निष्कपट वृत्ति से, खुले दिल से, लज्जा तथा भीति छोड़कर दे। फिर प्रश्न तथा ऐन्द्रिय परीक्षा द्वारा मिली हुई सामग्री पर चिकित्सक को चाहिये कि वह योग्य विचार करे। यदि इस पद्धति द्वारा रोगी की चिकित्सा की जाय तो चिकित्सा में मोह उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती है।

एवमभिसमीक्ष्य साध्यान् साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान्नोपक्रमेत्, परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत् ॥६॥

इस प्रकार (रोगी की) परीक्षा कर साध्य रोग से पीड़ित रोगियों को नीरोग करे, याप्य व्याधियों से पीड़ित रोगियों का जीवन किसी तरह से निबाह ले, असाध्य रोग से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा न करे और एक वर्ष से अधिक पुराने रोग से पीड़ित रोगियों को छोड़ दे ॥६॥

वक्तव्य—साध्य–सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते। याप्य—इसकी व्याख्या आगे अध्याय २३ में वर्णन की है। चिकित्सा जिस रोग को रोक के रखती है और चिकित्सा दूर होने पर जिससे रोगी शीघ्र मर जाता है, उसे याप्य रोग कहते हैं। असाध्य—जो रोग चिकित्सा करने पर भी बढ़ता है, उसे असाध्य कहते हैं—परोऽसाध्यः क्रियास्सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते। तस्मादुपेक्ष्य एवासौ॥ (अ. सं.)। असाध्य रोग की चिकित्सा करने से अर्थ विद्यादिक का नाश होता है। इसलिये असाध्य रोग की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये—अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्। प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥ (चरक)। प्रायशः—प्रायः लिखने का कारण यह है कि अधिक संख्या में रोग वर्ष से अधिक पुराने होने के पश्चात् असाध्य हो जाते हैं। परंतु रक्तगुल्म, अर्दित इत्यादि रोग वर्ष से पुराने होने के पश्चात् ही साध्य हो सकते हैं—रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्। अर्दित की मर्यादा तीन वर्ष की होती है—न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च। अतः अपवादों को छोड़ने के लिये प्रायशः शब्द प्रयुक्त किया है।

तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति। तद्यथा—श्रोत्रियनृपतिस्त्रीबालवृद्धभीरुराजसेवककितवदुर्बलवैद्यविदग्धव्याधिगोपकदरिद्रकृपणक्रोधनानामनात्मवतामनाथानां च; एवं निरूप्य चिकित्सां कुर्वन् धर्मार्थकामयशांसि प्राप्नोति ॥७॥

इन मनुष्यों की साध्य व्याधियाँ भी प्रायः कष्टसाध्य हो जाती हैं। जैसे—श्रोत्रिय, राजा, स्त्री, बाल, वृद्ध, डरपोक, राजसेवक, द्यूतकार, दुर्बल, वैद्याभिमानी, रोग छिपाने वाला, दरिद्र, कंजूस, क्रोधी, अजितेन्द्रिय और एकाकी। इस प्रकार सब बातों को समझ कर जो चिकित्सा करता है वह वैद्य धर्म, अर्थ, काम और कीर्ति संपादन करता है ॥७॥

वक्तव्य—श्रोत्रिय—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥ वेदाध्ययन के लिये स्नानादि नित्य नियमों का पालन करने के कारण व्याधि की वृद्धि हो जाती है। स्त्री—पारतन्त्र्य, लज्जा, वेगावरोध तथा गुह्य व्याधि का अप्रकाशन के कारण। राजसेवक—पारतन्त्र्य के कारण। कितव—व्यसन के कारण। दुर्बल—शरीर की प्रतिकार शक्ति (Vitality) कम होने के कारण। वैद्यविदग्ध—अभिमान के कारण चिकित्सक के अनुसार पथ्य न करने के कारण। रोगी 'वैद्यवाक्यस्थ' होना चाहिये। दरिद्र, कृपण—ये दोनों भी ओषधि

---

[1] क्रोधनानात्मवता°. क्रोधवतामनात्म°.

के लिये पैसा खर्च न करने के कारण उत्तम ओषधि ग्रहण नहीं कर सकते हैं। अनात्मवान्—मनमानी करने वाला, इस से अपथ्य होने के कारण। अनाथ—एकाकी, परिचर्या करने के लिये कोई न होने के कारण।

भवति चात्र—

स्त्रीभिः सहास्यां संवासं परिहासं च वर्जयेत् ।
दत्तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्भिषग्वरैः ॥८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो
नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

(जहाँ चिकित्सा करे, वहाँ की) स्त्रियों के पास बैठना, बातचीत करना, हँसी करना इत्यादिक न करे तथा अन्न के सिवाय स्त्रियों की दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण न करे ॥८॥

वक्तव्य—भर्ता की अनुमति हो तो स्त्रियों द्वारा दिया हुआ धन तथा अन्य वस्तु ग्रहण करने में आपत्ति नहीं है—न च कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्राथवाध्यक्षेण । (चरक. वि. अ. ८)

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो नाम
दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः ।

अथातः क्षारपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से क्षारपाकविधि का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—क्षारपाकविधि—क्षारपाक और विधि। क्षारपाक—क्षार तैयार करने की पद्धति। क्षारविधि—क्षार का उपयोग करने की पद्धति। क्षार को अंग्रेजी में रासायनिक दृष्टि से अलकली (Alkali) और कार्य की दृष्टि से कास्टिक (caustic) कहते हैं।

शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः, छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्त्रिदोषघ्नत्वाद्विशेषक्रियावचारणाच्च ॥२॥

छेद्य, भेद्य और लेखन कार्य, त्रिदोष का नाश तथा विशेष कार्य संपादन करने के कारण शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों से क्षार अधिक प्रधान है ॥२॥

वक्तव्य—प्रधानतम—श्रेष्ठ। क्षार की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये यहां तीन कारण दिये हैं—१ छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्—वास्तव में छेदन, भेदन और लेखन का कार्य करने से क्षार की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि शस्त्र छेद्यभेद्यादि अष्टविध कर्म कर सकते हैं। श्रेष्ठता इसलिये है कि छेदन, भेदन और लेखन का कार्य क्षार ऐसे संकट स्थान में कर सकता है कि जहाँ शस्त्रों का प्रयोग करना कठिन होता है। इसके सिवाय शस्त्र का प्रयोग करने पर भी जहां सिद्धि नहीं मिल सकती है, वहाँ क्षार फलदायी होता है। क्षार का छेदन के लिये उपयोग नाडीव्रण में होता है—कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या। क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्नतु शस्त्रेण बुद्धिमान् ॥ (सुश्रुत)। भेदन के लिये मर्मज व्रण शोथ में होता है—मर्मोपरि च जातेषु रोगेषूक्तेषु दारणम्। सुपिष्टैर्दारणद्रव्यैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः ॥ लेखन के लिये कठिनोत्सन्न मांस तथा कुष्ठ में उपयोगी होता है—येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः। तेषु निपात्यः क्षारः। (चरक)। २ त्रिदोषघ्नत्वात्—नाना प्रकार की ओषधियों से क्षार बनाया जाता है। इसलिये वह त्रिदोषघ्न होता है। ३ विशेषक्रियावचारणात्—विशेष क्रियावचारण इसलिये है कि त्रिदोषघ्न और सौम्य होते हुए भी दहन पचन दारण कर्म कर सकता है, आग्नेय होते हुए भी रक्तपित्त अर्श में उपयोगी होता है और क्षरण या क्षणन करते हुए भी पीने के काम में उपयोगी होता है। वाग्भट ने क्षार का श्रेष्ठत्व इस प्रकार लिखा है—सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत्। छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि ॥ दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च। अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते ॥

तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः। नानौषधिसमवायात्त्रिदोषघ्नः, शुक्लत्वात् सौम्यः; तस्य सौम्यस्यापि सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा, स खल्वाग्नेयौषधिगुणभूयिष्ठत्वात् कटुक उष्णस्तीक्ष्णः प(पा)चनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणः स्तम्भनो लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविषमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः ॥३॥

(यह धातुओं का) क्षरण या क्षणन करता है, इसलिये क्षार कहलाता है। नाना प्रकार के ओषधिसंयोग से बनता है, इसलिये त्रिदोषों का नाश करता है। श्वेत रंग का होने के कारण सौम्य होता है। (परंतु) सौम्य होते हुए भी इस की दहन पाचन दारणादि शक्ति अप्रतिहत होती है। (कारण यह है कि) क्षार वास्तव में अधिकसंख्य तीक्ष्ण ओषधियों से बनने से वह कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, पाचन, विलयन, शोधन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, लेखन होता है; कृमि, आम, कफ, कुष्ठ, विष और मेद का नाश करने वाला है और अधिक मात्रा में (अधिक काल तक) सेवन करने से पुरुषत्व का भी नाश करता है ॥३॥

वक्तव्य—क्षरण—क्षर स्यन्दने, झरना। क्षार दोषों को झिरा देता है, इसलिये उसे क्षार कहते हैं—भित्त्वा भित्त्वाशयान् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः। (चरक)। क्षणन—क्षण हिंसायाम्। त्वचा मांसादि धातुओं का नाश या शातन करता है, इसलिये भी क्षार कहलाता है। त्रिदोषघ्नः—क्षार नाना प्रकार की ओषधियों से उत्पन्न होने के कारण उसमें षड्रस न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित होते हैं, इसलिये क्षार का वातपित्त कफ तीनों पर प्रभाव पड़ता है। ज्वलन होने के पश्चात् भस्म में परिवर्तन होने पर भी ओषधियों के मूल स्वभाव में पूर्णतया परिवर्तन नहीं होता है। उनके पूर्व गुणों के अनुसार भस्म के भी गुण दिखाई देते हैं। यथा—रक्तपित्त में जब क्षार का प्रयोग होता है, तब शीतल ओषधियों के क्षार व्यवहृत होते हैं—सक्षौद्रमिन्दीवरभस्मवारि···घ्नन्ति त्रयः पित्तमसृक् च योगाः। (सुश्रुत)। युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य

मृणालपद्मोत्पलकेशराणां क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन ॥ (चरक)। शुक्लत्वात्—ओषधियों के प्रकृति गुणों के अतिरिक्त आग्नेय क्षार त्रिदोषघ्न होने का दूसरा कारण उसका श्वेत रंग है। श्वेत रंग कफ का—श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः—होता है, इसलिये क्षार में भी कफ का सौम्य गुण होता है। पाश्चात्त्य रसशास्त्र में भी सिल्व्हर नायट्रेट (Silver Nitrate) नामक क्षार को श्वेत होने के कारण सौम्य क्षार (Lunar Caustic) कहते हैं। अविरुद्धा—क्षार आग्नेय ओषधि गुण भूयिष्ठ होने के कारण सौम्य गुण उसकी दहनादि शक्ति का विरोध नहीं कर सकता है—विरुद्धगुणसन्निपाते भूयसाऽल्पमवजीयते ॥ पाचनः—बाह्य प्रयोग करने से व्रणशोथ को पकाने वाला, पीने से अजीर्ण का नाश करने वाला। विलयनः—गुल्म का विलयन करने वाला, दूषित स्थान से दोष को फैलाकर उसका नाश करना विलयन कहते हैं। शोधनः रोपणः—दुष्ट व्रण की शुद्धि करने वाला तथा घाव को भर लाने वाला। परंतु रोपण के लिये क्षार का उपयोग नहीं होता है, न करना चाहिये। क्षार का रोपण गुण दुष्ट व्रण शुद्धि करने से अप्रत्यक्ष या परम्परा से समझना चाहिये। इसलिये कहीं रोपण का पाठ नहीं मिलता है। शोषणः—व्रण के स्राव को सुखाने वाला। स्तम्भनः—धमनी सिरास्रोतसों का छिन्नमुख संकुचित और पाचित करके रक्तस्राव बंद करने वाला, अंग्रेजी में स्तम्भन को स्टिप्टिक (Styptic) कहते हैं। क्रम्याम इत्यादि—उपहन्ता शब्द कृमि, आम, कफ, कुष्ठ, विष और मेद तथा पुंस्त्व प्रत्येक के साथ संबंधित करना चाहिये। इन रोगों का नाश क्षार बाह्याभ्यंतर प्रयोग से करता है। पुंस्त्वस्य—क्षार अधिक काल सेवन करने से पौरुष या शुक्र का क्षय करता है।

स द्विविधः—प्रतिसारणीयः, पानीयश्च। तत्र प्रतिसारणीयः कुष्ठकिटिभदद्रुमण्डलकिलासभगन्दरार्बुदार्शोदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलतिलकालकन्यच्छव्यङ्गमशकबाह्यविद्रधिक्रमिविषादिषूपदिश्यते सप्तसु च मुखरोगेषूपजिह्वाधिजिह्वोपकुशदन्तवैदर्भेषु तिसृषु च रोहिणीषु, एतेष्वेवानुशस्त्रप्रणिधानमुक्तम्। पानीयस्तु गरगुल्मोदराग्निसङ्गाजीर्णारोचकानाहशर्कराश्मर्याभ्यन्तरविद्रधिक्रमिविषार्शःसूपयुज्यते ॥४॥

वह क्षार दो प्रकार का होता है—प्रतिसारणीय और पानीय। इन में से प्रतिसारणीय क्षार कुष्ठ, किटिभ, दद्रुमण्डल, किलास, भगन्दर, अर्बुद, अर्श, दुष्टव्रण, नाडी, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यंग, मशक, बाह्य, विद्रधि, कृमि दंश का विष—इन रोगों पर उपयोग में लाया जाता है तथा उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकुश, दन्तवैदर्भ और तीन रोहिणी रोग ऐसे सात मुख रोगों में भी लगाया जाता है। इन रोगों में क्षार का ही प्रयोग करने के लिये कहा गया है। पानीय क्षार विषरोग, गुल्म, उदर, अग्निसङ्ग, अजीर्ण, अरोचक, आनाह, शर्करा, पथरी, आभ्यन्तरविद्रधि, कृमि, विष और बवासीर—इन रोगों में उपयोगी होता है ॥४॥

वक्तव्य—प्रतिसारणीयः—बाह्यपरिमार्जनः, जो ऊपर लगाया जाय। पानीयः—अन्तःपरिमार्जनः, जिसका सेवन मुख द्वारा किया जाय। स द्विविधो बाह्याभ्यन्तरपरिमार्जनभेदेन। (अ० संग्रह)॥ कुष्ठ……किलास—ये कुष्ठ के भेद हैं। दद्रुमण्डल—दद्रु का मण्डल (Ringworm)। सुश्रुत में मण्डल कुष्ठ वर्णन नहीं किया है, चरक में मण्डल महाकुष्ठ है। किलास—श्वेत कुष्ठ (Leucoderma)। त्वचागत कुष्ठ को किलास कहते हैं—त्वग्गतं तु यदस्रावि किलासं तत्प्रकीर्तितम्॥ भगन्दर—नासूर (Fistula in-ano)। अर्श—बवासीर (Haemorrhoids)। नाडी—एकमुखी पूयावकाश (Sinus)। तिलकालक, चर्मकील (Warts), न्यच्छ, व्यंग, मशक (Moles) ये त्वचा पर होने वाले क्षुद्र रोग हैं। कृमिविष—कृमियों का विष एक प्रकार का अम्ल होता है। इसलिये यदि काटते ही दंशस्थान पर क्षार लगाया जाय तो अम्ल निर्वीर्य होकर दंश से उत्पन्न होने वाला दर्द तथा शोथ दूर हो जाता है। एतेषु—इन सात मुख रोगों में। अनुशस्त्रम्-क्षार एव (डल्हण)। एतेषु इत्यादि वाक्य का अर्थ हाराणचन्द्र के अनुसार ऐसा होता है-उपर्युक्त कुष्ठादि सर्व रोगों में शस्त्रानुशस्त्र का प्रयोग करने के पश्चात् क्षार का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा पूर्वाचार्यों का मत है—एतेषु कुष्ठादिषु चकारात् कठिनाश्रयेषु तादृशेषु कठिनोत्सन्नव्रणमांसादिषु चैवानुशस्त्रप्रणिधानं यथायोगं शस्त्रानुशस्त्रप्रणिधानानन्तरं क्षारप्रणिधानमुक्तं पूर्वाचार्यैरिति शेषः। गर—अनेक द्रव्यों के संयोग से बनाया हुआ कृत्रिम विष—नानाप्राण्यंगशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम्। विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः॥ कृत्रिमं गरसंज्ञं तु क्रियते विविधौषधैः॥ (अ. संग्रह)। गुल्म—उदरविभाग में वायु से बना हुआ अर्बुद (Gastumor in the abdominal cavity)। हृद्वस्त्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः। चयापचयवान् वृत्तः स गुल्म इति कीर्तितः॥ (सुश्रुत)। अग्निसङ्ग—अग्निः सज्यते लीयते यस्मिन्, ग्रहणी अलसक विसूचिकादिविकार। अरोचक—जिस रोग में रोगी की अन्न सेवन करने में रुचि नहीं होती है, उसे अरोचक (Anorexia) कहते हैं—प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः। अरोचकः स विज्ञेयः॥ आनाह—कब्ज के साथ वायु से पेट फूलना—आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति॥ (सुश्रुत)। शर्करा, अश्मरी—मूत्राशय में जो पथरी होती है, उसे अश्मरी कहते (Calculus) हैं। जब छोटे छोटे उसके कण मूत्र के साथ आते हैं, तब उसको शर्करा या सिकता (Gravel) कहते हैं—शर्करा सिकता—अश्मरिवैकृतम्। सा (अश्मरी) भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते। (सुश्रुत)। कृमि—आन्त्रस्थ कृमि।

अहितस्तु रक्तपित्त(त्ति)ज्वरितपित्तप्रकृतिबालवृद्धदुर्बलभ्रमभदमूर्च्छातिमिरपरीतेभ्योऽन्येभ्यश्चैवंविधेभ्यः। तं चेतरक्षारवद्दग्ध्वा परिस्रावयेत्; तस्य विस्तरोऽन्यत्र ॥५॥

पानीयक्षार का निषेध—रक्तपित्त तथा ज्वरपीडित, पित्तप्रकृति, बालक, वृद्ध, दुर्बल, भ्रम, मद, मूर्च्छा (Syncope), तिमिर—इन रोगों से व्याप्त तथा इस प्रकार के रोगों से पीड़ित अन्य मनुष्यों को पानीयक्षार अहितकारक है। यह पानीयक्षार प्रतिसारणीय क्षार की भांति ओषधि जलाकर चुवा लेने से बनता है। इस का विस्तार (विधि) अन्य स्थान में होगा ॥५॥

---

१ °बाह्यक्रमि°. २ अरोचकविद्रधिशब्दौ क्वचिन्न पठ्येते.

वक्तव्य—भ्रम—चक्कर मालूम होना (Vertigo), चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा। भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजः पित्तानिलात्मकः ॥ मद—अफीम, मद्य, धत्तूर इत्यादि पदार्थों के सेवन से उत्पन्न हुआ नशा (Intoxication)। तिमिर—दृष्टिगत द्वितीय पटल में दोष उत्पन्न होने के कारण पैदा हुआ दृष्टिमांद्य (Amaurosis)। विस्तरोऽन्यत्र—उत्तरतन्त्र के गुल्माध्याय में 'तिलेक्षुरकपालाशसार्षपं यवनालजम्' इत्यादिक श्लोकों में पानीयक्षार की विधि का वर्णन किया है।

अथेतरस्त्रिविधो मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णश्च। तं चिकीर्षुः शरदि गिरिसानुजं शुचिरुपोष्य प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं महान्तमसितमुष्ककमधिवास्यापरेद्युः[1] पाटयित्वा खण्डशः प्रकल्प्यावपाट्य निर्वाते देशे निचितिं[2] कृत्वा सुधाशर्कराश्च प्रक्षिप्य तिलनालैरादीपयेत्। अथोपशान्तेऽग्नौ तद्भस्म पृथग्गृह्णीयाद्भस्मशर्कराश्च ॥६॥

प्रतिसारणीय क्षार तीन प्रकार का होता है—मृदु, मध्य और तीक्ष्ण। जो इस क्षार को बनवाना चाहे, वह शरद् ऋतु में उत्तम दिन देखकर शुचि और उपोषित होकर पर्वत के ऊपर प्रशस्त भूमि में उत्पन्न हुए, (शीत अग्नि विष कृमि इत्यादि से) अप्रनष्टवीर्य मध्यम आयु के (परिपूर्णवीर्य) महान् कालमुष्कक को अधिवासन कर दूसरे दिन उसको उखाड़ ले। उसे खण्डित करके छोटे छोटे टुकड़े बनावे और निर्वात स्थान में इकट्ठा कर, उसमें चूना डालकर तिल की लकड़ियों से उसे जला दे। अब (ओषधि की) अग्नि शांत हो जाने पर भस्म अलग उठा ले और चूना अलग कर ले ॥६॥

वक्तव्य—प्रशस्तेऽहनि—तिथि करण मुहूर्तादि दृष्टि से उत्तम तथा प्रवात मेघवर्षा विरहित। प्रशस्तदेशजातं—श्वभ्रशर्करादि विरहित तथा अनूपराभंगुरादि गुणयुक्त। अनुपहतं—कृमिविषशस्त्रातपपवनदहनतोयसंबाधभागैरनुपहतम्। मध्यमवयसं—न बहुत नया न बहुत पुराना। नया वृक्ष अल्पवीर्य, पुराना वृक्ष हीनवीर्य और मध्यमवयस वृक्ष परिपूर्णवीर्य होता है। असितमुष्ककं—पलाश सदृश पर्वत पर होने वाला एक वृक्ष है। इसे घंटापारुलि या मोखा कहते हैं। इसके श्वेतपुष्प और कृष्णपुष्प दो भेद हैं। इन में से श्वेतपुष्प की अपेक्षा कृष्णपुष्प श्रेष्ठ होने के कारण उसको ग्रहण करने के लिये कहा है—मुष्ककः कालपुष्पस्तु वरः श्वेतादिपुष्पतः। अधिवास्य—मन्त्र बलिपूजा द्वारा आवाहन करके। 'सुरापललसुमनोऽक्षतादिभिश्चतुर्दिशं बलिं कृत्वा प्रदक्षिणं चाभ्यर्च्यैनमधिवासयेत्'। (अ. संग्रह)। वृक्ष के ऊपर रहने वाले भूतों का अपसारण करने के लिये अधिवासन किया जाता है—निवसन्तीह भूतानि यान्यस्मिन् कानिचिद् द्रुमे। अपक्रामन्त्वतस्तेभ्यः परार्थे श्वो ह्ययं द्रुमः॥ निचितिं कृत्वा—राशीकृत्य। सुधाशर्करा—सुधापाषाण, चूने के छोटे छोटे टुकड़े। 'शर्करा क्षुद्रतरपाषाणविशेषः' ऐसा अर्थ हाराणचन्द्र की टीका में दिया है। परन्तु सुधा और शर्करा दो भिन्न पदार्थ न समझ कर सुधा की शर्करा या पाषाण समझना अधिक प्रशस्त है। वाग्भट में सुधा शर्करा के स्थान में सुधाश्म शब्द आया है—प्रक्षिप्य मुष्ककचये सुधाश्मानि च दीपयेत्। (अ. हृ.)। तिलनालैः—'तिलनालैरादीपनं वीर्योत्कर्षार्थम्'। पृथक—भिन्न प्रयोजन के लिये भिन्न भिन्न एकत्रित किया जाता है। भस्मशर्करा—भस्मीभूत सुधापाषाण, जले हुए चूने के पत्थर। शर्करा का दूसरा अर्थ यह है कि मुष्कक वृक्ष जलते समय उससे जो रस भस्म में चूता है, वह भस्म संयोग से शर्करा सदृश कठिन हो जाता है—मुष्ककाद्दह्यमानात्तु रसः प्रच्यवते तु यः। भस्मना सह संयुक्तः काठिन्यमुपगच्छति। तां भस्मशर्करामाहुः॥

अथानेनैव विधानेन कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रकबिभीतकारग्वधतिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतीकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जाश्चतस्रश्च कोशातकीः समूलफलपत्रशाखा दहेत् ॥७॥

इसी विधि से कुड़ा, ढाक, शाल, निम्ब, बहेड़ा, अमलतास, लोध्र, आक, थोहर, लटजिरा, पाटला, करंज, अरूसा, केला, चित्रक, सागर, गोटा, देवदारु, आस्फोता, कनेर, छातीन, अरणी, गुञ्जा, चारों प्रकार की कोशातकी, इनके मूल, फल, पत्र और शाखा समेत भस्म कर ले ॥७॥

वक्तव्य—अनेनैव विधानेन—कृष्णमुष्कक की भाँति प्रशस्त दिन देशादि बातों का विचार कर अधिवासन पूर्वक निर्वात स्थान में राशि करके जलाना चाहिये। समूलफल इत्यादि—इसका कुटजादि प्रत्येक वृक्ष के साथ संबंध है। अश्वकर्ण—चक्र, इसका अर्थ एक प्रकार का 'सर्जवृक्ष' करता है। पारिभद्रक—देवदारु (डल्हण), पारिजातक पांगरा (उदयचंद्रदत्त)। इन्द्रवृक्ष—बृहत्फलश्वेतपुष्पकुटज (डल्हण, हाराणचंद्र), अर्जुन वृक्ष (उदयचंद्रदत्त)। चतस्रश्च कोशातकी—बृहत्फला, अल्पफला, पीतपुष्पा, श्वेतपुष्पा—इति चतुर्विधा। वाग्भट में काकजंघा और सशूकनालयव अधिक हैं।

ततः क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः षड्भिरालोड्य मूत्रैर्वा यथोक्तैरेकविंशतिकृत्वः परिस्राव्य, महति कटाहे शनैर्दर्व्याऽवघट्टयन् विपचेत्। स यदा भवत्यच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च, तमादाय महति वस्त्रे परिस्राव्येतरं विभज्य पुनरग्नावधिश्रयेत्। तत एव च क्षारोदकात् कुडवमध्यर्धं वाऽपनयेत् ॥८॥

फिर द्रोणभर भस्म को छगुने पानी में या यथोक्त मूत्र में खूब मिलाकर इक्कीस बार वस्त्र से छान ले। फिर बड़ी कड़ाही में डालकर दर्वी से धीरे धीरे हिलाते हुए विपचन करे। जब वह स्वच्छ, लाल वर्ण, तीक्ष्ण और चिकना हो जाय तब उतार कर घने कपड़े से छानकर अविसृत किट्ट को अलग करके विसृत द्रव को फिर अग्नि पर चढ़ावे। उस विसृत द्रव में से एक या डेढ़ कुड़व द्रव निकाल (कर दूसरे पात्र में) रखे ॥८॥

वक्तव्य—क्षारद्रोणं—दो भाग मुष्कक भस्म और एक भाग कुटजादि भस्म मिलाकर एक द्रोण भस्म लेना। मूत्रैर्वा यथोक्तैः—जहाँ कहीं गोमूत्रादि का उपयोग करने के लिये लिखा हो, वहाँ उक्त मूत्र में क्षार का आलोडन करना चाहिये। परंतु

---

[1] ततोऽपरेद्युः. [2] निचितं.

मूत्र का भी प्रमाण छगुना होगा। यथा—कल्पस्थान के दुन्दुभिस्वनीय अध्याय में क्षारागद नामक जो योग वर्णन किया है, उसमें जल के बदले गोमूत्र का उपयोग करने के लिये कहा गया है—गवां मूत्रेण क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्। वाग्भट ने जल और मूत्र दोनों का उपयोग सम भाग में करने के लिये लिखा है—सलिलपलसहस्रेण गवादिमूत्रपलसहस्रेण चालोड्य परिस्रावयेत्। परिस्राव्य—वस्त्र से छानकर। तीक्ष्णः—उग्रगंध (Punjent)। पिच्छिलः—चिकना (Sopy to the feel)। परिस्रवण—कपड़े से छानना (Filtration)। छानने के पश्चात् कपड़े के ऊपर जो मल रहता है, उसे अंग्रेजी में 'प्रेसिपिटेट' (Precipitate) कहते हैं। इसी के लिये यहाँ 'इतर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इतर—क्षार भस्म कल्क जो छानने के पश्चात् कपड़े के ऊपर शेष रहता है। जो नीचे पात्र में परिस्रुत होता है, उसे फिल्ट्रेट (Filtrate) कहते हैं। उसी का ही उपयोग क्षार बनवाने के लिये होता है। अध्यर्धम्—अधिकमर्धं यत्र, डेढ़ कुडव। अपनयेत्—डेढ़ कुडव क्षारोदक कटशर्करादि बुझाने के तथा चूर्ण करने के लिये मूल क्षारोदक से स्वतंत्र रक्खा जाता है।

ततः कटशर्कराभस्मशर्कराक्षीरपाकशङ्खनाभीरग्निवर्णाः कृत्वाऽऽयसे पात्रे तस्मिन्नेव क्षारोदके निषिच्य पिष्ट्वा तेनैव द्विद्रोणेऽष्टपलसंमितं शङ्खनाभ्यादीनां प्रमाणं प्रतिवाप्य सततमप्रमत्तश्चैनमवघट्टयन् विपचेत्। स यथा नातिसान्द्रो नातिद्रवश्च भवति तथा प्रयतेत। अथैनमागतपाकमवतार्यानुगुप्तमायसे कुम्भे संवृतमुखे निदध्यादेष मध्यमः। एष एवाप्रतीवापः पक्वः संव्यूहिमो मृदुः ॥९॥

फिर कटशर्करा, भस्मशर्करा, क्षीरपाक और शङ्खनाभि इनको अग्नि वर्ण लाल करके (पहले से ही) लोहे के पात्र में रखे हुए क्षारोदक में बुझाकर और उसी जल से पीस कर दो द्रोण शेष क्षारोदक के लिये आठ पल शङ्खनाभि आदि का प्रमाण डालकर फिर निरन्तर सावधानी से क्षारोदक को हिलाता रहे। और ऐसा यत्न करे कि जिस से क्षार न बहुत गाढ़ा हो जाय, न बहुत पतला रहे। जब पाक ठीक हो जावे, तब अग्नि से उतार कर लोहे के संकुचित मुख के कुम्भ में भरकर मुख बंद करके रख दे। यह मध्यम क्षार हुआ। इसी क्षारोदक को शङ्खनाभि आदि का चूर्ण न छोड़कर केवल पकाया जावे तो वह संव्यूहिम नामक मृदु क्षार होता है ॥९॥

वक्तव्य—कटशर्करा—एक प्रकार का चूने का पदार्थ। डल्हण तथा हाराणचंद्र इस का अर्थ गाङ्गेष्ठी या नटालता समझते हैं। अष्टांगहृदय में प्रतिवाप के लिये जो चार वस्तुएँ वर्णन की हैं, वह सर्व चूने की हैं। उनके नाम भस्मशर्करा, शुक्ति, क्षीरपाक और शङ्खनाभि हैं। इनमें शुक्ति के सिवाय सर्व नाम सुश्रुत के ही दिये हैं। इसलिये कटशर्करा का अर्थ शुक्ति भी करना असंगत नहीं होगा। आयसे पात्रे—लोहपात्र का उपयोग कुछ टीकाकार कटशर्करादि को अग्नि वर्ण करने के लिये समझते हैं। परंतु लोहपात्र में इनका अग्निवर्ण होना असंभव है। इसलिये आयसपात्र का संबंध क्षारोदक के साथ लगा कर आयसे पात्रे का अर्थ 'आयसे पात्रस्थे क्षारोदके' करना अधिक प्रशस्त है। लोहपात्र का उपयोग क्षार के लिये अभेद्य होने के कारण तथा क्षार का शक्तिवर्धन होने के कारण किया जाता है—'आयसे पात्रे इति लौहपात्रस्यैवातिदृढत्वेन क्षाराभिद्यत्वात्, किंवा लौहपात्रे एव शक्त्यतिशयः क्षारस्य भवतीत्येतद्वचनादुन्नीयते' (चक्र)। चक्रदत्त की इस टीका के अनुसार भी लौहपात्र का उपयोग क्षार रखने के लिये करना भस्मशर्करादि को तपाने के लिये करने की अपेक्षा अधिक प्रशस्त है। अष्टपलसंमितं—कटशर्करादि चारों पदार्थ मिलकर आठ पल या प्रत्येक के आठ पल जिससे चारों पदार्थों के बत्तीस पल हो जाते हैं। द्विद्रोणे—क्षार बनवाने के लिये प्रारंभ में जल छः द्रोण होता है और प्रतिवाप के समय तक उसका अवशेष तिहाई या दो द्रोण रहता है। प्रतिवाप्य—क्षारोदक में कटशर्करादिक का चूर्ण छोड़ कर। द्रवद्रव्य में अन्य पदार्थों का जो महीन चूर्ण छोड़ा जाता है, उसे प्रतिवाप कहते हैं—द्रवद्रव्ये द्रव्यान्तरं श्लक्ष्णपिष्टं दीयते स प्रतीवाप उच्यते। (अरुणदत्त)। वाग्भट में (अष्टांगहृदय) उपर्युक्त चार पदार्थों के अतिरिक्त निम्न पदार्थों का भी प्रतिवाप करने के लिये लिखा है—श्लक्ष्णं शकृद्दक्षशिखिगृध्रकङ्ककपोतजम्। चतुष्पात् पक्षिपित्तालमनोह्वालवणानि च॥ अनुगुप्तं—हवा से सुरक्षित अर्थात् मुख बन्द करके यवराशि में पूर्ण ढककर—अयोघटे यवराशौ सुगुप्तं स्थापयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। संव्यूहिमः—मृदु क्षार का नाम—अप्रतीवापो मृदुः संव्यूहिमसंज्ञः। (चक्रः)। अप्रतीवापः—मूल क्षारोदक में कटशर्करादि अग्निवर्ण करके बुझाया हुआ क्षारोदक मिलाया जाता है। केवल उनका चूर्ण नहीं मिलाना चाहिये—मृदौ शर्करादीन्निर्वाप्यापनयेन्न तु पिष्ट्वा (क्षारोदके) क्षिपेत् (अन्यत्र त्यजेत्)। (अ. संग्रह)।

प्रतीवापे यथालाभं दन्तीद्रवन्तीचित्रकलाङ्गलकीपूतिकप्रवालतालपत्रीविडसुवर्चिकाकनकक्षीरीहिङ्गुवचातिविषाः समाः श्लक्ष्णचूर्णाः शुक्तिप्रमाणाः प्रतीवापः। स एव सप्रतीवापः पक्वः पाक्यस्तीक्ष्णः ॥

कटशर्करादि चूर्ण के साथ दन्ती, द्रवन्ती, चित्रक, लाङ्गलकी, करंजप्रवाल, ताडपत्री, विडलवण, सज्जीखार, कनकक्षीरी, हिङ्गु, वच और अतीस—इनमें से जो मिले, इनके प्रत्येक का महीन चूर्ण शुक्ति प्रमाण पाक में डाल दे। इनमें द्रव्यों के समेत जो क्षार पक्व होता है, वह 'पाक्य' नामक तीक्ष्ण क्षार है ॥१०॥

तेषां यथाव्याधिबलमुपयोगः। क्षीणबले तु क्षारोदकमावपेद्बलकरणार्थम् ॥११॥

इन मृदु, मध्य और तीक्ष्ण क्षारों में से जैसा रोग और रोगी का बल हो, उसके अनुसार क्षार का उपयोग करे। क्षार की शक्ति क्षीण हो जाने पर फिर उसकी शक्ति बढ़ाने के लिये उसमें क्षारोदक डाल देना चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—यथाव्याधिबलम्—अष्टांगहृदय में मृदु, मध्य और तीक्ष्ण क्षार का उपयोग इस प्रकार से लिखा है—योज्यस्तीक्ष्णोऽनिलश्लेष्ममेदोजेष्वर्बुदादिषु। मध्येष्वेव च मध्योऽन्यः पित्तास्रगुदजन्मसु॥ तीक्ष्ण क्षार का उपयोग मृदु क्षार में दन्ती, द्रवन्ती, चित्रकादि द्रव्यों के चूर्ण डालने के दिन से सात रोज के बाद करना चाहिये—सप्तरात्रात्परं तु सः। योज्यः॥ क्षीणबले—क्षार का विशेषण

है। क्षरण न शक्ति कम हो जाने पर उस क्षार में क्षारोदक छोड़ देने से उसकी शक्ति फिर बढ़ जाती है। इसका विशेष विवरण आगे २१ श्लोक की टीका में देखो।

भवतश्चात्र—

नैवातितीक्ष्णो न मृदुः शुक्लः श्लक्ष्णोऽथ पिच्छिलः।
अविष्यन्दी शिवः शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः ॥१२॥

क्षार के आठ गुण—जो न बहुत तीक्ष्ण हो, जो न बहुत मृदु हो, जो श्वेत वर्ण हो, मुलायम हो, चिकना (Soapy) हो, स्पर्शस्थान से अधिक जो न फैलता हो, गुणकारी हो और शीघ्र प्रभाव करने वाला हो, ये क्षार में आठ गुण होते हैं ॥१२॥

वक्तव्य—अविष्यन्दी—स्पर्शित स्थान से जो चारों ओर अधिक न फैलता हो किंवा जिसके लगाने से अधिक स्राव न होता हो-अनभिष्यन्दी। (अ. सं)। शिव—सौम्य, गुणकारी, अधिक पीड़ा न देने वाला-अल्परुक्। (अ. सं)। इन आठ गुणों के अतिरिक्त वाग्भट में शिखरी और सुखनिर्वाप्य ये दो गुण अधिक वर्णन किये हैं।

अतिमार्दवश्वैत्यौष्ण्यतैक्ष्ण्यपैच्छिल्यसर्पिताः।
सान्द्रताऽपक्वता हीनद्रव्यता दोष उच्यते ॥१३॥

अतिमृदु, अतिशुक्ल, अतितीक्ष्ण, अतिपिच्छिल, अति फैलने वाला, बहुत गाढ़ा, कच्चा और हीन द्रव्यों से बना हुआ-ये क्षार के दोष हैं ॥१३॥

वक्तव्य—अतिमृदु, अतितीक्ष्ण—जो क्षार एरण्ड नाल का दहन सौ अक्षर के उच्चारण मात्र काल तक करता है, वह योग्य तीक्ष्ण समझना चाहिये—यद्येरण्डजनालमेप दहति क्षारो वरो वाक्शतात्। जो इससे कम समय में जलन करता है, वह अतितीक्ष्ण समझना चाहिये और इससे भी अधिक समय में जो एरण्डनाल का दहन करने में समर्थ नहीं होता है, वह क्षार अतिमृदु समझना चाहिये। हीनद्रव्य-खराब द्रव्यों का उपयोग करके बनाया हुआ या कम मात्रा में द्रव्यों का उपयोग करके बनाया हुआ। अतिश्वैत्य के स्थान में शैत्य ऐसा भी पाठ है। वाग्भट में 'अतितनु' बहुत पतला यह एक क्षार का अधिक दोष वर्णन किया है।

तत्र क्षारसाध्यव्याधिव्याधितमुपवेश्य निवातातपे देशेऽसंबाधेऽग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपसंभृतसंभारं, ततोऽस्य तमवकाशं निरीक्ष्यावघृष्यावलिख्य प्रच्छयित्वा, शलाकया क्षारं प्रतिसारयेत्, दत्त्वा वाक्शतमात्रमुपेक्षेत ॥१४॥

क्षार से साध्य होने योग्य रोग से पीड़ित रोगी को निर्वात, निरातप और विस्तीर्ण स्थान में बिठाकर अग्रोपहरणीय (५वां अध्याय) अध्यायोक्त विधान के अनुसार (क्षारकर्म के लिये उपयोगी) सब सामग्री पास रखकर वैद्य रोगी के क्षारप्रयोज्य स्थान का खूब निरीक्षण करे और उस स्थान पर घर्षण, लेखन या प्रच्छान करके शलाका से क्षार लगाकर सौ अक्षर के उच्चारण मात्र काल तक देखता रहे ॥१४॥

वक्तव्य—निवातातपे—हवा के झोके-झपाटे से तथा धूप से संरक्षित परन्तु अन्धकार रहित और खुली हवायुक्त। असंबाध—जिस में शस्त्रक्रिया की दृष्टि से किसी प्रकार की बाधा न हो अर्थात् विस्तीर्ण। अवलिख्य इत्यादि—वातदुष्ट स्थान के लिये लेखन, पित्तदुष्ट स्थान के लिये घर्षण और कफदुष्ट स्थान के लिये प्रच्छान करके। यह कार्य दोषदुष्टि लक्षणों के अनुसार समझना चाहिये। वाक्शतं—मात्राशतम्। लघु अक्षर उच्चारण के लिये जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। इसको अक्षिनिमेष भी कहते हैं। उपेक्षेत—कांजिकादि से उस समय तक निर्वापण नहीं करना चाहिए। इसलिये उदासीन या अकर्मण्य होकर बैठना। निरीक्ष्य—दोषविज्ञान के लिये तथा क्षार प्रयोज्य स्थान का आकार मालूम करने के लिये उस स्थान का सूक्ष्म निरीक्षण करके।

तस्मिन्निपतिते व्याधौ कृष्णता दग्धलक्षणम्।
तत्राम्लवर्गः शमनः सर्पिर्मधुकसंयुतः ॥१५॥

क्षार लगने से व्याधियुक्त स्थान में कालापन आ जाना क्षारदग्ध का लक्षण है। फिर उस दग्ध स्थान पर घी और मुलहठीयुक्त अम्लवर्ग पीड़ाशामक होता है ॥१५॥

वक्तव्य—पहले श्लोकार्ध में सम्यग् दग्ध का लक्षण दिया है। कृष्णता—सम्यग् दग्ध स्थान के कालेपन में जम्बूफल सदृश किञ्चित् नीलिमा होती है और इसके सिवाय दग्धस्थान किञ्चित् अवसन्न हो जाता है—पक्वजम्ब्वसितं सन्नं सम्यग् दग्धम्। मधुकसंयुतः—वाग्भट में मधुक के स्थान में मधु उपयोग करने के लिये लिखा है—निर्वापयेत् सर्पिर्मधुभ्याम्। अम्लवर्गः—सौवीरक तुषोदक धान्याम्लादि। घृतमधुकयुक्त निर्वापण करने के पहले रुई से लिपटी हुई शलाका द्वारा परिमार्जन करना चाहिये और निर्वापण के पश्चात् शीत घृत का प्रलेप दग्ध स्थान पर करना चाहिये। दग्ध भाग शीघ्र विशीर्ण होने के लिये दही उड़द जैसे अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन करना चाहिये। क्षारं प्रमार्जनेनानु परिमृज्यावगम्य च। सुदग्धं घृतमध्वक्तं तत्पयो मस्तुकाञ्जिकैः॥ निर्वापयेत्ततः साज्यैः स्वादुशीतैः प्रदेहयेत्। अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च॥ (अ. हृदय)।

अथ चेत् स्थिरमूलत्वात् क्षारदग्धं न शीर्यते।
इदमालेपनं तत्र समग्रमवचारयेत् ॥१६॥
अम्लकाञ्जिकबीजानि तिलान् मधुकमेव च।
प्रपेष्य समभागानि तेनैनमनुलेपयेत् ॥१७॥
तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः।

यदि दृढ मूल होने के कारण क्षारदग्ध भाग विशीर्ण नहीं होता हो तो अगले श्लोक में दिया हुआ सर्व लेप वहाँ करना चाहिये ॥१६॥ धान्याम्ल का तलछट भाग तिल और मुलहठी समान भाग में पीसकर उसका क्षारदग्ध भाग पर लेप करे ॥१७॥ (इस प्रकार लेप करने से क्षारदग्ध भाग विशीर्ण होने के पश्चात् जो व्रण उत्पन्न होता है) उस व्रण को भर लाने के लिये मुलहठी और घृतयुक्त तिल की लुगदी प्रयुक्त करे।

वक्तव्य—स्थिरमूलत्वात्—क्षारदग्ध भाग अधिक मोटा या दृढ होने के कारण अभिष्यंदी भोजन करने के पश्चात् भी यदि नहीं गल जाता है। अम्लकांजिकबीजम्—अम्लकांजिकाधःस्थितं द्रव्यम्। दग्ध व्रण धोने के लिये तथा उसके रोपण के लिये अष्टाङ्गसंग्रह में निम्न क्वाथ और तैल घृत वर्णन किया है—मालतीवृषांकोलनिम्बास्फोतपटोलीकरवीरपत्रक्वाथेन व्रणप्रक्षालनम्।

एषामेव च कल्ककाथे सिद्धं सर्पिस्तैलं वा रोपणम् ॥ नागपुष्पमंजिष्ठाचन्दनतिलपर्णिकासु वा ॥

रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्योष्णेन च योजितः ॥१८॥
आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति ।
एवं चेन्मन्यसे वत्स ! प्रोच्यमानं निबोध मे ॥१९॥
अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत् ।
कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा ॥२०॥
अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः ।
माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ।
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः ॥२१॥

तीक्ष्ण और उष्ण वीर्य अम्लरस जो (स्वयं) अग्निरूप है उससे दूसरे अग्नि के तुल्य क्षार की शांति क्योंकर हो जाती है । (सुश्रुत के इस प्रश्न का भगवान् धन्वन्तरि ने उत्तर दिया कि) हे पुत्र ! यदि तू यही समझता है तो मेरा वक्तव्य सुन ले ॥१८, १९॥ क्षार में अम्लरस के अतिरिक्त शेष सर्वरस उपस्थित समझ लो । इनमें कटुकरस प्रधान तथा अधिक और लवण अनुरस (अप्रधान) होता है ॥२०॥ तीक्ष्ण लवणरस (क्षार) जब अम्लरस से मिलता है तब तीक्ष्ण भाव को छोड़कर मधुर भाव को प्राप्त हो जाता है और मधुर होजाने से शान्ति को प्राप्त होजाता है जैसे कि जल के छिड़कने से अग्नि की शान्ति हो जाती है ॥२१॥

वक्तव्य—आग्नेयेनाग्निना—अम्ल और क्षार कार्य की दृष्टि से दोनों भी आग्नेय हैं, यद्यपि दोनों का कार्य करने का तरीका भिन्न भिन्न होता है । अँग्रेजी में भी कार्य की दृष्टि से दोनों को करोझिह्व (Corrosive) वर्ग में समाविष्ट करते हैं । कटुकस्तत्र भूयिष्ठः—पांचों में से क्षार में कटुक रस की अधिकता होती । डल्हण इस श्लोकार्ध का अर्थ उलटा करते हैं—'तत्र पंचरसे क्षारे कटुकोऽनुरसः, लवणस्तु भूयिष्ठ इति योज्यम्' । क्षार के पांचों रसों में लवण रस प्रधान और कटुक अनुरस है । परन्तु इस प्रकार श्लोक का उलटा अर्थ करना निम्न कारणों से अप्रशस्त प्रतीत होता है । (१) इस अध्याय के सूत्र तीन में क्षार के जो गुण कर्म वर्णन किये हैं, वे आगे रसविशेष विज्ञानीय (४२ अध्याय) में वर्णन किये हुए कटुक रस के गुणकर्मों के साथ लवण रस की अपेक्षा शब्दशः मिलते हैं । सः……कटुक उष्णस्तीक्ष्णः पाचनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणः स्तम्भनो लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविषमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः ॥ (क्षारपाकविधि अध्याय) । कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफकृमिविषकुष्ठकण्डूपशमनः………स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता च ॥ (रसविशेषविज्ञानीय) । (२) चरकसंहिता में भी क्षार में कटु और लवण रस की भूयिष्ठता कहने के समय कटुक रस का निर्देश प्रथम किया है, जिससे लवण की अपेक्षा कटुक रस क्षार में अधिक अभिप्रेत होता है—क्षरणात् क्षारः । नासौ रसः । द्रव्यं हि तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठम् ॥ (सू. अ. २६) । (३) यदि सैन्धवादि लवणों को छोड़कर केवल यवक्षारादिक का स्वाद लिया जाय तो जिह्वा पर कटुरस अधिक प्रतीत होता है । (४) अष्टाङ्गसंग्रह में भी क्षार का वर्णन 'कटुकलवणभूयिष्ठः' ऐसा ही किया गया है । इसलिये कटुकरस क्षार में प्रधान मानना प्रशस्त है । कथं क्षारः प्रशाम्यति—उष्ण क्षार का शीतस्पर्श अम्ल के साथ संयोग होने से मधुरता उत्पन्न होकर क्षार की शान्ति हो जाती है—अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः । यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम् ॥ (वाग्भट) । वास्तव में यह एक रासायनिक निर्वीर्यीकरण (Neutralisation) की प्रक्रिया है । परंतु इसका आकलन होने के लिये क्षारपाक विधि रासायनिक परिभाषा की दृष्टि से समझना आवश्यक है । क्षारपाक का रासायनिक दृष्टि से विचार—आयुर्वेद में क्षारकर्म (Potential Cautery) के लिये जो क्षार (Caustic) प्रयुक्त होते हैं, उनके लिये वनस्पतियों के भस्म तथा खटिक के खनिज और प्राणिज पदार्थ उपयोग में आते हैं । वनस्पतियों के भस्म में अधिकांश सोडिअम कार्बोनेट, पोट्यासिअम कार्बोनेट, क्यालसिअम आक्साईड, म्यागनेसिअम आक्साईड, सिलिका इत्यादि रासायनिक द्रव्य होते हैं । वनस्पतियों का भस्म पानी में मिलाकर, कपड़े से छानकर और अग्नि से पकाकर क्षारोदक में प्रथम परिवर्तित किया जाता है । क्षारनिष्कर्ष की इस विधि को अँग्रेजी में लिक्सीव्हीएशन (Lixiviation) और क्षारोदक को लाय (Lye) कहते हैं । क्षारोदक बनते समय सिलिका जैसे कुछ पदार्थ अनघुल होने के कारण फेंक दिये जाते हैं, सोडिअम और पोट्यासिअम के लवण पानी में विद्रुत होते हैं और कुछ पदार्थ आपस में अदल-बदल (Double decomposition) होने के कारण नये बनते हैं । ये नये पदार्थ सोडिअम और पोट्यासिअम के हायड्रोक्साइड हैं परन्तु इनकी राशि अल्प होती है । ये कैसे उत्पन्न होते हैं, इसका विचार आगे मध्यम क्षार के बनावट में किया गया है । क्षार की क्षणन शक्ति (Fseharotie property) कार्बोनेट की अपेक्षा हायड्रोक्साइड पर अधिक निर्भर होती है । क्षारोदक में हायड्रोक्साइड की राशि अल्प होने के कारण इसकी क्षणन शक्ति भी अल्प हुआ करती है और इसी कारण से क्षारोदक को आयुर्वेद में मृदु क्षार कहते हैं । क्षारोदक की शक्ति बढाने के लिये सुधा (Lime stone), पाषाण (Marble), क्षीरपाक (Chalk), शंख (Conch shell), शुक्ति (Oyster shell) इत्यादि चूने के पदार्थ अग्नि में जलाकर प्रयुक्त होते हैं । अग्नि में जलाने के पूर्व ये सब पदार्थ क्यालसिअम कार्बोनेट (Caloz) होते हैं । जलाने से इनका परिवर्तन क्यालसिअम आक्साइड (Cao) और कार्बन डायोक्साइड (Cox) में होता है । कार्बन डायोक्साइड वायुरूप होने के कारण हवा में चला जाता है । यह प्रक्रिया निम्न समीकरण से प्रदर्शित होती है ।

$$Ca\ co3 \rightarrow Cao + Co2 \uparrow$$

इसी समीकरण के अनुसार वृक्षों में जो क्यालसिअम होता है तथा वृक्ष जलाते समय जो चूना डालते हैं, उसका परिवर्तन क्यालसिअम आक्साइड में होता है । इस प्रकार चूने को जलाकर बनाये हुए क्यालसिअम आक्साइड को पानी में पिष्टी करके क्षारोदक में छोड़ (प्रतीवाप) देते हैं । इससे क्षारोदक के अधिकांश कार्बोनेट हायड्रोक्साइड में परिवर्तित होकर क्यालसिअम आक्साइड का फिर कार्बोनेट बनता है, जो अनघुल होने के कारण नीचे तली में बैठता है । यह प्रक्रिया अग्रिम समीकरण के अनुसार होती है ।

$$\mathrm{Na\,2\,Co\,3+Cao+H2O \rightarrow 2\,NaOH+Ca\,Co3} \downarrow$$

इस प्रकार मध्यम क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि अधिक होने के कारण उसकी क्षणन शक्ति भी बढ़ती है। तीक्ष्ण और मध्यम क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि में कोई विशेष फ़र्क नहीं हो सकता है। क्योंकि मध्यम क्षार को तीक्ष्ण करने के लिये वनस्पतियों का ही चूर्ण अधिक प्रयुक्त होता है। इसलिये वनस्पतियों की कुछ तीक्ष्णता उसमें आ सकती है। इस प्रकार बनाये हुए क्षार को लोहे के पात्र में मुख बंद (अनुगुप्त या सुगुप्त) करके कुछ दिन तक रखना चाहिये। अलकली बनाने के तथा रखने के लिये लोहे का पात्र आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी उत्तम प्रमाणित हुआ है। मुख बंद करके रखने से बाह्य वायुमण्डल के कार्बन डायोक्साइड का संबंध क्षार के साथ नहीं होता है। क्षार की शक्ति कायम रखने के लिये इस प्रकार मुख बंद करके रखना आवश्यक है। कुम्भ का मुख खुला रखने से हायड्रोक्साइड का परिवर्तन धीरे धीरे कार्बोनेट में होता है और क्षार की शक्ति कम हो जाती है।

$$\mathrm{2\,Na\,O\,H+Co\,2} \downarrow \rightarrow \mathrm{Na\,2\,Co\,3+H2o}$$

क्षार तैयार होने के पश्चात् कुछ दिन तक (तांश्च व्याधिबलतः सप्तरात्रादूर्ध्वं प्रयुञ्जीत। अ. सं.) रखने से क्यालसिअम कार्बोनेट का अवक्षेपण (Precipitation) उत्तम होकर क्षार की शक्ति अधिक से अधिक हो जाती है। रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन कथं क्षारः प्रशाम्यति—अम्ल और क्षार यद्यपि उष्णवीर्य और तीक्ष्ण होते हैं तथापि रासायनिक दृष्टि से वे अत्यन्त भिन्न प्रकार के पदार्थ होते हैं। क्षार बेसिक (Basic) पदार्थ है, जिस में हायड्रोक्सिल नामक ऋणभाग (OH as a Negative Radical) होता है और अम्ल एसिड (Acid) पदार्थ है, जिस में हायड्रोजन नामक धनभाग (Has a Positive radical) होता है। संयोग होने से दोनों के धन और ऋण भागों में अदल-बदल होकर पानी तथा लवण (Salt) बन जाता है। ये दोनों पदार्थ क्षार और अम्ल से गुण धर्म में अत्यन्त भिन्न और बहुधा शीतवीर्य होते हैं। इस विधि को निर्वीर्यिकरण (Neutralization) कहते हैं। इस प्रकार क्षार के स्थान पर अम्ल लगाने से उसका वीर्य नष्ट होकर क्षरण की शक्ति शान्त हो जाती है और दोनों के संयोग से पानी और लवण बन जाता है। निर्वीर्यिकरण के लिये अम्ल और क्षार समान राशि में होना आवश्यक है। यदि अम्ल की राशि कम हो तो क्षार का वीर्य पूर्णतया नष्ट नहीं होगा और उसकी क्षणन की शक्ति जारी रहेगी। यदि अम्ल की राशि अधिक हो तो क्षार पूर्ण निर्वीर्य होकर अम्ल अपना प्रभाव दिखला कर शरीर को हानि करेगा। इस आपत्ति को दूर करने के लिये आयुर्वेद में अत्यन्त सौम्य (Weak) स्वरूप के वानस्पतिक अम्ल क्षार धोने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं, जो क्षार का निर्वीर्यिकरण भली भाँति करते हुए भी शरीर को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचा सकते। निर्वीर्यिकरण के उदाहरण लिये सोडियम हायड्रोक्साइड (NaoH) और हायड्रोक्लोरिक अम्ल (Hcl) की प्रक्रिया आगे समीकरण से बतलाई गई है, जिन के संयोग से खाने का नमक (Nacl) और पानी बनता है।

$$\mathrm{Hcl \rightarrow \overset{+}{H} + Cl-}$$

$$\leftarrow$$

$$\mathrm{NaOH \rightarrow OH+Na+}$$

$$\leftarrow$$

$$\downarrow \quad \downarrow \uparrow$$

$$\mathrm{H2o \quad Nacl}$$

पानीय क्षार—अब तक प्रतिसारणीय क्षार के संबंध में वर्णन किया है। पानीय क्षार के लिये उतनी तीक्ष्णता की आवश्यकता नहीं होती है, जितनी कि बाह्य प्रयोग के लिये होती है। रासायनिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि पानीय क्षार में हायड्रोक्साइड की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिये पीने के क्षार चूने के प्रयोग के सिवाय बनाये जाते हैं। वनस्पतियों से बनाये गये क्षार बहुधा सोडिअम और पोट्यासिअम के कार्बोनेट होते हैं। जो खनिज होते हैं वे कार्बोनेट के सिवाय क्लोराइड, नायट्रेट इत्यादि हो सकते हैं। परन्तु पानीय क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि नगण्य सी होती है। पानीय क्षार का उपयोग चूर्ण के स्वरूप में होता है। परन्तु प्रतिसारणीय का उपयोग हमेशा द्रवावस्था में ही किया जाता है। क्षारों का कार्य करने का तरीका—बाह्य-क्षार में जल का शोषण करने की (Dehydrating) अल्ब्यूमिन का घोल करने की (Albumin dissolving) और मेद का साबुन बनाने की (Saponnyfying) शक्ति होती है। इस त्रिगुणात्मक शक्ति के कारण शरीर के जिन सेलों के साथ क्षार का संयोग होता है, वे जल अल्ब्युमिन आदिक पोषक द्रव्य नष्ट होने के कारण मर जाते हैं। शरीर में जब अनुपयोगी (यथा—तिलकालक मशक), अधिवृद्ध (सौम्य अर्बुद), विकृत (यथा—दुष्ट व्रण, नाडी, चर्मकील, भगन्दर, अर्श), और दुष्ट (दुष्ट अर्बुद क्यान्सर, एपिथेलि ओमा) सेल होते हैं, तब उनका नाश करने के लिये क्षार का उपयोग होता है। कृमिदंश विष में क्षार से लाभ होने का कारण यह है कि कृमिविष बहुधा अम्ल स्वरूप के होते हैं और क्षार का प्रयोग करने से वे निर्वीर्य हो जाते हैं। पाश्चात्त्य वैद्यक में लायकर पोटयाश (Koh), लायकर सोडा (Naoh), लायकर अमोनिया (Naoh), रजतनत्रित (Silver nitrate) और जसद हरिद (Zinc chlnide) ये द्रव्य क्षारकर्म के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। आयुर्वैदिक पद्धति के अनुसार जो मध्यम क्षार बनाया जाता है, उसका रासायनिक संगठन पाश्चात्त्य वैद्यक में प्रयुक्त होने वाले 'वीएन्नापेस्ट' (Vienna laste) के साथ बहुत कुछ मिलता है। इस पेस्ट में पोटयाश और चूना होता है। आभ्यन्तरीय—क्षार का सेवन करने से शरीर के पचनसंस्थान, रक्तसंस्थान और मूत्रसंस्थान पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। पचनसंस्थान—आमाशय पर क्षार की क्रिया तीन प्रकार की होती है। (१) क्षार भोजन के पहले सेवन करने से आमाशयिक ग्रंथियों (Gastric glands) से पाचक रस का स्राव कुछ समय तक रोक के रखते हैं। इससे भोजन के बाद पाचक रस अधिक मात्रा में और शक्ति में स्रुत होता है। (२) भोजन के पश्चात् सेवन करने से पाचक रस का अम्लाधिक्य निर्वीर्य करते हैं। (३) आमाशयिक रस का अम्लाधिक्य निर्वीर्य करते हैं। (३) आमाशयिक श्लेष्मल कला पर शामक (Sedative) प्रभाव डालते हैं।

इसलिये क्षारों का उपयोग अग्निमान्द्य, अरोचक, वमन, अजीर्ण इत्यादि पेट के रोगों में होता है। आँत्र पर इनका कुछ विरेचक प्रभाव पड़ता है इसलिये आध्मान, आनाह, गुल्म इत्यादि विकारों में उपयोग होता है। रक्तसंस्थान—पचन होने के पश्चात् रक्त में मिलकर क्षार रक्त की क्षारीय प्रतिक्रिया (Alkaline=reaction) बढ़ाते हैं और वातरक्त, गठिया रोगों में लाभ करते हैं। मूत्रसंस्थान—क्षार बहुधा कार्बोनेट के रूप में उत्सर्गित होते हैं। उत्सर्ग के समय वृक्क में उत्तेजना उत्पन्न कर मूत्र की राशि बढ़ाते और मूत्र को क्षारीय बनाते हैं। मूत्र क्षारीय होने के कारण बस्ति में युरिक एसिड (Uric acid) का अवक्षेपण नहीं हो सकता तथा अवक्षेपित युरिक एसिड का विद्रावण होता है। इसलिये क्षार मूत्रल होते हैं और युरिक एसिड के पथरी और शर्करा में फायदा करते हैं। पाश्चात्त्य वैद्यक में निम्न क्षार आभ्यन्तरीय उपयोग के लिए प्रयुक्त होते हैं। यथा—पोटयासिअम सायट्रेट, पोटयासिअम एसिटेट, पोटयासिअम बाय कार्बोनेट, पोटयासिअम कार्बोनेट, पोटयासिअम नायट्रेट (शोरा), सोडिअम बाय कार्बोनेट, सोडिअम कार्बोनेट, लिथीअम सायट्रेट, लिथीअम कार्बोनेट इत्यादि। आयुर्वेद में यवक्षार, टंकणक्षार, पंच लवण तथा निम्न वृक्षों के क्षार पीने के लिये प्रयुक्त होते हैं—

तिलापामार्गकदलीपलाशशिग्रुमोचकाः ।
मूलार्द्रकचिञ्चाश्वत्था वृक्षक्षाराः प्रकीर्तिताः ॥ (रसार्णव)

तत्र सम्यग्दग्धे विकारोपशमो लाघवमनास्रावश्च। हीनदग्धे तोदकण्डुजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च। अतिदग्धे दाहपाकरागस्रावाङ्गमर्दक्लमपिपासामूर्च्छाः स्युर्मरणं वा ॥२२॥

(रोग का स्थान) जब क्षार से ठीक जल जाता है तब विकार की शांति हो जाती है, (शरीर में) हलकापन आ जाता है और स्राव बंद हो जाता है। यदि कम जला हो तो पीड़ा, खुजली, (शरीर में) भारीपन और व्याधि की वृद्धि होती है। अधिक जल गया हो तो जलन, पाक, सुर्खी, स्राव, शरीर में पीड़ा, थकावट, प्यास, मूर्च्छा और मृत्यु भी हो जाती है ॥२२॥

क्षारदग्धव्रणं तु यथादोषं यथाव्याधि चोपक्रमेत् ॥२३॥

क्षारदग्ध के पश्चात् उत्पन्न हुए व्रण को वातादि दोष और व्याधि के अनुसार उपचार करे ॥२३॥

वक्तव्य—इनके प्रक्षालन और रोपण के लिये जो सामान्य क्वाथ तैलादि प्रयुक्त होते हैं, उनका विवरण अष्टांगसंग्रह के अनुसार श्लोक इक्कीस की टीका में किया गया है।

अथ नैते क्षारकृत्याः। तद्यथा—दुर्बलबालस्थविरभीरुसर्वाङ्गशूनोदरिरक्तपित्तिगर्भिण्यृतुमतीप्रवृद्धज्वरिप्रमेहोरःक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छोपद्रुतक्लीबापवृत्तोद्वृत्तफलयोनयः ॥२४॥

निम्नलिखित मनुष्य क्षारकर्म के लिये योग्य नहीं होते हैं। जैसे—दुर्बल, बालक, वृद्ध, डरपोक, सर्व शरीर जिसका सूज गया हो, जलोदरी, रक्तपित्त रोग से पीड़ित, गर्भिणी, रजस्वला स्त्री, तीव्र ज्वर से पीडित, प्रमेही, उरःक्षत से पीड़ित, तृष्णा मूर्च्छा रोगवाले, नपुंसक तथा स्त्री जिसका गर्भाशय ऊपर या नीचे हो गया है ॥२४॥

वक्तव्य—क्षार के लिये अयोग्य कुछ रोगियों का निर्देश पीछे सूत्र ५ में किया है। इनके सिवाय वाग्भट में निम्न रोगी क्षार के लिये अयोग्य बतलाये गये हैं—अतिसारी, शिरोरोगी, पाण्डुरोगी, वमन और विरेचन सेवन किया हुआ रोगी। इनके सिवाय क्षारयोग्य मनुष्यों में भी अवस्था विशेष के कारण क्षार का उपयोग जहां नहीं करना चाहिये, उनका निर्देश आगे सूत्र २६ में किया गया है। अपवृत्तोद्वृत्तफलयोनि—इस शब्द के अर्थ के संबंध में बहुत मतभेद दिखाई देता है। अपवृत्त—स्थान से स्रस्त हुआ। उद्वृत्त—स्थान से ऊपर गया हुआ। फल का अर्थ कुछ लोग अण्ड या वृषण करते हैं। कुछ लोग फलयोनि का अर्थ गर्भाशय करते हैं। इसी के अनुसार ऊपर अर्थ दिया गया है। कुछ लोग (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय की टीका में) फल का अर्थ रज समझते हैं और उद्वृत्त फलयोनि का अर्थ उदावृत्ता योनि करते हैं। हाराणचन्द्र अपनी टीका में एकीय मत से फल का अर्थ आन्त्र देते हैं—केचित्तु फलशब्देनेहान्त्रं ग्राहयन्त्युपचाराद्गङ्गायां घोष इतिवत्। क्लीब—अल्पशुक्र, अशुक्र, पंढ नहीं।

तथा मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तःशेफःस्रोतःस्वल्पमांसेषु च प्रदेशेष्वक्ष्णोश्च न दद्यादन्यत्र वर्त्मरोगात् ॥२५॥

तथा मर्म, सिरा, स्नायु, संधि, तरुणास्थि, सेवनी, धमनी, गला, नाभि, नाखून, शिस्न के भीतर, स्रोतो में, जहां मांस स्वल्प हो वहां और पलकों के रोग छोड़ कर नेत्र रोगों में क्षार का उपयोग नहीं करना चाहिये ॥२५॥

वक्तव्य—मर्म–शरीर के प्राणयुक्त भाग (Vitalparts)। इनका वर्णन शरीरस्थान में होगा। तरुणास्थि—नासाकर्ण, कण्ठनाडी इत्यादिक में होने वाली कोमल हड्डी (Cartilage)। सेवनी—हड्डी या त्वचा के संयोग स्थान। अंग्रेजी में सेवनी को 'सूचर या रेफी' (Suture or Raphe) कहते हैं।

तत्र क्षारसाध्येष्वपि व्याधिषु शूनगात्रमस्थिशूलिनमन्नद्वेषिणं हृदयसन्धिपीडोपद्रुतं च क्षारो न साधयति ॥२६॥

व्याधियाँ क्षार साध्य होने पर भी जिसके शरीर पर शोथ हो, जिसकी हड्डियों में पीड़ा हो, जिसको अन्नद्वेष हो गया हो, जिसके हृदय और संधियों में पीड़ा हो, उनमें क्षार गुण नहीं करता है ॥२६॥

वक्तव्य—क्षार का उपयोग शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में तथा मेघवर्षा प्रवात युक्त दिनों में नहीं करना चाहिये। साधारण लक्षण जो प्रावृट्, शरत् और वसंत ऋतु में होते हैं, उनमें दुर्दिन छोड़कर क्षार कर्म करना चाहिये। तथा शीतोष्णवर्षदुर्दिनप्रवातेषु च क्षारो न योक्तव्यः। (अ. संग्रह)

भवति चात्र—

विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पः
क्षारो भवत्यल्पमतिप्रयुक्तः।

---

१ प्रमेहिरूक्षक्षत.

स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो
रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥२७॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधि-
र्नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अल्पमति वैद्य से (अयुक्त) उपयोग किया हुआ क्षार विष, अग्नि, शस्त्र तथा वज्र के समान मृत्युकारक होता है और बुद्धिमान् वैद्य से ठीक ठीक उपयोग किया हुआ वही क्षार शीघ्र ही दारुण रोगों को नाश कर देता है ॥२७॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से अग्निकर्म विधि का व्याख्यान करते हैं, जैसे भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः, तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद्भेषजशस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च ॥२॥

दहन कर्मों में क्षार की अपेक्षा अग्नि श्रेष्ठ है। क्योंकि अग्नि से दग्ध किये हुए रोगों की फिर उत्पत्ति नहीं होती और औषध, शस्त्र तथा क्षार से जो रोग साध्य नहीं होते, वे अग्नि से साध्य होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—क्रियासु—दहन कर्मों में। दहन कर्म के अतिरिक्त अग्नि की क्षार के साथ तुलना ही नहीं हो सकती है, न श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है। जिस कर्म में दहन के लिये स्वाभाविक आग्नेय द्रव्यों का उपयोग होता है, उसे क्षार कर्म कहते हैं। जिस में कृत्रिम उष्णता का उपयोग होता है, उसे दहन कर्म कहते हैं। दहन कर्म को अंग्रेजी में कॉटरी (Cautery) कहते हैं। जिसमें औजार तप्त करने के लिये प्रत्यक्ष अग्नि का उपयोग होता है, उसे अग्निकर्म कहते हैं। इसे अंग्रेजी में ऍक्च्युअल कॉटरी (Actual cautery) कहते हैं। इसके सिवाय पाश्चात्त्य शल्यशास्त्र में दो प्रकार के अग्निकर्म प्रचलित हैं—(१) विद्युद्दहनकर्म (Galvano Cautery)—इसमें उष्णता की उत्पत्ति विद्युत्प्रवाह द्वारा की जाती है। इस प्रकार के दहनकर्म का उपयोग आज कल बहुत हो रहा है। (२) पाक्वीलिन का दहनकर्म (Poquilin's thermo cautery)—इसमें प्रथम औजार को अग्निज्वाला पर उत्तप्त करके तत्पश्चात् कर्म करते समय उस पर बेंझोलाईन (Benzoline) की भाप धौंकनी की सहायता से छोड़ते रहते हैं, जिससे वह औजार भाप के कारण उत्तप्त रहता है। अग्निकर्म की श्रेष्ठता—अग्निकर्म की श्रेष्ठता के दो कारण पाश्चात्त्य शल्यशास्त्र में माने गये हैं। पहला कारण यह है कि जहां जहां अग्नि का संयोग होता है, वहां के सर्व विकारी जीवाणु नष्ट होकर वह स्थान विशुद्ध (Sterile) हो जाता है, जिससे आगे चलकर दग्धव्रण में पाक उत्पन्न होने की भीति बहुत ही कम होती है। आयुर्वेद में भी इस महत्त्वपूर्ण बात का ज्ञान था—अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात् । (सु.)। अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्। (डल्हण)। दूसरा कारण यह है कि अग्निदग्ध स्थान से रक्तस्राव नहीं होता है। उष्णता के कारण रक्तवाहिनियों का संकोच हो जाता है। इससे व्रण जल्दी भर जाता है। अग्नि के इस गुण का भी ज्ञान आयुर्वेद में मिलता है—दाहः संकोचयेत् सिराः। इन दो गुणों के कारण अग्निदग्ध क्षारदग्ध की अपेक्षा अधिक साध्य होता है।

अथेमानि दहनोपकरणानि। तद्यथा—पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाजाम्बवौष्ठेतरलौहाः क्षौद्रगुडस्नेहाश्च। तत्र, पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकास्त्वग्गतानां, जाम्बवौष्ठेतरलौहा मांसगतानां, क्षौद्रगुडस्नेहाः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम् ॥३॥

दहन के लिये निम्न उपकरण (काम में लाये जाते) हैं। जैसे—पिप्पली, बकरी के मेंगन, गाय बैल का दांत, शलाका, जाम्बवौष्ठ तथा अन्य सुवर्णादि धातु एवं मधु, गुड़, तैल, घृतादिक स्नेह। उनमें से पिप्पली, बकरी का मेंगन, गाय का दांत, बाण और शलाका—ये त्वचा में दहन कर्म के लिये उपयोगी होते हैं। जाम्बवौष्ठ तथा अन्य लोह मांसगत रोगों के दहन में उपयोगी होते हैं। सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि के रोगों में मधु, गुड़ और तैलादि स्नेह काम में आते हैं ॥३॥

वक्तव्य—दहनोपकरण—ये उपकरण अग्नि में तप्त करके काम में आते हैं। शर—बाण। इसका उपयोग ग्रन्थि विसर्प की चिकित्सा में दहन के लिये होता है—अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्लोहेन वा हितः। (चरक)। इतरलौहाः—शर, शलाका और जांबवौष्ठ के अतिरिक्त लोहे के बने हुए अन्य उपकरण, किंवा लौह से स्वर्णादि अन्य धातु के उपकरण भी हो सकते हैं—रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तहेमशलाकया। पक्ष्मरोगे पुनर्नैवं कदाचिद्रोमसंभवः॥ (चक्रदत्त)। अपानमार्गपिटिकां दहेत् स्वर्णशलाकया। अग्निप्रतप्तया पश्चात् कुर्यादग्निव्रणक्रियाम् ॥ (योगरत्नाकर)। तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद्दाहविशेषवित् । (चरक)। हेमताम्रायोरूप्यकांस्यैर्मांसदाहः। (अष्टांगसंग्रह)। उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त वाग्भट में पिचुवर्ती, सूर्यकान्त और मधूच्छिष्ट अधिक वर्णन किये हैं। सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम्—सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थियों का प्रत्यक्ष दहन उनका छेद होकर जब रक्तस्राव अधिक होता है, उस समय स्राव को रोकने के लिये किया जाता है—सिरास्नायुसन्ध्यस्थिच्छेदशोणितातिप्रवृत्तिषु··· सिरादिदाहः। (अष्टांगसंग्रह)। सिरादि के अन्य रोगों में इनके ऊपर के मांस का दहन करने से कार्य हो जाता है—मांसे दग्धे हि शाम्यन्ति सिरास्नाय्वस्थिसंधिजाः।

तत्राग्निकर्म सर्वर्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्यां; तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मसाध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा ॥४॥

शरद् और ग्रीष्म ऋतुओं के सिवाय अन्य ऋतुओं में अग्निकर्म करना उचित है। शरद् और ग्रीष्म में भी यदि अग्निकर्म

---

१ ०रशक्यानां.

से साध्य प्राणहारक रोग हो तो गरमी आदि का बचाव और परिहार करके अग्निकर्म करना चाहिए ॥४॥

वक्तव्य—आत्ययिक—आशु प्राणहारक । तत् प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा—ऋतुविपरीत आहार आच्छादनादिक विधि करके । शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥

सर्वव्याधिष्वृतुषु च पिच्छिलमन्नं भुक्तवतः कर्म कुर्वीत; अश्मरीभगन्दरार्शोमुखरोगेष्वभुक्तवतः ॥५॥

सब व्याधियों में तथा सब ऋतुओं में पिच्छिल अन्न भोजन कराकर रोगी को अग्नि कर्म करे । परन्तु पथरी, भगन्दर, बवासीर और मुख के रोगों में बिना भोजन कराये अग्निकर्म करना चाहिये ॥५॥

वक्तव्य—पिच्छिलमन्नं—जीवनीय, बलकारक और श्लेष्मल अन्न को पिच्छिल अन्न कहते हैं—पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः । अग्निकर्म करने से शरीर में रौक्ष्य उत्पन्न होकर वात का प्रकोप होता है । उसका निवारण करने के लिये पिच्छिल अन्न का सेवन रोगी से करवाना चाहिये । अश्मरी भगन्दर इत्यादि—कहीं कहीं मूढगर्भाश्मरी ऐसा पाठ मिलता है । परन्तु मूढगर्भ में अग्निकर्म की आवश्यकता नहीं होती है ।

तत्र द्विविधमग्निकर्माहुरेके—त्वग्दग्धं, मांसदग्धं च; इह तु सिरास्नायुसन्ध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः ॥६॥

कई आचार्य अग्निकर्म दो ही प्रकार का कहते हैं—त्वग्दग्ध और मांसदग्ध । परन्तु शल्यशास्त्र में अग्निकर्म का सिरा, स्नायु, संधि और अस्थि—इन में भी निषेध नहीं है ॥६॥

वक्तव्य—एके—काश्यपादि—न सिरास्नायुसन्ध्यस्थिमर्मस्वपि कथञ्चन । दंशस्योत्कर्तनं कार्यं दाहो वा भिषजाऽग्निना ॥

तत्र, शब्दप्रादुर्भावो दुर्गन्धता त्वक्संकोचश्च त्वग्दग्धे; कपोतवर्णताऽल्पश्वयथुवेदना शुष्कसंकुचितव्रणता च मांसदग्धे; कृष्णोन्नतव्रणता स्रावसन्निरोधश्च सिरास्नायुदग्धे; रूक्षारुणता कर्कशास्थिरव्रणता च सन्ध्यस्थिदग्धे ॥७॥

त्वग्दग्ध में (चड़चड़) शब्द होता है, दुर्गंध आती है और त्वचा सिकुड़ जाती है । मांसदग्ध में (दग्ध स्थान) कपोतवर्ण, किंचित् सूजन और वेदनायुक्त होता है और (उत्पन्न हुआ) व्रण सूखा और संकुचित रहता है । सिरा और स्नायुदग्ध में व्रण काला और उभरा हुआ होता है और (रुधिरादिक) स्राव बंद हो जाता है । संधि और अस्थिदग्ध में व्रण रूखा, लाल, खुरदरा और कठिन होता है ॥७॥

वक्तव्य—कर्कश—नतोन्नत, विषम या खुरदरा । स्थिरव्रणता—कठिनव्रणता ।

तत्र शिरोरोगाधिमन्थयोर्भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्, वर्त्मरोगेष्वार्द्रालक्तकप्रतिच्छन्नां दृष्टिं कृत्वा वर्त्मरोमकूपान् (दहेत्) ॥८॥

शिरोरोग तथा अधिमन्थ नामक नेत्ररोग में भौंह, ललाट तथा कनपटी में दाग देना चाहिये । वर्त्मरोग में गीले वस्त्र से दृष्टि को ढककर पलकों के बालों की जड़ को दग्ध करना चाहिये॥८॥

वक्तव्य—अधिमन्थ—उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा । शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥ डॉ० म्हसकर के अनुसार अधिमन्थ को अँग्रेजी में अक्यूट आर्बिटल सेल्युलायटीज (Acute orbital cellulitis) कहते हैं । वर्त्मरोगेषु—यहाँ विशेषकर पक्ष्मकोप (Trichiasis, Distriaichiasis) नामक वर्त्मरोग का अग्निकर्म अभिप्रेत है । आर्द्रालक्तकप्रतिच्छन्नां—डल्हण के अनुसार गीले कपड़े से ढका हुआ, आर्द्रालक्तकमार्द्रकर्पटः । अन्य टीकाकार के अनुसार 'आलक्तक रंग से भीगे हुए वस्त्र से ढका हुआ' ऐसा अर्थ होता है । अलक्तक लाख से बनाया हुआ एक रक्तवर्ण रंग होता है, जिसका उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से स्त्रियाँ अपने पैर रञ्जित करने के लिये किया करती थीं—अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ । अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ (रामायण) । पक्ष्मकोप की चिकित्सा में इस प्रकार का अग्निकर्म सुश्रुत में नहीं वर्णन किया है । अष्टाङ्गसंग्रह में लाक्षारस का उपयोग केवल पलकों के बालों के ऊपर निशानी करने के लिये लिखा है—उपपक्ष्माणि तु लाक्षारसेन लक्षयित्वा संदंशेनोद्धृत्य तनुसूच्यग्रेणाग्निवर्णेन रोमकूपान् दहेत् ॥

त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिस्थितेऽत्युग्ररुजि वायावुच्छ्रितकठिनसुप्तमांसे व्रणे ग्रन्थ्यर्शोऽर्बुदभगन्दरापचीश्लीपदचर्मकीलतिलकालकान्त्रवृद्धिसन्धिसिराच्छेदनादिषु नाडीशोणितातिप्रवृत्तिषु चाग्निकर्म कुर्यात् ॥९॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि—इन में स्थित हुए वातप्रकोप के कारण अत्यन्त वेदना, शोथ, कठिन तथा अचेतन मांसयुक्त व्रण, ग्रन्थिरोग, अर्श, अर्बुद, भगन्दर, अपची (कण्ठमाला Scrofula), श्लीपद (फीलपाव Elephantiasis), चर्मकील, तिलकालक, आन्त्रवृद्धि (Hernia), सन्धिरोग, सिरा छेद तथा नाडीव्रण और रक्त का विशेष बहना (जो थमे नहीं)—इन अवस्थाओं में अग्निकर्म करना चाहिये ॥९॥

तत्र वलय-बिन्दु-विलेखा-प्रतिसारणानीति दहनविशेषाः ॥१०॥

रोग के स्थान में वलय, बिन्दु, विलेखा और प्रतिसारण ऐसे (चार प्रकार के आकार के) दहनकर्म के विशेष होते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—वलय—कङ्कण की भाँति गोल । बिन्दु—बिन्दु के आकार का छोटा । तप्तशलाका एक स्थान में छूने से बिन्दुसदृश दाग उत्पन्न होता है । विलेखा—नाना आकृति की लेखाएँ तप्तशलाका से निकालना—तिर्यगृजुवक्रा विविधा लेखा विलेखाः (डल्हण) । प्रतिसारण—तप्तशलाका या अन्य वस्तु से रगड़ना । इनके सिवाय अष्टांगसंग्रह में (१) अर्धचन्द्र, (२) स्वस्तिक, (३) और अष्टापद—ये तीन प्रकार अधिक वर्णन किये हैं । अष्टापद का अर्थ टीका में 'चतुरंगपीठः' दिया है । इन आकृतियों का उपयोग रोग के स्थान के अनुसार करना चाहिये । दहनकर्म की विधि अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से वर्णन की है—

अथ दाहार्हमातुरं कृतस्वस्त्ययनमुपहृतसर्वोपकरणं प्राक् शिरःसंविष्टमाप्तावलंबितं कृत्वा वैद्यो निर्धूमबृहत्स्थिरदीप्तखदिरबदराद्यंगारैरयोघटन-

प्रकारेण भस्त्रानिलाध्मातैर्व्यजनेन चोर्ध्वानिर्गच्छज्ज्वालतयापादितापाद्यमानभासुराग्निवर्णैर्जाम्बवौष्ठादिभिर्व्याधिप्रदेशवशाद्वलयार्धचन्द्रस्वस्तिकाष्टापदविन्दुरेखाप्रतिसारणविकल्पेन मुहुर्मुहुर्हितोपहिताभिर्वाग्भिरद्भिश्चातुरमाश्वासयन् दहेदासम्यग्दाहलिङ्गोत्पत्तेः । उच्छूनसुषिरप्रलूनदन्तनाडीसजन्तुदुष्टव्रणेषु तु स्नेहमधूच्छिष्टमधुगुग्गुलैः पूरयित्वा दहेत् ॥

भवति चात्र—

रोगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यङ्
नरस्य मर्माणि बलाबलं च ।
व्याधिं तथर्तुं च समीक्ष्य सम्यक्
ततो व्यवस्येद् भिषगग्निकर्म ॥११॥

रोग के स्थान का (मोटाई की दृष्टि से) खूब निरीक्षण कर, मनुष्य के मर्म स्थान तथा बलाबल का विचार कर और व्याधि तथा ऋतु इन सब बातों को अच्छी प्रकार देखकर तत्पश्चात् वैद्य अग्निकर्म (निश्चित) करे ॥११॥

तत्र सम्यग्दग्धे मधुसर्पिर्भ्यामभ्यङ्गः ॥१२॥

जब यथोक्त (लिंगानुसार) ठीक अग्नि से दग्ध हो जाय, तब उसके ऊपर मधु और घृत का अभ्यंग करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—मधुसर्पिर्भ्यामभ्यङ्गः—अग्निकर्म के कारण जो आगन्तुक व्रण उत्पन्न होता है, उस में रक्तपित्त का प्रसादन करने के लिये, वेदना की शान्ति करने के लिये और व्रणित भाग का संधान जल्दी होने के लिये मधुघृत का प्रयोग होता है—क्षतोष्मणो निग्रहार्थं संधानार्थं तथैव च । सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते ॥ अभ्यंग के पश्चात् यष्टिमधुशालिमूलादि का स्निग्ध शीत प्रलेप उसके ऊपर करना चाहिये । सुदग्धं घृतमध्वक्तं स्निग्धशीतैः प्रदेहयेत् । (अष्टांगहृदय) ।

अथेमानग्निना परिहरेत्—पित्तप्रकृतिमन्तःशोणितं भिन्नकोष्ठमनुद्धृतशल्यं दुर्बलं बालं वृद्धं भीरुमनेकव्रणपीडितमस्वेद्यांश्चेति ॥१३॥

इतने मनुष्यों को अग्निकर्म करना उचित नहीं है । जैसे—पित्तप्रकृति, रक्तपित्ती, अतिसारी, जिसके शरीर में से शल्य नहीं निकाला गया हो, दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, अनेक व्रणों से पीडित तथा अस्वेद्य ॥१३॥

वक्तव्य—अन्तःशोणित—कुछ लोग इसका अर्थ 'जिनके शरीर में कुपित तथा दूषित रक्त इकट्ठा हुआ है' ऐसा करते हैं। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है । क्षार के लिये जो अयोग्य हैं, वे अग्नि के लिये भी अयोग्य होते हैं—न दहेत् क्षारवारितान् । इस तत्त्व के अनुसार अन्तःशोणित का अर्थ पित्तप्रकृति करना अधिक प्रशस्त है । इसके सिवाय चरक में भी रक्तपित्ती का ही उल्लेख किया है—बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् । नाग्निकर्मोपदेष्टव्यम् ॥ भिन्नकोष्ठम्—इस का भी 'शस्त्रादि से जिस का उदर भिन्न हो गया है' ऐसा अर्थ कुछ लोग करते हैं। परन्तु इस प्रकार के उदर भेद में अग्निकर्म का निषेध नहीं है, बल्कि अग्निकर्म करने के लिये कहा है—उदरान्भेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिनः । अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिंद्यात् ॥ इसलिये क्षार के लिये अयोग्य लोगों की सूची देखकर इसका अर्थ 'अतिसारी' करना अधिक प्रशस्त है। अस्वेद्यांश्च—पाण्डुर्मेही रक्तपित्ती क्षयार्तः क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो विषार्तः । तृड्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी ॥ इनके अतिरिक्त नेत्ररोग और कुष्ठ में भी अग्नि का उपयोग नहीं करना चाहिये—नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं नेत्रकुष्ठव्रणेषु च । (चरक) ।

अत ऊर्ध्वमितरथादग्धलक्षणं वक्ष्यामः । तत्र, स्निग्धं रूक्षं वाऽऽश्रित्य द्रव्यमग्निर्दहति; अग्निसंतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वात्त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति; तस्मात् स्नेहदग्धेऽधिका रुजो भवन्ति ॥१४॥

इसके आगे हम अन्य प्रकार से दग्ध के लक्षण कहते हैं । अग्नि स्निग्ध या रूक्ष पदार्थों का आश्रय करके (प्राणियों के धातुओं को) जलाता है । अग्नि से तपाया हुआ स्निग्ध पदार्थ सूक्ष्म नसों में गमन करने (के अपने स्वभाव) से त्वचा आदि में प्रवेश कर तत्काल दग्ध कर देता है । इसलिए (घृत तैल आदि) स्नेह से जले हुए स्थान में अधिक पीडा होती है ॥१४॥

वक्तव्य—इतरथादग्ध—वैद्य के सिवाय या रोगचिकित्सा के सिवाय अन्य प्रकार से जला हुआ, आकस्मिक । इतरथादग्ध को वाग्भट में प्रमाद दग्ध कहा है । स्निग्धं रूक्षं वा आश्रित्य—तैल घृतादि स्निग्ध रूक्ष अथवा काष्ठ पाषाणादि द्रव्यों का आश्रय करके । अँग्रेजी में द्रव्य के अनुसार दग्ध के दो भेद करते हैं । जो दग्ध अग्निज्वाला या तप्त पाषाण लोह इत्यादि ठोस पदार्थों से होता है, उसे बर्न (Burn) कहते हैं । जो दग्ध तप्त जल तैल इत्यादि द्रव पदार्थों या तप्त वायु रूप पदार्थों से होता है, उसे स्काल्ड (Scald) कहते हैं। आयुर्वैदिक परिभाषा के अनुसार 'बर्न' को 'रूक्षदग्ध' और 'स्काल्ड' को 'स्निग्धदग्ध' कह सकते हैं ।

तत्र प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं चेति चतुर्विधमग्निदग्धम् । तत्र यद्विवर्णं प्लुष्यतेऽतिमात्रं तत् प्लुष्टं; यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्राश्चोषदाहरागपाकवेदनाश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद्दुर्दग्धं; सम्यग्दग्धमनवगाढं तालफलवर्णं सुसंस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं च; अतिदग्धे मांसावलम्बनं गात्रविश्लेषः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति व्रणश्चास्य चिरेण रोहति रूढश्च विवर्णो भवति । तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्धलक्षणमात्मकर्मप्रसाधकं(नं) भवति ॥१५॥

अग्निदग्ध प्लुष्ट, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध और अतिदग्ध ऐसे चार प्रकार का होता है । उनमें से जिसमें त्वचा का वर्ण पलट जाय, और झुलस-सा जाय, उसे 'प्लुष्ट' कहते हैं । जिस में दारुण फफोले पड़ जायँ, चूसने की-सी पीड़ा हो, जलन हो, रंग लाल हो, पक जाय और बहुत काल में जिसकी शान्ति हो, वह 'दुर्दग्ध' है । जिसमें घाव नीचा न हो, वर्ण ताडफल के समान हो, जिस में नतोन्नतता न हो और जो पहले कहे हुए लक्षणों से युक्त हो, वह 'सम्यग्दग्ध' है । 'अतिदग्ध' में मांस (नीचे की तरफ) लटकता है । जला हुआ अवयव विकल हो जाता है । उसके सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थियों का अतिशय नाश हो जाता है । ज्वर,

---

१ ततोऽध्यव०.

१ ०दग्धं,

दाह, प्यास, मूर्च्छा इत्यादि उपद्रव हो जाते हैं। व्रण बहुत दिन के पश्चात् भरता है और भरने पर भी शरीर के समान वर्ण नहीं होता है। ये चारों प्रकार के अग्निदग्ध के लक्षण वैद्य को अपने कार्य में प्रसाधक होते हैं ॥१५॥

वक्तव्य—प्लुष्ट-इसी को ही वाग्भट में तुत्थ कहा है। चतुर्विधमग्निदग्धम्—ये आकस्मिक या प्रमाद दग्ध के चार प्रकार हैं। चोषः-'आकृष्यत इव वेदनाविशेषः'। पूर्वलक्षणयुक्तं च-'तत्र शब्दप्रादुर्भावः' इत्यादि सूत्र सात में वर्णन किये हुए लक्षणयुक्त। गात्रविश्लेषः-दग्ध हुए अवयव का बेडौल और विकलित हो जाना। आत्मकर्मप्रसाधकम्—वैद्यस्यात्मकर्मनिदानं चिकित्साकर्म च तयोः प्रकर्षेण साधकं सहायभूतं भवति। चतुर्विध दग्ध के लक्षण मालूम होने से अग्निकर्म करने में तथा दग्ध की चिकित्सा करने में बहुत सहायता मिलती है। पाश्चात्त्य शल्यशास्त्र में दग्ध छः अवस्थाओं में विभक्त किया गया है। (१) प्रथमावस्था-इसमें त्वचा लाल और विवर्ण हो जाती है। परंतु त्वचा का नाश नहीं होता है। आयुर्वैदिक प्लुष्ट और इस प्रथमावस्था में सादृश्य है। (२) द्वितीयावस्था—इसमें त्वचा और ऊपरी पर्त (Cuticle)। इनके बीच में लसिका का संचय होकर फफोले बन जाते हैं। दुर्दग्ध और द्वितीयावस्था में सादृश्य है। (३) तृतीयावस्था—इसमें त्वचा का ऊपरी पर्त तथा त्वचा का (Cutis vera) भी कुछ भाग नष्ट होता है। परंतु स्पर्शांकुर (Papillae), स्वेदग्रंथि, रोमकूप तथा तेल की ग्रंथियां नष्ट नहीं होती हैं। इसका कुछ सादृश्य सम्यग्दग्धावस्था के साथ हो सकता है। (४) चतुर्थावस्था—इसमें सम्पूर्ण त्वचा तथा उपत्वचा (Subcutaneous tissiue) का भी कुछ भाग नष्ट होता है। (५) पंचमावस्था—इसमें त्वचा, उपत्वचा तथा पेशियों का भी नाश होता है। पेशियों के साथ साथ सिरा स्नायुओं का भी नाश होता है। (६) षष्ठावस्था—इसमें जला हुआ संपूर्ण अवयव सिरास्नायुसन्ध्यस्थि के साथ नष्ट और विघटित (Disorganised) हो जाता है। अन्तिम तीन अवस्थाओं का समावेश अतिदग्धावस्था में हो सकता है।

भवन्ति चात्र—

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते ॥१६॥
तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते ॥१७॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च वर्धते।

अग्नि से विदग्ध हुआ मनुष्यों का रक्त अत्यंत विगुणित हो जाता है। फिर उस विगुणित रक्त से पित्त भी शीघ्र प्रकुपित होता है ॥१६॥ इन दोनों पित्त तथा अग्निकोपित रक्त के वीर्य, रस तथा द्रव्य की दृष्टि से समान होने के कारण उस दग्ध मनुष्य को तीव्र वेदना होती है, स्वभाव से ही दाह भी होता है, दारुण फफोले पड़ जाते हैं, और ज्वर तथा तृषा भी बढ़ जाती है ॥१७॥

वक्तव्य—दहन के सार्वदैहिक लक्षण और उनकी संप्राप्ति—स्थानिक लक्षणों के सिवाय दहन के सर्व शरीर पर भी भयानक परिणाम होते हैं। ये परिणाम तीन अवस्थाओं में विभक्त किये जाते हैं। (१) दाह की अवस्था—इस अवस्था में दाह की गहराई तथा विस्तार अधिक हो तो निर्घात (Shock) उत्पन्न होता है। इसमें रोगी स्तब्ध और मूर्च्छित रहता है। कभी कभी हृदयक्रिया का अवरोध (Inhibition of the hearts action) होकर मृत्यु भी हो जाती है। दाह की गहराई की अपेक्षा विस्तार अधिक भयानक होता है। सामान्यतया यह देखा गया है कि शरीर के चर्म का तिहाई भाग जल जाने पर रोगी के बचने की बहुत कम आशा होती है। परंतु शरीर का यदि दो तिहाई भाग केवल प्लुष्ट हो जाय तो भी दो दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है। (२) शोथ की अवस्था—इस अवस्था में त्वचा, रक्त तथा शरीर के अन्य धातु जल जाने के कारण उत्पन्न हुए विष का संचार सर्व शरीर में होता है और उसी से ज्वर, दाह, तृषा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि ज्वलन का स्थान छाती, सिर, उदरादि मर्म स्थानों पर हो तो न्युमोनिया, फुफ्फुसावरणशोथ; मस्तिष्कावरणशोथ, उदरकलाशोथ इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। इसी अवस्था में जीवाणुओं का संक्रमण दग्धस्थान में होने का विशेष भय रहता है। (३) रोपणावस्था—यदि विकारी जीवाणुओं का प्रवेश दग्धस्थान में न हुआ हो तो व्रण का रोपण होने लगता है। अन्यथा विसर्प, धनुस्तंभ तथा वृक्क यकृत् के विविध रोग उत्पन्न होते हैं।

दग्धस्योपशमार्थाय चिकित्सा संप्रवक्ष्यते ॥१८॥
प्लुष्टस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं तथौषधम्।
शरीरे स्विन्नभूयिष्ठे स्विन्नं भवति शोणितम् ॥१९॥
प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम्।
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं नतु शीतं कथंचन ॥२०॥

प्लुष्ट दग्ध भाग को अग्नि से तपाना चाहिये और बाह्य तथा आभ्यंतर भी गरम ओषधि करनी चाहिये। (उष्णोपचार से) शरीर में काफी पसीना आ जाने के कारण रक्त का विलयन हो जाता है ॥१८-१९॥ जल स्वभाव से ठंडा है और रक्त को ठिठरा देता है। इस कारण (प्लुष्ट दग्ध में) गरम आराम कर देता है, परन्तु शीत हरगिज आराम नहीं कर सकता ॥२०॥

वक्तव्य—प्लुष्ट दग्ध में शीतप्रयोग से दग्ध स्थान की उष्णता बाहर नहीं जा सकती, जिस से उस स्थान पर शोथ रागशूलादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी को आराम नहीं मिलता। उष्णोपचार से रक्त का विलयन होकर दग्ध स्थान की उष्णता कम हो जाती है और रोगी को आराम मिलता है—स्त्याने रक्ते हिमैर्नोष्मा निष्क्रामति यतो बहिः। वेदना वर्धते तेन रुधिरं च विदह्यते। उष्णं निष्क्रामयत् कुर्यादूष्माणं मंदतां रुजः ॥ (अष्टांगसं.)।

शीतामुष्णां च दुर्दग्धे क्रियां कुर्याद्भिषक् पुनः।
घृतालेपनसेकांस्तु शीतानेवास्य कारयेत् ॥२१॥

दुर्दग्धचिकित्सा—दुर्दग्ध में शीत और उष्ण दोनों प्रकार की क्रिया वैद्य को करनी चाहिये। परन्तु ओषधि घृत का लेप तथा क्वाथादि से सेचन ठंडी अवस्था में ही करना चाहिये ॥२१॥

वक्तव्य—दुर्दग्ध में जो गहरा जला हुआ भाग होता है, उस पर ठंडी क्रिया और जो प्लुष्ट सदृश बहुत गहरा नहीं है, वहां पर उष्ण क्रिया करनी चाहिये। अथवा यदि दाह अधिक हो तो शीत क्रिया और दाह अधिक न हो तो उष्ण क्रिया करनी चाहिये। अथवा प्रारंभ में उष्ण क्रिया और पश्चात् शीत क्रिया करनी चाहिये।

सम्यग्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः।
सामृतैः सर्पिषा स्निग्धैरालेपं कारयेद्भिषक् ॥२२॥
ग्राम्यानूपौदकैश्चैनं पिष्टैर्मांसैः प्रलेपयेत्।
पित्तविद्रधिवच्चैनं सन्ततोष्माणमाचरेत् ॥२३॥

सम्यग्दग्धचिकित्सा—सम्यग्दग्ध में वंशलोचन, अश्वत्थ की छाल, रक्त चंदन, गेरु, गुडूची—इन्हें घृत में मिलाकर उसका लेप करे ॥२२॥ अथवा (अश्वादिक) ग्राम्यपशु, (वराहमहिषादिक) आनूप पशु, (कच्छपादिक) जलचर प्राणी—इन का मांस पीसकर लेप करे और यदि हमेशा दाह होता रहे तो पित्तविद्रधि के अनुसार उपचार करे ॥२३॥

अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम्।
क्रियां कुर्याद्भिषक् पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥२४॥
तिन्दुकीत्वक्कषायैर्वा[1] घृतमिश्रैः प्रलेपयेत्।
व्रणं गुडूचीपत्रैर्वा छादयेदथवौदकैः ॥२५॥
क्रियां च निखिलां कुर्याद्भिषक् पित्तविसर्पवत्।

अतिदग्ध में (जलने के कारण) लटके हुए मांस को निकाल करके ठंडे उपचार करे और शालि चावलों का चूर्ण या तिन्दुकीत्वक्चूर्ण घृत से मिलाकर लेप करे, (तत्पश्चात्) व्रण को गिलोय के पत्तों से या कमल के पत्तों से आच्छादन करे ॥२४-२५॥ अतिदग्ध में वैद्य सपूर्ण क्रिया पित्तविसर्प के समान करे।

वक्तव्य—तिन्दुकीत्वक्कषायैः—तिन्दुकीत्वक्चूर्णैः। तिन्दुकीत्वक्कषायं तिन्दुकीत्वक्चूर्णम्। (इन्दु)। कुछ टीकाकार कषाय का अर्थ कषाय वृक्ष यथा वट ऐसा करते हैं। 'तिन्दुकीत्वक्कपालैः' ऐसा डल्हणसंमत पाठ है।

मधूच्छिष्टं समधुकं रोध्रं सर्जरसं तथा ॥२६॥
मञ्जिष्ठां चन्दनं मूर्वां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत्।
सर्वेषामग्निदग्धानामेतद् रोपणमुत्तमम् ॥२७॥

मोम, मुलहठी, लोध, राल, मंजीठ, चन्दन और मूर्वा—इन्हें पीस कर घृत पकावे। यह घृत संपूर्ण प्रकार के अग्निदग्ध व्रणों को भर लाने के लिये बहुत उत्तम है ॥२६-२७॥

स्नेहदग्धे क्रियां रूक्षां विशेषेणावचारयेत्।

तैल घृतादि स्निग्ध पदार्थों से दग्ध की चिकित्सा रूक्षोपचार से करनी चाहिये।

वक्तव्य—दग्ध की आधुनिक चिकित्सा—दग्ध की प्रारंभिक अवस्था में जब रोगी स्तब्ध और बेहोश होता है, उष्णोपचार से बहुत लाभ होता है। उसमें रोगी को गरम कमरे में रखना, गरम कपड़े से ढककर रखना, गरम उत्तेजक पेय पीने के लिये देना और यदि आवश्यक हो तो टंकणाम्ल (Boric acid) के सौम्य गरम घोल में उसको रखना इत्यादि उपाय करना चाहिये। दग्धस्थान पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। जब रोगी की स्तब्धता नष्ट हो जाती है, तब दग्ध की चिकित्सा करनी चाहिये। दग्धस्थान की चिकित्सा के लिये कषाय रस (Tannic Acid) आज कल बहुत लाभकर प्रमाणित हुआ है। २·५% घोल में कवलिका भिगो कर दग्धस्थान पर रक्खी जाती है। हरीतकी चूर्ण का घोल बना कर उसका उपयोग कर सकते हैं। केवल पानी स्वच्छ उबला हुआ प्रयोग में लाना चाहिये। जब दग्ध से सड़ा गला मांस हट जाय तब 'मधूच्छिष्ट' मरहम के तौरं पर पराफीन का निम्न योग बना कर उसका उपयोग किया जाता है। इस से रोपण का कार्य शीघ्र होता है। मृदु पैराफीन ७%, ठोस ६%, जैतून का तेल ५%, युकालिप्टस तैल २%, बीटा नैप्थाल $\frac{1}{4}$%। परंतु आज कल सब से उत्तम चिकित्सा टैनिक अम्ल द्वारा ही प्रमाणित हुई है। इससे वेदना नहीं होती, बार बार व्रणोपचार बदलना नहीं पड़ता और दग्धस्थान के विष शरीर में नहीं फैलते।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम् ॥२८॥
श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते।
चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥२९॥
सधूमकं निश्वसिति घ्रेयमन्यन्न वेत्ति च।
तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते ॥३०॥
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति।
धूमोपहत इत्येवं[1], शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥३१॥

अब यहां से धुँए से पीड़ित हुए मनुष्य के लक्षण कहते हैं ॥२८॥ श्वास में कठिनता होती है, छींकता है, पेट फूला रहता है, खाँसता है आँखों में जलन तथा सुर्खी होती है ॥२९॥ प्रश्वास में धुँआ निकलता है, (धुँए के सिवाय) अन्य गंध नहीं समझता है, वैसा स्वाद का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, सुनाई नहीं देता है ॥३०॥ तृष्णा, दाह और ज्वर युक्त होकर दुर्बल तथा मूर्च्छित रहता है। इस प्रकार धुँए से पीड़ित मनुष्य के लक्षण होते हैं। अब उसकी चिकित्सा सुनो ॥३१॥

वक्तव्य—धुँए में अधिकांश कार्बन डायोक्साईड होता है। इसके सिवाय कार्बन मानोक्साईड, गंधक का धुँआ, अमोनिया, हायड्रोजन सलफाईड इत्यादि वायु तथा काजले कण धुँए में होते हैं। इनसे वायु भर जाने के कारण रक्तशुद्धि के लिये प्राणवायु नहीं मिलती है और रक्त की शुद्धि नहीं होती है। इस अवस्था को अँग्रेजी में असफिक्सीएशन (Asphyxiation) कहते हैं। धुँए में से कुछ वायु रक्त के साथ मिल कर उसको और भी दूषित कर देते हैं। इस दूषित रक्त का बुरा प्रभाव मस्तिष्कगत श्वासकेन्द्र (Respiratory centre) पर होता है और बेहोश होकर रोगी की मृत्यु होती है। इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। (१) श्वासकृच्छ्र की अवस्था–इसमें दूषित रक्त का श्वासकेन्द्र पर कुछ उत्तेजक प्रभाव पड़ता है। (२) आक्षेप की अवस्था–इसमें पहले से ही अधिक उत्तेजक प्रभाव पड़ता है, जिससे रोगी ऐंठने लगता है। (३) अवसाद की अवस्था–इसमें दूषित रक्त से मस्तिष्कगत केन्द्रों का कार्यघात हो जाता है और रोगी की संन्यस्त होकर मृत्यु हो जाती है।

सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराम्बु वा।
मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥३२॥
वमतः कोष्ठशुद्धिः स्याद्धूमगन्धश्च नश्यति।
विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥३३॥
दाहमूर्च्छातृडाध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः।
मधुरैर्लवणाम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥३४॥

---

[1] °त्वक्कपालैर्वा.

[1] इत्येष.

सम्यग्गृह्णातीन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति ।
शिरोविरेचनं चास्मै दद्याद्योगेन शास्त्रवित् ॥३५॥
दृष्टिर्विशुध्यते चास्य शिरोग्रीवं च देहिनः ।
अविदाहि लघु स्निग्धमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥३६॥

घृत, ईख का रस, द्राक्षारस, दूध, शरबत या मधुराम्ल अन्य रस वमन के लिये पिलावे ॥३२॥ वमन से कोठे की शुद्धि होती है और धूम का गन्ध भी नष्ट होता है। इसी विधि से रोगी की थकान, छींक, ज्वर, दाह, बेहोशी, तृषा, अफारा, श्वासकृच्छ्र, खांसी इत्यादि दारुण विकार नष्ट हो जाते हैं। मधुर, लवण, अम्ल और कटुक रस के कुल्ले करने से ज्ञानेन्द्रिय का ज्ञान ठीक हो जाता है और चित्त भी प्रसन्न होता है। शास्त्र जानने वाला वैद्य फिर उसको योग्यमात्रा में शिरोविरेचन देवे। इससे रोगी की दृष्टि ठीक हो जाती है और सिर तथा गला भी साफ हो जाता है। और रोगी को आहार शीतल, हलका और स्निग्ध देना चाहिये ॥३३-३६॥

वक्तव्य—धूमोपहत की आधुनिक चिकित्सा–रोगी को धूम स्थान से उठा कर खुली हवा के स्थान में रखना चाहिये। गला और छाती पर तंग कपड़े हों तो उनको निकालना चाहिये या ढीले कर देना चाहिये। कृत्रिम प्रश्वास (Artificial respiration) करना चाहिये। इस की पद्धतियां आगे २७ वें अध्याय में जलमृत की चिकित्सा की टीका में वर्णन की जायँगी। उसके साथ साथ शुद्ध प्राणवायु भी सूँघने के लिये मिल सके तो देना चाहिये। जीभ पकड़ कर बीच-बीच में खींचना चाहिये। छाती और मुख पर ठंडे और गरम पानी का छिड़काव करना चाहिये। सूंघने के लिये अमोनिया (Ammonia) जैसा तीव्र शिरोविरेचन देना चाहिये। छाती की फ्रेनिक नाड़ी (Phrenic nerve) बिजली की सहायता से उत्तेजित करनी चाहिये। यदि रोगी की स्थिति दुःसाध्य मालूम हो तो सिरा वेधकर ४०–८० तोले तक खराब खून निकाल कर उतना ही नमक का पानी सिरा द्वारा शरीर में डालना चाहिये। सतकुचला जैसी हृदयोत्तेजक औषधि की सुई लगानी चाहिये और हाथ-पैरों को गरम सेक करना चाहिये। कृत्रिम प्रश्वसन की क्रिया हृदय की गति बंद होने के पश्चात् दो तीन मिनट तक करते रहना चाहिये।

उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्यो विधिः सदा ।
शीतवर्षानिलैर्दग्धे स्निग्धमुष्णं च शस्यते ॥३७॥
तथाऽतितेजसा दग्धे सिद्धिर्नास्ति[1] कथंचन ।
इन्द्रवज्राग्निदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत् ॥
स्नेहाभ्यङ्गपरीषेकैः प्रदेहैश्च तथा भिषक् ॥३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्निकर्मविधि-
र्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

लू और धूप से पीड़ित हुए को शीतल क्रिया करनी चाहिये। ठंडी हवा और वर्षा से पीड़ित हुए को स्निग्ध और गरम चिकित्सा करनी चाहिये ॥३७॥ तथा अति तेजयुक्त इन्द्रवज्र से दग्ध मनुष्य की (चिकित्सा में) सिद्धि नहीं हो सकती। परंतु वह भी यदि कुछ समय तक जीवित रहे तो वैद्य स्नेहाभ्यंग, परिषेक और प्रलेप आदि से उसका प्रतिकार करने की चेष्टा करे ॥३८॥

वक्तव्य—उष्णवातातपदग्ध रोग को अँग्रेजी में हीट स्ट्रोक, सन स्ट्रोक, हीट अपोप्लेक्सी या थर्मिक फीवर (Heat stroke, Sun stroke, Heat apoplexy, Thermic fever) कहते हैं। यह रोग उष्ण प्रदेशों में ग्रीष्मकालिक अतिप्रचण्ड सूर्य के ताप से या अग्निज्वालादि के अतितीव्र ताप से उत्पन्न होता है। जब तक वायुमण्डल का ताप ११० फा. से अधिक न हो और वायु अत्यंत स्तब्ध और आर्द्र (Humia) न हो तब तक यह रोग नहीं होता है। इस रोग के होने में श्रमाधिक्य, थकावट, मलावरोध, अधिक और भारी कपड़ों का पहनना, मद्यसेवन, विषम ज्वरादि से उत्पन्न हुई दुर्बलता, सिर और ग्रीवा पश्चाद्‌भाग पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ना (Exposure) इत्यादि कारण सहायक होते हैं। इन सहायक कारणों से तथा बाह्य उष्णता से मस्तिष्क सुषुम्नागत उष्णता-नियामक केंद्र (Heat regulating mechanism) के कार्य में बिगाड़ उत्पन्न होकर शरीर की उष्णता बढ़ने लगती है। रोगी बहुधा अकस्मात् मूर्च्छित हो जाता है। परंतु कभी कभी प्रारंभ में सिरदर्द, हल्लास, वमन, बेचैनी आदि लक्षण होते हैं और तत्पश्चात् रोगी मूर्च्छित हो जाता है। श्वास घुर्घुरयुक्त (Sterterous), नाड़ी दुर्बल क्षीण और शीघ्र हो जाती है। त्वचा शुष्क और उष्ण होती है। शरीर की उष्णता १०८-११२ फै. तक बढ़ती है और यदि शीघ्र ही चिकित्सा न की जाय तो कुछ घंटों तक रोगी संन्यस्त अवस्था में रह कर मर जाता है। शीतः कार्यो विधिः सदा—रोगी को तत्काल किसी ठंडे स्थान पर ले जाकर उसके कपड़े उतार कर नग्न करना चाहिये। तत्पश्चात् उसके सिर पर बर्फ की थैली रखनी चाहिये। शरीर पर बर्फ के मोटे मोटे टुकड़ों से रगड़ना चाहिये या हिमजलार्द्र वस्त्र से शरीर लपेटना चाहिये। इन उपायों से यदि शरीर की उष्णता कम न हो तो शीतजल की बस्ति भी देनी चाहिये। जब शरीर की उष्णता १०२ फा. तक उतर जाती है। तब शीतोपचार कम करना चाहिये। शीतवातातपदग्ध—इस अवस्था को अँग्रेजी में फ्रास्ट बाईट (Frostbite) कहते हैं। शीतप्रदेश में शिशिर ऋतु के समय हिम तुषारयुक्त अति शीत वायु चलने से हाथ-पैरों में रक्तप्रवाह कम होने के कारण तथा नासा और कर्ण में खुले रहने के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है। इस अवस्था में उक्त अवयवों की त्वचा ही अधिक विकृत होती है। अवयव सिकुड़ा हुआ, कठिन और मोम की भांति दिखाई देता है परंतु उसमें वेदना नहीं होती। इसमें एकाएक रक्तप्रवाह शुरू होने से तीव्र वेदना शुरू होती है और शोथयुक्त कोथ (Inflammatory gangrene) भी होता है। चिकित्सा—शीतदग्ध भाग का रक्त वाहिनियों में जम जाता है, उसको प्रवाहित करना चाहिये। इसके लिये दग्धस्थान पर घर्षण करके धीरे-धीरे उष्णता उत्पन्न करना अधिक प्रशस्त है। यदि अकस्मात् दग्ध भाग उष्ण किया जाय तो रक्तप्रवाह एकाएक शुरू हो कर शोथयुक्त कोथ उत्पन्न होने की संभावना होती है। पहले रोगी को ठंडे कमरे में रखकर धीरे धीरे कमरे की उष्णता

---

[1] सिद्धिर्नैकान्तिकी मता.

बढ़ानी चाहिये। जब थोड़ी प्रतिक्रिया शुरू होती है, तब उसको उष्णपेय भी देना चाहिये। कृत्रिम उष्णता का उपयोग दग्ध भाग पर गरम करने के लिये कभी भी नहीं करना चाहिये। अन्त में उसको उन या अन्य गरम कपड़े में लपेट कर रखना चाहिये। अतितेजसा दग्धे—आकाशविद्युत् से (Lightening) जल जाना। आकाशविद्युत् के तीव्राघात से मस्तिष्कवात (Neuro paralysis) होकर तुरंत मृत्यु हो जाती है। यदि आघात मध्यम या सौम्य हो तो शरीर जल जाने के अतिरिक्त स्मृतिनाश, अंगवध, दृष्टिमान्द्य, अपस्मार, पागलपन इत्यादि चिरकालीन परिणाम शरीर पर हुआ करते हैं। कृत्रिम विद्युत् (Electricity) के भी स्वाभाविक विद्युत् जैसे परिणाम होते हैं।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायामग्निकर्मविधिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

अथातो जलौकावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से जोंक लगाने की विधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—जलौका—जोंक। अँग्रेजी में जोंक को लीच या हिरुडू (Leech, Hirudu) कहते हैं। अवचारण—उपयोग विधि। जलौका के सिवाय इस अध्याय में शृङ्ग और अलाबू का भी थोड़ा उपयोग वर्णन किया है।

नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः ॥२॥

राजा, धनाढ्य, बालक, वृद्ध, डरपोक, दुर्बल, स्त्री तथा अन्य कोमलप्रकृति मनुष्यों के अनुग्रह (दयापूर्वक रोगनिवृत्ति) के लिये जोंक से रक्त निकालने का उपाय सब से अधिक मृदु (मशहूर) है ॥२॥

वक्तव्य—अनुग्रहार्थम्—उपकारार्थम्। परम सुकुमार—शस्त्रादि द्वारा प्रच्छान सिरावेध करके रक्त निकालना असुकुमार विधि है, शृङ्ग और अलाबू द्वारा निकालना सुकुमार विधि है और जलौका द्वारा निकालना परम सुकुमार विधि होती है।

तत्र वातपित्तकफदुष्टशोणितं यथासंख्यं शृङ्गजलौकोलाबुभिरवसेचयेत्, (स्निग्धशीतरूक्षत्वात्;) सर्वाणि सर्वैर्वा ॥३॥

वात, पित्त और कफ से बिगड़े हुए रक्त को यथाक्रम शृङ्ग, जलौका और तुंबे से निकाले। क्योंकि शृङ्ग स्निग्ध, जलौका शीत और तुंबा रूखा होता है। अथवा सब स्थानों में सब से काम ले सकते हैं ॥३॥

वक्तव्य—केवल वातादि दोषों के अनुसार, नहीं तो दूषित रक्त की स्थिति तथा व्यापक स्थान के अनुसार भी शृङ्ग, जलौका और अलाबू का भिन्न भिन्न उपयोग हुआ करता है। अष्टाङ्गहृदय में लिखा है—प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः। हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापिसिराव्यधैः। प्रच्छानं पिंडिते वा स्यादवगाढे जलौकसः। त्वक्स्थेऽलाबुघटिशृङ्गं, सिरैव व्यापकेऽसृजि॥ सर्वाणि सर्वैर्वा—यदि दोष वा स्थान के अनुरूप शृङ्गादि न मिल सके अथवा रोगी की दृष्टि से शृङ्गादि में से कोई उपाय विशेष प्रशस्त मालूम हो तो दोषों का विचार न करके उसी के द्वारा रक्त निकालना चाहिये। यथा बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ इत्यादि सुकुमारों के लिये दोषों का विचार न करके जोंक का ही उपयोग करना अधिक योग्य होता है। 'सर्वाणि सर्वैर्वा' इससे सूत्र दो और तीन में जो विरोध दिखाई देता है, उसका परिहार होता है।

भवन्ति चात्र—

उष्णं समधुरस्निग्धं गवां शृङ्गं प्रकीर्तितम्।
तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥४॥
शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसंभवा।
तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने ॥५॥
अलाबु कटुकं रूक्षं तीक्ष्णं च परिकीर्तितम्।
तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥६॥

गाय का सींग उष्ण, मधुर और स्निग्ध होता है। इसलिये वातदूषित रक्त सींग से निकालना अच्छा है ॥४॥ जोंक जल में उत्पन्न हुई और शीत स्थान में रहनेवाली होती है। इसलिये पित्तदूषित रक्त जोंक से निकालना अच्छा है ॥५॥ तुंबी कड़वी, रूखी और तीक्ष्ण होती है। इसलिये कफदूषित रक्त तुंबी से निकालना अच्छा है ॥६॥

तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलसूत्रावनद्धेन शृङ्गेण शोणितमवसेचयेदाचूषणात्, सान्तर्दीपयाऽलाब्वा ॥

रक्त निकालने के स्थान पर (नशतर से) प्रच्छान लगा कर सींग के मुख में बारीक कपड़ा सूत्र से बांधकर उस सींग से (मुखद्वारा) चूस के रक्त निकाले। (तुंबी से निकालना हो तो) उसके भीतर जलती हुई बत्ती रख के निकाले ॥७॥

वक्तव्य—तनुवस्त्रपटलसूत्रावनद्धेन—सींग के मुख पर कपड़ा चूषण के समय रोगी की त्वचा और सींग के किनारे के बीच से वायु का प्रवेश रोकने के लिये रक्खा जाता है। चूषण के लिये सींग के भीतर कुछ निर्वात स्थिति (Partial vacuam) होना आवश्यक है। यह स्थिति मुख द्वारा भीतर की वायु खींचने से उत्पन्न होती है। सान्तर्दीपयाऽलाब्वा—सींग में दोनों ओर छेद होने के कारण चूसने के लिये मुख का उपयोग हो सकता है। परंतु अलाबू केवल एकमुखी होता है। इसलिये वहाँ प्रदीप का उपयोग करके चूषण कार्य किया जाता है। वायुमंडल की वायु में एक पंचमांश ($\frac{१}{५}$) भाग प्राणवायु और चार पंचमांश ($\frac{४}{५}$) भाग नैट्रोजन होता है। प्राणवायु को ही शार्ङ्गधर में विष्णुपदामृत कहा है और अँग्रेजी में आक्सीजन (Oxygen) कहते हैं—नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ यह प्राणवायु ज्वलन में

---

१ यज्जलौकसः.

१ तनुबस्तिपटलावनद्धेन.

उपयोगी होता है और इसके सिवाय ज्वलनकर्म नहीं हो सकता। तुंबी के भीतर प्रदीप रखने से जो प्राणवायु भीतर होती है, वह ज्वलन कर्म में नष्ट हो जाती है और कुछ निर्वात स्थिति उत्पन्न होती है। जब प्राणवायु खतम हो जाती है, तब भीतर का दीप भी आप से आप बुझ जाता है। दीप के स्थान में कपूर का उपयोग भी कर सकते हैं। घटिका का उपयोग भी भीतर ज्वलन करके ही होता है।

जलमासामायुरिति जलायुकाः, जलमासामोक इति जलौकसः ॥८॥

जलौका शब्द की निरुक्ति—जल है आयु यानि जीवन जिन का, इससे इनका नाम जलायुका है। या जल है ओक यानि स्थान जिनका, इस हेतु भी इन्हें जलौका कहते हैं ॥८॥

ता द्वादश; तासां सविषाः षट्, तावत्य एव निर्विषाः ॥९॥

जोंक बारह प्रकार की होती हैं—उन में से छः प्रकार की सविष और छः प्रकार की निर्विष होती हैं ॥९॥

तत्र सविषाः—कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति। तासु, अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा; वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः कर्बुरा; रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दा; इन्द्रायुधवदूर्ध्वराजिभिश्चित्रिता इन्द्रायुधा; ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतिचित्रा सामुद्रिका; गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचन्दनेति। ताभिर्दष्टे पुरुषे दंशे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र महागदः पानालेपननस्यकर्मादिषूपयोज्यः। इन्द्रायुधादष्टमसाध्यम्। इत्येताः सविषाः सचिकित्सिता व्याख्याताः ॥१०॥

विषयुक्त जलौका ये हैं—कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना। उनमें से कज्जल के चूर्ण समान काली और बड़े सिर वाली कृष्णा होती है। वर्मिमत्स्य की तरह लंबी और कुक्षि पर ऊँची धारियों वाली कर्बुरा होती है। लोमयुक्त, बड़ी पांशूवाली और काले मुख वाली अलगर्दा होती है। इन्द्रधनुष के वर्ण के समान चित्रविचित्र धारियां जिस पर हों, वह इन्द्रायुधा होती है। किंचित् काली तथा पीली और कई रंग के बिन्दुयुक्त फूल के समान चित्रित सामुद्रिका होती है। बैल के अण्डकोश की भांति नीचे से दो फाँक सी जिसके हों और मुख छोटा रहे, वह गोचन्दना होती है। इन विषयुक्त जलौकाओं से दष्ट पुरुष में दंशस्थान पर शोथ तथा अत्यंत खुजली होती है और ज्वर, दाह, वमन, मद, मूर्च्छा, थकावट ये लक्षण होते हैं। इस विष की शान्ति करने के लिये महागद नामक ओपधि का उपयोग पान, लेप, नस्य इत्यादि कर्मों में करना चाहिये। इन्द्रायुध जलौका का दंश असाध्य होता है। इस प्रकार विषयुक्त जलौकाएँ उनकी चिकित्सा के साथ वर्णन की गई ॥१०॥

वक्तव्य—वर्मिमत्स्य—सर्पाकार मत्स्य। अन्ये रोहितमत्स्यमाहुः। महागद–कल्पस्थान में सर्पदष्टविषचिकित्सित अध्यायोक्त–त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः। कटुत्रिकं चैव विचूर्णितानि शृंगे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥ इस अगद का उपयोग पान, लेपन नस्य कर्म के सिवाय अभ्यंजन अञ्जन के लिये भी करना चाहिये।

अथ निर्विषाः—कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति। तत्र, मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा कपिला; किञ्चिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गाऽऽशुगा च पिङ्गला; यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शङ्कुमुखी; मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका; मुद्गवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा पुण्डरीकमुखी; स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा सावरिका, सा च पश्वर्थे; इत्येता अविषा व्याख्याताः ॥११॥

निर्विष जलौका ये हैं—कपिला, पिंगला, शंकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका। उनमें से मनःशिला के समान रंग वाले जिस के पखवाड़े होते हैं और पीठ चिकनी मूंग के रंग समान होती है, वह कपिला है। किंचित् रक्तवर्ण, गोल, पिङ्गलवर्ण और शीघ्र चलने वाली पिंगला है। यकृत् के समान काले वर्ण वाली, शीघ्र रक्त पीने वाली, बड़े और तीक्ष्ण मुख वाली शंकुमुखी होती है। मूषिक लांगूल के समान आकृति और वर्ण वाली, दुर्गंधयुक्त मूषिका होती है। मूंग के रंग समान हरिद्वर्ण और कमल के समान विस्तीर्ण मुख वाली पुण्डरीकमुखी होती है। चिकनी पद्मपत्र के समान वर्णवाली अठारह अँगुल लंबी सावरिका होती है। यह सावरिका पशुओं का रक्त निकालने के काम में आती है। इस प्रकार ये निर्विष जलौकाएँ वर्णन की हैं ॥११॥

वक्तव्य—मूषिकाकृतिवर्णा–मूषिकलांगूलाकृतिवर्णा। (हाराणचन्द्रः)। मूषिका लांगलाकृतिस्तद्वर्णा चेति। (चक्र०)। अष्टांगसंग्रह में जलौका का निम्न वर्णन अधिक मिलता है। जलौका अधिक से अधिक अठारह अँगुल लंबी होती है। उनमें चार, पाँच या छः अँगुल लंबी मनुष्यों में उपयुक्त होती है और इससे अधिक लंबी पशुओं में उपयुक्त होती है। जोंक में स्त्री और पुरुष दो भेद होते हैं। पुरुष जोंक का उपयोग चिरकालीन और बहुदोषयुक्त रोगों में और स्त्री जोंक का उपयोग अचिरकालीन और अल्पदोषयुक्त रोगों में करना चाहिये—सर्वासां च परं प्रमाणमष्टादशाङ्गुलानि। तत्र चतुष्पञ्चषडङ्गुला नृषु योजयेत्। गजवाजिष्वपराः। तासु सुकुमारास्तनुत्वचोऽल्पशिरस्का बृहदधरकायाश्च स्त्रियः॥ विपरीताः पुमांसोऽर्धचन्द्राकृतिपुरोवृत्ताश्च। तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुमांसो योजयितव्याः। स्त्रियो विपरीतेषु।

तासां यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि; तेषु महाशरीरा बलवत्यः शीघ्रपायिन्यो महाशना निर्विषाश्च विशेषेण भवन्ति ॥१२॥

यवन, पाण्ड्य, सह्य और पौतन जलौका के क्षेत्र होते हैं। इन देशों (के जलाशयों) में जो जलौकाएँ मिलती हैं, वह आकार

में बड़ी, बलवान्, शीघ्र रक्त चूसने वाली और अधिक रक्त पीने वाली तथा विशेषता से निर्विष होती हैं ॥१२॥

वक्तव्य—यवन—तुरुष्क देश, तुर्कस्थान । पाण्ड्य—मद्रास प्रान्त में चोल देश के नैर्ऋत्य का एक प्रदेश । सह्य—नर्मदा तीर समीपस्थ सह्यपर्वत । पौतन—मथुरा प्रदेश । महाशना—जलौका साधारणतया आधा से पौन तोला रक्त (१–२ ड्राम) प्रत्येक समय चूसती है । जो अधिक से अधिक रक्त प्रत्येक समय चूसती है और अनेक बार चूसने के लिये तत्पर होती है ।

तत्र, सविषमत्स्यकीटदर्दुरमूत्रपुरीषकोथजाताः कलुषेष्वम्भःसु च सविषाः; पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकशैवलकोथजाता विमलेष्वम्भःसु च निर्विषाः ॥१३॥

भवति चात्र—

क्षेत्रेषु विचरन्त्येताः सलिलाढ्यसुगन्धिषु ।
न च संकीर्णचारिण्यो न च पङ्केशयाः सुखाः ॥१४॥

जलौका में से जो विषैले मत्स्य, कीड़े, मेंढक के सड़े गले मलमूत्र में तथा खराब पानी में उत्पन्न होती हैं, वह विषयुक्त होती हैं । जो पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, कुवलय, पुण्डरीक, शैवल—इनके कोथ से तथा निर्मल जल में उत्पन्न होती हैं, वह निर्विष होती हैं । ये निर्विष और सुखकारक जलौकाएँ जहाँ निर्मल जल और सुगन्धित पदार्थों की भरमार होती है ऐसे क्षेत्रों में विचरती हैं, विषैले पदार्थों का सेवन नहीं करतीं तथा कीचड़ में वास नहीं करतीं ॥१४॥

वक्तव्य—वाग्भट में मूत्रपुरीष कोथ के सिवाय मत्स्यादिक के शवकोथ से भी विषयुक्त जलौका की उत्पत्ति वर्णन की है—तत्र दुष्टाम्बुसर्पमण्डूकमत्स्यादिशवकोथमूत्रपुरीषजाः । पद्म—किंचित् श्वेतकमल । उत्पल—किंचित् नीलकमल । नलिन—किंचित् रक्तकमल । कुमुद—रक्तकमल । सौगन्धिक—चन्द्रोदयविकासी सुगन्धी कमल । कुवलय—रक्तकमल । न च संकीर्णचारिण्यः—न विषादिविरुद्धाहारभुजः शैवलाद्यशनत्वात् ॥

तासां ग्रहणमार्द्रचर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णीयात् ॥१५॥

इन जोंकों को गीले चमड़े से या अन्य उपायों से पकड़े ॥१५॥

वक्तव्य—ग्रहण—इनका ग्रहण शरद् ऋतु में करना प्रशस्त है । अन्यैर्वा प्रयोगैः—सद्योहत जन्तुमांसपेशी—नवनीतघृतक्षीराद्यभ्यक्तजङ्घाद्यवयवैर्वा । (डल्हण) ।

अथैनां नवे महति घटे सरस्तडागोदकपङ्कमावाप्य निदध्यात्; भक्ष्यार्थे चासामुपहरेच्छैवलं वल्लूरमौदकांश्च कन्दांश्चूर्णीकृत्य; शय्यार्थं तृणमौदकानि च पत्राणि; त्र्यहात्त्र्यहाच्चाभ्योऽन्यज्जलं भक्ष्यं च दद्यात्; सप्तरात्रात् सप्तरात्राच्च घटमन्यं संक्रामयेत् ॥१६॥

फिर इनको नवीन बड़े घड़े में सरोवर तालाब का जल और कीचड़ भरकर उसमें रख ले । खाने के लिये शैवाल, सूखा मांस और जलकंद चूरा करके दे । सोने के लिये तृण और (कमलादि) जलज ओषधियों के पत्ते रक्खे । प्रत्येक दूसरे या तीसरे दिन जल और खाद्य नवीन डालता रहे और प्रत्येक सातवें दिन इनको नवीन घड़े में बदलता रहे ॥१६॥

वक्तव्य—मलमूत्र लालादिक के कोथ से जोंकों की रक्षा करने के लिये उनको नये नये घड़ों में पांच या सात दिन के पश्चात् रखना चाहिये—अन्यत्राऽन्यत्र ताः स्थाप्या घटे मृत्स्नांबुगर्भिणी । लालादिकोथनाशार्थं सविषाः स्युस्तदन्वयात् ॥

भवति चात्र—

स्थूलमध्याः परिक्लिष्टाः पृथ्व्यो मन्दविचेष्टिताः ।
अग्राहिण्योऽल्पपायिन्यः सविषाश्च न पूजिताः ॥१७॥

जो जोंक बीच में मोटी, देखने में भद्दी, अधिक लंबी, मंद चलने वाली, न चिमटने वाली, अल्प रक्त पीने वाली और विष युक्त होती हैं, वह (रक्त निकालने के काम में) अप्रशस्त हैं ॥१७॥

वक्तव्य—परिक्लिष्टाः—अमनोज्ञदर्शना, किंवा ग्लान श्रान्त या क्लान्त ।

अथ जलौकोवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा, विरूक्ष्य चास्य तमवकाशं मृद्गोमयचूर्णैर्यद्यरुजः स्यात् । गृहीताश्च ताः[1] सर्षपरजनीकल्कोदकप्रदिग्धगात्रीः सलिलसरकमध्ये[2] मुहूर्तस्थिता विगतक्लमा ज्ञात्वा ताभी रोगं ग्राहयेत् । श्लक्ष्णशुक्लार्द्रपिचुप्रोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्; अगृह्णन्त्यै क्षीरबिन्दुं शोणितबिन्दुं वा दद्याच्छस्त्रपदानि वा कुर्वीत; यद्येवमपि न गृह्णीयात्तदाऽन्यां ग्राहयेत् ॥१८॥

जलौका लगाने की विधि—जलौकाओं से रक्त निकालने योग्य रोगी को बिठाकर या लिटाकर उसका रक्त निकालने का स्थान यदि व्रणयुक्त न हो तो मिट्टी और गोबर के चूर्ण से रूखा करे । फिर पकड़ी और पाली हुई जोंकें सरस और हलदी के कल्क से प्रदिग्ध करके जलयुक्त पात्र में थोड़े समय तक रख छोड़े । उनकी ग्लानि दूर हुई जानकर रोग के स्थान पर लगावे । (लगाते समय) जलौका का शरीर बारीक सफेद गीले कपड़े से लपेटना और मुख खुला रखना चाहिये; (रोग के स्थान पर) नहीं लगे तो वहाँ दूध या रक्त का बूँद छोड़ दे अथवा नशतर से थोड़ा लेखन करे । यदि ऐसा करने पर भी नहीं लगे तो उसे छोड़कर दूसरी लगावे ॥१८॥

वक्तव्य—गृहीताश्च ताः—जहाँ तक हो सके, नई कोरी अव्यवहृत जलौका का उपयोग करना प्रशस्त होता है । क्योंकि दूषित (Septic) स्थान पर प्रयुक्त हुई जलौका पुनः उपयोग के समय अन्य स्थान पर दोष का संक्रमण कर सकती है । सलिलसरक—जलपात्र । रोगं ग्राहयेत्—रोग के स्थान पर लगावे । रोग से रोगाधिष्ठान अभिप्रेत है । जिस समय रोगाधिष्ठान के एक विशिष्ट बिन्दु पर जोंक लगाना है, उस समय उस स्थान पर पहले छेदयुक्त कागज ऐसा रख दे कि कागज का छेद अभीप्सित स्थान पर आ जाय । तब जोंक को उस स्थान पर छोड़कर लगावे । जब गला, गर्भाशयमुख तथा

---

[1] एतदग्रे 'मुद्गकल्कसंयुतेन सलिलेन प्रक्षाल्य' इति क्वचिदधिकः पाठः. [2] °सरकमध्ये चारिष्य.

गुद इत्यादि संकट स्थान में जोंक लगाने की आवश्यकता होती है तब उसका भीतर प्रवेश रोकने के लिये उसे कांच की नलिका द्वारा लगाना चाहिये, जिस नलिका के एक द्वार से जोंक का केवल मुख प्रवेश कर सकता है।

यदा च निविशतेऽश्वखुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कन्धं तदा जानीयाद्गृह्णातीति; गृह्णन्तीं चार्द्रवस्त्रावच्छन्नां धारयेत् सेचयेच्च ॥१९॥

जब घोड़े के खुर के समान अपना मुँह स्कन्ध ऊँचा करके (त्वचा में) प्रवेश करे तो जान ले कि जोंक लग गई और जब लग गई तब उस पर गीला कपड़ा रख दे और जल टपका दिया करे ॥१९॥

दंशे तोदकण्डुप्रादुर्भावैर्जानीयाच्छुद्धमियमादत्त इति; शुद्धमाददानामपनयेत्; अथ शोणितगन्धेन न मुञ्चेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेनावकिरेत् ॥२०॥

जब दंशस्थान में दर्द और खुजली होने लगे तब जान ले कि अब जोंक शुद्ध रक्त चूसती । फिर शुद्ध रक्त चूसने वाली को छुड़ा ले। यदि रक्त के लालच से वह नहीं छोड़े तो उसके मुख पर सैंधव नमक का चूरा छिड़क दे ॥२०॥

वक्तव्य—शुद्धमियमादत्त इति—यह माना जाता है कि जोंक अपने विशेष प्रभाव से शुद्ध और दुष्ट रक्त के मिश्रण से पहले केवल दुष्ट रक्त का ही ग्रहण किया करती है—संपृक्ताद्दुष्टशुद्धास्राज्जलौका दुष्टशोणितम्। आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव ॥ (अष्टांगहृदय)। दंशकण्डुप्रादुर्भावैः—जब तक जोंक चिपटी रहती है, तब तक किंचित् वेदना और कण्डु सदैव होती रहती है। इसलिये जब विशेष अधिक रूप से वेदना और कण्डु होने लगेगी, तब समझना चाहिये कि अब शुद्ध रक्त का शोषण हो रहा है। अपनयेत–जोंक को खींच करके कभी भी दंशस्थान से नहीं छुड़ाना चाहिये। हरिद्राचूर्ण या लवणचूर्ण छिड़कने से छूट जाती हैं। शोणितगंधेन–शोणितलौल्यात्। आधुनिक जंतुशास्त्र से भी जलौका के शरीर में गंधेन्द्रिय का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिये 'शोणितगन्धेन' का अर्थ 'शोणितलौल्यात्' ऐसा करना उचित है। अष्टांगसंग्रह में भी ऐसा ही पाठ है—लौल्याच्च दंशममुञ्चन्त्याः क्षौद्रं लवणचूर्णं वा मुखे दद्यात्।

अथ पतितां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगात्रीं तैललवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां शनैः शनैरनुलोममनुमार्जयेदामुखात्, वामयेत् तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति । सम्यग्वान्ता सलिलसरकन्यस्ता भोक्तुकामा सती चरेत्। या सीदती न चेष्टते सा दुर्वान्ता, तां पुनः सम्यग्वामयेत् । दुर्वान्ताया व्याधिरसाध्य इन्द्रमदो (रक्तमदो) नाम भवति। अथ सुवान्तां पूर्ववत् सन्निदध्यात् ॥२१॥

जोंक छूट जाने के पश्चात् उसका शरीर चावल के कण्डन से और मुख तैल और लवण से मले। फिर बाँए हाथ की अँगुली और अँगूठे से पूँछ पकड़ कर दाहिने हाथ के अँगूठे और अँगुली से धीरे धीरे नीचे की मुख तक निचोड़ डाले और मुख से अच्छी तरह वमन के चिह्न आने लगें तब तक (इसी प्रकार निचोड़ कर) रक्त का वमन कराये। साफ वामित की हुई जोंक जलपात्र में छोड़ने पर खाने के लिये इधर उधर चलती है। जो तली में क्लान्त सी बैठ कर इधर उधर चलती नहीं, उसे दुर्वान्त समझे और फिर उसे (अच्छी तरह निचोड़ कर) वामित करे। सशेषरक्त जोंक को 'इन्द्रमद' नामक रोग हो जाता है। उत्तम प्रकार से वामित की हुई जोंक को पहले की भांति (जल के घड़े में) रख दे ॥२१॥

वक्तव्य—इन्द्रमद—यह एक जलौकाओं का रोग है, जो बार बार रक्त निकालने के लिये प्रयोग करने से तथा प्रत्येक समय दुष्ट रक्त का योग्य वमन न कराने से हो जाता है। वाग्भट में इस रोग का नाम रक्तमद दिया है—ता अप्यसम्यग्वमनात् प्रततं च निपातनात्। सीदन्तीः सलिलं प्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत् ॥ पूर्ववत् सन्निदध्यात्—सम्यक् वमन कराने के पश्चात् पहले की भाँति घड़े में रखना चाहिए। तत्पश्चात् कम से कम सात रोज के बीच में उसी जोंक का उपयोग रक्त निकालने के लिये नहीं करना चाहिये—सप्तरात्रं च ताः पुनर्न पातयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। यदि विकारी जीवाणुओं से दूषित स्थान में इनका उपयोग किया गया हो तो दूसरे समय इनका उपयोग रक्त निकालने के लिये न करना अधिक प्रशस्त है। अन्यथा पूर्व रोग का संक्रमण दूसरे रोगी पर होने की संभावना होती है।

शोणितस्य च योगायोगानवेक्ष्य शतधौतघृताभ्यङ्गस्तत्पिचुधारणं वा; जलौकोव्रणान् मधुनाऽवघट्टयेत्, शीताभिरद्भिश्च परिषेचयेद्बध्नीत वा, कषायमधुरस्निग्धशीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यादिति ॥२२॥

रक्तस्राव का योग तथा अयोग देखकर उसके अनुसार शतधौत घृत या उससे संयुक्त रुई का उपयोग करे या जलौका व्रणों पर मधु से घर्षण करे या ठंडा पानी छिड़के या व्रणों को बांध दे या उन पर कषाय, मधुर, स्निग्ध और शीत पदार्थों का लेप कर दे ॥२२॥

वक्तव्य—योगायोगान्—सम्यग्योग और हीनमिथ्यातियोग। सम्यग्योग में रक्तस्राव की राशि रोगी का बल, रक्तदुष्टि की तीव्रता तथा स्थानभिन्नता के अनुसार न्यूनाधिक हुआ करती है–बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा। रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥ (चरक)। सम्यग्योग में व्रणों पर शतधौत घृत प्रयोग करना चाहिये और हीनयोग में रुधिर स्रावण के लिये मधु तथा हरिद्रा और गुड़ से व्रणों का घर्षण करना चाहिये—अशुद्धौ स्रावयेद्दंशान् हरिद्रागुडमाक्षिकैः। (वाग्भट)। जलौका व्रणों पर निर्गुंडी या नीम की पत्ती का सेक करने से भी रक्त का स्रावण होता है। अतियोग—जलौका के प्रयोग में अतियोग होने की संभावना बहुत होती है। कारण यह है कि जोंक के सिर में कई छोटी छोटी ग्रंथियाँ होती हैं, जिनका रस व्रणों में पहुँचता है। इस रस में हिरुडिन (Hirudin) नामक एक द्रव्य होता है। इस द्रव्य में यह गुण है कि जब वह रक्त के साथ मिल जाता है तो रक्त शीघ्र नहीं जमता। जब जोंक रक्त चूसती है तो यह द्रव्य उसके लाला के साथ दंशस्थान में जाता है। यह द्रव्य यदि जोंक के मुख में न होता

तो चूसा हुआ रक्त उसके मुख में जम जाता और निगलने में दिक्कत होती। जब जोंक त्वचा से हटा दी जाती है, तब भी इस द्रव्य के व्रणस्थान पर मौजूद होने के कारण रक्त का बहाव शीघ्र बंद नहीं होता। उस अवस्था में बहाव बंद करने के लिये तथा रक्त जमाने में मदद करने के लिये शीत द्रव्य का परिषेक तथा व्रणबन्धन का उपयोग करना पड़ता है–शीतलजलपरिषेचनं बंधनं च जलौकोमुखपदस्य रक्तस्थित्यर्थम् । (डल्हण)। इन उपायों के सिवाय अंगुलिपीडन, कोलोडिअन (Collodion) और लोह परिहरिद (Iron perchloride) से आर्द्र रुई का प्रयोग, फिटकरी और क्षार का (यथा (Silver nitrate) प्रयोग अग्नितप्तशलाका का प्रयोग और टांका लगाना इनसे रक्त का प्रवाह बंद होता है। मिथ्यायोग–इसमें शेषरक्त प्रसादन के लिये कषाय मधुरादि द्रव्यों का लेप करना चाहिये–स्थितरक्तं चोत्क्लिष्टशोणितशेषप्रसादनाय कषायमधुरशिशिरैः सघृतैः प्रदेहैः प्रदिह्यात्। (अष्टांगसंग्रह)।

भवति चात्र—

क्षेत्राणि ग्रहणं जातीः पोषणं सावचारणम् ।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद्गदान् ॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने जलौकावचारणीयो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

जलौकाओं के रहने के देश, पकड़ने की विधि, उनकी जाति, पोषण तथा उनको लगाने की विधि जो वैद्य जानता है, वह ही जलौकाओं द्वारा साध्य रोगों को जीतता है ॥२३॥

वक्तव्य—जाति—जलौका जलवासी और स्थलवासी (Aquatic and Terres trial) दो प्रकार की होती हैं। रक्तावसेक के लिये केवल जलसंभन जलौका का ही उपयोग होता है। इसी लिये इस अध्याय के प्रारंभ में लिखा है—शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसंभवा। इसके सिवाय सविष और निर्विष ऐसे भी दो भेद हैं। अवचारणम्–यहाँ तक जोंक लगाने की विधि वर्णन की गई है। इस विधि में जिन उपयुक्त बातों का विचार नहीं हुआ है, उनका कुछ दिग्दर्शन यहाँ किया जायगा। (१) दंशस्थान पर स्वेद करने से रक्तावसेचन में सौकर्य प्राप्त होता है। इसलिये जहाँ आवश्यक हो, वहाँ जोंक लगाने के पहले उस स्थान को गरम पानी से धोना या उपनाह स्वेद (Poultice) करना प्रशस्त है। (२) जोंक लगाने के लिये सब से उत्तम काल सवेरे होता है। संध्या या रात्रि के समय उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि जोंक लगाने के पश्चात् रक्त का जो प्रवाह होता है, उसका खयाल रात्रि के समय नहीं हो सकता। (३) बालकों में युवा मनुष्यों की अपेक्षा अधिक रक्तस्राव होने की प्रवृत्ति होती है। इसलिये बड़ी सावधानता से ऐसे स्थान पर जोंक लगानी चाहिये कि जहाँ दबाव से रक्तप्रवाह बंद कर सकते हैं। यथा–हड्डी के ऊपर का भाग। तथा रात्रि के समय भी जोंक नहीं लगानी चाहिये। (४) जलौकाओं का प्रयोग सिरा, नेत्रपलक, स्तन, शिश्न, वृषण—इन मृदु स्थानों में नहीं करना चाहिये। क्योंकि सिरा से भयानक रक्तस्राव होने की भीति होती है और अन्य स्थानों में शोथ उत्पन्न होता है। (५) बाल्यावस्था में प्रत्येक दो साल आयु के लिये एक जोंक पर्याप्त होती है। युवावस्था में साधारणतया छः जोंक और अधिक से अधिक दस तक जोंक लगा सकते हैं। (६) जिस समय आवश्यक संख्या में जोंक नहीं मिल सकती, उस समय निम्न उपाय को अंगीकार करके थोड़ी जोंकों से अधिक जोंकों का कार्य हो सकता है। जोंक लगाने के बाद जब वह रक्त से करीब परिपूर्ण हो जाती है, उस समय उसकी पूँछ के पास सूची द्वारा छेद करना। इससे एक तरफ जोंक रक्त चूसती रहती है और दूसरी तरफ रक्त का प्रवाह होता रहता है। इस उपाय से जोंक रक्त से परिपूर्ण होने के पश्चात् हटाने की तथा उसको निचोड़ कर फिर लगाने की आवश्यकता नहीं होती। तत्साध्यगद—जलौका शोथनिवारक (Anti phlogistic) और रक्तसंचयहारक होती है, जो स्थानीय रक्तहरण करके ये कार्य किया करती है। जलौका ग्रंथियां, आवरक कला (Serous membrane), त्वचा, अस्थि—इनके शोथ में बहुत लाभ करती है। इसलिये फुफ्फुसशोथ (Pneumonia), फुफ्फुसावरणशोथ (Pleurisy), हृच्छोथ (Myocarditis), हृदयावरणशोथ (Pericarditis), कर्णमूलग्रंथिशोथ (Parotitis), कर्णशोथ, यकृच्छोथ, मस्तिष्कशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis), संधिशोथ, गलान्तर्ग्रन्थिशोथ (Tonsillitis), विद्रधि, मोच, आघात से रक्त जम जाना–इन रोगों में इसका उपयोग किया जाता है। इनके सिवाय दुःसाध्य वमन कौड़ी प्रदेश पर जोंक लगाने से कभी कभी बंद हो जाता है। शिरःशूल कनपटी पर जोंक लगाने से बंद होता है। अतिसार तथा अर्श में गुदा के पास जोंक लगाने से कुंथन तथा वेदना कम हो जाती है। छाती तथा उदर के शूल में शूल के स्थान पर जोंक लगाने से आराम मिलता है। नेत्राभिष्यंद, श्वेतमण्डलशोथ (Scleritis), दृष्टियवनिकाशोथ (Iritis) इत्यादि नेत्र के रोगों में कनपटी पर अपांग (Outer canthus) के समीप जोंक लगाने से लाभ होता है। अष्टांगहृदय के निम्न (प्रक्षिप्त) श्लोक में जलौकासाध्य रोगों के नाम दिये हैं—गुल्मार्शोविद्रधिकुष्ठवातरक्तगलामयान् । नेत्ररुग्विषवीसर्पान् शमयन्ति जलौकसः ॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने जलौकावचारणीयो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

२१८५

अथातः शोणितवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शोणितवर्णनीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते ॥२॥

पञ्चभूतात्मक, चतुर्विध, षड्रसात्मक, द्विविध या अष्टविध

वीर्यात्मक और अनेकगुणात्मक यथाविधि भोजन किये हुए आहार का योग्य परिपाक होने से जो प्रसादस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म सार बनता है, वह रस कहलाता है ॥२॥

वक्तव्य—पांचभौतिक—पृथिव्यादि पञ्चभूत द्रव्ययुक्त—पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पांचभौतिकः ॥ चतुर्विध—पेय, लेह्य, भक्ष्य और भोज्य। षड्रस—मधुरादि षड् रस । द्विविधवीर्य—शीत और उष्ण वीर्य। अष्टविधवीर्य-शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण वीर्य । अनेक गुण—शीतादि बीस गुण—गुरुमन्द-हिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः । गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥ (अष्टांगहृदय) । उपयुक्तस्य—आहारविधिविधान के अनुसार भोजन किये हुए । तेजोभूतः—शुक्र या घृत की भाँति प्रसादांश । तत्र आहारप्रसादाख्यो रसः । (चरक) । परमसूक्ष्मः—यथाविधि सेवन किये हुए भोज्य पदार्थों का शोषण तथा सात्मीकरण के लिये दो बातों की अत्यन्त आवश्यकता होती है । पहली बात यह है कि उन पदार्थों का अत्यन्त सूक्ष्म कणों में भौतिक विघटन होना चाहिये । यह कार्य दाँतों से चर्वण, पाचक रसों का जलांश तथा आंत्र के आकुंचन से होता है । जो पदार्थ इस प्रकार महीन नहीं बनते हैं, वे पोषणयोग्य होते हुए भी शोषित नहीं हो सकते और अन्य त्याज्य पदार्थों के साथ गुदद्वार से बाहर निकल आते हैं । इसका कारण यह है कि इन खाद्य पदार्थों को शरीरपोषण के लिये आन्त्र की श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त में पहुँचना पड़ता है । इसलिये जो पदार्थ उस कला में से प्रवेश करने योग्य सूक्ष्म नहीं बनते हैं, उनका भोजन में होना या न होना बराबर है । सम्यक्परिणतस्य—दूसरी बात यह है कि इन खाद्य पदार्थों की सम्यक् परिणति या पचन होना आवश्यक होता है । यह पचन लाला, जाठर रस, पित्त, आन्त्र रस, अग्न्याशय रस—इनकी क्रिया से होता है । पचनक्रिया द्वारा मूल खाद्य पदार्थों का रासायनिक विश्लेषण होकर नये छोटे अणुवाले यौगिक बनते हैं, जो आन्त्र की श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त में पहुँचते हैं । इस प्रकार की विश्लेषण क्रिया के बिना शरीररूपी इमारत नहीं बन सकती है । इसका कारण यह है कि जो पदार्थ हम सेवन करते हैं, उनसे अत्यन्त भिन्न प्रकार के पदार्थ शरीर में होते हैं । जब तक खाद्य पदार्थों की छोटे अणुवाले यौगिकों में परिणति नहीं होती, तब तक शरीर के पदार्थ इनसे नहीं बन सकते । यदि एक पुराने मकान से नया मकान बनाना चाहें तो प्रथम पहले मकान का परिवर्तन ईंटें, चूना, मिट्टी इत्यादि यौगिकों में करना चाहिये । तत्पश्चात् उन में से नये मकान के लिये योग्य मसाले का उपयोग करके नया मकान बनाकर त्याज्य वस्तुओं को फेंक देना चाहिये । शरीर में ही खाद्य पदार्थों की परिणति होने के पश्चात् वे श्लैष्मिक कला में से रक्त में पहुँचते हैं । फिर इन परिणत पदार्थों से शरीर के सेल अपने विशिष्ट प्रकार के पदार्थ बना लेते हैं । परिणति के समय जो शरीर के लिये अयोग्य होते हैं, वे मलरूप में शरीर के बाहर उत्सर्गित होते हैं । रस—शरीरपोषण योग्य खाद्य पदार्थों का पाचक रसों द्वारा विश्लेषित अंश । रस का हृदय में पहुँचने का मार्ग—खाद्य पदार्थों में मांस-जातीय (Proteins), मेदजातीय (Fat) और शर्कराजातीय (Corbohydrates) पदार्थ अधिकांश होते हैं । इनके सिवाय जल और खनिज पदार्थ भी होते हैं । इनमें से मेदजातीय पदार्थों के रस का शोषण क्षुद्र आन्त्रस्थ रसांकुरों (Villi) द्वारा होकर वह रस प्रथम रसप्रपा (Cisterna chyli) में पहुँचता है । वहाँ से मुख्य रसकुल्या में से होकर अक्षाधरा सिरा में (Subclavian vein) रक्त के साथ मिलता है और उत्तरा महासिरा के द्वारा हृदय में पहुँच जाता है । मांस और शर्कराजातीय पदार्थों का रस प्रतिहारिणी सिरा के सूक्ष्म शाखाओं (Portal tributaries) में से होकर रक्त के साथ यकृत् में पहुँचता है । वहाँ इस रस के ऊपर यकृत् रस का कुछ कार्य होने के पश्चात् वह रस अधरा महासिरा (Inferior vene cava) द्वारा हृदय में मिलता है । खनिज पदार्थ और जल सिरा तथा लसिका वाहिनियों द्वारा हृदय में आते हैं । इस प्रकार आहार का रस दो भिन्न मार्गों द्वारा हृदय में पहुँचता है ।

तस्य च हृदयं स्थानं; स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा ॥३॥

उस रस का स्थान हृदय है । वह रस हृदय से चौबीस धमनियों में, जो दश ऊपर को, दश नीचे को और चार तिरछी गई हैं, प्रवेश कर किसी अज्ञात कर्म के प्रभाव से सारे शरीर को दिन प्रतिदिन तृप्त करता है, बढ़ाता है, धारण करता है, यापन करता है और सजीव रखता है ॥३॥

वक्तव्य—स्थान-रस निरन्तर गमनशील है-अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः । वह एक स्थान से चलकर शरीर भर में घूम घामकर पुनः वहीं लौट आता है, एक जगह नहीं ठहरता । परिभ्रमण का प्रारंभ शरीर के एक विशिष्ट स्थान से होता है और उसी स्थान पर रस फिर लौटकर आता है । परिभ्रमण के लिये शक्ति भी उसी स्थान से मिलती है । इसलिये स्थान का अर्थ परिभ्रमण, प्रारंभ का स्थान तथा परिभ्रमण के लिये शक्तिदायक स्थान करना चाहिये । चतुर्विंशतिधमनीः—हृदय से निकलने वाली चौबीस धमनियों का विवरण शारीरस्थान के धमनीव्याकरण अध्याय में किया गया है । प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से हृदय से केवल एक महाधमनी (Aorta) निकलती है, जिससे सर्व शरीर के लिये छोटी मोटी करीब छत्तीस शाखाएँ निकलती हैं । अदृष्टहेतुकेन कर्मणा—प्राक्तनकर्मणा । पूर्वकर्मप्रभाव के अनुसार रस शरीरपोषण का कार्य किया करता है । जब पूर्वकर्म नष्ट हो जाता है, तब रस से शरीर का धारण नहीं होता और मृत्यु हो जाती है । मरणं प्राणिनां दृष्टमायुःपुण्योभयक्षयात् । (वाग्भट) ।

तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्गतिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः । तस्मिन् सर्वशरीरावयवदोषधातुमलाशयानुसारिणि रसे जिज्ञासा-किमयं सौम्यस्तैजस ? इति । अत्रोच्यते—स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते ॥४॥

(सारे) शरीर में परिभ्रमण करने वाले उस रस की गति (शरीर की) क्षति, वृद्धि और विकृति के द्वारा अनुमान से

जाननी चाहिये । उस समस्त शरीर के अंग प्रत्यंग, दोष, धातु, मल और आशयों में पहुँचने वाले रस के संबंध में यह जिज्ञासा होती है कि यह रस सौम्य है या आग्नेय? इसमें यह कहा जा सकता है कि रस द्रव, भ्रमणशील, स्निग्ध, जीवनीय, तृप्तिकारक और धारक इत्यादि विशेष गुणों से सौम्य ही प्रतीत होता है ॥४॥

वक्तव्य—शरीर के भीतर अत्यंत सूक्ष्म रस की गति का ज्ञान दर्शनेन्द्रिय से नहीं होता । अतः रसगति की सत्यता सिद्ध करने के लिये दूसरा प्रमाण अनुमान पेश किया है । क्षयवृद्धिवैकृतैः—शरीर या शरीर के एक भाग का क्षय होने से रसगति का हीनयोग, शरीर की वृद्धि होने से सम्यग्योग और संपूर्ण शरीर में या एक भाग में विकृति होने से गति का अयोग या मिथ्यायोग समझना चाहिये । क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसो सज्जति यत्र सः । तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥ यदि रस गतिमान् नहीं होता तो अनाहार से शरीर का क्षय नहीं होता । यथाविधि आहार करने से शरीर की वृद्धि नहीं होती और रस की गति कुंठित होने पर विकार होने की आवश्यकता नहीं थी । जब क्षय, वृद्धि और विकृति शरीर में प्रत्यक्ष है, तब इनका कारणस्वरूप रस भी अनुमान से गतिमान् है । मल—मूत्र, शकृत्, स्वेद । आशय—ये पुरुषों में सात और स्त्रियों में आठ होते हैं—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशय, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति । धातु—रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः । ✓

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति ॥५॥

भवतश्चात्र[१]—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥६॥

वह जलरूप रस यकृत् और प्लीहा में प्राप्त होकर लाल हो जाता है ॥५॥ मनुष्यों के शरीर में रहने वाले विशुद्ध तेज से लाल हुआ यही प्रसादरूप अन्नरस रक्त कहलाता है ॥६॥

वक्तव्य—उपर्युक्त वर्णन के अनुसार रस और रक्त का संबंध निम्न समीकरण से प्रदर्शित किया जा सकता है—आप्यरस+रंजकद्रव्य=रक्त । अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा रक्त की परीक्षा करने पर रक्त के दो भाग दिखाई देते हैं । (१) तरल भाग, इसको रक्तरस (Plasma) कहते हैं । यह एक हलके पीले रंग का रस होता है । इसमें शरीरपोषक पदार्थ, त्याज्य पदार्थ, आक्सीजन, कार्बन डायोक्साईड, खनिज पदार्थ, शरीररक्षक पदार्थ मिले हुए रहते हैं । (२) रक्तकण—ये कण तीन प्रकार के होते हैं—लाल कण, श्वेत कण और सूक्ष्म कण (Platelets) । इनमें लाल कणों की संख्या श्वेत कणों से बहुत अधिक होती है और इन ही के कारण रक्त का वर्ण लाल होता है । अलग अलग कणों का रंग पीला सा होता है । परंतु जब बहुत से कण इकट्ठे हुए देखे जाते हैं, तब रंग लाल दिखाई देता है । ये कण आकार में गोल चपटे निम्नमध्य होते हैं । इनकी मोटाई $\frac{१}{३२००}$ इंच होती है । एक घन सहस्रांश मीटर (जो एक बूंद के साठवें अंश के बराबर होता है) रक्त में इनकी संख्या ५४००००० होती है और सर्व शरीर में २५००००००००००००० होती है । यह एक केवल अनुमान है । इसमें प्रकृति वयोमान के अनुसार करोड़ों का फर्क हो सकता है । इन कणों के भीतर एक रंग होता है और इसी रंग के कारण ये कण तथा रक्त भी लाल रंग का दिखाई देता है । इसको कणरंजक या 'हीमोग्लोबीन' कहते हैं । यह ग्लोबीन (Globin) नामक प्रोटीन और हीमाटीन (Haematin) नामक रंगद्रव्य का एक योगिक है । इस में कार्बन, हायड्रोजन, आक्सीजन, नायट्रोजन और लोहा भी होता है । यह रंगद्रव्य आक्सीजन वायु से रासायनिक प्रीति रखता है और रक्त की शुद्धि करके शरीर का स्वास्थ्य चिरंतन करता है । रंजकद्रव्य की उत्पत्ति—आयुर्वैदिक कल्पना के अनुसार रस का रंजन रंजक पित्त से होता है । इस रंजक पित्त का स्थान यकृत् और प्लीहा है—रञ्जकं तु यकृत्प्लीह्नोस्तद्रसं शोणितं नयेत् । पाश्चात्त्य परिभाषा की दृष्टि से इस का अर्थ यह है कि रक्तकणों की उत्पत्ति यकृत् प्लीहा में हुआ करती है । शरीरकार्य विज्ञान में इस विषय की बहुत खोज करने के पश्चात् यह निश्चित हुआ है कि जन्मोत्तर मनुष्य के शरीर में लाल कणों की उत्पत्ति रक्तमज्जा (Red marrow) में होती है । यह रक्तमज्जा विशेष कर कशेरु, उरःफलक, पर्शुक और कपाल की अस्थि में होती है । यकृत् और प्लीहा में रक्त की उत्पत्ति गर्भावस्था के मध्य काल से जन्म के पूर्व एक महीने तक हुआ करती है । तत्पश्चात् यह कार्यरक्त मज्जा में प्रारंभ होता है, जो जन्मभर जारी रहता है । जन्मोत्तर यदि विशेष आवश्यकता हो तो प्लीहा और यकृत् में रक्तोत्पत्ति कार्य फिर हो सकता है (In times of emergency the liver and spleen may resume this blood forming function. Wrights, Applied Physiology) इसके सिवाय रक्तोत्पत्ति के संबंध में यकृत् के एक विशेष कार्य का भी कुछ पता चल गया है । बहुत कुछ खोज करके यह अनुमान किया गया है कि जन्मोत्तर यद्यपि यकृत् प्रत्यक्ष रक्तोत्पत्ति में भाग नहीं लेता तथापि रक्तमज्जा को अपने रक्तोत्पत्ति के कार्य में यकृत् से उत्तेजना मिलती है जिससे रक्तकणों का नाश होने के कारण जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति आवश्यकता के अनुसार रक्तमज्जा कर सकती है । The fact that the rate of formation of new red cells keeps pace with the rate of their destruction indicates that there must be some stimulus which acts appropriately on the red marrow, we do not know what the nature of this stimulus is but some facts suggest that it may be of a chemical nature and may emanate from the liver, Starling's Physiology । इसी तत्त्व के अनुसार दुष्टपांडुरोग में आजकल यकृत् सेवन का प्रयोग बहुत किया जाता है और उस से लाभ भी बहुत होता है । सुश्रुत में भी रक्तपित्त में यकृत् सेवन करने के लिये कहा है—अतिनिस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक् । यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् ॥ इस विषय में कुछ शास्त्रज्ञों की यह राय है कि केवल उत्तेजना ही नहीं तो पूर्ण

---

[१] श्लोकौ चात्र भवतः.

प्रगल्भ रक्त कणों के लिये उपयोगी कुछ द्रव्य भी यकृत् बनाता है। (It (liver) may stimulate the marrow to provide mature red cells or it may provide a constituent which is essential for the maturation of normal red cells. (Wrights Applied Physiology) उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध है कि यकृत् और प्लीहा रस का परिवर्तन रक्त में करने के लिये जरूर कुछ सहयोग देती है। परन्तु इस परिवर्तन का मुख्य स्थान अस्थियों की रक्तमज्जा है। प्रसन्नेन—प्रकृतिस्थेन। शरीरस्थेन तेजसा—यकृत्प्लीहा (और मज्जा) में होने वाले रञ्जक पित्त से।

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते।
तद्वर्षाद्द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥७॥
आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद्गर्भस्य ॥

स्त्रियों के रजःसंज्ञक आर्तव रक्त की प्रवृत्ति इसी रस से होती है और वह आर्तव बारह वर्ष की आयु के पश्चात् प्रकट होकर पचास वर्ष की आयु के पश्चात् बंद हो जाता है ॥७॥ परंतु आर्तवशोणित आग्नेय है। क्योंकि गर्भ अग्नि और सोम के संयोग से बनता है ॥८॥

वक्तव्य—रजःसंज्ञं रक्तम्–इसी को आर्तव कहते हैं। आर्तव रक्तमय स्राव है जो स्त्री जब जवान होने लगती है तब उसके गर्भाशय से प्रतिमास बहने लगता है। आर्तव का पहली बार निकलना रजोदर्शन कहलाता है। रजोदर्शन इस बात का चिह्न है कि स्त्री अब जवान होने लगी है। उस समय से स्त्री के शरीर पर यौवनावस्था के चिह्न अधिक दृग्गोचर होने लगते हैं और भीतर बीजकोश (Ovary) से पक्वबीज बाहर आने लगते हैं। रजोदर्शन का काल साधारणतया १२–१४ वर्ष की आयु तक होता है। परंतु इस काल में जलवायु और सभ्यता के अनुसार फर्क होता है। शीतप्रधान प्रदेशों में उष्णप्रधान प्रदेशों की अपेक्षा रजोदर्शन देर में होता है। सामाजिक अवस्था, रहन-सहन का ढंग, शिक्षण इत्यादि बातों में जो लड़कियाँ अग्रसर होती हैं, उनमें रजोदर्शन शीघ्र होता है। चंचल और नाजुक-प्रकृति लड़कियों को भी रजोदर्शन शीघ्र होता है। जिन्हें शारीरिक परिश्रम कम करना पड़ता है, पौष्टिक और उत्तेजक भोजन खूब मिलता है, शहर की गन्दी बस्ती में रहना पड़ता है, उन लड़कियों को विपरीत प्रकार की लड़कियों की अपेक्षा रजोदर्शन जल्दी हुआ करता है। निर्बल और रोगावस्था में रजोदर्शन देर में होता है। प्रथम रजोदर्शन से ४५–५० वर्ष की आयु तक स्त्री प्रतिमास रजस्वला होती रहती है। सगर्भावस्था में और प्रसव के पश्चात् कई महीनों तक स्त्रियां रजस्वला नहीं हुआ करतीं। ४५–५० वर्ष के बीच में आर्तव निकलना स्वाभाविक तौर से बंद हो जाता है। प्रतिमास आर्तव निकलने से पहले गर्भाशय की श्लैष्मिक कला में रक्त अधिक उपचित हो जाता है। इस के कारण गर्भाशय की कला मोटी, मृदु और पिलपिली हो जाती है। फिर उस कला में से रक्त बाहर निकल आता है। यह किंचित् काले रंग का और क्षारीय होता है। उसमें श्लैष्मिक कला के टुकड़े, गर्भाशय ग्रंथियों का स्राव और खटिक के लवण इत्यादि द्रव्य होते हैं। प्रतिमास स्राव तीन से पांच दिन तक और उसका परिमाण तीन या चार छटांक तक होता है—मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम। ईषत्कृष्णं विगंधं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥ (सुश्रुत)। मासान्निष्पिच्छदाहार्तिपंचरात्रानुबंधि च। नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ (चरक)। रसादेव—रजस् और शुक्र दोनों में कई बातों का सादृश्य होता है। रजस् और शुक्र दोनों गर्भोत्पादक होते हैं, दोनों एक महीने के बाद उत्पन्न होते हैं—एवं मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणां चार्तवम्। परंतु शुक्र जैसे रस रक्तादि परम्परा में मज्जा से उत्पन्न होता है, वैसा आर्तव नहीं होता। वह सीधा रस से ही उत्पन्न होता है। इसलिये 'रसादेव' लिखा है। तु—यद्यपि आर्तवशोणित धातुशोणित की भांति सौम्य रस से ही उत्पन्न होता है तथापि वह रस की भाँति न सौम्य है, न धातुशोणित की भांति अनुष्णशीत होता है। यह भेद प्रदर्शित करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया है। आग्नेय—गर्भ सौम्य शुक्रकीट और आग्नेय स्त्रीबीज के संयोग से उत्पन्न होता है—'सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम्'। (शा. अ. ३)। आर्तवशोणित का गर्भोत्पत्ति में प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। परंतु स्त्रीबीज परिपक्व होने से इसका अवश्य संबंध होता है। क्योंकि मासिक स्राव अधिकतर उस समय होता है, जब कि परिपक्व बीज कोश (Ovary) के बाहर निकल आता है। अतः आग्नेय बीज के साथ संबंध रखने के कारण आर्तवशोणित भी आग्नेय होता है। यह भी आर्तव का शुक्र जो सौम्य है, उससे दूसरा भेद है।

पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः ॥९॥
विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥१०॥

कई आचार्य जीवरक्त को पंचमहाभूतात्मक मानते हैं ॥९॥ इस रक्त में भूम्यादि पाँचों तत्त्वों के गुण दिखाई देते है। यथा–आमगंध भूमि का, पतलापन जल का, सुरखी तेज का, स्पन्दन वायु का और हलकापन आकाश का गुण है ॥१०॥

वक्तव्य—जीवरक्त—इसका अर्थ जीवनपोषकशोणित या धातुशोणित होता है। दूसरा अर्थ जीवनोत्पादक शोणित या आर्तवशोणित भी होता है। कुछ टीकाकार सूत्र नौ का अर्थ आर्तवशोणित पर करते हैं।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं[१] तु जायते ॥११॥
तत्रैषां (सर्व)धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता ॥१२॥
रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत्प्रयत्नतः।
अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ॥१३॥

रस से रक्त बनता है, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है ॥११॥ इन सब धातुओं का तर्पण अन्नपानजनित रस ही करने वाला है ॥१२॥ मनुष्यशरीर को रस ही से उत्पन्न हुआ समझो। इसलिये बुद्धिमान् को आहार, पान और आचार का पालन सावधानता से करके रस की खूब रक्षा करनी चाहिये ॥१३॥

वक्तव्य—ग्यारहवें श्लोक में आहाररस से शरीर के अन्यान्य धातुओं का पोषण किस क्रम से होता है? इसका वर्णन किया है। इस विषय के संबंध में तीन वाद आयुर्वेद में प्रच-

---

[१] शुक्रस्य संभवः.

लित हैं—१ क्षीरदधिन्याय, २ केदारीकुल्यान्याय, ३ खलेकपोतन्याय। (१) क्षीरदधिन्याय—इस न्याय के अनुसार जो शरीर के पोषण का क्रम मानते हैं, उनका यह कहना है कि यथा संपूर्ण दूध से दही बनता है, दही से मक्खन बनता है, मक्खन से घी बनता है और घी से घृतमण्ड बनता है तथा संपूर्ण आहाररस से रक्त, रक्त से मांस इत्यादि धातु एक के पश्चात् एक क्रम से उत्पन्न होते हैं। इसलिये इसको 'क्रमपरिणाम पक्ष' भी कहते हैं। यह क्रम निम्नपद्धति से चलता है। प्रत्येक धातु के मल, स्थूल और अणु ऐसे तीन परिणाम हुआ करते हैं। भोजन किये हुए अन्न का मल विष्ठा और मूत्र होता है और सार भाग रस होता है। इस को पोषक रस भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको काइल (Chyle) कह सकते हैं। इस रस का पचन होने से मल कफ उत्पन्न होता है, स्थूल भाग रस होता है और अणु भाग रक्त बनता है। स्थूल भाग में जो रस बनता है, उसको पोष्य रस भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको प्लाज्मा (Plasma) कह सकते हैं। पोषक रस से नवीनोत्पन्न रक्त का पचन होने के पश्चात् मल पित्त होता है, स्थूल भाग रक्त बनता है और अणु भाग मांस होता है। इस नवीनोत्पन्न मांस का पचन होने से नासा कर्ण नेत्र इत्यादि स्थानों के मल मलस्वरूप में उत्पन्न होते हैं, स्थूल रूप मांस बनता है और अणु भाग मेद होता है। इस नवीनोत्पन्न मेद का पचन होने से स्वेद मल निकलता है, स्थूल भाग मेद होता है और अणु भाग अस्थि है। इस अस्थि का पचन होने से केश लोम श्मश्रु मल स्वरूप निकलते हैं, स्थूल भाग अस्थि होता है और अणु भाग मज्जा होता है। इस नवीनोत्पन्न मज्जा का पचन होने से आँखों का कीचड़ और त्वचा का स्नेह मलस्वरूप निकलता है, स्थूल भाग मज्जा है और अणु भाग शुक्र होता है। इस शुक्र का पचन होने पर भी मल नहीं मिलता है, स्थूल भाग शुक्र होता है और स्नेह भाग ओज होता है। अष्टांगहृदय में ओज को शुक्र का मल माना गया है—कफः, पित्तं, मलः खेषु, प्रस्वेदो, नखरोम च। स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः॥ सुखस्मरण के लिये ऊपर वर्णन किया हुआ अर्थ श्लोकों से कहा जाता है—स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा। स्वः स्थूलोंऽशः परः सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः॥ स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु। न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः॥ (डल्हण)। (२) केदारीकुल्यान्याय—इस न्याय वाले लोगों का यह कहना है कि जैसे बगीचे का जल की नालियों करके या खेत का नहरों करके प्रथम समीपवर्ती भाग तत्पश्चात् दूरवर्ती भाग एक ही जल द्वारा सींचा जाता है, वैसे आहाररस वाहिनियों द्वारा शरीर में परिभ्रमण करते समय प्रथम रक्त समान अंश से रक्त का पोषण करता है, मांस समान अंश से मांस का पोषण करता है। इस प्रकार समान अंश से समान धातुओं का पोषण उत्तरोत्तर करता रहता है। इस न्याय के अनुसार आहाररस ही सर्व धातुओं का पोषण करता है। (३) खलेकपोतन्याय—इस न्याय वाले लोगों का यह कहना है कि जैसे धान्य कटने के स्थान (खलिहान) में इकट्ठा हुए कबूतर भिन्न भिन्न मार्गों से अपने अपने स्थानों में शीघ्र या देरी से स्थान की दूरता या समीपता के अनुसार पहुँचते हैं, वैसे आहाररस भिन्न भिन्न स्रोतसों द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न धातुओं का पोषण जल्दी या शीघ्र किया करता है।

इन तीनों का विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि तीनों में धातुपोषणक्रम के संबंध में एकवाक्यता है, मतभेद केवल पोषक धातु के संबंध में है। पहले पक्ष में पूर्व धातु उत्तर धातु का पोषक होता है और दूसरे तथा तीसरे पक्ष में रस धातु अन्य धातुओं का पोषक है। द्वितीय पक्ष में रस एक ही मार्ग से सर्व धातुओं का पोषण करता है और तृतीय पक्ष में भिन्न भिन्न मार्गों से पोषण करता है। इन में से क्रमपरिणाम पक्ष चरकसंमत है। इस पक्ष का विशेष विवरण ग्रहणीचिकित्सिताध्याय में 'रसाद्रक्तं ततो मांसम्' इत्यादि से प्रारंभ कर पन्द्रह श्लोकों में किया गया है। इसके सिवाय 'धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते' (सु. अ. २८)। 'स्रोतसां च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना' (च. वि. अ. ८) इत्यादि पोषक वाक्य भी मिलते हैं। द्वितीय पक्ष सुश्रुतसंमत है—'तत्रैषां सर्वधातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता'। 'स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि' इत्यादि। तृतीय पक्ष वृष्य पदार्थों के कार्य विवरण के लिये होता है, अन्यथा उसकी कोई खास आवश्यकता नहीं है। इन तीनों के अतिरिक्त अरुणदत्त की सर्वांगसुन्दरी में 'एककालधातुपोषणपक्ष' का उल्लेख किया है। इस पक्ष की धातुपोषण की कल्पना पाश्चात्त्य धातुपोषण उपपत्ति के साथ मिलती है। पाश्चात्त्य धातुपोषण की कल्पना—हम जो अन्न सेवन करते हैं, उसमें शरीरधातुपोषण के लिये उपयोगी सर्व पदार्थ उपस्थित रहते हैं। इनका जठराग्नि से पचन होने के पश्चात् जो सार उत्पन्न होता है, उसका शोषण आन्त्र से होकर वह सिरा तथा लसिका वाहिनियों द्वारा हृदय में पहुँचता है। वहां से वह हृदयसंकोच के साथ सर्व शरीर पर एक ही समय में फैलता है। जिस धातु के पास यह रस पहुँचता है, वह धातु अपने पोषण योग्य अंश का ग्रहण करके वर्धित होता है। इस प्रकार एक ही समय में शरीर के सर्वधातु अन्न रस से वर्धित होते हैं। इस प्रकार जो पोषक भाग रस का नष्ट होता जाता है, उसकी पूर्ति प्रतिदिन अन्नसेवन से की जाती है। इसलिये पाश्चात्त्य कल्पना एक काल धातुपोषण के पक्ष में है, क्रमपरिणाम पक्ष में नहीं है। अष्टांगसंग्रह में यही कल्पना एकीय मत से वर्णन की है—'एवमन्नरस एव साक्षात् सर्वधातून् केनचिदेव कालभेदेन पुष्णाति। न पुनर्धातवो धात्वन्तरतां स्वरूपोपमर्देन प्रतिपद्यन्त इति॥ शरीर के धातु—पाश्चात्त्य शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार मनुष्यशरीर की बनावट एक मकान की बनावट सदृश है। जैसे मकान अनेक छोटी छोटी ईंटों से बनता है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी छोटी छोटी अत्यन्त सूक्ष्म ईंटों से ही बनता है। इन शरीर के ईंटों को सेल (Cell) कहते हैं। आयुर्वेद में भी यही कल्पना है और सेल के लिये आयुर्वेद में शरीर परमाणु शब्द का प्रयोग किया गया है—शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च। (चरक. शा. ७)। प्राचीन काल में ये शरीर परमाणु अतीन्द्रिय थे। परन्तु आज सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से ये सर्वदृश्य हो गये हैं। आकार के अनुसार इन सेलों के दस पंद्रह प्रकार किये गये हैं। एक प्रकार के सेलों के समुच्चय को जो बहुधा एक विशेष कार्य करता है, धातु (Tissue) कहते हैं। आयुर्वेद

में शरीर के धातु सात माने गये हैं। पाश्चात्त्य शारीर में केवल चार धातु मानते हैं। शरीर के हर एक अंग में बहुधा सभी धातु थोड़े थोड़े पाये जाते हैं। (१) मांस धातु—आयुर्वैदिक मांस धातु और यह धातु एक है। जिस धातु में आवश्यकता के अनुसार सिकुड़ कर छोटा और फिर लंबा होने का गुण होता है, उसे मांस धातु कहते हैं। इसी धातु से शरीर की सब गतियाँ होती हैं। अँग्रेजी में इसको मस्क्युलर टिशू (Muscular tissue) कहते हैं। (२) आच्छादक धातु—इसी धातु से हमारे शरीर की बाह्य त्वचा, श्लैष्मिक त्वचा तथा आशयों के बाह्य और आभ्यन्तर आवरण बने हुए हैं। यह धातु शरीर के भीतरी अंगों को ढाँकने वाला होता है। इसलिये इसको आच्छादक धातु कहते हैं। इसी से हमारे शरीर की रक्षा भी होती है। अँग्रेजी में इसको एपिथेलिअल टिशू (Epithelial tissue) कहते हैं। (३) संयोजक धातु—यह धातु शरीर के भिन्न भिन्न अंगों का संयोग और बंधन किया करता है। इसलिये इसको संयोजक धातु कहते हैं। अँग्रेजी में इसे (Connective tissue) कहते हैं। इसके कई उपधातु होते हैं। यथा—रक्त, दन्तकवच (Dentine), अस्थि, तरुणास्थि, लसिका धातु (Lymphoid tissue), मेद, स्थितिस्थापक धातु (Elastic tissue) तांतव धातु (Fibrous tissue) इत्यादि। आयुर्वैदिक पाँच धातुओं का समावेश इसी वर्ग में होता है। वात धातु—मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा दोनों से निकली हुई नाड़ियाँ (Nerves) इसी धातु से बनती हैं। इस धातु को नर्व्हस टिशू (Nervous tissue) कहते हैं। मस्तिष्क से सोचने विचारने का काम और नाड़ियों से संवेदना तथा सूचनाएँ ले जाने का काम होता है। यह कार्य और दूसरे किसी धातु से नहीं होता। आयुर्वेद में शारीरिकदृष्ट्या इस धातु का उल्लेख नहीं है। शारीरकार्यविज्ञानदृष्ट्या वात के कार्य इस धातु के कार्य से मिलते हैं। सर्वधातूनाम्—रसादिसप्तधातूनाम्। अन्नपान के पचन से जो रस बनता है, वह पोषक रस है। उसे अँग्रेजी में काइल (Chyle) कह सकते हैं। दूसरा रस जो सर्व शरीर में परिभ्रमण करता है, वह प्रथम धातु है। इस धातु का पोषण अन्नपान रस से होता है। इस को रक्तरस या प्लाज्मा (Plasma) कहते हैं। इस रक्तरस से अन्य रक्तादि धातुओं का पोषण होता है, जिस से इसकी पोषणशक्ति प्रतिदिन घटती जाती है। इस क्षति की पूर्ति प्रतिदिन सेवन किये हुए अन्नपान के रस से हुआ करती है। इसलिये संक्षेप में रसादि सप्तधातुओं का पोषण आहाररस से ही होता है। पाश्चात्त्य नवीन शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार भी यह कल्पना ठीक है। चरक में लिखा है—पुष्यन्ति ह्याहाररसाद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि।

तत्र 'रस' गतौ धातुः; अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः ॥१४॥

स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते; एवं मासेन रसः[1] शुक्रीभवति स्त्रीणां चार्तवम् ॥१५॥

भवति चात्र—

अष्टादशसहस्राणि सङ्ख्या ह्यस्मिन् समुच्चये।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥१६॥

स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम् ॥१७॥

रस गतिवाचक धातु है। (अन्नपान का सार) दिनदिन चलता रहता है, इसलिये 'रस' कहलाता है ॥१४॥ वह रस एक एक धातु में ३०१५ कला तक ठहरता है और इस तरह एक महीने में रस (पुरुषों में) शुक्र में परिणत होता है और स्त्रियों में आर्तव में परिणत होता है ॥१५॥ इस (रस से वीर्य बनने के) समुच्चय में इस तन्त्र तथा अन्य तन्त्रों के अनुसार भी १८०९० कला समय लगता है ॥१६॥ वह रस शब्द, तेज तथा जल के विस्तार की भांति समस्त शरीर में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रवेश करता है ॥१७॥

वक्तव्य—आहार से शुक्र की उत्पत्ति में सुश्रुत के अनुसार एक महीने की अवधि आवश्यक है। आहाररस से धातुरस एक ही दिन में उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् प्रत्येक धातु के लिये पाँच पाँच दिन की आवश्यकता होती है। शरीर के भीतर इन धातुओं की उत्पत्ति अदृश्य होने के कारण इस विषय में कई मतभेद दिखाई देते हैं। कई आचार्य आहाररस से रसादि धातुओं की उत्पत्ति एक दिन में मानते हैं, कई छः दिनों में मानते हैं—केचिदाहुरहोरात्रात् षडहादपरे परे। मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिभिः॥ (**वाग्भट**)। आहारोऽद्यतनो यश्च श्वो रसत्वं च गच्छति। शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे मांसतामपि। मेदस्त्वं पंचमे, षष्ठे त्वस्थित्वं, सप्तमे व्रजेत्। मज्जतां, शुक्रतामेति दिवसे त्वष्टमे नृणाम्। तस्माद्धि पथ्यापथ्याभ्यामाहाराभ्यां नृणां ध्रुवम्। सप्तरात्रेण शुध्यन्ति प्रदुष्यन्ति च धातवः॥ (**पराशरः**)। पाश्चात्त्य शारीर कार्य विज्ञान के अनुसार रसादि धातुओं की उत्पत्ति के लिये निश्चित काल कहना कठिन है। प्रतिदिन आवश्यकता के अनुसार शरीर में रसादि सर्व धातुओं की उत्पत्ति हुआ करती है, यह मत अधिक प्रशस्त है। यही मत दृढ़बल ने चरकसंहिता में कुछ पर्याय से लिखा है—संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। (**चरकसंहिता**)। भोज्ये उपयुक्ते सति धातूनां रसादीनां चक्रवत् परिवृत्तिर्भवति। अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां भवति। तत्र दृष्टान्तेन तु परिवृत्तिः कालानियमं दर्शयति॥ (**चक्रदत्तटीका**) मनुष्य का शरीर अनन्त परमाणुओं (Cell) का बना हुआ है। इनमें से सर्व धातुओं के मिल कर असंख्य सेल प्रतिदिन नष्ट होते हैं। कई शास्त्रज्ञों ने यह अनुमान से सिद्ध किया है कि हमारा कुल शरीर सात वर्षों की अवधि में नया बन जाता है अर्थात् हमारे शरीर में सात वर्ष के पहले जो धातु थे, उनका लेशमात्र भी आज उसमें मौजूद नहीं है। तथा आज हमारे शरीर में जो धातु हैं, वे सात वर्ष के बाद इसी शरीर में नहीं पाए जाएँगे। इन नष्ट हुए धातुओं की पूर्ति अन्नरस से प्रतिदिन होती रहती है। कुछ धातुओं का नाश अधिक होता है और कुछ धातुओं का कम होता है। यदि केवल रक्त का विचार किया जाय। तो प्रतिदिन १०००००००००००० लाल कण नष्ट होते हैं। इसलिये शरीर के सर्व धातुओं की उत्पत्ति समप्रमाण

---

[1] रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति.

में भी नहीं होती है। स्त्रीणां चार्तवम्—स्त्रियों का बाह्यशोणित स्राव तथा भीतर बीज (Ova) की उत्पत्तिमात्र महीने में एक समय ही हुआ करती है। उसके लिये ऊपर निर्दिष्ट किया हुआ प्रतिदिन का आवश्यकता का नियम लागू नहीं है। समुच्चये—'अस्मिन् मासाख्ये समुच्चये' (हाराणचन्द्र)। उदयचन्द्रदत्त समुच्चय का संबंध 'स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः' के साथ करके स्वतन्त्र का अर्थ 'रस' और परतन्त्र का अर्थ 'रक्तादि अन्य धातु' ऐसा करते हैं। परंतु इस प्रकार शब्दों के अर्थ भिन्न करने से भी मूलश्लोक के भावार्थ में फर्क नहीं होता है। 'स शब्दार्चिः' इत्यादि—ध्वनि, उष्णता और जल पदार्थों में जैसे अत्यंत सूक्ष्मरूप से चारों ओर फैलते हैं, वैसे रस शरीर के धातुओं में फैलता है। रस द्वारा शरीर के समस्त धातुओं की उत्पत्ति तथा वृद्धि होने के लिये रस का उनके भीतर पहुँचना अत्यंत आवश्यक है। परंतु वास्तव में रस का प्रत्यक्ष धातुओं के साथ संबंध नहीं होता है। क्योंकि वह ऐसी वाहिनियों में से बहता है, जिन के चारों ओर दीवाल होती है। वाहिनियां तीन प्रकार की हैं—धमनी, सिरा और स्रोतस् या केशिका (Capillary)। इनमें से धमनी और सिराओं के दीवाल में से रस का फैलना असंभव है। केशिकाओं की दीवाल अत्यंत पतली होने के कारण उनमें से होकर रस तमाम शरीर के धातुओं में फैलता है। पाश्चात्त्य शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार यह कार्य अनेक भौतिक विधियों (Filteration, osmosis, dialysis, diffusion) द्वारा होता है। इस अत्यंत क्लिष्ट तथा अदृश्य कार्य का शब्दचित्र यहां 'स शब्दार्चिः' इत्यादि दृष्टान्तों द्वारा किया गया है। डल्हण शब्दसंतान से रस का तिर्यग्गामित्व, अर्चिःसंतान से ऊर्ध्वगामित्व और जलसंतान से अधोगामित्व मानता है। चक्रपाणिदत्त (चरकटीका में) शब्दादि दृष्टान्तत्रय मध्य, तीक्ष्ण और मन्द अग्नि निदर्शक समझता है। मन्दाग्नि से एक महीने में, मध्याग्नि से छः दिन में और तीव्राग्नि से एक दिन में शुक्र की उत्पत्ति होती है। कुछ नवीन टीकाकार (निर्णयसागर सुश्रुतसंहिता टिप्पणी) अर्चिःसंतान से रस का धमनीगत प्रवाह, शब्दसंतान से सिरागत प्रवाह और जलसंतान से स्रोतसगत प्रवाह मानते हैं। ध्मानाद्धमन्यः स्रोतांसि स्रवणात् सरणात् सिराः। (चरक)। इस अध्याय के सूत्र ३, ४, १४, १५ और १७ में आयुर्वैदिक कल्पना के अनुसार रसपरिभ्रमण (Blood circulation) वर्णन किया है। रसपरिभ्रमण—पाश्चात्त्य वैद्यक में इस महत्त्वपूर्ण विषय की खोज सन् १९२८ में विलियम हार्वे नामक शास्त्रज्ञ ने सर्व प्रथम की। उसके पहले उन लोगों में बड़ी विचित्र कल्पनाएँ प्रचलित थीं। रक्तपरिभ्रमण का अर्थ यह है कि रक्त एक स्थान से चलकर शरीर भर में घूम घाम कर फिर वहीं लौट आता है, [वह एक जगह नहीं ठहरता—रस गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः। उसका सर्वशरीर में संचार करने के लिये प्रस्थान का स्थान हृदय है—तस्य च हृदयं स्थानम्। हृदय एक अनैच्छिक मांस (Muoluntary muscle) से निर्मित परिचालक यन्त्र (Force pump) है। उसके आकुंचन से रक्त बड़े वेग के साथ बृहत् धमनी में प्रवेश कर उसकी शाखाओं द्वारा समस्त शरीर में फैलता है। 'स हृदयाच्चतुर्विंशतिर्धमनीरनुप्रविश्य' इत्यादि। इन शाखाओं की आगे छोटी छोटी अनेक प्रशाखाएँ हो जाती हैं। उनको धमनिका (Arterioles) कहते हैं। इन में से बहता हुआ रक्त स्रोतस् या केशिकाओं के जाल में पहुँचता है—द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः। (शारीर)। अन्तिम धमनिकाएँ तथा केशिकाएँ विना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के दिखाई नहीं देतीं। केशिका के छेद का व्यास साधारणतया $\frac{१}{२०००}$ इंच के लगभग होता है। मस्तिष्क और आंत्र की केशिकाएँ इस से भी छोटी होती हैं और त्वचा, फुप्फुस और अस्थियों की अधिक मोटी होती हैं। जब रक्त इन केशिकाओं में से बहता है तो थोड़ा सा रस उनकी पतली दीवारों में से छनकर बाहर धातुओं में निकल जाता है—स्रवणात् स्रोतांसि। (चरक)। स्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्रवणात्। (चक्रदत्त)। यह छनने का कार्य अनेक भौतिक विधियों द्वारा होता है—स शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेण अनुधावत्येवं शरीरं केवलम्। अब ये केशिकाएँ एक दूसरे से जुड़ने लगती हैं और उनके परस्पर मिलने से जो नालियां बनती हैं, वे शिराएँ हैं। पतली पतली शिराएँ एक दूसरे से जुड़ने से बड़ी बड़ी शिराएँ बन जाती हैं। इन शिराओं में अशुद्ध और काले नीले रंग का रक्त बहता है। 'सरणात् सिराः, चला ह्येताः स्वभावतः, शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकारास्तेपु सिरां विध्येत्' इत्यादि से सिराओं का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार जितना रक्त हृदय के बाएँ कोष्ठ से बृहत् धमनी की शाखाओं द्वारा समस्त शरीर में पहुंचता है, वह दो महासिराओं द्वारा हृदय के दक्षिण कोष्ठ में लौट आता है। यह अशुद्ध रक्त हृदय से फिर फुप्फुसों में पहुँचता है। वहां इसकी शुद्धि हो जाने के पश्चात् सिराओं द्वारा फिर हृदय में आता है और हृदय से बृहत् धमनी द्वारा समस्त शरीर में फैलता है। इस प्रकार रक्त के चक्रवत् बहने को 'रक्तपरिभ्रमण' कहते हैं। यह प्रयोगों से अनुमान किया गया है कि रक्त को एक चक्र पूरा करने में १५ सेकंड के लगभग समय लगता है। शरीर में दो रक्तपरिभ्रमण होते हैं—एक शारीरिक और दूसरा फुप्फुसीय। इनमें से शारीरिक परिभ्रमण का करीब पूर्ण वर्णन आयुर्वेद में मिलता है। जहां प्रत्यक्ष की कुछ कमी दिखाई देती थी, वहां अनुमान की सहायता से उसकी पूर्णता की गई है—तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्गतिरुपलक्षयितव्या। हार्वे ने जब यह सिद्धान्त पेश किया, तब भी केशिकाओं की उसको कल्पना भी नहीं थी और सूक्ष्म धमनी तथा सूक्ष्मसिरा दोनों के बीच का रक्तप्रवाह केवल अनुमान से सिद्ध किया गया था। सन् १६६१ में 'मालपीघी' नामक शास्त्रज्ञ ने केशिकाओं का पता चलाया और उन के भीतर का रक्तप्रवाह सूक्ष्मदर्शक कांच की सहायता से प्रत्यक्ष किया। फुप्फुसीय रक्तपरिभ्रमण तथा फुप्फुस में रक्त की शुद्धि इन विषयों का आयुर्वेद में जिक्र नहीं मिलता है।

वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरेचयन्ति ॥१८॥

परंतु विरेचन के तौर पर उपयोग की हुई वाजीकरण ओषधियाँ अपने बल और गुण की उत्कृष्टता से शुक्र को शीघ्र आहाररस से निचोड़ कर शुक्रस्थान में प्राप्त करती हैं ॥१८॥

वक्तव्य—वाजीकरण ओषधि-शुक्रवर्धक ओषधि। स्वबल-

आत्मप्रभाव । यदि बिना अपवाद के आहाररस से एक महीने में शुक्र बनता तो वाजीकरण ओषधियों का सेवन करना व्यर्थ है । इसलिये बतलाया गया है कि वे ओषधियाँ अपने प्रभाव और वीर्य से शुक्रोत्पत्ति का कार्य शीघ्र कराती हैं । यह केवल वाजीकरण ओषधियों के संबंध में ही नहीं समझना चाहिये । अन्य ओषधियाँ भी अपना कार्य अपने विशेष प्रभाव से बहुधा एक दिन में किया करती हैं—प्रायः करोत्यहोरात्रात् कर्मान्यदपि भेषजम् । (वाग्भट) ।

यथाहि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीति वक्तुमथो नैवा(नैव चा)स्तीति; अथवाऽ(च)स्ति, सतां भावानामभिव्यक्तिरिति कृ(ज्ञा)त्वा, केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते; स एव पुष्पे विवृतपत्रकेशरे कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति; एवं बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति, रोमराज्यादयश्च विशेषाः; नारीणां रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति ॥१९॥

जैसे फूल की कच्ची कली में यह नहीं कहा जा सकता है कि इस में गंध है या नहीं है । परन्तु गंध है (यही कहना ठीक है) क्योंकि वस्तुतः होने वाले पदार्थों का प्रादुर्भाव हुआ ही करता है । केवल अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह व्यक्त नहीं होता है । कुछ काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् जब वही कली खिलती है, तब गंध भी प्रकट हो जाता है । ऐसे ही बालकों की अवस्था बढ़ने पर शुक्र तथा रोमराज्यादि विशेष प्रकट हो जाते हैं । स्त्रियों में भी आर्तव प्रादुर्भाव होने पर धीरे धीरे स्तन, गर्भाशय, योनि आदि की वृद्धि होती है ॥१९॥

वक्तव्य—विशेषाः–स्त्री और पुरुष दोनों जब यौवनावस्था में पहुँचने लगते हैं, तब उनके शरीर पर उस अवस्था के निदर्शक विशेष चिह्न दिखाई देते हैं । पुरुषों में दाढ़ी और मूछें निकलने लगती हैं, कक्षतल और गुह्य भाग पर बाल जमने लगते हैं, स्वरयन्त्र की वृद्धि होती है और स्वर भी बदल जाता है । स्त्रियों में भी स्तनगर्भाशय वृद्धि के सिवाय भग स्थान पर बाल जमने लगते हैं और मानसिक दशा में भी परिवर्तन होकर लज्जा इत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं । शुक्र और रज शरीर के जिन अङ्गों में उत्पन्न होते हैं, वे यौवनावस्था के प्रारम्भ से धीरे धीरे कार्यक्षम हो जाते हैं । वे अङ्ग शुक्र और रज के अतिरिक्त एक ऐसी वस्तु बनाते हैं, जो रक्त के साथ मिलकर शरीर के विविध अङ्गों में पहुँचती हैं और उनको प्रबल तथा पुष्ट बनाती है । उसी के कारण यौवनावस्था के विशेष भी उत्पन्न होते हैं । उस वस्तु को अन्तःसार (Internal Secretion) कहते हैं ।

स एवान्नरसो वृद्धानां (जरा)परिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति ॥२०॥

वही अन्न का रस वृद्धावस्था में मनुष्यों का शरीर परिपक्व हो जाने के कारण पुष्टिकारक नहीं होता है ॥२०॥

वक्तव्य—वृद्धावस्था में शरीर परमाणु या सेल पुराने हो जाने के कारण अन्नरस का ग्रहण पचन और उत्सर्जन के कार्य करने में कुछ असमर्थ हो जाते हैं तथा रक्तवाहिनी धमनियों, धमनिकाओं और केशिकाओं में कठिनता (Sclerosis) उत्पन्न होती है जिस के कारण रस का संचार शरीर के धातुओं में यथापूर्व नहीं होता है । धमनीदार्ढ्य (Arterio sclerosis) परिपक्व शरीर का लक्षण है । इसलिये अँग्रेजी में मुहावरा है कि 'मनुष्य की आयु उसकी धमनियों के बराबर होती है'—A man is as old as his arteries । इस कारण से पोषक अन्नरस शरीर की पुष्टि नहीं कर सकता ।

त एते शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते । तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते, तस्मात्तदधिकृत्य वक्ष्यामः ॥२१॥

ये शरीर को धारण करते हैं, इस कारण से धातु कहलाते हैं । इनका क्षय और वृद्धि रक्त के अधीन है । इसलिये रक्त के संबंध में (अब) कहेंगे ॥२१॥

वक्तव्य—एते—रसादि सप्त पदार्थ । धातु—यहाँ धातु शब्द का यौगिक अर्थ बतलाया गया है । आयुर्वेद में धातु और उपधातु दो शब्द होते हैं । रसादि सप्त धातु हैं और सिरा स्नायु त्वचा वसा इत्यादि सप्त उपधातु होते हैं—रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः । मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसन्धयः ॥ अस्थ्नो दन्तास्तथा मज्ज्ञः केशा ओजश्च सप्तमात् । धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्ते उपधातवः ॥ दोनों भी शरीर का धारण करते हैं । परंतु धातु धारण के साथ साथ पोषण भी करते हैं, उपधातु नहीं करते हैं । शिवदास अपनी व्याख्या में लिखते हैं—धातुशब्दप्रवृत्तेर्धारणपोषणनिमित्तत्वात्, तेन ये शरीरं धारयन्ति धातूंश्च पुष्णन्ति रसादयस्त एव मुख्यतया धातुशब्दवाच्या न स्तन्यादयः । ते हि शरीरं धारयन्त्येव नतु किंचित् पुष्णन्ति । उक्तं हि भोजे–सिरास्नायुरजःस्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः । धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातवः ॥ 'धारणात् धातु' इस योगार्थ के अनुसार अँग्रेजी में इस का रूपान्तर कनेक्टिव्ह टिशू (Connective tissue) में होता है और आयुर्वैदिक सर्वधातु, मांस और शुक्र छोड़ कर इसी वर्ग में आते हैं । शुक्र एक शरीर के विशिष्ट अंग का स्राव है । इसको पाश्चात्त्य वैद्यक में धातु नहीं मानते । शरीर के सर्व धातुओं का पोषण रस रक्त से ही होता है । परंतु जिस समय खाद्य नहीं मिलता, उस समय शरीर के कुछ धातु, यथा–मांस, मेद, अस्थि, त्वचा इत्यादि शरीर के महत्त्व के अंगों का जरूर पोषण करते हैं । प्राणियों पर अनशन का प्रयोग कर इस बात को प्रत्यक्ष किया गया है । क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते—रसादि धातुओं की वृद्धि तथा क्षति शोणित के ऊपर निर्भर होती है । क्योंकि रक्त का नाश होने से जठराग्नि मंद हो जाती है । इससे आहार का पचन ठीक नहीं होता और रस भी ठीक नहीं बनता, जिससे सर्व धातुओं का क्षय हो जाता है । धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः । पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् । (सुश्रुत) । नवीन शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार शरीर में निरंतर संश्लेषण (Anabolism) और विश्लेषण (Katabolism) की दो क्रियाएँ होती रहती हैं । संश्लेषण से शरीर में नये सेलों की उत्पत्ति, पुराने सेलों के क्षय हुए भागों की पूर्ति तथा अन्य शरीरोपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति इत्यादि शरीर निर्माण की विविध क्रियाएँ अभिप्रेत होती हैं । विश्लेषण से संश्लेषण की विरुद्ध क्रियाएँ अभिप्रेत होती हैं । संश्लेषण और विश्लेषण भौतिक रासायनिक और जैविक (Biological) क्रियाओं द्वारा होता है । शरीर के

पोषण और वृद्धि के लिये दोनों क्रियाओं की आवश्यकता है। बाल्यावस्था में संश्लेषण विश्लेषण की अपेक्षा अधिक होता है, जिससे शरीर की वृद्धि होती है। मध्यमावस्था में दोनों बराबर होते हैं, जिससे शरीर न घटता है न बढ़ता है। वृद्धावस्था में संश्लेषण से विश्लेषण अधिक होता है, जिससे शरीर घटता जाता है। इन क्रियाओं से शरीर में कई त्याज्य पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं, जिनका शरीर के बाहर निकलना अत्यावश्यक है। इनमें से एक कार्बन डायोक्साईड है। इसका उत्सर्ग फुफ्फुस के द्वारा होता है। बिना शक्ति के ये क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। यह शक्ति पदार्थों के 'आक्सिडेशन' (Oxidation) से उत्पन्न होती है। आक्सिडेशन के लिये आक्सिजन या प्राणवायु की आवश्यकता होती है। यह प्राणवायु शरीर में वायुमंडल से फुफ्फुसों द्वारा पहुँचती है। आक्सिडेशन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका कुछ भाग उपयुक्त कार्य करने में व्यय हो जाता है और शेष भाग उष्णता के रूप में रहता है। वायुमंडल से प्राणवायु लेकर शरीर के अंगों में पहुँचाना और अंगों में बना हुआ कार्बन डायोक्साईड लेकर बाह्य वायुमंडल में छोड़ देना, यह कार्य शोणित के सिवाय नहीं हो सकता। शोणित की रचना पीछे सूत्र पांच की टीका में बतलाई गई है। उससे यह मालूम होगा कि रक्त की सुर्खी लाल कणों के कारण होती है और लाल कण भीतरी हीमोग्लोबिन के कारण लाल दिखाई देते हैं। यह कणरंजन द्रव्य वायुमंडल से आक्सिजन का ग्रहण फुफ्फुस में करता है और उसी समय ग्रहण करने के पहले कार्बन डायोक्साईड को छोड़ देता है। शरीर के अंगों में इसके विरुद्ध क्रिया होती है। उस समय आक्सिजन को छोड़ कर कार्बन डायोक्साईड को ग्रहण करता है। इस प्रकार यह कार्य शरीर में जारी रहता है। इस द्रव्य की कमी हो जाने से शरीर के भीतर उपर्युक्त कार्य नहीं हो सकते, जिससे धातुओं की वृद्धि नहीं होती और उनका क्षय प्रारंभ होता है। इसलिये लिखा है कि— तेष क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते।

तत्र, फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रगमस्कन्दि च वातेन दुष्टं; नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तदुष्टं; गैरिकोदकप्रतीकाशं[1] स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं; सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं; (पित्तवद्रक्तेनातिकृष्णं च;) द्विदोषलिङ्गं संसृष्टम्। (जीवशोणितमन्यत्र वक्ष्यामः) ॥२२॥

वायु से दूषित हुआ रक्त झागदार, किंचित् लाल रंग का, काला, रूखा, पतला, जल्दी बहने वाला और न जमने वाला होता है। पित्त से बिगड़ा हुआ रक्त नीला, पीला, हरा, काला, मांसगंधी, चींटी और मक्खियों के लिये अप्रिय तथा न जमने वाला होता है। कफ से बिगड़ा हुआ रक्त गेरू के जल के समान, चिकना, ठंडा, गाढ़ा, चिपचिपा, मंदगति से बहने वाला और मांसपेशी के समान दीखने वाला होता है। त्रिदोषों से बिगड़ा हुआ रक्त (उपर्युक्त) सर्व लक्षणयुक्त, कांजी के समान, विशेष कर दुर्गन्धयुक्त होता है। रक्त दोष से बिगड़ा हुआ रक्त पित्त से बिगड़े हुए रक्त के समान परंतु अधिक काला होता है। जिस में दो दोषों के लक्षण होते हैं, वह दो दोषों से बिगड़ा हुआ समझना चाहिये। जीवशोणित का वर्णन दूसरे स्थान में करेंगे ॥२२॥

वक्तव्य—अस्कन्दि—स्त्यानत्वरहित। स्वस्थावस्था में रक्त शरीर के भीतर अपने आप नहीं जमता, परंतु शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् शीघ्र जम जाता है। जब रक्त की यह जमने की शक्ति नष्ट हो जाती है, तब उसको अस्कन्दि कहते हैं। जमने के समय रक्त में विशेष रासायनिक परिवर्तन होकर उसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग रक्त रस या लसिका (Serum) है, जो तरल और किंचित् पीले रंग का होता है। दूसरा भाग थक्का या छिछड़ा है, जो गाढ़ा होता है और रक्तकण तथा फाइब्रिन (Fibrin) से बनता है।

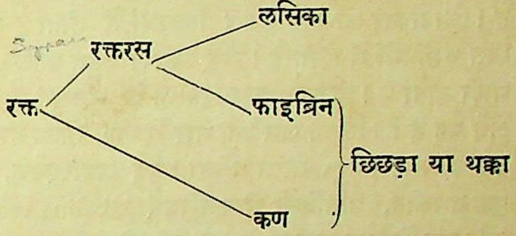

रक्त जमने के लिये आवश्यक पदार्थ—**रक्त जमने के लिये खटिक के लवण (Calcium salls), फाइब्रिन और थ्रोंबिन (Thrombin) नामक तीन पदार्थों की जरूरत होती है। इन में से खटिक रक्त में उपस्थित होता है। फाइब्रिनोजेन (Fibrinogen) नामक दूसरा पदार्थ भी रक्त में होता है, जिस का परिवर्तन थ्रोंबिन की सहायता से फाइब्रिन में होता है। थ्रोंबिन रक्त में नहीं होता। रक्त शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् श्वेतकण और सूक्ष्मकणों (Blood platelet) के विनाश से एक विशेष पदार्थ उत्पन्न होता है। उसके और खटिक क्षार के संयोग से थ्रोंबिन उत्पन्न होता है। यह थ्रोंबिन फ़ाइब्रिनोजेन पर कार्य कर फ़ाइब्रिन बनाता है। यह द्रव्य अनघुल होने के कारण रक्त से बाहर निकल आता है। यही रक्त के जमने का कारण है। शरीर में जब इन पदार्थों की कमी होती है, तब रक्त जमने में देर होती है। शरीर के भीतर रक्त नहीं जमता। इसका कारण यह माना गया है कि यकृत् में एन्टीथ्रोंबिन (Anti thrombin) नामक पदार्थ बनता है, जिस की रक्त में उपस्थिति होने से जमने की क्रिया नहीं हो सकती।** चिरस्रावी—**इसका एक अर्थ ऊपर दिया है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है—देर तक बहने वाला। सामान्यतया त्वचा में सूई से छेद करके जो रक्त का स्राव होता है, वह ढाई मिनट में बंद होता है। इसको रक्तस्रवण काल (Bleeding time) कहते हैं। परंतु कई रोगों में (Purpara, Scaray, Haemephilia) यह स्रवण काल आधे घंटे तक या इस से भी अधिक हो जाता है। अस्कन्दन और चिरस्रवण बहुधा दोनों बराबर होते हैं।** जीवशोणित—शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगाश्रयरक्त **(डल्हण)। चिकित्सास्थान के वमन विरेचन व्यापच्चिकित्सित अध्याय में उसके लक्षण और पहचान बतलाई गई है।** यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम्।

---

[1] प्रकाशं.

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात् ॥२३॥

जो वीरबहूटी के समान लाल रंग का हो, न बहुत पतला न बहुत गाढ़ा हो, किंचित् विविध वर्ण का हो, उसे स्वाभाविक शुद्ध रक्त समझना चाहिये ॥२३॥

वक्तव्य—असंहतम्—नात्यच्छं नातिघनम् । (डल्हण) । अविवर्णम्—अविकृतवर्णम् (हाराणचन्द्र) । ईषद्विविधवर्णम्, एतेन पद्मालक्तकगुञ्जाफलवर्णमित्युक्तम् । (डल्हण) । तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसंनिभम्। गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम्॥ (चरक)। शुद्ध रक्त का रंग लाल होने का कारण यह है कि रक्तकणों में जो रञ्जक द्रव्य होता है, उसका प्राणवायु के साथ संयोग (Oxyhaemoglobin) होने से उसका रंग अधिक लाल हो जाता है। जब इस रंग का संयोग कार्बन डायोक्साइड के साथ (Hle co 2) होता है तब रक्त का रंग काला हो जाता है। इस प्रकार का रक्त केवल सिराओं में होता है और शुद्ध रक्त धमनियों में होता है। शुद्ध रक्त न बहुत पतला, न बहुत गाढ़ा होता है। इसका गुरुत्व १०५५ के लगभग है। इसका अर्थ यह है कि जितने जल का भार १००० तोला होगा उतने रक्त का भार १०५५ तोला होगा। यह अपारदर्शक, स्वाद में कुछ नमकीन, प्रतिक्रिया में क्षारीय (Alkaline reaction) और एक विशेष प्रकार के गंध से युक्त होता है।

विस्राव्याण्यन्यत्र वक्ष्यामः । अथाविस्राव्याः—सर्वाङ्गशोफः, क्षीणस्य चाम्लभोजननिमित्तः, पाण्डुरोग्यर्शसोदरिशोषिगर्भिणीनां च श्वयथवः ॥२४॥

रक्त निकालने योग्य (रोगियों का) निर्देश अन्य स्थान में किया जायगा। निम्न प्रकार के शोथ में रक्त नहीं निकलवाना चाहिये—क्षीण रोगी में अम्ल भोजन से उत्पन्न हुआ सर्वांग शोथ, पांडुरोग, अर्श, उदर, राजयक्ष्मा रोग के शोथ तथा गर्भिणी के शोथ ॥२४॥

वक्तव्य—अन्यत्र-सूत्रस्थान के अष्टविध शस्त्रकर्माध्याय में।

तत्र शस्त्रविस्रावणं द्विविधं—प्रच्छानं[1], सिराव्यधनं च ॥२५॥

शस्त्र से रक्त निकालना दो प्रकार का है—एक प्रच्छान और दूसरा सिरावेध ॥२५॥

तत्र, ऋज्वसंकीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढमनुत्तानमाशु[2] च शस्त्रं पातयेन्मर्मसिरास्नायुसन्धीनामनुपघाति[3] ॥२६॥

(इन में से प्रच्छान के लिये) शस्त्र ऐसे शीघ्र चलावे कि शस्त्रपद सरल, एक दूसरे से अलग, बारीक, समान्तर, न बहुत गम्भीर न बहुत उत्तान हो तथा स्थानिक मर्म सिरा स्नायु और सन्धियों को हानि न पहुँचे ॥२६॥

वक्तव्य—वाग्भट ने प्रच्छान की विधि ऐसी वर्णन की है—गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम् । स्नायुसंध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत् ॥ अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः । न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरेत् ॥

तत्र, दुर्दिने दुर्विद्धे शीतवातयोरस्विन्ने भुक्तमात्रे स्कन्दत्वाच्छोणितं न स्रवत्यल्पं वा स्रवति ॥२७॥

मदमूर्च्छाश्रमार्तानां वातविण्मूत्रसंगिनाम् ।
निद्राभिभूतभीतानां नृणां नासृक् प्रवर्तते ॥२८॥

दुर्दिन में, अयोग्य शस्त्र लगने से, शीत तथा वात लगने से, बिना स्वेद दिलाये, बिना भोजन किये हुए (अवस्थाओं में) (रक्त) जम जाने से शोणित नहीं निकलता या कम निकलता है ॥२७॥ मद, मूर्च्छा तथा परिश्रम से पीड़ित मनुष्यों का, अधोवात तथा मलमूत्र की रुकावट वाले मनुष्यों का, नींद से व्याप्त तथा भययुक्त मनुष्यों का रुधिर ठीक नहीं निकलता ॥२८॥

वक्तव्य—दुर्दिने—वातवर्षाकुलेऽहनि, मेघाच्छन्नेऽह्नि । मद—विष तथा मद्य से उत्पन्न हुआ विकार।

तद्दुष्टं शोणितमनिर्ह्रियमाणं कण्डूशोफरागदाहपाकवेदना जनयेत् ॥२९॥

वह दुष्ट रक्त जो (उपर्युक्त कारणों से शस्त्रकर्म करने के पश्चात् भी) नहीं निकला है खुजली, सूजन, सुर्खी, जलन, पाक और वेदना उत्पन्न करता है ॥२९॥

अत्युष्णेऽतिस्विन्नेऽतिविद्धेऽज्ञैर्विस्रावितमतिप्रवर्तते[1]; तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थतिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णादाहौ हिक्कां कासं श्वासं पाण्डुरोगं मरणं चापादयति ॥३०॥

अधिक गरमी से, अधिक पसीना निकलने से, अधिक वेधन करने से तथा मूर्ख वैद्य के निकालने से रक्त आवश्यकता से अधिक निकल जाता है। वह अधिक निकला हुआ रक्त शिरःशूल, अन्धापन, अधिमन्थ, तिमिर, धातुक्षय, आक्षेपक, पक्षाघात, एकांगघात, तृष्णा, दाह, हिचकी, कास, श्वास, पाण्डुरोग (इत्यादि रोग उत्पन्न करता है) और (क्वचित्) मृत्युकारक भी होता है ॥३०॥

वक्तव्य—अधिक रक्त का स्राव होने से शरीर पर तीन परिणाम दिखाई देते हैं। पहला शरीर से जलांश नष्ट होता है। उसकी पूर्ति करने के लिये तृष्णा उत्पन्न होती है। दूसरा प्राणवायुवाहक रक्तकण नष्ट होते हैं। इनकी कमी हो जाने के कारण शरीर के अङ्गों में प्राणवायु यथावश्यक नहीं पहुँचता। अतः इसकी पूर्ति करने के लिये रोगी श्वास प्रश्वास की क्रिया अतिशीघ्रता से किया करता है। जब रक्त का नाश बहुत ही अधिक होता है तब रोगी श्वास लेने के लिये छटपटाने लगता है। तीसरा परिणाम यह होता है कि शरीर के कुछ अङ्गों में रक्त की कमी हो जाती है। यह अवस्था अधिकतर मस्तिष्क में अधिक हुआ करती है। कारण यह होता है कि मस्तिष्क हृदय से ऊँचा रहता है तथा उसकी केशिकाएँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। मस्तिष्क में रक्त की कमी (Cerebral anaemia) होने से शिरःशूल मूर्च्छादि लक्षण होते हैं। मस्तिष्कार्ध में कमी होने से पक्षाघात होता है। शरीर के विशिष्ट अंग के मस्तिष्क केन्द्र में रक्त की कमी होने से एकाङ्गविकार होता है। दृष्टिपटल (Retina)

---

[1] प्रच्छन्नं. [2] नोत्तानं. [3] ०नां चानुप०

[1] अत्युष्णातिस्विन्नातिविद्धेषु.

में रक्त की कमी होने से आंध्य (Amblyopia) उत्पन्न होता है। आक्षेपक (Conoalsions) बहुधा मृत्यु के पहले हुआ करते हैं और अन्त में संन्यास (Syncope) से मृत्यु भी हो जाती है। यदि रक्त का स्राव बहुत अधिक न हो तो पाण्डु रोग धातुक्षय इत्यादि चिरकारी रोग उत्पन्न होते हैं। रक्तस्राव में जलांश का जो नाश होता है, उसकी पूर्ति थोड़े ही समय में हो जाती है। परन्तु कणों का जो नाश होता है, उसकी पूर्ति शीघ्र नहीं होती। अष्टाङ्गसंग्रह में उपर्युक्त उपद्रवों के अतिरिक्त निम्न उपद्रव अधिक वर्णन किये गये हैं। यथा—मूर्च्छा, संज्ञानाश, शिरःकंप, श्रम, बाधिर्य, मन्यास्तंभापतानक, हनुभ्रंश। ये भी सब उपद्रव मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से उत्पन्न होते हैं। क्षीणरक्तस्य हि वायुर्मर्माण्युपसंगृह्य मूर्च्छादीन् करोति मरणं वा। (अष्टाङ्गसंग्रह)।

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते।
यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥३१॥

इस कारण से न शीतकाल में, न अधिक गरमी में, न अधिक स्वेद दिलाकर और (धूप में) न बहुत तपाकर रक्त निकालना चाहिये और यवागू मात्रा से पिला कर रक्त निकाले ॥३१॥

सम्यग्गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते।
शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत् ॥३२॥

(वेध से) रक्त का सम्यक् प्रवर्तन करने के पश्चात् जब रक्त आप ही आप बंद हो जाय तब विस्रावण की क्रिया शुद्ध और यथाशास्त्र ठीक हो गई ऐसा समझना चाहिये ॥३२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में योग्यविस्रावण का स्थानिक लक्षण वर्णन किया है। शुद्धं तदा विजानीयात्—इसका दूसरा भी अर्थ हो सकता है—जब रक्त आप ही आप बंद हो जाता है, तब शरीर के भीतरी रक्त की शुद्धि हो गई ऐसा समझना चाहिये।

लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः।
सम्यग्विस्राविते लिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा ॥३३॥

शरीर में हलकापन, पीड़ा की शान्ति, रोग के वेग का क्षय और मन की प्रसन्नता ये ठीक ठीक रक्त निकलने के लक्षण हैं ॥३३॥

त्वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणितजाश्च ये।
रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥३४॥

समय समय पर रक्त का विस्रावण कराने वाले मनुष्यों में त्वचा के रोग, ग्रंथियों के रोग, रक्त के रोग कदापि भी नहीं हुआ करते हैं ॥३४॥

वक्तव्य—त्वग्दोष—अष्टादश कुष्ठ शीतपित्त उदर्द कोठ नीलिका व्यंग न्यच्छ तिलकालकादि। ग्रंथि—अपची, कण्ठमाला, गलगंड इत्यादि ग्रंथियों के विकार। शोफ—भिन्न भिन्न प्रकार के स्थानिक शोथ श्लीपद इत्यादि रोग। शोणितजरोगाः—मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता। गुल्मोपकुशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः ॥ विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम्। वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता ॥ सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक्। विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः ॥ क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता। स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः ॥ तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम्। कण्डूरुक्कोठपिडकाः कुष्ठचर्मदलादयः ॥ विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ॥ शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तजान् तान् विभावयेत् ॥ (चरक)।

अथ खल्वप्रवर्तमाने रक्ते एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडङ्गचित्रकत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काङ्कुरनक्तमालफलैर्यथालाभं त्रिभिश्चतुर्भिः समस्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैलप्रगाढैर्व्रणमुखमवघर्षयेदेवं सम्यक् प्रवर्तते ॥३५॥

यदि रक्त ठीक न निकले तो एलायची, कपूर, कूट, तगर, पाठा, देवदारु, विडंग, चित्रक, त्रिकटु, घर का धूँआं, हलदी, आक की कोंपल, करंज के फल इनमें जो मिले तीन, चार या सब को पीसकर तेल और लवण में मिलाकर व्रण के मुख पर मले। इससे ठीक ठीक रक्त निकल जावेगा ॥३५॥

वक्तव्य—शीतशिव—सैन्धव (हाराणचन्द्र), कर्पूर (डल्हण)। अष्टांगहृदय में एलादि चूर्णों का लेप व्रण पर करने के लिये लिखा है—असम्यगस्रे स्रवति वेल्लव्योषनिशानतैः। सागारधूमलवणतैलैर्दिह्याच्छिरामुखम् ॥ अष्टांगसंग्रह में सम्यग् विस्रावण के लिये उपर्युक्त स्थानिक उपाय के अतिरिक्त पृष्ठपीड़न करने के लिये लिखा है—पृष्ठमध्ये चातुरं पीडयेत्। एवं साधु वहति ॥

अथातिप्रवृत्ते रोध्रमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गगैरिकसर्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशङ्खशुक्तिमाषयवगोधूमचूर्णैः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचूर्ण्याङ्गुल्यग्रेणावपीडयेत्, सालसर्जार्जुनारिमेदमेषशृङ्गधवधन्वनत्वग्भिर्वा चूर्णिताभिः क्षौमेण वा ध्मापितेन समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैर्व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात्, शीताच्छादनभोजनागारैः शीतैः परिषेकप्रदेहैश्चोपाचरेत्, क्षारेणाग्निना वा दहेद्यथोक्तं, [1]व्यधनादनन्तरं वा तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत् ॥३६॥

जब रक्त निकलना बंद न होता हो तो लोध, मुलहठी, प्रियंगु, पतंग, गेरू, राल, रसोत, शाल्मलीपुष्प, शंख, सीप, उड़द, जौ और गेहूँ—इनका चूर्ण धीरे धीरे व्रण के मुख पर बुरका कर अंगुली के अग्र से दबा दे। अथवा साल, राल का वृक्ष, अर्जुन, विटखदिर, मेषश्रृंगी, धव और धामन—इनकी छाल को पीस कर (व्रणमुख का अवचूर्णन करे) अथवा रेशमी वस्त्र जलाकर उसकी राख से (अवचूर्णन करे) अथवा समुद्रफेन या लाख इनके चूर्ण से (अवचूर्णन करे) तत्पश्चात् यथोक्त व्रण बांधने के द्रव्यों से कसकर बांध दे। शीतल वस्तुओं से आच्छादन करना, ठंडा भोजन करना, शीत स्थान में रहना, शीतक्वाथादि से छिड़कना, शीतल लेप करना इत्यादि शीत उपचार करे। अथवा क्षार या अग्नि से यथाविधि दहन करे। अथवा जिस सिरा का रक्त बंद न हो, उसको यथोक्त पहले वेधस्थान के बाद दूसरे स्थान में वेध करे ॥३६॥

---

[1] ०यथोक्तव्यधादनन्तरं.

वक्तव्य—यहां रक्तप्रवाह बंद करने के लिये जो स्थानिक उपाय बतलाये गये हैं, वे ये हैं—१ शीतप्रयोग, २ उष्णप्रयोग, ३ दहन, ४ शोणितास्थापक (Styptics) द्रव्यों का प्रयोग, ५ अवपीडन, ६ बंधन। इन उपायों के अतिरिक्त पाश्चात्त्य शल्यचिकित्सा में निम्न उपायों का भी अवलम्बन होता है। ७ रक्तस्राव के स्थान को ऊँचा करना—इस का उपयोग हाथ पैर के संबंध में विशेष होता है। ऊँचे किये हुए स्थान में हृदय से रक्त कम पहुँचता है, जिससे रक्त का स्राव कम हो जाता है । ८ धमनीसंदंश (Artery Forceps)—यह एक खरमुख और निग्रह (Catch) युक्त स्वस्तिक यन्त्र होता है। इससे सिरा या धमनी पकड़ कर रक्त का स्राव बंद किया जाता है। थोड़ी देर तक इस प्रकार पकड़ के रखने से बहुधा आप से आप स्राव बंद हो जाता है। गंभीर स्थान में जहाँ अन्य उपायों को अवलंबन करना कठिन होता है, धमनी संदंश से रक्तवाहिनी पकड़ कर व्रणबंधन द्रव्यों के साथ वैसा ही एक दिन तक रक्खा जाता है। इससे बहुधा रक्तस्राव बंद हो जाता है । इस विधि को अंग्रेजी में फोर्सी प्रेशर (Forci pressure) कहते हैं । (९) पीडन (Forsion)—इसका उपयोग छोटी छोटी वाहिनियों के संबंध में होता है। धमनी संदंश से पकड़ कर दो तीन मर्तबा वाहिनी का पीड़न किया जाता है। (१०) टाँका लगाना (Ligature)—टाँका लगाने के लिये भिन्न सीवन द्रव्यों का उपयोग किया जा सकता है। बहुधा आँत से बनाई गई ताँत का (Cat gut) उपयोग अधिक होता है । पहले संदंश से रक्तवाहिनी पकड़ कर तत्पश्चात् ताँत से वाहिनी कस के बांधी जाती है। इस विधि का उपयोग आयुर्वेद में होता था यद्यपि यहाँ इसका उल्लेख नहीं किया गया है। अन्त्रं मेषादीनां शुष्कान्त्रं ताँइत ख्यातं शस्त्रच्छेदानन्तरं सूक्ष्मसिरादिबन्धनादिषु युज्यते। रक्तं स्रवन्तीमाकृष्य संदंशेन सिरां भिषक्। बद्ध्वा स्नाय्वादिभिर्गाढं व्रणं वस्त्रेण वेष्टयेत्॥ व्यधनादनन्तरमित्यादि—पहले वेधस्थान के समीप दूसरा वेध करने से रक्तवेग का क्षय हो जाता है, जिससे दोनों स्थान संकुचित होकर रक्त का स्राव बंद हो सकता है। परन्तु यह कोई विशेष उपयोगी पद्धति नहीं है।

काकोल्यादिक्वाथं वा शर्करामधुमधुरं पाययेत्; एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं, क्षीरयूषरसैः सुस्निग्धैश्चाश्नीयात्; उपद्रवांश्च यथास्वमुपचरेत् ॥३७॥

काकोली आदि औषधों का क्वाथ शर्करा और मधु से मधुर करके पिलावे। अथवा कृष्ण या ताम्र हरिण, मेंढ़ा, खरगोश, भैंसा और सूकर इनका रक्त पिलावे। क्षीर, मुद्गादि यूष और मांसरस इनका स्निग्ध पदार्थों के साथ भोजन करावे और (रक्तस्राव के कारण जो अन्य) उपद्रव उत्पन्न हुए हों, उनका यथाविधि उपचार करे ॥३७॥

वक्तव्य—इस सूत्र में रक्त बंद करने के लिये तथा रक्त की कमी की पूर्ति कराने के लिये आभ्यन्तरीय उपचार वर्णन किये हैं । काकोल्यादि—यह गण आगे द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में वर्णन किया है। क्षीरयूषरसैः—पित्तप्रकृति के रोगी में किंवा पित्तदुष्ट रक्त की अति प्रवृत्ति में क्षीर भोजन देना चाहिये। श्लेष्म प्रकृति के रोगी में किंवा श्लेष्मदुष्ट रक्त की अति प्रवृत्ति में यूष का भोजन देना चाहिये। वात प्रकृति के रोगी में किंवा वातदुष्ट रक्त की अति प्रवृत्ति में मांसरस का भोजन देना चाहिये। (डल्हण)। अन्य लोग दीप्त जठराग्नि में क्षीर भोजन, मध्यम जठराग्नि में यूष भोजन और मन्द जठराग्नि में मांसरस भोजन देना चाहिये, ऐसा मानते हैं।

अधिक रक्तस्राव से उत्पन्न हुए विकारों में यहाँ रक्त का जो प्रयोग सेवन के लिये बतलाया है, वह बहुत ही उद्बोधक है। आयुर्वेद का यह एक मूलभूत सिद्धांत है कि समान द्रव्य से समान द्रव्य की वृद्धि होती है और इसलिये रक्तनाश की अवस्था में रक्त का आप्यायन करने के लिये रक्त का सेवन जितनी शीघ्रता से यह कार्य कर सकता है, उतनी शीघ्रता से दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता—एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद्वृद्धिर्विपर्ययाद्ध्रासः। तस्मान्मांसमाप्यायते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः। तथा लोहितं लोहितेनैव। मेदो मेदसा। वसा वसया। अस्थि तरुणास्थ्ना। मज्जा मज्ज्ञा। शुक्रं शुक्रेण। गर्भस्त्वामगर्भेण॥ (चरक० शा० ६) । पाश्चात्त्य वैद्यक में रक्तानुकारी हीमोग्लोबिन के कई योग पीने के लिये प्रयुक्त होते हैं। इसके सिवाय मनुष्यों के रक्त का उपयोग प्रत्यक्ष सिराद्वारा रोगी के शरीर में किया जाता है । इस विधि को ट्रान्स्फ्यूजन (Transfusion) कहते हैं । इसमें एक स्वस्थ मनुष्य की धमनी से शुद्ध रक्त लेकर उसका अन्तःक्षेप रोगी के शरीर में सिराद्वारा किया जाता है । रक्त का अन्तःक्षेप करने के पूर्व दाता मनुष्य के रक्त की परीक्षा करके, यदि वह रक्त अविरुद्ध (Compatible) मालूम हो, प्रयोग करना चाहिये। इस रक्त के प्रयोग से बहुत लाभ होता है। यदि योग्य समय पर रक्त के अन्तःक्षेप का प्रयोग किया जाय तो सहसा रोगी की मृत्यु होने की संभावना नहीं होती। रक्त का सेवन करने से रक्तस्राव बंद होने में भी मदद मिलती है। क्योंकि रक्त में स्कन्दन सहायक पदार्थ होते हैं । सांप्रत रक्त के स्थान में घोड़े की लसिका (Serum) मुखद्वारा या इन्जेक्शनद्वारा रक्त का स्राव रोकने के लिये दी जाती है। उपद्रवांश्च यथास्वमुपचरेत्—रक्तस्राव बंद होने के पश्चात् जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं, वे मस्तिष्क में रक्त की कमी के कारण होते हैं। इसलिये रोगी को बिस्तरे पर लिटाकर पैर का भाग ऊँचा करके रखना चाहिये, जिससे अधिक से अधिक रक्त मस्तिष्क में पहुँच सके। यदि रोगी मूर्च्छित हो तो उसके हाथ और टाँगें संपूर्ण पट्ट से बांधके रखना चाहिये ताकि शाखाओं में रक्त न आ सके और मस्तिष्क में संपूर्ण रक्त चला जाय। जब तक स्थानिक रक्त का स्रवण बिलकुल बंद नहीं हुआ है तब तक उष्ण और उत्तेजक ओषधियाँ यथा मकरध्वज कर्पूर, कस्तूरी इत्यादि इनका उपयोग नहीं करना चाहिये। अन्यथा हृदय का उत्तेजन होने से रक्तस्रावण फिर प्रारंभ होने की भीति होती है। धातुक्षयादि जो चिरकारी उपद्रव होते हैं, उनकी चिकित्सा आगे बतलाये हुए नियमों के अनुसार पौष्टिक और शोणितवर्धक खाद्यपेयादि द्वारा करना चाहिये।

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः ॥३८॥

तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः ।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत् ॥३९॥

रक्त का अधिक स्राव होने के पश्चात् रक्त की कमी के कारण पाचकाग्नि मंद होती है और वायु का भी परम कोप हो जाता है । इसलिये बड़े प्रयत्न से रोगी को न बहुत ठंडा, हलका, स्निग्ध, रक्तवर्धक, किंचित् खटाई युक्त या खटाई रहित भोजन देवे ॥३८-३९॥

वक्तव्य—रक्त निकले हुए रोगी की स्थिति ऐसी होती है—अग्नि की मन्दता, वात का प्रकोप और रक्त की कमी। इस स्थिति का विचार करके उसको वातशान्ति के लिये बृंहणीय और स्निग्ध खाद्य पदार्थ, अग्निमन्दता के लिये हलका और दीपनीय पदार्थ और रक्त की कमी के लिये रक्तानुकारी नातिशीत तथा उष्ण मधुर पदार्थ देने चाहिये—नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् । तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः ॥ (वाग्भट) । शोणितवर्धन—विशेष कर रक्त बढ़ाने वाले । इसको अंग्रेज़ी में 'हीम्याटिक्स या हीम्याटिनिक्स' (Haematics, Haematincs) कहते हैं । शोणितवर्धन द्रव्यों में सब से उत्तम लोह है, क्योंकि रक्त का रंजक द्रव्य लोह युक्त होता है । इसलिये रोगी को लोह के भिन्न भिन्न योग तथा लोह युक्त खाद्य पदार्थ, यथा—अंडा, टोमाटो, आलू, बादाम इत्यादि देने चाहिये । दूसरा शोणित वर्धक द्रव्य संखिया या सोमल (Arsenic) है । आज कल बाज़ार में कणरंजक द्रव्यानुकारी कई पेटेंट ओषधियाँ मिलती हैं । यथा—हीमोग्लोबिन सायरप, हीमोबिन सायरप, हीमोजेन सायरप इत्यादि । इनका भी शोणितवर्धन के लिये उत्तम उपयोग प्रमाणित हुआ है ।

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम् ।
संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा ॥४०॥
व्रणं कषायः संधत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम् ।
तथा संपाचयेद्भस्म दाहः संकोचयेत् सिराः ॥४१॥

(अधिक प्रवृत्त हुए) रक्त को बंद करने के चार उपाय हैं—(१) संधान, (२) स्कन्दन, (३) पाचन, (४) दहन ॥४०॥ कषायरस व्रण को जोड़ देता है, शीत पदार्थ रक्त को जमा देते हैं, भस्म पका देता है और दाह सिराओं को सिकोड़ देता है ॥४१॥

वक्तव्य—संधान—शस्त्र द्वारा त्वचा धमनी सिरा इत्यादि में जो छेद होता है, उसका संयोजन या घाव के किनारों को मिलाना । स्कन्दन—रक्त का जमना या गाढ़ा बनना । पाचन—सूखा करना, पूय उत्पन्न करना यह इस का अर्थ नहीं है । कषाय—कषायरसद्रव्य यथा न्यग्रोध, औदुंबर, हरीतकी, लोध्र इत्यादि । शरीर से जो रक्त का स्राव होता है, वह धमनी, सिरा या स्रोतसों द्वारा होता है । जब स्राव प्रारंभ होता है, तब प्रकृति अपनी तरफ से स्राव को बंद करने की कोशिश किया करती है । स्राव बंद होने में दो मुख्य कार्य होते हैं । रक्तवाहिनियों के बाहर आते ही गाढ़ा होने लगता है और उसका थक्का वाहिनी के भीतर तथा उसके बाहर जम जाता है, जिससे रक्त बाहर आने में कठिनाई हो जाती है । दूसरा कार्य वाहिनियों के दीवाल में होता है । दीवाल संकुचित होकर वाहिनी का मुख छोटा हो जाता है । इससे रक्त जमने में मदद मिलती है तथा रक्तप्रवाह का वेग कम हो जाता है । बहुधा मामूली रक्तस्राव उपर्युक्त विधि के अनुसार आप ही आप बंद हो जाया करता है । परंतु जिस समय वह आप ही आप बंद नहीं होता, उस समय उपर्युक्त उपायों द्वारा नैसर्गिक विधि में मदद करने की आवश्यकता होती है । इनमें से कषाय रस द्रव्य रक्तगत तथा व्रणस्रावगत अल्ब्यूमिन इत्यादि प्रोटिनों को जमाकर रक्त स्राव का निवारण करने में मदद करता है । शीत रक्त वाहिनियों की दीवाल संकोच कर रक्तस्राव का निवारण करने में मदद करता है और दाह अल्ब्यूमिन इत्यादि प्रोटिनों को जमाकर तथा वाहिनियों को सिकोड़ कर दोनों प्रकार से रक्तस्राव का निवारण करने में मदद करता है ।

अस्कन्दमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत् ।
संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥४२॥
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि ।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते ॥४३॥

जब रक्त शीतल उपचार से बंद न हो जाय तो (कषाय रस द्रव्य से) संधान क्रिया करनी चाहिये और जब संधान भी भ्रष्ट हो जावे तब (भस्म से) पाचन क्रिया करे ॥४२॥ इन तीन विधियों से ही वैद्य जहाँ तक हो सके (रक्तस्राव निवारण करने का) प्रयत्न करे और जब इनसे कार्यसिद्धि न हो तब रक्तस्राव बंद करने में अचूक ऐसे दाह का उपयोग करना चाहिये ॥४३॥

वक्तव्य—दाहः परम इष्यते—सचमुच रक्तस्राव बंद करने के लिये दाह अत्यंत जोरदार उपाय है । यदि सिरा धमनी जैसे विशिष्ट स्थान से रक्त का स्रवण होता हो तो तप्तशलाका का उपयोग करना चाहिये और यदि तमाम व्रण से रक्त चूता हो अर्थात् केसिकाओं से रक्त का स्राव होता हो तो उष्ण जल का उपयोग करना चाहिये । इसके लिये जल की उष्णता १३०-१६० फै० तक होना आवश्यक है ।

शेषदोषे[१] यतो रक्ते न व्याधिरतिवर्तते ।
सावशेषे ततः स्थेयं न तु कुर्यादतिक्रमम् ॥४४॥

यदि कुछ दूषित रक्त शेष रह जाय तो व्याधि बढ़ नहीं सकती । इसलिये कुछ दूषित रक्त शेष छोड़ कर ही रोक देना चाहिये परंतु रक्तस्राव का अतियोग करना योग्य नहीं ॥४४॥

वक्तव्य—दूषित रक्त का जो शेष शरीर में रहता है, उसका निर्हरण यथामात्रा सींग से हो सकता है या उसका प्रसादन शीतोपचारादि से सरल हो सकता है । परंतु रक्तस्राव का अतियोग करने से दारुण रोग उत्पन्न होते हैं—अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद् दारुणा वा चलामयाः । (वाग्भट) । रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः । न चातिप्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥ (सु० शा०) । हरेच्छृंगादिभिः शेषं प्रसादमथवा नयेत् । शीतोपचारपित्तास्रक्रियाशुद्धिविशोषणैः । दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेवमेव प्रसादयेत् ॥ (अ० हृदय) । शरीर से अधिक से अधिक रक्त निकालने का प्रमाण आयुर्वेद में एक प्रस्थ यानि साढ़े तेरह पल दिया है—

---

[१] सशेषदोषे रुधिरे.

परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे। (सुश्रुत)। तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ आधुनिक प्रयोगों द्वारा भी यह प्रमाणित हुआ है कि अधिक से अधिक ६०० सी० सी (करीब ५५ तोला) रक्त निकाल सकते हैं। यह राशि प्राचीन साढ़े तेरह पल के बराबर आती है।

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥४५॥

रक्त ही शरीर का मूल है और रक्त से ही शरीर का धारण होता है। इसलिये यत्न करके रक्त की रक्षा करनी चाहिये। वास्तव में रक्त ही जीव है, यह स्थिति है ॥४५॥

स्रुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले।
शोफं सतोदं कोष्णेन सर्पिषा परिषेचयेत् ॥४६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शोणितवर्णनीयो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

रक्त निकाले हुए मनुष्य के व्रणस्थान पर यदि शीतल उपचार से वायु प्रकुपित होकर शोथ और पीड़ा करे तो गरम घृत से उस स्थान पर सेचन करना चाहिये ॥४६॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां शोणितवर्णनीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः।

अथातो दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके अनन्तर दोष, धातु तथा मल इनके क्षय और वृद्धि का विज्ञान जिस में हो ऐसे अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

दोषधातुमलमूलं हि शरीरं, तस्मादेतेषां लक्षणमुच्यमानमुपधारय ॥२॥

दोष, धातु और मल शरीर के मूल हैं। इस कारण इनके लक्षण, जो यहाँ वर्णन किये जाते हैं, (एकाग्र होकर) श्रवण करो ॥२॥

वक्तव्य—दोष—'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः'। धातु—'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः'। सप्त दूष्याः ॥ मल—मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च' ॥ (वाग्भट)। मूलम्—जैसे कि वृक्ष की वृद्धि और क्षति उसके मूल की अविकृत और विकृत अवस्थाओं पर निर्भर होती है वैसे ही शरीर की वृद्धि और क्षति वातादि दोष, रसादि धातु और मूत्रादि मल इनके अविकृत और विकृत अवस्थाओं पर निर्भर होती है। इसलिये यहाँ वातादि को मूल की उपमा दी गई है। वैद्यक में मनुष्य शरीर की तुलना वृक्ष के साथ हमेशा होती है—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमृषयः पुरुषं विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत् (वाग्भट)।

तत्र, प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति ॥३॥

उनमें से प्रस्पन्दन, उद्वहन, पूरण, विवेचन और धारण इन (पाँच) लक्षणों से युक्त वायु पाँच प्रकार से विभक्त होकर शरीर को धारण करता है ॥३॥

वक्तव्य—लक्षण दो प्रकार के होते हैं—स्वरूपवर्णनात्मक और कार्यवर्णनात्मक। इस अध्याय में कर्मानुमेय क्षयवृद्धि का ही वर्णन होने के कारण केवल कार्यात्मक लक्षणों का विचार किया गया है। वातसंबंधी विशेष विवरण निदानस्थान के प्रथम अध्याय में होगा। पञ्चधा प्रविभक्तः—(१) व्यान, (२) उदान, (३) प्राण, (४) समान, (५) और अपान। प्रस्पन्दन—शरीर के चलन वलनादि कर्म। यह व्यान वायु का कार्य है। उद्वहन—श्वास प्रश्वास तथा भाषणादि इंद्रियार्थों का धारण। यह उदान वायु का कर्म है। पूरण—आहार से उदरपूरण करना। यह प्राण वायु का कर्म है। विवेक—रस मूत्र पुरीष को विभक्त करना। यह समान वायु का कर्म है। धारण—शुक्र मूत्र मलादि का अवेगकाल में धारण करना और वेगकाल में उत्सर्ग करना। यह अपान वायु का कर्म है।

रागपंक्तितेजोमेधोष्मकृत्पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥४॥

रागकृत्, पक्तिकृत्, तेजःकृत्, मेधाकृत् और ऊष्मकृत्। ऐसा पित्त पाँच प्रकार से विभक्त होकर अग्नि का कार्य करके शरीर को अनुगृहीत करता है ॥४॥

वक्तव्य—रागकृत्—रस का परिवर्तन रक्त में करनेवाला इसको 'रंजक' पित्त कहते हैं। पक्तिकृत्—आहार का पचन करने वाला। इसको 'पाचक' पित्त कहते हैं। तेजःकृत्—दृष्टि उत्पन्न करने वाला—तेजो दृष्टिरिति ख्यातम्। इसको 'आलोचक' पित्त कहते हैं। मेधाकृत्—बुद्धिकृत्। इसको 'साधक' पित्त कहते हैं। ऊष्मकृत्—शरीर को उष्ण रखने वाला। इसको 'भ्राजक' पित्त कहते हैं। पञ्चधा प्रविभक्तः—रंजक, पाचक, आलोचक, साधक और भ्राजक भेद से पाँच प्रकार का। पाँचों प्रकार के पित्त का वर्णन आगे एक्कीसवें अध्याय में किया गया है। अग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति—जैसे शरीर के बाहर अग्नि दहन पचनादि कर्म करता है, वैसे पित्त शरीर के भीतर अग्नि की भाँति दहन पचनादि कार्य करके शरीर पर उपकार करता है। इसका विशेष विवरण एक्कीसवें अध्याय के आठवें सूत्र में किया गया है।

सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥५॥

सन्धिसंश्लेषणकारक, स्निग्धताकारक, रोपक, पूरक, बल और स्थैर्यकारक ऐसा कफ पाँच प्रकार से विभक्त होकर जल की भाँति शरीर को अनुगृहीत करता है ॥५॥

वक्तव्य—सन्धिसंश्लेषण—जोड़ों में रोगन करना—स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते। संधयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥ इसको 'श्लेष्मक' कफ कहते हैं। स्नेहनकृत्—भोज्य पदार्थों का स्नेहन या क्लेदन करने वाला। इसको 'क्लेदक' कफ कहते हैं। रोपक—रोपण करने वाला। पूरणकृत्—अक्षिपूरण करने वाला। इसको 'तर्पक' कफ कहते हैं। बलस्थैर्यकृत्—बल तथा त्रिक संधि की स्थिरता करने वाला। इसको 'अवलंबक' कफ कहते हैं। उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति—उदक जिस प्रकार शीतलता और पुष्टि का कार्य करता है, वैसे कफ भी उदक की भाँति शरीर के भीतर शैत्य और पुष्टि का कार्य करता है।

---

[1] पक्त्योजस्तेजो०

वात, पित्त, कफ यद्यपि एक एक ही होते हैं तथापि स्थानभिन्नता और कार्यभिन्नता के अनुसार भिन्न भिन्न नाम से पुकारे जाते हैं। जैसे कि एक मनुष्य भिन्न भिन्न स्थान में भिन्न भिन्न कार्य करने के कारण रसोईदार, चपरासी, चौकीदार इत्यादि भिन्न भिन्न नामों से कहा जा सकता है। ते चैते दोषाः प्रत्येकं पञ्चभिः प्रकारैर्भिद्यन्ते विशिष्टस्थानाश्रयेण क्रियाभेदात्...यथैकोऽपि देवदत्तो यां यां क्रियां करोति तदनुरूपमेवानेकं पाचकलावकादिनाम लभते (इन्दु)।

रसः[1] प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति, रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च, मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च, मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च, अस्थि[2] देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च, मज्जा प्रीतिं स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति, शुक्रं धैर्य[3]च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थं च ॥६॥

रस शरीर का तर्पण और रक्त की पुष्टि करता है। रक्त शरीर वर्ण का प्रसादन, मांस की पुष्टि और प्राणों का धारण करता है। मांस शरीर और मेद को पुष्ट बनाता है। मेद (शरीर में) स्निग्धता, स्वेद, दृढता और हड्डियों की पुष्टि करता है। अस्थियाँ शरीर को धारण करती हैं और मज्जा की पुष्टि करती हैं। मज्जा प्रसन्नता, स्निग्धता, बल, शुक्र की पुष्टि और अस्थियों (के भीतरी पोले स्थान) का भरण करती हैं। शुक्र (कामोद्वेग के समय पुरुषों में) धैर्यच्युति, (स्त्रियों पर) प्रीति, शरीर में बल, (मैथुन के समय) हर्ष और (सन्तानोत्पत्ति में) बीज का प्रयोजन करता है ॥६॥

वक्तव्य—सूत्रगत रसरक्त कार्यों का बहुत कुछ विवरण पिछले अध्याय में हो चुका है। मेदसश्च—पुष्टिमिति शेषः। देहधारण—अस्थियों से शरीर का ढाँचा बनता है, उसकी शकल एक-सी रहती है, दबाव पड़ने पर उसकी आकृति में फर्क नहीं होता तथा शरीर का भार सँभाला जाता है। अभ्यंतरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः। अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम्॥ (सुश्रुत, शरीर)। देहबल—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर वीर्यसंचय करने से शरीर में एक विशेष प्रकार का बल उत्पन्न होता है—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (पातंजलयोगसूत्र)। बीजार्थं च—'बीजप्रयोजनं करोति' इति तात्पर्यः। जैसे कि ऋतु क्षेत्रादि की उपस्थिति में बीज अंकुरोत्पत्ति का कार्य करता है, वैसे ही स्त्रियों में ऋतु क्षेत्रादि की अनुकूलता में वीर्य गर्भोत्पत्ति का कार्य करता है। शुक्र क्या है—शुक्र एक दूधिया रंग का गाढ़ा लसदार क्षारीय प्रतिक्रिया युक्त द्रव है; जो शुक्रग्रंथियों, शुक्रप्रणाली, शुक्राशय, अष्ठीलाग्रंथि और शिश्नमूलग्रंथियों के रसों के मिश्रण से बनता है। यदि ताजे शुक्र की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा की जाय तो उसमें बड़ी फुरती से इधर उधर फिरते हुए असंख्य सूक्ष्म जीव दिखाई देंगे। बीज प्रयोजन का कार्य करने के लिये शुक्र का यही आवश्यक भाग है। इनको शुक्राणु (Spermatozoon) कहते हैं। मैथुन के पश्चात् एक समय में जितना शुक्र निकलता है, उसमें इनकी संख्या दो से बीस करोड़ के लगभग होती है। शुक्राणु की लंबाई $\frac{१}{१०००}$ से $\frac{१}{५००}$ इंच तक होती है। उसका अगला सिरा मोटा और अण्डाकार होता है, पिछला भाग पतला होता है और पूंछ नोकीली होती है। बलवान् शुक्राणु बड़ी तेजी से फिरते हैं और निर्बल शुक्राणु सुस्ती से फिरते हैं। मैथुन के पश्चात् जो शुक्राणु सब से प्रबल होता है, वही भीतर स्त्रीबीज (Ova) तक पहुँचता है। इससे गर्भोत्पत्ति होती है। गर्भाधान के लिये एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। शुक्र में शुक्राणु कभी कम होते हैं, कभी ज्यादा होते हैं और कभी होते ही नहीं। शुक्रगत शुक्राणु अनुपस्थित होने से (Azospermia), बहुत सुस्त होने के (Oligo spermia) या निश्चल होने से (Necro spermia) शुक्र बीजप्रयोजक नहीं होता अर्थात् पुरुष सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते।

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च, बस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रं, स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत् ॥७॥

मल शरीर को भीतर से सहारा देता है और वायु तथा अग्नि को धारण करता है। मूत्र बस्ति का पूरण करता है और शरीर के त्याज्य जलांश को बाहर निकाल देता है। स्वेद त्वचा को आर्द्र तथा कोमल बनाता है ॥७॥

वक्तव्य—उपस्तंभ—अवष्टंभ या शरीर को सहारा देना। राजयक्ष्मा में मल की इस शक्ति के उपलक्ष्य में लिखा है—सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्। विक्लेदकृत्—क्लेदविहीन करने वाला। अन्नक्लेदनिर्वाहिणेन मूत्रम् (अ० संग्रह)। स्वेदः—क्लेदत्वक्स्नेहरोमधारणैः स्वेदः। (अ० संग्रह)।

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च, गर्भो गर्भलक्षणं, स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं[1] चेति। तत्र[2] विधिवत्परिरक्षणं कुर्वीत ॥८॥

स्त्रियों का आर्तव रक्त के समान लक्षणयुक्त और गर्भस्थितिकारक होता है। गर्भ गर्भलक्षण उत्पन्न करने वाला होता है। स्तनगत दुग्ध स्तन की पुष्टता करने वाला तथा (सन्तानों का) जीवन होता है। इन (प्रकृतिस्थ वातादि दोष, रसादि धातु, मलादि मल और स्तन्यादि उपधातुओं) की रक्षा यथाविधि करनी चाहिये ॥८॥

वक्तव्य—गर्भकृत्—आर्तव के वास्तविक क्या क्या प्रयोजन हैं इस विषय में आज भी निश्चिति से नहीं कहा जा सकता। परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रत्यक्षतया न होने पर भी अप्रत्यक्षतया वह जरूर 'गर्भकृत्' है। पहले तो यह है कि आर्तव का स्त्रीबीज (Ova) के परिपक्व होने से बहुत कुछ संबंध मालूम होता है। क्योंकि आर्तव अधिकतर उस समय होता है, जब कि पक्वबीज बीजग्रंथि (Ovary) से बीजवाहिनियों (Fallopian tubes) में आता है। आर्तव से पहले बहुधा बीज परिपक्व नहीं होते हैं तथा उसके पश्चात् बीजग्रंथि सिकुड़ कर बीज निकलना बंद हो जाता है। दूसरा यह है कि आर्तवोत्पत्ति के कारण गर्भाशय की श्लैष्मिक कला गर्भ चिपकने योग्य बन जाती है। तीसरा यह है कि आर्तव के ही कारण उसके पश्चात् दस बारह दिन तक स्त्री के गर्भवती होने की अधिक संभावना होती है। इसलिये इस काल को 'ऋतु-

---

१ रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं. २ अस्थीनि. ३ धैर्यच्युवनं.

१ जीवसंज्ञं. २ तेषां.

काल' कहते हैं—ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। (मनुस्मृति)। चौथा यह है कि गर्भधारणा होने के पीछे आर्तव बंद हो जाता है। गर्भलक्षणम्—गर्भाशय में गर्भस्थिति होने से माता में जो लक्षण हुआ करते हैं, वे—स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तया। अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः॥ अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिंगमुच्यते॥ (सुश्रुत. शा. अ. ३)। आपीनत्वजननम्—दुग्धावस्था में स्तनों की पुष्टि दुग्धग्रंथियों की वृद्धि, दुग्धवाहिनियों की दुग्धपूर्णता तथा स्तनगत मेद की वृद्धि इन कारणों से होती है। जीवनम् 'बालानाम्' इति शेषः। दूध पीने वाले बच्चों के लिये माता के दूध का महत्त्व याथातथ्य से आयुर्वेद में वर्णन किया है—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। (वाग्भट)। प्रकृतिभूतत्वात्तत् पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति। (चरक)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि दूध पीने वाले बच्चों की शरीरवृद्धि, स्वास्थ्य तथा जीवन के लिये माता के दूध से बढ़ कर संसार भर में दूसरी कोई चीज नहीं है।

अत ऊर्ध्वमेषां क्षीणलक्षणं वक्ष्यामः; तत्र, वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च, पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वं(ता) च, श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता[1] सन्धिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च। तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव[2] प्रतीकारः ॥९॥

अब यहाँ से इनके क्षीणावस्था के लक्षण वर्णन करते हैं। वातक्षय (की अवस्था) में शारीरिक कार्य में मन्दता, स्वल्प बोलना, अल्प हर्ष और बुद्धि की मन्दता उत्पन्न होती है। पित्तक्षय (की अवस्था) में शरीर की उष्णता कम होती है, जठराग्नि मंद हो जाती है तथा शरीर की कांति घट जाती है। कफक्षय में शरीर में रूक्षता तथा भीतर जलन पैदा होती है, आमाशय के अतिरिक्त अन्य श्लेष्माशय भी शून्य हो जाते हैं, संधियों में शैथिल्य, तृष्णा, दुर्बलता तथा जागरण भी होता है। इन (वातादि दोषों) के क्षय की चिकित्सा स्वयोनिवर्धक द्रव्यों के उपयोग से होती है ॥९॥

वक्तव्य—आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता—आमाशय श्लेष्मा का प्रधान आशय है। वहाँ जब श्लेष्मा क्षीण हो जाता है तब उरः, कण्ठ, शिर और संधियाँ ये श्लेष्मा के अन्य आशय भी शून्य हो जाते हैं। क्षीणलक्षण—वातादि दोष जब क्षीण हो जाते हैं तब उनके स्वाभाविक गुण और कर्म इन की हानि हो जाती है किंवा इनके विरुद्ध गुणकर्मों की वृद्धि हो जाती है। यह सामान्य क्षय का लक्षण है। ऊपर जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे केवल दिग्दर्शनार्थ हैं। क्षीणा जहति स्वं लिङ्गम्। कर्मणः प्राकृताद्वा-निर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्। (चरक)। स्वयोनिवर्धनानि—वात की योनि वायु, पित्त की योनि अग्नि और कफ की योनि उदक है। अर्थात् स्वयोनिवर्धनानि से स्वगुणवर्धनद्रव्याणि तथा कर्माणि समझना चाहिये। धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति। कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदा सेव्यम्। वातक्षये कटुकतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाम्। पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानाम्। श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुरसान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम्। (चरक)।

रसक्षये हृत्पीडा[1] कम्पः शून्यता तृष्णा च, शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च, मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च, मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च, अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं[2] दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च, मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च, शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम्। तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः ॥१०॥

रस की क्षीणता में हृदय में पीड़ा, कंप (Palpitation) और शून्यता (A Sense of gone ness) तथा तृषा होती है। रक्त की क्षीणता में त्वचा में खुरदरापन, अम्ल तथा शीत पदार्थ सेवन करने की इच्छा और सिराओं में शिथिलता होती है। मांस की क्षीणता में कटि, कपोल, होठ, शिश्न, जंघा, वक्षःस्थल, काँख, पिंडली, उदर, गला इनमें शुष्कता, रूखापन और दर्द, शरीर में थकान और धमनियों में शिथिलता होती है। मेद की क्षीणता में प्लीहा की वृद्धि, सन्धियों में शून्यता, रूक्षता और स्निग्ध मांस खाने की इच्छा होती है। अस्थियों की क्षीणता में अस्थियों में दर्द, नख और दन्त की खराबी तथा रूक्षता उत्पन्न होती है। मज्जा की क्षीणता में वीर्य की अल्पता, अस्थियों और संधियों में पीड़ा और अस्थियों में पोलापन होता है। शुक्र की क्षीणता में शिश्न और वृषण में वेदना, मैथुन के लिये दौर्बल्य, देर से वीर्यपात और उसमें कुछ रक्त मिला हुआ अल्पवीर्य होता है। इन रसादि की क्षीणता में भी जिसकी क्षीणता हो, उसकी वृद्धि करने वाले द्रव्यों का उपयोग करना ही चिकित्सा है ॥१०॥

वक्तव्य—हृत्पीडा इत्यादि—हृत् का संबंध पीड़ा, कंप और शून्यता के साथ होता है। रस का स्थान हृदय—तस्य तु हृदयं स्थानम्—होने के कारण पीड़ा, कंप और शून्यता हृदय के विकार समझना चाहिये। अल्परक्तशुक्रदर्शनम्—शुक्रक्षय के कारण वायु प्रकुपित होकर रक्तवह धमनी में प्रवेश करके शुक्रमार्ग से वीर्य के साथ रक्त का भी स्राव कराता है—क्षयमपि चोपगच्छति रेतसिः……मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्तते। अतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात। तथास्य वायुर्व्यायच्छमानस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति। तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुसृतलिंगम्। (चरक निदान)। वृषणवेदना—वृषणग्रंथि में शुक्रोत्पत्ति होने के कारण शुक्रक्षय में वृषण में वेदना होती है। वृषण में एक हजार के लगभग नलाकार ग्रंथियाँ हैं, जिनमें वीर्य का महत्त्व का भाग यानि शुक्राणु (Spermatozoa) उत्पन्न होते हैं। इस महत्त्व के अवयव के सिवाय वीर्य में शुक्रप्रणाली का कुछ रस, शुक्राशय का कुछ रस, अष्टीलाग्रंथि (Prostate gland) का कुछ रस

---

[1] आमाशयेतराशयानां शून्यता. [2] स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि.

[1] हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा. [2] अस्थितोदी.

तथा शिश्नमूलग्रंथियों का कुछ रस मिल जाता है । वीर्य इस प्रकार कई रसों का मिश्रण है । कुछ लोगों की यह कल्पना है कि आयुर्वेद के अनुसार शुक्र सर्वशरीरव्यापी है और उसके लिये शरीर में कोई निश्चित स्थान नहीं । परंतु यह कल्पना असत्य है । आज प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से शुक्रोत्पत्ति और स्थिति में जो जो अवयव भाग लेते हैं, उनका स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद में मिलता है—'शुक्रवहे द्वे तयोर्मूलं वृषणौ' । 'शुक्रवहाणां स्रोतसां वृषणौ मूलम्' । 'शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लैब्यं वा' । 'शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेंद्रियत्वम्' । 'शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं कुरुतेऽनिलश्च' । 'शुक्रं प्रच्यवते स्थानादुन्मार्गं भजतेऽनिलः' । 'मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे । शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः' ॥ 'क्लैब्यं गतिक्षयोऽज्ञानां संभेदः क्षतसर्पणम् । शुक्रस्थानगते लिंगं प्रागुक्तानि तथैव च' ॥ 'दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः । शुक्रं संदूषयन्त्याशु तद्वक्ष्यामि विभागशः' ॥ 'अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः । हर्षात् स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत्' ॥ 'तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् । शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव' ॥ 'द्व्यंगुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः । मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते' ॥ इससे यह स्पष्ट है कि 'शुक्रस्य सर्वशरीरगतत्वेन शुक्रस्थानाऽसंभवादिति' इत्यादि जो टीकाकार लिखते हैं और वैद्य मानते हैं, वह प्रत्यक्षविरोधी और शास्त्रविरोधी कल्पना है । इसमें संदेह नहीं कि आयुर्वेद में कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके कारण उपर्युक्त कल्पना प्रसृत हुई है । यथा—विशस्तेष्वपि देहेषु यथा शुक्रं न दृश्यते । सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ (सुश्रुत निदान अ. १०) । रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा । सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रसंस्पर्शने तथा ॥ यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा । शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः । (सुश्रुत, शरीर अ. ४) । बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में शुक्र की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये बाल और वृद्ध मनुष्य के शव का विच्छेदन करने पर भी शुक्र का मिलना कठिन है । युवावस्था में भी यद्यपि शुक्र बनता है तथापि उस की राशि डेढ़ तोले से अधिक नहीं होती । मृत्यु के पश्चात् विच्छेदन से इस का ज्ञान होना कठिन है । इसलिये शवविच्छेदन से शुक्र का दर्शन न होना उसके स्थानाभाव का निदर्शक समझना ठीक नहीं है । शरीरव्यापित्व के लिये दूसरा जो प्रमाण घृत और गुड़ का दिया है, उससे यह मानना उचित होगा कि शुक्र की उत्पत्ति जिस द्रव्य से होती है वह, यानि शुक्र का पूर्वगामी द्रव्य, सर्वशरीरव्यापी है । जैसे कि गुड़ का पूर्वगामी द्रव्य इक्षुव्यापी है या घृत का पूर्वगामी द्रव्य दुग्धव्यापी है । पूर्वगामी द्रव्य का अर्थ अन्नरस का 'शुक्रसमान अंश' जिस से शुक्र की उत्पत्ति होती है । महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन सर्वव्यापी शुक्र से 'शुक्रसार' (Internal secretion of the testicles) मानते हैं, जिसके प्रभाव से पुंस्त्वव्यंजक डाढ़ी मूँछें इत्यादि बाह्य चिह्न तथा शरीर की वृद्धि हुआ करती है । 'यथा पयसि सर्पि' रित्याद्यभिधाने तु सर्वशरीरपरं सूक्ष्मतरं शुक्रसारं लक्षयति—यस्मात् पुंस्त्वव्यंजकश्मश्रु-पौरुषाकृतिविशेषाः संभवन्ति । तदेवं शुक्रद्वैविध्ये सिद्धे सूक्ष्मतरं शुक्रमभिप्रेत्य 'यथा पयसि सर्पि' रित्यादि प्राचां वचनं व्याख्येयम्' ॥ परंतु आयुर्वेद में सर्वव्यापी शुक्र से ही स्थूल शुक्र की उत्पत्ति मानी गई है—तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि । शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥ कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा । स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् संप्रवर्तते ॥ शुक्रसार से स्थूल शुक्र की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिये सर्वव्यापी शुक्र से शुक्रसार की अपेक्षा शुक्र का पूर्वगामी द्रव्य मानना अधिक प्रशस्त है । स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः—समानगुण तथा समानगुणभूयिष्ठ द्रव्यों का उपयोग । इसके सिवाय धातुवृद्धिकर कर्म भी करना चाहिये । यथा—मांसं मांसेन, लोहितं लोहितेनैव, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण ॥ समानगुणभूयिष्ठ का उदाहरण—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणाम् । (चरक) ।

पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ संचरणं च, मूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्पमूत्रता च; अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः । स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च; तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च ॥११॥

मल की क्षीणता में हृदय और पार्श्व में पीड़ा, शब्दयुक्त वायु का ऊर्ध्वगमन और उदर में वायु का संचार होता है । मूत्र के क्षय में बस्तिस्थान में पीड़ा और मूत्र की कमी होती है । इनमें भी इनके उत्पत्तिवर्धक द्रव्यों का उपयोग ही उपाय है । स्वेद की क्षीणता में रोमकूप बंद हो जाते हैं, त्वचा शुष्क होती है, स्पर्शज्ञान यथोचित नहीं होता और पसीना आना बंद हो जाता है । इसमें तैल का उबटन करना और स्वेद का उपयोग करना चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—मूत्रक्षय के अन्य लक्षण—मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च । पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति ॥ (चरक) । स्तब्धरोमकूपता—त्वचा में दो प्रकार की ग्रंथियाँ रहती हैं, तैलग्रंथियाँ (Sebaceous glands) और स्वेदग्रंथियाँ । इन ग्रंथियों से एक चिकना पदार्थ त्वचा पर निकल आता है, जिसके कारण त्वचा चिकनी, चमकदार और कोमल बन जाती है । इन ग्रंथियों से जो नलियाँ निकलती हैं, वे बालों की जड़ों में पहुँचती हैं । स्वेदक्षय में रोमकूप बंद हो जाने के कारण इन ग्रंथियों का चिकना स्राव त्वचा पर नहीं पहुँचता जिससे त्वचा शुष्क हो जाती है और उसी में छोटे छोटे दरार भी उत्पन्न होते हैं—स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः । (वाग्भट) । स्वयोनिवर्धन—पुरीष और मूत्र बढ़ाने वाले द्रव्यों का उपयोग—पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्माण्डाऽजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम् । मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम् । (चरक) । मलक्षयदर्शक सामान्य लक्षण—मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम् । स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवैः ॥ (वाग्भट) । स्वेदक्षयचिकित्सा—अभ्यङ्गव्यायाममद्यस्वप्ननिवातशरणस्वेदैः । (अ. संग्रह) ।

आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च; तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः । स्तन्यक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासंभवोऽल्पता वा; तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः । गर्भक्षये गर्भास्पन्दनमनुन्नतकुक्षिता च; तत्र प्राप्त-

बस्तिकालायाः क्षीरबस्तिप्रयोगो मेध्यान्नोपयोग[1]श्चेति ॥१२॥

आर्तव क्षय में योग्य समय पर रजोदर्शन न होना अथवा रजःस्राव कम होना और योनि में पीड़ा होना ये लक्षण होते हैं। इसके लिये संशोधनपूर्वक उष्ण पदार्थों का उपयोग करना प्रशस्त है। स्तन्य के क्षय में स्तनों पर सिकुड़न होती है, दूध की उत्पत्ति बंद हो जाती है किंवा दूध अल्प परिमाण में आता है। इसके लिये कफवर्धक द्रव्यों का उपयोग प्रशस्त है। गर्भ के क्षय में गर्भ का न फिरना या कम फिरना, कूख ऊँची न होना ये लक्षण होते हैं। इसके लिये गर्भिणी बस्ति देने योग्य काल की हो तो क्षीर बस्ति का प्रयोग करना और मेध्य अन्न का प्रयोग करना हितकर है ॥१२॥

वक्तव्य—संशोधन—विरेचन और बस्ति। आग्नेयद्रव्य—तिलमाषादि द्रव्य—तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः। पाने मूत्रमुदश्विच्च दधि शुक्तं च भोजने ॥ श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः—स्तन्य रस से उत्पन्न होता है इसलिये श्लेष्मवर्धक द्रव्यों का उपयोग कहा है—रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्य स्तन्यमित्यभिधीयते ॥ यथा ग्राम्यानूपौदक शाक धान्य मांस, द्रव मधुराम्ल लवण भूयिष्ठ आहार, दुग्धपान दुग्धिका कलंबिकादि क्षीर ओषधियाँ और श्रम न करना इत्यादि। गर्भास्पन्दन—अस्पन्दन से स्पन्दाभाव, ईषत् स्पन्दन या चिरात् स्पन्दन ये तीन अर्थ समझना चाहिये। प्राप्तबस्तिकालायाः—आठवें महीने की गर्भिणी। आठ महीने तक बस्ति का निषेध होता है—त्यजेत्। तथा रक्तस्रुतिं शुद्धि बस्तिमा मासतोऽष्टमात्। (अ. हृदय)। मेध्यान्नोपयोगः—मेधाय यज्ञाय हितं मेध्यं तदेवान्नं मेध्यान्नं क्षीरसर्पिश्छागादिकमित्येतत्। (हाराणचंद्र)। क्षीर सर्पि इत्यादि स्निग्ध जीवनीय और बृंहणीय द्रव्यों का उपयोग। इन पदार्थों के सिवाय चरक और वाग्भट में अण्डों का उपयोग करने के लिये लिखा है—गर्भस्त्वामगर्भेण। (चरक)। तथा पयसां रसानामामगर्भाणां च गर्भवृद्धिकरः। आमगर्भरसेन चाश्नीयात्। तानेव च तत्र भृष्टान् भक्षयेत्। (अ. संग्रह)। इस कल्पना के अनुसार 'मेध्याण्डोपयोग' ऐसा भी पाठ कहीं होता है। इन दोष धातु और मलों का क्षय निम्न कारणों से होता है—क्षयः पुनरेषामतिसंशोधनातिसंशमनवेगविधारणासात्म्यान्नमनस्तापव्यायामानशनातिमैथुनैर्भवति। (डल्हण टीका)।

अत ऊर्ध्वमतिवृद्धानां दोषधातुमलानां लक्षणं वक्ष्यामः। वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद्भवति ॥१३॥

अब यहाँ से अतिवृद्ध दोष, धातु और मल इनके लक्षण कहते हैं। इनकी वृद्धि अपनी उत्पत्तिकारक आहार विहार के अतिसेवन से होती है ॥१३॥

तत्र, वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं[2] कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं गाढवर्चस्त्वं च; पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं च; श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्ध्यस्थिविश्लेषश्च[1] ॥१४॥

इनमें से वात की वृद्धि में भाषण की कर्कशता, कृशता, कालापन, अंगों का स्फुरण, उष्ण आहारविहार में इच्छा, निद्रानाश, बल की अल्पता और मल का कड़ापन होता है। पित्त की वृद्धि में त्वचा का पीलापन, संताप, शीत आहार विहार की अभिलाषा, निद्रा की कमी, मूर्च्छा, बल का नाश, इंद्रियों की दुर्बलता, मल मूत्र और नेत्र का पीलापन ये लक्षण होते हैं। कफ की वृद्धि में श्वेतता, शीतलता, स्थिरता, गुरुता, (शारीरिक और मानसिक) ग्लानि, तंद्रा, निद्रा, संधि और अस्थियों में शिथिलता ये लक्षण होते हैं ॥१४॥

वक्तव्य—वृद्धि—उपचय या प्रकोप। अल्पनिद्रता—वात और पित्त की वृद्धि में निद्रा का नाश होता है। क्योंकि वाताधिक्य से मनोभ्रमण अधिक होता है और पित्ताधिक्य से दिमाग में जलन मालूम होती है। निद्रा श्लेष्मतमोभवा है। इसलिये श्लेष्मा की वृद्धि में निद्रा अधिक हुआ करती है और श्लेष्म विरुद्ध पित्त और वात की वृद्धि में घट जाती है—'तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च'। 'निद्रा श्लेष्मतमोभवा'। 'श्लेष्मावृतेषु स्रोतस्सु श्रमादुपरतेषु च। इंद्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनम्'॥ (अ. संग्रह)। मूर्च्छा—तम और पित्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होती है—मूर्च्छा पित्ततमःप्राया। तन्द्रा—इंद्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्। निद्रा और तन्द्रा में फर्क यह है कि प्रबोधित होने के पश्चात् निद्रा में मनुष्य उत्साहयुक्त होता है और तंद्रा में उत्साह रहित रहता है।

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति; रक्तं रक्ताङ्गाक्षितां सिरापूर्णत्वं च; मांसं स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च; मेदः स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च; अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्तांश्च; मज्जा सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च; शुक्रं शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावं च ॥१५॥

रस की अतिवृद्धि होने से जी मिचलाना और मुँह से पानी निकलना ये लक्षण होते हैं। अतिवृद्ध रक्त शरीर और नेत्रों में सुर्खी और सिराओं की पूर्ति करता है। अतिवृद्ध मांस कटि, कपोल, होठ, शिश्न, जाँघ, भुजा और जंघा इनमें स्थूलता और शरीर को भारी करता है। अतिवृद्ध मेद शरीर में स्निग्धता, उदर और पार्श्व की वृद्धि, खाँसी और श्वास करता है तथा त्वचा में दुर्गंध पैदा करता है। अतिवृद्ध अस्थि अस्थियों की अनैसर्गिक वृद्धि करता है और (दाँतों की स्वाभाविक संख्या से) अधिक दाँत उत्पन्न करता है। अतिवृद्ध मज्जा सर्व शरीर और नेत्रों में गुरुता करती है। अतिवृद्ध शुक्र शुक्राश्मरी और शुक्र का अधिक स्खलन करता है ॥१५॥

वक्तव्य—प्रसेक—मुखस्राव। उदरवृद्धि—मेद का स्थान उदर होने के कारण उदर की वृद्धि होती है—मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थम्। दौर्गन्ध्यम्—मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात् स्वेदलत्वाच्च। (चरक)। अध्यस्थि—अधिकमस्थि अध्यस्थि स्वाभाविक आकार से अधिक मोटा होना (Hyper troply)। किंवा

---

[1] मेध्याण्डोपयोग. [2] त्वक्पारुष्यं.

[1] सन्ध्यस्थिश्लिष्टता.

अधिक संख्या में उत्पन्न होना । परंतु द्वितीय कार्य बहुधा जन्मोत्तर नहीं हुआ करता है । तीसरा अर्थ अस्थियों में अर्बुद (Bory tumove) उत्पन्न होना ।

पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च ; मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं बस्तितोदमाध्मानं च ; स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च ॥१६॥

पुरीष की वृद्धि अफारा और कुक्षि में शूल उत्पन्न करती है । मूत्र की वृद्धि मूत्र का प्रचुर निर्गम, बार बार मूत्र करने की प्रवृत्ति, बस्ति विभाग में पीड़ा और आध्मान करती है । स्वेद की वृद्धि त्वचा में दौर्गंध्य और खुजली उत्पन्न करती है ॥१६॥

वक्तव्य—आटोप—आटोप शब्द के कई अर्थ होते हैं—(१) उदर में वायु का संचलन, (२) उदर में गुड़गुड़ शब्द होना (Borboryama), (३) ईषत् सशब्दमाध्मानम् । (चक्र) । आध्मान—साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् । आध्मानमिति तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम् ॥ (सुश्रुत) । पेट में वात का निरोध न होकर फूलना (Tympani tis) । मूत्रवृद्धि—पेशाब के समय मूत्र का निकलना । अथवा मूत्र का वेग धारण करने से मूत्रवृद्धि (Hydrocele) का होना ।

आर्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्बल्यं च ; स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च ; गर्भो जठराभिवृद्धिं स्वेदं च ॥१७॥

आर्तव की वृद्धि अंगमर्द, अधिक मासिक स्राव की प्रवृत्ति और दौर्बल्य उत्पन्न करती है । दुग्ध की वृद्धि स्तनों की स्थूलता, बार बार दुग्ध का स्राव होने की प्रवृत्ति और स्तनों में (तनाव की सी) पीड़ा उत्पन्न करती है । गर्भ की वृद्धि उदर की वृद्धि तथा स्वेद उत्पन्न करती है ॥१७॥

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥१८॥

इन अतिवृद्ध दोष धातुमलों का संशोधन तथा संशमन प्रत्येक के लिये यथाविहित विशिष्ट क्रियाओं द्वारा इस प्रकार करे जिससे कि उनका क्षय स्वाभाविक अवस्था से अधिक न हो जाय ॥१८॥

वक्तव्य—क्षपण—संशमन । अतिवृद्ध धातुओं का तथा बलवान् रोगी का संशोधन और मध्यम वृद्ध धातुओं का और दुर्बल रोगी का संशमन करना या संशोधन और संशमन का युक्ति से उपयोग करना । क्षयादविरुद्धैः—'अविरुद्धैरिति वृद्धस्य तथा क्षपणं कर्तव्यं यथाऽन्यदोषस्य धातोर्वा वृद्धिः क्षयो वा न भवतीति भावः । (चक्रः) । क्षयमपेक्ष्य नाधिकैर्नाऽपि च न्यूनैरित्यर्थः । न्यूनो ह्यकिंचित्करो भवत्यधिकश्चात्यर्थं वर्धयित्वाऽऽतुर्यमापादयतीति युक्तमुक्तं क्षयादित्यादि । (हाराणचंद्र) ।

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम् ।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ॥१९॥

प्रत्येक पूर्व धातु अत्यन्त बढ़ने से (परिणाम क्रमपक्ष की दृष्टि से) अपने समीपवर्ती उत्तर धातु को बढ़ा देता है । इस लिये अत्यंत बढ़े हुए धातुओं को घटाना हितकर होता है ॥१९॥

वक्तव्य—क्रमपरिणामपक्ष के अनुसार रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है अर्थात् धातु धात्वाहार होते हैं । इनमें से जब एक की वृद्धि कारणवश हो जाती है तब उससे उत्तर धातु की वृद्धि हो जाती है । उसकी वृद्धि होने के कारण उससे उत्तर धातु की वृद्धि होती है । इस प्रकार एक धातु की अतिवृद्धि होने से शुक्र तक वृद्धि की परंपरा जारी होती है । इसलिये इस वृद्धिपरंपरा यानि विकारपरंपरा को रोकने के लिये अतिवृद्ध धातु का क्षय स्वाभाविक मर्यादा तक करना हितकर होता है । जैसे वृद्धि के संबंध में है, वैसे ही क्षय के संबंध में भी समझना चाहिये—पूर्वो वृद्धः परं कुर्याद्वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम् । (अ. हृदय) । इसलिये कारणवश क्षीण हुए धातु की भी वृद्धि करना स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर है—क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक् । तावद्यावदरोगः स्यान्नरो रोगसमन्वितः ॥ डल्हण के अनुसार इस श्लोक का यह भी अर्थ होता है कि एक धातु वृद्ध होने से न केवल उसके उत्तर धातु की वृद्धि होती है बल्कि इसके पूर्व धातु की भी वृद्धि होती है । वैसे भी क्षय के संबंध में समझना चाहिये—पूर्वः पूर्व इत्याद्युपलक्षणम् । तेन परोऽपि वृद्धः पूर्वं वर्धयति, तथा परोऽपि क्षीणः पूर्वं क्षपयति, तथा पूर्वः क्षीणः परं क्षपयति ॥

बललक्षणं बलक्षयलक्षणं चात ऊर्ध्वमुपदेक्ष्यामः । तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात् ॥२०॥

अब यहाँ से बल के लक्षण तथा बलक्षय के लक्षण कहते हैं । रस से लेकर शुक्रपर्यन्त जो धातु हैं, उनके उत्कृष्टसारभूत अंश को ओज कहते हैं और उसे ही हम अपने शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बल भी कहते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—वास्तव में ओज और बल में भेद है परंतु चिकित्सा की दृष्टि से दोनों एक हो सकते हैं । ओज कारण है, बल कार्य है । ओज रूप रस वर्णयुक्त द्रव्य है । बल इस द्रव्य का कर्म है । शरीर में बल कई कारणों से उत्पन्न होता है परंतु सब से अधिक बल ओजोजन्य होता है । क्योंकि ओजःक्षय से जितना बल का नाश होता है, उतना अन्य किसी कारण से नहीं हुआ करता । इसलिये ओज और बल का अभेद माना गया है । यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्थानगतत्वात् तत्तद्धातुवन्मन्यत इति सर्वधातूनां स्नेह ओजः । क्षीरे घृतमिव तदेव बलमिति तत्कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । अभेदकथनं च चिकित्सैकार्थम् । (भावप्रकाश) ।

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति ॥२१॥

उस बल ही से मांस की स्थिरता और पुष्टि होती है, सर्व प्रकार के कार्य करने के लिये अमोघ शक्ति उत्पन्न होती है, स्वर और वर्ण में प्रसन्नता आती है और बाह्य तथा आभ्यंतर इन्द्रियों की अपने कार्य करने के लिये प्रवृत्ति होती है ॥२१॥

वक्तव्य—स्थिरोपचितमांसता—यह एक उपलक्षण समझना चाहिये । ओज से शरीर के सर्व धातुओं की स्थिरता तथा वृद्धि होती है—ओजोविवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः । अप्रति-

---

१ दौर्गन्ध्यं.

घात—अप्रतिहतशक्तित्व । बाह्यकरण—कर्मेन्द्रिय—वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः । आभ्यन्तर करण—बुद्धींद्रिय—बुद्धींद्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि । **इन के अतिरिक्त उभयात्मक मन का भी यहाँ समावेश करना चाहिये ।** आत्मकार्यप्रतिपत्तिः—**स्वकीय कार्य करने की प्रवृत्ति । कर्मेन्द्रियों में वाणी का कर्म वचन, हस्त का कर्म ग्रहण और धारण, पाद का कर्म गमन, गुद तथा शिश्न का कर्म मल और मूत्र का त्याग है । शिश्न का कर्म रति सेवन भी है ।** पादौ गमनकर्मणि । पायूपस्थौ विसर्गार्थे हस्तौ ग्रहणधारणे । जिह्वा वागिंद्रियं वाक् च ॥ **(चरक)** । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम् । **(सां. का.)** । **बुद्धींद्रियों का कर्म शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ग्रहण है । मन का कार्य संकल्पविकल्पकात्मक होता है । ये कार्य शरीर स्वास्थ्य की दृष्टि से जैसे होने चाहियें वैसे करना इसका अर्थ प्रतिपत्ति ।**

भवन्ति चात्र—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम् ।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम् ॥२२॥
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्[1] ।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥२३॥

ओज सौम्य, स्निग्ध, श्वेत, शीतल, शरीरस्थैर्यकारक, प्रसरणशील, निर्मल, कोमल, पिच्छिल और प्राणों का श्रेष्ठ आधार है ॥२२॥ शरीर का प्रत्येक अवयव इस ओज से व्याप्त रहता है और इसके अभाव से मनुष्यों के शरीर विशीर्ण हो जाते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—ओज विषय के संबंध में प्राचीन काल से बहुत मतभिन्नता दिखाई देती है । आधुनिक पंडितों का भी इसके संबंध में ऐकमत्य नहीं हुआ है । इस प्राचीन और अर्वाचीन मतभिन्नता का उल्लेख करने के पूर्व ओज के संबंध में भिन्न भिन्न आयुर्वेदिक ग्रंथों में जो कुछ वर्णन मिलता है, उस का यहाँ संग्रह अनुपयुक्त नहीं होगा । चरक में ओज का वर्णन—हृदि तिष्ठति यच्छुभ्रं रक्तमीषत् सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा सम्ब्रियते मधु । तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संह्रियते नृणाम् ॥ प्रथमे जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम् । सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते । **(सु. अ. १७)** । येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः । यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥ यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः । संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा ॥ यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रयम् । यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः । **(सु.३०)** । मस्तिष्कस्यार्धांजलिः । तावदेव श्लेष्मणस्यौजस इति । **(शारीर. ७)** । ओजः पुनर्मधुरस्वभावम् । **(नि. ४)** । गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् । प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥ प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते । **(चि. २४)** । **अष्टांगसंग्रह में सुश्रुत और चरक के अनुसार ओज का वर्णन किया गया है**—तेजो यत् सर्वधातूनामोजस्तत् परमुच्यते । हृदयस्थमपि व्यापि तत् परं जीवितास्पदम् । **(सु. १९)** । **अष्टांगहृदय में ओज का वर्णन**—ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् । हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबंधनम् । स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम् । यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति ॥ निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः ॥ **शार्ङ्गधरसंहिता में ओज का वर्णन**—ओजः सर्वशरीरस्थं शीतं स्निग्धं स्थितं मतम् । सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम् ॥ **(पूर्व. ५)** । स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवोजश्च सप्तमम् । इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः ॥ **तन्त्रान्तरोक्त ओज वर्णन**—प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिंदवो हृदयाश्रयाः ॥ अष्टबिन्दुप्रमाणं तदीषद्रक्तं सपीतकम् । अग्निसोमात्मकत्वेन द्विरूपं वर्णितं च तत ॥ **चक्रपाणिदत्त चरक की टीका (सू. अ. ३०) में लिखते हैं**—एतेन द्विविधमोजो दर्शयति परमपरं च । तत्राऽञ्जलिपरिमाणमपरम्, अल्पप्रमाणं तु परम् । सति हि परे चापरे चौजसि 'परस्य' इति विशेषणं सार्थकं भवति । नत्वेकरूपे । अर्धांजलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिताः स्थानम्, तथा प्रमेहेऽर्धांजलिपरिमितमेवौजः क्षीयते, नाष्टबिंदुकम् । अस्य हि किंचित् क्षयेऽपि मरणं भवति, प्रमेहे तु ओजःक्षये जीवत्येव तावत् । ओजःक्षयलक्षणमपि अर्धांजल्योजःक्षय एव बोद्धव्यम् । ओजःशब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते, यदुक्तं 'रसश्चौजः संख्यातः' इति, तथापि इह सर्वधातुसारमोजोऽभिधीयते । एतच्चौज उपधातुरूपं केचिदाहुः । धातुर्हि धारणपोषणयोगाद्भवति । ओजस्तु देहधारकं सदपि न देहपोषकम्, तेन नाष्टमो धातुरोजः । केचित्तु शुक्रविशेषमोजः प्राहुः, तच्च न मनः प्रीणाति । ये तु ब्रुवते सर्वधातूनां सारसमुदायभूतमोजः, ते रसादिसाररूपतया रसादिभ्यो भिन्नमोज इति पृथग्धातुत्वेनोपधातुत्वेन वा निर्देश्यमिति पश्यन्ति । वचनं च 'भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संचीयते मधु । तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संभूयते नृणाम्'॥ अत्र शरीरेभ्य इति धातुभ्यः, गुणैरिति सारभागैः ॥ अत्र यद्यप्योजः सप्तधातुसाररूपं तेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठति । ये तु शुक्रजन्यमोज इच्छन्ति तेषामष्टमो धातुरोजः स्यादिति पक्षे चातिदेशं कृत्वा वक्ष्यति 'रसादीनां शुक्रान्तानां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजः' इति ॥ **(सू. २८)** । **इन्दु अष्टांगसंग्रह की टीका (सू. १९) में लिखते हैं**—दोषाणां प्राकृतं वैकृतं च स्वरूपमुक्तम् । ते च दोषाः समा अप्योजसा विहीनं देहं संवाहयितुमशक्ताः ॥ **इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि ओज शरीर में एक अत्यंत महत्त्व का पदार्थ है । इस की उत्पत्ति आहाररस से ही होती है और यह ओज सप्तधातु साररूप है । यह शीतवीर्य, किंचित् लाल और पीला, स्निग्ध, पिच्छिल और तरल द्रव्य है जो सर्वशरीरव्यापी तथा प्रसरणशील है । इस का प्रधान स्थान हृदय है । यह शरीर का धारण करता है, यथाप्रमाण तथा यथायु शरीर की वृद्धि करता है, शरीर में कार्य करने की स्फूर्ति उत्पन्न करता है, शरीर को रोगक्षम बनाता है । इस की कमी होने से उपर्युक्त कार्यों की क्षति होती है और इस का क्षय होने से शरीर का नाश हो जाता है । ओज पर और अपर दो प्रकार का है । पर ओज हृदयाश्रयी और अष्टबिंदुक है । इसकी कमी होने से मृत्यु हो जाती है । अपर ओज धमन्याश्रयी है और उसकी राशि अर्धांजलि है । इसकी कमी हो सकती है । मधुमेह में अपर ओज का ही निर्गम मूत्र द्वारा हुआ करता है । हाराणचंद्र तथा जल्पकल्पतरुकार कविराज गंगाधर दो प्रकार के ओज नहीं मानते । उनके मतानुसार बिन्दु शब्द का अर्थ कर्ष होता है**—कर्षापरपर्यायत्वाद्बिंदुशब्दस्य । **आयुर्वेद में ओज से कभी कभी रस, जीवशोणित, शरीर की उष्णता और कफ इत्यादि विविध अर्थ भी संदर्भ के अनुसार अभिप्रेत होते हैं**—तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमाश्रितम् । मलीभवति तत्प्रायः कल्प्यते किंचिदोजसे ॥ प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा वैकृतो मल उच्यते । स चैवौजः स्मृतः काये स च

---

[1] देहिनः.

पाप्मोपदिश्यते । (चरक) । पाश्चात्त्य शारीरकार्य विज्ञान के अनुरोध से ओज का स्वरूप और कार्य देखकर कई पण्डितों ने ओज के कई अर्थ अपने प्रामाणिक मतानुसार दिये हैं। यथा—जीवनीय द्रव्य (Vitamin), अल्ब्यूमिन (Albumin), ग्लैकोजन एक प्रकार की शर्करा (Glacogen), वृषणसार पुरुषों में (Internal secretion of the testicles) स्त्रियों में बीजकोषसार (Internal Secretion of the ovary), अष्ठीलासार (Prostatic secretion) इत्यादि । इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त कल्पनाओं में सत्यांश जरूर है परन्तु ओज की संपूर्ण कल्पना किसी एक शब्द से दिग्दर्शित नहीं होती है । पाश्चात्त्यशारीरशास्त्र के अनुसार ओज के लिये एक प्रतिशब्द, जो उसके संपूर्ण अंगों का निदर्शक हो, देना कम से कम आज की स्थिति में अशक्य है ।

अभिघातात्क्षयात्कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात्क्षुधः ।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम् ।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः ॥२४॥

आघात, धातुक्षय, क्रोध, शोक, चिंता, परिश्रम और अनशन इनसे ओज का क्षय होता है । हृदय से प्रेरित हुआ ओज (जब) धातुवाही स्रोतसों से निःसृत होता है तब मनुष्यों को अपने स्वाभाविक कर्मों से वंचित करता है ॥२४॥

वक्तव्य—क्षय—धातुओं का क्षय । ध्यान—चिंता । क्षुधा—अनशन । धातुग्रहणनिःसृतम—धातुवाहक स्रोतसों से निर्गत—धातवो गृह्यन्त एभिरिति धातुग्रहणानि वक्ष्यमाणानि स्रोतांसि तेभ्यो निःसृतम् । तस्मात्—हृदयात् । विस्रंसयति—अपने पोषक कर्मों से वंचित करता है—सर्वेभ्य एव कर्मभ्यो बहिष्करोति ।

तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति लिङ्गानि व्यापन्नस्य भवन्ति ; सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियाऽसन्निरोधश्च विस्रंसे, स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये ॥२५॥

बिगड़े हुए ओज के विस्रंस, व्यापत् और क्षय ऐसे तीन चिह्न (अवस्थाएँ) होते हैं । इनमें से विस्रंस में संधियों का ढीलापन, अंगों का थक जाना, (वातादि) दोषों का अपने स्थान से भ्रष्ट होना और (शारीरिक मानसिक और वाचिक) क्रियाओं का ठीक न होना (ये लक्षण होते हैं) । व्यापद में शरीर में स्तब्धता और भारीपन, वातिक शोथ, वर्ण का बदल जाना, ग्लानि, तन्द्रा और निद्रा (ये लक्षण होते हैं)। क्षय में मूर्च्छा रसादि धातुओं का क्षय, मोह, प्रलाप और मृत्यु (ये लक्षण होते हैं) ॥२५॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः ।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः ।
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम् ॥२६॥
गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम् ।
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम् ॥२७॥
मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च ।
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये ॥२८॥ 2

ओज के तीन दोष होते हैं—(१) व्यापद्, (२) विस्रंस, (३) क्षय । इनमें से विस्रंस में शरीर के अंगों का ढीलापन और थकान, दोषों का स्थानभ्रष्ट होना, थक जाना और कार्यों में प्रचुरता न होना ये लक्षण होते हैं ॥२६॥ व्यापद में शरीर के अंगों में स्तब्धता और भारीपन, ग्लानि, वर्ण का अन्यथाभाव, तन्द्रा, निद्रा, वातिक शोथ ये लक्षण होते हैं ॥२७॥ ओज के क्षय में मूर्च्छा, धातुओं का क्षय, बेचैनी, प्रलाप, अज्ञान, तथा (व्यापद व विस्रंस के) पूर्वोक्त लक्षण और मृत्यु ये लक्षण होते हैं ॥२८॥

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत् ; इतरं[1] तु मूढसंज्ञं वर्जयेत् ॥२९॥

इनमें ~~से विस्रंस~~ और व्यापद् की अवस्था में ओजोनुकूल विशेष क्रियाओं द्वारा बल को बढ़ाना उचित है । क्षयावस्था के नष्टसंज्ञ मनुष्य को छोड देना चाहिए ॥२९॥

वक्तव्य—क्रियाविशेषैः—जीवनीय खाद्यपेयादि द्वारा—जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम् । (वाग्भट) । अविरुद्ध—ओजोनुकूल । मूढसंज्ञं—बलक्षय की अवस्था में जब रोगी मूढसंज्ञ हो जाता है, तब असाध्य समझ कर उस की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ।

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः ।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति ॥३०॥
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः ।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति ॥३१॥
यस्य धातुक्षयाद्वायुः संज्ञां कर्म च नाशयेत् ।
प्रक्षीणं च बलं यस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥३२॥

दोषक्षीण, धातुक्षीण, मलक्षीण वा ओजःक्षीण मनुष्य स्वयोनिवर्धक जो अन्न पान होता है, उसकी अभिलाषा किया करता है ॥३०॥ क्षीण मनुष्य जिस जिस आहार की अभिलाषा करता है उसी उसी के लाभ से उसी उसी क्षय का नाश होता है ॥३१॥ धातुओं का क्षय हो जाने से वायु जिसकी संज्ञा और कर्मों का नाश करता है तथा जो अत्यंत दुर्बल हो गया है उसकी चिकित्सा (में यश मिलना) अशक्य है ॥३२॥

वक्तव्य—स्वयोनिवर्धन—जिस जिस धातु या दोष की शरीर में क्षीणता होती है, उसी के बढ़ाने वाले आहारादि पर मनुष्यों का प्रायः मन हुआ करता है । धातुक्षयात्—ओजःक्षय या अन्य धातुओं का क्षय । धातुओं का क्षय वातप्रकोप का कारण है—वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च । (चरक) । संज्ञां कर्म च संज्ञाज्ञानम् , कर्म व्यापारः, एतयोरुपरम एव मूर्च्छा । (चक्रः) । किस के क्षय में मनुष्य किस की अभिलाषा किया करता है, इस विषय के कुछ श्लोक डल्हणाचार्य ने अपनी टीका में दिये हैं, वे उपयुक्त होने के कारण नीचे दिये हैं—यवान् मुद्गान् हरेणूंश्च रूक्षं च लघु भोजनम् । कषायकटुतिक्तं च वातक्षीणोऽभिकांक्षति ॥ तिलमाषकुलत्थादि पिष्टान्नविकृतिं तथा । मस्तु-

---

[1] नष्टसंज्ञमितरं तु.

शुक्ताम्लतक्राणि पित्तक्षीणस्तथा दधि ॥ मांसं माहिषवाराहमाजं गुडगुरूणि च । श्लेष्मक्षीणोऽभिलषति क्षीरस्वप्नदधीनि च ॥ इक्षुं मांसरसं मन्थं मधु सर्पिर्गुडोदकम् । असृङ्मांसं यवागुं च रसक्षीणोऽभिवाञ्छति ॥ द्राक्षादाडिमयुक्तानि सस्नेहलवणानि च । रक्तसिद्धानि मांसानि रक्तक्षीणोऽभिवाञ्छति ॥ अम्लानि दधिसिद्धानि तथा षाडवकानि च । स्थूलक्रव्यादमांसानि मांसक्षीणोऽभिकांक्षति ॥ मेदःसिद्धानि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च । सक्षाराणि विशेषेण मेदःक्षीणोऽभिकांक्षति ॥ रसान् सुसिद्धान् सास्थीनि मांसानीहाभिकांक्षति । अस्थिक्षीणस्तथा मांसं मज्जास्थिस्नेहसंयुतम् ॥ स्वाद्वम्लसंयुतं द्रव्यं मज्जक्षीणोऽभिकांक्षति ॥ मयूरकुक्कुटाण्डानि हंससारसयोस्तथा ॥ ग्राम्यानूपौदकानां च शुक्रक्षीणोऽभिकांक्षति । यवानि यवकान्नानि शाकानि विविधानि च ॥ मायूरं माषयूषं च वर्चःक्षीणोऽभिकांक्षति ॥ पेयामिक्षुरसं क्षीरं सगुडं बदरोदकम् ॥ मूत्रक्षीणोऽभिलषति त्रपुसैर्वारुकाणि च ॥ अभ्यंगं मर्दनं मद्यं निवातशयनासनम् । गुरुप्रावरणं चैव स्वेदक्षीणोऽभिकांक्षति ॥ कट्वम्ललवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च । फलशाकानुपानानि स्त्री वाञ्छत्यार्तवक्षये ॥ मृगाजाविवराहाणां गर्भान् वाञ्छति संस्कृतान् । वसाशूल्यप्रकारादीन् भोक्तुं गर्भपरिक्षये ॥ सुराशाल्यन्नमांसानि गोक्षीरं शर्करां तथा । आसवं दधि हृद्यानि क्षये स्तन्यस्य वाञ्छति ॥

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च । तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चाम एवान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति, तदतिस्थौल्यमापादयति; तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्रदौर्गन्ध्यक्रथनगात्रसादगद्गदत्वानि क्षिप्रमेवाविशन्ति, सौकुमार्यान्मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः, कफमेदोनिरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायो भवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवो नाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोऽल्पप्राणो भवति, प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वात् स्रोतसाम्; अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत् ॥३३॥

शरीर की स्थूलता और कृशता रस ही के कारण होती है। इनमें से कफकारक पदार्थ सेवन करने वाले, भोजन के ठीक ठीक पचे बिना फिर भोजन करने वाले, परिश्रम न करने वाले, दिन में सोने वाले मनुष्यों का (अन्न ठीक नहीं पचता है। वह) अपक्व और अत्यंत मधुर अन्नरस शरीर में परिभ्रमण करता हुआ अति स्निग्ध होने के कारण मेद उत्पन्न करता है और वह मेद शरीर को अति स्थूल बनाता है। उस अतिस्थूल मनुष्य में क्षुद्रश्वास, तृषा, क्षुधा, निद्रा, स्वेद, शरीर में दुर्गन्धता, एकाएक श्वास का रुक जाना, अंगों का थकना, गद्गदत्व (दोष) शीघ्र प्रवेश कर देते हैं। मेद की कोमलता होने से सर्व कार्य करने में दुर्बलता आ जाती है। कफ तथा मेद करके (शुक्र का) मार्ग निरुद्ध होने से अधिक मैथुन नहीं कर सकता। अन्य धातुओं के मार्ग रुक जाने से वे धातु वर्धित नहीं होते। इससे वह अत्यंत दुर्बल हो जाता है। प्रमेहपिडिका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि और वातविकारों में से किसी रोग से ग्रसित हो कर वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। मेद से उसके सर्व स्रोत निरुद्ध होने के कारण प्रायः सभी रोग बलवान् हो जाते हैं। इसलिये मेदोत्पत्ति के कारणों का परिहार करना चाहिये ॥३३॥

वक्तव्य—अध्यशन—'अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते'। आम—धात्वग्नि से अपक्व रस। क्रथन—अकस्मात् श्वासावरोध—श्वासरोधो हि योऽकस्मात् स क्राथः क्रथनं च तत्। दूसरा अर्थ निद्रा में घुरघुर आवाज करना—स्वपतः कण्ठे घुरघुररवः॥ गद्गदत्व—अव्यक्त और अपरिस्फुट वाक्य बोलना। पिपासा क्षुत्स्वप्नस्वेद—इनका अतियोग यानि अधिकता होती है। क्षुद्रश्वास—थोड़ा भी परिश्रम करने से हाँफना और आराम लेने से श्वास का बंद होना—किंचिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते। निषण्णस्यैति शांतिं च स क्षुद्र इति संज्ञितः॥ मेद दोषों की उपपत्ति चरकसंहिता में इस प्रकार लिखी है—अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जवोपरोधकृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः। तदतिस्थौल्यं……अव्यवायात्……हर्षनित्यत्वादचिंतनाद्बीजस्वभावाच्चोपजायन्ते। तस्य ह्यतिमात्रमेदस्विनो मेद एवोपचीयते न तथेतरे धातवः। तस्मादायुषो ह्रासः। शैथिल्यात् सौकुमार्याद् गुरुत्वाच्च मेदसो जवोपरोधः। शुक्राल्पत्वान्मेदसावृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता। दौर्बल्यमसमत्वाद्धातूनाम्। दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात् स्वेदनत्वाच्च। मेदसः श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यंदित्वाद्बहुत्वाद्व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः। तीक्ष्णाग्नित्वात् प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति॥ मेदसावृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः। चरन् संधुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि। तस्मात्सशीघ्रं जरयत्याहारं चातिकांक्षति॥ अन्य धातुओं की अपेक्षा केवल मेदवृद्धि का कारण अष्टांगसंग्रह में लिखा है—कोष्ठ एव विपक्केऽस्य संरुद्धस्रोतसो रसे। सर्वत्रालब्धवृत्तित्वात् प्रायो मेदः प्रचीयते॥ तच्छेषोऽल्परसोऽल्पत्वान्नालं रक्तादिपुष्टये। तुल्येऽपि वाय्वादिचये प्राक्चितं चीयतेतराम्॥ आमरस तथा उससे मेदोवृद्धि का कारण अष्टांगसंग्रह में लिखा है—गुर्वादिवृद्धसंलीनश्लेष्ममिश्रोऽन्नजो रसः। आम एव श्लथीकुर्वन् धातून् स्थौल्यमुपानयेत्॥

उत्पन्ने तु शिलाजतुगुग्गुलुगोमूत्रत्रिफलालोहरजोरसाञ्जनमधुयवमुद्गकोरदूषकश्यामाकोद्दालकादीनां विरूक्षणच्छेदनीयानां द्रव्याणां विधिवदुपयोगो व्यायामो लेखनबस्त्युपयोगश्चेति ॥३४॥

परंतु यदि स्थूलता उत्पन्न हो जाय तो शिलाजतु, गुग्गुलु, गोमूत्र, त्रिफला, लोहभस्म, रसोत, मधु, जौ, मूँग, कोरदूषक, श्यामाक, उद्दालक इत्यादि विरूक्षण और छेदनीय पदार्थों का विधिपूर्वक उपयोग करना तथा व्यायाम और लेखन-बस्ति का उपयोग करना उचित है ॥३४॥

वक्तव्य—उद्दालक—वनकोद्रव (कूट्ट)। विरूक्षण द्रव्यों में यह श्रेष्ठ है—उद्दालकान्नं विरूक्षणीयानाम् (चरक)। विरूक्षण—मेदनाशक, शरीर को रूक्ष करने वाला। छेदनीय—स्रोतोविशोधक किं संचित दोषों का शोधन करने वाला—श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्बलात्। छेदन तत् (शार्ङ्गधर)। लेखनबस्ति—शरीर को पतला करने वाला बस्ति—त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमन्विताः। ऊषकादिप्रतिवापा बस्तयो लेखनाः स्मृताः॥ इन उपायों के अतिरिक्त चरक में निम्न सामान्य उपाय बतलाये गये हैं—गुरु चातर्पणं श्रेष्ठं स्थूलानां कर्षणं प्रति। वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च॥ रूक्षोष्णा बस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्तनानि

च ॥ प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिंतनानि च। स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तुं क्रमेणाभिप्रवर्धयेत् ।व्यायामनित्यो जीर्णाशी यवगोधूमभोजनः। संतर्पणकृतैर्दोषैः स्थौल्यं मुक्त्वा विमुच्यते ॥

तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययनभयशोकध्यानरात्रिजागरणपिपासाक्षुत्कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरमनुक्रामन्नल्पत्वान्न प्रीणाति, तस्मादतिकार्श्यं भवति; सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति, श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात्; अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत् ॥३५॥

और रूक्ष आहार सेवन करने वाले का रसधातु अति व्यायाम, अतिमैथुन, अध्ययन, भीति, शोक, चिंता, जागरण, तृषा और क्षुधा (का रोकना), कसैला रस सेवन, अल्प भोजन करना इत्यादि से शुष्क होकर शरीर में परिभ्रमण करने पर भी स्वल्प होने के कारण (धातुओं की) तृप्ति नहीं करता जिससे शरीर कृश हो जाता है। वह अतिकृश मनुष्य क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, वायु, वर्षा और भार उठाने में असमर्थ होकर बहुधा वात व्याधियों से पीड़ित रहता है और सब क्रियाओं में निर्बल हो जाता है। श्वास, कास, राजयक्ष्मा, प्लीहा की वृद्धि, अग्निमांद्य, गुल्म, रक्तपित्त इनमें से किसी से ग्रसित होकर (वह कृश मनुष्य) मर जाता है । अत्यंत दुर्बलता के कारण उसके सर्व रोग बलवान् हो जाते हैं। इसलिये शरीर कृश करनेवाले कारणों का परिहार करना चाहिये ॥३५॥

उत्पन्ने तु पयस्याश्वगन्धाविदारिगन्धाशतावरीबलातिबलानागबलानां मधुराणामन्यासां चौषधीनामुपयोगः, क्षीरदधिघृतमांसशालिषष्टिकयवगोधूमानां च, दिवास्वप्नब्रह्मचर्याव्यायामबृंहणबस्त्युपयोगश्चेति ॥३६॥

यदि कृशता उत्पन्न हो जाय तो क्षीरकाकोली, अश्वगन्धा, शालिपर्णी, शतावरी, बला, अतिबला, नागबला तथा अन्य मधुर ओषधियों का उपयोग, दूध, दही, घृत, मांस, शालि, षष्टिक, यव, गोधूम इनका भोजन, दिन में सोना, ब्रह्मचर्य, व्यायाम न करना तथा बृंहण बस्ति का उपयोग करना चाहिये ॥३६॥

वक्तव्य—पयस्या—क्षीरकाकोली। विदारीगन्धा—शालिपर्णी। चरकसंहिता में कृश के सद्यःक्षीण और चिरक्षीण ऐसे दो भेद किये गये हैं और उनके अनुसार चिकित्सा करने के लिये कहा है—तेषां संतर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम् । यत्तदात्वे समर्थं स्यादभ्यासे वा तदिष्यते ॥ सद्यःक्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते । नर्ते संतर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ॥ देहाग्निदोषभैषज्यमात्राकालानुवर्तिना । कार्यमत्वरमाणेन भेषजं चिरदुर्बले ॥ हिता मांसरसास्तस्मै पयांसि च घृतानि च । स्नानानि बस्तयोऽभ्यङ्गातर्पणास्तर्पणाश्च ये॥ स्वप्नो हर्षः सुखाशय्या मनसो निर्वृतिः शमः । नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः ॥ स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानं गंधमाल्यनिषेवणम् । शुक्लवासो यथाकालं दोषाणामवसेचनम् ॥ रसायनानां वृष्याणां योगानामुपसेवनम् । हत्वातिकार्श्यमादत्ते नृणामुपचयं परम् ॥ अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं संतर्पणेन च । स्वप्नप्रसंगाच्च नरो वराह इव पुष्यति ॥

यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः शरीरमनुक्रामन् समान् धातूनुपचिनोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति सर्वक्रियासु समर्थः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षातपसहो बलवांश्च, स सततमनुपालयितव्य इति ॥३७॥

और जो दोनों प्रकार के साधारण पदार्थों का सेवन करता है उसके अन्न का रस शरीर में परिभ्रमण करके धातुओं की वृद्धि साम्यावस्था में करता है और धातु सम होने से उसका शरीर भी मध्यम रहता है, सब कार्यों में समर्थ होता है, क्षुधा तृषा शीत उष्ण वर्षा धूप इत्यादि सह सकता है और बलवान् होता है। इस साम्यावस्था की सदा (स्वस्थानुवृत्तिकर आहार विहार से) रक्षा करनी चाहिये ॥३७॥

वक्तव्य—उभयसाधारण—नातिस्निग्धरूक्षद्रव्य तथा नातिस्निग्धताजनक कर्म। अनुपालयितव्यः—'स्वस्थवृत्तानुपालन' इति शेषः ॥ रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥ (सुश्रु. सूत्र. अ. ३५)।

भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥३८॥

ये अतिस्थूल और अतिकृश दोनों प्रकार के मनुष्य अति निन्दित होते हैं । मध्यम शरीर का मनुष्य श्रेष्ठ होता है और कृश मनुष्य स्थूल मनुष्य से (कुछ) अच्छा होता है ॥३८॥

वक्तव्य—अत्यंतगर्हितौ—स्थूल तथा कृश मनुष्य सदैव व्याधियों से पीड़ित होते हैं, इसलिये इनको गर्हित कहा गया है—सततव्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ। सततं चोपचर्यौ हि कर्षणैर्बृंहणैरपि। (चरक)। कृशः स्थूलात्तु पूजितः—चिकित्सा की दृष्टि से कृश मनुष्य स्थूल की अपेक्षा बेहतर होता है । सर्व प्रकार के रोगों की चिकित्सा बृंहणात्मक और लंघनात्मक ऐसी दो ही प्रकार की हो सकती है—उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः। बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ॥ कृश और स्थूल दोनों ऐसे मनुष्य होते हैं कि उनको साम्यावस्था में पहुँचाने की आवश्यकता बृंहण और लंघन की सहायता से होती है । यदि दोनों तुल्यप्रतिकार रोग से पीड़ित हों तो कृश की अपेक्षा स्थूल में विरुद्धोपक्रम होने के कारण चिकित्सा कठिन होती है। विरुद्धोपक्रम इसलिये होता है कि यदि बृंहण का उपयोग किया जाय तो वात और अग्नि की शान्ति होगी परंतु मेद की वृद्धि होगी । यदि लंघन का उपयोग किया जाय तो मेद की शान्ति होगी परंतु वात और अग्नि का प्रकोप और भी बढ़ जायगा। कृश में इस प्रकार का विरुद्धोपक्रम नहीं होता इसलिये 'कृशः स्थूलात्तु पूजितः। चरक और वाग्भट में स्पष्ट लिखा है—स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हितौ। यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत। (चरक)। कार्श्यमेव वरं स्थौल्यात् न हि

स्थूलस्य भेषजम्। बृंहणं लंघनं नालमतिमेदोऽग्निवातजित्॥ मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत् सौख्येन च नश्यति । कृशिमा स्थविमात्यन्तं विपरीतनिषेवणैः । (अष्टांगसंग्रह) ।

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा ।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागतमिवोदकम् ॥३९॥

कुपित हुआ दोष अपनी शक्ति से धातुओं का क्षय कर देता है जैसे कि प्रदीप्त अग्नि अपने तेज से स्थालिगत जल का क्षय कर देता है ॥३९॥

वक्तव्य—दोष—वात पित्त कफ । धातून्—रसादि सप्त धातु, स्तन्यादि उपधातु और मलादि मल—दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् । आत्मतेजसा—अपने शोषक, पाचक और मार्गावरोधक प्रभाव से । उखा—स्थालि । क्षपण—धातूपधातुओं की वृद्धि तथा साम्यावस्था का ह्रास ।

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च ।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते ॥४०॥

(मनुष्यों के) शरीरों में विसदृशता तथा अस्थिरता होने से दोष, धातु और मल इनका (निश्चित) परिमाण नहीं हो सकता ॥४०॥

वक्तव्य—वैलक्षण्यात्—सर्व मनुष्यों के शरीर वातादि प्रकृति की दृष्टि से, रक्तादि सार की दृष्टि से, संहनन की दृष्टि से, ऊँचाई मोटाई के प्रमाण की दृष्टि से, वय की दृष्टि से और भार सहनादि शक्ति की दृष्टि से समान न होने के कारण । अस्थायित्वात्—'शीर्यते' इति शरीरम्। प्राणियों के शरीरों का प्रतिक्षण क्षय होता रहता है। यह शरीर दोष धातु और मलों से ही बना है—दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्। अर्थात् यह शरीर का क्षय दोष धातु मलों का ही समझना चाहिये। जब तक मनुष्य सजीव रहता है तब तक इस क्षय की पूर्ति आहार द्रव्यों से की जाती है। कभी क्षय अधिक होता है, कभी पूर्ति अधिक होती है। इस प्रकार यह क्षयवृद्धि का कार्य सर्वदा जारी होने के कारण 'अस्थायित्वात्' लिखा है। इसके अतिरिक्त शरीर में वय तथा ऋतु की अवस्था के अनुसार भी दोषों का अस्थायित्व होता है, जिसके कारण धातु और मलों का भी अस्थायित्व हो जाता है—वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्। चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु॥ वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु॥ (वाग्भट)। परिमाणम्—सर्वतो मानम्। शरीरस्थ कुल राशि। चरकसंहिता के शारीरस्थान के सप्तम अध्याय में यद्यपि दोष धातु और मलों का—'दशोदकस्याञ्जलयः' इत्यादि परिमाण दिया है तथापि इस परिमाण में भी वय तथा शरीर की स्थूलता और कृशता के अनुसार फर्क होता है यह स्पष्ट लिखा है—तत्परं प्रमाणमभिज्ञेयम्। तच्च वृद्धिह्रासयोगि तर्क्यमेव। ते सर्वे एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वमानमनुवर्तन्ते यथावयः शरीरम्। (च. सू. २८)। इसलिये चरकोक्त परिमाण प्रायिक समझना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टि से उक्त परिमाण से कोई लाभ नहीं है। क्योंकि—

एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते ।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना ॥४१॥

वैद्य यद्यपि इनकी समता मानते हैं तथापि स्वास्थ्य के अतिरिक्त साम्यावस्था के संबंध में अन्य उपाय से कहना कठिन है ॥४१॥

वक्तव्य—यद्यपि वैद्य लोग 'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता', 'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते', 'सुखानां कारणं समः' इत्यादि साम्यावस्था की बातें हमेशा किया करते हैं तथापि साम्यावस्था का बाह्य चिह्न या कार्य जो स्वास्थ्य इसके अतिरिक्त दोष समता की सिद्धि करने के लिये उनके पास कोई नाप या बाँट नहीं होता, यह इस श्लोक का तथा अगले श्लोक का भी मतलब है । अगले श्लोक में असमता का ज्ञान कैसा होता है, उसका उपाय प्रदर्शित किया है ।

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत् ।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक् ॥४२॥

अप्रसन्न इंद्रिय वाले मनुष्य को देखकर कुशल वैद्य को दोष और धात्वादि की असमता अनुमान से जान लेनी चाहिये ॥४२॥

वक्तव्य—अप्रसन्नेंद्रियः—अप्रसन्नेंद्रियमनाः ।

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान् ।
क्षपयेद्बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक् ।
तावद्यावदरोगः स्यादेतत्साम्यस्य लक्षणम् ॥४३॥

बुद्धिमान् वैद्य स्वस्थ मनुष्य की (समता की) रक्षा करे परंतु रोगयुक्त हो जाय तो जब तक वह पूरा पूरा स्वस्थ न हो तब तक वृद्ध दोष आदि को घटाता रहे और क्षीण दोष आदि को बढ़ाता रहे ॥४३॥

वक्तव्य—चिकित्सा से घटाने बढ़ाने का कार्य दोषों की समता उत्पन्न होने के समय तक करना आवश्यक है। यह भीतरी समता रोगी की प्रसन्नता देखकर अनुमान से जाननी पड़ती है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥४४॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

जिसके वातादि दोष सम होते हैं, जठराग्नि सम होती है, धातु और मलों का कार्य यथोचित होता रहता है और (इन कारणों से) जिसका आत्मा, मन तथा इंद्रियां प्रसन्न होती हैं वह मनुष्य स्वस्थ कहलाता है ॥४४॥

वक्तव्य—स्वास्थ्य की इतनी सुंदर, समर्पक तथा याथातथ्यनिर्दर्शक व्याख्या अन्यत्र वैद्यकीय वाङ्मय में मिलनी अशक्य है।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

---

१ स्यान्नरो रोगसमन्वितः.

षोडशोऽध्यायः ।

अथातः कर्णव्यधबन्धविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से कर्णव्यधबंधविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते । तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के[1] वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः प्रलोभ्याभिसान्त्वयन् भिषग्वामहस्तेनाकृष्य कर्णौ दैवकृते छिद्र आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिणहस्तेनर्जु विध्येत्, प्रतनुकं सूच्या, बहलमारया; पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः; ततः पिचुवर्तिं प्रवेशयेत्[2] ॥२॥

रक्षा और भूषण के लिये बालक के दोनों कान वेधन करने चाहिएँ । छठे या सातवें महीने के शुक्ल पक्ष में शुभ तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त में मंगलाचारपूर्वक स्वस्तिवाचन करके धात्री या कुमारधर की गोद में बालक को बिठा कर खिलौने आदि से बहला कर पुचकार कर वैद्य अपने बाएँ हाथ से कान को खींच कर जहाँ सूर्य की किरणें चमकें वहाँ दैवकृत छिद्र में धीरे धीरे वेधन करे । कान कोमल हो तो सुई से और कड़ा मोटा हो तो आरा से वेधन करे । पुत्र का प्रथम दाहिना और कन्या का बायाँ कान वेधन करना प्रशस्त है । वेधन के पश्चात् रुई का डोरा डाल दे ॥२॥

वक्तव्य—रक्षाभूषणनिमित्तम्—स्कन्दादि बालग्रहों से रक्षण करने के लिये तथा शरीर भूषणार्थ अलंकार धारण करने के लिये—कर्णव्यधे कृते बालो न ग्रहैरभिभूयते । भूष्यते तु मुखं यस्मात् कार्यस्तत् कर्णयोर्व्यधः ॥ षष्ठे मासे सप्तमे वा—जन्म से छठे या सातवें महीने में । आठवें महीने में भी वेधन करने के लिये वाग्भट तथा धर्मशास्त्र में लिखा है—षट्सप्ताष्टममासेषु नीरुजस्य शुभेऽहनि । (अ. संग्रह) । मासि षष्ठे सप्तमे वाप्यष्टमे मासि सत्वरे । कर्णवेधं प्रशंसन्ति पुष्ट्यायुःश्रीविवृद्धये ॥ (धर्मशास्त्र) । डल्हण के अनुसार कर्णवेधन के लिये छठा या सातवाँ महीना जन्म से न लेकर भाद्रपद से लेना चाहिये । इसके अनुसार माघ या फाल्गुन महीना आता है । नायं जन्मकालादूर्ध्वं किन्तु संवत्सरादेर्भाद्रपदाद्यः षष्ठो मासो माघः सप्तमः फाल्गुनस्तयोर्मध्य एकस्मिन्निति । (डल्हण टीका) । माघ फाल्गुन सुश्रुत के अनुसार शिशिर ऋतु होता है—तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः । वाग्भट में भी कर्णवेधन के लिये शीतकाल प्रशस्त माना है—कर्णौ हिमागमे विध्येत् । इस प्रकार कुछ दूरान्वय करके शीतकाल कर्णवेधन के लिये अधिक प्रशस्त मानने का एक व्यावहारिक कारण यह मालूम होता है कि शीतकाल में बालक का स्वास्थ्य उत्तम हुआ करता है, व्रण में पाक होने की भीति बहुत कम हुआ करती है और व्रण का रोपण भी शीघ्रता से हुआ करता है । आज भी अनत्यायिक (ऐच्छिक) शस्त्रकर्म के लिये रोगी तथा डाक्टर शीतकाल ही अधिक पसंद किया करते हैं । इसी दृष्टि से प्राचीन काल में भी कर्णवेधन अनत्यायिक शस्त्रकर्म होने के कारण उसके लिये शीतकाल अधिक पसंद किया होगा । कुमारधर—बालक की देखभाल करने वाला मनुष्य—अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः । कुमारधारः कर्तव्यस्तत्राद्यो बालचित्तवित् ॥ (अ. संग्रह) । कर्ण—कर्णपाली या लौर (Lobule) । दैवकृते छिद्रे—कर्णपाली का मध्य भाग जो सूर्य की किरणों की तरफ देखने से अत्यंत पतला और सिरादि वर्जित हो, उसमें । दैवकृत कहने का मतलब इतना ही मालूम होता है कि वेधन के लिये कर्णपाली मध्यभाग निसर्गतया अत्यंत योग्य होता है । मध्यतः कर्णपीठस्य किंचिद् गण्डाशयं प्रति । जरायुमात्रप्रच्छन्ने रविरश्म्यवभासिते । विध्येद्दैवकृते छिद्रे । (अ. संग्रह) । पिचुवर्ति—रुई का सूत्र । छेद में प्रवेश करने के लिये, रखने के लिये तथा निकालने के लिये सुकरता होती है, इसलिये सूत्र का उपयोग किया जाता है ।

शोणितबहुत्वेन वेदनया चान्यदेशविद्धमिति जानीयात्, निरुपद्रवतया तद्देशविद्धमिति ॥३॥

रक्त अधिक निकलने से तथा वेदना होने से अन्य स्थान में वेध हुआ ऐसा समझना चाहिये और उक्त उपद्रव न हों तो दैवकृत छिद्र में वेध हुआ ऐसा समझना चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—रक्त-स्राव तथा वेदना सिरा, धमनी और वातनाड़ी में (Nerve) वेध होने से होती है ।

तत्राज्ञेन यदृच्छया विद्धासु सिरासु कालिकामर्मरिकालोहितिकासूपद्रवा भवन्ति । तत्र, कालिकायां ज्वरो दाहः श्वयथुर्वेदना च भवति; मर्मरिकायां वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च; लोहितिकायां मन्यास्तम्भापतानकशिरोग्रहकर्णशूलानि भवन्ति । तेषु यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥४॥

अज्ञ वैद्य अपने मन के अनुसार (दैवकृत छिद्र छोड़कर) जब कालिका, मर्मरिका और लोहितिका नामक सिराओं में वेध करता है तब उपद्रव उत्पन्न होते हैं । इनमें से कालिका में वेध होने से ज्वर, दाह, शोथ और वेदना होती है । मर्मरिका में वेध होने से वेदना, ज्वर और गाँठें हो जाती हैं । लोहितिका में वेध होने से मन्यास्तंभ, अपतानक, शिरोग्रह, कर्णशूल हो जाता है । इनमें रोग के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥४॥

वक्तव्य—अयोग्य कर्णवेधन होने से जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं, उनके तीन विभाग होते हैं । (१) रक्तस्राव—रक्तवाहिनी का वेध होने से यह उपद्रव होता है । रक्तवाहिनियाँ कृष्णवर्ण या सिरा और लोहितवर्ण या धमनी दो प्रकार की होती हैं । कालिका को कृष्णवर्ण होने के कारण सिरा (Vein) और लोहितिका को लोहित वर्ण होने के कारण धमनी (Artery) कह सकते हैं । (२) वेदना—यह उपद्रव नाड़ी (Nerve) का वेध होने से होता है । यह नाड़ी श्वेतवर्ण या वर्णहीन होती है । मर्मरिका को नाड़ी (Nerve) कह सकते हैं । (३) ज्वर इत्यादि अन्य उपद्रव—ये उपद्रव व्रण में विकारी

---

[1] 'कुमारधराङ्क' इति क्वचिन्न. [2] ततो वर्तिं प्रवेश्य सम्यग्विद्धमामतैलेन परिषेचयेत्.

जीवाणु (Pathogenic microbes) प्रविष्ट होने से उत्पन्न होते हैं। रक्तवाहिनी किंवा नाड़ी का वेध होने से ज्वर शोथ इत्यादि उपद्रव नहीं हो सकते। अपतानक—इसको धनुस्तंभ भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको टेटनस (Tetanus) कहते हैं। इस रोग के जीवाणु का नाम 'बैसीलस टेटयानी' (Bacillus Tetani) है। कर्णवेधन के पश्चात् यह रोग आज कल भी कभी कभी दिखाई देता है। मन्यास्तंभ शिरोग्रह उसी के ही लक्षण समझने चाहिये। इसका विशेष विवरण निदानस्थान के पहले अध्याय में होगा। यथास्वं प्रतिकुर्वीत—प्रत्येक उपद्रव का प्रतिकार दो प्रकार से होता है। (१) पश्चात्प्रतिकार (Curative treatment)—रोग उत्पन्न होने के पश्चात् उसके अनुसार उसकी चिकित्सा करना पश्चात्प्रतिकार है। जब आवश्यक हो तब पश्चात्प्रतिकार करना चाहिये। (२) पूर्वप्रतिकार—'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इस न्याय से पूर्वप्रतिकार पश्चात्प्रतिकार से अधिक प्रशस्त है। पूर्वप्रतिकार को (Preventive treatment) 'प्रिव्हेंटिव ट्रीटमेंट' कहते हैं। कर्णपाली का सूर्यप्रकाश में सूक्ष्म निरीक्षण करके सिरादि वर्जित कर अत्यंत पतले भाग में वेदनाहर (कोकेन आदि) द्रव्य का उपयोग कर यदि वेधन किया जाय तो रक्तस्राव तथा वेदना नहीं हो सकती। वेधन करने के पूर्व यदि कर्णपाली तथा सूची आदि उपकरणों का पूर्ण विशोधन (Sterilization) किया जाय तथा वेधन के पश्चात् पाली की सफाई की तरफ ध्यान दिया जाय तो तीसरे प्रकार के जीवाणुजन्य रोग उत्पन्न नहीं हो सकते। इसलिये इन बातों पर पूर्ण ध्यान देकर कर्णवेधन करना प्रशस्त है।

क्लिष्टजिह्माप्रशस्तसूचीव्यधाद्गाढतरवर्तित्वाद्दोषसमुदायादप्रशस्तव्यधाद्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र वर्तिमुपहृत्याशु मधुकैरण्डमूलमञ्जिष्ठायवतिलकल्कैर्मधुघृतप्रगाढैरालेपयेत् तावद्यावत् सुरूढ इति; सुरूढं चैनं पुनर्विध्येत्; विधानं तु पूर्वोक्तमेव ॥५॥

खुरदरी, वक्र और निकम्मी सूई के वेध से, मोटे सूत्र का उपयोग करने से, वातादि दोषों के कोप से, अयोग्य वेध होने से यदि शोथ और वेदना हो तो डोरा निकालकर शीघ्र मुलहठी, एरण्डमूल, मंजीठ, यव, तिल इन्हें पीसकर मधु और घृत में मिलाकर तब तक (प्रतिदिन) लेप कर दे जब तक वह छिद्र न भरा हो। जब भर जाय तब पूर्वोक्त विधान के अनुसार फिर कर्णपाली का वेध करे ॥५॥

वक्तव्य—क्लिष्टा—मोटी तथा खुरदरी। संरंभः—राग और शोथ का प्रादुर्भाव।

तत्र सम्यग्विद्धमामतैलेन परिषेचयेत्त्र्यहात् त्र्यहाच्च वर्तिं स्थूलतरां दद्यात् परिषेकं च तमेव ॥६॥

योग्य वेध होने पर तिल के अपक्व तैल से परिषेक करे। प्रत्येक तीसरे दिन (कर्णच्छेद में) थोड़ा मोटा सूत्र बदलता रहे और उसी आम तैल से परिषेक करे ॥६॥

अथ व्यपगतदोषोपद्रवे कर्णे वर्धनार्थं लघुवर्धनकं कुर्यात् ॥७॥

और जब सब दोष और उपद्रव नष्ट हो जायँ तब छिद्र बढ़ाने के लिये छोटे छोटे वर्धनकों का उपयोग करे ॥७॥

वक्तव्य—वर्धनक—कान में डालने के लिए लौंग के सदृश शलाका—अपामार्गनिम्बकार्पासादीनां काष्ठानामन्यतमस्य, अथवा सीसकादिघटितां धत्तूरपुष्पाकृतिं कुर्यात्। (डल्हण)।

**एवं विवर्धितः कर्णश्छिद्यते तु द्विधा नृणाम्।
दोषतो वाऽभिघाताद्वा सन्धानं तस्य मे शृणु ॥८॥**

अब इस प्रकार (वर्धनक डालकर) बढ़ाया हुआ कर्ण वातादि दोषजन्य व्याधियों से अथवा आघात से (कभी कभी) दो भागों में कट जाता है। (इसलिये) उसका जोड़ना मुझ से श्रवण कर ॥८॥

तत्र समासेन पञ्चदशकर्णबन्धाकृतयः। तद्यथा—नेमिसन्धानक उत्पलभेद्यको वल्लूरक आसङ्गिमो गण्डकर्ण आहार्यो निर्वेधिमो व्यायोजिमः कपाटसन्धिकोऽर्धकपाटसन्धिकः संक्षिप्तो हीनकर्णो वल्लीकर्णो यष्टिकर्णः काकौष्ठक इति ॥९॥

संक्षेप से कर्णसंधान के (मुख्य मुख्य) पंद्रह प्रकार होते हैं। वे ऐसे हैं—१ नेमिसंधानक, २ उत्पलभेद्यक, ३ वल्लूरक, ४ आसंगिम, ५ गण्डकर्ण, ६ आहार्य, ७ निर्वेधिम, ८ व्यायोजिम, ९ कपाटसंधिक, १० अर्धकपाटसंधिक, ११ संक्षिप्त, १२ हीनकर्ण, १३ वल्लीकर्ण, १४ यष्टिकर्ण, और १५ काकौष्ठक ॥९॥

तेषु, पृथुलायतसमोभयपालिर्नेमिसन्धानकः; वृत्तायतसमोभयपालिरुत्पलभेद्यकः; ह्रस्ववृत्तसमोभयपालिर्वल्लूरकः; अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरासङ्गिमः; बाह्यदीर्घैकपालिर्गण्डकर्णः; अपालिरुभयतोऽप्याहार्यः; पीठोपमपालिरुभयतः क्षीणपुत्रिकाश्रितो निर्वेधिमः; स्थूलाणुसमविषमपालिर्व्यायोजिमः; अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरितराल्पपालिः कपाटसन्धिकः; बाह्यदीर्घैकपालिरितराल्पपालिरर्धकपाटसन्धिकः। तत्र दशैते कर्णबन्धविकल्पाः साध्याः; तेषां स्वनामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥१०॥

उनमें से पालि के दोनों भाग मोटे फैले हुए और समान हों तो नेमिसंधानक बंध (प्रयोग में लाना चाहिये)। गोल फैली हुई समान दोनों पाली हों तो उत्पलभेद्यक बंध का उपयोग करना चाहिये। छोटी गोल समान दोनों पाली हों तो वल्लूरक बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब भीतर की ओर का कर्णपाली का भाग दीर्घ हो तो आसंगिम बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब बाहर की ओर का कर्णपाली का भाग दीर्घ हो तो गण्डकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब दोनों ओर पालि का भाग न हो तो आहार्य बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब दोनों पाली मूल से छिन्न हो जाती हैं तब पुत्रिका के शेष भाग का आश्रय करके निर्वेधिम बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली का एक भाग स्थूल और मोटा तथा दूसरा भाग अणु और छोटा हो तब व्यायोजिम बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब भीतरी पाली का भाग दीर्घ और बाहर

का भाग अल्प हो तो कपाटसंधिक बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली का बाहर का भाग दीर्घ और भीतर का अल्प हो तब अर्धकपाटसंधिक बंध का प्रयोग करना चाहिये। ये कर्णसंधान के दश भेद साध्य हैं और इनकी आकृतियाँ प्रायः नाम ही से वर्णित हुई हैं ॥१०॥

वक्तव्य—इनमें से पहले तीन बंधों में पाली के दोनों भाग समसमान होते हैं। अन्तिम तीन बंधों में विषम होते हैं। चौथे और पाँचवें बंधों में एक भाग नहीं के बराबर होता है और छठे तथा सातवें बंधों में दोनों भाग नहीं के बराबर होते हैं। नेमि—चक्रधारा। वल्लूरक—शुष्क मांस। आसंगिम—आसञ्जनात् आसंगिमः। इस बंध में आभ्यंतरपाली का संधान बाह्यपालीमूल के पास किया जाता है। गण्डकर्ण—इस बंध में कपोल से मांस का भाग निकाल कर बाह्यपाली के साथ जोड़ा जाता है अर्थात् कपोल से मांस निकालते समय उसका थोड़ा संबंध कपोल के साथ रक्तप्रचार के लिये रखना चाहिये। आहार्य—इसमें दोनों ओर से मांस निकाल कर पाली बनाई जाती है। पीठोपमपाली—जब पाली के दोनों भाग मूल से छिन्न हो जाते हैं तब पीठोपम कहते हैं। व्यायोजिम—लेखन द्वारा विषमता दूर करके जब संधान किया जाता है तब व्यायोजिम कहते हैं—'वैषम्यं लिखित्वा बंधने योज्यते' इति व्यायोजिमः। पुत्रिका—कर्णपाली के ऊपर कर्णकुहर के दोनों तरफ जो किंचित् उभार होते हैं, उनको पुत्रिका कहते हैं। अंग्रेजी में इन को ट्रैगस और अंटी ट्रैगस (Tragus and Anti tragus) कहते हैं।

संक्षिप्तादयः पञ्चासाध्याः। तत्र शुष्कशष्कुलिरुत्सन्नपालिरितराल्पपालिः संक्षिप्तः; अनधिष्ठानपालिः पर्यन्तयोः क्षीणमांसो हीनकर्णः; तनुविषमाल्पपालिर्वल्लीकर्णः; ग्रथितमांसस्तब्धसिरासंततसूक्ष्मपालिर्यष्टिकर्णः; निर्मांससंक्षिप्ताग्राल्पशोणितपालिः काकौष्ठक इति। बद्धेष्वपि तु शोफदाहरागपाकपिडकास्रावयुक्ता न सिद्धिमुपयान्ति ॥११॥

संक्षिप्तादि पाँच बंध असाध्य हैं। उनमें से जब कर्ण की शष्कुलि शुष्क हो, पाली का एक भाग नष्ट हो और दूसरा भाग भी अल्प हो तब संक्षिप्त बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली के दोनों भाग नष्ट हो गये हों और पाली के दोनों तरफ गाल पर मांस बहुत कम हो तब हीनकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली के दोनों भाग पतले, अल्प और विषम हों तब वल्लीकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली के मांस में ग्रंथियाँ हों, सिराओं की कुटिलता तथा प्रचुरता हो और पाली छोटी हो तब यष्टिकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली मांसरहित हो, उसके अग्र अत्यंत अल्प हों और उसमें रक्त की कमी प्रतीत हो तब काकौष्ठक बंध का प्रयोग करना चाहिये। बंधन करने पर भी यदि सूजन, दाह, सुर्खी, पक जाना, फुन्सियाँ होना, और (रक्त का या अन्य) स्राव होना इत्यादि उपद्रव हों तो संधान ठीक नहीं होता है ॥११॥

वक्तव्य—कर्णशष्कुलि—यह कान का वह भाग है, जिसमें छिद्र कराकर स्त्रियाँ बालियाँ पहनती हैं। साधारण बोलचाल में इस को ही कान कहते हैं। इसका आकार सीप जैसा होता है। इसमें कई उभार और दबाव होते हैं। इसके नीचे वाला मृदु और अवलंबनस्थ जो भाग होता है, उसे पाली कहते हैं। पाली मृदु होने का कारण यह है कि उसमें तरुणास्थि नहीं होती, केवल तांतव (Fibrous) धातु और थोड़ी चरबी होती है। कर्णशष्कुलि के शेष भाग में तरुणास्थि होती है, जिससे वह भाग किंचित् कड़ा होता है। अंग्रेजी में कर्णशष्कुलि को 'पिना' या 'ॲरीकुला' (Pinna, Auricule) कहते हैं। बन्धेष्वपि—यदि शोफादि उपद्रव उत्पन्न हों तो साध्य बंध भी असाध्य हो जाते हैं।

भवन्ति चात्र—

यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य न भवेदिह।
कर्णपीठं समे मध्ये तस्य विद्ध्वा विवर्धयेत् ॥१२॥

जिसके कान की दोनों पाली न हों उसका कर्णपीठ ठीक बीच में वेधन करके वर्धन करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में निर्वेधिम बंध का सन्धानसूत्र वर्णन किया है। निर्वेधिम में अन्य स्थान में वेध किया जाता है, इसलिये निर्वेधिम कहते हैं। कर्णपीठ—कर्णशष्कुलि में जहां से पाली का प्रारंभ होता है, वह स्थान। यह स्थान बाह्यपुत्रिका (Anti tragus) का समीपवर्ती भाग होता है।

बाह्यायामिह दीर्घायां सन्धिराभ्यन्तरो भवेत्।
आभ्यन्तरायां दीर्घायां बाह्यसन्धिरुदाहृतः ॥१३॥

यदि बाहर की तरफ की पाली बड़ी हो तो भीतर को संधान करना चाहिये और यदि भीतर की तरफ की पाली बड़ी हो तो बाहर की तरफ संधान करना होता है ॥१३॥

वक्तव्य—इस श्लोक में अर्धकपाटसंधिक और कपाटसंधिक बंधों का संधानसूत्र वर्णन किया है। बाह्य—गण्डदूरवर्ती। आभ्यंतर—गण्डसन्निकृष्ट।

एकैव तु भवेत् पालिः स्थूला पृथ्वी स्थिरा च या।
तां द्विधा पाटयित्वा तु छित्त्वा चोपरि सन्धयेत् ॥१४॥

यदि एक ही ओर पाली मोटी चौड़ी और स्थिर हो तो उसे (ऊपर की तरफ) बीच से चीर कर (वह चीरा हुआ भाग) दूसरी तरफ जोड़ देना चाहिये ॥१४॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आसंगिम और गण्डकर्ण बन्ध का सन्धानसूत्र वर्णन किया है।

गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता।
कर्णपालीमपालेस्तु कुर्यान्निर्लिख्य शास्त्रवित् ॥१५॥

शास्त्र जानने वाला (कर्मकुशल) वैद्य यदि पाली न हो तो कपोल-प्रदेश से जीता तथा थोड़ा संबंध रख मांस निकाल कर (पाली संधान करने के स्थान पर थोड़ा) लेखन करके उससे पाली बना दे ॥१५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आहार्य बंध का संधान सूत्र वर्णन किया है। सानुबंधेन—कपोल प्रदेश के साथ कुछ संबंध रखता हुआ। इस संबंध से निकाले हुए मांस में रक्त का

---

[१] शुष्कशष्कुल्यादितः संकुचितो बन्धः संक्षिप्तः.

संचार होकर उसकी जीवितावस्था आवश्यक काल तक स्थायी हो सकती है। जीवता—रक्त युक्त तथा स्पर्शादि भावना युक्त।

अतोऽन्यतमं बन्धं चिकीर्षुरग्रोपहरणीयोक्तोपसंभृतसंभारं विशेषतश्चात्रोपहरेत् सुरामण्डं क्षीरमुदकं धान्याम्लं कपालचूर्णं चेति। ततोऽङ्गनां पुरुषं वा ग्रथितकेशान्तं लघु भुक्तवन्तमाप्तैः सुपरिगृहीतं च कृत्वा बन्धमुपधार्य छेद्यभेद्यलेख्यव्यधनैरुपपन्नैरुपपाद्य कर्णशोणितमवेक्ष्य दुष्टमदुष्टं वेति; तत्र वातदुष्टे धान्याम्लोष्णोदकाभ्यां पित्तदुष्टे शीतोदकपयोभ्यां श्लेष्मदुष्टे सुरामण्डोष्णोदकाभ्यां प्रक्षाल्य कर्णौ, पुनरवलिख्यानुन्नतमहीनमविषमं च कर्णसन्धिं सन्निवेश्य, स्थितरक्तं सन्दध्यात्। ततो मधुघृतेनाभ्यज्य पिचुप्लोतयोरन्यतरेणावगुण्ठ्य सूत्रेणानवगाढमनतिशिथिलं च बद्ध्वा कपालचूर्णेनावकीर्याचारिकमुपदिशेद्द्विव्रणीयोक्तेन च विधानेनोपचरेत् ॥१६॥

इनमें से कोई बंध करने की इच्छा हो तो अग्रोपहरणीय अध्यायोक्त सामग्री संपादन करे, (इसके अतिरिक्त) विशेष करके सुरामण्ड, दूध, पानी, कांजी और ठिकरों का चूर्ण इन्हें भी पास रख ले। तदनंतर पुरुष हो या स्त्री हो, उसके बाल गुथवाकर, हलका भोजन कराकर, आप्तजनों से उसे ठीक पकड़वाकर योग्य बंध का निर्णय करे और छेदन, भेदन, लेखन तथा व्यथन क्रियाओं में से योग्य क्रिया को अंगीकार कर कान के रक्त को देखे कि यह शुद्ध है या किसी दोष से दूषित है। यदि वात से दूषित हो तो कांजी और गरम जल से, पित्त से दूषित हो तो ठंडे पानी और दूध से, कफ से दूषित हो तो सुरामण्ड और गरम जल से दोनों कानों को धो कर फिर उसे अवलेखन करके कर्णसंधि को इस प्रकार स्थापित करे कि वह न ऊँचा न छोटा और न टेढ़ा रहे और रक्तस्राव बंद करके (सूचीसूत्रादि से) उसका संधान करे। तदनंतर मधु और तैल लगा कर रुई या कपड़ा ऊपर रखकर सूत्र से न बहुत कड़ा न बहुत ढीला बांध दे और ठिकरी का चूर्ण उस पर बुरका कर आहार विहार का उपदेश करे और द्विव्रणीयोक्त विधान के अनुसार व्रण की चिकित्सा करे ॥१६॥

वक्तव्य—सुरामण्ड—मद्य का उपरितन स्वच्छ भाग। कपालचूर्ण—नवीन मिट्टी के बरतन के टुकड़े का चूर्ण। बन्धमुपधार्य—पाली का निरीक्षण करके किस बंध का प्रयोग करना चाहिये इसका निश्चय कर। सन्निवेश्य—सुचारु रूप से स्थापित करके।

भवति चात्र—

विघट्टनं दिवास्वप्नं व्यायाममतिभोजनम्।
व्यवायमग्निसंतापं वाक्श्रमं च विवर्जयेत् ॥१७॥[3]

कान का रगड़ना, दिन का सोना, परिश्रम, अति भोजन, मैथुन, अग्नि के पास बैठना और अति बोलना इनका त्याग करना चाहिये ॥१७॥

न चाशुद्धरक्तमतिप्रवृत्तरक्तं क्षीणरक्तं वा संदध्यात्। स हि वातदुष्टे रक्ते रूढोऽपि परिपुटनवान्, पित्तदुष्टे दाहपाकरागवेदनावान्, श्लेष्मदुष्टे स्तब्धः कण्डूमान्, अतिप्रवृत्तरक्ते श्यावशोफवान्; क्षीणोऽल्पमांसो न वृद्धिमुपैति ॥१८॥

(बंध के समय पाली से) यदि अशुद्ध रक्त निकलता हो, बहुत रक्त निकलता हो या रक्त बिलकुल ही न निकलता हो तो उसे संधित नहीं करना चाहिये। क्योंकि वातदूषित रक्त से जुड़ने पर भी परिपोट हो जाता है, पित्तदूषित रक्त से दाह पाक और वेदना होती हैं, कफदूषित रक्त से सुन हो जाता है और खाज हो जाती है, अति रक्त बहने से काला और शोथयुक्त होता है और रक्त बिलकुल न होने से उस पर मांस नहीं चढ़ता न उसकी ठीक वृद्धि होती है ॥१८॥

वक्तव्य—परिपुटन—त्वचा का फट जाना मिश्रकरक्त। (चि. २५) अध्यायोक्त परिपोट रोग—सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽभिप्रवर्तिते। कर्णशोफो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ॥

आमतैलेन त्रिरात्रं परिषेचयेत्, त्रिरात्राच्च पिचुं परिवर्तयेत्। स यदा सुरूढो निरुपद्रवः सवर्णो भवति तदैनं शनैश्शनैरभिवर्धयेत्। अतोऽन्यथा संरम्भदाहपाकरागवेदनावान्; पुनश्छिद्यते वा ॥१९॥

तीन दिन तक कच्चे तेल का परिषेक करे और तीसरे दिन रुई का फोया भी पलट दे। जब वह ठीक जुड़ जाय, उसमें कुछ भी उपद्रव न रहे और त्वचा के रंग में रंग मिल जाय तब उसके छिद्र को धीरे धीरे बढ़ावे। इसके विपरीत करने से शोथ, दाह, पाक, सुरखी तथा पीड़ा हो जाती है अथवा फिर कट जाता है ॥१९॥

अथास्याप्रदुष्टस्याभिवर्धनार्थमभ्यङ्गः। तद्यथा—गोधाप्रतुदविष्किरानूपौदकवसामज्जानौ पयः सर्पिस्तैलं गौरसर्षपजं च यथालाभं संभृत्यार्कालर्कबलातिबलानन्तापामार्गाश्वगन्धाविदारिगन्धाक्षीरशुक्लाजलशूकमधुरवर्गपयस्याप्रतिवापं तैलं वा पाचयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात् ॥२०॥

अब शुद्ध कर्णपाली बढ़ाने के लिये यह अभ्यंग है। जैसे गोधा, प्रतुद, विष्किर, आनूप, औदकवर्ग के प्राणियों की चरबी, मज्जा तथा दूध, घृत और सफेद सरसों का तेल इनमें से जितने मिल सकें इकट्ठा कर उनको आक, मन्दार, बला, अतिबला, अनन्ता, अपामार्ग, अश्वगन्धा, शालिपर्णी, क्षीरशुक्ला, जलशूक, क्षीरकाकोली और मधुरवर्ग की ओषधियों के साथ पकावे या अर्कादि ओषधियों को तिलतैल के साथ पकावे और सुरक्षित रक्खे ॥२०॥

वक्तव्य—प्रतुदविष्किरानूपौदक। प्रतुद—कपोत पारावत चटकलट्वादि पक्षी। विष्किर—लावतित्तिरादि प्राणी। विकीर्य

---

[1] अग्रोपहरणीयोक्तसंभारमुपहरेद्विशेषतश्चात्र सुरामण्डं. [2] अवेक्षेत तददुष्टमदुष्टं वेति. [3] एतदग्रे 'आमतैलपरीषेकं त्रिरात्रमवचारयेत्। ततस्तैलेन संसृष्टं त्र्यहादपनयेत् पिचुम् ॥' इति क्वचिदधिकः पाठः.

विष्किराश्चेति, प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः। (चरक)। आनूप—वराह महिषादि। औदक—रोहित मत्स्यादि। जलशूक—जलनीलिका, शैवाल, जलवासी कीट विशेष। मज्जा, वसा, घृत और सर्षपतैल इनमें अर्कादि कल्क छोड़कर चतुर्गुण दूध के साथ पकाना चाहिये। तैलं वा—अर्कादि ओषधियों के साथ चतुःस्नेह का एक अभ्यंग और दूसरा अभ्यंग तिलतैल के साथ होता है।

स्वेदितोन्मर्दितं कर्णं स्नेहेनैतेन योजयेत्।
अथानुपद्रवः सम्यग्बलवांश्च विवर्धते ॥२१॥

स्वेद और मालिस किये हुए कान पर इस तैल का उपयोग करे। इससे उपद्रव रहित कान बलवान् और वर्धित हो जाता है ॥२१॥

यवाश्वगन्धायष्ट्याह्वैस्तिलैश्चोद्वर्तनं हितम्।

(कान पर अभ्यंग करने के पश्चात्) जौ, अश्वगन्धा, मुलहठी और तिल पीस कर उसका उबटन करना हितकर होता है।

शतावर्यश्वगन्धाभ्यां पयस्यैरण्डजीवनैः ॥२२॥
तैलं विपक्वं सक्षीरमभ्यङ्गात् पालिवर्धनम्।

शतावरी, अश्वगन्धा, क्षीरकाकोली, एरण्ड और जीवनीय ओषधियों के साथ ॥२२॥ दूधयुक्त तैल पकावे और उसकी मालिश करने से कर्णपाली की वृद्धि होती है।

ये तु कर्णा न वर्धन्ते स्वेदस्नेहोपपादिताः ॥२३॥
तेषामपाङ्गदेशे[2] तु कुर्यात् प्रच्छानमेव तु।
बाह्यच्छेदं न कुर्वीत व्यापदः[3] स्युस्ततो ध्रुवाः ॥२४॥

जो कान स्वेदन और स्नेहन करने पर भी नहीं बढ़ते हैं, उनके अपांग प्रदेश में प्रच्छान करना चाहिये। बाह्यप्रदेश में प्रच्छान न करे क्योंकि उससे निश्चितरूप से विकार हो जाते हैं ॥२३-२४॥

वक्तव्य—अपांगदेश—कर्णपुत्रिका के किंचित् नीचे। प्रच्छान—छोटा सा छिद्र—प्रशब्द ईषदर्थे। बाह्यच्छेद—कर्णकुहर के बाहरी पाली में छेद।

बद्धमात्रं तु यः कर्णं सहसैवाभिवर्धयेत्।
आमकोशी समाध्मातः क्षिप्रमेव विमुच्यते ॥२५॥

पाली का संधान होते ही यदि पाली को बढ़ाया जाय तो पाली अपक्व होने से सूज कर फिर शीघ्र ही कट जाती है ॥२५॥

जातरोमा सुवर्त्मा च श्लिष्टसन्धिः समः स्थिरः।
सुरूढोऽवेदनो यश्च तं कर्णं वर्धयेच्छनैः ॥२६॥

जब रोम उत्पन्न हो जायँ, छिद्र ठीक हो, सन्धि मिल गई हो, पालि सम और दृढ़ हो, व्रण का रोपण पूर्ण हो गया हो और कुछ भी पीड़ा न हो तो कर्ण को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये ॥२६॥

वक्तव्य—सुवर्त्मा—शोभनच्छिद्रः।

अमिताः कर्णबन्धास्तु विज्ञेयाः कुशलैरिह।
यो यथा सुविशिष्टः[4] स्यात्तं तथा विनियोजयेत् ॥२७॥

कर्णपालिसंधान के असंख्य बंध होते हैं। जहां जो ठीक हो, वहां कुशल वैद्य उसी की योजना करे ॥२७॥

कर्णपाल्यामयान्नृणां पुनर्वक्ष्यामि सुश्रुत !।
कर्णपाल्यां प्रकुपिता वातपित्तकफास्त्रयः ॥२८॥
द्विधा वाऽप्यथ संसृष्टाः कुर्वन्ति विविधा रुजः।
विस्फोटः स्तब्धता शोफः पाल्यां दोषे तु वातिके ॥२९॥
दाहविस्फोटजननं शोफः पाकश्च पैत्तिके।
कण्डूः सश्वयथुः स्तम्भो गुरुत्वं च कफात्मके ॥३०॥

हे सुश्रुत ! मनुष्यों के कर्णपाली के रोग फिर हम कहते हैं। कर्णपाली में वात, पित्त और कफ एक-एक दो-दो और तीनों मिलकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। उनमें से फोड़ा, स्पर्शाज्ञत्व और शोथ वात दोष से होते हैं ॥२८-२९॥ दाह, फोड़ा, शोथ और पाक ये पित्त से होते हैं। कण्डू, शोथ, कड़ापन और भारीपन ये कफ से उत्पन्न होते हैं ॥३०॥

यथादोषं च संशोध्य कुर्यात्तेषां चिकित्सितम्।
स्वेदाभ्यङ्गपरीषेकैः प्रलेपासृग्विमोक्षणैः ॥३१॥
मृद्वीं क्रियां बृंहणीयैर्यथास्वं भोजनैस्तथा।
य एवं वेत्ति दोषाणां चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥३२॥

दोष के अनुसार उसका संशोधन करके स्वेदन, अभ्यंग, परिषेक, प्रलेप और रक्तमोक्षण से चिकित्सा करे ॥३१॥ तथा बृंहण और यथोचित खाद्य द्रव्यों से उसका संशमन करे। ऐसा जो जानता है, वही दोषों की चिकित्सा कर सकता है ॥३२॥

अत ऊर्ध्वं नामलिङ्गैर्वक्ष्ये पाल्यामुपद्रवान्।
उत्पाटकश्चोत्पुटकः श्यावः कण्डूयुतो भृशम् ॥३३॥
अवमन्थः सकण्डूको ग्रन्थिको जम्बुलस्तथा।
स्रावी च दाहवांश्चैव शृण्वेषां क्रमशः क्रियाम् ॥३४॥

अब यहाँ से पाली के उपद्रवों का वर्णन उनके अन्वर्थ नामों से करते हैं। उत्पाटक, उत्पुटक, श्याव, कण्डूयुत ॥३३॥ अवमंथ, सकण्डूक, ग्रंथिक, जम्बुल, स्रावी और दाहवान् (ये दस पाली के उपद्रव हैं)। अब क्रम से इनकी चिकित्सा सुनो ॥३४॥

वक्तव्य—नामलिंगैः—नामभिराख्यातानि लिंगानि नामलिंगानि तैः। नाम से ही जिनके लक्षण मालूम होते हैं। उत्पाटक—जिसमें भीतर पाक होने के कारण फूटने की सी पीड़ा होती है। उत्पुटक—जिसमें मांसवृद्धि अधिक होकर ऊपर पपड़ी आ जाती है। श्याव—जिसमें वर्ण काला नीला हो जाता है। अवमंथ—जिसमें भीतर मंथन की भाँति पीड़ा होती है। जम्बुल—जिसमें जम्बुफलसदृश वर्ण हो जाता है। कण्डूयुत, दाहवान्, स्रावी इनके अर्थ सरल हैं। इन सब उपद्रवों में पाली में शोथ जरूर रहता है और इसके सिवाय जो विशेष लक्षण होते हैं, उनके अनुसार नाम रक्खे गये हैं।

अपामार्गः सर्जरसः पाटलालकुचत्वचौ।
उत्पाटके प्रलेपः स्यात्तैलमेभिश्च पाचयेत् ॥३५॥

उत्पाटक में अपामार्ग, राल, पाटला और लकुच की त्वचा का प्रलेप करे या इनको तैल में पकाकर (लगावे) ॥३५॥

---

१ विधिनाऽनेन योजिताः. २ तेषामपाङ्गच्छेद्यं हि कार्यमाभ्यन्तरं भवेत्. ३ व्याधयः स्युः. ४ सुनिविष्टः.

शम्पाकशिग्रुपूतीकान् गोधामेदोऽथ तद्वसाम् ।
वाराहं गव्यमैणेयं पित्तं सर्पिश्च संसृजेत् ॥३६॥
लेपमुत्पुटके दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।

उत्पुटक उपद्रव में अमलतास, सैजन, करंज, गोधा की चरबी और वसा, सूकर गौ और हरिण इनका पित्त तथा घृत एकत्र करके लेप करे या इनमें तैल साधन करके लगावे ॥३६॥

गौरीं सुगन्धां सश्यामामनन्तां तण्डुलीयकम् ॥३७॥
श्यावे प्रलेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।

श्याव उपद्रव में हलदी, सुगन्धा, कृष्णासारिवा और चौलाई इनका लेप करे या इनमें तैल पकाकर लगावे ॥३७॥

पाठां रसाञ्जनं क्षौद्रं तथा स्यादुष्णकाञ्जिकम् ॥३८॥
दद्याल्लेपं सकण्डूके तैलमेभिश्च साधितम् ।
व्रणीभूतस्य देयं स्यादिदं तैलं विजानता ॥३९॥
मधुकक्षीरकाकोलीजीवकाद्यैर्विपाचितम् ।
गोधावराहसर्पाणां वसाः स्युः कृतबृंहणे ॥४०॥

सकण्डूक उपद्रव में पाठा, रसोत, मधु और उष्ण कांजी इनका लेप करे या इनमें तैल पकाकर लगावे । यदि व्रण हुआ हो तो विद्वान् वैद्य मुलहठी, क्षीरकाकोली जीवकादि ओषधियों से पकाया हुआ तैल लगावे और जहाँ (पाली की शुष्कता में) बृंहण की प्रशस्तता हो वहाँ गोधा, सूकर और सर्प की वसा का अभ्यंजन करे ॥३८–४०॥

प्रलेपनमिदं दद्यादवसिच्यावमन्थके ।
प्रपौण्डरीकं मधुकं समङ्गां धवमेव च ॥४१॥
तैलमेभिश्च संपक्वं—

अवमन्थक उपद्रव में प्रक्षालन करके कमल, मुलहठी, लज्जालु और धव इनका प्रलेप करे या इनमें तैल पकाकर लगावे ।

—शृणु कण्डूमतः क्रियाम् ।
सहदेवा विश्वदेवा अजाक्षीरं ससैन्धवम् ।
एतैरालेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ॥४२॥

कण्डूमत् (सकण्डूक) उपद्रव में सहदेवा, विश्वदेवा (बला के दो भेद), बकरी का दूध और सैन्धव इनका लेप करे या इनमें तैल पकाकर लगावे ॥४२॥

ग्रन्थिके गुटिकां पूर्वं स्रावयेदवपाट्य तु ।
ततः सैन्धवचूर्णं तु घृष्ट्वा लेपं प्रदापयेत् ॥४३॥

ग्रंथिक में प्रथम ग्रंथी को चीर कर रक्त निकाले फिर सैन्धव मल कर (इसी का) लेप करे ॥४३॥

लिखित्वा तत्स्रुतं घृष्ट्वा चूर्णैर्लोध्रस्य जम्बुले ।
क्षीरेण प्रतिसार्यैनं शुद्धं संरोपयेत्ततः ॥४४॥

जम्बूल में लेखन से रक्त निकाल कर लोध का चूर्ण मल कर दूध से शुद्ध करे और शुद्ध करने पर (व्रणविधान के अनुसार) उसका रोपण करे ॥४४॥

मधुपर्णीं मधूकं च मधुकं मधुना सह ।
लेपः स्राविणि दातव्यस्तैलमेभिश्च साधितम् ॥४५॥

स्रावी उपद्रव में गिलोय, महुआ, मुलहठी इनको पीस कर मधुसह लेप करे या इनमें तैल पका कर लगावे ॥४५॥

पञ्चवल्कैः समधुकैः पिष्टैस्तैश्च घृतान्वितैः ।
जीवकाद्यैः ससर्पिष्कैर्दह्यमानं प्रलेपयेत् ॥४६॥

दाह में पंचवल्कलों को पीस कर मधु और घृत सहित लेप करे अथवा जीवकादि ओषधियों को पीस कर उसका घृत में लेप करे ॥४६॥

वक्तव्य—पंचवल्क—न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः । सर्वैरेकत्र मिलितैः पंचवल्कलमुच्यते ॥ जीवकादि—**जीवनीयगण**—जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति जीवनीयानि । (चरक) ।

विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया
वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत् ।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां
पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बि तस्य ॥४७॥
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वा-
दुत्कृत्य वद्धं त्वथ नासिकाग्रम् ।
विलिख्य चाशु प्रतिसंदधीत
तत् साधुबन्धैर्भिषगप्रमत्तः ॥४८॥
सुसंहितं सम्यगतो यथाव-
न्नाडीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बद्ध्वा ।
प्रोन्नम्य चैनामवचूर्णयेत्तु
पतङ्गयष्टीमधुकाञ्जनैश्च ॥४९॥
संछाद्य सम्यक् पिचुना सितेन
तैलेन सिञ्चेदसकृत्तिलानाम् ।
घृतं च पाय्यः स नरः सुजीर्णे
स्निग्धो विरेच्यः स यथोपदेशम् ॥५०॥
रूढं च सन्धानमुपागतं स्यात्
तदर्धशेषं तु पुनर्निकृन्तेत् ।
हीनां पुनर्वर्धयितुं यतेत
समां च कुर्यादतिवृद्धमांसाम् ॥५१॥

छिन्न नासिका की संधान करने की पद्धति अब यथाविधि वर्णन करते हैं । नासिका के (छिन्न अंश के) समान किसी वृक्ष का पत्ता लेकर उसके बराबर कपोल (या ललाट) से कुछ अनुबंध रखके त्वङ्मांस काट कर (यन्त्रण द्वारा) स्थिर किये हुए नासिकाग्र का विलेखन करके (कपोल प्रदेश से निकाला हुआ) त्वङ्मांस का भाग उस (विलेखित नासिकाग्र) के साथ (सूची सूत्रादि) बंधन द्रव्यों की सहायता से वैद्य सावधान होकर शीघ्रतया ठीक जोड़ दे ॥४७–४८॥ तदनन्तर (नासारन्ध्रस्थित) दो नलिकाओं से नासिका को ऊँचा करके दोनों का जोड़ ठीक और स्वाभाविक नासिका की भाँति देख कर बांध दे और उस पर रक्तचन्दन, मुलहठी और रसोत इनका चूर्ण बुरका दे ॥४९॥ उस पर फिर सफेद कपड़ा ढक कर तिलतैल से कपड़े को बार बार तर करता रहे । रोगी को घृत

पिलावे और जब घृत जीर्ण हो जाय तब उस स्निग्ध हुए रोगी को उपदेश के अनुसार विरेचन दे ॥५०॥ जब व्रण का रोपण होकर जोड़ भी ठीक हो जाय तब (कपोल के साथ संबंध रखने वाले) त्वचा के हिस्से को काट दे । फिर नासा यदि छोटी या बड़ी हो गई हो तो उसे बढ़ाने का या बराबर करने का यत्न करे ॥५१॥

वक्तव्य—नासाप्रमाणम्—नासिका के विश्लेषित अंश की परिमिति का । अवलंबि—मूल त्वचा के साथ संबंध रखने वाला। अवलंबन रक्तप्रचार के लिये रक्खा जाता है । इससे ठीक संधान होने के समय तक छिन्न त्वचा का पोषण होता रहता है और संधान क्रिया में भी सहायता मिलती है । यह अवलंबन बहुधा ऐसे स्थान में रक्खा जाता है जहाँ धमनी होती है । इसी कारण से पालि संधान में भी लिखा है—गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबंधेन जीवता ॥ गण्डपार्श्वात्—कपोल या ललाट प्रदेश से । इन स्थानों से नासासंधान के लिये त्वचा लेने में दो लाभ होते हैं । प्रथम तो यह है कि दोनों स्थानों की त्वचा में समता होने से संधित नासिका स्वाभाविक दिखाई देती है । दूसरा लाभ यह है कि अनुबंध रखने के लिये सुभीता होता है । नासासंधान के लिए एक इटालियन जर्राह (Tagliscozzi) ने बाहु से त्वचा लेने का नया प्रयोग किया था । परंतु इसमें अनुबंध रखने के लिये रोगी का हाथ सिर पर बांध रखने की जरूरत पड़ती थी, जिससे रोगी को बहुत तकलीफ होती थी । इसलिये सुश्रुत की विधि आज भी उत्तम प्रमाणित हुई है । सानुबन्धैः—सूई और टाँके लगा के ठीक बंधन करना चाहिये । परंतु इनकी निशाणी स्थायी न होने के लिये दो चार दिन के बाद टाँके निकाल देने चाहिये । पुनर्निकृन्तेत—अनुबंध को प्रायः दस से चौदह दिन में तोड़ सकते हैं परंतु यदि नासिका की फिर कुछ मरम्मत करने की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो अनुबंध को उसके पश्चात् काटना हितकर होता है । वाग्भट में इस शस्त्रकर्म का कुछ अधिक स्पष्टीकरण किया है—अथ कुर्याद्वयःस्थस्य च्छिन्नां शुद्धस्य नासिकाम् । छिंद्यान्नासासमं पत्रं तत्तुल्यं च कपोलतः । त्वङ्मांसं नासिकासन्ने रक्षंस्तत्तनुतां नयेत् ॥ सीव्येद् गण्डं ततः सूच्या सेविन्या पिचुयुक्तया । नासाच्छेदे च लिखिते परिवर्त्योपरि त्वचम् ॥ कपोलवन्धं संदध्यात सीव्येन्नासां च यत्नतः । नाडीभ्यामुत्क्षिपेदन्तःसुखोच्छ्वासप्रवृत्तये ॥ यदि नासा का सद्यश्छेद हुआ हो तो छिन्नांश का ठीक न्यास करके सीना चाहिये—निवेशिते यथान्यासं सद्यश्छिन्नेऽप्ययं विधिः ॥ (अष्टांगसंग्रह उत्तर. २२) ।

नाडीयोगं विनौष्ठस्य नासासन्धानवद्विधिम् ।
य एवमेव जानीयात् स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥५२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कर्णव्यधबन्धविधिर्नाम
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

(छिन्नः) होठ के संधान की विधि नाड़ियों के बिना नासासंधान की तरह होती है । जो इस प्रकार (कर्म नासा और ओष्ठ की विधि) जानता है, वह वैद्य राजचिकित्सा करने के लिये योग्य है ॥५२॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता के इस अध्याय में कर्णपाली, नासा तथा होठ के कट जाने पर शरीर के अन्य स्थान से चर्म लेकर उसी के द्वारा कटे हुए अंगों को फिर से बनाने के जो अपूर्व और कुशल शस्त्रकर्म वर्णन किये हैं उनका ज्ञान पाश्चात्त्य देशों में होने के पश्चात् वहाँ शल्यचिकित्सा के संधानीय कर्म के (Plastic Surgery) अंग में उन्नति हुई है (The plastic Surgery of the 19th century was stimulated by the example of Indian methods. *Dr. Neuberger's History of Medicine*)। नासा संधानकर्म (Rhins plastic operation) सुश्रुत में ऐसी उत्तमता से वर्णन किया गया है कि पाश्चात्त्य शल्यशास्त्र में उसी का ही अनुकरण होता है और उस विधि का नाम भी भारतीय पद्धति (Indian method) रक्खा गया है—They have already borrowed from them the operation of Rhino plasty. *Weber's History of Medicine.* । इटालियन, फ्रेंच इत्यादि अन्य नई पद्धतियाँ कुछ काल तक प्रचलित थीं परंतु उनके दोष अनुभव होने पर त्याग की गई हैं और आज एकमात्र भारतीय पद्धति न्यूनाधिक फर्क करके प्रचलित है । पाश्चात्त्य देशों में त्वचा की भाँति हड्डी नाड़ी का भी संधान कर्म अब किया जाता है ।

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां कर्णव्यधबन्धविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

२।८५

अथात आमपक्वैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से आमपक्वैषणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—आम—आमशब्द से यहाँ आम और पच्यमान दोनों अवस्थाओं का बोध होता है । आमपक्वैषणीयम्—आमश्च पच्यमानश्च पक्वश्च तेषामेषणं विज्ञानं तद्विद्यते यस्मिन् तम् । आम, अर्धपक्व, और पक्वशोफ का विज्ञान जिस में वर्णन किया है ।

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता[1] अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते ॥२॥

छोटे मोटे आकार के उत्सेधयुक्त ग्रंथि, विद्रधि, अलजी इत्यादि प्रायः जो रोग होते हैं उन रोगों के लक्षणों से पृथक् लक्षणयुक्त (किंचित्) फैला हुआ, गाँठदार, सम या विषम आकार का, त्वचा और मांस में स्थित वातादि दोषों का संघात जो शरीर के एक हिस्से में उत्पन्न होता है उसे शोफ कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—शोफसमुत्थाना—शोफः समुत्थान आकार एषामिति अर्थात् उत्सेधयुक्त । अलजी—प्रमेहपिडका, नेत्रसंधिरोग या शूकदोषरोग । तैर्विलक्षणः—तेभ्यो ग्रन्थ्यादिभ्यो व्याधिभ्यः पृथक् । त्वङ्मांसस्थायी—त्वचा मांसादि अष्टविध व्रणवस्तु के स्थान में स्थित । एकदेशोत्थित—आयुर्वेद में सर्वांगशोफ, अर्धांगशोफ, और गात्रावयव या एकदेशोत्थितशोफ ऐसे शोफ

---

[1] अभिधास्यन्ते.

के तीन प्रकार मानते हैं—आगन्तुहेतुस्त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात् । (चरक) । अर्धांग और सर्वांग शोफ का निराकरण करने के लिये एकदेशोत्थित शब्द का प्रयोग किया गया है। सर्वांग या अर्धांग शोफ हृदय, वृक्क, यकृत् इत्यादि प्रधान अंगों के विकार से उत्पन्न होता है और उस में सूजन के अतिरिक्त इन्द्रियविकृति के लक्षण भी होते हैं। एकदेशोत्थित शोफ में स्थानिक लक्षणों का ही प्राधान्य होता है, सार्वदैहिक लक्षण थोड़े होते हैं। एकदेशोत्थित शोफ को अँग्रेज़ी में 'इन्फ्लमेटरी इडीमा' (Inflammatory oedema) या केवल 'इन्फ्लमेशन' कह सकते हैं।

स षड्विधो वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तुनिमित्तः । तस्य दोषरूपव्यञ्जनैर्लक्षणानि व्याख्यास्यामः ॥३॥

वह शोफ वातनिमित्त, पित्तनिमित्त, कफनिमित्त, शोणितनिमित्त, सन्निपातनिमित्त और आगन्तुनिमित्त ऐसा छः प्रकार का होता है। उस शोफ के दोष रूप की प्रकटता करके लक्षणों को वर्णन करते हैं ॥३॥

वक्तव्य—दोषरूपव्यञ्जनैः—उत्पादक दोषों का स्वरूप जिस प्रकार अभिव्यक्त हो जाय, उस प्रकार से स्पष्ट करके। व्रणशोफ का आधुनिक निदान—नवीन कल्पना के अनुसार व्रणशोफ के निम्न कारण माने गये हैं। (१) विकारी जीवाणु, (२) दबाव, चोट, मरोड़, मोच, आघात इत्यादि। (३) अग्नि या तप्त पदार्थों से जल जाना। (४) रासायनिक पदार्थ। यथा—तीव्र अम्ल, क्षार, वनस्पतिज और प्राणिज विष। (५) विद्युत् प्रवाह। इन में से विकारी जीवाणु व्रणशोथ के प्रधान कारण होते हैं। ये सर्व कारण आयुर्वेद के अनुसार आगन्तुवर्ग में आते हैं—सुखानि खल्वागन्तोः नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गाभिघातवधबंधपीडनज्जुदहनशस्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि । (चरक)।

तत्र, वातशोफोऽरुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति; पित्तशोफः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसार्योषादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति; कफशोफः पाण्डुः शुक्लो वा कठिनः शीतः स्निग्धो मन्दानुसारी कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति; सर्ववर्णवेदनः सन्निपातजः; पित्तवच्छोणितजोऽतिकृष्णश्च; पित्तरक्तलक्षण आगन्तुर्लोहितावभासश्च ॥४॥

इन में वात का शोथ किंचित् लाल या काला, खुरदरा, मृदु होता है और उस की वेदना कभी बढ़ती है, कभी घटती है। पित्त का शोथ पीला, मृदु, रक्तयुक्त और शीघ्र बढ़ने वाला होता है और उस में जलन की सी वेदना विशेषतया अधिक होती है। कफ का शोथ हलका पीला या सफेद, कठिन, शीत, स्निग्ध, मन्दता से बढ़ने वाला होता है और उस में खाज आदि की वेदना अधिक होती है। जिस में सब प्रकार के वर्ण और सब प्रकार की वेदनाएँ हों, वह सन्निपात शोथ हैं। रुधिर के शोथ में पित्त के लक्षण होते हैं और शोथ विशेष काला होता है। जिस में पित्तशोथ और रक्तशोथ के लक्षण होते हैं और सुरखी चमकती है, वह आगन्तुशोथ है ॥४॥

वक्तव्य—व्रणशोथ के प्रायः स्थाननिरपेक्ष चार मुख्य लक्षण होते हैं, जिन में उपर्युक्त सब लक्षणों का समावेश होता है—(१) शोथ या सूजन—किसी स्थान में जब 'इन्फ्लमेशन' उत्पन्न होता है तब प्रायः सूजन हुआ ही करती है। इस साहचर्य का परिणाम यह हुआ है कि भीतरी 'इन्फ्लमेशन' के लिये बाह्यशोथ शब्द रूढ़ हो गया है। यह शोथ दो कारणों से होता है—रक्ताधिक्य और रक्त से रक्त रस का निकल कर वहाँ के धातुओं में जमा होना। पोले स्थान में शोथ होने से सूजन शीघ्र बढ़ने वाली और मृदु भी होती है। कठिन स्थान में शोथ होने से सूजन बहुत कम, मन्दता से बढ़ने वाली और कठिन भी होती है। कभी कभी शोथ के स्थान से दूरी पर सूजन दिखाई देती है। यथा हस्ततल और पादतल के शोथ में कलाई और टखने पर सूजन होती है और कनपुटी के शोथ में आँखों पर सूजन आ जाती है। कारण यह है कि शोथ के स्थान पर आवरण कड़ा होने से उस का प्रभाव समीपवर्ती मृदु अंगों पर दिखाई देता है। (२) लोहितवर्णता—इसका भी मुख्य कारण रक्ताधिक्य है। प्रारम्भिक अवस्था में जब रक्तप्रवाह की अधिकता होती है और रक्त में प्राणवायु की राशि भी अधिक होती है तब शोथयुक्त स्थान का वर्ण लाल सुर्ख होता है जो अंगुलि के दबाने पर पीला और अंगुलि हटाने से पूर्ववत् लाल सुर्ख हो जाता है। दूसरी अवस्था में जब रक्तप्रवाह मंद होता है तथा रक्त का प्राणवायु कम होता है तब वर्ण किंचित् कालिमा युक्त हो जाता है और अंगुली के दबाने से तथा हटाने से परिवर्तन इतने शीघ्र नहीं होते। (३) उष्णता—इसका भी कारण रक्ताधिक्य है। शोथयुक्त स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक गरम प्रतीत होता है। इसका प्रत्यय करने के लिये प्रथम शोथ स्थान पर कुछ समय तक हाथ को रखना चाहिये। तत्पश्चात् दूसरे किसी स्थान पर रखना चाहिये। परन्तु शोथस्थान का तापक्रम रक्त के तापक्रम से अधिक नहीं होता। बाह्यत्वचा की उष्णता भीतरी उष्णता से हमेशा कम होती है। जिस स्थान में शोथ उत्पन्न होता है, वहाँ रक्त का परिभ्रमण उत्तम होने के कारण उसकी उष्णता रक्त के बराबर हो जाती है। (४) वेदना—शोथयुक्त स्थान में धमनीगत रक्तभार बढ़ जाने से तथा लसिका का स्यंदन अधिक होने से वातनाड़ियों के अग्रों (Nerve terminals) पर दबाव पड़ता है और उनका क्षोभ हो जाता है, जिस से वेदना प्रतीत होती है। यदि स्थान पोला हो तो वेदना कम होती है, यदि कठिन हो तो वेदना अधिक होती है। शोथ की वेदना की यह विशेषता है कि आभ्यंतर या बाह्य दबाव बढ़ाने से वेदना की वृद्धि होती है। यदि हाथ में शोथ हो तो हाथ नीचे लटका देने से आभ्यंतरीय रक्तभार बढ़ता है और वेदना की वृद्धि होती है। यदि शोथस्थान पर अंगुलि या अन्य पदार्थ से दबाव दिया जाय तो भी वेदना की वृद्धि होती है और इसी कारण से रोगी स्पर्श सहन नहीं कर सकता। इस अवस्था को स्पर्शनासहिष्णुता या पीडनाक्षमता (Tenderness) कहते हैं। (५) इन लक्षणों के अतिरिक्त स्वकर्मगुणहानि यह एक

पाँचवाँ लक्षण भी शोथ का माना जाता है। वेदना की वृद्धि होने से तथा स्थानिक शरीर परमाणुओं (cells) के कार्य में बाधा उत्पन्न होने से यह पाँचवाँ लक्षण उत्पन्न होता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शोथ के सर्व लक्षण रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं। शोथ के समय रक्तवाहिनियाँ प्रसृत हो जाती हैं। उन में से रक्त का प्रवाह बढ़ता है और उस के साथ साथ लसिका का स्यन्दन होकर धातुओं में वह जमा होती है। शरीर की दृष्टि से ये परिवर्तन आवश्यक तथा हितावह हैं। कारण, रक्त शरीररक्षा का प्रधान साधन है। रक्त ही के द्वारा शोथ के स्थान में शरीरपरमाणुओं के लिए खाद्य द्रव्य, विषनाशक वस्तुएँ, रक्षक और भक्षक सेल पहुँचाए जाते हैं। रक्त की कमी से इन आवश्यक पदार्थों की भी कमी हो जाती है।

स यदा बाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्न संभावितः प्रशमयितुं क्रियाविपर्ययाद्बहुत्वाद्वा दोषाणां तदा पाकाभिमुखो भवति। तस्यामस्य पच्यमानस्य पक्वस्य च लक्षणमुच्यमानमुपधारय ॥५॥

विपरीत क्रिया होने से या दोषों की शक्ति अधिक होने से जब शोथ (लेपनादि) बाह्य और (क्वाथपानादि) आभ्यंतर क्रियाओं से शान्त नहीं होता तब पकने लगता है। उस शोथ के आम, अर्धपक्व और पक्व अवस्था के लक्षण जो कहे जाएँगे उन्हें श्रवण करो और समझो ॥५॥

वक्तव्य—पहले ही कहा जा चुका है कि शोथ प्रायः विकारी जीवाणु शरीर में पहुँचने के कारण उत्पन्न होता है। ये जीवाणु प्रवेशस्थान के सेलों को मारकर तथा खाद्य लेकर अपनी संख्या अतिशीघ्रता से बढ़ाते हैं और बढ़ाते समय विषैली वस्तुएँ भी बनाते हैं जो स्थानिक सेलों को हानि पहुँचाती हैं। शरीर के सेल इन जीवाणुओं के साथ अपनी तरफ से अन्य शरीररक्षक सेलों की सहायता लेकर मुकाबला करते हैं और यही शोथ है। संक्षेप में शोथ जीवाणुओं के प्रति शरीरसेलों के युद्ध का एक लक्षण है। प्रारम्भिक अवस्था में आलेप, परिषेक, सेक, अभ्यंग, उपनाह इत्यादि स्थानिक (बाह्य) और क्वाथादि (आभ्यंतर) उपायों द्वारा शोध का परिहार धातुओं का नाश न होते हुए भी हो सकता है। परन्तु जब दोषों की (अर्थात् पर्याय से जीवाणुओं की) शक्ति अधिक होती है या योग्य उपचार योग्य समय में नहीं होते तब दोष शरीर के कुछ अंश का नाश करते हैं और शोथ के स्थान में उसी से पीप बनने लगता है। शोथ की प्रारंभिक अवस्था को 'आमावस्था' कहते हैं। जब तक शरीर परमाणुओं का नाश होता है, पूय की वृद्धि होती है और पूय फैलता रहता है तब तक उस स्थिति को 'पच्यमानावस्था' कहते हैं। जब पूयोत्पत्ति बंद हो जाती है, शरीर के धातुओं का नाश होना बंद हो जाता है, पूय के चारों ओर रोहणधातु (Granulation tissue) की भित्ति बन कर उसका प्रसार रुक जाता है और पूय परिमित स्थान में एकत्र हो जाता है तब उस स्थिति को 'पक्वावस्था' कहते हैं। इसी का ही दूसरा नाम 'विद्रधि' है। विद्रधि के चारों ओर जो भित्ति है वह रक्तवाहिनियों का जाल, श्वेतकण और स्थानिक धातुओं के सेलों से बनती है। शोथ जब पाकाभिमुख होता है तब स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त शारीरिक लक्षण भी पाये जाते हैं। ये लक्षण जीवाणुजन्य स्थानिक विष शरीर में व्याप्त होने से उत्पन्न होते हैं।

तत्र, मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम् ॥६॥

इन में से (शोथ का स्थान) किंचित् उष्ण होना, त्वचा का वर्ण अन्य त्वचा के समान होना (त्वचा के वर्ण में परिवर्तन न होना), शोथ में ठंढापन और काठिन्य होना, पीड़ा अधिक न होना और सूजन थोड़ी होना ये आमावस्था के लक्षण होते हैं ॥६॥

सूचिभिरिव निस्तुद्यते दश्यत इव पिपीलिकाभिस्ताभिश्च संसर्प्यंत[1] इव छिद्यत इव शस्त्रेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताड्यत इव दण्डेन पीड्यत इव पाणिना घट्यत इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्याम्, ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातबस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गम् ॥७॥

जैसे सुइयों से वेधा जाता है, चीटियों से काटा जाता है, चीटियाँ चलती हुई मालूम होती हैं, शस्त्र से चीरा जाता है, भाले से धवला जाता है, डण्डे से पीटा जाता है, हाथों से दबाया जाता है, अंगुलियों से मला जाता है, अग्नि से जलाया जाता है, क्षार से पकाया जाता है, स्थानिक पार्श्व में तथा आसमंतात् जलन होती है, बिच्छू के दंश के समान पीड़ित होकर खड़े बैठे लेटे किसी प्रकार चैन नहीं पड़ता है, फूली मसक की भाँति तना हुआ शोथ होता है, त्वचा का वर्ण बदल जाता है, शोथ खूब बढ़ता है, ज्वर दाह प्यास और भोजन में अरुचि होती है, ये लक्षण पच्यमान अवस्था में होते हैं ॥७॥

वक्तव्य—निस्तुद्यते—भृशं व्यथ्यते। निःशब्दोऽत्र भृशार्थे। शक्ति—बरछी या भाला। ओष—एकदेशिक दाह। चोष—पार्श्वस्थाग्निसंतापवद्व्यथा। परिदाह—परि समंतात् दाह। पच्यमान अवस्था में पूय की वृद्धि होती है और वृद्धि के साथ साथ उस का दबाव चारों ओर के धातुओं पर विशेष करके वातनाड़ियों पर होने से विविध प्रकार की पीड़ा, जैसे कि ऊपर वर्णन की गई है, होती है। यदि पूय ऐसे मृदु स्थान में बनता हो कि जहाँ उसको फैलने के लिये अधिक स्थान आसानी से मिल सके तो अधिक तीव्र स्वरूप की पीड़ा नहीं होती। परन्तु यदि कड़े स्थान में स्थित हो तो थोड़े पूय से भी वृश्चिकदंश की जैसी असह्य वेदना हुआ करती है।

विकारी जीवाणुओं के कारण जब पाक बनता है तब ज्वर सर्वदा होता है। ज्वर, जूड़ी बुखार की भाँति, शीत के साथ

---

[1] संसृप्यत इव.

प्रारंभ होता है और पसीना निकल कर उतर जाता है। ज्वर के साथ साथ अरुचि, भूख न लगना, कोष्ठबद्धता, जिह्वा सूखी और मैली, मूत्र गाढ़ा और गहरे रंग का इत्यादि उसके आनुषंगिक लक्षण भी हुआ करते हैं। पाकस्थान से विष रक्त में पहुंच कर मस्तिष्क के उष्णताजनक केन्द्रों (Thermogenic centres) को उत्तेजित करके ज्वर उत्पन्न करता है। जब पाक जीवाणु के अतिरिक्त अन्य प्रकार से बनता है तब ज्वर हलका होता है या नहीं होता।

वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता वलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनं, बस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते वाऽवपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरनुन्नतता[1] व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलिङ्गम् ॥८॥

वेदनाओं की शान्ति, त्वचा का वर्ण फीका होना, शोथ का हलका होना, त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ना और दरार होना, अंगुलि से दबाने पर गढ़ा पड़ना और फिर अंगुलि हटाने पर उसका भर जाना, एक तरफ (अंगुलि से) दबाने पर मसक में भरे हुए पानी की तरह पूय के संचार से दूसरे तरफ पीड़न (मालूम) होना, बार बार (बीच बीच में) वेदना होना, खाज, सूजन के उभार का कम होना, उपद्रवों की शान्ति, भोजन में रुचि ये लक्षण पक्वावस्था के हैं ॥८॥

वक्तव्य—पाण्डुता—त्वचा पांडुर वर्ण होना। यह निर्जीव त्वचा का लक्षण है। त्वक्परिपुटनम्—त्वचा के छिलके निकलना या उस में व्रण पैदा होना। यह भी त्वचा निर्जीव होने का लक्षण है। जब शोथ पक्व हो जाता है, तब भीतरी पूय बाह्य त्वचा की ओर धीरे धीरे बढ़कर उस को निर्जीव करता है और कुछ समय के पश्चात् अत्यंत निर्जीव स्थान को फाड़ कर बाहर निकल आता है। शोथस्थान में पूय की उत्पत्ति बंद हो जाने पर भीतर का तनाव कम हो जाता है जिस से सूजन हलकी (अल्पशोफता) हो जाती है, त्वचा सिकुड़ने लगती है (वलीप्रादुर्भाव) और शोथ का उभार भी (अनुन्नतता व्याधेः) कम हो जाता है। निम्नदर्शनमंगुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनम्—शरीर में द्रव के कारण जो सूजन उत्पन्न होती है, वह यदि चिरकालीन न हो तो अंगुली से दबाने पर दब जाती है। कारण यह है कि दबाव के स्थान का द्रव इधर उधर हट जाता है। परन्तु उँगली हटाते ही फिर द्रव उसी स्थान में लौट आता है और शोथ पहले जैसा हो जाता है। अंग्रेजी में इसको 'पिटिंग आन प्रेशर' (Pitting on Pressure) कहते हैं। यह द्रवगर्भ शोथ का एक प्रधान लक्षण है, जो घनशोथ (Solid Oedema or Myxoedema) में या चिरकालीन शोथ (यथा श्लीपद का शोथ) में क्वचित् मिलता है। बस्तौ इत्यादि—**अन्वय**—अन्ते (एकस्मिन् पार्श्वे) ऽवपीडिते (सति) बस्तावुदकसंचरणमिव पूयस्य (पूयस्थाने संचरणं) एकमन्तम् (अपरं पार्श्वं) प्रपीडयति (आक्रामति वेगेन)। पूय स्थान को एक तरफ दबाव देने से वह दबाव पूय ही के जरिये दूसरी तरफ प्रतीत होता है। इस को लहरी या 'तरंगसंचरणप्रतीति' कहते हैं। अंग्रेजी में इस को 'फ्लक्चुएशन टेस्ट' (Fluctuation test) कहते हैं। शरीर के किसी परिमित स्थान में जब स्वतंत्र द्रव (Free fluid) यंत्रित हो जाता है, तब यह प्रतीति मिल सकती है। यथा—जलोदर, मूत्रज वृद्धि, पूयविद्रधि, ग्रंथि (cyst) इत्यादि। यदि द्रव त्वचा के समीप हो तो यह प्रतीति बहुत स्पष्ट होती है। परंतु यदि गहराई पर हो या बहुत ही तनाव के साथ भरा हो तो प्रतीति मिलने में कठिनता होती है। तो भी यदि सावधान होकर परीक्षा की जाय तो भीतरी द्रव का पता चल जाता है।

कफजेषु तु रोगेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचिदसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति मन्यमानो भिषङ्मोहमुपैति। यत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थौल्यमल्परुजताऽश्मवच्च घनता, न तत्र मोहमुपेयादिति[2] ॥९॥

कफजन्य रोगों में शोथ गहराई पर स्थित होने से या अभिघातजन्य कई रोगों में पक्वावस्था के सम्पूर्ण लक्षण न देखकर शोथ पक्व होते हुए भी पक्व न समझ कर वैद्य (चिकित्सा में) चूक जाता है। (इसलिये) जहाँ त्वचा के वर्ण की समता, शोथ में ठंढापन, मोटापन, वेदना की अल्पता, पत्थर की भाँति कड़ापन (ये अपक्वावस्था के लक्षण) होते हैं वहाँ (अन्य लक्षणों का निरीक्षण करके पक्वावस्था का निदान करने में) नहीं चूकना चाहिए ॥९॥

वक्तव्य—इसी अवस्था को वाग्भट में 'रक्त पाक' कहा है—रक्तपाकमिति ब्रूयात् तं प्राज्ञो मुक्तसंशयः॥ गंभीरगतित्वात्—गहराई पर स्थित होने के कारण। कभी कभी पाक गहराई पर स्थित होने से उसके लक्षणों को देखकर निदान करना कठिन होता है। परन्तु आज कल सूक्ष्मदर्शकयन्त्र द्वारा रोगी के रक्त की परीक्षा करने से निदान में बहुत सहायता मिलती है। रक्त में लाल कणों की भाँति श्वेतकण भी होते हैं। इनकी संख्या औसत प्रति घन सहस्रांश मीटर रक्त में ७००० से १०००० तक होती है। पूयोत्पत्ति के समय तथा न्युमोनिया विसर्प इत्यादि रोगों में इन की संख्या प्रति घन सहस्रांश मीटर रक्त में ५०००० तक अधिक होती है। यदि रक्तपरीक्षा करने से इन की संख्या २०००० या इस से भी अधिक मिले और अन्य श्वेतकण वृद्धिजनक रोगों के लक्षण न हों तो पाक का निदान कर सकते हैं।

भवन्ति चात्र—

आमं विपच्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥१०॥

जो शोथ की आम, पच्यमान और पक्व अवस्थाओं को ठीक जानता है वही वैद्य हो सकता है; बाकी सब तस्करवृत्ति होते हैं ॥१०॥

---

[1] कण्डूरुन्नतता.

[2] न मोहमुपेयाद्यतस्तं रक्तपाकमाचक्षते वृद्धाः.

वाताहते नास्ति रुजा न पाकः
पित्ताहते नास्ति कफाच्च पूयः।
तस्मात् समस्ताः[1] परिपाककाले
पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः ॥११॥
कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं
कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य।
पचत्यतः शोणितमेव पाको
मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥१२॥

वायु के विना पीड़ा नहीं होती, पित्त के विना पकने का कार्य नहीं होता, कफ के विना पूय नहीं होता। इसलिये परिपाक के समय में तीनों दोष शोथ को पका देते हैं ॥११॥ कालान्तर में प्रवृद्ध हुआ पित्त अपने बल से वात और कफ इन को विवश कर रक्त को पका देता है और यही पाक होता है, ऐसा कई वैद्यों का (पाक के संबंध में) दूसरा मत है ॥१२॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में आयुर्वैदिक कल्पना के अनुसार पूय के सम्बंध में दो मत प्रदर्शित किये हैं—पूर्वदर्शने कफात् पूयः, अत्र दर्शने शोणितात् पूय इति विशेषः। (मधुकोशव्याख्या)। एक मतानुसार कफ से पूय बनता है और दूसरे मतानुसार रक्त से पूय बनता है। इस में संदेह नहीं कि शोथ के स्थान में पाकविधि से जो तरल पदार्थ उत्पन्न होता है, वही 'पूय' है। अंग्रेजी में पूय को 'पस' (Pus) और पाकविधि को (Suppuration) सप्युरेशन कहते हैं। यदि पूय का परीक्षण रासायनिक और सूक्ष्मदर्शक दृष्टि से किया जाय तो पूय क्या है, इस का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। शोथ का स्थान एक दृष्टि से रणभूमि है, जहाँ शरीर के शत्रु और शरीर के रक्षकों में घनघोर युद्ध होता रहता है। दोनों अत्यंत सूक्ष्म अतएव अप्रत्यक्ष होने के कारण उनके युद्ध का चित्रपट दृष्टि के सामने नहीं होता। परन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से यह अप्रत्यक्ष दृश्य अब प्रत्यक्ष हो गया है। वास्तव में सारे रोगोत्पादक जीवाणु शरीर के शत्रु हैं, परन्तु पाकविधि में केवल पूयजनक (Pyogenic) जीवाणुओं का सम्बंध आता है। पूय के उत्पन्न करने में निम्न जीवाणु भाग लेते हैं—स्टैफिलो कोकस, स्ट्रेप्टोकोकस, न्यूमोकोकस, बैसीलस पायोसायनीअस, मेनिंगोकोकस, गोनोकोकस, बैसीलसकोलाई, बैसीलस टायफोसस (आंत्रिकज्वर का जीवाणु), बैसीलस ट्युबरक्युलोसिस (राजयक्ष्मा का जीवाणु) और अक्टिनोमाइसीस (मेरा, जीवाणुविज्ञान पृष्ठ ३९ देखो)। इन में से स्टैफिलोकोकस, स्टेप्टो कोकस और न्युमोकोकस पूयस्थान में हमेशा पाये जाते हैं। ये जीवाणु जब किसी स्थान में प्रविष्ट हो जाते हैं तो प्रथम वहाँ शोथ उत्पन्न करते हैं। अब उस स्थान में पहले की अपेक्षा रक्त अधिक आता है और अधिक शीघ्रता से भ्रमण भी करता है। इसी रक्त द्वारा शोथ के स्थान में शरीररक्षक सैन्य पहुँचता है। शरीररक्षा के लिये सब से महत्त्व के सेल रक्तगत श्वेतकण होते हैं। वे वहाँ अधिक संख्या में पहुँच जाते हैं। ये श्वेतकण जीवाणुओं का भक्षण करते हैं। अतः इनको भक्षक सेल (Phagocytes) भी कहते हैं। भक्षण किये हुए जीवाणु इनके शरीर में सूक्ष्मदर्शक द्वारा दिखाई देते हैं। जहाँ जीवाणु होते हैं, वहाँ इनकी दौड़ मच जाती है और दोनों में उस स्थान पर युद्ध ठन जाता है। यदि जीवाणु निर्बल और कम संख्या में हों तो शरीर के सेलों का नाश न होते हुए भी शोथ का परिहार हो जाता है और पूय नहीं बनता। इस स्थिति को शमन (Resolution) कहते हैं। यदि जीवाणु अधिक संख्या में और अधिक शक्तिमान् हों तो इस युद्ध में असंख्य स्थानिक धातुओं के सेल, श्वेतकण तथा जीवाणु भी मृत हो जाते हैं। तब शत्रुओं पर विजय मिलता है और शोथ का परिहार होता है। इस स्थिति को पूयभवन (Suppuration) कहते हैं। पूय क्या है—उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि पूय मृत सेलों से ही बना है। उस में जिस स्थान में शोथ होता है उस के मृत सेल, मृत पूयजनक जीवाणु और मृत श्वेतकण होते हैं। इन के सिवाय कुछ लाल कण और जीवित जीवाणु तथा श्वेतकण भी होते हैं। पूय का गाढ़ा भाग इन्हीं चीजों से बनता है। पूय का तरल भाग रक्त रस से बनता है और लसिका की तरह अल्व्यूमिन, जीवाणुविष इत्यादि पदार्थयुक्त होता है। पूय में करीब ९०% जलांश होता है। उसकी गुरुता १०३० और प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। उस से एक प्रकार की गंध आती है। यदि बैसीलस कोलाई से पूय बन गया हो तो उसमें मल के समान दुर्गंध आती है। इस का रंग बहुधा हलका पीला होता है परन्तु यदि बैसीलस पायोसीनिअस से पूय उत्पन्न हुआ हो तो उस का रंग नीला हरा होता है। पूजजनक जीवाणुओं के विशेष विवरण के लिये ग्रंथकार का 'संक्षिप्त-जीवाणु विज्ञान' देखो। कभी कभी जीवाणुओं के सिवा भी पूय बनता है। इस प्रकार का पूय यकृत्विद्रधि, स्त्रियों के बीजवाहिनी का विद्रधि (Pyosaplinx) और रासायनिक द्रव्य से उत्पन्न हुए शोथ में मिलता है। इस से यह स्पष्ट है कि पूय अधिकांश रक्त से ही बनता है। जिस पूय में जीवाणु नहीं होते उस को जीवाणुरहित पूय (Sterilepus) कहते हैं।

तत्र, आमच्छेदे मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यापादनमतिमात्रं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावोऽवदरणमनेकोपद्रवदर्शनं क्षतविद्रधिर्वा भवति। स यदा भयमोहाभ्यां पक्कमप्यपक्कमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदी(दा)र्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वेति ॥१३॥

आम (या अपक्क) अवस्था में शोथ चीरने से मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और संधियों का अधिक नाश, रक्त का अधिक स्राव, वेदना की उत्पत्ति, विदारण, अनेक उपद्रव अथवा क्षतविद्रधि ये उत्पन्न होते हैं। और यदि भय या अज्ञान से पक्क शोथ को अपक्क समझ कर वैद्य बहुत समय तक उस को रहने दे तो गहराई पर स्थित हुआ पूय बाहर द्वार न मिलने

---

[1] समस्तान्. समस्तैः. शोफास्त्रिभिरेव दोषैः.

के कारण अपने स्थान को विदीर्ण कर (अपने चारों ओर) गहरा और बड़ा अवकाश बना कर नाड़ी पैदा कर देता है, जिस से वह शोथ कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है ॥१३॥

वक्तव्य—क्षतविद्रधि—आगन्तुविद्रधि । वाग्भट में क्षतविद्रधि के स्थान में क्षतविसर्प दिया है । नाड़ी—नलिका की तरह पूय का लंबा मार्ग । अंग्रेजी में नाड़ी को 'साइनस' (Sinus) कहते हैं । शोथ की आमावस्था में शरीर के शत्रु तथा रक्षक आपस में मिले हुए रहते हैं, रक्त का आधिक्य होता है, त्याज्य द्रव्य एक स्थान में इकट्ठा नहीं होता और बाह्य त्वचा जिस में से होकर पूय बाहर निकल आता है मृत नहीं होती । अतः इस अवस्था में चीरने से शरीर के धातुओं का अधिक नाश, रक्त का अधिक स्राव, शरीर के लिये त्याज्य पदार्थों का भी शरीर में शेष रहना, वेदना इत्यादि हानिकारक घटनाएँ होती हैं। पक्कावस्था में त्याज्य पदार्थ एक स्थान में पूय के स्वरूप में इकट्ठा हुए मिलते हैं। शरीर इन को बाहर निकालना चाहता है और त्वचा के किसी दुर्बल स्थान को फोड़ कर बाहर निकाल देता है। किन्तु जब पूय अधिक गहराई पर स्थित होने से बाह्य त्वचा को फोड़ने में असमर्थ होता है, उस समय यदि अज्ञानी वैद्य त्वचा में नश्तर देकर पूय को बाहर निकालने का यत्न न करे तो पूय रक्तवाहिनियों के साथ और आवरणों (Fascia) के नीचे नीचे कई दिशाओं में फैल कर शरीर के अन्य धातुओं को हानि पहुँचाता है । इसलिये शोथ पक्क होते ही नश्तर देकर पूय बाहर निकाल देना प्रशस्त मार्ग है ।

भवन्ति चात्र—

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्कमुपेक्षते ।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥१४॥

जो आमावस्था में शोथ को चीर देता है तथा जो पक्कावस्था में उस की उपेक्षा करता है वे दोनों अज्ञान के कारण व्याधि निश्चय करने में असमर्थ वैद्य चाण्डाल के समान समझने चाहिए ॥१४॥

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक् ।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो [1]वेदनासहः ॥१५॥
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ।
तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि ॥१६॥
प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः।
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥१७॥

शस्त्रकर्म करने के पूर्व रोगी को हितकर भोजन खिलावे और जो वेदना न सह सके उसे, यदि मद्य सेवन का अभ्यासी हो तो, तीक्ष्ण मद्य पिलावे ॥१५॥ रोगी अन्न सेवन से मूर्च्छित नहीं होता और मद्य के नशा से शस्त्र की पीड़ा को नहीं जानता । इसलिये उक्त रोगों में अवश्य भोजन कराना चाहिए ॥१६॥ मनुष्यों का आभ्यन्तरीय प्राण बाह्य प्राण के गुणों से मिल कर दोनों में अविरोध होने के कारण (शस्त्रकर्म के समय अच्छी तरह से) पंचभूतात्मक शरीर को धारण करता है ॥१७॥

वक्तव्य—इष्टम्—'स्निग्धमुष्णमल्पमन्नं द्रवप्रायम्' इत्यादि प्रत्येक रोग के अनुसार योग्य और हितकर । रोगेषूक्तेषु—मूढगर्भ, अर्श, अश्मरी, भगन्दर और मुखरोग के अतिरिक्त सर्व रोगों में । आभ्यन्तरः प्राणः—अन्नपान रस । तत्रैषां सर्वधातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता । बाह्यप्राणः—अन्न । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । (तैत्तिरीयोपनिषत्) । शरीर का प्राण अन्न है । इसी अन्न का आभ्यंतररूप अन्नरस वही आभ्यंतर प्राण और बाह्यरूप खाद्य द्रव्य बाह्य प्राण है । अविरोधेन—अन्नपानरस, आहार तथा शरीर सर्वपंचमहाभूतात्मक होने के कारण विरोध कहीं भी नहीं होता—पंचभूतात्मके देहे आहारः पांचभौतिकः । विपक्वः पंचधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धते ॥ न मूर्च्छति अन्नसंयोगात्—शस्त्रकर्म के पूर्व भोजन करने से रोगी को कुछ अधिक बल प्राप्त होता है और मूर्च्छा नहीं आती । भोजन से शस्त्रकर्म के समय रक्त का स्राव कम होता है । क्योंकि जब आमाशय और आन्त्र में अन्न होता है, तब शरीर के अन्य स्थान की, विशेष करके त्वचा की, रक्तवाहिनियाँ संकुचित होती हैं और वहाँ का रक्त पचनसंस्थान की तरफ पाचक रस उत्पन्न करने के लिये खींचा जाता है । भोजन के उपरान्त जो कुछ शीत हमेशा अनुभव होता है, उस का कारण त्वचागत रक्त की कमी है । मद्यम्–रोगी को मद्य का सेवन संज्ञा और वेदना का हरण करने के लिये करवाया जाता था । मद्य से यद्यपि यह कार्य पूर्णतया नहीं होता था तथापि शस्त्रकर्म में इस से जरूर कुछ सहायता मिलती थी । आधुनिक काल में इसी कार्य के लिये कई वेदनाहर (Anodyne) और संज्ञाहर (Anaesthetic) ओषधियों का उपयोग होता है । इन में क्लोरोफार्म, ईथर कोकेन और कोकेन के अन्य योग प्रमुख हैं । इनका उपयोग करने से कठिन से कठिन शस्त्रकर्म भी रोगी को तनिक पीड़ा न होते हुए हो सकते हैं । पाश्चात्त्य शल्यचिकित्सा की विशेष उन्नति होने के जो अनेक कारण हुए हैं उन में वेदनाहर और संज्ञाहर ओषधियों का आविष्कार एक प्रधान कारण है । इसी के अभाव के कारण प्राचीन काल में शस्त्रकर्मों में आधुनिक काल के समान उन्नति न हो सकी ।

[1]अल्पो महान् वा क्रियया विना यः
समुच्छ्रितः पाकमुपैति शोफः ।
विशालमूलो [2]विषमो विदग्धः
स कृच्छ्रतां यात्यवगाढदोषः ॥१८॥

जो छोटा या बड़ा शोफ विना (आलेपनादि) क्रिया के बढ़ कर पक जाता है वह शोफ शरीर में अधिक फैलता है । उस के सब अंगों का पाक ठीक नहीं होता । पूय गहराई तक पहुँचता है और वह कृच्छ्रसाध्य हो जाता है ॥१८॥

वक्तव्य—इस श्लोक में यह अर्थ गर्भित है कि शरीर के किसी अंग में जब शोफ, छोटा या बड़ा, उत्पन्न होता है तब उस की कदापि भी उपेक्षा न कर प्रारम्भ से ही आलेपन उपनाह इत्यादि योग्य उपायों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

---

[1] ०ऽवेदनासहः.

[1] यो ह्युत्थितोऽल्पोऽप्यथवा महान् स्यात् क्रियां विना पाकमुपैति शोथः. [2] विषमं.

आलेपविस्रावणशोधनैस्तु
सम्यक् प्रयुक्तैर्यदि नोपशाम्येत् ।
पच्येत शीघ्रं सममल्पमूलः
स पिण्डितश्चोपरि चोन्नतः स्यात् ॥१९॥

आलेप, रक्त स्रवण, संशोधन इत्यादि उपाय योग्य (समय और विधि द्वारा) प्रयुक्त करने से (बहुधा शोफ का प्रशम हो जाता है, वह पकता नहीं परन्तु) यदि प्रशम न हो जाय तो भी शोफ सब अंगों में समान और शीघ्रता से पकता है, बहुत फैलता नहीं और दोषों को इकट्ठा करके ऊपर को उठ आता है ॥१९॥

वक्तव्य—पाक होने के पूर्व शोथ के परिहार को प्रशमन (Resolution) कहते हैं ।

कक्षं समासाद्य यथैव वह्नि-
र्वाते(य्वी)रितः संदहति प्रसह्य ।
तथैव पूयोऽप्यविनिःसृतो हि
मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥२०॥

वायु से प्रेरित हुआ अग्नि जैसे तृणसमूह में प्राप्त होकर उस को बड़े जोर से (हठात्) जला देता है वैसे ही (दोषों से प्रेरित तथा नश्तर से) बाहर न निकाला हुआ पूय मांस, सिरा और स्नायु (आदि में प्राप्त होकर उन को) खा डालता (नाश कर देता) है ॥२०॥

आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम् ।
तृतीयमुपनाहं तु चतुर्थी पाटनक्रियाम् ॥२१॥
पञ्चमं शोधनं कुर्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते ।
एते क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम् ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आमपक्वैषणीयो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

प्रथम विम्लापन, द्वितीय दोषावसेचन, तृतीय उपनाह, चतुर्थ पाटनक्रिया, पंचम शोधन, षष्ठ रोपण और सप्तम विकृति का दूरीकरण ये व्रणशोथ के सात उपक्रम कहे गये हैं ॥२१-२२॥

वक्तव्य—चिकित्सा स्थान के प्रथम अध्याय में व्रणशोथ के जो साठ उपक्रम निर्दिष्ट किये गये हैं, उन का संक्षेप यहाँ अत्यंत उपयोगी सात प्रधान उपक्रमों में किया गया है । इन सात उपक्रमों में सब का समावेश हो जाता है । विम्लापन—स्वेदन करने के पश्चात् अंगुलियों से शोथस्थान पर मर्दन करना—अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः । विमर्दयेद् भिषक् प्राज्ञस्तलेनांगुष्ठकेन वा ॥ इस में अपतर्पण से विम्लापन तक छः उपक्रमों का समावेश होता है । अवसेचन—दोषों को निकालना । इस में विस्रावण, स्नेह, वमन और विरेचन इन चारों का समावेश होता है । उपनाह—शोथ का प्रशम या पाचन कराने के लिये तीसी आदि उष्ण वीर्य द्रव्यों को पीस कर और गरम करके कपड़े से बांधना । अंग्रेजी में इसे पुल्टीस (Poultice) कहते हैं । इस में उपनाह और पाचन दोनों का समावेश होता है । पाटनक्रिया—इस में छेदन से सीवन तक नौ उपक्रमों का समावेश होता है । शोधन और रोपण—इन में संधान से व्रणधूपन तक तेरह उपक्रमों का समावेश होता है । वैकृतापहम्—व्रणस्थानीय तथा सार्वदेहीय विकारों का निराकरण करना । इस में उत्सादन से रक्षाविधान तक शेष छब्बीस उपक्रमों का समावेश होता है । व्रणस्य–व्रणशोफस्य ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायामामपक्वैषणीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातो व्रणालेपनबन्धविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्रणालेपनबन्धविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

आलेप आद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च, तं च प्रतिरोगं वक्ष्यामः; ततो बन्धः प्रधानम्, तेन शुद्धिर्व्रणरोपणमस्थिसन्धिस्थैर्यं च ॥२॥

आलेप प्रथम उपचार है । यह सर्व (प्रकार के) शोफ के लिए सामान्य और प्रधान है । इसका वर्णन प्रत्येक रोग के वर्णन के समय करेंगे । तत्पश्चात् बंध प्रधान है । उस से व्रण का शोधन तथा रोपण होता है और अस्थियों तथा संधियों में स्थिरता हो जाती है ॥२॥

वक्तव्य—आद्य—ओषधि द्रव्यों से करने वाले उपचारों में प्रथम । सामान्य—छः प्रकारों के शोफों में उपयोगी । प्रधानतम—शीघ्र पीड़ा हरण करने के कारण ।

तत्र प्रतिलोममालिम्पेन्नानुलोमम् । प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति रोमकूपान् स्वेदवाहिभिश्च सिरामुखैर्वीर्यं प्राप्नोति ॥३॥

लेप प्रतिलोम करना चाहिए, अनुलोम नहीं । क्योंकि प्रतिलोम करने से ओषधि ठीक ठीक लग जाती है, रोमकूपों में प्रवेश करती है और स्वेदवाही सिराओं के मुखों में प्रवेश करके अपने गुण को भी करती है ॥३॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—बालों का जो रुख होता है, उसकी विरुद्ध दिशा में ।

न च शुष्यमाणमुपेक्षेत, अन्यत्र पीडयितव्यात्; शुष्को ह्यपार्थको रुक्करश्च[1] ॥४॥

पीड़न के अतिरिक्त सूखे लेप को नहीं रहने देना चाहिये । सूखा लेप निरर्थक और पीडाकर होता है ॥४॥

वक्तव्य—अन्यत्र पीडयितव्यात्—व्रणशोथ में जब पीड़न द्वारा भीतर के पूय को बाहर निकालने की आवश्यकता होती है तब लेप को सूखा रखना चाहिये । क्योंकि पीड़न का कार्य आर्द्रावस्था में नहीं हो सकता—पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि । यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति । न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते ॥ इस के अतिरिक्त जब अन्य अर्थप्राप्ति करना हो तब लेप सूखा हो

---

[1] ०ऽरुष्करश्च.

जाने पर निकाल देना चाहिये। अपार्थकः—उद्दिष्ट अर्थ न करने वाला। आलेप के दशविध अर्थ होते हैं—दशविधश्च समासादालेपः। तद्यथा—१ स्नैहिकः, २ निर्वापणः, ३ प्रसादनः, ४ स्तम्भनः, ५ विलायनः, ६ पाचनः, ७ पीडनः, ८ शोधनः, ९ रोपणः, १० सवर्णीकरणश्च। (अ.संग्रह)। शुष्कावस्था में पीड़न के अतिरिक्त शेष अर्थ सिद्ध नहीं होते। रुक्करश्च—अरुष्करश्च ऐसा भी पाठ है। परन्तु शुष्क लेप से व्रण उत्पन्न होने का कोई विशेष कारण नहीं है। पीड़ामात्र हमेशा होती है और उस का प्रत्येक को अनुभव होता है। पीड़ा के अतिरिक्त अष्टांगसंग्रह में निम्न दोष बतलाए गये हैं—शुष्कं हि दाहोषारागश्यावत्वशूलानि वर्धयति। (उत्तरस्थान. ३०)।

स त्रिविधः—प्रलेपः, प्रदेह, आलेपश्च। तेषा[1]मन्तरम्—प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी च; प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा बहलोऽबहु[2]रविशोषी च; मध्यमोऽत्रालेपः ॥५॥

वह लेप तीन प्रकार का है—१ प्रलेप, २ प्रदेह, और ३ आलेप। इन में यह भेद है। 'प्रलेप' वह है जो ठंडा और पतला प्रयुक्त होता है और जो (क्लेद को) सुखाने वाला या न सुखाने वाला है। 'प्रदेह' वह है जो गरम या ठंडा, मोटा या पतला प्रयुक्त होता है और जो क्लेदशोषक नहीं है। 'आलेप' वह है जो सब बातों में मध्यम होता है ॥५॥

तत्र, रक्तपित्तप्रसादकृदालेपः; प्रदेहो वातश्लेष्मप्रशमनः संधानः शोधनो रोपणः शोफवेदनापहश्च; तस्योपयोगः क्षताक्षतेषु, यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः कल्क इति संज्ञां लभते निरु[3]द्धालेपनसंज्ञः; तेनास्रावसन्निरोधो मृदुता पूतिमांसापकर्षणमनन्तर्दोषता व्रणशुद्धिश्च भवति ॥६॥

इन में प्रलेप रक्तपित्तजन्य शोफ को शान्त करने वाला है। प्रदेह वातश्लेष्मजन्य शोफ को शान्त करने वाला, संधानीय, शोधन, रोपण और सूजन तथा पीड़ा का नाश करने वाला होता है। उस का उपयोग व्रणयुक्त शोथ या व्रणरहित शोथ दोनों में होता है। जो घाव पर उपयोग किया जाता है, वह फिर 'कल्क' कहलाता है। उसे 'निरुद्धालेपन' भी कहते हैं। उस से स्राव का निरोध होता है, स्थान मृदु हो जाता है, सड़े गले मांस का अपकर्षण होता है, भीतर निर्दोषता और व्रण की शुद्धि होती है ॥६॥

वक्तव्य—निरुद्धालेपनसंज्ञः—स्राव का निरोध करने के कारण उसे 'निरुद्धालेपन' कहते हैं। लुगदी (कल्क) के स्वरूप में प्रयुक्त होता है, इसलिये 'कल्क' भी कहते हैं। यहाँ प्रदेह और प्रलेप के जो गुणधर्म वर्णन किये हैं उससे बिलकुल विरुद्ध गुणधर्म अष्टांगसंग्रह में मिलते हैं। यस्तु शीतस्तनुर्मुहुर्मुहुश्च प्रयुज्यते स प्रदेहो रक्तपित्तत्वचां प्रसादकृत्। प्रलेपस्तूष्णः शीतो वा बहलश्च तथा वातश्लेष्मप्रशमनः ॥ (उत्तर स्थान, अ. ३०)।

अविदग्धेषु शोफेषु हितमालेपनं भवेत्।
यथास्वं दोषशमनं दाहकण्डूरुजापहम् ॥७॥
त्वक्प्रसादनमेवाग्र्यं मांसरक्तप्रसादनम्।
दाहप्रशमनं श्रेष्ठं तोदकण्डूविनाशनम् ॥८॥
मर्मदेशेषु ये रोगा गुह्येष्वपि तथा नृणाम्।
संशोधनाय तेषां हि कुर्यादालेपनं भिषक् ॥९॥
षड्भागं पैत्तिके स्नेहं चतुर्भागं तु वातिके।
अष्टभागं तु कफजे स्नेहमात्रां प्रदापयेत् ॥१०॥

शोफ की अविदग्धावस्था में आलेपन ही हित है। आलेपन दोषानुसार उनकी शान्ति करता है, दाह कण्डू और पीड़ा को दूर करता है ॥७॥ त्वचा की प्रसन्नता के लिए सर्वश्रेष्ठ है, रक्त और मांस को भी प्रसन्न करता है, दाह की शान्ति करने के लिए श्रेष्ठ है और पीड़ा तथा कण्डू को नाश करता है ॥८॥ मर्म स्थानों पर तथा गुह्य प्रदेशों में जो रोग हो जाते हैं उन के संशोधन के लिए वैद्य आलेपन का ही उपयोग करें ॥९॥ पित्त के रोगों में छठा भाग, वायु के रोगों में चौथा भाग और कफ के रोगों में आठवाँ भाग स्नेह की मात्रा (आलेपन के द्रव्यों में) डालनी चाहिए ॥१०॥

वक्तव्य—अविदग्ध—जो पाकाभिमुख नहीं है। रोगाः—संदर्भ के अनुसार शोफ समझना चाहिये। गुह्येष्वपि—जननेंद्रिय तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में।

त[1]स्य प्रमाणमार्द्रमाहिषचर्मोत्सेधमुपदिशन्ति ॥११॥

आलेपन (की मोटाई) का प्रमाण भैंसा के गीले चमड़े की मोटाई के समान बतलाते हैं ॥११॥

न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत, मा भूच्छैत्यपिहितोष्मणस्तदनिर्गमाद्विकारप्रवृत्ति(द्धि)रिति ॥१२॥

आलेपन की शीतलता से रुकी हुई उष्णता बाहर न निकलने से शोफ की वृद्धि न हो जाय इसलिये रात्रि में आलेप करना योग्य नहीं है ॥१२॥

वक्तव्य—शैत्यपिहितोष्मणः—शैत्यपिहितोष्मणः 'शोफस्य' इति शेषः। शैत्य का सम्बंध कुछ टीकाकार रात्रि के साथ करते हैं—रात्रिशैत्येन शरीरोष्मणः कृतपिधानस्य (इन्दु)। रात्रि के समय आलेप न करने का दूसरा भी एक कारण संग्रह में दिया है—पुष्कलावतस्तु पठति। तमसा पिहितो ह्यूष्मा रोमकूपैरनावृतैः। लेपाद्विनैव निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः ॥ संग्रह में रात्रि का निषेध प्रदेह के सम्बंध में दिया है। चक्र के अनुसार अन्य प्रकार के जो लेप होते हैं, उनका प्रयोग रात्रि के समय करने में आपत्ति नहीं है। इस में संदेह नहीं कि लेप की परिभाषा में बहुत मतभिन्नता मिलती है, जिस का प्रत्यय संग्रह तथा डल्हणाचार्य की टीका से मालूम होता है।

प्रदेहसाध्ये व्याधौ तु हितमालेपनं दिवा।
पित्तरक्ताभिघातोत्थे सविषे च विशेषतः ॥१३॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्।
उपर्युपरि लेपं तु न कदाचित् प्रदापयेत् ॥१४॥

---

१ प्रलेपप्रदेहयोरन्तरं. २ बहलो बहुरविशोषी. ३ निरोध्यालेपनसंज्ञं.

१ तस्य प्रमाणं महिषार्द्रचर्मोच्छ्रायापेक्षयाऽस्थूल इति.

ऊष्माणं वेदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत् स हि।
न च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत् पुनः।
शुष्कभावात्स निर्वीर्यो युक्तोऽपि स्यादपार्थकः ॥१५॥

प्रदेहसाध्य व्याधियों में, विशेष करके रक्त, पित्त, अभिघात और विष जन्य व्याधियों में दिन में ही लेप करना प्रशस्त है ॥१३॥ बासी लेप कदापि उपयोग नहीं करना चाहिये तथा (सूखे हुए) लेप के ऊपर दूसरा लेप भी नहीं करना चाहिये ॥१४॥ क्योंकि कड़ा हो जाने से वह गरमी, पीड़ा और दाह को पैदा करता है। एक समय सूखे हुए प्रलेप को गीला करके फिर प्रयुक्त नहीं करना चाहिये क्योंकि शुष्क हो जाने से निर्वीर्य वह लेप प्रयुक्त करने पर भी व्यर्थ हो जाता है ॥१५॥

वक्तव्य—न च पर्युषितं लेपम्—लेप के उपयोग के संबंध में यहाँ जो बातें बतलाई गई हैं वे तीनों प्रकार के आलेप के विषय में समझनी चाहिएँ। पाश्चात्त्य वैद्यक में आलेप की सर्वांगीण कल्पना प्रदर्शित करने के लिये एक ठीक प्रतिशब्द नहीं है किन्तु पेस्ट (Paste), पिगमेंट या पेंट (Pigment or Paint), और प्लास्टर (Plaster) इनका उपयोग लेप के तौर पर स्थानिक शोफनिवारण के लिये होता है।

अत ऊर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः; तद्यथा—क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्टचर्मान्तर्वल्कलालाबूशकललताविदलरज्जुतूलफलसन्तानिकालौहानीति; तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोगः; प्रकरणतश्चैषामादेशः ॥१६॥

अब यहाँ से व्रणबंधन द्रव्यों का उपदेश करते हैं। (व्रणबंधन में ये पदार्थ उपयोगी होते हैं)—क्षौम, कार्पास, आविक, दुकूल, कौशेय, पत्रोर्ण, चीनपट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल, अलाबूशकल, लता, विदल, रज्जु, तूलफलसंतानिका और लौहादि धातु के] उपयोगी पदार्थ। व्याधि और समय को देखकर इनका उपयोग करे। इनका विशेष विवरण भिन्न भिन्न प्रकरणों में दिया जायगा ॥१६॥

वक्तव्य—क्षौम—अतसी या सन के सूत्रों से बनाया हुआ वस्त्र (Flax)। कार्पास रुई से बनाया हुआ वस्त्र। आविक—बकरी के रोम से बनाया हुआ वस्त्र, ऊन (Wool)। दुकूल—अत्यंत महीन रेशम का वस्त्र। कौशेय—रेशम। पत्रोर्ण—अनेक प्रकार की वनस्पतियों के पत्तों से बनाया हुआ वस्त्र। चीनपट्ट—चीन देश में बनाया हुआ वस्त्र। अन्तर्वल्कल—वृक्षों के भीतर की नरम छाल। विदल—बाँस की खपची। तूलफलसंतानिका—द्विगुण चतुर्गुण रुई का वस्त्र.। लौहानि—सुवर्ण, रौप्य, ताम्र इत्यादि धातुओं के तार, पत्र वगैरह। प्रकरणतः—भिन्न भिन्न विषयों के अध्यायों में। यथा—सर्पदंश के प्रकरण में रज्जु का उपयोग—सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता। अस्थिभंग के प्रकरण में अन्तर्वल्कलों का उपयोग—मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः। वंशसर्जवटानां च कुशार्थमुपसंहरेत् ॥ शाखागत सद्योव्रण के प्रकरण में चर्म का उपयोग—चर्मणा गोफणाबंधः कार्यो यो वा हितो भवेत्॥ इत्यादि।

तत्र कोशदामस्वस्तिकानुवेल्लितमु(प्र)तोलीमण्डलस्थगिकायमकखट्वाचीनविबन्धवितानगोफणाः पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दश बन्धविशेषाः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥१७॥

बंधों के भेद—१ कोश, २ दाम, ३ स्वस्तिक, अनुवेल्लित, ५ मुत्तोली, ६ मण्डल, ७ स्थगिका, ८ यमक, ९ खट्वा, १० चीन, ११ विबंध, १२ वितान, १३ गोफण और १४ पंचांगी ये चौदह प्रकार के बंध हैं। नाम ही से इनकी रचना अधिकांश स्पष्ट हो जाती है ॥१७॥

वक्तव्य—वाग्भट में 'उत्संग' नामक एक अधिक बंध वर्णन किया है। बंध को अंग्रेजी में 'बँडेज' (Bandage) कहते हैं।

तत्र कोशमङ्गुष्ठाङ्गुलिपर्वसु विदध्यात्, दाम संबाधेऽङ्गे, सन्धिकूर्चकभ्रूस्तनान्तरतलकर्णेषु स्वस्तिकम्, अनुवेल्लितं तु शाखासु, ग्रीवामेढ्रयोः प्रतोलीं, वृत्तेऽङ्गे मण्डलम्, अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रेषु स्थगिकां, यमलव्रणयोर्यमकं, हनुशङ्खगण्डेषु खट्वाम्, अपाङ्गयोश्चीनं, पृष्ठोदरोरःसु विबन्धं, मूर्धनि वितानं, चिबुकनासौष्ठांसबस्तिषु गोफणां, जत्रुण ऊर्ध्वं पञ्चाङ्गीमिति; यो वा यस्मिन् शरीरप्रदेशे सुनिविष्टो भवति तं तस्मिन् विदध्यात् ॥१८॥

उन में से अँगूठे और अंगुली के पोरवों में कोशबंध लगावे। ऐंठन युक्त अंग में दाम बंध लगावे। संधि, कूर्चमर्म, भ्रुकुटी और स्तनों के बीच का भाग, हस्ततल, पादतल और कान इन स्थानों में स्वस्तिक बंध लगावे। शाखाओं में अनुवेल्लित बंध लगावे। गर्दन और लिंग पर प्रतोलीबंध लगावे। गोलस्थान में मंडलबंध लगावे। अँगूठा, अंगुलि और लिंग इनके नोक पर स्थगिकाबंध लगावे। दो समीपवर्ती व्रणों पर यमक बंध लगावे। ठोड़ी, कनपटी और कपोल इन पर खट्वाबंध लगावे। अपांग प्रदेशों में चीनबंध लगावे। पीठ, उदर और वक्षःस्थल पर विबंधबंध लगावे। सिर पर वितानबंध लगावे। ठोड़ी की नोक, नासिका, होठ, कंधा और बस्तिप्रदेश इन स्थानों में गोफणाबंध लगावे। जत्रु के ऊपर पंचांगीबंध लगावे। अथवा जो बंध शरीर के जिस अंग में ठीक हो उसे ही वहाँ लगावे ॥१८॥

वक्तव्य—शल्यतन्त्र में बन्धनकर्म (Bandaging) एक आवश्यक अंग है। प्रत्येक शस्त्रक्रिया करने के पश्चात्, प्रतिदिन व्रणोपचार करने के पश्चात्, आघात, चोट, मोच, रक्तस्राव, अस्थिभंग, संधिविश्लेष इत्यादि अनेक घटनाएँ हो जाने के पश्चात् विकृत अंग बंधद्वारा बांधना पड़ता है। शरीर के भिन्न भिन्न अंगों की रचना भिन्न भिन्न होने के कारण एक प्रकार का बंध सब स्थानों में उपयोगी नहीं हो सकता। इसलिये भिन्न भिन्न स्थानों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के बंध लगाने पड़ते हैं। बंध प्रायः कपड़े का एक लंबा पट्टा होता है। भिन्न भिन्न स्थानों के लिये भिन्न भिन्न लंबाई और चौड़ाई के पट्ट आवश्यक होते हैं। इन लंबे पट्टों से

शरीर के भिन्न भिन्न अंगों के अनुरूप बंध सुचारु रूप से बांधने के लिये अभ्यास की अत्यंत आवश्यकता होती है । केवल भिन्न भिन्न प्रकार के बंध बांधने की विधि पढ़ने से या मुखोद्गत करने से बंध लगाना नहीं आ सकता । प्राचीन काल में बंध लगाने का अभ्यास पुस्तमय पुरुषों (Dumy) के अंगों पर (सूत्रस्थान. अ. ९) किया जाता था। परन्तु इससे उत्तम उपाय अपने सहाध्यायी मित्रों पर बंध लगाना है। तीन विद्यार्थी मिलकर यह कार्य उत्तम रूप से कर सकते हैं। एक विद्यार्थी पुस्तक से बंध लगाने की विधि पढ़े और दूसरा विद्यार्थी उस विधि के अनुसार तीसरे के अंग पर उसको लगाने का अभ्यास करे। इस प्रकार पारी पारी से करने पर सब को अभ्यास हो जाता है । पाश्चात्त्य शल्यतन्त्र में जो बंध प्रयुक्त हैं, वे प्रायः इन बंधों के तौर पर होते हैं । अतः उनके आधार पर इन बंधों का स्वरूप निश्चित करना प्राप्त है। यद्यपि 'तेषां नामभिरेव प्रायेणाकृतयो व्याख्याताः' ऐसा लिखा है तथापि कुछ बंध ऐसे हैं कि उनकी आकृति का बोध नाम से नहीं हो सकता। यथा—विबंध दाम, यमक और वाग्भटोक्त उत्संग । (१-२) कोश और स्थगिका बंध—कोशबंध तरवार के म्यान सदृश लंबा होता है । अंग्रेजी में इसको 'शीथ बँडेज' (Sheath Bandage) कह सकते हैं । स्थगिकाबंध भी कोशबंध के समान होता है परन्तु इसकी लंबाई कुछ कम होती है, इसलिए उसका स्वतंत्र निर्देश किया है । स्थगिका का अर्थ पान की डब्बी—स्थविकेव स्थगिका लम्बमानं ताम्बूलकरङ्कम्। (इन्दुः) । इस ताम्बूलकरंक के ढक्कण की भाँति यह बंध होता है । इसको अंग्रेजी में 'स्टंप बँडेज' (Stump Bandage) कह सकते हैं। (३) स्वस्तिकबंध—यह स्वस्तिकाकारबंध है—स्वस्तिकाकृति स्वस्तिकं यदूर्ध्वं दक्षिणादेत्याधो वामं याति पुनः परिवृत्याधो दक्षिणादूर्ध्वं वामम् । (इन्दुः) । व्यावहारिक दृष्टि से इसका स्वरूप हिंदी के चार (४) या अंगरेजी के आठ (8) अंक के समान होता है । अंग्रेजी में 'क्रासबँडेज' और 'स्पैकाबँडेज' (Cross or spica Bandage) स्वस्तिकबंध के ही प्रकार हैं। (४) दामबंध—इस बंध से कोई विशेष आकार निर्णीत नहीं हो सकता। पीड़ायुक्त अंग में पीड़ा निवारण करने के लिये इसका उपयोग होता है। यह माला के आकार का एक कपड़े का तंग पट्ट मालूम होता है । इसका कोई खास प्रतीक पाश्चात्त्य बंधों में नहीं दिखाई देता । पीडाहरणार्थ यह कसके बांधा जाता है । (५) अनुवेल्लितबंध—वल्ली जिस तरह वृक्ष पर ऊपर चढ़ती है, उस तरह यह बंध शरीर पर नीचे से ऊपर लपेटा जाता है । इसलिये इसको अनुवेल्लित कहते हैं । इसका सादृश्य अँग्रेजी स्पैरल बँडेज (Spiral Bandage) के साथ होता है। (६-७) मुत्तोलिबंध, मंडलबंध—इनकी कोई विशेष आकृति नहीं मालूम होती है । इनके लिये वस्त्रपट्ट उतना चौड़ा हो, जितना बंधन का स्थान चौड़ा हो और लपेट ठीक एक के ऊपर दूसरा लगाया जाय । इनके लिये कोई ठीक प्रतीक पाश्चात्त्यबंधों में नहीं दिखाई देता। (८) यमक बंध—यह भी कोई विशेष आकार का बंध नहीं है। केवल एक बंध दो व्रणों के लिये लगाया जाता है, इसलिये यमकबंध कहलाता है। इसका भी कोई प्रतीक पाश्चात्त्यबंधों में नहीं है। (९) खट्वाबंध—यह चार पट्टों का बना हुआ बंध है—खट्वा चतुर्बाहुपट्टकम् (इन्दु)। इसको अंग्रेजी में 'फोर टेलड बंडेज (Four tailed Bandage) कह सकते हैं और इसका उपयोग उसी बंडेज के स्थान पर होता है । (१०) चीनबंध—इससे भी कोई विशेष आकार निर्दिष्ट नहीं होता। एक छोटे वस्त्र पट्ट से यह बंध लगाया जाता है—स्तोकविस्तीर्णा आयता पट्टिका चीनम्। (इन्दु) । इसका सादृश्य आधुनिक नेत्रबंध (Bandage for the eye) के साथ होता है। (११) विबंधबंध—यह बंध अनेक छोटे मोटे वस्त्र पट्टों से बनाया जाता है—विबंधो विविधो बन्धः स च पट्ट चीरिकायुतः । इसके नाम और लगाने के स्थान से आधुनिक 'मेनी टेलड बंडेज' (Many-tailed Bandage) के साथ इसका अधिक सादृश्य होता है । (१२) वितानबंध—शामिआना की तरह यह बंध सिर पर फैलाया हुआ लपेटा जाता है। इसका सादृश्य आधुनिक 'किफेलाईन बंडेज (Capheline Bandage) के साथ होता है । (१३) गोफणाबंध—पक्षिनिवारणार्थ पत्थर फेंकने के लिये जो एक साधनविशेष होता है उस आकार का बंध—गोष्फण इव गोष्फणा कृषीवलानां पक्षिवारणाय क्षाम्यत्-पाषाणधारणम्। (इन्दुः) । आकृति की दृष्टि से इसका सादृश्य आधुनिक स्लिंग बंडेज (Śling Bandage) के साथ होता है। गुदभ्रंश में भी इस बंध का उपयोग होता है । इसलिये कार्य की दृष्टि से टी बंडेज (T Bandage) के साथ इसका सादृश्य है । परन्तु टी बंडेज के लिये 'कौपीनबंध' शब्द अधिक योग्य है। (१४) पंचांगीबंध—इस बंध में पाँच पट्ट होते हैं—यस्मिन् पट्टे चत्वारो बाहवः, एका चोर्ध्वं पट्टिका। (इन्दुः)। इस बंध का कोई ठीक प्रतीक आधुनिक बंधों में नहीं दिखाई देता । (१५) उत्संगबंध—वाग्भट में यह एक अधिक बंध निर्दिष्ट किया है और बंधों की संख्या पंचदश बतलाई है। इसका उपयोग बाहु में करने के लिये कहा है परन्तु इसकी आकृति इसके वर्णन से स्पष्ट नहीं होती—उत्संगमिव विलंबिनि बाह्वादौ कण्ठादिलंबमानम् । (इन्दु)। यह बंध एक प्रकार का आर्म स्लिंग बँडेज ही (Arm sling Bandage) मालूम होता है ।

मुख्य मुख्य बंध बांधने की आधुनिक पद्धतियाँ—हाथ की अंगुलि का कोश बंध—इसके लिये $\frac{3}{4}$ इंच चौड़ी पट्टी पर्याप्त है। प्रथम कलाई के ऊपर एक सिरे को एक या दो बार इस प्रकार से लपेटना चाहिये कि उस का दो या तीन इंच का भाग लपेट से बाहर निकला रहे। पश्चात् पट्टी हाथ के ऊपर से अंगुलि के सिरे तक लेकर वहाँ से ऊपर की ओर अनुवेल्लित बंध की भाँति अंगुलि के मूल तक लपेटना चाहिये। फिर वहाँ से हाथ के ऊपर होकर कलाई तक ले जाना चाहिये और अन्त में एक या दो लपेट कलाई पर लगाकर पट्टी के पहले सिरे के साथ बांध देना चाहिये । स्वस्तिक बंध—संधियों के लिये यह बंध बहुत उपयुक्त है । जिस स्थान पर बंध बांधना हो उसके नीचे से पट्टी बांधना प्रारंभ करना चाहिये । प्रथम एक या दो लपेट लगा कर पश्चात् पट्टी को अंग के एक ओर से संधि के ऊपर होते हुए दूसरी ओर ले जाना चाहिये। फिर वहाँ से पट्टी को अंग के पीछे से होकर संधि के ऊपर होते हुए नीचे

की ओर उस स्थान तक ले जाना चाहिये जहाँ से पहले पट्टी बांधने का प्रारंभ हुआ था । इस प्रकार अधिक लपेटों द्वारा संधि को पूरा ढक देना चाहिये । अनुवेल्लितबंध—यह शाखाओं में संधि स्थान छोड़ कर अन्य स्थानों के लिये बहुत उपयोगी है । जिस स्थान पर बंध लगाना है उसके नीचे की ओर से बांधना प्रारंभ करना चाहिये । प्रथम दो लपेट एक ही स्थान पर लगा कर फिर पट्ट ऊपर की ओर इस प्रकार ले जाना चाहिए कि प्रत्येक लपेट पूर्व लपेट के $\frac{1}{3}$ ऊपरी भाग को ढक ले । ऊपर की ओर अंग कुछ अधिक मोटा होने के कारण लपेट अंग पर ठीक नहीं बैठते । उनको ठीक करने के लिये लपेटों को मोड़ देना पड़ता है । उन मोड़ों को लगाते समय प्रारंभ में कुछ कठिनता अवश्य होती है। परंतु निम्न नियमों पर ध्यान रखते हुए थोड़ा अभ्यास करने से यह कार्य सुकर हो जाता है। (१) जहाँ तक हो सके मोड़ अंग के बाहर की ओर दिये जायँ तथा अस्थि के उभार पर न हों । (२) मोड़ के समय पट्टी को ढीली करने के पश्चात् उस हाथ को, जिससे पट्टी पकड़ी हुई है, इस प्रकार घुमाना चाहिए कि यदि पहले हथेली अंग की ओर थी तो अब वह बाहर की ओर हो जाय और पृष्ठभाग अङ्ग की ओर हो जाय । इससे पट्टी स्वयं अपने ही ऊपर मुड़ जायगी । उसका ऊपर का किनारा नीचे होगा और नीचे का किनारा ऊपर चला जायगा । जिस स्थान पर मोड़ देना है, वहाँ दूसरे हाथ की अंगुलि रखने से यही कार्य होता है । (३) मोड़ देने के समय हाथ अंग से कुछ ऊँचा रक्खा जाय तथा पट्टी अधिक ढीली भी न रक्खी जाय। इस प्रकार मोड़ लगाने के पश्चात् पट्टी को फिर कस कर लपेट लगाना चाहिये । जहाँ मोड़ की आवश्यकता हो, वहाँ मोड़ लगा कर यह बंध दूसरे सिरे तक लगा दिया जाता है। स्थगिकाबंध—यह बंध ऊर्ध्व शाखा या अधःशाखा के किसी अंग का छेदन (Amputation) करने के पश्चात् प्रयुक्त होता है। पहले कटे हुए स्थान से पाँच या छः इंच ऊपर बाएँ हाथ के अँगूठे और अंगुलियों के बीच में अंग को पकड़ कर वहाँ ही दो या तीन लपेट लगा दिये जाते हैं। तदनंतर पट्टी को आगे अँगूठे से दबा कर उस को उलट कर ठूँठ पर से पीछे की ओर लिया जाता है । वहाँ अंगुलियों से दबा कर फिर पहले लपेट के बाहर के भाग को ढकते हुए आगे की ओर लिया जाता है । तीसरा लपेट पहले लपेट के भीतर की ओर रहता है । इस प्रकार लपेटों को लगा कर ठूँठ पूरा ढक दिया जाता है और प्रत्येक लपेट आगे की ओर अँगूठे से और पीछे की ओर अंगुलियों से दबा दिया जाता है । अन्त में ठूँठ को ढकने वाले लपेटों को स्थिर करने के लिये अंग के चारों ओर कुछ गोल लपेट लगा दिये जाते हैं । अथवा ठूँठ के प्रत्येक लपेट के पश्चात् एक गोल लपेट भी लगा सकते हैं, जिस से वह लपेट ढीला न होने पावे और हाथ को भी तकलीफ कम हो। खट्वाबंध—इस का उपयोग अधोहन्वस्थिभंग में होता है। इस के लिये एक गज लंबा और तीन इंच चौड़ा कपड़े का पट्टा चाहिये । इस का मध्य किनारे से एक इंच छोड़ कर चार इंच तक चीरा जाता है तथा दोनों सिरे भी मध्यच्छेद के दोनों ओर दो दो इंच स्थान छोड़ कर चीरे जाते हैं। इस से यह पट्टा मध्यच्छिद्र और चतुरंग युक्त हो जाता है। अब मध्यच्छिद्र में ठोड़ी की नोक इस प्रकार से रखे कि पट्टी का तंग भाग नीचे के होठ नीचे और चौड़ा भाग हनु के नीचे आ जाय । तदनंतर तंगभाग के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाले दो सिरे गुद्दी पर और चौड़े भाग के साथ सम्बन्ध रखने वाले दो सिरे माथे पर बांधना चाहिये । अन्त में माथे की गांठ का सम्बन्ध पिछली गांठ के साथ किया जाता है, जिस से वह अपने स्थान से न सरक जाय । चीनबंध—इस का उपयोग पीड़ित नेत्र पर कवलिका रखने के लिये होता है । प्रथम पीड़ित नेत्र के ऊपर माथे पर पट्टी के एक सिरे को रख कर वहाँ से दूसरे नेत्र की तरफ माथे पर ही पट्टी ले आओ और शिर के चारों ओर घुमाते हुए पीड़ित नेत्र के दूसरी ओर के कर्ण के ऊपर तक पहुँचने के पश्चात् नीचे उतरना आरंभ करो । जब पट्टी दूसरी ओर के कान के पास पहुँच जाय तो कान के नीचे से निकाल कर नेत्र के ऊपर से माथे पर लिपटे हुए पट्टी पर पिन की सहायता से कस देना चाहिये । विबंधबंध—यह बंध उदर और उरःप्रदेश में लगाने के लिये उत्तम है । जब वस्त्र बार बार बदलना होता है तब इस के प्रयोग में सुभीता रहता है । यह बंध कई पट्टियों से बनाया जाता है । पट्टियाँ दो इंच चौड़ी और इतनी लम्बी होनी चाहिये कि वह उदर या वक्ष के चारों ओर डेढ़ बार लपेटी जा सके । उद्देश्य यह है कि बंध लगाते समय एक ओर की पट्टियाँ दूसरी ओर की पट्टियों को अच्छी तरह से ढक ले । इन में से एक पट्टी दूसरी पट्टियों से एक फुट तक अधिक लम्बी रहनी चाहिये । यह पट्टियाँ एक दूसरे के ऊपर इस प्रकार रक्खी जाती हैं कि ऊपर वाली पट्टी नीचे वाली पट्टी के ऊपरी किनारे को अच्छी तरह से ढक दे । पट्टियाँ रखने का प्रारंभ सब से लम्बी पट्टी से होता है । इसके पश्चात इन पट्टियों का बीच का भाग एक चौकोर कपड़े के टुकड़े के साथ सी दिया जाता है । इस का प्रयोग उदर के लिये होता है । लम्बी पट्टी नीचे की ओर होती है । बंध लगाने का प्रारंभ ऊपर से होता है और अंत में लंबी पट्टी उस के चारों ओर लपेटी जाती है जिस से बंध ऊपर की तरफ न सरक जाय । जब बंध छाती के ऊपर लगाने के लिये बनाया जाता है, तब लंबी पट्टी के स्थान में ऊपर की ओर बीच के कपड़े के साथ दो इंच की दूरी पर दो लंबी पट्टियां सी देनी चाहिये । यह बंध नीचे से ऊपर की तरफ लगाया जाता है और अन्त में लंबी पट्टियाँ कंधों पर से होकर फिर आगे की ओर ला कर बंध के साथ पिन के द्वारा लगाई जाती है जिस से बंध नीचे न सरक जाय । वितानबंध—यह बंध फैंट की तरह सिर को ढक लेता है । इस के लिये दो पट्टियों की आवश्यकता होती है—एक दो इंच चौड़ी और दूसरी तीन इंच चौड़ी । इन दोनों के सिरों को आपस में सी दिया जाता है । परंतु दो पट्टियों के दो स्वतंत्र बेलन बनाये जाते हैं। छोटी पट्टी का बेलन दाहिने हाथ में और बड़ी पट्टी का बेलन बायें हाथ में लेकर वैद्य रोगी के पीछे खड़ा होता है जो कुर्सी या तिपाई पर बिठा दिया जाता है । तदनंतर दोनों पट्टियों का सिया हुआ भाग रोगी के माथे पर जितना भी. नीचा, यानि भ्रुकुटियों पर, हो सके उतना नीचा रख कर दोनों बेलनों को विरुद्ध दिशा से

कानों के ऊपर लेकर पीछे गुद्दी के नीचे मिलाया जाता है। वहां मिलने के पश्चात् दोनों की दिशा फिर बदल जाती है। चौड़ी पट्टी सिर के चारों ओर पहले ही की भाँति घूमती जाती है और छोटी पट्टी पीछे से आगे और आगे से पीछे होती हुई सिर को ढक लेती है। यह कार्य निम्न प्रकार किया जाता है। प्रथम बार गुद्दी पर मिलने के पश्चात् बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से उस को दाबती हुई दाहिनी ओर को चली जाती है और छोटी पट्टी गुद्दी पर ही मोड़ कर शिर के ऊपर बिलकुल बीच में से माथे की ओर नासामूल तक चली जाती है। यह करते समय बेलनों को हाथों में अदला-बदल करने की आवश्यकता होती है। माथे पर दाहिनी ओर से आने वाली बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से होती हुई सीधी बाईं ओर को चली जाती है और छोटी पट्टी मोड़ कर आगे से पीछे की ओर सिर के दक्षिणार्ध में बीच के लपेट के किनारे को कुछ ढकती हुई, जहां से प्रारंभ हुआ था उसके पास चली जाती है। यहाँ फिर बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से दाहिनी ओर चली जाती है और छोटी पट्टी मोड़ कर आगे की ओर सिर के वामार्ध में पहले लपेट के किनारे को कुछ ढकती हुई माथे पर चली जाती है। इस प्रकार अधिक लपेट लगाकर सारा सिर ढका जाता है। लपेट लगाते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि पीछे से आगे की ओर का लपेट सिर के वामार्ध में और आगे से पीछे की ओर का लपेट सिर के दक्षिणार्ध में हो। पूरा सिर ढक जाने के पश्चात् जब दोनों पट्टियाँ पीछे गुद्दी पर मिलती हैं, तब चौड़ी पट्टी अपने पूर्वक्रम के अनुसार दाहिनी ओर से माथे पर चली जाती है और छोटी पट्टी भी बड़ी पट्टी के नीचे से होकर बाईं ओर से लिपटी हुई माथे पर विरुद्ध दिशा में चली आती है और अन्त में पिन लगाकर दोनों को माथे पर स्थिर कर दिया जाता है। यह बंध बांधने के लिये कुछ कठिन होता है तथा रोगी को माथे में कुछ बेचैनी और गरमी पहुँचाता है। इसलिये इसका प्रयोग कम होता है। कौपीन बंध—यह बंध कौपीन सदृश या अंग्रेजी के (T) अक्षर जैसा होता है। इसलिये इसको कौपीन बंध या 'टी बँडेज' कहते हैं। इसका विशेष उपयोग गुद और वृषण प्रदेश के लिए होता है। यह बंध दो पट्टियों का बना होता है। दोनों पट्टियाँ प्रायः चार इंच चौड़ी रक्खी जाती हैं। उनमें से एक पट्टी को दूसरी पट्टी के बीच में लंबाई की ओर सी दिया जाता है। बंध बांधते समय आड़ी पट्टी रोगी के कमर में बांधी जाती है और दूसरी पट्टी लंगोटी की तरह नितंबों के बीच से होती हुई अण्डकोष के ऊपर से सामने की ओर पहली पट्टी में बांधी जाती है। कभी कभी इसका सिरा दो भागों में चीर कर दो सिरे शिश्न के दोनों तरफ बांधे जाते हैं। अण्डकोश को बाहर रखना हो तो पट्टी के बीच में छेद करके उसमें से अण्डकोश को बाहर निकाल सकते हैं। यदि दो पट्टियों का बनाया हुआ बंध न मिले तो एक लंबी पट्टी से भी यह बंध लगाया जा सकता है। पहले कमर में पट्टी बांध कर उसकी गाँठ सामने पेडू के समीप लानी चाहिये। वहाँ से पट्टी नितंबों के बीच से होती हुई पीछे कमर के पट्टी में अटकाकर फिर नितंबों के बीच में से आगे पेडू पर लेकर दूसरी तरफ बांध देनी चाहिये। गोफण बंध—यह बंध किसी चौकोर वस्त्र या रूमाल से बनाया जाता है। पहले वस्त्र को कर्णरेखा (Diagonal) में मोड़ कर त्रिकोणाकार बना लेना चाहिए। फिर इस त्रिकोण को कई बार लपेट कर आवश्यकता के अनुसार चौड़ी लंबी पट्टी बनाई जाती है, जो गोफण की तरह दोनों सिरों की अपेक्षा बीच भाग में अधिक चौड़ी होती है। इस पट्टी के दोनों सिरे गर्दन के पीछे दोनों कंधों पर से लेकर बांध दिये जाते हैं और इससे जो लटकन बनती है, उसी में अग्रबाहु या हाथ रक्खा जाता है। जब सारी बाहु और अग्रबाहु को सुरक्षित रखना होता है, तब वस्त्र को केवल त्रिकोणाकार ही बना लेते हैं और इसके दोनों सिरों को दोनों कंधों पर से लेकर गर्दन के पीछे इस प्रकार बांध देना चाहिये कि त्रिकोण का तल हाथ की दिशा में और अग्र कोहनी की दिशा में हो। अन्त में तीसरे सिरे को कोहनी के ऊपर से लेकर पहले दो सिरों के साथ मिलाया जाता है या कोहनी के कुछ ऊपर ही पिन द्वारा जोड़ दिया जाता है। इस बंध को लगाते समय इतना ध्यान रखना चाहिये कि हाथ और अग्रबाहु के सामने से आनेवाला पट्टी का सिरा उसी ओर के कन्धे पर होकर ग्रीवा के पीछे चला जाय। जब बंध पट्टी की तरह बनाकर केवल हाथ को लटकाने के लिये प्रयुक्त होता है तब हाथ के सामने से आने वाला सिरा दूसरी ओर के कंधे पर होकर ग्रीवा के पीछे जाना चाहिये। उत्संग बंध—यह बंध बाहु अग्रबाहु और हाथ छाती के समीप यथोचित स्थान पर कुछ काल तक स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होता है। प्रथम बाहु और अग्रबाहु छाती पर ठीक रख कर उनके ऊपर से छाती के चारों ओर एक गोल लपेट लगा दिया जाता है। इसके पश्चात् कूर्पराग्र के समीप नीचे से पट्टी दूसरे ओर के कंधे पर लाई जाती है। वहाँ से पीठ पर होकर पट्टी कूर्पर के समीप आकर पहले लपेट को कुछ ढकती हुई छाती के चारों ओर घूमती है। फिर कूर्पर के नीचे से दूसरी ओर के कंधे पर चली जाती है। इस प्रकार एक लपेट छाती के चारों ओर बाहु और अग्रबाहु पर से प्रत्येक समय कुछ ऊपर की तरफ बढ़ता हुआ घूमता है और दूसरा कूर्पर के नीचे से प्रत्येक समय हाथ के तरफ कुछ बढ़ता हुआ दूसरी ओर के कंधे के ऊपर चला जाता है। सारा बाहु और अग्रबाहु इस प्रकार से ढका जाता है। अन्त में पट्टी के सिरे को पिन द्वारा स्थिर कर दिया जाता है।

अब तक सुश्रुतोक्त चौदह बंध और वाग्भटोक्त उत्संगबंध शरीर पर बांधने की पद्धतियाँ पाश्चात्य प्रचलित रीतियों के अनुसार वर्णित की गई हैं। इन पन्द्रह बंधों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के बंध प्रचलित हैं, जिनके नाम प्रायः स्थान के अनुसार रक्खे गये हैं। यथा—स्तन का बंध, शिर का बंध, गुल्फ का बंध, वंक्षणसंधिबंध इत्यादि। बुद्धिमान् वैद्य उपर्युक्त बंध बाँधने की रीतियों के अनुसार शरीर के प्रत्येक अंग पर कुछ फर्क करके बंध लगा सकता है। इन अतिरिक्त बंधों का वर्णन यहाँ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिज्ञासु पाठक इनके लिये बंधविन्यास (Bandaging) के अंग्रेजी पुस्तक देखें।

आयुर्वैदिक ग्रंथों में इन विविध बन्धों की बांधने की विधियाँ कहीं भी स्पष्ट और विशदरूप से वर्णित नहीं मिलती। इसलिये ये विविध बंध प्राचीन काल में किस प्रकार बांधे जाते थे, इसका निश्चय करना बहुत कठिन हो गया है । परंतु यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि बंध बांधने की जो विधियाँ ऊपर बतलाई गई हैं वे एक आध बंध विधि छोड़कर प्रायः सब नये ढंग की हैं, पुरानी नहीं। इसके साथ ही साथ यह भी निःसंदेह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद में बंधविन्यास में काफी उन्नति हो चुकी थी।

यन्त्रणमूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥१९॥

बंधों की गाँठ (व्रण के) ऊपर की ओर नीचे या एक पार्श्व में होनी चाहिये ॥१९॥

वक्तव्य—व्रणस्थान के ठीक ऊपर गाँठ बांधने से व्रण को बाधा पहुँचती है। इसलिये व्रणस्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर गाँठ बांधना उचित है। आजकल बंध स्थिर करने के लिये 'सेफटी पिन' (Safety Pin) का उपयोग होता है। इसमें बहुत सुविधा होती है और किसी प्रकार की पीड़ा नहीं हो सकती। केवल पिन लगाते समय नीचे के चर्म का ख्याल रख के लगाना चाहिये।

तत्र घनां कवलिकां दत्त्वा वामहस्तपरिक्षेपमृजुमनाविद्धमसंकुचितं मृदु पट्टं निवेश्य बध्नीयात्। न च व्रणस्योपरि कुर्याद्ग्रन्थिमाबाधकरं च ॥२०॥

व्रण पर गाढ़ी कवलिका रखने के पश्चात् बाएँ हाथ में लिया हुआ पट्ट (दाहिने हाथ से) सीधा, बिना मोड़ के और भली भाँति फैलाकर लपेट दे और पट्ट की गाँठ, व्रण में पीड़ा होने के कारण बिलकुल व्रणस्थान के ऊपर न बाँधे ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में बंध बांधने की विधि संक्षेप में वर्णन की गई है। बंध बांधने के पूर्व वस्त्रपट्ट का एक बेलन (Roller) बना लेना चाहिये। यह कार्य हाथों से या यन्त्र के द्वारा भी हो सकता है। बेलन सख्त और एक सा लिपटा हुआ होना चाहिये। इससे शरीर पर बंध सीधा (ऋजु), बिना मोड़ के (अनाविद्ध), और ठीक फैलाकर (असंकुचित) बांधने में बहुत ही सुविधा होती है। वाम और दक्षिण हस्तपरिक्षेप केवल सापेक्ष है। दोनों में भी परिक्षेप की आवश्यकता होती है। यदि रोगी के बाएँ अंग पर बंध बांधना हो तो प्रारंभ में बंध का बेलन वैद्य के दाहिने हाथ में और सिरा बाएँ हाथ में होना चाहिये। यदि रोगी के दाहिने अंग पर बांधना हो तो बंध का बेलन वैद्य के बाएँ हाथ में और सिरा दाहिने हाथ में होना चाहिये। प्रत्यक्ष लपेटते समय बेलन को वाम हस्त से दक्षिण हस्त में और दक्षिण हस्त से वाम हस्त में बदलना पड़ता है। बंध सदा अंग के सामने की ओर भीतर से बाहर आना चाहिये और अंग के पीछे की ओर बाहर से भीतर को जाना चाहिये। अर्थात् बंध का बेलन अंग के भीतर की ओर से प्रारंभ होकर अंग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर और बाहर से अंग के पीछे होता हुआ भीतर की ओर उसके अन्त तक इस प्रकार जाता रहता है। इस सारे प्रयोग में बेलन अंग के संपर्क में रहना चाहिये। अंत में पट्टी के पहले सिरे के साथ अन्तिम सिरा इस प्रकार से बांध दे कि उसकी गाँठ सीधी व्रणस्थान के ऊपर न आ जाय, न उस गाँठ से व्रणस्थान को किसी प्रकार की पीड़ा हो सके। सेफटी पिन लगाना हो तो पहला सिरा खुला रखने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अंतिम सिरे को थोड़ा दोहरा करके पिन लगा सकते हैं।

न च विकेशिकौषधेऽतिस्निग्धेऽतिरूक्षे विषमे वा कुर्वीत; यस्मादतिस्नेहात् क्लेदो, रौक्ष्याच्छेदो, दुर्न्यासाद्व्रणवर्त्मावघर्षणमिति ॥२१॥

(व्रण में प्रविष्ट होने वाली) बत्ती और व्रण पर लगाने का कल्क अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष या विषम प्रविष्ट न करे। क्योंकि अतिस्निग्धता से व्रण में आर्द्रता होती है, अतिरूक्षता से व्रण फट जाता है और विषम रखने से व्रणमार्ग में रगड़ पैदा होती है ॥२१॥

वक्तव्य—विषम—दुर्न्यस्त । विकेशिका—अन्तर्वर्ती । इसका विशेष विवरण पाँचवें अध्याय में किया गया है। औषध—ओषधिकल्क। संग्रह में कल्क और वर्ती के तीन अधिक दोष वर्णन किये हैं—न च विकेशिकामौषधं वातिस्निग्धरूक्षमतिश्लथमतिगाढमश्लक्ष्णं दुर्न्यस्तं वा दद्यात् ।···अतिश्लथत्वादपरिशुद्धिः । गाढतया संरंभः । अश्लक्ष्णत्वाद् व्रणवर्त्मोपघर्षणम् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ३७)।

तत्र व्रणायतनविशेषाद्बन्धविशेषस्त्रिविधो भवति—गाढः, समः, शिथिल इति ॥२२॥

व्रणों के स्थान (दोष और काल) के अनुसार बंधन तीन प्रकार का होता है—गाढ, सम और शिथिल ॥२२॥

पीडयन्नरुजो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः ।
नैव गाढो न शिथिलः समो बन्धः प्रकीर्तितः ॥२३॥

जो कसने पर भी व्रणस्थान में पीड़ा मालूम न हो वह गाढ़ा (कड़ा) बंध है, जो कुछ सावकाश यानि ढीला हो वह शिथिल बंध है और जो न गाढ़ा न शिथिल हो वह समबंध होता है ॥२४॥

वक्तव्य—पीडयन्नरुजः—पीडयन्नवगाढमानोऽपि यो रुजां न करोति । सोच्छ्वासः—असम्यक् पीडितत्वेन सान्तर्वातः श्लथो नातिसंलग्नः ।

तत्र स्फिक्कुक्षिकक्षावङ्क्षणोरुशिरःसु गाढः, शाखावदनकर्णकण्ठमेढ्रमुष्कपृष्ठपार्श्वोदरोरःसु समः, अक्ष्णोः सन्धिषु च शिथिल इति ॥२४॥

(स्थान के अनुसार बंधविशेष—) उनमें से नितंब, कुक्षि, बाहुमूल, जंघामूल, जाँघ और सिर इनमें कड़ा बंध लगावे। शाखा, मुख, कान, कण्ठ, लिंग, वृषण, पीठ, पार्श्व, उदर और छाती इन में सम बंध लगावे। नेत्रों और संधियों पर शिथिल बंध लगावे ॥२४॥

तत्र पैत्तिकं गाढस्थाने समं बध्नीयात्, समस्थाने शिथिलं, शिथिलस्थाने नैवः एवं शोणितदुष्टं च; श्लैष्मिकं शिथिलस्थाने समं, समस्थाने गाढं, गाढस्थाने गाढतरम्; एवं वातदुष्टं च ॥२५॥

(दोषों के अनुसार बंध विशेष—) इनमें से पैत्तिक व्रण को गाढ़बंध के स्थान में समबंध लगावे, सम के स्थान में शिथिल बंध लगावे और शिथिल के स्थान में बंध न लगावे (या अतिशिथिल लगावे) । इसी प्रकार रक्तदुष्ट व्रण का भी बंधन करना चाहिए। कफ के व्रण को शिथिलबंध के स्थान में सम बंध से बांधे। सम के स्थान में गाढ़े बंध से बांधे और गाढ़े बंध के स्थान में अतिगाढ़ बंध से बांधे । इसी प्रकार वातदुष्ट व्रण का भी बंधन करना चाहिये ॥२५॥

तत्र पैत्तिकं शरदि ग्रीष्मे द्विरह्नो बध्नीयात्, रक्तोपद्रुतमप्येवं; श्लैष्मिकं हेमन्तवसन्तयोस्त्र्यहात्, वातोपद्रुतमप्येवम् । एवमभ्यूह्य बन्धविपर्ययं च कुर्यात् ॥२६॥

(काल के अनुसार बंधन—) पैत्तिक व्रण को शरद् और ग्रीष्म ऋतुओं में दिन में दो बार बंध पलटकर बांधे । इसी प्रकार रक्तदुष्ट व्रण का भी बंधन करना चाहिए। श्लैष्मिक व्रण को हेमन्त और वसन्त ऋतुओं में तीसरे दिन बंध बांधे। इसी प्रकार वातदुष्ट व्रण का भी बंधन करना चाहिये । इस प्रकार (स्थान, दोष और काल का) विचार करके वैद्य बंधन विधि में विपर्यय (या कुछ फर्क भी) कर सकता है ॥२६॥

तत्र, समशिथिलस्थानेषु गाढं बद्धे विकेशिकौषधनैरर्थक्यं शोफवेदनाप्रादुर्भावश्च, गाढसमस्थानेषु शिथिलं बद्धे विकेशिकौषधपतनं पट्टसंचाराद्व्रणवर्त्मावघर्षणमिति; गाढशिथिलस्थानेषु समं बद्धे च गुणाभाव इति ॥२७॥

सम और शिथिल बंध के स्थान पर गाढ़बंध बांधने से वर्ति और ओषधि व्यर्थ हो जाती है और व्रणस्थान में सूजन और पीड़ा पैदा होती है। गाढ़ और सम बंध के स्थान में शिथिल बंध लगाने से वर्ति और ओषधि गिर जाती है और पट्टी सरक जाने से व्रण पर रगड़ होती है। गाढ़ और शिथिल (बंध के) स्थान पर सम बंध लगाने से (कुछ भी) गुण नहीं होता ॥२७॥

अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्तिरसृक्प्रसादो मार्दवं च ॥२८॥

योग्य बंध का प्रयोग करने से पीड़ा की शान्ति, रक्त का प्रसादन और व्रणस्थान में मृदुता उत्पन्न होती है ॥२८॥

अबध्यमानो दंशमशकतृणकाष्ठोपलपांशुशीतवातातपप्रभृतिभिर्विशेषैरभिहन्यते व्रणो विविधवेदनोपद्रुतश्च दुष्टतामुपैत्यालेपनादीनि चास्य विशोषमुपयान्ति ॥२९॥

बंधन न करने से व्रण मक्खिका मच्छर (आदि के काटने से); तृण, लकड़ी, पत्थर के कण, धूलि पड़ने से तथा शीत वायु और गरमी से पीड़ित हो जाता है। उस में अनेक प्रकार की पीड़ा उत्पन्न होकर दुष्ट हो जाता है और उसके लेप आदि ओषधियाँ सूख जाती हैं ॥२९॥

चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमतिपातितम् ।
अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमाशु बन्धेन रोहति ॥३०॥
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति ।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ॥३१॥

यदि शरीर का कोई अंग चूर्णित, मथित, टूटा हुआ, संधिच्युत और स्थानच्युत हो गया हो या हड्डी, स्नायु, सिरा टूट गई हों तो बंध से अच्छे हो जाते हैं ॥३०॥ बंध लगाने से व्रणी मनुष्य शान्ति से सोता है, आराम से चल फिर सकता है और बैठ सकता है । जो सुख से सो बैठ सकता है, उसका व्रण भी शीघ्र अच्छा हो जाता है ॥३१॥

अबन्ध्याः पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्ता यदा च शोफदाहपाकरागतोदवेदनाभिभूताः क्षाराग्निदग्धाः पाकात् प्रकुथित[1]प्रशीर्णमांसाश्च भवन्ति ॥३२॥

जब व्रण पित्तजन्य, रक्तजन्य, आघातजन्य, विषजन्य हो; जब व्रण में सूजन, जलन, पाक, सुरखी और तोदादि वेदना हों; जब अग्नि और क्षार से व्रण उत्पन्न हुआ हो और पकने के कारण भीतरी मांस सड़ कर झरता हो तब बंध नहीं लगाना चाहिये ॥३२॥

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिडका मधुमेहिनाम् ।
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे विषजुष्टव्रणाश्च ये ॥३३॥
मांसपाके न बध्यन्ते गुदपाके च दारुणे ।

कुष्ठियों के व्रण, अग्निदग्धव्रण, मधुमेहियों की पिडकाओं के व्रण, मूषकविष से उत्पन्न हुए कर्णिकायुक्त व्रण तथा अन्य विषयुक्त व्रण का यदि मांस का पाक हो गया हो तो बंधन नहीं करने चाहिये तथा गुद पक जाने पर वहाँ भी बंधन नहीं करना चाहिये ॥३३॥

स्वबुद्ध्या चापि विभजेत्कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान् ॥३४॥
देशं दोषं च विज्ञाय व्रणं च व्रणकोविदः ।
ऋतूंश्च परिसंख्याय ततो बन्धान्निवेशयेत् ॥३५॥

व्रण जानने वाला बुद्धिमान् वैद्य शरीरगत व्रण का स्थान, (वातादि) दोष और (शीतादि) ऋतु इन पर ध्यान देकर व्रण का ज्ञान करके वह बध्य है या अबध्य है इसका निश्चय अपनी बुद्धि के अनुसार कर पश्चात् बंध का उपयोग करे ॥३४-३५॥

ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च यन्त्रणा त्रिविधा स्मृता ।
यथा च बध्यते बन्धस्तथा वक्ष्याम्यशेषतः ॥३६॥
घनां कवलिकां दत्त्वा मृदु चैवापि पट्टकम् ।
विकेशिकामौषधं च नातिस्निग्धं समाचरेत् ॥३७॥
प्रक्लेदयत्यतिस्निग्धा तथा रूक्षा क्षिणोति च ।
युक्तस्नेहा रोपयति दुर्न्यस्ता वर्त्म घर्षति ॥३८॥
विषमं च व्रणं कुर्यात् स्तम्भयेत् स्रावयेत्तथा ।
यथाव्रणं विदित्वा तु योगं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥३९॥

बंध की ग्रंथि ऊपर को, नीचे को और तिरछी ऐसी तीन प्रकार से बांधी जाती है। अब जिस प्रकार बंध बांधा जाता है उस प्रकार को पूर्ण रूप से वर्णन करते हैं ॥३६॥ (पहले व्रण में बत्ती या ऊपर ओषधि लगा दे, तदनंतर) गाढ़ी कवलिका

---

[1] प्रकुपिताः प्रशीर्णमांसाश्च.

रखकर ऊपर महीन कपड़े के पट्टे से बांध दे । विकेशिका और ओषधि अधिक स्नेह युक्त प्रयोग में नहीं लानी चाहिये ॥३७॥ अति चिकनी (व्रण में) आर्द्रता करती है, अति रूक्ष व्रण को नुकसान पहुँचाती है, यथोचित स्नेहयुक्त व्रण का रोपण करती है और अयोग्य स्थिति में रखी हुई व्रण मार्ग में रगड़ पैदा करती है ॥३८॥ व्रण को विषम बनाती है तथा स्राव को रोक देती है या अधिक स्राव पैदा करती है । (इसलिये) व्रण की योग्य परीक्षा कर (कल्क, कवलिका इत्यादि का) प्रयोग करना चाहिये ॥३९॥

पित्तजे रक्तजे वाऽपि सकृदेव परिक्षिपेत् ।
असकृत् कफजे वाऽपि वातजे च विचक्षणः ॥४०॥
तलेन प्रतिपीड्याथ स्रावयेदनुलोमतः ।
सर्वांश्च बन्धान् गूढान्तान् सन्धींश्च विनिवेशयेत् ॥४१॥

पैत्तिक और रक्तज व्रणों का दोष एक ही बार दबाकर निकाले और कफज तथा वातज व्रणों का दोष कई बार पीड़न कर चतुर वैद्य निकाले ॥४०॥ व्रण नीचे को दबाकर रोमगति के अनुसार हस्ततल से पीड़न करके पूय का स्रावण करना चाहिये । सर्व प्रकार के बंध इस प्रकार बांधे कि उसके सिरे और जोड़ बाहर से न दिखाई (गुप्त) देवें ॥४१॥

वक्तव्य—सकृदेव परिक्षिपेत्—डल्हण और हाराणचंद्र के अनुसार इसका अर्थ 'एक बार पट्ट से वेष्टन करना चाहिये' ऐसा है—एकवारमेव पट्टेन वेष्टयेदिति ।

ओष्ठस्याप्येष सन्धाने यथोद्दिष्टो विधिः स्मृतः ।
बुद्ध्योत्प्रेक्ष्याभियुक्तेन तथा चास्थिषु जानता ॥४२॥
उत्तिष्ठतो निषण्णस्य शयनं वाऽधिगच्छतः ।
गच्छतो विविधैर्यानैर्नास्य दुष्यति स व्रणः ॥४३॥
ये च[१] स्युर्मांससंस्था वै त्वग्गताश्च तथा व्रणाः ।
सन्ध्यस्थिकोष्ठप्राप्ताश्च सिरास्नायुगतास्तथा ॥४४॥
तथाऽवगाढगम्भीराः सर्वतो विषमस्थिताः ।
नैते साधयितुं शक्या ऋते बन्धाद्भवन्ति हि ॥४५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणालेपनबन्धविधि-
र्नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

उत्साही और अपने कर्म में निपुण वैद्य ओष्ठसंधान कर्म में तथा अस्थि के (भग्न तथा विश्लेष की चिकित्सा) कर्म में अपनी बुद्धि से विचार कर उपर्युक्त विधि के अनुसार बंध लगावे ॥४२॥ इससे उठते हुए, बैठते हुए, सोते हुए, वाहनों पर सवारी करते हुए अवस्थाओं में उसका व्रण दूषित नहीं होता ॥४३॥ जो मांस, त्वचा सन्धि, अस्थि, कोष्ठ, सिरा, स्नायु इनमें व्रण हैं तथा जो सर्वप्रकार से विषम, गाढ़े, और गंभीर व्रण होते हैं वे यथोक्त बंध के विना ठीक करने अशक्य हैं ॥४४-४५॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां व्रणालेपनबन्धविधिर्नामाष्टदशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथातो व्रणितोपासनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्रणितोपासनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—व्रणितोपासनीय—व्रणित का उपासन यानि आहार, आचार, शुश्रूषा इसका विचार जिसमें किया हुआ है वह अध्याय ।

व्रणितस्य प्रथममेवागारमन्विच्छेत्; तच्चागारं प्रशस्तवास्त्वादिकं कार्यम् ॥२॥

प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते ।
निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः ॥३॥

सब से पहले व्रणित के लिये निवास स्थान की तजवीज करनी चाहिये । वह निवास स्थान प्रशस्त वास्तु आदि से युक्त होना चाहिये ॥२॥ प्रशस्त प्रदेश में निर्मित, स्वच्छ, कड़ी धूप और प्रवात से वर्जित मकानों में निवास करने से शारीर, आगन्तुक और मानसिक रोग उत्पन्न नहीं होते ॥३॥

वक्तव्य—प्रशस्तवास्त्वादिकम्—प्रशस्तवास्तु तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से अन्य आवश्यक सुविधाओं और सामग्रियों से सुसज्जित । वास्तु—प्रदेश जिस पर निवासगृह निर्माण होता है । वास्तु की प्रशस्तता चरक में निम्नप्रकार से वर्णित की है—अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगंधायां भूमौ । गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा । वास्तुशास्त्र में भूमि की प्रशस्तता इस प्रकार वर्णित की है—बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः । सहकारश्च षड्वृक्षैरारूढा या समस्थला ॥ निष्कपाला निरुपला कृमिवल्मीकवर्जिता । अस्थिवर्ज्या न सुषिरा तनुवालुकसंयुता ॥ अंगारैर्वृक्षमूलैश्च शूलैश्चापि पृथग्विधैः । पङ्कसङ्करकूपैश्च दारुभिर्लोष्ट्रकैरपि ॥ शर्कराभिरयुक्ता या भस्माद्यैस्तु तुषैरपि । सा शुभा सर्ववर्णानां सर्वसंपत्करी धरा ॥ मनसश्चक्षुषो यत्र संतोषो जायते भुवि । तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम् ॥ आदिकम्—इससे प्रशस्तता, दृढता, रम्यता, अतमस्कता, प्रवातता, निर्वातता, श्वापददष्टि मूषिकपतगमच्छर मक्षिका विरहितावस्था, महानस स्नान मूत्रवर्चःस्थान युक्तता, तथा अन्य सामग्रियों से सुसज्जता अभिप्रत होती है । प्रशस्तवास्तुनि गृहे—इस श्लोक में स्वास्थ्य की दृष्टि से एक ऐसे सुंदर तत्त्व का उल्लेख संक्षेप से किया है कि इसका विस्तृत विवरण करना अत्यावश्यक है । जिस वास्तु पर मकान होता है, उसका हितकर या अहितकर प्रभाव मकान में रहने वालों के स्वास्थ्य पर पड़ता है । यदि वास्तु प्रशस्त हो तो स्वास्थ्य चिरंतन होता है, यदि अप्रशस्त हो तो स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और शारीरिक, आगन्तुक और मानस विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये भूमि की प्रशस्तता का भली भाँति विचार कर लेना उचित है । मकान बनाने के लिए वह स्थान प्रशस्त है, जहाँ की भूमि कंकरीली, वालुका युक्त, खड़िया युक्त, ग्रानाइट या क्ले स्लेट (Granite, Cley-slate) से बनी हुई, सुषिर, शुष्क और शुद्ध हो, जहाँ जल एकत्र न हो सके, जहाँ वायु और सूर्य-

---

[१] व्रणा ये स्युर्मांससंस्था वित्वग्जातास्तथा व्रणाः.

प्रकाश के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध न हो। ऐसी उत्तम भूमि प्राप्त कर चुकने पर मकान ऐसा बनावे कि वह पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख (प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा) हो। उस में सील न हो, शुद्ध वायु का प्रवेश अच्छी तरह से हो (प्रवातं)। कमरे गर्मियों में ठंडे और शीत काल में गरम (ऋतुसुखं) रहें। प्रकाश सब कमरों में भली भाँति (अतमस्कं) पहुँचे। मकान के दरवाजे और छत काफी ऊंचे हों ताकि घर में घूमते समय किसी प्रकार की कठिनाई (सुखप्रविचारं) न हो। उस के चारों ओर खुला स्थान हो तथा उस से अधिक ऊंचाई का कोई भी मकान उस के समीप (अनुपत्यकं) न हो, इतना विस्तृत (प्रशस्तं) हो कि मकान में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पीछे ७०-१०० वर्ग फुट शयनयोग्य स्थान (अष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं) मिल सके और इतना खुला और ऊंचा हो कि मकान में धूलि धूआँ, और गरमी इन से किसी प्रकार की दिक्कत (धूमातपरजसामनभिगमनीयं) न हो। निवाते—स्वास्थ्य का मूल शुद्ध वायु और सूर्यप्रकाश है। शुद्ध वायु जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है। शुद्ध वायु से दूषित रक्त की शुद्धि होती है और शुद्ध रक्त शरीर का धारण और पोषण कर सकता है। यदि शुद्ध वायु न मिले तो स्वास्थ्य की हानि होती है। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने प्रयोग के द्वारा यह अनुमान किया है कि प्रत्येक स्वस्थ को प्रति घंटा औसत ३००० घन फुट शुद्ध वायु मिलनी चाहिए। रुग्णावस्था में इस से भी अधिक वायु की आवश्यकता होती है। अर्थात् रोगी को अधिक विस्तृत और खुले स्थान में रखना चाहिए। उस की शय्या दो खिड़कियों के बीच दीवार की ओर रखनी चाहिये जहाँ बाहर से आने वाली वायु उस के शरीर पर सीधी न लग सके। इसी दृष्टि से 'निवात' शब्द का अर्थ करना चाहिए। कुमारागार का वर्णन करते समय चरक में 'निवातं प्रवातैकदेशं' ऐसा बिलकुल स्पष्ट शब्द प्रयोग किया है। सूर्यप्रकाश—सूर्य अपने चारों ओर किरणों का परिक्षेपण किया करता है। इन किरणों से अनाज को उगने, बढ़ने एवं पकने के लिये शक्ति मिलती है। समुद्र का पानी भाप के रूप में परिवर्तित हो कर फिर वर्षा के रूप में नया जीवन देने के लिए भूमि पर गिरता है। वायु मण्डल में लहरें उठती हैं जिस से वायुमण्डल की शुद्धि होती है, विकारी जीवाणुओं का नाश होता है। हमें प्रकाश और उष्णता मिलती है तथा हमारे स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। संक्षेप में सूर्य स्थावर और जंगम सृष्टि का आत्मा है—सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। आरोग्यं भास्करादिच्छेत् ॥ सूर्य का प्रकाश हमें रंगविहीन मालूम पड़ता है। परंतु वास्तविक वह कई प्रकार के रंगों के मेल से बना हुआ है। बरसात के दिनों में जब सूर्य की किरणें बादलों की तरफ जल के छोटे छोटे बिन्दुओं द्वारा प्रतिबिंबित होती और छितराती जाती हैं, तब ये रंग हमें दिखाई देते हैं और इस मेघगत रंगविन्यास को हम इन्द्रधनुष कहते हैं। किरणें कई प्रकार की होती हैं। वैद्यकीय दृष्टि से इस के तीन मुख्य विभाग कर सकते हैं—(१) उष्णतादायक किरणें (Heat rays)—इस में उपरक्त (Ultra-red) और रक्त या लाल (Red) किरणें समाविष्ट होती हैं। उपरक्त किरणें अदृश्य और रक्त किरणें दृश्य होती हैं। इन का मुख्य कार्य उष्णता देने का है और इन्हीं के प्रभाव से आतपमूर्च्छा, आतपज्वर (Sun stroke, Heat stroke, Heat fever) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। (२) प्रकाशदायक किरणें (Luminous rays)—इस में नारंगी (Orange) पीली (Yellow) और हरी (Green) ऐसी तीन प्रकार की किरणें समाविष्ट होती हैं। इन का मुख्य कार्य प्रकाश देने का है। इन से चकाचौंधी, सिरदर्द, रतौंधी इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। ये सब किरणें दृश्य होती हैं। (३) रासायनिक किरणें (Chemical rays)—इस में आसमानी (Blue), नीली (Indigs), पाटल या बैंगनी (Violet) और अतिपाटल (Ultra-violet) ऐसी चार प्रकार की किरणें समाविष्ट होती हैं। इन में से पहली तीन प्रकार की किरणें दृश्य और अतिपाटल अदृश्य हैं। इन किरणों का विशेषतया अतिपाटल किरणों का मुख्य कार्य रासायनिक क्रिया करने का है। इन के अतियोग से आतपजन्य त्वग्दाह (Solar dermititis), त्वचा का रंजन (Pigmentation) तथा कमजोरी इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। पाश्चात्य वैद्यक में किरणचिकित्सा का प्रयोग बहुत हो रहा है। इस चिकित्सापद्धति के तीन मुख्य विभाग हैं। (१) सूर्यरश्मिचिकित्सा (Helisotherapy)—इस में प्रत्यक्ष सूर्यप्रकाश का उपयोग करते हैं। (२) रंगरश्मिचिकित्सा (Chromo therapy)—इसमें भिन्न भिन्न रंगों की काँच की बोतलों में पानी भर कर सूर्यप्रकाश में दिन भर रख दिया जाता है। पश्चात् वह पानी रोगी को पिलाया जाता है। (३) अतिपाटलकिरणचिकित्सा (X-ray Therapy)—सूर्य की किरणों में से चिकित्सोपयोगी भाग अतिपाटल किरणें हैं। विद्युत् की सहायता से ये किरणें कृत्रिम तौर पर उत्पन्न करके इनसे अनेक रोगों की चिकित्सा की जाती है। आतपवर्जिते—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि स्वास्थ्यवृद्धि के लिये सूर्यप्रकाश एक आवश्यक चीज है। परंतु रोगी या स्वस्थ के शरीर पर सूर्य की सीधी किरणें (Direct rays) अधिक काल तक पड़ने से स्वास्थ्य की हानि होती है। इसलिये रोगी का स्थान ऐसा होना चाहिये कि जहाँ रोगी के शयन स्थान पर सीधा सूर्यप्रकाश न आने पावे, परंतु उस स्थान के अन्य हिस्से में सबेरे श्याम को सूर्य प्रकाश आता रहे अथवा जहाँ बिखरा हुआ प्रकाश (Diffused light) काफी हो। 'निवाते' का अर्थ जैसा 'निवाते प्रवातैकदेशे' है वैसा 'आतपवर्जिते' का अर्थ 'आतपवर्जिते आतपैकदेशे' ऐसा किंवा 'अतमस्के' ऐसा करना चाहिये।

तस्मिन् शयनमसंबाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक्शिरस्कं सशस्त्रं कुर्वीत ॥४॥

सुखचेष्टाप्रचारः स्यात् स्वास्तीर्णे शयने व्रणी।
प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः ॥५॥

ऐसे स्थान में पीड़ा रहित, यथायोग्य लंबी चौड़ी, स्वच्छ वस्त्र से आच्छादित, रमणीय, पूर्व को सिराहाना करके शय्या बिछावे और सिरहाने शस्त्र रक्खे ॥४॥ अच्छी, लंबी, चौड़ी शय्या पर व्रणी मनुष्य सुख से चेष्टाप्रचार कर सकता है और पूर्व दिशा में देवताओं का वास है, इसलिये उनके सम्मानार्थ सिरहाना पूर्व की तरफ होना चाहिये ॥५॥

वक्तव्य—असंबाधं—शय्या ऊंची, नीची, सख्त, खटमल इत्यादि बाधाओं से रहित । स्वास्तीर्णं—यथायोग्य लंबी चौड़ी तथा ओढ़ने बिछौने तकिया इत्यादि साफ सामग्रियों सहित । सुखचेष्टाप्रचारः—हाथ पैर पसारना, करवटें बदलना इत्यादि चेष्टा जिस पर किसी प्रकार की कठिनाई न होते हुए कर सकते हैं । रोगी के ओढ़ने बिछौने आदि सर्व वस्त्र मृदु, स्वच्छ, मलमूत्रस्वेद विरहित, प्रतिदिन साफ धोये हुए, सूखे, सूर्यप्रकाश और गुग्गुलुसर्षपादि धूपन द्रव्यों से धूपित, तथा सुवासित होने चाहिये । शयनास्तरणप्रावरणानि मृदुलघुशुचिसुगंधीनि स्युः । स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः । असति संभवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि सुशुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः । धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्षपातसीहिंगुगुग्गुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमी जटिलापलंकषाशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकानि घृतसंप्रयुक्तानि स्युः । (चरक) । यह बालक के वस्त्रों के संबंध में जो लिखा है, वह रोगी के वस्त्रों के संबंध में भी लागू होता है ।

तस्मिन् सुहृद्भिरनुकूलैः प्रियंवदैरुपास्यमानो यथेष्टमासीत ॥६॥

सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः ।
आश्वासयन्तो बहुशस्त्वनुकूलाः प्रियंवदाः ॥७॥

ऐसे स्थान में अपने मतानुवर्ती और प्रियवचन कहने वाले मित्रों से सेवा लेते हुए इष्टकाल तक रहे ॥६॥ अपने अनुकूल और मधुरभाषी मित्र कहानियों से और बारबार तसल्ली की बातें कथन कर व्रण की पीड़ा को दूर करते हैं ॥७॥

न च दिवा निद्रावशगः स्यात् ॥८॥

दिवास्वप्नाद्व्रणे कण्डूर्गात्राणां गौरवं तथा ।
श्वयथुर्वेदना रागः स्रावश्चैव भृशं भवेत् ॥९॥

व्रणी मनुष्य दिन में नहीं सोवे ॥८॥ दिन में सोने से अंगों में भारीपन, और व्रणस्थान में कण्डू, शोथ, पीड़ा, सुरखी और अतिस्राव होता है ॥९॥

उत्थानसंवेशनपरिवर्तनचङ्क्रमणोच्चैर्भाषणाद्यास्वात्मचेष्टास्वप्रमत्तो व्रणं संरक्षेत् ॥१०॥

स्थानासनं चङ्क्रमणं दिवास्वप्नं तथैव च ।
व्रणितो न निषेवेत शक्तिमानपि मानवः ॥११॥
उत्थानाद्यासनं स्थानं शय्या चातिनिषेविता ।
प्राप्नुयान्मारुतादङ्गे रुजस्तस्माद्विवर्जयेत् ॥१२॥

उठने, बैठने, करवट बदलने, टहलने, ऊंचे स्वर में बोलने, चिल्लाने इत्यादि अपनी (शारीरिक) क्रियाओं में सावधान होकर व्रण की रक्षा करे ॥१०॥ सामर्थ्य होने पर भी व्रणी मनुष्य बैठने, फिरने, सवारी पर चढ़ने, अधिक बोलने इत्यादि को वर्ज्य करे ॥११॥ उठना, बैठना, पड़े रहना, सोना इनका अतियोग करने से वात का प्रकोप होकर व्रणस्थान में पीड़ा होती है । अतः इन का सेवन वर्ज्य करे ॥१२॥

गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शनसंभाषणसंस्पर्शनानि दूरतः परिहरेत् ॥१३॥

स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं स्रवेत् ।
ग्राम्यधर्मकृतान्दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥१४॥

मैथुन करने योग्य स्त्रियों के दर्शन, उन से बातें करना तथा स्पर्श करना इन चेष्टाओं को दूर ही से त्याग करे ॥१३॥ क्योंकि स्त्रियों के दर्शनादि चेष्टाओं से चलायमान हुआ वीर्य कदाचित् स्खलित हो जाय तो मैथुन के बिना भी मैथुन करने के दोषों को व्रणी मनुष्य प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

वक्तव्य—गम्या—जिन का समागम करने में पातक नहीं, ऐसी स्वपत्नी, वेश्या, चेटी प्रभृति स्त्रियाँ । ग्राम्यधर्मकृतान् दोषान्—वास्तव में स्त्री के साथ केवल समागम करने में शारीरिकदृष्ट्या कोई दोष नहीं हो सकता । परन्तु मैथुनान्त में वीर्य का जो नाश होता है, उसका शरीर पर विशेष करके रुग्णावस्था में हानिकारक प्रभाव पड़ता है । यह वीर्यनाश मैथुन के कारण होने से वीर्यनाश का दोष मैथुन पर आरोपित किया है । दर्शनादि द्वारा व्रणी मनुष्य के वीर्य का नाश होने से प्रत्यक्ष मैथुन से उसकी जो हानि होने की संभावना हो सकती है, वह मैथुन न करने पर भी होती है ।

नवधान्यमाषतिलकलायकुलत्थनिष्पावहरितकशाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशा[1]काजाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधिदुग्धतक्रप्र[2]भृतीन् परिहरेत् ॥१५॥

तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्ग उदाहृतः ।
दोषसंजननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः ॥१६॥

नवीन धान्य, उड़द, तिल, मटर, कुलथी, चौले, हरितक, अम्ल लवण कटुक रस, गुड़ और पिट्ठी के पदार्थ, शुष्क मांस, सूखे शाक, बकरी भेड़ी आनूप और जलचर प्राणियों का मांस और चरबी, ठंढा पानी, खिचड़ी, खीर, दही, दूध, छाछ इत्यादि को व्रणी मनुष्य त्याग करे ॥१५॥ नवीन धान्य से तक्र तक (खाद्य द्रव्यों का) जो यह वर्ग वर्णन किया है, वह व्रणस्थान की दुष्टि करने वाला और पूय को बढ़ाने वाला जानना चाहिये ॥१६॥

वक्तव्य—नवधान्य—प्रत्यग्र या एक वर्ष से कम पुराना शूक और शमीधान्य । माष इत्यादि—माषादि धान्य पुराना होने पर भी वर्ज्य बतलाने के लिये पृथक् उल्लेख किया है । कलाय—खेसारी दाल या मटर वगैरह । हरितक—कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणाः । मूलकं चुक्रिका चेति वर्गं हरितकं विदुः ॥ आनूप—हाथी भैंसा इत्यादि कूलचरवर्ग तथा हंस सारस चक्रवाक इत्यादि प्लववर्ग इनके प्राणी । औदक—शंख इत्यादि कोशस्थ, कच्छप आदि पादिन और मच्छ वर्ग के प्राणी । कृशरा—तिल, चावल और उड़द की खिचड़ी । प्रभृति—'यच्चान्यदपि विष्टंभि विदाहि गुरु शीतलम्' इन सब वस्तुओं का समावेश प्रभृतिशब्द से समझना चाहिए । दोषसंजननः—व्रण स्थान की दुष्टि करने वाला ।

---

१ प्रभृतीनि. २ अजाङ्गलानूपौदकमांस०.

मद्यपश्च मैरेयारिष्टासवशीधुसुराविकारान् परिहरेत् ॥१७॥

मद्यमम्लं तथा रूक्षं तीक्ष्णमुष्णं च वीर्यतः ।
आशुकारि च तत् पीतं क्षिप्रं व्यापादयेद्व्रणम् ॥१८॥

जो मद्य पीने वाले हैं वे भी मैरेय, अरिष्ट, आसव, शीधु, सुरा तथा इन से बने हुए पदार्थों को त्याग करें ॥१७॥ क्योंकि मद्य अम्ल, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य और शीघ्रप्रभावी होने से सेवन करने पर व्रण को तत्काल दूषित कर डालता है ॥१८॥

वक्तव्य—मैरेय—मैरेयं धातकीपुष्पगुडधान्याम्लसाधितम् । स चातुर्जातकाजाजीभकुष्ठोषणनागरम् ॥ किंवा—आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने । संधानं तद्विजानीयान्मैरेयमुभयात्मकम् ॥ आसवारिष्ट—यदपक्वौषधांबुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः । अरिष्टः क्वाथसिद्धः स्यात् ॥ सीधु—ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवैः । सिद्धः पक्वरसः सीधुः संपक्वमधुरद्रवैः ॥ सुरा—परिपक्वान्नसंधानसमुत्पन्नां सुरां जगुः ॥ मद्यपश्च—मद्य पीने वाले तथा न पीने वाले दोनों मद्यों का सेवन न करें । अम्लमित्यादि—जो मद्य तीक्ष्ण रूक्षादि गुणयुक्त होता है केवल उसी का सेवन वर्ज्य समझना चाहिये । अन्य मधुर सौम्य गुण युक्त द्राक्षारसोद्भव मद्य सेवन करने में कोई निषेध नहीं है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है—सस्नेहं मधुरप्रायं नातितीक्ष्णमकर्कशम् । तनु यत्सुखपेयं च मार्द्वीकेषु तदुत्तमम् ॥

वातातपरजोधूमावश्यायातिसेवनातिभोजनानिष्टभोजनाश्रवणदर्शनेर्ष्यामर्षभयक्रोधशोकध्यानरात्रिजागरणविषमाशनशयनोपवासवाग्व्यायामस्थानचङ्क्रमणशीतवातविरुद्धाध्यशनाजीर्णमक्षिकाद्या बाधाः परिहरेत् ॥१९॥

व्रणिनः संप्रतप्तस्य कारणैरेवमादिभिः ।
क्षीणशोणितमांसस्य भुक्तं सम्यङ्न जीर्यति ॥२०॥
अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् ।
ततः शोफरुजास्रावदाहपाकानवाप्नुयात् ॥२१॥

वायु, धूप, धूलि, धुआँ, ओस इनका अति सेवन, अति भोजन, अनिष्ट पदार्थों का सेवन दर्शन और श्रवण, दूसरे का उत्कर्ष सहन न करना, मत्सर, भय, क्रोध, चिंता, रात में जागना, अधिक कम या अकाल भोजन तथा निद्रा, अनशन, ऊँचे स्वर से बोलना, एक स्थान में हलचल न करते हुए अधिक समय तक ठहरना, घूमना, शीत और ठंडी वायु का सेवन, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्ण, मक्षिका मच्छर इत्यादि बाधाओं से व्रणी मनुष्य बचा रहे ॥१९॥ इन वातादि कारणों से प्रतप्त हो जाने के कारण (पहले से ही) रक्त और मांस क्षीण हुए व्रणी मनुष्य का सेवन किया हुआ भोजन ठीक ठीक नहीं पचता ॥२०॥ अन्न का पचन ठीक न होने से वातादि दुष्ट होकर शरीर में संचार करते हैं, जिस से व्रण में सूजन, वेदना, स्राव, जलन और पाक होता है ॥२१॥

वक्तव्य—अनिष्ट—इस का संबंध भोजन, श्रवण और दर्शन के साथ है । ईर्ष्या—दूसरे का उत्कर्ष सहन न करना । विषमाशनशयन—विषमाशन और विषमशयन—बहु स्तोकमकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम् । विषमशयन—आवश्यकता से अधिक या कम समय तक सोना, अकाल सोना, निम्नोन्नत स्थान पर सोना इत्यादि । वाग्व्यायाम—चिल्लाना या ऊँचे स्वर से बहुत बोलना । स्थान—शरीर की एक स्थिति में किसी प्रकार की हलचल न करते हुए अधिक काल तक ठहरना । विरुद्धाध्यशन—विरुद्धाशन और अध्यशन । विरुद्धाशन का वर्णन हिताहित अध्याय में किया हुआ है, उस के अनुसार विरुद्ध पदार्थों का सेवन । अध्यशन—भुक्तस्योपरि भोजनम् । मक्षिकाद्याः—मक्षिकाओं से विकारी जीवाणुओं का संवहन होता है तथा रोगी को परेशानी भी होती है । इसलिये उनका परिहार करना चाहिये—मक्षिका व्रणमागत्य निक्षिपन्ति यदा कृमीन् । श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः । तीव्रा रुजा विचित्राश्च रक्तास्रावश्च जायते ॥ विभ्रमः—वातादिक दोषों की दुष्टि या स्थानान्तर गमन ।

सदा नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरेण भवितव्यमिति । तत् कस्य हेतोः ? हिंसाविहाराणि हि महावीर्याणि रक्षांसि पशुपतिकुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति सत्कारार्थं जिघांसूनि वा कदाचित् ॥२२॥

भवति चात्र—

तेषां सत्कारकामानां प्रयतेतान्तरात्मना ।
धूपबल्युपहारांश्च भक्ष्यांश्चैवोपहारयेत् ॥२३॥

व्रणी को सदा नाखून और बाल कटवाने चाहिए । पवित्र और साफ वस्त्र पहने हुए रहना चाहिए । शान्तिकर्म, मंगलाचरण, देवता ब्राह्मण और गुरु इन की भक्ति में तत्पर रहना चाहिए । इस का क्या हेतु है ? हिंसार्थ विहार करने वाले पराक्रमी राक्षस तथा रुद्र, कुबेर और कार्त्तिकेय के अनुचर मांस और रुधिर प्रिय होने से जखम का निमित्त करके व्रणी के समीप अपना सत्कार कराने के लिए अथवा क्वचित् उस की हिंसा करने के लिये झपटा करते हैं ॥२२॥ अपने सत्कार की इच्छा करने वाले उन राक्षसादि के निमित्त (सत्कार करने के लिए) अन्तःकरण से प्रयत्न करना चाहिए तथा उन को धूप, बलि, उपहार और भक्ष्य भोज्यादि प्रदान करना चाहिए ॥२३॥

वक्तव्य—हिंसाविहाराणि—हिंसार्थ जिन का विहार यानि चेष्टा होती है । शुचिना—अशुद्ध होने पर ही राक्षसों का आक्रमण होता है । इसलिये नाखून बाल वस्त्र आदि स्वच्छ रखने चाहिए । अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् । हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा ॥ रक्षांसि—आठों प्रकार के ग्रह—देवास्तथा शत्रुगणाश्च तेषां गंधर्वयक्षाः पितरो भुजंगाः । रक्षांसि या चापि पिशाचजातिरेषोऽष्टको देवगणो ग्रहाख्यः ॥ क्षतजनिमित्तम्—रक्तसेवनार्थं । बलि—पशुवर्जिता पूजा । उपहार—पशुयुक्ता पूजा ।

ते तु सन्तर्पिता आत्मवन्तं न हिंस्युः । तस्मात् सततमतन्द्रितो जनपरिवृतो नित्यं दीपोदकशस्त्रस्रग्दामपुष्पलाजाद्यलङ्कृते वेश्मनि सम्पन्मङ्गलमनोऽनुकूलाः कथाः शृण्वन्नासीत ॥२४॥

सम्पदाद्यनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः।
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाप्नुयात् ॥२५॥

इस से तृप्त हुए राक्षसादि नीच नखरोमादि योग्य आचरण करने वाले व्रणी मनुष्य को बाधा नहीं करते। इसलिए दीपक, जल, शस्त्र, माला, रज्जु, पुष्प, धान की लाजा इन से सर्वदा सुसज्जित स्थान में सावधानी से अपने मित्रों सहित संपत्त्यनुकूल मंगल और मनोनुकूल कथाएँ सुनते रहना चाहिए ॥२४॥ संपत्ति आदि की अनुकूल बातों से प्रसन्नचित्त होकर और व्याधि से छूटने की आशा करता हुआ व्रणी मनुष्य शीघ्र ही सुख को प्राप्त करता है ॥२५॥

ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानै-
रुपाध्याया भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षां कुर्युः ॥२६॥

ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेदोक्त तथा अन्य आशीर्वाद विधानात्मक मन्त्रों के द्वारा उपाध्याय तथा वैद्य रोगी की रक्षा करे ॥२६॥

सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।
द्विरह्नः कारयेद्धूपं दशरात्रमतन्द्रितः ॥२७॥

राई, नीम की पत्ती, घृत और लवण इन की धूनी दिन में दो बार दस दिन तक सावधानी से (बिला नागा) देना चाहिए ॥२७॥

वक्तव्य—द्विरह्नः—सायं प्रातः। धूपन के संबंध में कुछ विवरण पाँचवें अध्याय में किया गया है। निंबपत्र सर्षपादिक उग्रगंध द्रव्यों के धूम से व्रण वस्त्र गृहादि शुद्ध करने की जो कल्पना आयुर्वेद में स्थान स्थान पर मिलती है, वह आधुनिक पाश्चात्त्य जीवाणुविनाशक व्रणचिकित्सापद्धति (Antiseptic method of treatment) की जननी ही समझनी चाहिये। क्योंकि आधुनिक जीवाणुनाशक चिकित्सा की भाँति प्राचीन काल में रोगी का व्रण, व्रण बन्धन द्रव्य, शय्यादि वस्त्र और मकान इनका धूपन किया जाता था। न केवलं व्रणं धूपयेत् शयनाद्यपि व्रणदौर्गन्ध्यापगमार्थं नीलमक्षिकादिपरिहारार्थं च। (डल्हण)। व्रणे निम्बवचाद्यं च धूपनं संप्रशस्यते। (शार्ङ्गधर)। शिखिबर्हिबलाकास्थीनि सर्षपाश्वंदनं च घृतयुक्तम्। धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत्॥ घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरःशिरीषपुष्पं च। धूमागदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्वयथुहृच्च॥ जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातककुभपुष्पसर्जरसाः। श्वेता धूमा उरगाखुकीटवस्त्रक्रमिहराः स्युः॥ (चरक)। इसमें धूपन के दुर्गंधनाशक (Deodorant) और विषनाशक (Antiseptic) दो गुण भी स्पष्ट रूप से वर्णित किये हैं। प्राचीन काल में जिस को विष कहते थे, वह वास्तव में विकारी जीवाणुओं का एक वर्ग है। ये जीवाणु आज सूक्ष्मदर्शक की सहायता से प्रत्यक्ष हो जाने के कारण उनके स्वतंत्र नाम रक्खे गये हैं। परन्तु जो जीवाणु अभी तक अदृश्य अर्थात सूक्ष्मदर्शकातीत हैं (Ultramicroscopic) वे आज भी विष (Virsu) नामक सामान्य शब्द से निर्दिष्ट किये जाते हैं।

छत्रामतिच्छत्रां लाङ्ग(ङ्गू)लीं जटिलां ब्रह्मचारिणीं
लक्ष्मीं गुहामतिगुहां वचामतिविषां शतवीर्यां सहस्रवीर्यां सिद्धार्थकांश्च शिरसा धारयेत् ॥२८॥

छत्रा, अतिच्छत्रा, लांगली, जटिला, ब्रह्मचारिणी, लक्ष्मी, गुहा, अतिगुहा, वचा, अतिविषा, शतवीर्या, सहस्रवीर्या और सिद्धार्थक इन को सिर पर धारण करे ॥२८॥

वक्तव्य—यहाँ जो शिरोधार्य ओषधियों के नाम दिये है, उन में से अधिकसंख्य ओषधियों के संबंध में मतभेद है। छत्रातिच्छत्रा—द्रोणपुष्पीद्वय। (डल्हण)। सुश्रुत के अनुसार सोमसमवीर्या दो महौषधियाँ—छत्रातिच्छत्रके विद्याद् रक्षोघ्ने कन्दसंभवे। जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते॥ अरुणदत्त के अनुसार छत्रा—शतपुष्पा और अतिच्छत्रा—विषाणिका। लांगली—कपिकच्छुः (डल्हण), विष लांगली (हाराणचंद्र)। जटिला—जटामांसी। ब्रह्मचारिणी—मुण्डितिका (डल्हण), ब्रह्मयष्टी (हाराणचंद्र), ब्राह्मी (उदयचन्द्र तथा अन्य टीकाकार)। लक्ष्मी—शमी, लक्ष्मणेत्यन्ये, विष्णुक्रान्तेत्यपरे। (डल्हण)। ऋद्धि (उदयचन्द्र), तुलसी (अन्यटीकाकार)। गुहातिगुहा—शालिपर्णीपृश्निपर्ण्यौ॥ शतवीर्या—शतावरी, नीलदूर्वेत्यन्ये (डल्हण), श्वेतदूर्वा (हाराणचन्द्र)। सहस्रवीर्या—श्वेतदूर्वा (डल्हण), दूर्वा (हाराणचंद्र)। सिद्धार्थक—सर्षप, सरसों।

व्यज्येत बालव्यजनैर्व्रणं न च विघट्टयेत्।
न तुदेन्न च कण्डूयेच्छयानः परिपालयेत् ॥२९॥

बालों की चौरी से व्रण पर पंखा करे। उसे न दबावे, न दुखावे, न खुजावे। किन्तु लेटे लेटे उसकी रक्षा करे ॥२९॥

अनेन विधिना युक्तमादावेव निशाचराः।
वनं केशरिणाऽऽक्रान्तं वर्जयन्ति मृगा इव ॥३०॥

इस विधि के अनुसार जो व्रणी रहता है, पहले से ही निशाचर उसको त्याग देते हैं (यानि पास नहीं आते) जैसे कि सिंहयुक्त वन को मृग त्याग देते हैं ॥३०॥

जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णं द्रवोत्तरम्।
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३१॥
तण्डुलीयकजीवन्तीसुनिषण्णकवास्तुकैः।
बालमूलकवातार्कपटोलैः कारवेल्लकैः ॥३२॥
सदाडिमैः सामलकैर्घृतभृष्टैः ससैन्धवैः।
अन्यैरेवंगुणैर्वाऽपि मुद्गादीनां रसेन वा ॥३३॥
शक्तून् विलेपीं कुल्माषं जलं चापि शृतं पिबेत्।

पुराने चावलों का घृतयुक्त, थोड़ा गरम, पतला भात जांगल प्राणियों के मांस के साथ सेवन करने से व्रणी का व्रण शीघ्र अच्छा होता है ॥३१॥ अथवा चौलाई, जीवन्ती, चौपतिया शाक, बथुवा, कोमल मूली, बैंगन, परवल, करेले ये शाक अनार और आँवलों के रससहित सैंधवयुक्त घृत से भुने हुए अथवा ऐसे गुण वाले अन्य पदार्थ अथवा मूँग आदि का रस इनके साथ (पुराने चावल का भात) सेवन करे ॥३२-३३॥ सक्तू, विलेपी और कुल्माष इनका भी सेवन किया जाय तथा उबाला हुआ जल पीवे।

वक्तव्य—कुल्माष—यवौदन किंवा 'यवपिष्टमयाः उत्स्विन्नाः'। यव व्रण के लिये हितकर है। इसलिये यवों से बनाये कुल्माष ऐसा इसका अर्थ करना चाहिये। व्रणेषु पथ्यः नित्यम॥

दिवा न निद्रावशगो निवातगृहगोचरः ।
व्रणी वैद्यवशे तिष्ठन् शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३४॥
व्रणे श्वयथुरायासात् स च रागश्च जागरात् ।
तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥३५॥
एवंवृत्तसमाचारो व्रणी सम्पद्यते सुखी ।
आयुश्च दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिवचो यथा ॥३६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणितोपासनीयो
नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

दिन में न सोता हुआ, निर्वात स्थान में वैद्य की आज्ञानुसार रहने वाला व्रणी शीघ्र व्रण से आराम को प्राप्त होता है ॥३४॥ परिश्रम करने से व्रण में सूजन, जागरण करने से सूजन और सुरखी, दिन में सोने से सूजन सुरखी और पीड़ा, और मैथुन करने से सूजन सुरखी पीडा और मृत्यु भी हो जाती है ॥३५॥ ऐसा आचार रखने वाला व्रणी धन्वन्तरि भगवान् के वचनानुसार सुखी होता है और दीर्घायु को प्राप्त होता है ॥३६॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां व्रणितोपासनीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो हिताहितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से हिताहितीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—शरीर के लिये पथ्यकर और अपथ्यकर पदार्थों का विचार जिसमें किया हुआ है वह हिताहितीय ।

यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किंचिद्द्रव्यमेकान्तेन हितमहितं वाऽस्तीति केचिदाचार्या ब्रुवते । तत्तु न सम्यक् । इह खलु यस्माद्द्रव्याणि स्वभावतः संयोगतश्चैकान्तहितान्येकान्ताहितानि हिताहितानि च भवन्ति ॥२॥

जो पदार्थ वायु के लिये पथ्यकर है, वह पित्त के लिये अपथ्यकर होता है। इस कारण से कोई भी द्रव्य सर्वकाल और सर्वावस्था में न हितकारी हो सकता है, न अहितकारी हो सकता है, ऐसे कई आचार्य कहते हैं। परंतु यह ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे मतानुसार संपूर्ण द्रव्य अपनी प्रकृति से अथवा संयोग से (निम्न तीन प्रकार के) होते हैं—१ निरंतर हितकर, २ निरंतर अहितकर, और ३ (अवस्था के अनुसार) हितकर तथा अहितकर ॥२॥

वक्तव्य—एकान्तेन हितमहितम्—जिस द्रव्य का हितकर या अहितकर कार्य अन्य किसी के ऊपर निर्भर न होकर केवल अपने ही गुणों के अनुसार सर्वकाल और सर्वावस्थाओं में हुआ करता है, वह द्रव्य एकान्तहित या एकान्ताहित कहलाते हैं। इह—धन्वन्तरि के मतानुसार अर्थात् सुश्रुततन्त्र में । स्वभावतः—अपने प्राकृतिक यानि जाति और जन्म के साथ उत्पन्न हुए गुणों से—तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः । स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः । तद्यथा—स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिंजलाः । स्वभावाद् गुरवो माषा वराहो महिषस्तथा ॥ (चरक)। तथा अग्नि की उष्णता, तैल घृतादिक की स्निग्धता ये सब स्वाभाविक गुणों के उदाहरण हैं । स्वाभाविक गुण बहुधा निष्प्रतिक्रिय होते हैं—स्वभावो निष्प्रतिक्रियः । (चरक) । संयोगतश्च—संयोग तथा संस्कार, राशि, देश, काल, ये सब संयोग से यहाँ अभिप्रेत हैं । देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित् कानिचित् संयोगात् संस्कारादपराणि देशकालमात्रादिभिश्चापराणि । (चरक) । संयोग—दो या अधिक द्रव्यों का मेल । परंतु यहाँ द्रव्यप्रकृति के अतिरिक्त कार्यकारक मेल अभिप्रेत है—संयोगो द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः । सविशेषमारभते यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते । तद्यथा । मधुसर्पिषोर्मधुमत्स्यपयसां च संयोगः । (चरक)। किन्तु इस प्रकार का एकान्तहितकर या एकान्ताहितकर द्रव्य मिलना असंभव है । इस अध्याय में केवल उन द्रव्यों का विचार किया है जो स्वस्थावस्था में स्वास्थ्यरक्षण के लिये सेवन किये जाते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर एकान्तहित वह द्रव्य है, जो स्वास्थ्य का पालन करता है और एकान्त अहित वह द्रव्य है, जो स्वास्थ्य को बिगाड़ता है।

तत्र, एकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि; एकान्ताहितानि तु दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तान्यग्निक्षारविषादीनि, संयोगादपराणि विषतुल्यानि भवन्ति; हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति ॥३॥

उनमें से जल, घृत, दूध, भात इत्यादि द्रव्य जन्म से ही सात्म्य होने के कारण एकान्तहित होते हैं । दहन, पचन, मारण इत्यादि कार्यों में प्रयुक्त अग्नि, क्षार, विष इत्यादि द्रव्य तथा संयोग से विषतुल्य होने वाले अन्य द्रव्य एकान्त अहितकर होते हैं। हिताहित द्रव्य वे हैं जैसे जो वायु को पथ्यकर हैं वे पित्त के लिये अपथ्यकर हैं ॥३॥

वक्तव्य—जातिसात्म्यात्—जन्म से ही शरीर के लिये सुखकारक होने के कारण। जाति—जन्म। सात्म्य—सात्म्यं नाम तद्यत्सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते। (चरक) । हिताहितानि—हिताहित द्रव्य वे हैं, जो सेवन करने पर शरीर के एक अंग पर हितकर और दूसरे अंग पर अहितकर परिणाम एक ही समय में किया करते हैं ।

अतः सर्वप्राणिनामयमाहारार्थं वर्ग उपदिश्यते; तद्यथा—रक्तशालिषष्टिककङ्गुकमुकुन्दकपाण्डुकपीतकप्रमोदककालकासनपुष्पककर्दमकशकुनाहृतसुगन्धककलमनीवारकोद्रवोद्दालकश्यामाकगोधूमवेणुयवादयः, एणहरिणकुरङ्गमृगमातृकाश्वदंष्ट्राकरालककरकपोतलावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्तिकादीनां मांसानि, मुद्गवनमुद्गमकुष्ठकलायमसूरमङ्गल्यचणकहरेणवाढकीसतीनाः, चिल्लिवास्तुक-

---

१ गोधूमवैणवहरिण०. २ वर्तिकामुद्ग०.

सुनिषण्णकजीवन्तीतण्डुलीयकमण्डूकपर्ण्यः, गव्यं घृतं, सैन्धवदाडिमामलकमित्येष वर्गः सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः ॥४॥

अतः सब प्राणियों के आहार के लिये (पथ्यकर) आहार वर्ग का उपदेश करते हैं। जैसे रक्त शालि, षष्टिक, कंगुक, मुकुन्दक, पाण्डुक, पीतक, प्रमोदक, कालक, असन, पुष्पक, कर्दमक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कलम, नीवार, कोद्रव, उद्दालक, श्यामाक, गेहूँ, वेणुयवादि (धान्यविशेष); एण, हरिण, कुरंग, मृगमातृका, श्वदंष्ट्रा, कराल, क्रकर, कपोत, लावा, तीतर, कपिंजल, वर्तीर, वर्तिक इत्यादि प्राणियों का मांस; मूँग, वनमूँग, कुष्ठक, मटर, मसूर, मंगली, चना, हरेणु, अरहर, सतीन; चिल्ली, वास्तुक, सुनिषण्णक, जीवन्ती, तण्डुलीयक, मण्डूकपर्णी, गौ का घृत, सैन्धव, दाडिम, आँवला (इन आहार्य द्रव्यों का) यह वर्ग सब प्राणियों के लिये पथ्यतम प्रायः होता है ॥४॥

वक्तव्य—प्राणिनाम्—मनुष्यों का। यहाँ निर्दिष्ट किये हुए द्रव्यों का वर्णन ४६ वें अध्याय में किया गया है। इन में रक्त शालि से कलम तक शूक धान्य हैं; नीवार, कोद्रव, उद्दालक, श्यामाक और वेणुयव कुधान्य हैं; एण से कराल तक जांगल मृग हैं; क्रकर और लाव से वर्तिक तक विष्किर हैं; कपोत प्रतुदवर्ग का है; मुद्ग से सतीन तक वैदल हैं; चिल्ली से मण्डूकपर्णी शाक हैं। इन द्रव्यों में से निम्न द्रव्य अपने वर्ग में पथ्यतम हैं—लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमाः, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, सैन्धवं लवणानाम्, जीवन्ती शाकं शाकानाम्, ऐणेयं मृगमांसानाम्, लावः पक्षिणाम्, गव्यं सर्पिः सर्पिषाम्। (चरक)।

तथा ब्रह्मचर्यनिवातशयनोष्णोदकस्नाननिशास्वप्नव्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः ॥५॥

तथा ब्रह्मचर्य, ऐसे स्थान में सोना जहाँ शुद्ध वायु पर्याप्त होती हुई भी शरीर पर सीधी न लग सके, गरम पानी से स्नान करना, रात्रि में निद्रा लेना, व्यायाम करना ये भी सर्वकाल अत्यन्त हितकर होते हैं।

वक्तव्य—ब्रह्मचर्य—स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यम्॥ धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्। अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्। (वाग्भट)। निशास्वप्न—रात्रि की निद्रा नैसर्गिक होती है। विशेष करके रात्रि के मध्य दो प्रहर की निद्रा आवश्यक होती है—रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्। (चरक)। अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः। (मनु)। प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्। प्रहरद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते। (दक्षस्मृति)। व्यायाम—आयामो विविधोऽङ्गानां व्यायाम इति संज्ञितः। (धनुर्वेद)। शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्। (सुश्रुत)।

एकान्तहितान्येकान्ताहितानि च प्रागुपदिष्टानि, हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति ॥६॥

एकान्त हितकर और एकान्त अहितकर पहले कह चुके हैं। हिताहित तो वे हैं जैसे जो वायु के लिये पथ्यकर है वह पित्त के लिये अपथ्यकर है ॥६॥

संयोगतस्त्वपराणि विषतुल्यानि भवन्ति। तद्यथा—वल्लीफलकवककरीराम्लफललवणकुलत्थपिण्याकदधितैलविरोहिपिष्टशुष्कशाकाजाविकमांसमद्यजाम्बवचिलिचिममत्स्यगोधावराहांश्च नैकध्यमश्नीयात् पयसा ॥७॥

दूसरे कुछ पदार्थ अन्य पदार्थों के साथ मिलकर विष के समान हो जाते हैं। जैसे—(कूष्मांडादि) वल्ली के फल, छत्रक, वंशांकुर, निम्बादि अम्ल फल, लवण, कुलथी, खलि, दही, तैल, अंकुरित धान्य, पिट्टी, सूखे शाक, बकरी और भेड़ का मांस, मद्य, जामुन फल, चिलिचिम मत्स्य, गोधा और शूकर का मांस इन पदार्थों को दूध के साथ एक समय में नहीं खाना चाहिये ॥७॥

वक्तव्य—विषतुल्यानि भवन्ति—दो हितकर पदार्थों का संयोग तब विषतुल्य हो सकता है, जब दोनों के संयोग से एक तीसरा पदार्थ बन जाय और जो शरीर के लिये अहितकर हो। ऐसे पदार्थों को संयोगविरुद्ध (Chemically incompatible) पदार्थ कहते हैं।

रोगं सात्म्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान्।
अवेक्ष्याग्न्यादिकान् भावान् रोगवृत्तेः प्रयोजयेत् ॥८॥

रोगी के (रोगवृत्तेः) रोग, सात्म्य, देश, काल, शरीर, जठराग्नि इत्यादि भावों को देखकर बुद्धिमान् वैद्य (विरुद्ध पदार्थ भी) प्रयुक्त करे ॥८॥

अवस्थान्तरबाहुल्याद्रोगादीनां व्यवस्थितम्।
द्रव्यं नेच्छन्ति भिषज इच्छन्ति स्वस्थरक्षणे ॥९॥

(उपर्युक्त) रोगादिकों की अनेक अवस्थाओं की विविधता होने से बुद्धिमान् वैद्य किसी भी पदार्थ को एकान्तहित या एकान्ताहित नहीं समझते परंतु स्वस्थावस्था की रक्षा में (प्रत्येक पदार्थ की एकान्तहितता अथवा एकान्ताहितता) मानते हैं।

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि रुग्णावस्था के लिये कोई भी द्रव्य केवल अपनी प्रकृति से एकान्तहित या एकान्ताहित नहीं हो सकता। उसका कार्य वैद्य की योजना पर निर्भर होता है। यथा—तीव्रतम सर्पविष भी योग्य मात्रा में और रोगी के लक्षणों का सूक्ष्म विचार कर देने पर अमृत समान कार्य करता है और अमृत समान दूध ठीक योजना न करने पर विषतुल्य हो जाता है। इसी दृष्टि से लिखा है—योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं वापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम्। (चरक)। जगत्येवमनौषधम्। न किंचिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः। (वाग्भट)। नास्ति मूलमनौषधम्। योजकस्तत्र दुर्लभः। (सुभाषित)। परंतु स्वस्थावस्था में प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रकृति के अनुसार एकान्तहित या एकान्ताहित कार्य शरीर पर करता है। यहाँ किसी योजक की कोई आवश्यकता नहीं होती। अर्थात् स्वस्थावस्था के लिये द्रव्यों के हितकर और अहितकर विभाग मानना जरूरी है। अर्थात् इस अध्याय में जो एकान्तहित, एकान्ताहित, संयोगविरुद्ध, मानविरुद्ध इत्यादि प्रकार बतलाये हैं; वे स्वस्थावस्था में मार्गदर्शक होने के लिये हैं। रुग्णावस्था में इन अहितकर प्रकारों का भी उपयोग वैद्य रोगी के हित के

लिये अपने बुद्धिबल के आधार पर कर सकता है। ये अहितकर प्रकार वैद्य के लिये तथा रोगी के लिये बाध्य नहीं हो सकते।

द्वयोरन्यतरादाने वदन्ति विषदुग्धयोः।
दुग्धस्यैकान्तहिततां विषमेकान्ततोऽहितम् ॥१०॥
एवं युक्तरसेष्वेषु द्रव्येषु सलिलादिषु।
एकान्तहिततां विद्धि वत्स सुश्रुत नान्यथा ॥११॥

यथा स्वस्थ मनुष्य के लिये विष और दूध इन में से दूध एकान्त हितकर और विष एकान्त अहितकर वैद्य कहते हैं ॥१०॥ इस प्रकार वत्स सुश्रुत ! स्वास्थ्यानुवृत्तिकर रसयुक्त जलादि द्रव्यों में एकान्तहितकारकता समझो (और) विपरीत रसयुक्त द्रव्यों में मत समझो ॥११॥

वक्तव्य—अन्यतर—स्वस्थ। युक्तरसेषु—दुग्धवत् प्रभावसंसिद्धस्वस्थानुवर्तिरसयुक्तेषु। (हाराणचंद्र)। नान्यथा—विपरीत रसयुक्त विषादि में।

अतोऽन्यान्यपि संयोगादहितानि वक्ष्यामः—नवविरूढधान्यैर्वसामधुपयोगुडमाषैर्वा ग्राम्यानूपौदकपिशितादीनि नाभ्यवहरेत्, न पयोमधुभ्यां रोहिणीशाकं जातुकशाकं वाऽश्नीयात्, बलाकां वारुणीकुल्माषाभ्यां, काकमाचीं पिप्पलीमरिचाभ्यां; नाडीभङ्गशाककुक्कुटदधीनि च नैकध्यं; मधु चोष्णोदकानुपानं; पित्तेन चाममांसानि; सुराकृशरापायसांश्च नैकध्यं; सौवीरकेण सह तिलशष्कुलीं; मत्स्यैः सहेक्षुविकारान्; गुडेन काकमाचीं, मधुना मूलकं, गुडेन वाराहं मधुना च सह विरुद्धं; क्षीरेण मूलकमाम्रजाम्बवश्वाविच्छूकरगोधाश्च; सर्वांश्च मत्स्यान् पयसा विशेषेण चिलिचिमं; कदलीफलं तालफलेन पयसा दध्ना तक्रेण वा; लकुचफलं पयसा दध्ना माषसूपेन वा, प्राक् पयसः पयसोऽन्ते वा ॥१२॥

अब और भी जो संयोग से अहितकर होते हैं, उन्हें कहते हैं। नवांकुरित धान्य तथा वसा, मधु, दूध, गुड़, उड़द इनके साथ ग्राम्य, आनूप और औदक जीवों का मांस नहीं खाना चाहिये। रोहिणी शाक या जातुक शाक दूध और शहद के साथ नहीं खाना चाहिये। बलाका का मांस मदिरा और उबाले हुए धान्य के साथ नहीं खाना चाहिये। काकमाची को पिप्पली और मिरच के साथ नहीं खाना चाहिये। नाड़ी का शाक, मुरगा और दही एक समय नहीं खाना चाहिये। मधु गरम जल के साथ नहीं खाना चाहिये। पित्त के साथ मांस सेवन नहीं करना चाहिए। मद्य, खिचड़ी और खीर एक समय नहीं खाना चाहिये। सौवीर के साथ तिल की शष्कुली नहीं खानी चाहिये। मछली के साथ ईख के पदार्थ नहीं खाने चाहिये। गुड़ के साथ काकमाची नहीं खानी चाहिये। मधु के साथ मूली नहीं खानी चाहिये। गुड़ और मधु के साथ शूकर का मांस विरुद्ध है। दूध के साथ मूली, आम, जामुन, खरगोश सूकर और गोधा का मांस नहीं सेवन करना चाहिये। दूध के साथ सब प्रकार की मछली विशेष करके चिलिचिम मत्स्य विरुद्ध है। तालफल, दूध, दही और छाछ के साथ केला विरुद्ध है। लकुचफल दूध, दही और उड़द के यूष के साथ नहीं खाना चाहिये तथा दूध के पहले या पीछे भी सेवन नहीं करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—मधु चोष्णोदकानुपानम्—मधु केवल उष्ण जल के नहीं वरन् प्रत्येक उष्ण पदार्थ के विरुद्ध है—हन्यान्मधूष्णमुष्णार्तमथवा सविषान्वयात्। (चरक)। नानापुष्पप्रकाराणां रससारात्मकं मधु। तच्छैत्यात्सौकुमार्याच्च सर्वैरुष्णैर्विरुध्यते। (हारीत)। उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत्। (वाग्भट)। सौवीरक—कांजी का एक प्रकार—यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं संधितं भवेत्। (शार्ङ्गधर)। सर्वांश्च मत्स्यान् पयसा—दूध के साथ मत्स्य न सेवन करने का कारण चरक (सूत्रस्थान. अ. २६) में लिखा है—न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेदुभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाकं महाभिष्यन्दि शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय महाभिष्यन्दित्वान्मार्गोपरोधाय च ॥ विशेषेण चिलिचिमम्—एक प्रकार का भूमिचर मत्स्य है—स पुनः शकली सर्वतो लोहितराजिर्लोहितप्रकारः प्रायो भूमौ चरति। (चरक)। चिलिचिम दूध के साथ सेवन न करने का कारण—स हि महाभिष्यन्दित्वात् स्थूललक्षणतमानेतान् (शोणितजान् विविधांश्च) व्याधीनुपजनयति। आमविषमुदीरयति च। (चरक)। प्राक् पयसः पयसोऽन्ते वा—'लकुचफलं नाश्नीयात्' इति शेषः।

अतः कर्मविरुद्धान् वक्ष्यामः—कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान्नाद्यात्; कपिञ्जलमयूरलावतित्तिरिगोधाश्चैरण्डदार्व्यग्निसिद्धा एरण्डतैलसिद्धा वा नाद्यात्; कांस्यभाजने दशरात्रपर्युषितं सर्पिः; मधु चोष्णैरुष्णे वा; मत्स्यपरिपचने शृङ्गवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीं; तिलकल्कसिद्धमुपोदिकाशाकं; नारिकेलेन वराहवसापरिभृष्टां बलाकां; भासमङ्गारशूल्यं नाश्नीयादिति ॥१३॥

अब यहाँ से कर्मविरुद्ध द्रव्यों को कहते हैं। सरसों के तैल में भूने पारावतों को नहीं खाना चाहिये। कपिञ्जल, मोर, लाव, तीतर और गोधा इन्हें एरण्ड की लकड़ियों से पकाकर अथवा एरण्ड तैल से पकाकर नहीं खाना चाहिये। कांस्य के पात्र में दस दिन का रक्खा हुआ घृत सेवन नहीं करना चाहिये। गरम पदार्थों के साथ या गरम ऋतु में मधु सेवन नहीं करना चाहिये। जिस पात्र में मछली या अदरख पकाया गया हो उस पात्र में पकी काकमाची सेवन नहीं करनी चाहिये। तिलकल्क में सिद्ध किया हुआ पोई का शाक नहीं खाना चाहिये। शूकर की चरबी से भूनी हुई

---

१ 'गुडेन काकमाचीं, मधुना मूलकं, वाराहं क्षीरेण मूलकं च'. 'गुडेन काकमाचीं, मधुना मूलकं वाराहं च'.

१ एरण्डदार्वग्निसिद्धा.

बलाका नारियल के साथ नहीं खानी चाहिए। लोहशलाका से अग्नि पर भुना हुआ भास का मांस सेवन नहीं करना चाहिये ॥१३॥

वक्तव्य—कर्म—संस्कार—संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते । ते गुणाश्च तोयाग्निसंनिकर्षशौचमंथनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्च धीयन्ते । (चरक) । सामान्यतया संस्कार से शरीर के लिये हितकर गुणों की वृद्धि की जाती है। यहाँ जो संस्कार बतलाये गये हैं, उन से शरीर के लिये अहितकर गुणों की वृद्धि होती है । अतः ये संस्कार विरुद्ध समझने चाहिएँ । परिपचनं परिपच्यतेऽत्रेति परिपचनं. स्थाति । अंगारशूल्यम्—यच्छूलेन विद्धांगारेपु पकं तदंगारशूल्यम् ।

अतो मानविरुद्धान् वक्ष्यामः—मध्वम्बुनी मधुसर्पिषी मानतस्तुल्ये नाश्नीयात्; स्नेहौ मधुस्नेहौ जलस्नेहौ वा; विशेषादान्तरीक्षोदकानुपानौ ॥१४॥

यहाँ से जो मानविरुद्ध हैं उन्हें कहते हैं। मधु और जल तथा मधु और घृत सम प्रमाण में मिलाकर नहीं खाना चाहिये। दो स्नेह पदार्थ, मधु और अन्य कोई स्नेह पदार्थ तथा जल और अन्य कोई स्नेह सम प्रमाण में मिलाकर नहीं खाना चाहिये। विशेष करके मधु और स्नेह के साथ आंतरीक्ष जल का सेवन नहीं करना चाहिए ॥१४॥

वक्तव्य—मानविरुद्ध—दो पदार्थों का संयोग जब विशिष्ट प्रमाण में घातक होता है, तब उसको मानविरुद्ध कहते हैं। स्नेह—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः । (चरक) ।

अत ऊर्ध्वं रसद्वन्द्वानि रसतो वीर्यतो विपाकतश्च विरुद्धानि वक्ष्यामः—तत्र मधुराम्लौ रसवीर्यविरुद्धौ मधुरलवणौ च, मधुरकटुकौ च सर्वतः, मधुरतिक्तौ रसविपाकाभ्यां मधुरकषायौ च, अम्ललवणौ रसतः, अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम्, अम्लतिक्तावम्लकषायौ च सर्वतः, लवणकटुकौ रसविपाकाभ्यां, लवणतिक्तौ लवणकषायौ च सर्वतः, कटुतिक्तौ रसवीर्याभ्यां कटुकषायौ च, तिक्तकषायौ रसतः ॥१५॥

अब यहाँ से रस, वीर्य और विपाक की दृष्टि से दो दो विरुद्ध रसों का वर्णन करते हैं। उनमें से मधुर और अम्ल तथा मधुर और लवण रस और वीर्य में परस्पर विरुद्ध हैं। मधुर और कटु रस सब बातों में परस्पर विरुद्ध हैं। मधुर और तिक्त रस तथा मधुर और कषाय रस रस और विपाक में परस्पर विरुद्ध हैं। अम्ल और लवण रस (केवल) रस में परस्पर विरुद्ध हैं। अम्ल और कटुक रस रस और विपाक में विरुद्ध हैं। अम्ल और तिक्त तथा अम्ल और कषाय रस सब बातों में परस्पर विरुद्ध हैं। लवण और कटुक रस और विपाक में विरुद्ध हैं। लवण और तिक्त तथा लवण और कषाय सब बातों में विरुद्ध हैं। कटु और तिक्त तथा कटु और कषाय रस और वीर्य में विरुद्ध हैं, तिक्त ौर कषाय (केवल) रस में विरुद्ध हैं ॥१५॥

वक्तव्य—सर्वतः—रसवीर्यविपाकतः । यहाँ के रसद्वन्द्व करण का ज्ञान निम्न तालिका के उपयोग से सुलभ होगा । स, वीर्य और विपाक का जो विरोध है उसे कार्यविरोध (Physiological incompatibility) कहते हैं । और एक प्रकार का विरोध है, उसे स्वरूप विरोध (Physical incompatibility) कहते हैं। जैसे उष्ण और ठंडे पदार्थ, एक साथ खाना।

रस	विपाक	वीर्य
मधुर	मधुर	शीतवीर्य
अम्ल	मधुर	उष्णवीर्य
लवण	मधुर	उष्णवीर्य
तिक्त	कटु	शीतवीर्य
कटु	कटु	उष्णवीर्य
कषाय	कटु -	शीतवीर्य

तरतमयोगयुक्तांश्च भावानतिरूक्षानतिस्निग्धानत्युष्णानतिशीतानित्येवमादीन् विवर्जयेत् ॥१६॥

अति रूक्ष, अति स्निग्ध, अति उष्ण, अति शीत इत्यादि विशेष और अति विशेष योग युक्त पदार्थों को आहार से वर्जित करे ॥१६॥

भवन्ति चात्र—

विरुद्धान्येवमादीनि वीर्यतो यानि कानि च ।
तान्येकान्ताहितान्येव शेषं विद्याद्धिताहितम् ॥१७॥

रस वीर्य विपाक से विरुद्ध जो उपर्युक्त तथा अन्य पदार्थ होते हैं, वे एकान्ताहित समझने चाहिये और शेष सर्व कभी हितकर कभी अहितकर जानने चाहिये।

वक्तव्य—वीर्यतः—रस विपाक और प्रभाव इनका भी बोध यहाँ वीर्य से ही समझना चाहिये । क्योंकि जिस से कार्य होता है वह वीर्य है और द्रव्य रसवीर्य विपाक और प्रभाव इनके द्वारा अपना कार्य किया करते हैं—येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम् । किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम् । द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन । (चरक) । यानि कानि च—स्वभाव संस्कारादि यहाँ निर्दिष्ट किये हुए विरोधों के अतिरिक्त अन्य विरोधी पदार्थ। चरक में संपूर्ण विरोध निम्न प्रकार से बतलाये हैं—यच्चापि देशकालाग्निसात्म्यासात्म्यानिलादिभिः । संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥ परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च । विरुद्धं तच्च न हितं हृत्संपद्विधिभिश्च यत् ॥ (सूत्र. अ. २६) ।

व्याधिमिन्द्रियदौर्बल्यं मरणं चाधिगच्छति ।
विरुद्धरसवीर्याणि भुञ्जानोऽनात्मवान्नरः ॥१८॥

जो जिह्वालोलुप मनुष्य रस वीर्यादि से विरुद्ध पदार्थों का सेवन करता है, वह (भिन्न भिन्न) रोग, इन्द्रियों की दुर्बलता तथा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥१८॥

लालची

वक्तव्य—अनात्मवान्—अजितेंद्रिय यहाँ जिह्वालोलुप । व्याधिं—अनेक प्रकार के रोग—षाण्ढ्यान्ध्यवीसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम् । मूर्च्छामदाध्मानगलामयानां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव ॥ किलासकुष्ठग्रहणीगदानां शोषास्रपित्तज्वरपीनसानाम् । सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योर्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥ (चरक, सूत्र स्थान. अ. २६) ।

यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य भुक्तं कायान्न निर्हरेत् ।
रसादिष्वयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते ॥१९॥

जिस के सेवन से दोषों का प्रकोप होता है परन्तु उनका शरीर के बाहर उत्सर्ग नहीं होता तथा जो रसादि को दूषित करता है वह शरीर में रोग संपादित करता है ॥१९॥

वक्तव्य—यत् किंचित्—ओषधिव्यतिरिक्त आहार तथा विहार—यत् किंचिद्दोषमाक्षुभ्य न निर्हरति कायतः । आहारजातमन्यद्वा तत्सर्वमहितं स्मृतम् ॥ रसादिषु अयथार्थम्—रसरक्तादिदूषकम् । इस श्लोक में विरुद्ध की सामान्य व्याख्या तथा विरुद्ध सेवन से रोग उत्पन्न होने का हेतु वर्णन किया है । संग्रह में लिखा है—उत्क्लेश्य दोषान्न हरेद् द्रव्यं यत्तत् समासतः । विरुद्धं तद्धि धातूनां प्रत्यनीकतया स्थितम् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ९) ।

विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम् ।
वमनं शमनं वाऽपि पूर्वं वा हितसेवनम् ॥२०॥

विरुद्ध पदार्थों का सेवन करने से उत्पन्न हुए रोगों का प्रतिकार विरेचन, वमन और शमन द्वारा अथवा (उनके सेवन के) पूर्व ही हितकर ओषधियों के सेवन द्वारा होता है ॥२०॥

वक्तव्य—चरक में भी यह श्लोक मिलता है परन्तु वहाँ गद्योक्त अर्थ के उपसंहार के लिये लिखा गया है । उसके पूर्व निम्न गद्य है—एषां च खलु परेषां च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः प्रतिकारा भवन्ति । यथा वमनं विरेचनं च तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगस्तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति ॥ इस में वैरोधिकनिमित्त व्याधियों की दो प्रकार की चिकित्सा बतलाई गई है—(१) आगतव्याधि चिकित्सा (Curative treatment), (२) और अनागत व्याधि चिकित्सा (Prophylactic treatment) । पहली चिकित्सा वमन, विरेचन तथा विरुद्ध पदार्थों के विरुद्ध गुणी द्रव्यों का उपयोग इनके द्वारा करनी चाहिये । दूसरी प्रतिषेधक चिकित्सा विरुद्ध पदार्थों का ही थोड़ी मात्रा में शरीर पर अभिसंस्कार करके करनी चाहिये । वाग्भट में ऐसा ही वर्णन किया है— शमं वा तद्विरोधिभिः । द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिः ॥ तथाविधैः—इस के अर्थ में कुछ मतभिन्नता हो सकती है । यथा—रसायनप्रयोगैः । (चक्रपाणिदत्त) । वैरोधिककुपितदोषप्रतिपक्षभूतैर्द्रव्यैः । (अरुणदत्त) । सुवर्णलोहादिविरोधिरोगहरं पूर्वमेव सेवेत । तदुक्तं 'न सज्जते हेमपात्रे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्' । (डल्हण) । ऊपर दिया हुआ अर्थ इन से भिन्न है, परन्तु एक विशिष्ट उद्देश्य से वह किया गया है, जिस का आगे विशेष विवरण होगा । परन्तु यह अर्थ भी प्राचीन काल में कुछ टीकाकार करते थे । संग्रह की टीका में इन्दु लिखते हैं—भट्टारकेण तु तथाविधैर्वा द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्य इत्यस्य वाक्यस्य व्याध्युत्पत्त्यनैकान्तिकप्रदर्शनपरत्वमंगीकृत्य तथाविधैरिति च विरुद्धसमानि परामृश्य विरुद्धैरेव पूर्वसंस्कारो व्याध्यनुत्पत्तिहेतुरिति सात्म्याहारप्रायतया द्वितीयोऽपि पक्षो य उद्भासितः सोऽस्माभिरुपेक्षित एव ॥ उपर्युक्त चरक के गद्य में विरोधिद्रव्यजन्य रोगों की सामान्य चिकित्सापद्धति वर्णन की गई है, जिस का उपयोग आधुनिक पाश्चात्त्य वैद्यक में आज प्रत्यक्ष हो रहा है । गत अर्धशताब्दी में अनेक विकारी जीवाणुजन्य रोगों की चिकित्सा, व्याधिनिर्मोचक तथा व्याधिप्रतिषेधक, सीरम तथा वैक्सीन (Serum or Vaccine) द्वारा शुरू हुई है और उस से बहुत लाभ भी होता है । इस पद्धति का आविष्कार 'फान वेहरिंग' और 'सर आल्मोराथ राईट' नामक शास्त्रज्ञों ने किया । सीरम का उपयोग प्रायः जीवाणुओं से रोग उत्पन्न होने के पश्चात् उसकी चिकित्सा के लिये होता है । सीरमचिकित्सा का तत्त्व यह है कि सीरम (लसिका) द्वारा मनुष्यों के शरीर में जीवाणुविरोधी या विषविरोधी द्रव्य प्रविष्ट करके प्रविष्ट हुए जीवाणु या उनके विष का प्रशम करना और रोगी को आराम देना । बैसीलरी अतिसार (Bacillary dysentery), मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर (Cerebrospinal fever), धनुस्तम्भ और रोहिणी (Diphtheria) इन रोगों में सीरम का उपयोग बहुत फायदेमन्द प्रमाणित हुआ है । वैक्सीन चिकित्सा का तत्त्व यह है कि जीवाणु या उनके विष अर्थात् विरोधी द्रव्य शरीर में प्रविष्ट कर उनका शरीर पर संस्कार करके शरीर उन्हीं विरोधी द्रव्यों के लिये क्षम बनाया जाता है जिससे भविष्य में शरीर उन विरोधी पदार्थों का शरीर में प्रवेश होने पर भी भली भाँति प्रतिकार कर सकता है और रोग से पीड़ित नहीं होता । इस कारण से वैक्सीन का उपयोग प्रायः रोगप्रतिषेध के लिये किया जाता है और प्लेग, आंत्रिक ज्वर, विसूचिका, अतिसार इत्यादि रोगों में बहुत फायदेमन्द प्रमाणित हुआ है । आयुर्वेद में वैक्सीन और सीरम का उपयोग नहीं दिखाई देता । परंतु जिस तत्त्व पर यह ओषधिद्रव्य पाश्चात्त्य वैद्यक में आज प्रयुक्त हो रहे हैं वह तत्त्व आयुर्वेद में स्पष्ट रूप से लिखा है । भविष्य में होने वाले रोगों के चिकित्साद्रव्य लिखना असंभव है तथापि आयुर्वेद में चिकित्सा के ऐसे सामान्य नियम बतलाये हैं कि जिनके अनुसार नये नये रोगों की चिकित्सा नई नई ओषधियों द्वारा करना आयुर्वेदसंमत हो सकता है । विकारी जीवाणु या उनके विष हमारे शरीर के लिये विरोधी यानि स्वभावतः प्रत्यनीक स्वरूप के हैं । अतः उनका समावेश आयुर्वेद के अनुसार 'स्वभावविरुद्ध' पदार्थों में होता है । इन पदार्थों के सेवन से या शरीर प्रवेश से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा विरुद्धगुणी पदार्थों से होती है—तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः । इदं च नः प्रत्यक्षं यत्...व्याधीन् मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक्प्रकृतौ स्थापयामः । (चरक) । मूलविपर्ययेणेति कारणविपर्ययेण, तच्च प्रभावादिति बोद्धव्यं तेन विषविकारस्य विषोपचरणमेतत् प्रत्यक्षं चान्यदुपगृहीतं भवति । (चक्रपाणिदत्त) । सीरम से जो आज जीवाणुजन्य रोगों की चिकित्सा हो रही है, वह इसी तत्त्व पर है । यदि विरुद्ध पदार्थों के सेवन से या शरीर-प्रवेश से भविष्य में होने वाले रोगों का प्रतिषेध करना हो तो आयुर्वेद के अनुसार उन विरुद्ध पदार्थों का शरीर पर अभिसंस्कार (तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिः) करना चाहिये । वैक्सीन से जो आज अनेक रोगों का प्रतिषेध हो रहा है, वह इसी तत्त्व पर है । विसूचिका रोग उदाहरणार्थ खाद्यपेयों द्वारा विसूचिका जीवाणु (अर्थात् विशिष्ट शरीरविरोधी द्रव्य) शरीर में प्रविष्ट होने से होता है । यदि किसी स्थान में इस रोग का मरक फैलने के कारण इससे बचने की इच्छा हो तो विसूचिका जीवाणुओं का ही शरीर पर अभिसंस्कार (वैक्सीन का शरीर में प्रवेश करके) किया जाता है, जिससे रोग नहीं हो सकता । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सीरम और

वैक्सीन चिकित्सा आयुर्वेदसंमत और प्रत्यक्ष फलदायक है। इसलिये वैद्यों को चाहिए कि इनको भी अंगीकार करके जनता के स्वास्थ्य का रक्षण करें। वैक्सीन और सीरम के विशेष विवरण के लिये ग्रंथकार का 'संक्षिप्त जीवाणुविज्ञान' देखो।

सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च।
स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ॥२१॥[1]

जिसकी अग्नि प्रखर हो, अवस्था तरुण हो, शरीर स्निग्ध, व्यायामक्षुण्ण और बलवान् हो ऐसे मनुष्य में अथवा (विरुद्ध पदार्थ के) अभ्यास से और अल्पता से विरुद्ध पदार्थ निष्फल हो जाता है ॥२१॥

वक्तव्य—सात्म्य—**अभ्याससात्म्य**—सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते। (**चरक**)। अल्पतया—**विरुद्ध पदार्थ की राशि थोड़ी होने से। दीप्ताग्नि पाचकाग्नि तथा धात्वग्नि**—बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः (**चरक**)। स्निग्धव्यायामबलिनाम्—**स्निग्धभोजी या स्निग्धशरीरी, व्यायामशील और बलवान्**—व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम्। विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते॥ वितथं भवेत्—**निष्फल होता है अर्थात् शरीर में कुछ भी विकार नहीं कर सकता। इस श्लोक में विरुद्ध द्रव्य बेकार होने के लिये जो अवस्थाएँ बतलाई हैं, वह जीवाणुओं के बारे में भी ठीक लागू होती हैं। यह श्लोक चरकसंहिता (सूत्र. अ. २६) में भी मिलता है।**

अथ वातगुणान् वक्ष्यामः—

पूर्वः समधुरः स्निग्धो लवणश्चैव मारुतः।
गुरुर्विदाहजननो रक्तपित्ताभिवर्धनः ॥२२॥
क्षतानां विषजुष्टानां व्रणिनः श्लेष्मलाश्च ये।
तेषामेव विशेषेण सदा रोगविवर्धनः ॥२३॥
वातलानां प्रशस्तश्च श्रान्तानां कफशोषिणाम्।
तेषामेव विशेषेण व्रणक्लेदविवर्धनः ॥२४॥

अब वायु के गुणों का वर्णन करते हैं। पूर्व दिशा का पवन मधुर है, चिकना है, नमकीन है, भारी है, दाह करता है, रक्त पित्त को बढ़ाता है ॥२२॥ व्रणयुक्त, विष से पीड़ित, शोथयुक्त और कफ प्रकृति मनुष्यों के रोग बढ़ाने वाला है ॥२३॥ वातल प्रकृति, थके हुए और कफ से पीड़ित मनुष्यों के लिये हितकर है। परंतु यदि व्रण से पीड़ित हो तो आर्द्रता का बढ़ाने वाला होता है ॥२४॥

मधुरश्चाविदाही च कषायानुरसो लघुः।
दक्षिणो मारुतः श्रेष्ठश्चक्षुष्यो बलवर्धनः ॥२५॥
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपणः।

दक्षिण का पवन मधुर है, विदाह नहीं करता है, कुछ कसैला है, हलका है, श्रेष्ठ है, नेत्रों को हितकारी है, बल को बढ़ाने वाला है, रक्तपित्त को शमन करने वाला है और बात को भी प्रकोपित नहीं करता।

विशदो रूक्षपरुषः खरः स्नेहबलापहः ॥२६॥
पश्चिमो मारुतस्तीक्ष्णः कफमेदोविशोषणः।
सद्यः प्राणक्षयकरः शोषणस्तु शरीरिणाम् ॥२७॥

पश्चिम का पवन विशद है, रूखा है, कठोर है, खरखरा है, स्निग्धता और बल का नाश करने वाला है, तीक्ष्ण है, कफ और मेद को सुखाने वाला है, तत्काल प्राण का नाश करने वाला और शरीर को सुखाने वाला है ॥२६-२७॥

उत्तरो मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च।
कषायानुरसः शीतो दोषाणां चाप्रकोपणः ॥२८॥
तस्माच्च प्रकृतिस्थानां क्लेदनो बलवर्धनः।
क्षीणक्षयविषार्तानां विशेषेण तु पूजितः ॥२९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने हिताहितीयो
नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

उत्तर का पवन स्निग्ध है, मृदु है, मधुर है, कुछ कसैला है, शीतल है, दोषों का प्रकोप करने वाला नहीं है ॥२८॥ इस लिये स्वस्थ मनुष्यों का क्लेदक और बल बढ़ाने वाला है और क्षीण, क्षय तथा विष से पीड़ित रोगियों के लिये विशेषतया हितकर होता है ॥२९॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां हिताहितीयो नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः।

अथातो व्रणप्रश्नमध्यायं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्रणप्रश्न नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—व्रणप्रश्न—**व्रण यानि व्रणोत्पादक वातादि दोष, उनके संबंध में प्रश्न यानि निरूपण या चर्चा जिस अध्याय में की गई है, वह अध्याय।** प्रश्न—**अविज्ञात प्रवचन।**

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥२॥

वात, पित्त और कफ ये ही शरीर उत्पत्ति के कारण हैं। (शरीर में ही) नीचे, मध्य में, और ऊपर यथाक्रम स्थित होने वाले इन विकाररहित वात, पित्त और कफ से शरीर का धारण होता है। जैसे कि तीन खंभों से मकान का धारण होता है। इसलिये कई आचार्य इस देह को त्रिस्थूण कहते हैं। वे ही जब बिगड़ जाते हैं, तब शरीर के नाश का कारण होते हैं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के समय में भी वात, पित्त और कफ तथा चौथा रक्त इन से विरहित शरीर नहीं होता है ॥२॥

---

[1] एतदग्रे—'व्यायामशीलो बलवान शिशुश्च स्निग्धोऽग्निमांश्चापि महाशनश्च। आप्नोति रोगान्न विरुद्धजातानभ्यासतो वाऽल्पतया च जन्तुः ॥' इति क्वचिदधिकः पाठः.

वक्तव्य—देहसंभवहेतवः—शरीर की उत्पत्ति यद्यपि शुक्र और शोणित से होती है तथापि शुक्र का शरीर से बाहर निकलना, गर्भाशय में पहुँचना, स्त्रीबीज के साथ मिलना, तदनंतर गर्भ की वृद्धि होना इत्यादि कर्म वातादि दोषों पर निर्भर होते हैं। इतना ही नहीं, वातादि दोष शुक्र और शोणित में भी होते हैं—शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणैव विषक्रमेः। तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक् ॥ (वाग्भट)। तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोनिलसंनिपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रपद्यते । शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते । (सुश्रुत)। अधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः—वात का स्थान नाभि के नीचे, पित्त का स्थान नाभि और हृदय के बीच में, और कफ का स्थान हृदय के ऊपर होता है—ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः । (वाग्भट)। त्रिस्थूण—तीन स्तंभों के ऊपर जिस का धारण हुआ है, ऐसा—ऊर्ध्वमूलमधः शाखं त्रिस्थूणं पंचदैवतम्। क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेदवित् ॥ शोणितचतुर्थैः—वास्तव में शरीरदूषक केवल तीन ही दोष हैं। परन्तु व्रणस्थान की दुष्टि, शोथ, पूयभवन, रोहण इत्यादि कार्य रक्त ही के द्वारा वातादि दोष करते हैं और रक्त के ही साथ रक्तवाहिनियों में से सर्व शरीर में फैलते हैं। अतः धातुओं की अपेक्षा रक्त का प्राधान्य अन्य बतलाने के लिये रक्त का निर्देश यहाँ शल्यतंत्र में स्वतंत्र किया गया है । परन्तु शोणितदुष्टि घृतादिदग्धवत् वातादि दोषों की दुष्टि ही समझना चाहिये—रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः संभवन्ति ये । तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत् ॥ (संग्रह)।

भवति चात्र—

नर्ते[१] देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥३॥

न कफ के विना देह है, न पित्त के विना है और न वात के विना है तथा शोणित के विना भी देह नहीं होता। परन्तु इन्हीं के द्वारा शरीर धारण किया जाता है ॥३॥

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोरिति धातुः 'तप' सन्तापे, 'श्लिष' आलिङ्गने, एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ॥४॥

इन में 'वा-गतिगंधनयोः', 'तप—संतापे' और 'श्लिष—आलिंगने' इन धातुओं से कृदंतविहित प्रत्ययों द्वारा वात, पित्त और श्लेष्मा ये रूप बनते हैं ॥४॥

वक्तव्य—इस सूत्र में वात, पित्त और कफ इनकी निरुक्ति बतलाई गई है, जिस से इन का मुख्य कार्य स्पष्ट हो जाता है । वात—गतिगन्धोपादानार्थस्य वाधातोरसृन्दरादिभ्य इत्यादिसूत्रोत्पन्ने तप्रत्यये वात इति रूपम् । पित्त—संतापार्थस्य तप्धातोरिचि प्रत्यये तकारस्येत्वे वर्णविपर्यये तस्य च त्वे कृते पित्तमिति रूपम् । कफ—आलिंगनार्थस्य श्लिष्धातोर्मनिन् प्रत्यये गुणे च कृते श्लेष्मेति रूपम्। इस से शरीर में श्वास प्रश्वास, शारीरिक मानसिक कर्म, रस रक्तादि धातुओं की गति इत्यादि सर्व गतियुक्त कार्य वात के होते हैं—सर्वा हि चेष्टा वातेन। (चरक)। महास्रोत में तथा शरीर के अन्य धातुओं में पचन करके उष्णता उत्पन्न करना पित्त का कार्य है—पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते। (चरक)। शरीर के विविध अंगों में सहयोग उत्पन्न करके शरीर को स्थिर करना कफ का कार्य है।

दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः; तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य; आमाशयः श्लेष्मणः ॥५॥

यहाँ से आगे दोषों के स्थानों को कहते हैं। इन में संक्षेप से वायु श्रोणि और गुद इन में रहता है। श्रोणि और गुद इनके ऊपर नाभि के नीचे पक्वाशय है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में पित्त का स्थान है । और आमाशय कफ का स्थान है ॥५॥

वक्तव्य—दोषस्थानानि—शरीर में वात पित्त और कफ सूक्ष्म तथा स्थूल और प्रसादरूप तथा मलरूप इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं में मिलते हैं—शरीरधातवः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण मलभूताः प्रसादभूताश्च । (चरक) । वात, पित्त और कफ सूक्ष्मावस्था में अथवा प्रसादावस्था में सर्वशरीरव्यापी तथा सर्वशरीरचर होते हैं—ते व्यापिनः। (वाग्भट)। सर्वशरीरचराः खलु वातपित्तश्लेष्माणः। (चरक)। परन्तु जहाँ जहाँ ये विकृत रूप से, स्थूल रूप से, मल रूप से या क्रिया विशेषरूप से उपस्थित होते हैं, उन स्थानों को वात, पित्त, और कफ के स्थान विशेष बोधसौकर्यार्थ मानते हैं। समासेन—प्रत्येक दोष के शरीर में कई स्थान होते हैं । उनमें से सब से प्रधान स्थान का निर्देश करने के लिये समासेन शब्द का उपयोग किया है । शरीर का मुख्य आधार आहार होने के कारण उस के ग्रहण, पचन और उत्सर्जन की दृष्टि से ही दोषों के प्रधान स्थानों का उल्लेख यहाँ किया गया है । श्रोणिगुदसंश्रयः—कटि तथा मलाशय जिसका स्थान है। वायु का प्रधान कार्य विक्षेप यानि बाहर फेंकना है । यह कार्य सब से अधिक महास्रोत के अन्तिम हिस्से में होता है, जहाँ पक्व वस्तुएँ अर्थात् अन्न के ऊपर पाकक्रियापूर्ण होने के पश्चात् बची हुई त्याज्य वस्तुएँ आती हैं। इसलिये इस हिस्से को पक्वाशय भी कहते हैं। अंग्रेजी में पक्वाशय को 'लार्ज इन्टेस्टाइन' (Large Intestine) यानि स्थूलान्त्र कहते हैं। चरक में वात का प्रधान स्थान पक्वाशय ही कहा है—अत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्। कारण यह है कि मलोत्सर्ग के समय सम्पूर्ण स्थूलान्त्र में पुरःसारण (Peristalsis) की क्रिया प्रारंभ होकर मल बाहर फेंका जाता है । इस क्रिया में कटिविभाग की वातनाडियाँ भी सहायता करती हैं। इसलिये 'श्रोणिगुदसंश्रयः' ऐसा उल्लेख यहाँ किया गया है। पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य—स्थूलान्त्र और आमाशय के मध्य का स्थान पित्त का है। इस से क्षुद्रान्त्र (Small Intestine) अभिप्रेत है । लाला और जाठर रस के अतिरिक्त बाकी सर्व पाचक रस क्षुद्रान्त्र में होते हैं। पित्त और अग्न्याशय रस (Pancreatic Juice)

---

[१] नर्ते देहः इत्यतः पूर्वम् 'अतो गद्योक्तस्यार्थस्य संग्रहश्लोक' इति क्वचिदधिकः पाठः.

क्षुद्रान्त्र के प्रारंभिक हिस्से में ही आते हैं। तीसरा आंत्र रस (Śuccus Intericus) प्रायः आन्त्र भर होता है। ये तीन रस मिलकर अन्न पाचन का कार्य पूरा करते हैं। इसलिये क्षुद्रान्त्र पित्त का प्रधान स्थान माना गया है। चरक में पित्त का स्थान आमाशय लिखा है—अत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्। परन्तु चरक जितने स्थान को आमाशय कहते हैं, उसमें सुश्रुत का बताया हुआ संपूर्ण पित्त का स्थान समाविष्ट हो जाता है। नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः। अशितं खादितं लीढं पीतं चात्र विपच्यते॥ आमाशयश्लेष्मणः—श्लेष्मा का स्थान आमाशय है। आमानां भुक्तद्रव्याणामाशय आमाशयः। जिस में भुक्त द्रव्यों का पचन आधा ही होता है, यानि जिस में अर्धपक्व भुक्त द्रव्य होते हैं, वह आमाशय है। चरक में कफ का प्रधान स्थान 'उरः' बताया है—अत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्। वाग्भट में भी कफ का प्रधान स्थान उरः ही बताया है—कफस्य सुतरामुरः।

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते। तत्र वातस्य वातव्याधौ वक्ष्यामः; पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च; श्लेष्मणस्तूरःशिरःकण्ठसन्धय इति पूर्वोक्तं च; एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ॥६॥

अब फिर इन के पाँच पाँच स्थान प्रकट किये जाते हैं। वायु के स्थान वातव्याधियों में वर्णन करेंगे। पित्त के स्थान यकृत्प्लीहा, हृदय, दृष्टि, त्वचा और पूर्वोक्त क्षुद्रान्त्र हैं। कफ के स्थान छाती, शिर, कण्ठ, संधि और पूर्वोक्त आमाशय हैं। दोषों की अविकृतावस्था में ये उन के स्थान होते हैं ॥६॥

वक्तव्य—यहाँ दोषों के जो पाँच भेद होते हैं, उनके अनुसार पाँच पाँच स्थान वर्णन किये हैं। चरक में इस दृष्टि से दोषों का वर्णन न होने के कारण और भी कुछ अधिक स्थान बताये हैं—स्वेदो रसो लसिका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि। उरः शिरो ग्रीवा पर्वण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि। बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि च वातस्थानानि। (सूत्र. अ. २०)।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥७॥

जैसे चंद्रमा, सूर्य और वायु विसर्ग, आदान और विक्षेप इन कर्मों द्वारा जगत् को धारण करते हैं वैसे ही कफ, पित्त और वायु विसर्ग, आदान और विक्षेप इन कर्मों द्वारा शरीर को धारण करते हैं ॥७॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि बाह्य जगत् के चंद्रमा, सूर्य और वायु और शरीरगत कफ, पित्त और वायु इनका स्वरूप भी एक है तथा क्रियायें भी एक हैं। सुश्रुत तथा चरक में इनकी अभेदता और भी वर्णन की है—तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति। सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः। अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः॥ चरक का तो यह भी कहना है कि बाह्य जगत् के चंद्रमा, सूर्य और वायु शरीरगत वात, पित्त और कफ तथा बल के कारण हैं—तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते॥ विसर्ग—विसृजति जनयत्याप्यमंशमिति विसर्गः। चंद्रमा अपनी अमृत तुल्य किरणों द्वारा बाह्य जगत् को स्निग्ध और शीतल रखता है। कफ भी शरीर को अपने प्रभाव से स्निग्ध और शीत रखता है। आदान—आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशमादानम्। सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी का जलांश ग्रहण करता है। पित्त शरीर में अन्न रस का ग्रहण करता है। पक्त्वा तस्यान्नरसस्याहरणमादानम्। विक्षेप—शीतोष्णवर्षादीनां यथायोगं प्रेरणम्। बाह्य जगत् में वायु शीत, उष्ण, मेघादि का प्रेरण यथा आवश्यक करके जगत् की रक्षा करता है। वायु शरीर में मलमूत्र का विक्षेप तथा पित्तादिक रसों का स्रावण करके रक्षा करता है। सोम का बाह्य जगत् में कार्य—सोमः शिशिराभिर्भाभिरापूरयन् जगदाप्याययति शश्वत्। (चरक)। शरीर में कार्य—संधिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति॥ सूर्य का जगत् में कार्य—रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहम्। (चरक)। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ शरीर में पित्त का कार्य—रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पंचधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति॥ वायु का बाह्य जगत में कार्य—धरणी धारणं, ज्वलनो ज्वालनं, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसां, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानाम्। (चरक)। शरीर में कार्य—समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानाम्। विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंहारकरः। (चरक)।

तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति?। अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति; क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ॥८॥

अब यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि पित्त से अग्नि कोई पृथक् है अथवा क्या पित्त ही शारीरिक अग्नि है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में पित्त से अन्य और शारीरिक अग्नि कोई प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि आग्नेयभाव के कारण पित्त से दाह पाक आदि कार्य वर्तमान होने पर अग्नि के समान ही उपचार किया जाता है; अतएव पित्त अन्तराग्नि है। तथा अग्नि गुण तुल्य पित्त के क्षीण होने में अग्निसमान (उष्ण) द्रव्यों का उपयोग करने से, पित्त के बढ़ने में शीतल उपचार करने से और शास्त्राधार से हम यह देखते हैं कि पित्त के अतिरिक्त और अग्नि नहीं है ॥८॥

वक्तव्य—आयुर्वेद में अनेक समय पित्त और अग्नि इन का अभेदरूप से उल्लेख होता है—समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये। (चरक)। जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते॥ (सुश्रुत)। संधुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम्। औदर्योऽग्निर्यथा बाह्यः स्थालिस्थं तोयतंडुलम्॥ (वाग्भट)। इसलिये पित्त या अग्नि आदान कर्म करता है इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित करके उसका उत्तर आगम, प्रत्यक्ष और अनुमान इनके द्वारा यहाँ दिया है। तत्र—आदान कर्म में। उपचार—व्यवहार।

आगम—समस्त आयुर्वेदशास्त्र। प्रत्यक्ष प्रमाण—दहन पचनादि कर्म से पित्त का आग्नेयत्व प्रत्यक्ष होता है । अनुमान प्रमाण—सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषस्तु। इस नियम के अनुसार क्षीण पित्त में उष्ण द्रव्यों का उपयोग और वृद्ध पित्त में शीतल द्रव्यों का उपयोग पित्त का और अग्नि का अभेद अनुमान से सिद्ध करता है । आगमप्रमाण—'ऊष्मा तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान् स कायाग्निः ।' 'पक्तिरूष्मा च—पित्तकर्माविकारजम् । तथा प्रथम निर्दिष्ट किये हुए चरक, सुश्रुत, वाग्भट के श्लोक ये सब आगम प्रमाण हैं। इस प्रकार यद्यपि व्यवहार में दोनों का अभेद है तथापि वास्तव में पित्त और अग्नि एक वस्तु नहीं है, उनमें भेद है—क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः । पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ तीक्ष्णः पित्तेनाग्निः ॥ कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम् । आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्। द्रवं स्निग्धमधोगं च पित्तं वह्निरतोऽन्यथा ॥

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि[1]; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा; यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः; यत् पित्तं हृदयसंस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः; यद्दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः; यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः ॥९॥

पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित हुआ वह पित्त ईश्वरीय प्रेरणा से विशेष प्रकार की परिपाटी द्वारा चारों प्रकार के अन्नपान को पकाता है और आहार प्रसादाख्यरस और मलरूप मूत्र पुरीष इनको पृथक् पृथक् करता है और वहीं स्थित हुआ अन्य चार पित्तस्थानों तथा समस्त शरीर को अपनी शक्ति से और उष्णत्वादि कर्म से अनुगृहीत करता है। इसी पित्त की संज्ञा पाचकाग्नि है। जो यकृत् और प्लीहा में रहता है, उस पित्त की संज्ञा 'रंजक अग्नि' है। वह रस को रक्त बनाता है। जो पित्त हृदय में स्थित होता है, उसकी संज्ञा 'साधकाग्नि' है। वह पित्त वांछित मनोरथ का साधन करने वाला होता है। जो पित्त दृष्टि में रहता है, उसकी संज्ञा 'आलोचक अग्नि' है। यह रूपग्रहण करने का अधिकारी है। जो पित्त त्वचा में होता है, उसकी संज्ञा 'भ्राजक अग्नि' है। वह मर्दन, सेचन, अवगाहन, लेपनादि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाता है और कान्ति का प्रकाशक है ॥९॥

वक्तव्य—चतुर्विधम्—'अशितपीतलीढखादितम्' ; (चरक)। विवेचयति—सार और त्याज्य भाग को पृथक् करता है। रसदोषमूत्रपुरीषाणि—आहार प्रसादाख्य सार तथा मलरूप मूत्र और विष्ठा। दोष का अर्थ मलस्वरूप वात पित्त कफ ऐसा भी हो सकता है—तत्र आहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः । (चरक) । पाचकोऽग्निः—पित्त का यह प्रकार मूर्त है। इस में अन्नपचन के लिये जो जो शारीर रस उपयोगी होते हैं, वे सर्व समाविष्ट होते हैं। पाचक रसों का (Digestive juices) मुख्य स्थान क्षुद्रान्त्र और उसमें भी उसका प्रथम भाग होता है। इसको आयुर्वेद में ग्रहणी और अंग्रेजी में 'ड्यूडीनम' (Duodenum) कहते हैं—षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥ परंतु क्षुद्रान्त्र के अतिरिक्त मुख में लाला और जठर में जाठर रस (Gastric juice) अन्न पचन में मदद करते हैं। अन्न पचन में निम्न रस सहयोग देते हैं—१ लाला, २ जाठररस, ३ पित्त, ४ अग्न्याशयरस, और ५ आन्त्ररस। चतुर्विध खाद्य द्रव्य मनुष्य जो शरीररक्षा के लिये सेवन करता है, उनका पचन इन रसों द्वारा हुआ करता है । चतुर्विध का प्राचीन कल्पना के अनुसार अर्थ ऊपर दिया हुआ है। नवीन कल्पना के अनुसार चतुर्विध का अर्थ निम्न चार प्रकार के खाद्य द्रव्य हैं। १ मांसजातीय (Protein), २ मेदजातीय (Fat), ३ शालिजातीय (Carbohydrates), और ४ खनिज पदार्थ (Salts)। प्रत्येक रस का कार्य विशिष्ट होता है और सर्वरस आपस में मिलकर चतुर्विध खाद्य द्रव्यों का पाचन पूर्ण करते हैं। तत्पश्चात् सार भाग का शोषण श्लैष्मिक कला से होकर त्याज्य भाग आन्त्र में ही पृथक् हो जाता है । इस प्रकार शोषण और पृथक्करण के लिये खाद्य द्रव्यों का विश्लेषण होकर छोटे अणु यौगिक बनना आवश्यक है । क्योंकि खाद्य द्रव्य महीन होने पर भी ज्यों के त्यों शोषित नहीं हो सकते, न इनसे शरीर के धातु बन सकते हैं। पाचक रसों की क्रिया से जल और खनिज पदार्थों के अतिरिक्त सर्व पदार्थों का विश्लेषण होता है। प्रोटीनों का परिवर्तन सीरम अल्ब्युमेन, सीरम ग्लोब्युलिन, फाइब्रिनोजन इत्यादि अणु यौगिकों में होता है। चरबी ग्लिसरीन (Glycerine) और विविध अम्ल के संयोग से बनती है। अग्न्याशय रस की क्रिया से चरबी के ग्लिसरीन और अम्ल पृथक् पृथक् हो जाते हैं। तत्पश्चात् अम्ल का संयोग क्षार के साथ होकर साबुन बनता है। अब ये साबुन और ग्लिसरीन शोषित होते हैं । शालिजातीय पदार्थों का परिवर्तन फलशर्करा और द्राक्षाशर्करा (Fructose and Glucose) में होकर उन का शोषण होता है। खनिज पदार्थों पर पाचक क्रिया नहीं होती है। वे ज्यों के त्यों शोषित हो जाते हैं। इन चतुर्विध पदार्थों में कुछ चीजें पचने योग्य नहीं होतीं। कुछ पचने योग्य होने पर भी अग्नि की मन्दता के कारण या चर्वण से महीन न होने के कारण पच नहीं जातीं यानि उन का कुछ भाग अधपचा ही रह जाया करता है। पचे हुए भाग का पूर्ण शोषण नहीं होता। ये सब चीजें विष्ठा के रूप में शरीर से बाहर निकल जाया करती हैं। इन के सिवाय विष्ठा में सड़न के कारण उत्पन्न हुए कुछ पदार्थ, अनेक प्रकार के जीवाणु, आन्त्र की श्लैष्मिक कला की खराब हुई सेलें और पाचक रसों के कुछ भाग (जैसे

---

[1] 'अन्नरसमूत्रपुरीषाणि'. 'वातमूत्रपुरीषाणि'.

पित्त) होते हैं। मूत्र की उत्पत्ति आँत में नहीं होती। मूत्रोत्पत्ति के विषय में विशेष विवरण निदानस्थान के अश्मरी चिकित्सा में किया जायगा। अन्नपचन का कुछ अधिक विवरण ४६ वें अध्याय के ५२४ वें श्लोक के वक्तव्य में किया जायगा। रंजकोऽग्निः—अन्नरस का रंजन करने के कारण इस को रंजक पित्त या रंजक अग्नि कहते हैं। इस का स्थान यकृत् और प्लीहा है और आधुनिक खोज से अस्थिमज्जा है। वाग्भट में इसका स्थान आमाशय लिखा है—आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनात्। इस विषय का विशेष विवरण १४ वें अध्याय में किया गया है। साधकोऽग्निः—इस का स्थान हृदय है। परन्तु हृदय के रक्त संचालन के कार्य से इस का कोई संबंध नहीं है। वह कार्य हृदयस्थ व्यान वायु का है। प्राचीन कल्पना के अनुसार हृदय रक्तसंचालन तथा सुख, दुःख, बुद्धि और मन का स्थान माना गया है—हृदये चित्तसंवित् (योगसूत्र)। देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम्। तत्संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः॥ (नाडीज्ञानम्)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से सुख दुःखादि कार्य मस्तिष्क में होते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से कुछ लोग हृदय का अर्थ मस्तिष्क भी करते हैं। साधकपित्त बुद्धि मेधा अभिमानादि मानसिक कार्य साधन करता है। इसलिये इसे 'साधक पित्त' कहते हैं—बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्। साधकं हृद्गतं पित्तम्। (वाग्भट)। अर्थात् साधक पित्त का कार्य मानसिक है और इस से मस्तिष्क के विविध कार्य हुआ करते हैं। आलोचकाग्नि—इस का स्थान दृष्टि है और इस का कार्य रूपग्रहण का है। नेत्रगोलक में जो विविध अंग होते हैं, उन में आभ्यंतरीय दृष्टिपटल में रूपग्रहण का कार्य होता है। इस को अंग्रेजी में रेटीना (Retina) कहते हैं। प्रकाश की या बाह्य वस्तु की किरणें नेत्र के भीतर कृष्णमंडल (Cornea), तेजोजल (Aqueous humour), दृष्टिमंडल (Pupil), काँच (Lens) और मेदोजल (Vitreous humour) में से होकर दृष्टिपटल पर पड़ती हैं और वहाँ वस्तु का उलटा प्रतिबिंब होता है। यह पटल नाडीसूत्रों से और विशेष प्रकार के सेलों से बनता है और इन सूत्रों का और सेलों का सीधा सम्बन्ध दृष्टिनाडी के साथ होता है, जो मस्तिष्क में मिलती है। इस दृष्टिपटल का रंग सेलों के भीतर विशेष प्रकार का रंग रहने के कारण नीललोहित होता है। प्रकाश की किरणें दृष्टिपटल पर पड़ने से वहाँ एक विशेष रासायनिक प्रक्रिया होती है। इस क्रिया से पटल की प्रतिक्रिया अम्ल होती है और उस के रंग में भी फर्क हो जाता है, जिस का प्रभाव दृष्टिनाडी द्वारा मस्तिष्क को पहुँचता है, और हम रंग रूपादिक का ग्रहण करते हैं। आलोचक पित्त दृष्टिपटलगत प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है। भ्राजकाग्नि—इस का स्थान त्वचा है और त्वचा का भ्राजन करने से इस को भ्राजक पित्त कहते हैं—त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात् त्वचः। (वाग्भट)। इस पित्त से त्वचा के विविध कार्य व्यवस्थित रूप से होते हैं। यथा—स्वेद उत्पन्न करना, तैलग्रंथियों से तैल उत्पन्न करके त्वचा को मृदु, अक्षत और चमकीली करना, उष्णता का नियमन करना इत्यादि—मात्रामात्रत्वमूष्मणः। (चरक)। संक्षेप में पित्त के कार्य चरक में लिखे हैं—दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्। प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्। (सूत्रस्थान अ. १८)। अग्निकर्मणा अनुग्रहं करोति—शरीर के अन्य स्थानों को अपनी शक्ति से अग्निकर्म द्वारा यानि सार और किट्ट भाग को पृथक् कर के अनुगृहीत करता है। पाचकाग्नि केवल आंत्र में ही नहीं, शरीर के प्रत्येक परमाणु में कार्य करता है और इसी कार्य पर शरीरधातुओं की वृद्धि या क्षति निर्भर होती है—स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः। तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः॥ (वाग्भट)। सप्तभिर्देहधातारो द्विविधाश्च पुनः पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ (चरक)। शरीर में जो अग्नि होती है, उसे 'धात्वग्नि' कहते हैं और सात धातुओं की सात अग्नि हैं। छायानां च प्रकाशकः—वर्ण और प्रभा के आश्रित जो शरीर की कान्ति होती है, उसे छाया कहते हैं—छाया वर्णप्रभाश्रया। (चरक)। इस प्रकार की कान्ति का उत्पादक भ्राजक पित्त है।

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥१०॥

पित्त तीक्ष्ण, पतला, दुर्गंधयुक्त, नीला, पीला, उष्ण और कटुरस है। विदग्ध होने पर वह अम्ल भी हो जाता है ॥१०॥

वक्तव्य—इस श्लोक में प्राकृत और वैकृत अवस्था के पित्त के लक्षण लिखे हैं। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन के अनुसार ये लक्षण केवल पित्त की किट्टावस्था के हैं—किट्टस्वरूपं च यथा—पित्तं तीक्ष्णमित्यादि। निर्दूषित यानि निराम पित्त के लक्षण—आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्। पक्वं विगंधं विज्ञेयं रुचिपक्तिबलप्रदम्॥ साम यानि दूषित पित्त के लक्षण—दुर्गंधं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु। अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्॥ (वृन्दमाधव)। यहाँ जो पित्त के लक्षण वर्णन किये हैं, उन में अम्लता विदग्ध पित्त का लक्षण बतलाया है। परन्तु चरक में अम्लता प्राकृत पित्त का लक्षण दिया है—सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु। इस मतभिन्नता का परिणाम विपाक की मतभिन्नता में हो गया है। इसका वर्णन आगे ४० वें अध्याय में विपाक में किया जायगा।

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्ठात्तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वंगतित्वात्तेजसश्चन्द्र इव आदित्यस्य; स चतुर्विधस्याहारस्याधारः; स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति ॥११॥

यहाँ आगे कफ के स्थान वर्णन करते हैं। श्लेष्म स्थानों में आमाशय (कफ) अग्निविरोधी और अग्नि ऊर्ध्वगतिक होने के कारण पित्ताशय के ऊपर स्थित है, जैसे कि चंद्रमा सूर्य के ऊपर होता है। यह आमाशय चतुर्विध खाद्य द्रव्यों का आधार है। वहाँ यह आहार (कफ के) जलसंबंधी गुणों से द्रवरूप पतला और महीन होकर सुखपूर्वक पचने योग्य हो जाता है ॥११॥

---

१ सरं.

वक्तव्य—तत्र—पाँचों श्लेष्म स्थानों में। प्रत्यनीकत्वात्—कफ कार्य की दृष्टि से पित्त का विरोधी होता है। ऊर्ध्वगतित्वात—ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव के कारण। उपरिष्टात्—ऊपर होता है। उपरिष्टादस्ति इति शेषः। चंद्र इव आदित्यस्य—लाक्षणिक या आलंकारिक दृष्टि से इसका उपयोग समझना चाहिये। अन्यथा प्रत्यक्ष विरोध होता है। पित्त अग्नि के समान और कफ चन्द्र के समान कार्य की दृष्टि से होता है। सूर्य के प्रभाव से पृथिवी तप्त होती है। यदि पृथिवी पर केवल सूर्य का ही कार्य होता रहेगा तो वह अतितप्त होकर झुलस जायगी। इसलिये सूर्य के ऊपर यानि सूर्यविरोधी चंद्र रक्खा है, जो अपने शीतल प्रभाव से पृथिवी का ताप शान्त करता है। वैसे ही शरीर के तैजस पित्त से रक्षा करने के लिये उस के ऊपर कफ रक्खा है, जो अपने शीतल प्रभाव से शरीर का ताप शान्त करता है। आधारः—आमाशय में सेवन किया हुआ भोजन सामान्यतया चार घण्टे तक ठहरता है। और उस की समाई साधारणतया १½ डेढ़ सेर तक होती है। यदि आमाशय में आहार को आधार न मिलता तो बारबार और थोड़ी मात्रा में भोजन सेवन करने की आवश्यकता पड़ती। प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति—भोजन सब से पहले मुख में जाता है। वहाँ चर्वण से वह पीसा (भिन्नसंघात किया) जाता है और लालामिश्रण से गीला (प्रक्लिन्न) हो जाता है। ये दोनों क्रियायें अन्नपचन की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक हैं। वहाँ से अन्न कण्ठ और अन्नमार्ग में से होकर आमाशय में पहुंचता है। आमाशय गतियुक्त होता है। वह सिकुड़ता है और फैलता है, जिस से भोजन पर दबाव पड़ता है और वह खूब मथकर महीन (भिन्नसंघात) हो जाता है। इस के साथ साथ भोजन में आमाशयिक रस मिल कर वह पतला (प्रक्लिन्न) हो जाता है। जब तक भोजन महीन और पतला नहीं होता, तब तक आमाशय में गतियाँ होती रहती हैं और खूब महीन होने के पश्चात् ग्रहणी का द्वार खुल जाता है और अन्नरस ग्रहणी में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार भोजन का कुछ भाग आमाशय के वामांश (जो आया हुआ अन्न का भाण्डार का काम करता है) लेकर उस का मंथन द्वारा रस बनने के पश्चात् ग्रहणी में प्रवेश होता है। जब तक भोजन भिन्नसंघात और विशेष प्रक्लिन्न नहीं होता तब तक आमाशय अन्न को आन्त्र में नहीं जाने देता। परन्तु कठिन पदार्थों को पीसना यह आमाशय जैसे कोमल अंग का काम नहीं है। इसलिये भोजन खूब चबा चबा कर खाना चाहिये। इस प्रकार जो भोजन आमाशय में पतला और महीन होता है, उस पर आन्त्रगत पाचक रसों का कार्य भली भाँति होकर अन्न का पचन और शोषण सुख से (सुखजर) होता है।

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ॥१२॥

(आहार की) मधुरता, पिच्छिलता तथा आर्द्रता के कारण आमाशय में कफ भी शीतल और मधुर ऐसा उत्पन्न होता है ॥१२॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति; उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति; जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते; शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति; सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति ॥१३॥

आमाशय में ही स्थित हुआ वह कफ कफ के अन्य स्थानों को तथा समस्त शरीर को अपने प्रभाव से उदक कर्म के द्वारा अनुगृहीत करता है। वक्षःस्थल में स्थित हुआ कफ अपने पराक्रम से त्रिकस्थान को धारण करता है, और अन्न रस के साथ मिलकर हृदय को अपने कार्य में सामर्थ्य देता है। जिह्वा के मूलस्थान कण्ठ में स्थित हुआ कफ अपनी सौम्यता से जिह्वा इन्द्रिय को सब प्रकार के रसों के ज्ञान में प्रवृत्त करता है। शिर में स्थित हुआ कफ तैलादि संतर्पण का अधिकारी होने के कारण अपने प्रभाव से ज्ञानेन्द्रियों को अपने कार्य में सामर्थ्य देता है। संधिगत श्लेष्मा समस्त संधियों का श्लेषण करने के कारण सर्वसंधियों का अनुग्रह करता है ॥१३॥

वक्तव्य—पंचविध कफ के नाम—आमाशयगत कफ को अन्न का क्लेदन करने के कारण 'क्लेदक कफ' कहते हैं—क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात्। उरःस्थ कफ को 'अवलंबक' कहते हैं। अन्य कफस्थानों का अवलंबन करने का कार्य वाग्भट के मतानुसार उरःस्थ कफ का है—कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलंबनम्। ततोऽवलबकः श्लेष्मा। कण्ठस्थ श्लेष्मा को 'बोधक' कहते हैं—रसबोधनात्। बोधको रसनास्थायी। शिरःस्थ कफ को ज्ञानेंद्रियों का तर्पण करने के कारण 'तर्पक' कहते हैं—शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्। तर्पकः। संधिगत श्लेष्मा को 'श्लेषक' कहते हैं—संधिसंश्लेषाच्छ्लेषकः संधिषु स्थितः। (अ. हृदय)। त्रिक—शिरो बाहुद्वयसंधानस्थानम्। (डल्हण)। डल्हण के अनुसार चक्र और इन्दु त्रिक का अर्थ करते हैं। त्रिक का दूसरा और सामान्य अर्थ पृष्ठ वंश का अधोभाग—स्फिक्सवक्षोः पृष्ठवंशास्थ्नोर्यः संधिस्तत्त्रिकं मतम्॥ जिह्वामूलकंठस्थः—जिह्वाया मूलं यत्र तथाविधे कण्ठ तिष्ठतीति जिह्वामूलकण्ठस्थः॥ उदककर्मणा—जल के गुणों से। आयुर्वेद में कफ शब्द जल तत्त्व के लिये प्रयुक्त होता है और इस दृष्टि से कफ की व्युत्पत्ति निम्न पद्धति से भी की जाती है—केन (जलेन) फलति इति कफः।

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः ॥१४॥

कफ श्वेतवर्ण, भारी, चिकना, लसदार और शीतल होता है, तथा प्राकृतावस्था में मधुर और विकृतावस्था में नमकीन हो जाता है ॥१४॥

शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ, तच्च प्रागभिहितम्; तत्रस्थमेव शेषाणां शोणितस्थानानामनुग्रहं करोति ॥१५॥

रक्त का स्थान यकृत और प्लीहा है। यह पहले (शोणितवर्णनीय अध्याय में) कहे गये हैं। वहाँ से ही रक्त शोणितो-

त्पादक अन्य स्थानों को अपने कार्य करने में सहायता देता है ॥१५॥

वक्तव्य—रक्तोत्पत्ति के संबंध में विशेष विवरण पीछे १४ वें अध्याय में हो चुका है। उससे यह स्पष्ट है कि शरीर में रक्त की उत्पत्ति मज्जा में होती है। परंतु यकृत् और प्लीहा में एक ऐसा पदार्थ बनता है, जिसके अनुग्रह से मज्जा रक्त की उत्पत्ति में समर्थ होती है।

अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः ।
शोणितं गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥१६॥

रक्त न गरम न ठंडा, मधुर, चिकना, लाल रंग का, भारी और आमगंधी होता है तथा पित्त की भांति (जिस द्रव्य से और जैसा विदाह होता है वैसा) रक्त का भी (उसी वस्तु से वैसा ही) विदाह हो जाता है ॥१६॥

एतानि खलु दोषस्थानानि; एषु संचीयन्ते दोषाः। प्राक् संचयहेतुरुक्तः । तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति । तत्र प्रथमः क्रियाकालः ॥१७॥

ये (वातादिक) दोषों के स्थान हैं । इन्हीं स्थानों में दोषों का संचय होता है। संचय का कारण पहले ही वर्णन हो चुका है। इन स्थानों में संचित दोषों के ये लक्षण होते हैं—कोष्ठ में भारीपन और पूर्णता, पीला दिखाई देना या त्वचा का वर्ण कुछ पीला होना, शरीर में कुछ हरारत मालूम होना, अंगों का भारीपन, आलस्य बढ़ना और संचय के कारणों से द्वेष उत्पन्न होना। इसी संचय के समय (दोषों की) चिकित्सा करने का प्रथम काल होता है ॥१७॥

वक्तव्य—दोषस्थानानि—वातादि दोष सर्वशरीरव्यापी होते हुए भी उपर्युक्त स्थानों में अधिक होते हैं अर्थात् इनकी वृद्धि भी इन्हीं स्थानों में प्रथम होती है । संचयहेतु—ऋतुचर्याध्याय में ऋतुपरिवर्तन के अनुसार इनकी वृद्धि किस प्रकार से हुआ करती है, इसका वर्णन हो चुका है । उसके अनुसार वात, पित्त और कफ का संचय अनुक्रम से ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर ऋतु में होता है। इसके सिवाय संचय के कारण अष्टाङ्गहृदय में लिखे हैं—उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति संचयम्। शीतेन युक्ता स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम्। शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते ॥ संचय—अपने ही स्थान में दोष की वृद्धि को संचय कहते हैं—स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणां चय इत्यभिधीयते। चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव। (वाग्भट) । लिंगानि—स्तब्धपूर्णकोष्ठता इत्यादि संचयावस्था के विशेष लक्षण हैं। सामान्य लक्षण चयकारण विद्वेष हैं। वाग्भट में इस लक्षण के साथ 'विपरीतगुणेच्छा' ऐसा दूसरा भी एक सामान्य लक्षण दिया है और दोनों मिलकर दोषसंचय का निदर्शन करते हैं । एक लक्षण से निश्चयपूर्वक दोष का संचय प्रदर्शित नहीं होता है—तदेवं व्यभिचारदर्शनात् प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु विपरीतगुणेच्छा चेति द्वयमपि कर्तव्यम्। तेन यदा तुल्यकालं पुरुषस्य वातसमानगुणेषु तद्वृद्धिहेतुषु प्रद्वेषो जायते वातगुणप्रतिपक्षेषु तत्क्षपणहेतुषु चाभिलाषस्तदा सम्यक् निश्चीयते वातस्योपचितिरिति द्वयमप्येतदुक्तम्। (अरुणदत्त)। जैसे वात के संचय में रूक्षादि वातसामान्य यानि संचयकारक पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होना और स्निग्धादि वातविपरीत पदार्थों की अभिलाषा उत्पन्न होना। ये दोनों प्रकार के लक्षण जब होते हैं, तब वात का संचय समझना चाहिये । क्योंकि प्रकृतिवशात् या सात्म्यवशात् एक प्रकार का लक्षण दिखाई दे सकता है । स्तब्धपूर्णकोष्ठता—स्तब्धकोष्ठता और पूर्णकोष्ठता। मन्दोष्मता—शरीर की उष्णता स्वाभाविक उष्णता से कुछ बढ़ना या भीतर से कुछ गरम मालूम होना। ऊष्मा पित्तादृते नास्ति—अर्थात् पित्त का संचय हो जाने पर शरीर की उष्णता कम होने के बजाय थोड़ी बढ़नी ही चाहिये। इसलिये शरीर ठंडा होना, अग्नि मन्द होना इत्यादिक जो मन्दोष्मता के अर्थ दिये हैं, वे अनुचित प्रतीत होते हैं। इन लक्षणों में 'स्तब्धकोष्ठता' और 'पूर्णकोष्ठता' वातसंचय के लक्षण, 'पीतावभासता' और 'मन्दोष्मता' पित्त संचय के लक्षण, तथा 'अंगानां गौरवम्' 'आलस्यं' ये कफसंचय के लक्षण समझने चाहिये। क्योंकि 'दोषप्रकृतिवैशिष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम् (चरक)' यह वृद्धि का लक्षण है । चयकारण विद्वेष (और विपरीतगुणेच्छा) ये वातादिक दोषों का संचय बतलाने वाले सामान्य लक्षण हैं। प्रथमक्रियाकालः—संचय विषमावस्था की प्रारंभिक स्थिति है। दोषों की समता उत्पन्न करने के लिये जो चिकित्सा करनी चाहिये, उसका आरंभ संचय काल में ही करने से दोषों का प्रशमन शीघ्र हो जाता है। रोगी को भी विशेष दिक्कत नहीं होती और शरीर के धातुओं की भी क्षति नहीं होती। संचय के अनन्तर आने वाली अवस्थाओं में दोष बलवत्तर हो जाते हैं। इसलिये चिकित्सा में सर्व प्रकार की कठिनाई हो जाती है। अतः संचयावस्था में ही दोषों की चिकित्सा प्रारंभ करना चिकित्सा के लिये सर्वोत्तम काल होता है। प्रथम का अर्थ उत्तम तथा प्रधान भी है और यही अर्थ व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ अधिक प्रशस्त है—संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः। ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥ (वाग्भट)। अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चात् विवर्धते । स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः ॥ तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा । भैषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः ॥ (चरक) ।

अत ऊर्ध्वं प्रकोपणानि वक्ष्यामः । तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातलङ्घनप्लवनतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरगरथपदातिचर्याकटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकवल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनीवारमुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारबाष्पवेगविघातादिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते ॥१८॥

यहाँ से आगे (दोषों के) प्रकोपकों (अर्थात् जिन आहार विहारों से दोषों का प्रकोप होता है उन) का वर्णन करेंगे। अधिक बलवान् से लड़ना, अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, गिर पड़ना, दौड़ना, मोच होना, चोट लगना, कूदना, कूदते कूदते चलना, तैरना, रात्रि में जागना, बोझा

उठाना, हाथी घोड़े रथ पर या पैदल अति फिरना, कटु कषाय तिक्त रूक्ष लघु और शीतवीर्य पदार्थों का सेवन, सूखे शाक, सूखा मांस, वरक, उद्दालक, कोरदूष, श्यामाक, नीवार, मूँग, मसूर, अरहर, हरेणु, मटर, निष्पाव इन का सेवन, उपवास, विषमाशन, अध्यशन, अधोवायु मूत्र मल वीर्य छर्दि छींक डकार अश्रु इन के वेगों को रोकना इत्यादि विशेष आहार विहार से वायु प्रकुपित होता है ॥१८॥

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः ।
प्रत्यूषस्यपराह्णे तु जीर्णेऽन्ने च प्रकुप्यति ॥१९॥

वह वायु शीत काल में, बादल के समय में, अति पवन चलने के समय में, विशेष कर वर्षा ऋतु में, प्रभात समय में, अपराह्ण काल में और अन्न का पूर्ण पचन होने के समय में प्रकुपित होता है ॥१९॥

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥२०॥

क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, जले हुए पदार्थ, मैथुन, घूमना, कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, गरम, लघु, दाह उत्पन्न करने वाले, तिल्ली का तेल, खलि, कुलथी, सरसों, अतसी, हरित शाक, गोधा, मछली, बकरा और भेड़ का मांस, दही, मट्ठा, कूर्चिका, मस्तु, सौवीरक, मद्य के अनेक प्रकार, खट्टे फल, कट्वर इत्यादि से पित्त प्रकुपित होता है ॥२०॥

वक्तव्य—विदाहि—विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम्। हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात् ॥ कूर्चिका—दही या तक्र के साथ पकाया हुआ दूध—दध्ना तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूतघनद्रवभागं क्षीरं कूर्चिकेत्युच्यते । (हेमाद्रि)। जो तक्र से बनाई जाती है, वह तक्रकूर्चिका और जो दही से बनाई जाती है, वह दधिकूर्चिका । मस्तु—दही के ऊपर का पानी—दध्नो मण्डस्तु मस्त्विति । कट्वर—स्नेहयुक्त तक्र—सौवीराम्लमथात्यम्लं कांजिकं कट्वरं विदुः। अन्ये तु तदधोभागं तक्रं चात्यम्लतां गतम्। सस्नेहं दधिजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम् ॥

तदुष्णैरुष्णकाले च मेघान्ते च विशेषतः ।
मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति ॥२१॥

वह पित्त उष्ण पदार्थों से, उष्ण काल में, विशेषतया शरद् ऋतु में, मध्याह्न और अर्धरात्र के समय तथा भोजन का पचन होने के समय प्रकुपित हो जाता है ॥२१॥

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषधेत्कटमाषमहामाषगोधूम-तिल-पिष्ट-विकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षु-विकारानूपौदकमांसवसाबिसमृणालकसेरुकशृङ्गाटकमधुर-वल्ली-फलसमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ॥२२॥

दिन में सोना, शारीरिक परिश्रम न करना, आलस्य, मधुर, अम्ल, लवण, शीत, स्निग्ध, पचने में भारी, लसदार, अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन, हायनक, यव, नैषध, इत्कट, उड़द, महामाष, गेहूँ, तिल और पिष्टी के पदार्थ, दही, दूध, तिल, चावल और उड़द की खिचड़ी, खीर, ईख के पदार्थ, आनूप और औदक प्राणियों का मांस, वसा, कमलनाल, कसेरु, सिंगाड़े, मधुर फल, वल्लीफल, समशन और अध्यशन इत्यादि से कफ प्रकुपित होता है ॥२२॥

वक्तव्य—अभिष्यन्दि — दोषधातुमलस्रोतसामतिशयक्लेदप्राप्तिजनकम् । (डल्हण)। पैच्छिल्याद्गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः । धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ (शार्ङ्गधर)। नैषध—'कोरक' इत्याख्यायते, स च धान्यविशेषः । (डल्हण)। निषधदेशीय शालिधान्य । इत्कट—खगली (डल्हण), धान्यविशेषः । मधुरवल्लीफल—मधुर फल यथा ताल नारिकेलादि और वल्लीफल अलाबु कुष्मांड प्रभृति । समशन—हित और अहित मिला हुआ भोजन । अध्यशन—पहले का किया हुआ भोजन बिना पचे और भोजन करना ।

स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः ।
पूर्वाह्णे च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति ॥२३॥

वह कफ शीतल पदार्थों से, शीतकाल में, विशेष कर वसन्त ऋतु में, पूर्वाह्ण और प्रदोष के समय तथा भोजन करते ही प्रकुपित हो जाता है ॥२३॥

वक्तव्य—शीतकाले—हेमन्त ऋतु में । पूर्वाह्णे—पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिंगम् । इसलिये पूर्वाह्ण में कफ का प्रकोप होता है । वातादि दोषों का प्रकोपकाल ऋतु, दिन, रात्रि और भोजन के सम्बन्ध में ध्यान में रखने के लिये वाग्भट के निम्न श्लोक बहुत उपयोगी हैं—चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु । वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु । वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते ॥२४॥

जिन आहार विहारों से पित्त प्रकुपित होता है उनका सेवन, वारंवार द्रव, स्निग्ध, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन, दिन में सोना, क्रोध, अग्नि और सूर्य का ताप, चोट लगना, अजीर्ण, विरुद्धाशन, अध्यशन इत्यादि कारणों से रक्त प्रकुपित हो जाता है ॥२४॥

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति ।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात्प्रकोपणे ॥२५॥

चूँकि रक्त वातादि दोषों के बिना कभी प्रकुपित नहीं होता है, इसलिये उस के कोप का काल दोषों के अनुसार समझना चाहिये ॥२५॥

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते । तत्र द्वितीयः क्रियाकालः ॥२६॥

इन दोषों के प्रकोप से पेट में व्यथा और वायु का संचार, खट्टी डकार, प्यास, दाह, अन्नद्वेष और जी मचलाना ये चिह्न होते हैं। यह कोप का समय चिकित्सा का दूसरा काल है ॥२६॥

वक्तव्य—प्रकोप—संचय और प्रकोप दोनों अवस्थाएँ दोषों की वृद्धि के भेद हैं—वृद्धिर्हि द्वेधा चयप्रकोपभेदेन। (अष्टाङ्गसंग्रह)। चय वृद्धि की प्रारंभिक अवस्था है, जिसमें दोषों का केवल संचय होता है और प्रकोप दूसरी अवस्था है, जिसमें दोषों का विलयन होकर स्थानांतर करने की स्थिति उत्पन्न होती है—चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव कोपस्तून्मार्गगामिता। (वाग्भट)। देहेऽतिरूपा वृद्धिश्चयः। विलयनरूपा वृद्धिः प्रकोपः। (डल्हण)। चयावस्था में रोग के कोई खास लक्षण नहीं दिखाई देते। परन्तु प्रकोपावस्था में वातादि दोषों के खास खास लक्षण और रोग का प्रारंभ होता है—लिंगानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसंभवः। (वाग्भट)। यह प्रकोप का समय चिकित्सा करने के लिये दूसरा काल है अर्थात् यदि चयावस्था में दोषों का प्रशमन नहीं किया गया हो तो प्रकोपावस्था में करना चाहिये।

अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्यामः—तेषामेभिरातङ्कविशेषैः प्रकुपितानां पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति। तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये। स हि रजोभूयिष्ठः, रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्। यथा—महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति। तद्यथा—वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानि; इत्येवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥२७॥

यहाँ से आगे दोषों का प्रसर वर्णन करते हैं। जैसे—सुराबीज, जल और पिष्ट मिलके रात भर रहने से उनमें उफान पैदा होता है (और वे पात्र के बाहर निकल आते हैं) वैसे (बलवद्विग्रहादि) विशेष कारणों से प्रकुपित दोषों में (कुछ काल के बाद) उद्रेक उत्पन्न होकर प्रसर होता है। यद्यपि दोष अचैतन्य हैं तथापि वायु गतिमान् होने से इनके प्रसरण का कारण होता है। रजोगुण सर्वभावों का प्रवर्तक है और वायु रजोगुणप्रधान है। जैसे जल का भारी संचय और अधिक बढ़न ये सेतु को तोड़कर दूसरे जलों से मिलकर सर्वत्र फैलता है, इसी भाँति दोष भी (बहुत बढ़ने से अपने स्थान की मर्यादा का उल्लंघन कर) कभी अकेले, कभी दो मिलकर, कभी तीनों मिलकर, कभी रक्त को भी साथ लेकर अनेक प्रकार से प्रसरित होते हैं। जैसे—१ वात, २ पित्त, ३ कफ, ४ शोणित, ५ वातपित्त, ६ वातकफ, ७ पित्तकफ, ८ वातशोणित, ९ पित्तशोणित, १० कफशोणित, ११ वातपित्तशोणित, १२ वातकफशोणित, १३ पित्तकफशोणित, १४ वातपित्तकफ, १५ वातपित्तकफशोणित। इस भांति पन्द्रह प्रकार से प्रसरित होते हैं ॥२७॥

वक्तव्य—आतङ्क—इसका मूल अर्थ भीति, रोग या कृच्छ्र जीवन है—'आतङ्कः कृच्छ्रजीवने'। परंतु यहाँ दुःखमय जीवन यानि रोग का कारण समझना चाहिये—'कार्यकारणयोरभेदात्'। पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इव—किण्व को सुराबीज या खमीर कहते हैं। अंग्रेजी में इसको यीस्ट (Yeast) कहते हैं। यह एक वनस्पतिश्रेणी का (Bacteria) जीवाणु है। यह एक सेल का बना हुआ और आकार में गोल, दीर्घवृत्त या लंबा होता है। इसका एक प्रकार जिसको साक्यारोमाईस (Saccharomyce) कहते हैं, पिष्टमय पदार्थों में और शर्करा में अभिषंग (Fermentation) उत्पन्न करके भिन्न भिन्न प्रकार के मद्य बनाता है। अतः इस प्रकार के किण्व का उपयोग मद्य की उत्पत्ति करने में बहुत किया जाता है। कुछ सुराबीज त्वचा में रोग उत्पन्न करते हैं। इसका नाम 'ब्लास्टोमाइकोसीस' (Blastomycosis) है। क्वचित् ये कैन्सर सार्कोमा जैसे दुष्ट अर्बुदों में भी पाये जाते हैं। इसलिये कुछ शास्त्रज्ञ इनको दुष्ट अर्बुदों का कारण भी मानते हैं। जैसे सुराबीज पिष्ट और जल मिलाकर एक पात्र में कुछ काल तक रखने से आपसे आप अपने ही स्वभाव से पात्र के बाहर आने लगते हैं, वैसे दोष प्रकुपित अवस्था में अपने स्थान में कुछ काल तक रहने के पश्चात् स्थान के बाहर अपने आप फैलने लगते हैं। वायुर्गतिमत्त्वात्—वायु गतिमान् है और अन्य दोष पंगु है। इसलिये उनका स्थानांतर वायु के बिना कभी नहीं हो सकता—स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च। अचिंत्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ॥ (सुश्रुत)। विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात्। स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥ (वाग्भट)। पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ (शार्ङ्गधर)। वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः। वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ॥ (चरक)। रजोभूयिष्ठः—रजोगुणप्रधान—तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च। (सुश्रुत)। रजश्च प्रवर्तकम्—सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों में प्रवर्तन का कार्य केवल रजोगुण करता है—सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव तमःप्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ (सांख्यकारिका)। रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ (गीता)। अष्टांगसंग्रह में भी लिखा है—सत्त्वबहुलम् आकाशं, रजोबहुलो वायुः। तेषामप्रतिघातश्चलत्वं...क्रमाल्लिंगानि ॥

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत्तत्र वर्षति ॥२८॥
नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति ॥२९॥

जिस भाँति आकाश में जहाँ बादल होता है वहाँ ही वर्षा होती है, उसी भाँति शरीरांग के संपूर्ण, आधे अथवा एक हिस्से में जहाँ अत्यंत कुपित दोष फैलते हैं, वहाँ ही

विकार करते हैं ॥२८॥ परन्तु जो दोष अत्यंत कुपित नहीं हैं, उनकी यदि चिकित्सा न की जाय तो शरीर के स्रोत में वे दबकी मारके स्थित होते हैं और कालान्तर में अपने प्रकोपक कारण को प्राप्त करके फिर कुपित हो जाते हैं ॥२९॥

वक्तव्य—अंग—शिर, मध्य, बाहु और जंघा । दोषः—भृशं कुपितो दोषो यत्रांगे 'प्रसरति' इति शेषः । लीनः—अधिक कुपित न हुआ दोष अर्थात् हीनशक्तिक दोष रोगोत्पादन में समर्थ नहीं होता । तथा चिकित्सा के विना वह दोष सम भी नहीं हो सकता है । ऐसी अवस्था में (निष्प्रतिक्रियः) वह दोष कुपित परन्तु रोग उत्पन्न करने में असमर्थ हुआ शरीर के एक आध स्रोतस में दबकी मारके (लीनः) स्थित होता है और भविष्य काल में सहायक कारण मिलने से पूर्णतया प्रकुपित होकर विकार उत्पन्न कर सकता है । अर्थात् इस समय अल्प हेतु से भी पूर्ण प्रकुपित होकर प्रबल विकार उत्पन्न कर सकता है । वाग्भट में लिखा है—तत्रस्थाश्च विलंबेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः । ते कालादिवलं लब्ध्वा कुप्यत्यन्याश्रयेष्वपि ॥

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः, पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्, कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्; एष क्रियाविभागः ॥३०॥

उनमें से पित्त के स्थान में पहुँचे हुए वायु की चिकित्सा पित्त की भाँति करनी चाहिये । कफ के स्थान में पहुँचे हुए पित्त की चिकित्सा कफ की भाँति करनी चाहिये । वायु के स्थान में प्राप्त हुए कफ की चिकित्सा वायु की भाँति करनी चाहिये । इस प्रकार से (अन्य स्थान में प्राप्त हुए) दोषों की चिकित्सा होती है ॥३०॥

वक्तव्य—अन्य स्थानगत दोषों की चिकित्सा तीन प्रकार से होती है । इनमें से पहले प्रकार की चिकित्सा यहाँ वर्णन की है । इस चिकित्सा का तत्त्व यह है कि जब एक दोष (आगंतु) दूसरे के स्थान में प्राप्त होता है, तब उस स्थान के दोष (स्थानिदोष) की चिकित्सा करनी चाहिये । वाग्भट ने यह बतलाया है कि यदि आगन्तु दोष निर्बल हो तो स्थानिक दोष की चिकित्सा करनी चाहिये—तत्राऽन्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु च । कुर्याच्चिकित्साम ॥ दूसरी पद्धति यह है कि आगन्तु दोष बलवान् हो तो उसकी चिकित्सा प्रथम करनी चाहिये—कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ॥ तीसरी पद्धति यह है कि प्रथम स्थानिदोष की चिकित्सा कर पश्चात् आगन्तु दोष की भी चिकित्सा करनी चाहिये—स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरुद्धतः । आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा ॥ (वाग्भट) । चरक में स्थानांतरगत दोषों की स्वेदन चिकित्सा के लिये तृतीय पद्धति को अंगीकार किया है—आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते । रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति; तत्र तृतीयः क्रियाकालः ॥३१॥

इस प्रकार प्रकुपित और फैलने वाले (दोषों में) विमार्गगमन और अफारा वायु के लक्षण हैं; गरमी, चूसने की सी पीड़ा, दाह और धूम की सी डकार पित्त के लक्षण हैं; और अरुचि, अपरिपाक, थकावट और वमन ये कफ के लक्षण हैं। यह चिकित्सा का तीसरा समय है ॥३१॥

वक्तव्य—विमार्गगमनम्—अपना स्वाभाविक मार्ग छोड़ कर अन्य मार्ग में प्रवेश करना । आटोप—पेट में वेदना के साथ गुड़गुड़ शब्द होना—आटोपो गुडगुडाशब्दः प्रोक्तो जठरसंभवः । अंग्रेजी में इसको 'बोर्बोरिग्मस' (Borborygmus) कहते हैं । संचय, प्रकोप और प्रसर की अवस्थाओं में दोषों की तुलना—संचय की अवस्था में दोष ठोस घृत के समान होते हैं । प्रकोप की अवस्था में उष्णता से उत्क्वथनबिंदु तक पहुँचे हुए पतले घृत के समान होते हैं । प्रसर की अवस्था में उबलते हुए घृत (जिस में से फेन बुद्बुद और छींटें इधर उधर उड़ रही हैं) के समान होते हैं । इन तीनों अवस्थाओं में चिकित्सा हेतुविपरीत होती है ।

अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः । एवं प्रकुपितास्तांस्तान् शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति । ते यदोदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रध्युदराग्निसङ्गानाहविसूचिकातिसारप्रभृतीन् जनयन्ति; बस्तिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोषप्रभृतीन्; वृषणगता वृद्धीः; मेढ्रगता निरुद्धप्रकशोपदंशशूकदोषप्रभृतीन्; गुदगता भगन्दरार्शःप्रभृतीन्; ऊर्ध्वजत्रुगतास्तूर्ध्वजान्; त्वङ्मांसशोणितस्थाः क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पांश्च; मेदोगता ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डालजीप्रभृतीन्; अस्थिगता विद्रध्यनुशयीप्रभृतीन्; पादगताः श्लीपदवातशोणितवातकण्टकप्रभृतीन्; सर्वाङ्गगता ज्वरसर्वाङ्गरोगप्रभृतीन्; तेषामेवमभिनिविष्टानां पूर्वरूपप्रादुर्भावः; [1]तं प्रतिरोगं वक्ष्यामः । तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः ॥३२॥

अब इसके आगे स्थानसंश्रय वर्णन करते हैं। इस प्रकार प्रकुपित हुए दोष शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में प्रवेश कर भिन्न भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं । जब ये उदरविभाग में स्थित होते हैं तब गुल्म, विद्रधि, उदर, जठराग्नि की मन्दता, आनाह, विसूचिका, अतिसार इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं। बस्तिविभाग में स्थित होने से प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात, अन्य मूत्रदोष इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । वृषण में स्थित होने पर (सप्तविध) वृद्धि उत्पन्न करते हैं । शिश्न में स्थित होने पर निरुद्धप्रकश, उपदंश, शूकदोष इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । गुदा में स्थित होने से भगन्दर अर्श इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । जत्रु के ऊपर विभाग में स्थित होने से ऊर्ध्वज रोग उत्पन्न करते हैं । त्वचा, मांस और शोणित में स्थित होने से क्षुद्ररोग, कुष्ठ और विसर्प उत्पन्न करते हैं । मेद

---

[1] तत्.

में स्थित होने से ग्रंथि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं। अस्थि में स्थित होने से विद्रधि, अनुशयी इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं। पाद में स्थित होने से श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं। सर्वांग में फैलने से ज्वर सर्वांगरोग इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार (उदरादि भिन्न भिन्न स्थानों में) निविष्ट हुए दोषों से (गुल्मादि व्याधियों का) पूर्वरूप (संश्रय की अवस्था में) उत्पन्न होता है। उसका वर्णन प्रत्येक व्याधि के समय करेंगे। रोगों के पूर्वरूप के समय चौथा चिकित्सा काल होता है ॥३२॥

वक्तव्य—स्थानसंश्रय—कुपित दोषों का प्रसार शरीर में रसायनी द्वारा होता है और जहाँ कुछ वैगुण्य होता है, वहाँ दोष स्थित होकर रोग उत्पन्न करते हैं, यह स्थानसंश्रय है—प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः। रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥ **(वाग्भट)**। व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ क्षिप्यमाणस्तु वैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः। तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः। दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥ **(चरक)**। कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगः खवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ **(सुश्रुत)**। वृद्धिः—वातपित्तकफशोणितमेदोमूत्रान्त्रनिमित्ताः सप्त वृद्धयः ॥ निरुद्धप्रकश—यह एक शिश्न की प्रायः स्वाभाविक निवृत्ति होती है, जिसमें शिश्न के ऊपर के चर्म का छिद्र इतना छोटा हो जाता है कि उस छेद में से मणि बाहर नहीं आ सकता। इसको अंग्रेजी में 'फायमोसिस' (Phimosis) कहते हैं। ऊर्ध्वजानु—कर्ण, नासा, अक्षि, शिर इनके रोगों को। क्षुद्ररोग—यह रोग का एक समुदाय है जिसमें अजगल्लिकादि चौवालीस प्रकीर्ण छोटे मोटे रोगों का समावेश (निदान अ. १३) किया गया है। अपची—कण्ठमाला। इसको अंग्रेजी में स्क्रोफ्यूला (Scrofula) कहते हैं। अनुशयी—क्षुद्ररोगान्तर्गत एक रोग। श्लीपद—फीलपाव (Elephantiasis)। वातशोणित—वातरक्त, नकरस (Gout)। पूर्वरूपम्—व्याधि उत्पन्न होने के पूर्व होने वाले व्याधि के सूचक दोषज या अदोषज, सामान्य या विशेष जो लक्षण दिखाई देते हैं, उनको पूर्वरूप कहते हैं। पूर्वरूपं नाम प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः। **(चरक)**। इस सूत्र के व्याख्यान में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्पत्तेः प्राक् प्रागुत्पत्ति, एतेन उत्पत्तेः पूर्वं यद् भविष्यद्व्याधेर्लक्षणं तत्पूर्वरूपमित्यर्थः। प्रायः यह पूर्वरूप कुपितदोष विशिष्टस्थान में संश्रित होने के ही समय उत्पन्न होते हैं—स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्। दोषाः कुर्वन्ति यल्लिंगं पूर्वरूपं तदुच्यते ॥ अंग्रेजी में पूर्वरूप को प्रोड्रोम या प्रीमोनिटरी सिम्पटन (Prodrom, Premonitory symplom) कहते हैं। क्रियाकाल—इस अवस्था में दोष स्थानाश्रित होने के कारण चिकित्सा प्रकुपित दोष तथा स्थान (दूष्य) दोनों की भी करनी चाहिये।

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः—शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वरातीसारप्रभृतीनां च। तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ॥३३॥

अब इसके आगे व्याधियों का दर्शन कहते हैं। शोफ, अर्बुद, ग्रंथि, विद्रधि, विसर्प इत्यादि तथा ज्वर, अतिसार आदि रोगों के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होना (यही व्याधि दर्शन या व्यक्ति है)। यही व्यक्तावस्था चिकित्सा का पाँचवाँ काल है ॥३३॥

वक्तव्य—व्याधेर्दर्शनम्—जिस अवस्था में प्रत्येक व्याधि के खास खास लक्षण उत्पन्न होकर व्याधि की जाति निश्चित हो जाती है, उस अवस्था को व्याधिदर्शनकाल या व्यक्तिकाल कहते हैं। यथा—ज्वर का संताप, अतिसार का मलातिसरण, उदर का पेट फूलना, कामला का त्वचा पीली होना, विसूचिका का उदर में तीव्र वेदना होना इत्यादि। इस अवस्था में व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिये।

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः, ज्वरातिसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः। तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति ॥३४॥

इससे आगे जब ये शोथादि विदीर्ण होकर व्रण भाव को प्राप्त होते हैं, तब छठा चिकित्सा का काल होता है। ज्वर, अतिसार आदि रोगों में बहुत काल व्यतीत होने पर छठा क्रिया काल होता है। इस समय प्रतिकार न करने से वे रोग असाध्य हो जाते हैं ॥३४॥

वक्तव्य—इस सूत्र में चिकित्सा की दृष्टि से अन्तिम अवस्था का वर्णन किया है। इसको भेदावस्था कहते हैं। कारण यह है कि इस अवस्था में शोथयुक्त रोगों में प्रधानतया दोष त्वचा का भेद करके बाहर निकल आते हैं और व्रण उत्पन्न होते हैं। ज्वरादिक सर्वांग रोग, जहाँ इस प्रकार का भेद होना असंभव है, दीर्घकालानुबन्धी हो जाते हैं। परन्तु यह दीर्घकालानुबन्ध प्रत्येक रोग में असंभव है। अतः सर्वांगरोगों के संबंध में यह समझना अधिक प्रशस्त है कि जैसे व्यक्तावस्था में व्याधि की जाति का स्पष्ट बोध होता है वैसे भेदावस्था में लक्षणों के अनुसार वातिक, पैत्तिक, सान्निपातिक इत्यादि भेद स्पष्ट हो जाते हैं। मूलग्रंथ से इस प्रकार का अर्थ नहीं होता है। परंतु कायचिकित्सा में भी संचयादिक अवस्थाओं का उपयोग करने की दृष्टि से भेदावस्था का उपर्युक्त अर्थ करना अयोग्य नहीं है। इस भेदावस्था में यदि प्रतिक्रिया न हो तो रोग दीर्घकालानुबंधी (Chronic) या असाध्य हो जाते हैं।

भवन्ति चात्र—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥३५॥

दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद इन अवस्थाओं को जो जानता है, वही (वास्तव में) वैद्य हो सकता है ॥३५॥

वक्तव्य—संचयादि छः अवस्थाएँ विकृतिनिदर्शक हैं। क्योंकि 'विकारो धातुवैषम्यं' है और वैषम्य संचयावस्था से ही प्रारंभ होता है। परंतु व्यावहारिक दृष्टि से इन अवस्थाओं के दो विभाग होते हैं। पहले विभाग को 'अप्रकट काल' कह सकते हैं जिसमें संचय, प्रकोप और प्रसर का समावेश होता है। इस काल में यद्यपि मनुष्यशरीर के भीतर रोगोत्पत्ति का

कार्य जारी रहता है तथापि उसके बाह्य लक्षण क्वचित या नहीं दिखाई देते। दूसरे विभाग को 'प्रकट काल' कह सकते हैं जिसमें रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं और लौकिक दृष्टि से मनुष्य रोगपीड़ित समझा जाता है। इस काल में स्थान-संश्रय, व्यक्ति और भेद का समावेश होता है। आलंकारिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि प्रथम तीन अवस्थाओं में रोग रूपी वृक्ष का बीज जमीन में ही और अबद्धमूल होता है। द्वितीय तीन अवस्थाओं में वह बद्धमूल होकर जमीन के बाहर शाखा पल्लवादि युक्त दिखाई देता है। अप्रकट काल का बहुत कुछ सादृश्य जीवाणुजन्य रोगों में जो 'इन्क्यूबेशन पीरिअड' (Incubation Period) यानि 'वृद्धिकाल' है उसके साथ होता है। इस काल में शरीर में प्रविष्ट हुए विकारी जीवाणुओं की संख्यावृद्धि होती है और वृद्धि के साथ विष भी उत्पन्न होता रहता है तथा विष और जीवाणुओं का प्रसार भी होता है जिससे शरीर में विकृति उत्पन्न होती है। इस काल में मनुष्य को बहुधा किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता परंतु क्वचित् शिरःशूल, अरोचक, अवरोध इत्यादि लक्षण दिखाई देते हैं। जब विष की मात्रा पर्याप्त होती है तब बाह्य लक्षण दिखाई देते हैं और विकृति का स्थान (स्थानसंश्रय) भी स्पष्ट होता है। इससे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह सादृश्य एकदेशीय है। चिकित्सा की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो प्रत्येक अवस्था में दोष अधिक बद्धमूल हो जाते हैं। इस लिये प्रारंभिक अवस्था में ही दोषों का प्रतिकार करना रोगी और वैद्य दोनों की दृष्टि से श्रेयस्कर है। अतः लिखते हैं—

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥३६॥

संचयावस्था में शांत किये हुए दोष उत्तर गति को प्राप्त नहीं होते। (प्रकोपादिक) उत्तर अवस्थाओं में तो वे उत्तरोत्तर अधिकाधिक बलवान् होते हैं ॥३६॥

वक्तव्य—प्रारंभिक अवस्था में दोषों का बल अल्प होने से अल्पचिकित्सा दोषोपशमन के लिये समर्थ होती है। परंतु उत्तरोत्तर उनका बल वृद्धिंगत होने से अधिक चिकित्सा करने की आवश्यकता होती है।

सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥३७॥

जब (दो कुपित दोषों का) संसर्ग होता है तब तीन, दो या एक भाव से कुपित हुआ दोष सर्वभाव से कुपित हुए दोष में लीन हो जाता है ॥३७॥

वक्तव्य—संसर्ग—दो विषम दोषों का संयोग और सन्निपात तीनों विषम दोषों का संयोग—संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः। (अष्टांगहृदय)। भाव—रूक्षादिक वायु के, उष्णादिक पित्त के और स्निग्धादिक कफ के भाव होते हैं। जो दोष सर्व भावों से कुपित होता है, वह प्रधान या अनुबन्ध्य होता है और जो दो तीन या एक ही भाव से कुपित होता है, वह अप्रधान या अनुबंध होता है। सर्वैर्भावैः—इस पद के कई अर्थ किये गये हैं। यथा—१ आहारविहारदेशकालाश्चत्वारो व्याधिहेतवः, २ रसगुणवीर्यविपाकाश्चत्वारो भावाः, ३ द्रव्यगुणकर्माणि। परंतु ये सब अर्थ यहाँ अप्रस्तुत हैं। कारण यह है कि शरीर में एक से अधिक दोष प्रकुपित हो जाने पर उन में प्रधान और अप्रधान का निर्णय कराने के लिये यह श्लोक लिखा है। अत्यंत क्रुद्ध दोष वह हो सकता है, जो अपने रूक्षोष्ण स्निग्धादि सर्व भावों से प्रकट हुआ है। अप्रधान दोष वह है, जो अपने आंशिक भावों से प्रकट हुआ है। जब इस प्रकार प्रधान तथा अप्रधान का निर्णय हो जाता है, तब निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिये—

संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत्।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ॥३८॥

संसर्ग में जो दोष प्रधान हो उसका प्रतिकार अन्य दोष का प्रकोप जिस से अधिक न हो इस प्रकार से करना चाहिये। सन्निपात में भी वैसा ही करे ॥३८॥

वक्तव्य—शेषदोषाविरोधेन—मुख्य दोष घट जाने पर अप्रधान दूसरा या तीसरा दोष जिससे अधिक उल्बण न हो जाय। तेन कुपितस्तथा जेतव्यो यथा तद्विपरीतैराहारादिभिः सदृशत्वाद्दोषान्तरं न कुप्यति। (इन्दु)। इस श्लोक में संसर्गसन्निपात की चिकित्सा का क्रम वर्णन किया है। परंतु इस विषय में निम्न मतभेद प्रचलित हैं। (१) उपर्युक्त श्लोक के अनुसार अधिक बलवान् दोष की प्रथम चिकित्सा करना। चरक में भी अतिसार की चिकित्सा में इस मत का उल्लेख किया है—त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेत् बलवत्तमः। (२) कफ से पित्त और पित्त से वात अधिक बलवान् स्वभावतः होता है। इसलिये प्रथम वात पश्चात् पित्त और अन्त में कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफम्। (चरक)। (३) कई आचार्य प्रथम कफ, पश्चात् पित्त और अन्त में वात इस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये, ऐसा मानते हैं। चरक और चक्रदत्त में सन्निपातज्वरचिकित्सा इसी मतानुसार लिखी है—कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्। (चरक)। सन्निपाते ज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्। पश्चाच्छ्लेष्माणि संक्षीणे शमयेत्पित्तमारुतौ॥ (चक्रदत्त)। श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद्व्याधौ त्रिदोषजे। (वृन्दमाधव)। (४) सुश्रुत का मत यह है कि ज्वर और अतिसार में प्रथम पित्त, पश्चात् कफ और अन्त में वात इस क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये। निर्हरेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु। दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः॥ समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्। ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥ (सुश्रुत)। (५) कई आचार्यों का यह मत है कि ज्वर और अतिसार में भी प्रथम कफ, पश्चात् पित्त और अन्त में वात इस क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि दोनों का भी उद्भव आमाशय की खराबी से ही होता है। अष्टांगसंग्रह में इन सब क्रमों का उल्लेख किया है—(१) चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन्। सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः॥ (२) क्रमान्मरुत्पित्तकफान् सर्वत्र सदृशे बले। वातादीनां यथापूर्वं यतः स्वाभाविकं बलम्॥ (३) स्थानतः केचिदिच्छन्ति प्राक् तावच्छ्लेष्मणो वधम्। तस्मादादौ कफो घात्यः कायद्वारार्गलो हि सः॥ (४) जयेत् ज्वरेऽतिसारे च क्रमात् पित्तकफानिलान्। प्रायेण तापात्मतया ज्वरे तेजो विशिष्यते॥ विशश्च सरणं पित्तात्तथा च मृदुकोष्ठता। तस्य चानुबलः श्लेष्मा गौरवाऽपक्ति-

जाड्यकृत् ॥ वायुश्च वर्धतेऽवश्यं यात्स्वहस्सु ततः क्षये । ज्वरातिसारयोस्तस्मादेष दोषजये क्रमः ॥ (५) कफपित्तानिलानन्ये क्रमादाहुस्तयोरपि। यस्मादामाशयोत्क्लेशात् भूयिष्ठं तत्समुद्भवः ॥ (सूत्र. अ. ११)। अन्त में संग्रहकार लिखते हैं कि ग्रंथे की भाँति क्रम के अनुसार रोगी की चिकित्सा न कर। रोगी को अच्छी तरह से देखकर उसकी प्रकृति के अनुसार उपर्युक्त क्रमों में से जो योग्य प्रतीत हो उस क्रम का उपयोग करना चाहिये, जिससे व्याधि का उपशम हो जाय—विज्ञाय कर्मभिः स्वैः स्वैर्दोषोद्रेकं यथाबलम्। भेषजं योजयेत्तत्र तन्त्री कुर्यान्नतु क्रमम् ॥ प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योन्यमन्यमुदीरयेत् । नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥

वृणोति यस्मात् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति ।
आदेहधारणात्तस्माद्व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥३९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणप्रश्नीयो
नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

वह भर जाने पर भी अपने स्थान को आच्छादन करता है और उसका चिह्न यावज्जीव नाश नहीं होता। इसलिये वैद्यों से वह व्रण कहलाता है ॥३९॥

वक्तव्य—इस श्लोक में विदीर्ण हुए शरीर एकदेशोत्थित दोषसंघात को व्रण क्यों कहते हैं उसके निरुक्ति के अनुसार दो कारण दिये हैं। तीसरा कारण चिकित्सास्थान के प्रथम अध्याय में दिया है—व्रण गात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रणः। व्रणवस्तु—व्रण होने के स्थान—त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसंधिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि । किंवा व्रणवस्तु का अर्थ व्रणचिह्न या व्रणकिण भी हो सकता है। व्रणवस्तु को अंग्रेजी में 'सिक्याट्रिक्स' या 'स्कार' (Cicatrix or Scar) कहते हैं। व्रण—आगन्तु या निज कारणों से स्थानिक शरीरपरमाणुओं का नाश होकर त्वचा या श्लैष्मिक त्वचा के पृष्ठ पर जो खुला हुआ घाव बन जाता है, उसको व्रण कहते हैं। अंग्रेजी में व्रण को 'अलसर' (Ulcer) कहते हैं। ऊपर व्रण की जो तीन विशेषताएँ बतलाई हैं, उनकी यथार्थता मालूम होने के लिये नष्ट हुए शरीरपरमाणुओं की पूर्ति कैसी होती है, उसका विवरण नीचे किया जाता है। यदि नष्ट हुए शरीरपरमाणुओं के स्थान में उसी जाति के परमाणु फिर बन जाएंगे तो व्रण का पूर्ण रोपण हो जाने के पश्चात् उसका लांछन यावज्जीव दिखाई देने का कोई कारण नहीं है। परंतु रोपण के समय ऐसा नहीं होता। मनुष्य का शरीर अनन्त परमाणुओं का बना हुआ है। ये परमाणु यानि सेल (Cell) अनेक जाति के होते हैं। एक जाति के सेलों का संघात 'धातु' (Tissue) कहलाता है। प्रत्येक जाति के सेलों में अपनी ही जाति के सेलें उत्पन्न करने की यानि पुनर्जनन (Regeneration) की शक्ति एक सी नहीं होती। यथा—धारीदार मांस (Striped Muscle), अस्थि, कण्डरा (Tendon), वातनाड़ी (Nerves) और कतिपय ग्रंथियाँ इनके सेलों में पुनर्जनन की शक्ति होती है। त्वचा और उपत्वचा (Subcutaneous tissue) के सेलों में अल्प होती है और सुषुम्ना के सेलों में नहीं होती। व्रण प्रायः बाह्यत्वचा में होता है परंतु त्वचा के सेलों में पुनर्जनन की शक्ति न होने के कारण नष्ट हुए सेलों के स्थान पर जो व्रणवस्तु बनती है वह अन्य प्रकार के सेलों से उत्पन्न होती है। उसका परिणाम यह होता है कि घाव का स्थान शणसूत्रसन्निभ तंतुनिर्मित (Friterous) धातु से आच्छादित होता (वृणोति) है। नवीनावस्था में इस धातु में रक्तवाहिनियाँ होती हैं परंतु धीरे धीरे तंतुओं का बाहुल्य होकर रक्तवाहिनियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिससे यह धातु चारों ओर की त्वचा की अपेक्षा श्वेतवर्ण (गात्रविचूर्णने) हो जाता है। इस धातु में रसायनियाँ, नाड़ियों के अग्र, रोमकूप, स्वेदग्रंथियाँ, तैलग्रंथियाँ भी नहीं होतीं। यदि व्रणौष्ठ का मीलन ठीक हुआ हो तो यह धातु बहुत ही थोड़ी बनती है, जो समझने में जल्दी नहीं आती। परंतु यदि अधिक स्थान का नाश हुआ हो तो व्रणित हुआ सब भाग केवल इसी धातु से आच्छादित होता है और व्रण का चिह्न यावज्जीव नष्ट नहीं होता।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां व्रणप्रश्नीयो नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

२१६१

द्वाविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो व्रणास्रावविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्रणास्रावविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि । अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः ॥२॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म ये व्रण के आठ अधिष्ठान हैं। इन्हीं में सर्व प्रकार के व्रण स्थित होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—कोष्ठ—स्थानान्यामाग्निपक्कानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ व्रणवस्तु—व्रणोपादानभूतवस्तु, व्रण के अधिष्ठान। चरक में संधि के स्थान में मेद दिया है—त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयाः । (चिकित्सा अ. २५)।

तत्र, आद्यैकवस्तुसन्निवेशी त्वग्भेदी व्रणः सूपचरः, शेषाः स्वयमवदीर्यमाणा दुरुपचाराः ॥३॥

उनमें से आरम्भ के एक ही वस्तु (त्वचा) में प्राप्त होने वाले और त्वचा ही को भेदन करने वाले व्रण सुखसाध्य (सूपचर) होते हैं और शेष (मांसादिसन्निविष्ट) तथा स्वयं फट जाने वाले व्रण दुःसाध्य होते हैं ॥३॥

वक्तव्य—स्वयमवदीर्यमाणाः—वैद्य के आलेपनादि उपचार के विना पके हुए और शस्त्र के विना स्वयं फटे हुए।

तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तस्त्रिपुटक इति व्रणाकृतिसमासः, शेषास्तु विकृताकृतयो दुरुपक्रमा भवन्ति ॥४॥

उनमें से दीर्घ, चतुष्कोण, गोल और त्रिकोण ये (सुखसाध्य) व्रण के आकार हैं। इनके अतिरिक्त विकृत आकार के व्रण दुःसाध्य होते हैं ॥४॥

सर्व एव व्रणाः क्षिप्रं संरोहन्त्यात्मवतां सुभिषग्भिश्चोपक्रान्ताः; अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ताः प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाच्च दोषाणाम् ॥५॥

यथोक्त पथ्यकर आहार-विहार करने वालों (आत्मवतां) के और उत्तम वैद्यों से चिकित्सा किये हुए सभी व्रण शीघ्र ही भर जाते हैं । अपथ्यकर आहार-विहार सेवन करने वालों के तथा कुवैद्यों से चिकित्सा किये हुए व्रण दोषों की वृद्धि हो जाने से दूषित हो जाते हैं ॥५॥

वक्तव्य—सुभिषक्—जिसको व्रणस्राव, व्रणदूषण और व्रणोपचार का उत्तम ज्ञान है । प्रदुष्यन्ति—दूषित हो जाते हैं । दूषित का अर्थ नवीन कल्पना के अनुसार 'सेप्टिक' (Septic) यानि पूयोत्पादक जीवाणुदूषित करना अधिक प्रशस्त है । जो व्रण सेप्टिक नहीं होता, वह जल्दी भर जाता है । यह अनुभवसिद्ध है । इन जीवाणुओं का प्रवेश होने से अगले सूत्र में वर्णित किये हुए प्रायः सभी लक्षण उत्पन्न होते हैं । इनका प्रवेश न होने से प्रत्येक व्रण अपने नियत समय में तथा अपने स्वाभाविक क्रम में शीघ्र ही भर जाता है । इस क्रम का वर्णन आगे २३ वें अध्याय के १९ वें श्लोक की टिप्पणी में किया गया है । यदि व्रण की दुष्टि न हो तो वह प्रथम अवस्था से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में अपने स्वाभाविक क्रम से चलकर भर जाता है ।

तत्रातिसंवृतोऽतिविवृतोऽतिकठिनोऽतिमृदुरुत्सन्नोऽवसन्नोऽतिशीतोऽत्युष्णः कृष्णरक्तपीतशुक्लादीनां वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः पूतिपूयमांससिरास्नायुप्रभृतिभिः पूर्णः[1] पूतिपूयास्राव्युन्मार्ग्युत्सङ्ग्यमनोज्ञदर्शनगन्धोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपाकरागकण्डूशोफपिडकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणितास्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति दुष्टव्रणलिङ्गानि । तस्य दोषोच्छ्रायेण[2] षट्त्वं विभज्य यथास्वं प्रतीकारे प्रयतेत ॥६॥

अति छोटा मुख, अति चौड़ा मुख, अति कठिन, अति मृदु, उन्नत मांस, मांसहीन, अति ठंडा, अति गरम, काला लाल पीला सफेद इनमें से एक रंग का, अनिश्चित लक्षण युक्त, दुर्गंध युक्त पूय, मांस, सिरा, स्नायु आदि से पूर्ण, दुर्गंध युक्त पूय बहता हुआ, ऊर्ध्वमुख, ऊर्ध्वगामी, देखने में और गंध में खराब, अतिवेदनायुक्त, जलन, पाक, सुरखी, कण्डूशोथ, पिड़का इनसे संयुक्त, अत्यंत दुष्ट रक्त का स्राव करने वाला और चिरकालीन ये दुष्ट व्रण के लक्षण हैं । दोषाधिक्य के अनुसार छः भेद करके उसकी यथोचित चिकित्सा करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥६॥

वक्तव्य—उत्सन्न—मांस अधिक बढ़ने के कारण उभरा हुआ । अवसन्न—मांस का नाश होने के कारण भीतर धँसा हुआ । उत्संगी—उत्संग युक्त, कोटरवान् । भैरव—अनवधारितलिंग । दोषोच्छ्रायेण—दोषप्राबल्येन । षट्त्वम्—वातपित्तकफरक्तसन्निपातागन्तुभेदतः ।

अत ऊर्ध्वं सर्वस्रावान् वक्ष्यामः—तत्र घृष्टासु छिन्नासु वा त्वक्षु स्फोटेषु भिन्नेषु विदारितेषु वा सलिलप्रकाशो भवत्यास्रावः किंचिद्विस्रः पीतावभासश्च; मांसगतः सर्पिःप्रकाशः सान्द्रः श्वेतः पिच्छिलश्च; सिरागतः सद्यश्छिन्नासु सिरासु रक्तातिप्रवृत्तिः पक्वासु च तोयनाडीभिरिव तोयागमनं पूयस्य, आस्रावश्चात्र तनुर्विच्छिन्नः पिच्छिलोऽवलम्बी श्यावोऽवश्यायप्रतिमश्च; स्नायुगतः स्निग्धो घनः सिंघाणकप्रतिमः सरक्तश्च; अस्थिगतोऽस्थन्यभिहते स्फुटिते भिन्ने दोषावदारिते वा दोषभक्षितत्वादस्थि निःसारं शुक्तिधौतमिवाभाति, आस्रावश्चात्र मज्जमिश्रः सरुधिरः स्निग्धश्च; संधिगतः पीड्यमानो न प्रवर्तते, आकुञ्चनप्रसारणोन्नमनविनमनप्रधावनोत्कासनप्रवाहणैश्च स्रवति, आस्रावश्चात्र पिच्छिलोऽवलम्बी सफेनपूयरुधिरोन्मथितश्च; कोष्ठगतोऽसृङ्मूत्रपुरीषपूयोदकानि स्रवति; मर्मगतस्त्वगादिष्ववरुद्धत्वान्नोच्यते ॥७॥

इसके आगे सर्व प्रकार के स्राव का वर्णन करते हैं । घिसी या छिली हुई त्वचा में से तथा स्वयं या यत्न से फटी हुई फुन्सी में से कुछ पानी सा स्राव तथा कुछ दुर्गंधयुक्त पीला सा स्राव निकलता है । मांसगत व्रण से निकलने वाला स्राव घृत के समान, गाढ़ा, सफेद और लसदार होता है । सिरागत व्रण से यदि तत्काल सिरा कटी हो तो बहुत सा रक्त का स्राव होता है । पक्व हो जाने पर जैसे पानी की नलिका से जल बहता है वैसे पूय का स्राव होता है । वह स्राव पतला, खंडित, लसदार, गाढ़ा, काला ओले के समान होता है । स्नायुगत व्रण का स्राव चिकना, गाढ़ा, नासिका से निकले हुए पीले श्लेष्मा के समान और रक्तयुक्त होता है । हड्डी टूटने, फूटने, भिन्न होने तथा दोषों से विदारित होने से जब व्रणयुक्त होती है तब दोषों से खाई हुई होने से हलकी और धोये हुए सीप के समान होती है और उससे मज्जामिश्रित, रुधिरयुक्त, चिकना स्राव होता है । संधिगत व्रण से स्राव दबाने से नहीं स्रवता परन्तु अंग सिकोड़ना, फैलाना, ऊपर को करना, नीचे को करना, चलना फिरना, जोर से खाँसना, कूँथना इत्यादि के समय स्राव होता है और वह स्राव लसदार, चाशनी के समान तार छूटने वाला और फेन, पूय तथा रक्त से आलोडित जैसा होता है । कोष्ठगत व्रण से रक्त, मूत्र, मल, पूय और जल इनका स्राव होता है । मर्मगत व्रण का स्राव त्वचादि के व्रणस्राव में ही आता है । अतः उसका स्राव नहीं कहा जाता है ॥७॥

वक्तव्य—भिन्नेषु विदारितेषु वा—स्वयं भिन्नेषु यत्नेन विदारितेषु । सिंघाणकः—नासिकास्रुत पिच्छिल पीत घन कफ । शुक्तिधौतं—मयूरव्यंसकादिपाठात् पूर्वनिपातो व्यत्ययेन, धौतशुक्तिवदित्यर्थः । (चक्र) । उत्कासन—बार बार जोर से खाँसना ।

तत्र त्वगादिगतानामास्रावाणां यथाक्रमं पारुष्यश्यावावश्यायदधिमस्तुक्षारोदकमांसधावनपुलाको-

---

[1] पूतिमांससिरास्नायुप्रतिपूर्णः. [2] दोषोच्छ्रायमवेक्ष्य.

दकसन्निभत्वानि मारुताद्भवन्ति; पित्ताद्गोमेदगोमूत्रभस्मशङ्खकषायोदकमाध्वीकतैलसन्निभत्वानि; पित्तवद्रक्तादतिविस्रत्वं च; कफान्नवनीतकासीसमज्जपिष्टतिलनारिकेलोदकवराहवसासन्निभत्वानि; सन्निपातान्नारिकेलोदकैर्वारुकरसकाञ्जिकप्रसादारुकोदकप्रियङ्गुफलयकृन्मुद्गयूषसवर्णत्वानीति ॥८॥

पूर्वोक्त जो व्रणों के आठ स्थान कहे हैं, उनमें से मर्म के अतिरिक्त जो शेष सात स्थान हैं उनमें यथाक्रम वात के कारण (त्वचा से) परुष, (मांस से) काले रंग का, (स्नायु से) दधिमस्तु के समान, (सिरा से) कूहर के समान, (अस्थि से) क्षारोदक के समान, (संधि से) मांसधावन के समान और (कोष्ठ से) पुलाकोदक के समान स्राव होते हैं। पित्त के कारण यथाक्रम गोमेदक, गोमूत्र, शंख, भस्म, कषायोदक, माध्वीक और तैल के समान स्राव होते हैं। रक्त के कारण पित्त के समान ही स्राव होते हैं। परन्तु उनमें कच्चे मांस के समान दुर्गंध अधिक होती है। कफ के कारण मक्खन, कासीस, मज्जा, पिष्टी, तिल, नारियल जल के समान और शूकर की चरबी के समान यथाक्रम से स्राव होते हैं। सन्निपात के कारण नारिकेलोदक, ककड़ी का जल, कांजी का स्वच्छ जल, अरुकोदक, प्रियंगुफल, यकृत्रस और मुद्गयूष इनके समान यथाक्रम स्राव होते हैं ॥८॥

वक्तव्य—पुलाकोदकसन्निभ—पेयासदृश। पुलाक एक प्रकार का तुच्छ धान्य होता है। गोमेदक—किंचित् लाल या पीला मणि। कषायोदक—कषायरसयुक्त द्रव्यों का क्राथ किंवा केवल क्राथ। माध्वीक—मध्वासव। आरुक—एक प्रकार का वृक्ष है।

श्लोकौ चात्र भवतः—

पक्वाशयादसाध्यस्तु पुलाकोदकसन्निभः।
क्षारोदकनिभः स्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात्स्रवन् ॥९॥
आमाशयात् कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसन्धिजः।
स्रावानेतान् परीक्ष्यादौ ततः कर्माचरेद्भिषक् ॥१०॥

पक्वाशय से पुलाकोदक के समान स्राव असाध्य होता है। रक्ताशय से क्षार के पानी के समान स्राव वर्जित है। आमाशय तथा त्रिकसंधि से मटर के यूष तुल्य स्राव असाध्य होता है। (इसलिये) प्रथम इन स्रावों की परीक्षा करके पश्चात् वैद्य इनका उपचार करे ॥९-१०॥

अत ऊर्ध्वं सर्वव्रणवेदना वक्ष्यामः—तोदनभेदनताडनच्छेदनायमनमन्थनविक्षेपणचुमचुमायननिर्दहनावभञ्जनस्फोटनविदारणोत्पाटनकम्पनविविधशूलविश्लेषणविकिरणपूरणस्तम्भनस्वप्नाकुञ्चनाङ्कुशिकाः संभवन्ति, अनिमित्तविविधवेदनाप्रादुर्भावो वा मुहुर्मुहुर्यत्रागच्छन्ति वेदनाविशेषास्तं वातिकमिति विद्यात्; ओषचोषपरिदाहधूमायनानि यत्र गात्रमङ्गारावकीर्णमिव पच्यते यत्र चोष्माभिवृद्धिः क्षते क्षारावसिक्तवच्च वेदनाविशेषास्तं पैत्तिकमिति विद्यात्; पित्तवद्रक्तसमुत्थं जानीयात्; कण्डूर्गुरुत्वं सुप्तत्वमुपदेहोऽल्पवेदनत्वं स्तम्भः शैत्यं च यत्र तं श्लैष्मिकमिति विद्यात्; यत्र सर्वासां वेदनानामुत्पत्तिस्तं सान्निपातिकमिति विद्यात् ॥११॥

इसके आगे सर्वप्रकार के व्रणों की वेदना को कहते हैं। जहाँ तोदन (सूचीवेधन की पीड़ा), भेदन (त्वक्विदारण की पीड़ा), ताड़न (डंडे से मारने की पीड़ा), छेदन (काटने की पीड़ा), आयमन (संकुचित अग को खींचने से होने वाली पीड़ा), मन्थन (पाणिमन्थ से व्रण के भीतर मानो मन्थन हो रहा है ऐसी पीड़ा), विक्षेपण, चुमचुमायन (सरसों का लेप करने से होने वाली चुमचुमाट। (Tingling), जलन, अवभंजन (टुकड़े टुकड़े से होना), स्फोटन (पत्थर से जैसा फूटा जाता हो), विदारण (नख से चीरने की पीड़ा), उत्पाटन (ऊपर खींचने की सी पीड़ा), कंपन (हिलने की पीड़ा), नाना प्रकार के शूल, विश्लेषण (अलग अलग करना), विकिरण (व्रणस्थान जैसे अनेक स्थानों में फेंका जा रहा है), पूरण (भरण), स्तम्भन (अंग का सिकुड़ जाना), स्वप्न (त्वचा सुन्न हो जाना), आकुंचन (अकड़ाव), अंकुशिका (अंकुश के आघात से होने वाली विशेष प्रकार की पीड़ा)—ये पीडाएँ हों और विना कारण नाना प्रकार की वेदना उत्पन्न हों और जहाँ बार बार विशेष प्रकार की व्यथा का दौरा आता हो, वह वातदूषित व्रण है, ऐसा मानो। जहाँ जलन, चूसने के समान पीड़ा, सर्व शरीर का दाह, धूमायन (व्रण से धुआँ सा निकलता हो ऐसा मालूम होना), शरीर पर अग्नि पड़ने से शरीर जलता हुआ मालूम होना, बहुत गरमी बढ़ना, घाव पर क्षार डाल्लने की सी पीड़ा इत्यादि वेदना विशेष हो, वह पित्तदूषित व्रण समझना चाहिये। रक्तदूषित व्रण को पित्तदूषित के समान जानना चाहिये। कण्डू, भारीपन, सुन्नता, शरीर लिप्त सा रहना, अल्पपीड़ा, स्तब्धता, ठंडापन ये जहाँ हों, वह कफदूषित जानना चाहिये। जहाँ सर्व प्रकार की पीड़ा की उत्पत्ति हो, वह सान्निपातिक व्रण जानना चाहिये ॥११॥

अत ऊर्ध्वं व्रणवर्णान् वक्ष्यामः—भस्मकपोतास्थिवर्णः परुषोऽरुणः कृष्ण इति मारुतजस्य; नीलः पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः कपिलः पिङ्गल इति रक्तपित्तसमुत्थयोः; श्वेतः स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य; सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति ॥१२॥

इसके आगे व्रणों के वर्णों को वर्णन करते हैं। वातदुष्ट व्रण का वर्ण भस्म के समान, कपोत के समान, अस्थि के समान, खुरदरा, किंचित् लाल और काला होता है। पित्तदूषित और रक्तदूषित व्रण का वर्ण नीला, पीला, हरा, आस्मानी, काला, लाल, कपिल और पिंगल होता है। कफदुष्ट व्रण का वर्ण सफेद, चिकना और फीका होता है। सर्व दोषों से दूषित व्रण का वर्ण सर्व प्रकार के वर्णों से मिश्रित होता है ॥१२॥

भवति चात्र—

न केवलं व्रणेषूक्तो वेदनावर्णसंग्रहः ।
सर्वशोफविकारेषु व्रणवल्लक्षयेद्भिषक् ॥१३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणस्रावविज्ञानीयो
नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

यहाँ जो पीडा और वर्ण का संग्रह वर्णन किया गया है, वह केवल व्रणों के ही लिये नहीं कहा है । व्रण की भाँति संपूर्ण शोफ युक्त विकारों के लिये भी वेदना और वर्ण समझना चाहिये (और उनके अनुसार दोषों का ज्ञान कर लेना चाहिये) ॥१३॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां व्रणस्रावविज्ञानीयो नाम
द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः कृत्याकृत्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से कृत्याकृत्यविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—कृत्याकृत्यविधि—कृत्याश्चिकित्सारूपक्रियार्हाः साध्याः, तद्विपर्ययेणाकृत्या असाध्याः । इनका विधि यानि प्रकार । साध्य सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य दो प्रकार का है और असाध्य याप्य और प्रत्याख्येय दो प्रकार का होता है । साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा । सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च याप्योन्यश्चानुपक्रमः ॥ (संग्रह) । जिस अध्याय में साध्यादि चतुर्विध व्रणों का वर्णन किया है, वह कृत्याकृत्यविधि अध्याय है ।

तत्र, वयःस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्त्ववतां च सुचिकित्स्या व्रणाः; एकस्मिन् वा पुरुषे यत्रैतद्गुणचतुष्टयं तस्य सुखसाधनीयतमाः । तत्र, वयःस्थानां प्रत्यग्रधातुत्वादाशु व्रणा रोहन्ति; दृढानां स्थिरबहुमांसत्वाच्छस्त्रमवचार्यमाणं सिरास्नाय्वादिविशेषान्न प्राप्नोति; प्राणवतां वेदनाभिघाताहारयन्त्रणादिभिर्न ग्लानिरुत्पद्यते; सत्त्ववतां दारुणैरपि क्रियाविशेषैर्न व्यथा भवति; तस्मादेतेषां सुखसाधनीयतमाः ॥२॥

तरुण, दृढ़, शक्तिमान् और सात्त्विक मनुष्यों के व्रण सुसाध्य होते हैं । और जहाँ एक ही मनुष्य में ये चारों गुण हों तो उसके व्रण अत्यंत सुखसाध्य होते हैं । उनमें से तरुण मनुष्यों के व्रण बढ़ती हुई धातु होने से शीघ्र ही भर जाते हैं । दृढ़ मनुष्यों में मांस स्थिर और अधिक होने से उपयोग किया हुआ शस्त्र सिरास्नायु आदि (गंभीर धातुओं) तक नहीं पहुँचता । बलवान् मनुष्य को वेदना, आघात तथा आहार नियंत्रणादि से ग्लानि उत्पन्न नहीं होती । सात्त्विक मनुष्य को भयंकर क्रियाओं से भी व्यथा नहीं मालूम होती । इसलिये इनके व्रण अत्यन्त सुखसाध्य होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—दृढ—सुसंहतसमशरीर । प्रत्यग्रधातुत्वात्—नये नये धातु उत्पन्न होने के कारण । युवावस्था में स्वभाव से ही शरीर की वृद्धि नवीन अधिक धातु उत्पन्न होकर हुआ करती है । इसी लिये चरक में युवावस्था का वर्णन 'विवर्धमानधातुगुणम्' ऐसा किया है । शस्त्रं न प्राप्नोति—अधिक मांस होने के कारण सिरादि को शस्त्र नहीं काटता है । आहारयन्त्रण—आहार और यन्त्रण या आहारसंबंधी यन्त्रण । सत्त्ववान्—सत्त्वसार । सत्त्व का अर्थ मन है । स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौर्यशौचोपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात् । सत्त्ववान् मनुष्य अपने मनोबल से बाह्य जगत् के शारीरिक तथा मानसिक आघात शान्ति से सहन करता है—सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम् । सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥ (सुश्रुत) । ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा दृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात् ॥ (चरक) ।

त एव विपरीतगुणा वृद्धकृशाल्पप्राणभीरुषु द्रष्टव्याः ॥३॥

वे ही व्रण वृद्ध, कृश, निर्बल और कातर मनुष्यों में उपर्युक्त गुण विपरीत (कष्टसाध्य) होते हैं ॥३॥

वक्तव्य—तरुण, दृढ़, बलवान् और सात्त्विक मनुष्यों में जो गुण ऊपर बतलाये हैं, उससे विपरीत गुण वृद्ध, कृश, निर्बल और भीरु मनुष्यों में होने के कारण उनके व्रण कष्टसाध्य या असाध्य हो जाते हैं । सूत्र दो और तीन में रोगी के गुणों के अनुसार व्रणों का साध्यासाध्यत्व वर्णन किया है । इससे आगे स्थान के अनुसार साध्यासाध्यत्व वर्णन करते हैं ।

स्फिक्पायुप्रजननललाटगण्डौष्ठपृष्ठकर्णफलकोषोदरजत्रुमुखाभ्यन्तरसंस्थाः सुखरोपणीया व्रणाः ॥४॥

नितंब, गुद, लिंग, माथा, कपोल, होंठ, पृष्ठ, कान, अण्डकोष, उदर, ग्रीवामूल और मुख के भीतर के व्रण सुख से भर जाने योग्य होते हैं ॥४॥

अक्षिदन्तनासापाङ्गश्रोत्रनाभिजठरसेवनीनितम्बपार्श्वकुक्षिवक्षःकक्षास्तनसन्धिभागगताः सफेनपूयरक्तानिलवाहिनोऽन्तःशल्याश्च दुश्चिकित्स्याः, अधोभागाश्चोर्ध्वभागनिर्वाहिणो, रोमान्तोपनखमर्मजङ्घास्थिसंश्रिताश्च, भगन्दरमपि चान्तर्मुखं सेवनी[1]कुटकास्थिसंश्रितम् ॥५॥

आँख, दाँत, नासिका, अपांग, कान, नाभि, जठर, सेवनी, नितम्ब, पार्श्व, कुक्षि, काँख, स्तन और संधिभाग इन स्थानों के व्रण, जिन से झाग, पीप, रक्त और वायु निकले तथा जिनके भीतर शल्य रह गया हो वे व्रण दुःसाध्य होते हैं । तथा व्रण जिनकी नाड़ी नीचे की ओर और मुख ऊपर की ओर हो, और सीमन्त, नखसमीपवर्तिभाग, मर्म और जंघास्थि के व्रण भी दुःसाध्य होते हैं । सेवनीसमीपवर्ती कुटकास्थिसंश्रित अंतर्मुख भगन्दर भी दुःसाध्य होता है ॥५॥

वक्तव्य—अपांग—नेत्रबाह्य भाग, एक मर्म है । रोमान्त—सिर के पाँच सीमान्त—रोमान्तास्त्वत्र शिरसि विभक्ता

---

[1] 'उपस्थसंश्रितं'.

मर्मसु परिगण्याः पंच सीमन्ता एव । ननु केशान्तो देशस्तस्य मर्मादिविरहितत्वेन तत्संश्रितानां दुःसाध्यत्वं प्रति युक्त्याभावात् । (हाराणचंद्र) । सेवनीकुटकास्थिसंश्रितम्—सेवनी सन्निहित जो अस्थि होता है उसमें जिसका संश्रय है । भगन्दरोऽन्तर्वदनस्तथा कट्यस्थिसंश्रितः । यह अस्थि प्रत्यक्षशारीर की परिभाषा में ककुन्दरास्थि (Ischium) कहलाता है । जंघास्थि—टखना और घुटना इनके बीच की हड्डी (Tibia) ।

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ॥६॥

कुष्ठ, विष, राजयक्ष्मा, मधुमेह इन रोगों से पीड़ित मनुष्यों के व्रण कष्ट से भरते हैं तथा जिनके व्रण में ही व्रण बनते हैं, वे भी कष्ट से साध्य होते हैं ।

वक्तव्य—कुष्ठ आदि रोगों में जब तक उस रोग की सामान्य चिकित्सा न की जाय तब तक केवल व्रण की स्थानिक चिकित्सा करने से व्रण भर लाने की आशा करना व्यर्थ है । क्योंकि मधुमेह में शरीरपोषक 'मधुरस्वभाव ओज' (Sugar) का नाश होता रहता है, राजयक्ष्मा में अग्निमांद्य के कारण रक्त मांसादि धातु नहीं बनते—रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु । (वाग्भट) । विषयुक्तावस्था में शारीरिक विष स्थानिक व्रण के धातुओं का नाश करता है और कुष्ठ में कुष्ठ के जीवाणु (Bacillus lapri) समस्त शरीर की त्वचा, मांस, रक्त और लसिका की खराबी कर देते हैं । इसलिये जब ये रोगी व्रण से पीड़ित हो जाते हैं तब उनके व्रण भरते ही नहीं । अतः व्रणोपचार के साथ ही साथ उस रोग की चिकित्सा भी करनी चाहिये । फिरंग (Syphilis) के व्रणों की भी यही स्थिति होती है ।

अवपाटिकानिरुद्धप्रकशसन्निरुद्धगुदजठरग्रन्थिक्षतक्रिमयः प्रतिश्यायजाः कोष्ठजाश्च त्वग्दोषिणां प्रमेहिणां वा ये परिक्षतेषु दृश्यन्ते, शर्करासिकतामेहो वातकुण्डलिकाऽष्ठीला दन्तशर्करोपकुशः कण्ठशालूकं निष्कोषणदूषिताश्च[१] दन्तवेष्टा विसर्पास्थिक्षतोरःक्षतव्रणग्रन्थिप्रभृतयश्च याप्याः ॥७॥

अवपाटिका, निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, जठर, ग्रंथिक्षत कृमि, प्रतिश्याय और कोष्ठ के कृमि, त्वचा के रोग और प्रमेह से पीड़ित रोगियों के व्रण के कृमि, शर्करामेह, सिकतामेह, वातकुंडलिका, अष्ठीला, दन्तशर्करा, उपकुश, कण्ठशालूक, दूषित दन्तशोधन से खराब हुए दन्तमांस, विसर्पजन्य अस्थिक्षत, उरःक्षत और व्रणगंथि इत्यादि (रोगों में उत्पन्न हुए) व्रण याप्य होते हैं ॥७॥

वक्तव्य—अवपाटिका—शिश्न के ऊपर का चर्म फट जाना । निरुद्धप्रकश—इसमें शिश्नचर्म का छिद्र अत्यंत छोटा होने के कारण चर्म के भीतर श्वेत रंग का मैला (Smegma) जमता है और कभी कभी यह अश्मरी की भाँति कड़ा होकर व्रणशोथ भी उत्पन्न करता है । सन्निरुद्धगुद—गुदा का संकुचित हो जाना (Stricture of the anus) । गुद संकुचित हो जाने से मल के रगड़ से वहाँ व्रण उत्पन्न हो जाते हैं—मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति ॥ जठर—परिस्राव्युदर । वातकुण्डलिका, अष्ठीला—मूत्राघात के प्रकार हैं—निष्कोषणदूषिताः—विषैले दन्तकूर्च से दूषित—निष्कुष्णाति बहिर्निःसारयति मलानेभिरिति व्युत्पत्त्या निष्कोषणशब्दस्येह सविषदन्तशोधने तात्पर्यं दोषस्वभावात् । (हाराणचंद्र) ।

साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा ।
घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम् ॥८॥

(अपने रोग या व्रण की ठीक ठीक) चिकित्सा न कराने वाले मनुष्यों के साध्य व्रण या रोग याप्य हो जाते हैं, याप्य असाध्य हो जाते हैं और असाध्य प्राणों का नाश कर देते हैं ॥८॥

वक्तव्य—इस श्लोक में मनुष्यों के साध्य और याप्य रोग चिकित्सा न करने के कारण कैसे प्राणों का नाश करते हैं, यह बतलाया है । इसलिये प्रत्येक मनुष्य को रोग की चिकित्सा योग्य समय पर अवश्य करनी चाहिये । अक्रियावताम्—बिलकुल चिकित्सा न करने से या अधूरी चिकित्सा करने से—एभ्यस्तु खलु हेतुभ्यः किंचित्साध्यं न सिध्यति । प्रेष्योपकरणाभावाद्दौरात्म्याद्वैद्यदोषतः । अकर्मतश्च साध्यत्वं कश्चिद्रोगोऽतिवर्तते ॥ सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः । ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥ (चरक) ।

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम् ।
क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥९॥
प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम् ।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः ॥१०॥

जिस रोग को चिकित्सा सँभाल रखती है परंतु चिकित्सा दूर होने पर रोगी जिससे शीघ्र ही मर जाता है, उस रोग को याप्य समझना चाहिये ॥७॥ जैसे कि उत्तम प्रकार से लगाया हुआ खंभा गिरने वाले मकान को धारण करता है, वैसे शास्त्रविहित उपचार याप्य व्याधि से पीड़ित रोगी के प्राणों का धारण करते हैं ।

वक्तव्य—याप्य व्याधि योग्य चिकित्सा करने पर भी निर्मूल नहीं होती और थोड़े अपथ्य से भी फिर बढ़ती है । दैववाद की दृष्टि से याप्य व्याधि कर्मज व्याधि है जो ऐसे मनुष्य को पकड़ती है जिसकी कुछ आयु शेष है तथा जिसको कुछ दुःख भोगना है—शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया । लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाशु प्रवर्तकम् ॥ (चरक) । याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियतायुषः । प्रपतन्निव विष्कंभैर्धार्यतेऽत्रातुरो हितैः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

अत ऊर्ध्वमसाध्यान् वक्ष्यामः—मांसपिण्डवदुद्गताः प्रसेकिनोऽन्तःपूयवेदनावन्तोऽश्वापानवदुद्वृत्तौष्ठाः; केचित् कठिना गोश्टङ्गवदुन्नतमृदुमांसप्ररोहाः; अपरे दुष्टरुधिरास्राविणस्तनुशीतपिच्छिलास्राविणो वा मध्योन्नताः; केचिदवसन्नशुषिरपर्यन्ताः शणतूलवत् स्नायुजालवन्तो दुर्दर्शनाः; वसामेदोमज्जमस्तुलुङ्गस्राविणश्च दोषसमुत्थाः; पीतासितमूत्रपुरीषवातवाहिनश्च कोष्ठस्थाः; त

---

१ 'निश्चकुणदूषिता' 'निष्कर्षणदूषिता'.

एवोभयतोभागव्रणमुखेषु पूयरक्तनिर्वाहिणः; (क्षीणमांसानां च) सर्वतोगतयश्चाणुमुखा मांसबुद्बुदवन्तः; सशब्दवातवाहिनश्च शिरःकण्ठस्थाः; क्षीणमांसानां च पूयरक्तनिर्वाहिणोऽरोचकाविपाककासश्वासोपद्रवयुक्ताः; भिन्ने वा शिरःकपाले यत्र मस्तुलुङ्गदर्शनं त्रिदोषलिङ्गप्रादुर्भावः कासश्वासौ वा यस्येति ॥११॥

इसके आगे असाध्य व्रणों का वर्णन करते हैं । मांसपिंड के समान ऊँचे हुए, बहुत बहने वाले, जिनके भीतर पीप और पीड़ा बहुत हो, घोड़ी के भगौष्ठ के समान (गुद के समान) ऊँचे किनारे वाले । कोई अधिक कड़े, गौ के सींग के समान कोमल मांस प्ररोह युक्त । कोई दुष्ट रक्त या पतला लसदार स्राव बहने वाले और बीच में ऊँचे हुए । जिनके किनारे नीचे और भीतर धँसे हुए । जिनके ऊपर शणसूत्र की भाँति स्नायु तन्तु का जाल फैला हुआ हो और जो देखने में भयानक हो । वसा, मेद, मज्जा, मस्तिष्क के तुल्य स्राव वाले दोषोत्थित व्रण । पीला, काला, मलमूत्र और वायु इनका स्राव होने वाले कोष्टगत व्रण । मुख, गुद तथा व्रण से पूय और रक्त का स्राव होने वाले भी कोष्ठगत व्रण । कृश मनुष्यों के सब तरफ फैलने वाले, छोटे मुख के और मांस के प्ररोह युक्त व्रण । शब्द के साथ वायु निकलने वाले शिर और कण्ठ के व्रण । कृश दुर्बल, अरुचि-अजीर्ण, कास और श्वास उपद्रवों से पीड़ित व्रणी के पूय और रक्त बहने वाले व्रण । खोपड़ी फट जाने पर जहाँ मस्तिष्क दीखने लग जाय, त्रिदोषों के लक्षण उत्पन्न हो जायँ अथवा खाँसी और श्वास हो ऐसे व्रण असाध्य समझने चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—अश्वापानवत्—घोड़े के गुदौष्ठ के समान ऊँचे (elevated edges) । घोड़ी की योनि के होठ के समान ऊँचे—वडवायोनिवत् । (डल्हण) । इस प्रकार के व्रण बहुधा सार्कोमा, कैन्सर इत्यादि दुष्ट अर्बुदों में दिखाई देते हैं । अवसन्नशुषिरपर्यन्ताः—जिनके किनारे निम्न और पोले (Undermined edges) हो गये हैं । दोषसमुत्थाः—निज, आगन्तु जो नहीं हैं । उभयतोभागव्रणमुखेषु—गुद, मुख से तथा व्रण से पूयादि बहने वाले । श्वासकासौ—नैव सिद्ध्यन्ति वीसर्पज्वरातीसारकासिनाम् । पिपासूनामनिद्राणाम् । (वाग्भट) ।

भवन्ति चात्र—

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ।
आगन्तुस्तु व्रणः सिध्येन्न सिध्येद्दोषसंभवः ॥१२॥
अमर्मोपहिते देशे सिरासन्ध्यस्थिवर्जिते ।
विकारो योऽनुपर्येति तदसाध्यस्य लक्षणम् ॥१३॥

वसा, मेद, मज्जा और मस्तिष्क इनका स्राव जिस व्रण से होता है, वह यदि आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुआ हो तो सिद्ध हो सकता है । परंतु यदि वातादिक दोषों से उठा हुआ हो तो (चिकित्सा से) सिद्ध नहीं होता ॥१२॥ मर्म से दूर सिरा, सन्धि और अस्थि वर्जित स्थान में हुआ व्रण (जब चिकित्सा करने पर भी धातुओं में) फैलता है तब यह असाध्यता का लक्षण समझना चाहिये ॥१३॥

क्रमेणोपचयं प्राप्य[१] धातूननुगतः शनैः ।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः ॥१४॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च ।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा ॥१५॥

जैसे वृक्ष बड़ा होने पर नहीं उखड़ सकता, वैसे धीरे धीरे बढ़कर सर्वधातुओं में फैला हुआ रोग शरीर से निर्मूल नहीं हो सकता ॥१४॥ वह विकार स्थिर होने से, बढ़ जाने से तथा धातुओं पर आक्रमण करने से ओषधियों की कार्य करने की शक्ति को विफल कर देता है जैसे दुष्टग्रह मंत्र के प्रभाव को निष्फल करता है ॥१५॥

अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते ।
अबद्धमूलः क्षुपको यद्वदुत्पाटने सुखः ॥१६॥

इसलिये उपरोक्त गुणों के विपरीत गुणयुक्त रोग सुखसाध्य कहलाता है, जैसे कि जमीन में थोड़ा ही गढ़ा हुआ छोटा पौदा सुख से उखड़ आता है ॥१६॥

वक्तव्य—विपरीत—नया, अस्थिर, अल्प और धातुओं में न फैला हुआ—त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः । धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः ॥ (चरक) । क्षुपकः—अतिबाल वृक्ष । चरक में भी लिखा है—अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगो पश्चाद्विवर्धते । स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः ॥ यथा स्वल्पेन यत्नेन छिद्यते तरुणस्तरुः । स एवातिप्रवृद्धस्तु छिद्यतेऽतिप्रयत्नतः ॥

त्रिभि[१]र्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः ।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥१७॥
कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ।
स्थिराश्चिपिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ॥१८॥
रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ॥१९॥

जो व्रण तीनों दोषों से निर्मुक्त है, जिसके किनारे ऊदे (श्याव) रंग के हैं, जो सूक्ष्म मांसाकुर युक्त हो गया है, जिसका तल सम है, जिसमें वेदना और स्राव अत्यल्प होता है, वह शुद्ध कहलाता है ॥१७॥ जिस व्रण का वर्ण कपोत के समान पांडुधूसर होता है, जिसमें आर्द्रता नहीं होती, जो स्थिर और सूक्ष्म मृदु त्वचा से युक्त होता है, वह भर रहा है ऐसा समझना चाहिये ॥१८॥ जिसका मुँह भरकर साफ हो गया हो, जिसमें मांस की गाँठें न हों, जिसमें सूजन और पीड़ा न हो, जिसका रंग चारों ओर की त्वचा के रंग से मिल जाय, जो सपाट हो, उसको ठीक ठीक भरा हुआ व्रण समझना चाहिये ॥१९॥

वक्तव्य—व्रण शोथ उत्पन्न होने के पश्चात् विदीर्ण होने के समय से पूर्णतया रूढ़ होने के समय तक तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है । अर्थात् प्रत्येक व्रण की तीन अवस्थाएँ होती हैं । प्रथम अवस्था को दुष्ट अवस्था या दुष्ट व्रण की अवस्था कहते हैं । इस अवस्था का वर्णन बाईसवें अध्याय के छठे सूत्र में 'तत्रादिसंवृत' इत्यादि से किया गया

---

१ प्राप्तः. १ त्रिभिर्द्वन्द्वैः.

है। माधवनिदान में इसी अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया है—पूतिः पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्संगी चिरस्थितिः। दुष्टो व्रणोऽतिगंधादिः शुद्धलिंगविपर्ययः॥ अंग्रेजी में इस अवस्था को 'अल्सरेशन प्रापर या एक्स्टेनशन स्टेज (Stage of ulceration proper or extension) कहते हैं। इस अवस्था में दोषों का प्राबल्य होता है, धातुओं का नाश होता है, व्रण में पूय रक्त इत्यादि उपस्थित होते हैं, दुर्गंधयुक्त स्राव होता है, व्रणौष्ठ मोटे और शोथयुक्त होते हैं, व्रण के चारों ओर का भाग भी सुर्ख और शोथयुक्त होता है और उसका तल निचले धातुओं पर चिपका हुआ रहता है। द्वितीय अवस्था में व्रण शुद्ध होता है। उसका लक्षण ऊपर १७ वें श्लोक में वर्णन किया है। आगे चिकित्सा स्थान के पहले अध्याय में भी उसका लक्षण दिया है—जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति। चरक में इसका लक्षण ऐसा दिया है—नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक्। न चोत्सन्नो न चोत्संगी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः॥ इस शुद्धावस्था को अंग्रेजी में 'स्टेज आफ ट्रान्झीशन' (Stage of transition) कहते हैं। इस अवस्था में दोषों का प्राबल्य नष्ट होता है और स्थानिक धातुओं का नाश बंद होकर व्रण के रोपण की तैयारी होने लगती है। इसलिये इसमें पूतिमांसादि वस्तुओं (Sloughs) का निकलना तथा दुर्गंधयुक्त पूय और दुष्ट रक्त का निकलना बंद होकर थोड़ा लाल रंग का पानी निकलता है, व्रण की सुर्खी कम होकर वह गुलाबी रंग का होता है और स्वच्छ तथा स्वस्थ दिखाई देता है। उसके तल से, छोटे छोटे मांसांकुर या पिटकाएँ (Granulations) उगने लगती हैं, जो उत्तरोत्तर आकार और संख्या में बढ़ती जाती हैं। तृतीय अवस्था में व्रण का रोहण प्रारंभ होता है। इस अवस्था का वर्णन श्लोक १८ में किया गया है। इस अवस्था को 'स्टेज आफ रीपेअर' (Stage of repair) कहते हैं। इसमें रोहणधातु (Granulation tissue) अधिक बनती है और सारे तल पर छा जाती है। पृष्ठभाग मृदु, किंचित् निम्नमध्य, लाल और वेदना से रहित होता है। छूने से रक्त निकलता है, परन्तु शीघ्र नहीं निकलता। व्रण के चारों ओर का भाग शोथ रहित हो जाता है, किनारे कपोतवर्ण यानि श्वेत, नील और रक्तवर्ण के तथा स्वस्थ दिखाई देते हैं। ये तीन अवस्थाएँ बहुधा स्वतन्त्र होती हैं और प्रत्येक व्रण क्रम से इन तीन अवस्थाओं में से होता हुआ रूढ़ हो जाता है। परन्तु व्रण यदि बहुत विस्तृत हो तो एक ही समय व्रण के भिन्न भिन्न स्थानों में तीनों अवस्थाओं का दर्शन हो सकता है। रूढावस्था में व्रण के नये उत्पन्न हुए रोहण धातु का परिवर्तन तल से तंतुजालक धातु (Fribrocicatricial tissue) में होकर उस पर एक अत्यंत पतला त्वचा का पर्त (त्वक्सवर्ण) बन जाता है। यही व्रण वस्तु है। इसका वर्णन २१ वें अध्याय के ३९ वें श्लोक के वक्तव्य में पीछे किया गया है। व्रणों की परीक्षा करते समय निम्न बातों को ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। १ अधोभाग या तल (Base), २ पृष्ठभाग (Surface), ३ स्राव, ४ व्रणौष्ठ (Edges), ५ व्रणान्त (Margins), ६ व्रण के चारों ओर की धातु, ७ व्रण के स्थान।

दोषप्रकोपाद् व्यायामादभिघातादजीर्णतः।
हर्षात् क्रोधाद्भयाद्वाऽपि व्रणो रूढोऽपि दीर्यते ॥२०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कृत्याकृत्यविधिर्नाम
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

(वातादि) दोषों के प्रकोप से, परिश्रम से, चोट लग जाने से, अजीर्ण से, हर्ष से, क्रोध से, अथवा भय से अच्छा हुआ व्रण फिर फट जाया करता है ॥२०॥

वक्तव्य—व्रण अच्छा हो जाने पर भी कुछ काल तक इन बातों से परहेज रखना चाहिये। इसी लिये पीछे छठे अध्याय में लिखा है—रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्। हर्षं क्रोधं भयं चापि यावत्स्थैर्योपसंभवात्॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां कृत्याकृत्यविधिर्नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः।

अथातो व्याधिसमुद्देशीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्याधिसमुद्देशीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—व्याधिसमुद्देशीय—व्याधीनां समासेन संक्षेपेणोद्देशः कथनम्, तदधिकृत्य कृतोऽध्यायः। समासकथनमुद्देशः। (तन्त्रयुक्ति अध्याय)। जिसमें समस्त व्याधियों का संक्षेप से कथन किया गया है, वह अध्याय।

द्विविधास्तु व्याधयः—शस्त्रसाध्याः, स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते; स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते ॥२॥

व्याधियाँ दो प्रकार की हैं—शस्त्रसाध्य और स्नेहादिक्रियासाध्य। उनमें से शस्त्रसाध्य व्याधियों में स्नेहादि क्रियाएँ निषिद्ध नहीं होतीं, (परंतु) स्नेहादि क्रियासाध्य व्याधियों में शस्त्रकर्म नहीं किया जा सकता ॥२॥

वक्तव्य—शस्त्रसाध्य—शस्त्रानुशस्त्र प्रणिधानसाध्य—शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षारजलौकसश्चेति। (चरक)। स्नेहादिक्रियासाध्य—अन्तःपरिमार्जन बहिःपरिमार्जनसाध्य—तत्रान्तःपरिमार्जनं यदन्तः शरीरमनुप्रविश्यौषधमाहारजातव्याधीन् प्रमार्ष्टि; यत्पुनर्बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्ष्टि तद्बहिः परिमार्जनम्। (चरक)। न प्रतिषिध्यते—शस्त्रसाध्य रोगों में स्नेहादि क्रियाएँ कदापि भी विरुद्ध नहीं हो सकतीं, बल्कि उपकारक होती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि केवल स्नेहादि क्रियाओं द्वारा शस्त्रसाध्य रोग आराम हो जाते हैं। यथा—विद्रधि और शोथ स्वेद से बैठ जाते हैं या बिना चीरा लगाये फूट जाते हैं; आन्त्रपुच्छा शोथ बाह्य स्वेद और उष्ण बस्ति से ठीक हो जाता है; वरुणयवक्षारादि के सेवन से पथरी फूट जाती है; विरेचन से उदरस्थ जल नष्ट होता है; सूरण के सेवन से अर्श

बैठ जाता है; अट्रोपिन (Atropine) की सुई लगाने से विपाशित आन्त्रवृद्धि (Strangulatea hervia) पाशरहित होकर दबाने पर उदर के भीतर समा जाती है । संक्षेप में स्नेहादि क्रियाएँ कहीं शस्त्र का कार्य करती हैं, कहीं शस्त्र क्रिया में सहायता करती हैं, परंतु किसी भी अवस्था में निषिद्ध नहीं होतीं । शस्त्रकर्म न क्रियते—स्नेहादिक्रियासाध्य रोगों में शस्त्रकर्म न उनका कार्य कर सकता है, न उनको सहायता दे सकता है; इसलिये इन रोगों के लिये शस्त्रकर्म बेकार है ।

अस्मिन् पुनः शास्त्रे सर्वतन्त्रसामान्यात् सर्वेषां व्याधीनां यथास्थूलमवरोधः क्रियते । प्रागभिहितं 'तद्दुःखसंयोगा व्याधय' इति । तच्च दुःखं त्रिविधम्—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकमिति ॥३॥

इस सुश्रुततन्त्र में सर्वतन्त्र समानता होने से सभी व्याधियों का स्थूल रूप से संग्रह किया जाता है । पहले ही कह चुके हैं कि 'मनुष्य को जिनका संयोग दुःख देता है वे रोग हैं' । वह दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक करके तीन प्रकार का होता है ॥३॥

वक्तव्य—सामान्य—साकल्य या समष्टि । सुश्रुतसंहिता शल्यशास्त्र का ग्रंथ होने पर भी उसमें आयुर्वेद के चिकित्सादि आठों अंगों का साकल्य से (सर्वतन्त्रसामान्यात्) विचार किया गया है । इसलिये व्याधियों का संग्रह इसमें होना उचित तथा आवश्यक भी है । यथास्थूल—विशेष विस्तार न करके स्थूल दृष्टि से । प्रागभिहितम्—प्रथम अध्याय के २१वें सूत्र में (पृष्ठ आठ देखो) । आध्यात्मिक—आत्मन्यधि अध्यात्मं, तत्र भवमाध्यात्मिकम् । आत्मशब्द से समनस्क आत्मायुक्त पंच महाभूतात्मक चिकित्साधार शरीर यहाँ अभिप्रेत है—चेतनाधातु(आत्मा)रप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः । (चरक) । पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः । (सुश्रुत) । ऐसे पुरुष में उत्पन्न हुए विकार, अर्थात् बाह्योपाधि के सिवाय केवल शरीरगत त्रिदोषों से और मानसिक रज और तम इनसे उत्पन्न हुए विकार । आधिभौतिक—भूतेष्वधिकृत्य यत्प्रवर्तते तत् । मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप इत्यादि भूतों के कारण उत्पन्न हुए विकार । आधिदैविक—देवेष्वधिकृत्य यत्प्रवर्तते तत् । देवता, गंधर्व, यक्ष, राक्षस इत्यादि के कारण उत्पन्न हुए विकार ।

तत्तु सप्तविधे व्याधावुपनिपतति । ते पुनः सप्तविधा व्याधयः; तद्यथा—आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति ॥४॥

वह दुःख सात प्रकार की व्याधियों के रूप में आकर पड़ता है । वह सात प्रकार की व्याधियाँ इस प्रकार होती हैं—१ आदिबलप्रवृत्त, २ जन्मबलप्रवृत्त, ३ दोषबलप्रवृत्त, ४ संघातबलप्रवृत्त, ५ कालबलप्रवृत्त, ६ दैवबलप्रवृत्त, और ७ स्वभावबलप्रवृत्त ॥४॥

तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः; तेऽपि द्विविधाः—मातृजाः, पितृजाश्च । जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्गुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते; तेऽपि द्विविधा रसकृताः, दौहृदापचारकृताश्च । दोषबलप्रवृत्ता य आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च; तेऽपि द्विविधाः—आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च । पुनश्च द्विविधाः—शारीरा, मानसाश्च । त एते आध्यात्मिकाः ॥५॥

कुष्ठ अर्श प्रभृति जो व्याधियाँ शुक्रशोणित दोषों से उत्पन्न होती हैं आदिबलप्रवृत्त (कहलाती) हैं । फिर भी दो प्रकार की होती हैं—माता के रजोदोष से हुई और पिता के वीर्यदोष से हुई । पङ्गु, जन्मांध, बहरा, गूंगा, हकला, बौना इत्यादि जो व्याधियाँ माता के मिथ्याहाराचार से उत्पन्न होती हैं वह जन्मबलप्रवृत्त (कहलाती) हैं । फिर भी दो प्रकार की होती हैं, रसकृत और दौहृदावमाननाजनित । अन्य व्याधियों के उपद्रव स्वरूप में तथा मिथ्याहाराचार से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं वह दोषबलप्रवृत्त (कहलाती) हैं । वह दो प्रकार की हैं, आमाशय से उत्पन्न हुई और पक्वाशय से उत्पन्न हुई । फिर भी दो प्रकार की होती हैं; शारीरिक और मानसिक । अब तक वर्णन की हुई यह (आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त और दोषबलप्रवृत्त) व्याधियाँ आध्यात्मिक (वर्ग की) हैं ॥५॥

वक्तव्य—आदिबलप्रवृत्त—मनुष्यों की उत्पत्ति का आदि कारण जो पुरुष के वीर्य का जीवाणु (Spermatozoa) और स्त्री का बीज (Ova) उनके दोषों के बल से उत्पन्न हुई व्याधियाँ । इन व्याधियों को अंग्रेजी में 'हेरीडेटरी' (Hereditary) कहते हैं । इस विभाग में उन व्याधियों का समावेश होता है जो स्त्रीपुरुष का संयोग होने के पूर्व उनमें उपस्थित हुए दोषों से उत्पन्न होती हैं । माता के बीज में उसके तथा उसके पूर्वजों के गुणदोष उपस्थित रहते हैं । पिता के बीज में उसके तथा उसके पूर्वजों के गुणदोष उपस्थित रहते हैं । इस बीज का वर्णन चक्रपाणिदत्त चरक (शारीर अ. ३ सूत्र २३) की टीका में इस प्रकार करते हैं—मनुष्यबीजं हि प्रत्यंगबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशं प्रत्यंगसमुदायरूपपुरुषजनकम् । बीज निर्दोष होने से उससे उत्पन्न होने वाली संतति भी निर्दोष होती है । इसलिये स्वस्थ संतति निर्माण करने की इच्छा रखने वाले को विवाहबद्ध होने के पूर्व अपने सहकारी के तथा उसके कुल के स्वास्थ्य का विचार करना परमावश्यक है । अत्यंत प्राचीन काल से भारतवर्ष में इस विषय का विचार होता था, और आज वैज्ञानिक अन्वेषण होने पर भी यह प्राचीन प्रणाली शास्त्रशुद्ध प्रमाणित हुई है । इस बात का निश्चय निम्न प्राचीन और अर्वाचीन उद्धरणों से स्पष्ट होगा—अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् । अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥ अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम् । दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात् ॥ स्फीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात् ।

एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः । यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनप्रियः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । अथ खलु पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यामसंचारिरोगकुलप्रसूतामरोगप्रकृतिमहीनांधिकांगीं विधिनोद्वहेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह शारीर १) । A man or women who intends marrying is now more than justified in carefully examining the personal and medical histories of the families of his or her intended mate (*Preventive Medicine and Hygiene by Rosenaw*) परंतु निर्दोष बीजयुक्त दो व्यक्तियों का मिलना परम कठिन है, इसलिये कम से कम यह देखना चाहिये कि दोनों में दोषों की समानता न हो । संतति में संचार करने वाले रोगों से पीड़ित माता-पिता के सब सन्तान समदोषी होते हैं । ऐसे समदोषी स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाली सब संतति में उक्त दोषों का उत्कर्ष होता है, यह शास्त्र और प्रयोग से सिद्ध हुआ है । इसलिये अत्यंत प्राचीन काल से सगोत्र और सपिण्ड (Consanguincous) विवाह शास्त्रविरुद्ध माने गये हैं—असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ (मनुस्मृति) । इस प्रकार माता-पिता के शुक्रशोणित दोषों के कारण संतति में प्रवेश करने वाले व्याधियों को आदिबलप्रवृत्त, संचारी (याज्ञवल्क्य), कुलज (चरक), कुलोद्भव और सहज (वाग्भट), प्रकृतिप्रभव (भेल) इत्यादि नाम दिये गये हैं । इस आदिबलप्रवृत्त रोगों के नाम अब बतलाते हैं—कुष्ठार्शःप्रभृतयः—कुष्ठ और अर्श के अतिरिक्त आयुर्वेद में राजयक्ष्मा, मधुमेह, श्वित्र और अपस्मार आदिबलप्रवृत्त माने गये हैं, और इसके अनुसार स्मृति में भी विवाह के लिये इन रोगों से पीड़ित कुल निषिद्ध हैं—दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् । हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छंदो रोमशार्शसम् । क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ (मनुस्मृति)। कुष्ठ—पाश्चात्य वैज्ञानिक इन आदिबलप्रवृत्त रोगों के संबंध में बहुत कुछ अन्वेषण करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि कोई भी जीवाणुजन्य रोग आदिब्नलप्रवृत्त नहीं होता । कुष्ठ जीवाणुजन्य रोग है । इसके जीवाणु का विचार कुष्ठनिदान में किया गया है । अर्थात् कुष्ठ आदिबलप्रवृत्त नहीं हो सकता है । अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि कुष्ठित माता-पिता के घनिष्ठ सम्बन्ध से यह रोग उन की सन्तान में संचार करता है । यदि जन्म के पश्चात् शीघ्र उनको माता-पिता से पृथक् करके दूसरे किसी के पास रख दिया जाय तो वे उत्तर काल में कुष्ठ से पीड़ित नहीं होते । It is now generally recognised that hereditary transmission of the disease has not been proved to occur, and, although it is a remote possibility in rare cases, it is of no practical importance. Moreover, in India hundreds of children who have been separated from their parents at birth have remained healthy to the second generation, so that we may safely discord the paralysing theory of hereditary transmission. (*Tropical medicine by Rogers and Megaw*) ।

राजयक्ष्मा रोग भी जीवाणुजन्य है, और पाश्चात्य वैज्ञानिक उसको कुष्ठ की भाँति आदिबलप्रवृत्त न समझकर राजयक्ष्मी माता-पिता के घनिष्ठ सम्बन्ध से होने वाला रोग मानते हैं । यद्यपि राजयक्ष्मा और कुष्ठ रोग आदिबलप्रवृत्त कहने का शास्त्रीय रिवाज पाश्चात्य वैद्यक में नहीं है तथापि ये रोग खानदानी होते हैं और कुष्ठी तथा राजयक्ष्मी माता-पिता की संतति में कुष्ठ और राजयक्ष्मा के लिये औरों की अपेक्षा एक विशेष प्रकार की सहजानुकूलता (An inherited predisposition to the disease or diathesis) हुआ करती है । यह पाश्चात्य वैज्ञानिकों को भी मानना पड़ता है । यह सहजानुकूलता कैसे होती है, इसके सम्बन्ध में उनको अभी तक निश्चित परिज्ञान नहीं है—

While the disease itself may not be transmitted, a tendency to a disease, knnown as a diathesis, may be transmitted through successive generations. The reason that tuberculosis runs in a family is twofold: (1) An inherited predisposition to the disease, and (2) increased chances of infection. Just what the tendency or predisposition is, is not well understood. (*Preventive Medicine and Hygiene by Rosenaw.*) अर्श—पाश्चात्य वैज्ञानिक अर्श को आदिबलप्रवृत्त नहीं मानते । परंतु यह उनका कथन असत्य है, क्योंकि अर्श में जिस प्रकार की सिराविकृति (जिसको Varix or Varicosity कहते हैं) होती है, उस प्रकार की सिराविकृति उत्पन्न होने के लिये सिराओं की आदिबलप्रवृत्त रचना विशेषता और प्राचीरदौर्बल्य ही प्रधान कारण होता है—

Piles, consist in a vericose condition of the veins sorrounding the anus and lower inch or two of the rectum. Varix is due, in the first place, to some inherited weekness of the venous wall or irregularity in the arrangement of the valves, though possibly this produces no effect until some exciting cause comes into action and throws strain on the circulation. The facts that varix sometimes appears quite early in life and without adequate cause and often involves the same vein in different members of the family, confirm this statement (Inherited weakness of the venous walls). *Manual of Surgery by Rose and carless.*

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि अर्श के सम्बन्ध में आयुर्वेद का कथन बिलकुल सत्य है । श्वित्र, अपस्मार और मधुमेह पाश्चात्य अन्वेषण के अनुसार भी आदिबलप्रवृत्त सिद्ध हुए हैं । इन रोगों के अतिरिक्त निम्न रोगों में भी आदिबलप्रवृत्ति होती है । यथा—कैन्सर, मेदोर्बुद, हीमोफायलिआ (Haemophilia रक्तपित्त का एक प्रकार), बधिरमूकता, वातरक्त,

अस्थिभंगुरता (Fragilitas ossium), अर्धावभेदक, छाजन (Eczema) शीतपित्त श्वास, तृणपुष्पाख्य ज्वर (Hay fever), नासास्राव, हंटिंगटन्स कोरिआ (Huntington's chorea), मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद के कई प्रकार, अपतन्त्रक (Hysteria), अदूरदृष्टि, रंगान्धता, मोतियाबिन्द, रक्तभाराधिक्य (High blood pressure), अन्तःस्रावी ग्रंथियों के दोष के कारण उत्पन्न होने वाली स्थूलता, कृशता और मेदोवृद्धि, आमाशयिक व्रण इत्यादि अनेक रोग तथा कटा होंठ, फटा तालु, अंगुलियों का जुड़ा रहना, अंगुलियों का अधिक या कम होना, पैरों का मुड़ा हुआ और टेढ़ा होना इत्यादि शारीरिक व्यंग। इन रोगों में से कुछ रोग प्रत्येक पीढ़ी की संतति में होते हैं। यथा—मोतियाबिन्द। कुछ रोग एक दो पीढ़ी के बाद दिखाई देते हैं। यथा—वातरक्त। इस अवस्था को अटेविजम (Atavasm) कहते हैं। कुछ रोग केवल पुरुषों में ही होते हैं और उनकी कन्या की पुरुष संतति में फिर दिखाई देते हैं। परंतु रोगी पुरुष के कन्यापुत्र स्वयं उस रोग से पीड़ित नहीं होते। इस प्रकार के रोगों को लिंग संबद्ध (Sex-limited) रोग कहते हैं। यथा—हीमोफायलिया, रंगान्धता इत्यादि। चरक में आदिबलप्रवृत्त रोगों की उत्पत्ति के संबंध में लिखा है—यस्य यस्यावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्यावयवस्य विकृतिरुपजायते॥ (शारीर अ. ३.)। जन्मबलप्रवृत्त—गर्भावक्रान्ति के समय उत्पन्न हुई व्याधियाँ। यह व्याधियां दो प्रकार की होती हैं। (१) अस्वाभाविक वृद्धि—इसको विकृताकार या व्यंग और अंग्रेजी में मालफार्मेशन या डेव्हलपमेंटल एरर (Malformations or Developmental error) कहते हैं, और अस्वाभाविक वृद्धियुक्त गर्भ को विकृताकृति या वियोनिगर्भ और अंग्रेजी में मान्स्टर (Monster) कहते हैं—वियोनिर्विकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः। (अष्टांगहृदय)। सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये। गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेया पापकृता भृशम्। (सुश्रुत)। ये विकृताकार कुछ आदिबलप्रवृत्त और कुछ केवल जन्मबलप्रवृत्त होकर कई प्रकार के होते हैं। यथा—अंगों की अधिकता (जैसे अंगुलियों की संख्या बीस से अधिक होना, शरीर की अत्यधिक स्थूलता, जुड़े गर्भ इत्यादि), अंगों की कम वृद्धि होना (जैसे—कटा होंठ, फटा तालु, गुदद्वार न होना, शीर्ष की कमी इत्यादि), अंगों का विपर्यास (जैसे हृदय और प्लीहा दक्षिणार्ध में और यकृत् वामार्ध में इत्यादि), गर्भज धातुओं का शेष रहना इत्यादि। (२) माता के उपसर्ग से उत्पन्न हुए औपसर्गिक रोग—यथा फिरंग, आंत्रिक ज्वर, मसूरिका इत्यादि। अनौपसर्गिक रोग—यथा तीव्र कामला, पाण्डुरोग, सीस विष इत्यादि। अब तक वर्णन किये सब रोगों को कान्जेनिटल (Congenital) कहते हैं। जन्मबलप्रवृत्त व्याधियों में जन्म अर्थात् प्रसव के समय आघात या उपसर्ग से उत्पन्न हुई व्याधियों का भी समावेश हो सकता है। यथा—उपशीर्षक (Cephal haematoma), अर्दित, नवजात नेत्राभिष्यन्द इत्यादि। इनको अंग्रेजी में नेटल या प्रार्ट्युरीअल (Natal or Parturial) कहते हैं।

जन्मबलप्रवृत्त व्याधियों का वर्गीकरण:—

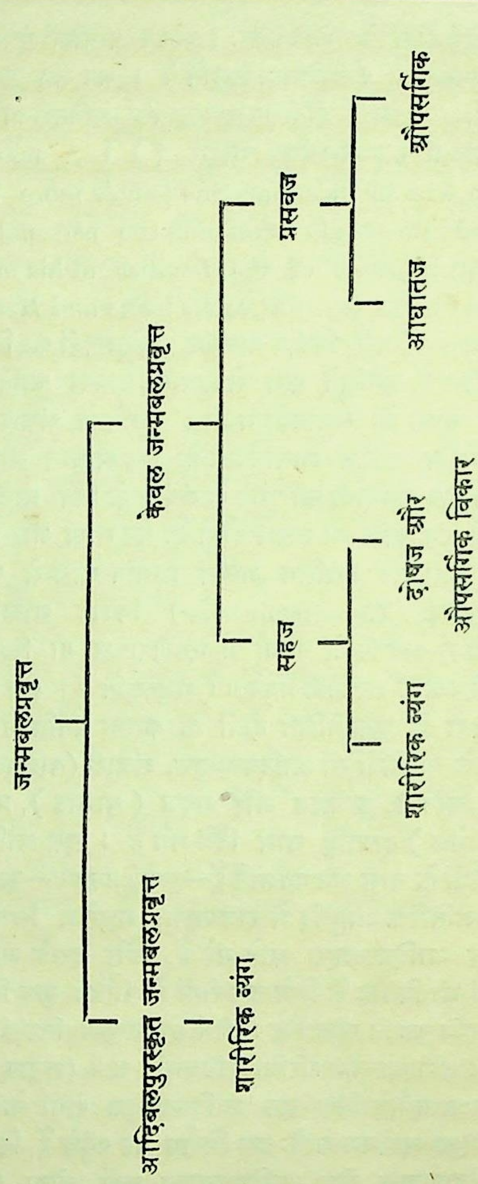

रसकृता—रस तथा विशेष प्रकार का अन्न निरन्तर सेवन करने से होने वाले विकार—मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, लवणनित्या शीघ्रवलीपलितं खालित्यरोगिणं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमबलमनुपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा, मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्रिया शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिणं वा, यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदा सेवमानाऽन्तर्वत्नी तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति॥ (चरक, शारीर अ. ८) । दौहृदापचारकृता—गर्भ के भीतरी जीवन का असर होने से माता के मन में जो विविध कामनाएँ और श्रद्धाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका विघात होने से उत्पन्न हुई व्याधियाँ। अर्थात् दौहृदापचार में श्रद्धाविघात तथा अन्य प्रकार के मानसिक आघात के कारण उत्पन्न होने वाली सब व्याधियाँ समाविष्ट होती हैं। आयुर्वेद में इस विषय के संबंध में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं—इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी। गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत्॥ सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत् सुगुणान्वितम्। अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम्॥ येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै

विमानिता । प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये ॥ (सुश्रुत) । उपचारः प्रियहितैर्भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक् । क्रोधशोकभयोद्वेगवेगश्रद्धाविधारणम् । त्यजेत् । मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् । संबद्धं तेन गर्भिण्या नेष्टं श्रद्धाविधारणम् ॥ देयमप्यहितं तस्मै हितोपहितमल्पकम् । श्रद्धाविघाताद्गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ॥ (अष्टांगहृदय) । दौहृद श्रद्धा का एक प्रकार है और यदि माता श्रद्धालु हो तो श्रद्धा का विघात करने से उसके मन पर जो आघात होता है उससे उदरस्थ बालक में शारीरिक या मानसिक विकार उत्पन्न हो सकते हैं, यह उपर्युक्त उद्धरणों का संक्षिप्त तात्पर्य है। आधुनिक विज्ञान को भी मानना पड़ता है कि गर्भवती स्त्री की भली बुरी मनःस्थिति का भला बुरा परिणाम गर्भ के शरीर और मन पर होता है—An impression upon the mother, of any kind, acts upon the child. Children are born happy or miserable, according to the shape of their mothers during Pregnancy, just as they are born healthy or diseased. The most extraordinary peculiarities are inflicted upon children by some temporary condition of the mother. There is abundant proof that this may extend to the body as well as mind. (*Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas*) । माता की मनःस्थिति के कारण गर्भ में शारीरिक विकृति हो सकती है, इस विधान के पुष्ट्यर्थ नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। ये उदाहरण 'लान्सेट' नामक प्रसिद्ध अँग्रेजी वैद्यक मासिक पत्र के आधार पर सिविल सर्जन डॉ. सरकार ने मद्रास के ॲण्टिसेप्टिक नामक मासिक पत्र में प्रसिद्ध किये थे। (१) एक गर्भवती स्त्री ने एक खरगोश पाला था। एक दिन बिल्ली ने उसपर हमला कर उसके पैर को काट लिया। वह बहुत दिनों तक उस घाव की मरहम पट्टी करती थी ' प्रसूत होने पर देखा तो उसके बालक के दोनों पैर विकृत थे। एक पैर में दो अँगुलियाँ, दूसरे में तीन अँगुलियाँ थीं और दोनों में एड़ी थी नहीं। (२) एक किसान ने एक सूअर पाला था। वह सूअर बीमार होने से किसान ने उसके कान के पास फस्त खोलकर खून निकाला। किसान की स्त्री गर्भवती थी। उसने यह शस्त्रकर्म देखा। प्रसूत होने पर देखा तो उसके बच्चे में कान की पाली अपूर्ण थी। (३) एक गर्भवती स्त्री पर एक कुत्ते ने हमला किया। वह स्त्री किसी तरह से बच गई, परंतु कुत्ते ने उसकी पीठ और जांघ को घसीट लिया। उस दिन से वह स्त्री सोचती थी कि उसके गर्भ में जरूर कुछ विकृति होगी। प्रसूत होने पर देखा तो बच्चे की पीठ और जांघ पर कुत्ते के रंग का धब्बा और बाल हैं। इत्यादि। इससे यह स्पष्ट होगा कि श्रद्धाविघात या अन्य मानसिक आघात के कारण गर्भविकृति की आयुर्वेद की कल्पना असंभवनीय नहीं है। आतङ्कसमुत्पन्नाः—रोग के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न हुआ। इसको अप्रधान, अनुबंध या अस्वतन्त्र व्याधि कहते हैं। प्रधान रोग का जो कारण होता है, वही कारण अप्रधान का भी होता है। अर्थात् उपद्रव रूप रोग का भी कारण त्रिदोष ही होते हैं। 'निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते'। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—व्याधिना व्याध्यन्तरे क्रियमाणेऽपि मूलभूतव्याधिजनक एव हेतुर्व्याधिजन्येऽपि व्याधौ। (चरकनिदान अ. ८)। दोषबलप्रवृत्ता—वातादि शारीर दोषों के कारण तथा रज और तम इन मानसिक दोषों के कारण उत्पन्न हुए विकार—वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसंग्रहः। मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ (चरक)।

संघातबलप्रवृत्ता य आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात्; तेऽपि द्विविधाः—शस्त्रकृता, व्यालकृताश्च। एते आधिभौतिकाः ॥६॥

जो आगन्तुक रोग दुर्बल को बलवान् के साथ लड़ने (आदि) से होते हैं, वे संघातबलप्रवृत्त (कहलाते) हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—शस्त्रकृत और व्यालकृत। ये (दोनों प्रकार के रोग) आधिभौतिक हैं ॥६॥

वक्तव्य—संघातबलप्रवृत्त—आघात, प्रहार, पीडन इत्यादि के बल से उत्पन्न हुए रोग। अँग्रेजी में संघातबलप्रवृत्त को (Due to mechanical cause) कह सकते हैं। संघातबल—(Mechanical Cause)। आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात्—आगन्तुक रोग अनेक कारणों से होते हैं—ये भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसंभवाः। नृणामागन्तवो रोगाः। (चरक सूत्र. अ. ८)। इनमें से केवल संप्रहारादि संभव रोग। शस्त्रकृता—मनुष्यकृत लाठी, तीर, तरवार, पत्थर इत्यादि शस्त्रों द्वारा हुए। व्यालकृता—व्याघ्रसिंहादि क्रूर पशु, उन्मत्त हाथी, सर्प इत्यादि पशुओं के दाँत, नख, श्रृंग इत्यादि से उत्पन्न हुए रोग। इनमें पतनप्रपीडनादि का भी समावेश करना चाहिये।

कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षाप्रभृतिनिमित्ताः; तेऽपि द्विविधाः—व्यापन्नर्तुकृता अव्यापन्नर्तुकृताश्च। दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशप्तका[1] अथर्वणकृता उपसर्गजाश्च; तेऽपि द्विविधाः—विद्युदशनिकृताः, पिशाचादिकृताश्च; पुनश्च द्विविधाः—संसर्गजा, आकस्मिकाश्च। स्वभावबलप्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः; तेऽपि द्विविधाः—कालकृता, अकालकृताश्च; तत्र परिरक्षणकृताः कालकृताः, अपरिरक्षणकृता अकालकृताः। एते आधिदैविकाः। अत्र सर्वव्याध्यवरोधः ॥७॥

जो सर्दी, गरमी, वायु, वर्षा इत्यादि कारणों से होते हैं वे कालबलप्रवृत्त (कहलाते) हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—विकृत ऋतुओं के कारण उत्पन्न हुए और प्राकृत ऋतुओं के कारण उत्पन्न हुए। देव, गुरु, विप्र इत्यादि का अभिद्रोह करने के कारण उनके अभिशाप से उत्पन्न हुए, अथर्ववेद (के मारणात्मक मन्त्रों के प्रयोग) से उत्पन्न हुए और उपसर्गज जो रोग होते हैं वे दैवबलप्रवृत्त (कहलाते) हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—विद्युत् और उल्कापात से हुए तथा पिशाचादि से हुए। फिर भी दो प्रकार के होते हैं—संसर्गज और आकस्मिक। क्षुधा, तृषा, वार्धक्य, मृत्यु, निद्रा इत्यादि स्वभावबलप्रवृत्त होते हैं। वे भी दो प्रकार हैं—कालकृत और अकालकृत। इनमें से शरीर की योग्य रक्षा करने पर (योग्य समय

---

[1] अभिशस्तकाः.

पर) जो होते हैं वे कालकृत हैं; और योग्य रक्षा न करने पर (अकाल में) जो होते हैं, वे अकालकृत हैं । ये आधिदैविक हैं। इनसें सब व्याधियों का समावेश होता है ॥७॥

वक्तव्य—कालबलप्रवृत्त—शीतोष्णवर्ष लक्षण षड्ऋतुकृ कालबल के कारण उत्पन्न हुए । कालबल को अँग्रेजी में फिजीकल कॉज (Physical cause) कह सकते हैं। पाश्चात्त्य वर्गीकरण के अनुसार इसमें अग्नि, विद्युत्, अशनि रेडिअम इत्यादि का भी समावेश होता है । व्यापन्नर्तुकृता—पीछे ३५ पृष्ठ पर ३८ वें श्लोक में ऋतुओं की जो अठारह व्यापत्तियाँ वर्णन की हैं इनके कारण उत्पन्न हुए रोग । अव्यापन्नर्तुकृता—ऋतुओं के चक्रनेमिक्रम के कारण शरीर में दोषों की जो घटाबढ़ी होती है उससे उत्पन्न हुए रोग । इनको प्राकृत या ऋतुज रोग कहते हैं—कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः ॥ प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु । (चरक) । दैवबलप्रवृत्ताः—दैविक शक्ति के कारण उत्पन्न हुए । देवद्रोहाभिशप्तकाः—देवगुरुविप्रादि की अवमानना करने के कारण उनके अभिशाप से उत्पन्न हुए रोग। चरक में जनपदोद्ध्वंस के कारणों में गुरुजनों का शाप एक कारण दिया है—तथाभिशापप्रभवस्यापि अधर्म एव हेतुर्भवति । ते लुप्तधर्माणो धर्मादपेता गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यावमत्याहितान्याचरन्ति । ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति । (विमान, अ. ३) । सुश्रुत के ऋतुचर्याध्याय में भी मरकोत्पत्ति के कारणों में देवताओं के शाप और क्रोध वर्णन किये हैं (पृष्ठ ३२ सूत्र २० देखो) । अथर्वणकृता—अथर्ववेद के अभिचारक मन्त्रों का प्रयोग करने से उत्पन्न हुए । उपसर्गजाः—धूमकेतु, सतत उल्कापात, ग्रहनक्षत्रवैकृत इत्यादि अशुभसूचक आन्तरिक्ष तथा दिव्य औत्पातिक दर्शन (उपसर्ग) के समय उत्पन्न हुए रोग। संसर्गजाः—अभिशाप देने वालों की प्रत्यक्ष उपस्थिति से या अभिशापित मनुष्य के प्रत्यक्ष संबंध से उत्पन्न हुए । आकस्मिकाः—जिनके कारणभूत अभिशापों का ठीक संबंध या पता नहीं लगता है ऐसे रोग, अथवा अभिशप्त मनुष्य का प्रत्यक्ष संबंध न होते हुए भी उत्पन्न हुए रोग। जिन रोगों का ठीक कारण मालूम नहीं हुआ, उनको आकस्मिक कहा है। इस विज्ञान के युग में जब देवता, राक्षस, पिशाच इत्यादि पर विश्वास नहीं किया जाता तब रोगोत्पत्ति के कारणों में उनके लिये कहाँ स्थान मिलेगा ? इसलिये आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा में दैवबलप्रवृत्त के लिये कोई स्थान होगा या नहीं, इसका अब विचार किया जायगा। सुश्रुत के ऋतुचर्याध्याय (देखो पृष्ठ ३२) में तथा चरक के विमानस्थान के तीसरे अध्याय में जनपदोद्ध्वंस के जो कारण वर्णन किये हैं वे सब दैवबलप्रवृत्त हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भूतविद्यान्तर्गत उन्माद अपस्मार इत्यादि के अतिरिक्त जनपदोद्ध्वंसक रोगों को भी प्राचीन काल में दैवबलप्रवृत्त मानते थे। इन जनपदोद्ध्वंसक रोगों को भी प्राचीन काल में दैवबलप्रवृत्त मानते थे । इन जनपदोद्ध्वंसक रोगों की निम्न पाँच विशेषताएँ होती हैं। (१) जनपदों का विद्ध्वंस करते हैं अर्थात् किसी प्रांत के अधिकसंख्य लोगों का नाश करते हैं। २ जलवायु तथा ऋतुव्यापत्ति के कारण होते हैं। ३ प्रकृतिसामान्य या मृत्युसामान्य न होने पर भी आक्रमण और घात करते हैं। (४) स्पर्शाभ्यवहार्यदोष से मनुष्यों पर संचार करते हैं। ५ स्थान (मकान, गांव या प्रांत) का त्याग करने से उनसे रक्षा होती है । इन विशेषताओं का विचार करने पर आधुनिक पाश्चात्त्य परिभाषा में जनपदोद्ध्वंसक रोगों को पॅंडेमिक (Eondemic) या एपिडेमिक (Epidemic) रोग कह सकते हैं । (३२ पृष्ठ पर सूत्र १८ का वक्तव्य देखो)। ये रोग जीवाणुजन्य होते हैं, इसमें कोई भी संदेह नहीं है। इसलिये दैवबलप्रवृत्त रोगों में जीवाणुजन्य रोगों का समावेश करना चाहिये। जीवाणुजन्य रोगों को 'परयासिटिक (Parasitic) कहते हैं। इस विषय का कुछ दिग्दर्शन पीछे ३२ वें पृष्ठ पर 'विषौषधिपुष्पगन्धेन' के वक्तव्य में किया गया है। इस नवीन दृष्टि के अनुसार 'उपसर्गजा' का अर्थ 'रोगी मनुष्य के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संसर्ग से उत्पन्न हुए रोग' ऐसा करना चाहिये। डल्हणाचार्य भी इसका यही अर्थ करते हैं—उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीडितजनसंपर्काद्भवन्ति । ये उपसर्गज रोग मैथुनादि द्वारा स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख आगे कुष्ठनिदान में किया गया है—प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ इसलिये उपसर्ग को इन्फेक्शन (Infections) कहना चाहिये। संसर्गज का अर्थ अत्यंत समीप आने से या स्पर्श से होने वाले रोग । इनको कॉन्टयाज़िअस (Contagious) कहते हैं । आकस्मिक—इसको स्पोरयाडिक (Śporadic) कह सकते हैं। कालकृता—भोजन के समय क्षुधा, रात्रि के समय निद्रा, सत्तर वर्ष के पश्चात् वार्धक्य, सौ वर्ष के पश्चात् मृत्यु इत्यादि काल के प्रभाव से योग्य समय पर उत्पन्न होने वाले रोग। वास्तव में ये शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं, रोग नहीं हैं । स्वास्थ्यानुवृत्तिकर यथाविधि आहार-विहार रखने से ये अपने समय पर उत्पन्न होते हैं। इसलिये लिखा है—'परिरक्षणकृताः कालकृताः' । अपरिरक्षणकृताः—यथाविधि आहार-विहारादि से शरीर की रक्षा न करने के कारण उत्पन्न हुए। ये रोग कालस्वभाव के कारण नहीं होते । मिथ्याहाराचारादि से त्रिदोषवैषम्य होने के कारण होते हैं । इनका समावेश दोषबलप्रवृत्त रोगों में होना चाहिये । पाश्चात्त्य वैद्यक में परिरक्षणकृत कालकृत रोगों का समावेश रोगों में नहीं किया गया है। इस तरह रोगों के कारणों में स्वभावबल अन्यथासिद्ध कारण है। स्वाभाविक रोगों के संबंध में कुछ अधिक विवरण पीछे पृष्ठ २ और ३ पर किया गया है । पाश्चात्त्यवर्गीकरण—पाश्चात्त्य वैद्यक में रोगों के मुख्य दो विभाग किये जाते हैं—आदिबलप्रवृत्त और स्वकृत (Acquired) । भेलसंहिता में भी एक स्थान में इसी प्रकार का वर्गीकरण मिलता है—प्रकृतिप्रभवश्चैव नरस्य स्वकृतस्तथा । ज्ञेयः प्रमेहो द्विविधस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ स्वकृत रोगों के चार कारण मानते हैं—(१) संघातबल, (२) कालबल, (३) रासायनिक—इसमें अम्ल, क्षार, संखिया, कुचला, पारद, धतूरा इत्यादि विविध रासायनिक विष; मल, मूत्र, स्वेद इत्यादि का ठीक उत्सर्ग न होने के कारण शरीर में उत्पन्न हुए अन्तर्विष (Auto-intoxication or Endogenous poisons); सड़े गले पदार्थों के विष (Ptomain poisons), जीवद्रव्य तथा अन्य

आवश्यक पोषक पदार्थों की कमी इत्यादि का समावेश होता है। यद्यपि उपर्युक्त सात प्रकारों में इसका प्रत्यन्न उल्लेख नहीं है, तथापि ये सब मिथ्याहार के उदाहरण हैं। इसलिये इसका समावेश 'दोषबलप्रवृत्त' में होता है। (४) मनुष्योपजीवी जीव (Parasites)—इसमें ज्ञात और अज्ञात जीवाणु, कृमि (Worms) और कीटकों का समावेश होता है। जीवाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, और उनका दर्शन सूक्ष्मदर्शक के सिवाय नहीं होता। कुछ जीवाणु सूक्ष्मदर्शक के भी परे हैं। आयुर्वेद के महर्षि इन जीवाणुओं के तथा उनकी रोगोत्पादक शक्ति के साथ पूर्ण परिचित थे, परन्तु प्राचीन कल्पना के अनुसार संक्रामक रोगों की उत्पत्ति में दैविक आपत्ति प्रधान कारण मानते थे। यह फर्क परिभाषा का है, वस्तुस्थिति का नहीं है। सन् १९१७-१८ में एन्फ्लुएन्जा की जो संसारव्यापी महामारी आई थी, उसके कारणों का सन्तोषजनक उत्तर आज का विज्ञान भी नहीं दे सकता। ऐसी अवस्था में यदि कोई श्रद्धालु मनुष्य उस महामारी को दैवबलप्रवृत्त माने तो उसमें कोई अवैज्ञानिक बात नहीं है। अतः इस कारण को दैवबलप्रवृत्त में समावेश करना चाहिये। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सुश्रुत में रोगों के कारणों का जो सप्तविध (वास्तविक षड्विध) वर्गीकरण दिया है वह बहुत उत्तम और व्यापक है तथा पाश्चात्त्य वर्गीकरण के साथ मिलता है। नीचे दोनों का तुलनात्मक नकशा दिया जाता है।

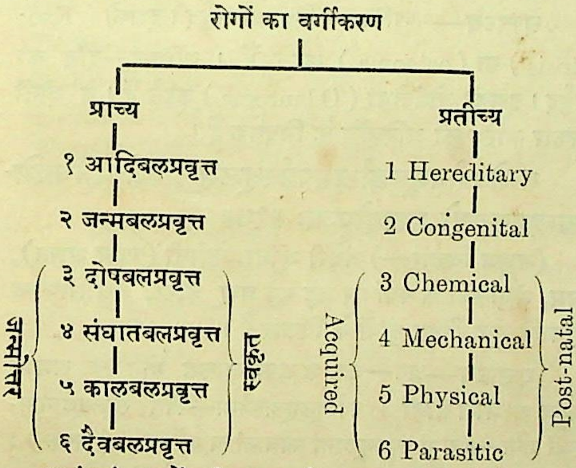

अष्टांगसंग्रह में भी सुश्रुत के अनुसार रोगों के सात प्रकार किये हैं—सप्तविधा खलु रोगा भवन्ति। सह-गर्भ-जात-पीडा-काल-प्रभाव-स्वभावजाः। इनके अर्थ सुश्रुतक्रमानुसार हैं।

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद्दृष्टफलत्वादागमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते। दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्तश्चैषां विकल्पः[1]। दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा क्रियते रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽय, मेदोजोऽयम्, अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति ॥८॥

(रोगों में) उन (वात, पित्त और कफ) के लक्षण होने के कारण, (उन लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करने से रोगशान्ति रूप) फल प्रत्यक्ष होने के कारण, तथा शास्त्राधार के कारण समस्त व्याधियों का मूल वात, पित्त और कफ ही (प्रतीत होता) है। जैसे कि विश्व के रूप में प्रकट हुए माया के संपूर्ण विकारसमूह से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण पृथक् नहीं होते, वैसे ही विविध रूप में प्रकट हुए समस्त विकारसमूह को न छोड़कर वात, पित्त और कफ होते हैं। दोषों, धातुओं और मलों के संयोग से, स्थानभेद से तथा निमित्तभेद से इन (रोगों) के अनेक प्रकार होते हैं। दोषों से अत्यंत दूषित हुए धातुओं की ही संज्ञा की जाती है कि यह व्याधि रसज है, रक्तज है, मांसज है, मेदोज है, अस्थिज है, मज्जज है और शुक्रज है ॥८॥

वक्तव्य—मूल—आदिकारण। रोगों के लिये त्रिदोषों का आदिकारणत्व प्रत्यक्षादि चतुर्विध प्रमाणों द्वारा यहाँ सिद्ध किया है। १ अनुमान—तल्लिङ्गत्वात्। जिसमें वातादि दोषों के लक्षण न हों तथा जिसमें वातादि दोषों के लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षण हों ऐसा कोई भी रोग नहीं दिखाई देता; इसलिये कार्य कारण न्याय से यह कहा जा सकता है कि समस्त रोगों का आदि कारण त्रिदोष है—कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वभावता। इसी सिद्धान्त पर आगे ३५वें अध्याय में अज्ञात रोगों की चिकित्सा दोषानुसार करने के लिये लिखा है—अनुक्तमपि दोषाणां लिंगैर्व्याधिमुपाचरेत्॥ २ प्रत्यक्ष—दोषों के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं। उनको देखकर कार्य कारण भाव से विकृत दोषों का निर्णय करके जब चिकित्सा की जाती है तब रोग की शान्ति हो जाती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। आयुर्वेद के निदान पंचक में से उपशय इस प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर अधिष्ठित है। यथा—स्नेहोष्णमर्दनाभ्याञ्च यः प्रणश्येत् स वातिकः। (चरक. सूत्र. अ. १८)। ३ आगम—वेद, ज्योतिष, उपनिषद्, योगशास्त्र और आयुर्वेद के विविध ग्रंथों में भी रोगों का कारण त्रिदोष ही माना गया है। यथा—त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः। ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पतीः॥ (ऋग्वेद)। त्रिधातु वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशमनविषयं सुखं वहतम्। (सायणाचार्य भाष्य)। बौध्यां दौत्यसुहृद्गुरुद्विजधनं विद्वत्प्रशंसायशोयुक्तिद्रव्यसुवर्णवेसरमहीसौभाग्यसौख्याप्तयः। हास्योपासनकौशलं मतिचयो धर्मक्रियासिद्धयः पारुष्यं श्रमबन्धमानमशुचः पीडा च धातुत्रयात्॥ (वराहमिहिर)। हृदयेभ्योन्तराग्निरग्निस्थाने, पित्तं पित्तस्थाने, वायुर्वायुस्थाने, हृदयं प्राजापत्यात्क्रमात्। पित्तप्रस्थं कफस्याढकम्। (गर्भोपनिषद्)। नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्। वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः। धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि। पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः। ('नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' इस पर का व्यासभाष्य)। ४ उपमान—'यथा हि कृत्स्नं विकारजातम्' इत्यादि। विकारजातम्—(१) प्रकृति से उत्पन्न हुए महदादि तेईस विकार—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति-

---

[1] विकल्पा भवन्ति.

पर) जो होते हैं वे कालकृत हैं; और योग्य रक्षा न करने पर (अकाल में) जो होते हैं, वे अकालकृत हैं । ये आधिदैविक हैं । इनमें सब व्याधियों का समावेश होता है ॥७॥

वक्तव्य—कालबलप्रवृत्त—शीतोष्णवर्ष लक्षण षड्ऋतुकृ कालबल के कारण उत्पन्न हुए । कालबल को अँग्रेजी में फिजीकल कॉज (Physical cause) कह सकते हैं । पाश्चात्त्य वर्गीकरण के अनुसार इसमें अग्नि, विद्युत्, अशनि रेडिअम इत्यादि का भी समावेश होता है । व्यापन्नर्तुकृता—पीछे ३५ पृष्ठ पर ३८ वें श्लोक में ऋतुओं की जो अठारह व्यापत्तियाँ वर्णन की हैं इनके कारण उत्पन्न हुए रोग । अव्यापन्नर्तुकृता—ऋतुओं के चक्रनेमिक्रम के कारण शरीर में दोषों की जो घटाबढ़ी होती है उससे उत्पन्न हुए रोग । इनको प्राकृत या ऋतुज रोग कहते हैं—कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः ॥ प्रायोति रोगानृतुजान्न जातु । (चरक) । दैवबलप्रवृत्ताः—दैविक शक्ति के कारण उत्पन्न हुए । देवद्रोहाभिशप्तकाः—देवगुरु-विप्रादि की अवमानना करने के कारण उनके अभिशाप से उत्पन्न हुए रोग । चरक में जनपदोद्ध्वंस के कारणों में गुरुजनों का शाप एक कारण दिया है—तथाभिशापप्रभवस्यापि अधर्म एव हेतुर्भवति । ते लुप्तधर्माणो धर्मादपेता गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यावमत्याहितान्याचरन्ति । ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति । (विमान, अ. ३) । सुश्रुत के ऋतुचर्याध्याय में भी मरकोत्पत्ति के कारणों में देवताओं के शाप और क्रोध वर्णन किये हैं (पृष्ठ ३२ सूत्र २० देखो) । अथर्वणकृता—अथर्ववेद के अभिचारक मन्त्रों का प्रयोग करने से उत्पन्न हुए । उपसर्गजाः—धूमकेतु, सतत उल्कापात, ग्रहनक्षत्रवैकृत इत्यादि अशुभसूचक आन्तरिक्ष तथा दिव्य औत्पातिक दर्शन (उपसर्ग) के समय उत्पन्न हुए रोग । संसर्गजाः—अभिशाप देने वालों की प्रत्यक्ष उपस्थिति से या अभिशापित मनुष्य के प्रत्यक्ष संबंध से उत्पन्न हुए । आकस्मिकाः—जिनके कारणभूत अभिशापों का ठीक संबंध या पता नहीं लगता है ऐसे रोग, अथवा अभिशप्त मनुष्य का प्रत्यक्ष संबंध न होते हुए भी उत्पन्न हुए रोग । जिन रोगों का ठीक कारण मालूम नहीं हुआ, उनको आकस्मिक कहा है । इस विज्ञान के युग में जब देवता, राक्षस, पिशाच इत्यादि पर विश्वास नहीं किया जाता तब रोगोत्पत्ति के कारणों में उनके लिये कहाँ स्थान मिलेगा ? इसलिये आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा में दैवबलप्रवृत्त के लिये कोई स्थान होगा या नहीं, इसका अब विचार किया जायगा । सुश्रुत के ऋतुचर्याध्याय (देखो पृष्ठ ३२) में तथा चरक के विमानस्थान के तीसरे अध्याय में जनपदोद्ध्वंस के जो कारण वर्णन किये हैं वे सब दैवबलप्रवृत्त हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि भूतविद्यान्तर्गत उन्माद अपस्मार इत्यादि के अतिरिक्त जनपदोद्ध्वंसक रोगों को भी प्राचीन काल में दैवबलप्रवृत्त मानते थे । इन जनपदोद्ध्वंसक रोगों को भी प्राचीन काल में दैवबलप्रवृत्त मानते थे । इन जनपदोद्ध्वंसक रोगों की निम्न पाँच विशेषताएँ होती हैं । (१) जनपदों का विद्ध्वंस करते हैं अर्थात् किसी प्रांत के अधिकसंख्य लोगों का नाश करते हैं । २ जलवायु तथा ऋतुव्यापत्ति के कारण होते हैं । ३ प्रकृतिसामान्य या मृत्युसामान्य न होने पर भी आक्रमण और घात करते हैं । (४) स्पर्शाभ्यवहार्यदोष से मनुष्यों पर संचार करते हैं । ५ स्थान (मकान, गांव या प्रांत) का त्याग करने से उनसे रक्षा होती है । इन विशेषताओं का विचार करने पर आधुनिक पाश्चात्त्य परिभाषा में जनपदोद्ध्वंसक रोगों को एँडेमिक (Eondemic) या एपिडेमिक (Epidemic) रोग कह सकते हैं । (३२ पृष्ठ पर सूत्र १८ का वक्तव्य देखो) । ये रोग जीवाणुजन्य होते हैं, इसमें कोई भी संदेह नहीं है । इसलिये दैवबलप्रवृत्त रोगों में जीवाणुजन्य रोगों का समावेश करना चाहिये । जीवाणुजन्य रोगों को 'परयासिटिक (Parasitic) कहते हैं । इस विषय का कुछ दिग्दर्शन पीछे ३२ वें पृष्ठ पर 'विषौषधिपुष्पगन्धेन' के वक्तव्य में किया गया है । इस नवीन दृष्टि के अनुसार 'उपसर्गजा' का अर्थ 'रोगी मनुष्य के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संसर्ग से उत्पन्न हुए रोग' ऐसा करना चाहिये । डल्हणाचार्य भी इसका यही अर्थ करते हैं—उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीडितजनसंपर्काद्भवन्ति । ये उपसर्गज रोग मैथुनादि द्वारा स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख आगे कुष्ठनिदान में किया गया है–प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ औपसर्गिकरोगांश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ इसलिये उपसर्ग को इन्फेक्शन (Infections) कहना चाहिये । संसर्गज का अर्थ अत्यंत समीप आने से या स्पर्श से होने वाले रोग । इनको कॉन्टयाजिअस (Contagious) कहते हैं । आकस्मिक—इसको स्पोरयाडिक (Śporadic) कह सकते हैं । कालकृता—भोजन के समय क्षुधा, रात्रि के समय निद्रा, सत्तर वर्ष के पश्चात् वार्धक्य, सौ वर्ष के पश्चात् मृत्यु इत्यादि काल के प्रभाव से योग्य समय पर उत्पन्न होने वाले रोग । वास्तव में ये शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं, रोग नहीं हैं । स्वास्थ्यानुवृत्तिकर यथाविधि आहार-विहार रखने से ये अपने समय पर उत्पन्न होते हैं । इसलिये लिखा है—'परिरक्षणकृताः कालकृताः' । अपरिरक्षणकृताः—यथाविधि आहार-विहारादि से शरीर की रक्षा न करने के कारण उत्पन्न हुए । ये रोग कालस्वभाव के कारण नहीं होते । मिथ्याहाराचारादि से त्रिदोषवैषम्य होने के कारण होते हैं । इनका समावेश दोषबलप्रवृत्त रोगों में होना चाहिये । पाश्चात्त्य वैद्यक में परिरक्षणकृत कालकृत रोगों का समावेश रोगों में नहीं किया गया है । इस तरह रोगों के कारणों में स्वभावबल अन्यथासिद्ध कारण है । स्वाभाविक रोगों के संबंध में कुछ अधिक विवरण पीछे पृष्ठ २ और ३ पर किया गया है । पाश्चात्त्य-वर्गीकरण—पाश्चात्त्य वैद्यक में रोगों के मुख्य दो विभाग किये जाते हैं—आदिबलप्रवृत्त और स्वकृत (Acquired) । भेलसंहिता में भी एक स्थान में इसी प्रकार का वर्गीकरण मिलता है—प्रकृतिप्रभवश्चैव नरस्य स्वकृतस्तथा । ज्ञेयः प्रमेहो द्विविधस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ स्वकृत रोगों के चार कारण मानते हैं—(१) संघातबल, (२) कालबल, (३) रासायनिक—इसमें अम्ल, क्षार, संखिया, कुचला, पारद, धतूरा इत्यादि विविध रासायनिक विष; मल, मूत्र, स्वेद इत्यादि का ठीक उत्सर्ग न होने के कारण शरीर में उत्पन्न हुए अन्तर्विष (Auto-intoxication or Endogenous poisons); सड़े गले पदार्थों के विष (Ptomain poisons), जीवद्रव्य तथा अन्य

आवश्यक पोषक पदार्थों की कमी इत्यादि का समावेश होता है। यद्यपि उपर्युक्त सात प्रकारों में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, तथापि ये सब मिथ्याहार के उदाहरण हैं। इसलिये इसका समावेश 'दोषबलप्रवृत्त' में होता है । (४) मनुष्योपजीवी जीव (Parasites)—इसमें ज्ञात और अज्ञात जीवाणु, कृमि (Worms) और कीटकों का समावेश होता है। जीवाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, और उनका दर्शन सूक्ष्मदर्शक के सिवाय नहीं होता । कुछ जीवाणु सूक्ष्मदर्शक के भी परे हैं। आयुर्वेद के महर्षि इन जीवाणुओं के तथा उनकी रोगोत्पादक शक्ति के साथ पूर्ण परिचित थे, परन्तु प्राचीन कल्पना के अनुसार संक्रामक रोगों की उत्पत्ति में दैविक आपत्ति प्रधान कारण मानते थे । यह फर्क परिभाषा का है, वस्तुस्थिति का नहीं है। सन् १९१७-१८ में एन्फ्लुएन्ज़ा की जो संसारव्यापी महामारी आई थी, उसके कारणों का सन्तोषजनक उत्तर आज का विज्ञान भी नहीं दे सकता। ऐसी अवस्था में यदि कोई श्रद्धालु मनुष्य उस महामारी को दैवबलप्रवृत्त माने तो उसमें कोई अवैज्ञानिक बात नहीं है। अतः इस कारण को दैवबलप्रवृत्त में समावेश करना चाहिये। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सुश्रुत में रोगों के कारणों का जो सप्तविध (वास्तविक षड्विध) वर्गीकरण दिया है वह बहुत उत्तम और व्यापक है तथा पाश्चात्त्य वर्गीकरण के साथ मिलता है । नीचे दोनों का तुलनात्मक नकशा दिया जाता है ।

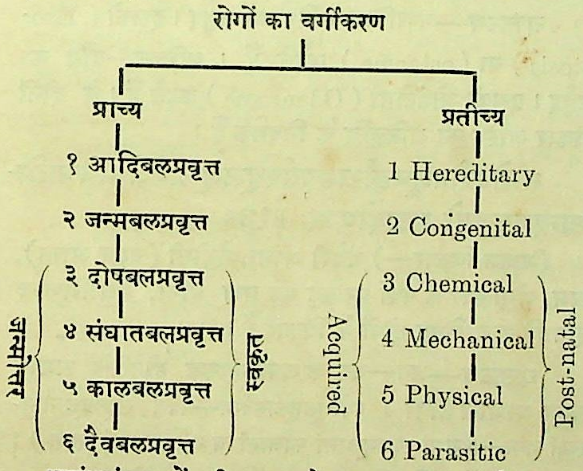

अष्टांगसंग्रह में भी सुश्रुत के अनुसार रोगों के सात प्रकार किये हैं—सप्तविधा खलु रोगा भवन्ति । सह-गर्भ-जात-पीडा-काल-प्रभाव-स्वभावजाः । इनके अर्थ सुश्रुतक्रमानुसार हैं।

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद्दृष्टफलत्वादागमाच्च । यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते । दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः[1] । दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा क्रियते रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽय, मेदोजोऽयम्, अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति ॥८॥

(रोगों में) उन (वात, पित्त और कफ) के लक्षण होने के कारण, (उन लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करने से रोगशान्ति रूप) फल प्रत्यक्ष होने के कारण, तथा शास्त्राधार के कारण समस्त व्याधियों का मूल वात, पित्त और कफ ही (प्रतीत होता) है। जैसे कि विश्व के रूप में प्रकट हुए माया के संपूर्ण विकारसमूह से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण पृथक् नहीं होते, वैसे ही विविध रूप में प्रकट हुए समस्त विकारसमूह को न छोड़कर वात, पित्त और कफ होते हैं। दोषों, धातुओं और मलों के संयोग से, स्थानभेद से तथा निमित्तभेद से इन (रोगों) के अनेक प्रकार होते हैं। दोषों से अत्यंत दूषित हुए धातुओं की ही संज्ञा की जाती है कि यह व्याधि रसज है, रक्तज है, मांसज है, मेदोज है, अस्थिज है, मज्जज है और शुक्रज है ॥८॥

वक्तव्य—मूल—आदिकारण। रोगों के लिये त्रिदोषों का आदिकारणत्व प्रत्यक्षादि चतुर्विध प्रमाणों द्वारा यहाँ सिद्ध किया है। १ अनुमान—तल्लिंगत्वात् । जिसमें वातादि दोषों के लक्षण न हों तथा जिसमें वातादि दोषों के लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षण हों ऐसा कोई भी रोग नहीं दिखाई देता; इसलिये कार्य कारण न्याय से यह कहा जा सकता है कि समस्त रोगों का आदि कारण त्रिदोष है—कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वभावता । इसी सिद्धान्त पर आगे ३५वें अध्याय में अज्ञात रोगों की चिकित्सा दोषानुसार करने के लिये लिखा है—अनुक्तमपि दोषाणां लिंगैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ २ प्रत्यक्ष—दोषों के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं। उनको देखकर कार्य कारण भाव से विकृत दोषों का निर्णय करके जब चिकित्सा की जाती है तब रोग की शान्ति हो जाती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। आयुर्वेद के निदान पंचक में से उपशय इस प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर अधिष्ठित है। यथा—स्नेहोष्णमर्दनाभ्याञ्च यः प्रणश्येत् स वातिकः । (चरक. सूत्र. अ. १८) । ३ आगम—वेद, ज्योतिष, उपनिषद्, योगशास्त्र और आयुर्वेद के विविध ग्रंथों में भी रोगों का कारण त्रिदोष ही माना गया है । यथा—त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः । ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पतीः ॥ (ऋग्वेद) । त्रिधातु वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशमनविषयं सुखं वहतम् । (सायणाचार्य भाष्य) । बौध्यां दौत्यसुहृद्गुरुद्विजधनं विद्वत्प्रशंसायशोयुक्तिद्रव्यसुवर्णवेसरमहीसौभाग्यसौख्याप्तयः । हास्योपासनकौशलं मतिचयो धर्मक्रियासिद्धयः पारुष्यं श्रमवन्धमानमशुचः पीडा च धातुत्रयात ॥ (वराहमिहिर) । हृदयेभ्योन्तराग्निरग्निस्थाने, पित्तं पित्तस्थाने, वायुर्वायुस्थाने, हृदयं प्राजापत्यात्क्रमात । पित्तप्रस्थं कफस्याढकम् । (गर्भोपनिषद्) । नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि । पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः। ('नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' इस पर का व्यासभाष्य) । ४ उपमान—'यथा हि कृत्स्नं विकारजातम्' इत्यादि। विकारजातम्—(१) प्रकृति से उत्पन्न हुए महदादि तेईस विकार—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति-

---

[1] विकल्पा भवन्ति.

नै विकृतिः पुरुषः । (सांख्यकारिका) । (२) रोगसमूह—विकारो धातुवैषम्यम् । रोगस्तु दोषवैषम्यम् ॥ विश्वरूपेण—(१) संपूर्ण जगत् के स्वरूप में । (२) नानाविधरूपेण । न व्यतिरिच्यन्ते—न पृथक् भवन्ति । अव्यतिरिच्य अपरित्यज्य । संसर्ग— संयोग । विकल्प—भेद । आयतन—स्थान । निमित्त—बाह्यकारण—येनाहारविहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत् । क्षयो वृद्धिश्च दोषाणां निदानं हि तदुच्यते ॥ (वङ्गसेन) । तेषां विकल्पा भवन्ति—दोषादि के कारण इन रोगों के असंख्य भेद होते हैं । जैसे—दोषों के कारण सप्तविध विसर्प, धातुओं के कारण सप्तविध कुष्ठ, मल के कारण आनाह या अतिसार, स्थान के कारण हृद्रोग, मुखरोग, नेत्र रोग और निमित्त के कारण मृत्पाण्डु रोग, कामज्वर, शोकातिसार, भयातिसार, कृमिज शिरोरोग, विषमदात्यय क्रोध ज्वर इत्यादि—त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि । रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ॥ (चरक) । स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः । स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून् ॥ (वाग्भट) । रसजोऽयमिति—यद्यपि रसज शब्द से रोग की उत्पत्ति रस से मालूम होती है, तथापि वास्तव में वह रसस्थित दोष से होती है । व्यवहार में जिस धातु में दोष का अवस्थान होता है उसका नाम घृतदग्ध की भाँति रोग के लिये दिया जाता है, परंतु धातु मलों की रोगहेतुकत्व कल्पना औपचारिक है । रोगकर्तृत्व दोषों के अतिरिक्त और कहीं नहीं हो सकता—रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः संभवन्ति ये । तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

तत्र, अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालवलिपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः ॥९॥

(रसज विकार—) उनमें अन्नद्वेष, अरुचि, अजीर्ण, वदन में पीड़ा, ज्वर, हृल्लास, तृप्ति, भारीपन, हृद्रोग, पाण्डुरोग, स्रोतोवरोध, कृशता, मुख की रुचि में फर्क होना, थकान, योग्य काल के पहले शरीर पर झुर्रियाँ पड़ना और बाल सफेद होना इत्यादि रसस्थ दोष के विकार हैं ॥९॥

वक्तव्य—अन्नाश्रद्धारोचक—अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परन्त्वनिच्छा, अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेदः । (चक्रपाणिदत्त) । हृल्लास—मितली (Nausea) । तृप्ति—सदैव पेट भरा सा मालूम होना—उद्गारशुद्धावपि भक्तकांक्षा न जायते । (सुश्रुत) । (Sense of Satiety) । मार्गोपरोध—अन्न, मल, मूत्र इत्यादि स्रोतसों के कार्य में रुकावट उत्पन्न होना ।

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजाः गुदमुखमेढ्रपाकाश्च ॥१०॥

(रक्तज विकार)—(सब प्रकार के) कुष्ठ, विसर्प, विस्फोट, मशक, नीलिका, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, इन्द्रलुप्त, प्लीहा (की वृद्धि), विद्रधि, (रक्त) गुल्म, वातरक्त, अर्श, अर्बुद, अङ्गमर्द, रक्तप्रदर, रक्तपित्त इत्यादि विकार तथा गुदपाक, मुखपाक, और लिंगपाक रक्तस्थ दोष से होते हैं ॥१०॥

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः ॥११॥

(मांसज विकार—) अधिमांस, अर्बुद, अर्श, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, उपकुश, गलशुण्डिका, अलजी, मांससंघात, ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला इत्यादि मांसस्थ दोषजन्य विकार हैं ॥११॥

ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः ॥१२॥

(मेदोज विकार)—मेदोग्रन्थि, मेदोवृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, मेदोज ओष्ठप्रकोप, मधुमेह, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद प्रभृति मेदःस्थित दोषों के विकार हैं ॥१२॥

वक्तव्य—मधुमेह—मधुमेह शब्द से यहाँ सर्व प्रमेहों का भी ग्रहण हो सकता है । क्योंकि सर्व प्रमेहों में मेदोदुष्टि प्रधान होती है—बह्वबद्धं मेदोमांस...दूष्यविशेषाः । (चरक) । मधुमेह शब्द का प्रयोग भी कभी कभी सर्वप्रमेहों के लिये हो सकता है—मधुमेहशब्दः सर्वप्रमेहे मधुमेहविशेषे च वर्तते, यथा तृणशब्दः सर्वतृणे तृणविशेषे च वर्तते । (चक्रपाणिदत्त) ।

अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः ॥१३॥

(अस्थिविकार—) अध्यस्थि, अधिदन्त, अस्थितोद, अस्थिशूल, कुनख इत्यादि अस्थिगत दोषों के विकार हैं ॥१३॥

वक्तव्य—अध्यस्थि—अस्थि का अर्बुद । इसको (Exostosis) या (osteoma) कहते हैं । अधिदन्त—दाँत का अर्बुद । इसको ओडंटोमा (Odantome) कहते हैं । ये दोनों विकार अस्थि की अतिवृद्धि के निदर्शक हैं ।

तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः ॥१४॥

(मज्जज विकार—) अंधेरी आना, बेहोशी (चक्कर आना), भ्रम, अंगुलियों के पर्वों पर बड़े बड़े व्रण होना, नेत्राभिष्यन्द इत्यादि मज्जास्थित दोषों के विकार हैं ॥१४॥

वक्तव्य—भ्रम—चक्र के ऊपर आरूढ होने के समान सदैव आभास होना । पर्वस्थूलमूलारुर्जन्म—पर्वसु स्थूलमूलानामरूणां जन्म—अरूणां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् । (चरक) । स्थूलमूलानाम्—गंभीरपरिणाहानाम् । (शिवदाससेन) ।

क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः ॥१५॥

(शुक्रज विकार—) षण्ढता, अप्रहर्षण, शुक्राश्मरी, शुक्रमेह और (अन्य) शुक्रदोष ये शुक्रस्थित दोषों से होते हैं ॥१५॥

वक्तव्य—क्लैब्य—बीज (Sperm या ovam) का अभाव होना । क्लैब्य स्त्री और पुरुष दोनों में भी होता है । इसको चरक में 'नरनारिषण्ढ' (शा. अ. २) कहा है । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—एतौ त्वबीजावेव ज्ञेयौ । यदुक्तं सुश्रुते—'अशुक्रस्त्वेव षण्ढकः' (शा. अ. २) । अँग्रेजी में इसको स्टर-

---

१ पर्वगौरवस्थूलमूलोरुजङ्घा.

लिटि (Sterility) कहते हैं। इसमें ध्वजोच्छ्राय हो सकता है, मैथुन भी होता है परन्तु संतान नहीं होती । अप्रहर्ष—म्लानशिश्नता या लिंगशैथिल्य । इसको इम्पोटन्स (Impotence) कहते हैं । शुक्रदोषादयश्च—चरक में शुक्रस्थित दोषों के निम्न विकार अधिक वर्णन किये हैं—रोगि वा क्लीबमल्पायुविरूपं वा प्रजायते । न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि । शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्॥ (सू. अ. २८)।

त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा मलायतनदोषाः ॥१६॥

(मलज विकार—) त्वचा के विकार, (मलों का) सत्सर्ग न होना, अत्यधिक होना या न्यूनाधिक होना ये मलस्थानगत दोषों के विकार हैं ॥१६॥

वक्तव्य—मलों में दोषों का अवस्थान होने से तीन प्रकार के विकार होते हैं। १ अप्रवृत्ति—जैसे, मलावरोध या आनाह, मूत्रावरोध या मूत्राघात और स्वेदावरोध । २ अतिप्रवृत्ति—जैसे, अतिसार या प्रवाहिका, बहुमूत्रमेह या उदकमेह और स्वेदाधिक्य। ३ अयथाप्रवृत्ति—अस्वाभाविक वर्ण गंध इनसे युक्त मलों की प्रवृत्ति । जैसे—'पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु' इत्यादि माधवनिदान में अतिसारोक्त वर्णन किये हुए मल का उत्सर्ग होना, वर्णादिभेद के प्रमेह और दुर्गंधयुक्त पसीना आना। चरक लिखा है—मलानाश्रित्य कुपिता भेदशोषप्रदूषणम् । दोषा मलानां कुर्वन्ति सङ्गोत्सर्गावतीव च ॥ (सूत्र अ. २७) । प्रदूषणम्—प्रदूषणं तु प्रदुष्टवर्णादियुक्तत्वेन प्राकृतवर्णाद्युपघातः। (चक्रपाणिदत्त) । त्वग्दोषाः—त्वक्स्फुटन, त्वग्रौक्ष्य, त्वग्दौर्गन्ध्य इत्यादि त्वचा के क्षुद्ररोग । इन रोगों का समावेश मलज रोगों में करने का कारण स्वेद है। क्योंकि त्वचा की सुस्थिति स्वेद की योग्य प्रवृत्ति पर निर्भर होती है—स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत्। (सु. सू. अ. १५)।

इन्द्रियाणामप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वेन्द्रियायतनदोषाः; इत्येषं[1] समास उक्तः; विस्तरं निमित्तानि चैषां प्रतिरोगं वक्ष्यामः ॥१७॥

(इन्द्रियायतन विकार—) इन्द्रियों की अपने कार्यों में प्रवृत्ति न होना, या ठीक ठीक प्रवृत्ति न होना इन्द्रियस्थानगत दोषों के विकार हैं (धातुगत विकारों का) यह संक्षिप्त कथन किया गया है। इनका विस्तार और (आहारविहारादि उत्पादक) निमित्त आगे (निदान, चिकित्सा और उत्तरतन्त्र में) प्रत्येक विकार के (वर्णन) के समय कहेंगे ॥१७॥

वक्तव्य—अप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा—विनाश अथवा वैकल्य—इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः । उपघातोपतापाभ्यां योजयन्तीन्द्रियाणि ते ॥ (चरक)। इन धातुज विकारों में अंगमर्द, अर्बुद, गलगण्ड इत्यादि विकार अनेक धातुओं में निर्दिष्ट किये गये हैं। इसका कारण यह है कि ये विकार अनेक धातुओं में दोषों का अवस्थान होने से हो सकते हैं।

अब रसज, रक्तज विकार कैसे उत्पन्न होते हैं उनकी संप्राप्ति वर्णन कर रहे हैं—

---

[1] इत्येवं.

भवति चात्र—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र सङ्गः खवैगुण्याद्[1]व्याधिस्तत्रोपजायते ॥१८॥

शरीर में संचार करने वाले कुपित दोषों का स्रोतोवैगुण्य के कारण जहां अवस्थान होता है वहां व्याधि उत्पन्न होती है ॥१८॥

वक्तव्य—परिधावताम्—व्यान वायु की प्रेरणा से रस की भांति समस्त शरीर में परिभ्रमण करने वाले दोषों का। अष्टांगहृदय में लिखा है—व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा । युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः । तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः । दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥ (शा. अ. ३) । इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—एवमनेन न्यायेन दोषाणामपि वातादीनां व्यानेन विक्षिप्यमाणानामेकदेशप्रकोपणं विकारकरणं स्यात्। संगः—संयोग या अवस्थिति। यत्र—धातु मल इन्द्रियों में से जिसमें।

भूयोऽत्र जिज्ञास्यं[2], किं वातादीनां ज्वरादीनां च नित्यः संश्लेषः परिच्छेदो वा? इति; यदि नित्यः संश्लेषः स्यात्तर्हि नित्यातुराः सर्व एव प्राणिनः स्युः; अथाप्यन्यथा[3] वातादीनां ज्वरादीनां चान्यत्र वर्तमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवतीति कृत्वा यदुच्यते वातादयो ज्वरादीनां मूलानीति तन्न ॥१९॥

फिर अब यहां यह भी जानना चाहिये कि वातादि दोषों का और ज्वरादि रोगों का नित्यसंबंध है या पृथक्त्व है? यदि नित्य संबंध हो तो समस्त प्राणिमात्र सदा रोगी ही होते। यदि वातादि का और ज्वरादि का अन्यथा संबंध (परिच्छेद) हो तो 'एक स्थान में होने वालों का चिह्न दूसरे स्थान में नहीं मिल सकता' इस न्याय से वातादि दोष ज्वरादि के मूलकारण हैं यह कथन नहीं (हो सकता) ॥१९॥

वक्तव्य—अत्र—रोगोत्पत्ति के संबंध में। नित्यः संश्लेषः—समवायी सम्बन्ध, जैसे सूर्य और आतप, चंद्र और ज्योत्स्ना तथा अग्नि और उष्णता का होता है। परिच्छेद—विश्लेष या पृथक्त्व, जो पट और तन्तुवाय, घट और कुम्भकार तथा कुण्डल और स्वर्णकार का होता है । अथ—पक्षान्तरोपन्यासार्थ अथ का प्रयोग किया है। अन्यथा—'सम्बन्धः स्यात्तर्हि' इति शेषः । यदि परिच्छेद हो तो। 'अथापि वातादीनां ज्वरादीनामन्यथा सम्बन्धः स्यात्तर्हि' इत्यन्वयः। इति कृत्वा—इति न्यायात् । तन्न—तन्न 'उपपद्यते' इति शेषः। वातादि दोषों को समस्त व्याधियों का मूलकारण मानने पर इनका आपस में सम्बन्ध किस प्रकार होता है? नित्य अपृथक्त्व होता है या नित्य पृथक्त्व होता है?। यदि नित्य अपृथक्त्व हो तो समस्त प्राणियों पर सदा रोगग्रस्त होने की आपत्ति आ जाती है। यदि नित्य पृथक्त्व हो तो वातादि दोषों को रोगों का कारण मानने में ही आपत्ति आ जाती है। इस प्रकार का पूर्वपक्ष इस सूत्र में किया गया है।

---

[1] स्ववैगुण्यात्. [2] भूयोऽत्र जिज्ञास्यते. [3] अथवा.

अत्रोच्यते दोषान् प्रत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति; अथ च न नित्यः संबन्धः; यथाहि विद्युद्वाताशनिवर्षाण्याकाशं प्रत्याख्याय न भवन्ति, सत्यप्याकाशे कदाचिन्न भवन्ति, अथ च निमित्ततस्तत एवोत्पत्तिरिति; तरङ्गबुद्बुदादयश्चोदकविशेषाः एव; वातादीनां ज्वरादीनां च नाप्येवं संश्लेषो न परिच्छेदः शाश्वतिकः, अथ च निमित्तत एवोत्पत्तिरिति ॥२०॥

इस पर कहा जाता है कि दोषों को छोड़कर ज्वरादि नहीं होते, न इनका नित्य सम्बन्ध है। जैसे कि बिजली, वायु, वज्र और वर्षा आकाश को छोड़कर (अन्यत्र) नहीं होते, आकाश के सदा वर्तमान होने पर भी कभी कभी नहीं होते, किन्तु निमित्त होने पर वहाँ ही उत्पन्न होते हैं, जैसे कि लहरी, बुलबुले इत्यादि जल के विशेष (जल को छोड़कर अन्यत्र नहीं होते, निमित्त मिलने पर जल ही से उत्पन्न होते हैं;) वैसे ही वातादि दोषों और ज्वरादि रोगों का न नित्य सम्बन्ध है न नित्य पृथक्त्व है, किन्तु निमित्तों के कारण वातादि दोषों से ही उत्पन्न होते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—पूर्व सूत्र में जो पूर्वपक्ष किया गया था इसका समाधान इस सूत्र में किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि तरंगादि उदक विशेष जैसे उदक के अतिरिक्त नहीं होते, उदक ही से उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के लिये वातप्रविचारादि निमित्तों की आवश्यकता होती है, वैसे ही ज्वरादि रोग त्रिदोषों के अतिरिक्त नहीं होते, त्रिदोषों से ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के लिये मिथ्याहाराचारादि निमित्तों की आवश्यकता होती है। अर्थात् ज्वरादि रोग शरीर में सर्वदा न होने के कारण वातादि दोषों और ज्वरादि रोगों का नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, तथा वातादि दोषों के लक्षणों के अतिरिक्त कोई भी रोग न होने के कारण इनका नित्य पृथक्त्व भी नहीं हो सकता। संक्षेप में आहाराचारकालादि रोगों का निमित्त कारण या बाह्य निदान है और वातादि दोष तथा रसरक्तादि धातु रोगों का समवायी कारण या आभ्यन्तरीय निदान होता है। निमित्त कारण को ही निदान कहते हैं—येनाहारविहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत्। क्षयो वृद्धिश्च दोषाणां निदानं हि तदुच्यते॥ (वङ्गसेन)। इस व्याधिसमुद्देशीय अध्याय में व्याध्युत्पत्ति की जो सुन्दर, सरल, और गवेषणापूर्ण परंपरा वर्णन की है वह पाश्चात्त्य विज्ञान की कसौटी पर भी असत्य नहीं हो सकती। सुखावबोध के लिये उस परंपरा का क्रम संक्षेप में नीचे दिया जाता है—१ बाह्य निदान या निमित्त कारण। जैसे—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराध और परिणाम—२ दोषवैषम्य, जैसे एक दो या तीनों दोषों का प्रकोप—३ दूष्यदुष्टि, जैसे एक या अनेक धातुओं तथा एक या अनेक अंगों में उन दोषों के वैषम्य के कारण खराबी उत्पन्न होना—४ रूपव्यक्ति, जब धातुओं और अंगों की खराबी, पूर्णतया या आंशिक, होती है, तब उनके गुणों और कर्मों की हानि या अधिकता होती है। यह ही रूप होते हैं—व्याधि, रूप पूर्णतया प्रकट होने पर उनके समुदाय विशेष को व्याधि कहते हैं—ननु रूपेण व्याधिर्ज्ञायते; न च रूपव्यतिरेकेण व्याधिरुपलभ्यते, यतो मिलिता अरुच्यादय एव ज्वरः, कासाद्येकादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा। उच्यते—नैवम्, तथाविधदोषदूष्यसंमूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः। तत्कार्याश्चारुच्यादयः। किंवा अरुच्यादय एव प्रत्येकशो रूपाणि तत्समुदायो व्याधिः, यतः समुदायिभ्योऽन्य एव समुदायः, यथा—खादिरतरूणां वनमिति। (श्रीकण्ठदत्त मधुकोशव्याख्या)।

भवति चात्र—

विकारपरिमाणं च संख्या चैषां पृथक् पृथक्।
विस्तरेणोत्तरे तन्त्रे सर्वाबाधाश्च वक्ष्यते ॥२१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्याधिसमुद्देशीयो
नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

विकारों की पूर्ण संख्या, उनके भेदों की पृथक् पृथक् संख्या और सर्व उपद्रव विस्तारपूर्वक उत्तरतन्त्र में वर्णन किये जायँगे ॥२१॥

वक्तव्य—विकारपरिमाण—इतीयं समुदायसंख्या—व्याधीनां तु सहस्रं यच्छतं विंशतिरेव च। (उत्तरतन्त्र. अ. ६६)। पृथक् पृथक्—अवयवसंख्या। यथा—षडर्शांसि, चतस्रोऽश्मर्यः अष्टादशकुष्ठानि इत्यादि। बाधा—उपद्रव। उत्तरे तन्त्रे—सूत्रस्थान के आगे निदानस्थान में तथा उत्तर स्थान में।

सुश्रुतसंहिता में जितने रोग वर्णन किये हैं, स्थानानुसार संख्यासहित उनके श्लोकबद्ध नाम डल्हणाचार्य ने उत्तरतन्त्र के ६६ वें अध्याय में 'व्याधीनां तु सहस्रं यच्छतं विंशतिरेव च।' इसकी टीका में दिये हैं।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां व्याधिसमुद्देशीयो नाम
चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः।

अथातोऽष्टविधशस्त्रकर्मीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से अष्टविधशस्त्रकर्मीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

छेद्या भगन्दरा ग्रन्थिः श्लैष्मिकस्तिलकालकः।
व्रणवर्त्मार्बुदान्यर्शश्चर्मकीलोऽस्थिमांसगम् ॥२॥
शल्यं जतुमणिर्मांससंघातो गलशुण्डिका।
स्नायुमांससिराकोथो वल्मीकं शतपोनकः ॥३॥
अध्रुषश्चोपदंशाश्च मांसकन्द्यधिमांसकः।

भगन्दर, श्लैष्मिक ग्रंथि, तिलकालक, नाडीव्रण, बवासीर, अर्बुद, चर्मकील, अस्थि और मांसगत शल्य, जतुमणि (क्षुद्ररोग), मांससंघात (मुखरोग), गलशुंडिका, स्नायु मांस और सिराओं का सड़ा हुआ भाग, वल्मीक (क्षुद्ररोग), शतपोनक (भगन्दरभेद), अध्रुष (मुखरोग), उपदंश, मांसकंदी और अधिमांस (मुखरोग) ये विकार छेदन करने योग्य हैं ॥२-३॥

भेद्या विद्रधयोऽन्यत्र सर्वजाद्ग्रन्थयस्त्रयः ॥४॥
आदितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः ।
प्रमेहपिडकाशोफस्तनरोगावमन्थकाः ॥५॥
कुम्भीकानुशयीनाड्यो वृन्दौ पुष्करिकालजी ।
प्रायशः क्षुद्ररोगाश्च पुप्पुटौ तालुदन्तजौ ॥६॥
तुण्डिकेरी गिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाकिणः ।
वस्तिस्तथाऽश्मरीहेतोर्मेदोजा ये च केचन ॥७॥

सान्निपातिक के अतिरिक्त अन्य सब विद्रधि, वातज पित्तज और कफज ग्रंथि, वातज पित्तज और श्लेष्मज विसर्प, वृद्धिरोग, विदारिका (क्षुद्ररोग), प्रमेहपिडका, व्रणशोथ, स्तनविद्रधि, अवमंथक (शूकरोग), कुम्भीका (शूकरोग), अनुशयी (क्षुद्ररोग), नाडीव्रण, दोनों प्रकार के वृन्दरोग (कण्ठरोग), पुष्करिका और अलजी (शूकरोग), प्रायः सर्व क्षुद्र रोग, तालुपुप्पुट और दन्तपुप्पुट, तुण्डिकेरी (तालुरोग), गिलायु (कण्ठरोग), (मुखरोगों में) अन्य पकने वाले रोग, अश्मरी आहरण के लिये बस्ति और कई मेदोरोग ये भेदन करने योग्य विकार हैं ॥४–७॥

लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः किलासमुपजिह्विका ।
मेदोजो दन्तवैदर्भो ग्रन्थिर्वर्त्माधिजिह्विका ॥८॥
अर्शांसि मण्डलं मांसकन्दी मांसोन्नतिस्तथा ।

वातज पित्तज कफज और सन्निपातज रोहिणी (कण्ठरोग), किलास (श्वेतकुष्ट), उपजिह्विका (Ranula), मेदोज दन्तवैदर्भ, ग्रंथि, वर्त्मरोग, अधिजिह्विका (Epiglattitis), बवासीर, मंडल (कुष्ठभेद), मांसकंद, मांसोन्नति (दुष्टमांसाभिवृद्धि) ये विकार लेखन करने योग्य हैं ।

वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम् ॥९॥

बहुत प्रकार की सिराएँ, मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और जलोदर ये रोग वेधन करने योग्य हैं ॥९॥

एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये ।

नाड़ीव्रण, शल्ययुक्त व्रण और तिर्यग्गति युक्त व्रण शलाका द्वारा एषण करने योग्य हैं ।

आहार्याः शर्करास्तिस्रो दन्तकर्णमलोऽश्मरी ॥१०॥
शल्यानि मूढगर्भाश्च वर्चश्च निचितं गुदे ।

तीनों प्रकार की शर्कराएँ दंतशर्करा (Tarter), पादशर्करा, मूत्रशर्करा (Gravel), दाँत और कान का मैल, अश्मरी, सब प्रकार के शल्य (Foreign body), मूढगर्भ, और गुदा में जमा हुआ कड़ा मल ये आहरण करने योग्य हैं ॥१०॥

स्राव्या विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजादृते ॥११॥
कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः ।
पाल्यामयाः श्लीपदानि विषजुष्टं च शोणितम् ॥१२॥
अर्बुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितस्तु ये ।
त्रयस्त्रयश्चोपदंशाः स्तनरोगा विदारिका ॥१३॥
सुषिरो गलशालूकं कण्टकाः कृमिदन्तकः ।
दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुप्पुटः ॥१४॥
पित्तासृक्कफजाश्चौष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयशः ।

सन्निपातज विद्रधि के सिवा पाँचों विद्रधि, कुष्ट, शूलयुक्त वायु, एक स्थान में उत्पन्न हुआ शोथ, कर्णपाली के रोग, श्लीपद (Elephantiasis), विषयुक्त रक्त, अर्बुद, विसर्प, प्रारंभिक तीन ग्रंथि और तीन उपदंश, स्तनरोग, विदारिका (क्षुद्ररोग), सौषिर (दन्तरोग), कण्टक (पादरोग), गलशालूक, कृमिदन्तक, दन्तवेष्ट, उपकुश, शीताद, दन्तपुप्पुट, पित्त रक्त और कफ जन्य ओष्ठ रोग और बहुत से क्षुद्ररोग रक्त-स्रवण करने योग्य होते हैं ॥११–१४॥

वक्तव्य—कुछ विकार अनेक शस्त्रकर्मों के लिये योग्य बतलाये गये हैं । इसका कारण यह है कि विकार की स्थिति तथा रोगी की स्थिति के अनुसार अनेक शस्त्रकर्मों का प्रयोग उस विकार की चिकित्सा के लिये करना पड़ता है—कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥ (सु.) ।

सीव्या मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः ॥१५॥
सद्योव्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः[1] ।

मेदोभव रोग जिनका भेदन और लेखन ठीक किया गया है, ताजे घाव (जो धूलि आदि से दूषित हों) और चलायमान संधियों के आश्रित जो घाव हों वे सीवन करने योग्य हैं ।

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में निम्न व्रण सीवन करने योग्य बतलाये हैं—सद्यः सद्योव्रणान् सीव्येद्विवृत्तानभिघातजान् । मेदोजान् लिखितान् ग्रंथीन् ह्रस्वाः पालिश्च कर्णयोः ॥ शिरोक्षिकूटनासौष्ठगण्डकर्णोरुबाहुषु । ग्रीवाललाटमुष्कस्फिङ्मेढ्रपायूदरादिषु । गंभीरेषु प्रदेशेषु मांसलेष्वचलेषु च ॥ (सूत्रस्थान अ. २९) ।

न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मारुतवाहिनः ॥१६॥
नान्तर्लोहितशल्याश्च तेषु सम्यग्विशोधनम् ।

क्षार, अग्नि और विष से उत्पन्न हुए, पवनवाही तथा जिनके भीतर रक्त तथा शल्य हों ऐसे व्रणों का सीवन नहीं करना चाहिये । इनके बारे में (प्रथम) शोधन करना आवश्यक है ।

वक्तव्य—न तु वंक्षणकक्षादावल्पमांसचले व्रणान् । वायुनिर्वाहिणः शल्यगर्भान् क्षारविषाग्निजान् ॥ (अष्टांगहृदय) । मारुतवाहिनः—वायुजनक जीवाणुओं का प्रवेश होने से व्रण में वायु उत्पन्न होती है और बाहर निकला करती है । ये जीवाणु वात भी (Anaerobes) हैं और इनमें बैसीलस वेलची और विब्रिओ सेप्टिक (B. Welchii and Vibrio Septic) प्रधान हैं ।

पांशुरोमनखादीनि चलमस्थि भवेच्च यत् ॥१७॥
अहृतानि यतोऽमूनि पाचयेयुर्भृशं व्रणम् ।
रुजश्च विविधाः कुर्युस्तस्मादेतान् विशोधयेत् ॥१८॥

धूलि, बाल, नाखून इत्यादि वस्तु तथा हड्डी के चलायमान टुकड़े यदि व्रण से न निकाले जायँ तो व्रण को बहुत पका देते हैं तथा नाना प्रकार की पीड़ा करते हैं । इसलिये धूलि आदि से व्रण का विशोधन करना चाहिये ॥१७–१८॥

---

[1] चलसन्धिव्यपाश्रयाः.

शक्ति का नाश । दशार्धसंख्येषु—मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और संधि इन पाँच मर्मों में ।

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं
रक्तं स्रवेद्वै क्षततश्च वायुः ।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तां-
श्छिन्नासु भिन्नास्वथवा सिरासु ॥३४॥
कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः
क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।
चिराद्व्रणो रोहति यस्य चापि
तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३५॥
शोफातिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च
बलक्षयः पर्वसु भेदशोफौ ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु
स्यात् सन्धिकर्मोपरतिश्च लिङ्गम् ॥३६॥
घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु
सर्वास्ववस्थासु न शान्तिरस्ति ।
तृष्णाऽङ्गसादौ श्वयथुश्च रुक्तः
तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३७॥

सिराओं के छेदन तथा भेदन होने में इन्द्रगोप के समान (लाल रंग का) रक्त घाव से बहुत निकलता है और वायु (प्रकुपित होकर) अनेक प्रकार के रोग कर देता है ॥३४॥ शरीर के अंग में वक्रता, स्तब्धता, स्वकार्य करने की शक्ति न होना, तीव्र पीड़ा और घाव का देर से भर आना ये लक्षण जिसमें होते हैं, उस पुरुष के स्नायु का वेध हुआ है ऐसा समझना चाहिये ॥३५॥ अतिशय शोथ, दारुण पीड़ा, बलक्षय, जोड़ों में स्फोटन की पीड़ा और शोथ तथा विद्ध संधि की कार्य-हानि ये लक्षण चल या अचल संधि के छेदन में होते हैं ॥३६॥ जिसको रात दिन तीव्र पीड़ा हो, किसी भी अवस्था में चैन न पड़े, तृषा और अंगों का थकान हो और (क्षत के स्थान में) शोथ तथा पीड़ा हो उस मनुष्य का अस्थि कट गया ऐसा समझना चाहिये ॥३७॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में मर्मरहित सिरा, स्नायु, संधि और अस्थि इनके वेध के लक्षण वर्णन किये हैं । वायुः—रक्त का अधिक स्राव होने से वायु प्रकुपित होता है—धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः । पवनश्च परं कोपं याति ॥ माधवनिदान में इसलिये इस श्लोक का पाठ ऐसा है 'रक्तं स्रवेत्तत् क्षयजश्च वायुः । यथोक्तान—शोणितवर्णनीयाध्यायोक्ता । यथा—'तदतिप्रवृत्तं शिरोभितापमान्ध्यमाक्षेपार्दींश्च करोति' ॥ कौब्ज्य—जिस अंग में स्नायु-वेध हुआ है उसीकी वक्रता । भेद—विदारणवत् पीड़ा विशेष । संधिष्वचलाचलेषु—स्थिर तथा हिलने वाले संधियों में—शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तश्च संधयः । शेषास्तु संधयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥ (सुश्रुत) । अचल (Immovable), चल (Movable) । क्रियास्वशक्तिः—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण इत्यादि क्रिया करने की शक्ति न होना । कर्मोपरतिः—कर्म हानि (Loss of Function) ।

यथास्वमेतानि विभावयेयु-
र्लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।
स्पर्शं न जानाति विपाण्डुवर्णो
यो मांसमर्मण्यभिताडितः स्यात् ॥३८॥

मर्म स्थानों के अभिघात में उपरोक्त लक्षण स्थान के अनुसार जानने चाहिये । जो मांस मर्म में ताड़ित हुआ है, वह मनुष्य स्पर्श नहीं जानता है तथा वर्ण में फीका पीला हो जाता है ॥३८॥

वक्तव्य—ऊपर चार श्लोकों में क्रम से सिरा, स्नायु, संधि और अस्थि इनके वेध के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे ही लक्षण (यथास्वमेतानि) सिरामर्म, स्नायुमर्म, संधिमर्म और अस्थिमर्म इनमें अभिघात होने से क्रमशः होते हैं यह पहले श्लोकार्ध का तात्पर्य है । दूसरे श्लोकार्ध में अनुक्त मांसमर्म के वेध से होने वाले लक्षण दिये गये हैं । माधवनिदान में 'विभावयेच्च' ऐसा पाठ है और उसके अनुसार भ्रमप्रलापादिक सामान्य तथा सुरेन्द्र गोपादिक विशेष लक्षण मर्म के वेध में समझना चाहिये—चकारोऽयं भिन्नक्रमे । एतानि चेत्यत्र द्रष्टव्यः । तेन न केवलं भ्रमप्रलापादीनि पूर्वोक्तानि किन्त्वमर्मविद्धसिरादिलिंगान्यपि यथास्वं बोद्धव्यानीत्यर्थः । (डल्हण) ।

आत्मानमेवाथ जघन्यकारी
शस्त्रेण यो हन्ति हि कर्म कुर्वन् ।
तमात्मवानात्महनं कुवैद्यं
विवर्जयेदायुरभीप्समानः ॥३९॥

जो हीनकर्म करने वाला वैद्य शस्त्रकर्म करता हुआ अपने को शस्त्र से छेदन करता है उस आत्मघाती मूर्ख वैद्य का, सजीव रहने की इच्छा करने वाला बुद्धिमान् रोगी, दूर से ही परित्याग करे ॥३९॥

वक्तव्य—जघन्यकारी—स्वगात्रच्छेदन जैसा हीन कर्म करने वाला ।

तिर्यक्प्रणिहिते शस्त्रे दोषाः पूर्वमुदाहृताः ।
तस्मात् परिहरन् दोषान् कुर्याच्छस्त्रनिपातनम् ॥४०॥

तिरछा शस्त्रपद करने से जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे पहले (पाँचवें अध्याय में 'अन्यधातुसिरास्नायुविपाटनम्, अतिमात्रं वेदना' इत्यादि से) वर्णन हो चुके हैं । इसलिये उक्त दोषों का (सिरास्नायुच्छेदन, अतिमात्रवेदना, मांसकन्दीप्रादुर्भाव) परिहार जिस प्रकार से हो, उस प्रकार शस्त्रकर्म करना चाहिये ॥४०॥

मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः ।
अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥४१॥
विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्कते ।
तस्मात् पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक् ॥४२॥

रोगी मनुष्य माता, पिता, पुत्र और बांधवों से भी शंका करता है परन्तु वैद्य से पूरा पूरा विश्वास रखता है ॥४१॥ और अपनी खुशी से अपने शरीर को वैद्य के हाथों में सौंप देता है परन्तु उस पर शंका नहीं करता । इसलिये वैद्य को भी चाहिये कि वह पुत्र की तरह से रोगी की रक्षा और देख भाल करे ॥४२॥

---

१ रुक् च.

वक्तव्य—विसृजति—अर्पण करता है । आत्मना—स्वयमेव । आत्मानम्—अपने शरीर को ।

धर्मार्थौ कीर्तिमित्यर्थं[1] सतां ग्रहणमुत्तमम् ।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥४३॥

हितकर यानि दोषरहित कर्म करने वाले वैद्य को धर्म, अर्थ, कीर्ति, सज्जनों में आदर (ग्रहण) और स्वर्गवास प्राप्त होता है ॥४३॥

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा ।
विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥४४॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽष्टविधशस्त्रकर्मण्यो
नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥

कोई विकार एक कर्म करके, कोई दो कर्म करके, कोई तीन कर्म करके और कोई चार कर्म करके साध्य होता है ॥४४॥

वक्तव्य—कर्म—विशेष अर्थ अष्टविध शस्त्रकर्म, सामान्य अर्थ चिकित्सा कर्म यथा वमन विरेचनादिक अन्तःपरिमार्जन कर्म, स्नेह, स्वेद, अभ्यंग इत्यादि बहिःपरिमार्जन कर्म और अष्टविध शस्त्रकर्म । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि विकार साध्य करने के लिये चिकित्सा कर्मों की कोई इयत्ता नहीं हो सकती । रोग, रोगी इनके बलाबल के अनुसार जितने उपायों को अंगीकार करना वैद्य को उचित मालूम हो, उतने उपायों को अंगीकार करके विकार साध्य कर लेना चाहिये ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायामष्टविधशस्त्रकर्मण्यो नाम
पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः प्रनष्टशल्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से प्रनष्टशल्यविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—प्रनष्टशल्यविज्ञानीय—शरीर के भीतर प्रविष्ट होने के कारण अदृष्ट हुए शल्य की उपस्थिति जानने का विज्ञान जिसमें वर्णन किया है, ऐसा अध्याय ।

'शले'[2] 'श्वल' आशुगमने धातुः; तस्य शल्यमिति रूपम् । तद्द्विविधं शारीरमागन्तुकं च ॥२॥

'शल' 'श्वल' ये शीघ्रगमनार्थक धातु होते हैं । इनसे यक् प्रत्यय होने से शल्य रूप सिद्ध होता है । वह दो प्रकार का है—१ शारीरिक, और २ आगन्तुक ।

वक्तव्य—शल्यं—'शलत्याशु गच्छति वेगेनान्तःशरीरमनुप्रविशति' इति शल्यम् । इसके सिवाय और दो अर्थ शल्य के होते हैं—'शल' हिंसायां धातुस्तस्य शल्यमिति रूपम् । 'शल' रुजायां धातुस्तस्य वा शल्यमिति रूपम् ।

सर्वशरीराबाधकरं शल्यं, तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम् ॥३॥

समस्त शरीर में जो पीड़ा करता है, वह शल्य है । उसी का प्रतिकार यहाँ कहा जाता है । इसलिये यह शल्यशास्त्र कहलाता है ॥३॥

वक्तव्य—सर्वशरीर—समनस्क शरीर—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् । (न्यायसूत्र) । तदिहोपदिश्यते—तत् (शल्यम्) इह (अमुष्यां सहितायाम्) उपदिश्यते 'प्रतिकारार्थम्' इति शेषः ।

तत्र शारीरं रोमनखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः; आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दुःखमुत्पादयन्ति ॥४॥

उनमें से दुष्ट बाल, नाखून इत्यादि (धातुओं के मल), दुष्ट (रसादिक) धातु, (मूत्रादिक) अन्न के मल और दुष्ट (वातादिक) दोष शारीरिक शल्य कहलाते हैं । और शारीरिक शल्य से व्यतिरिक्त जितने भाव दुःख उत्पन्न करते हैं, वे सब आगन्तुक शल्य कहलाते हैं ॥४॥

वक्तव्य—दुष्टाः—शरीर धारण करने वाले सब धातु जब मलस्वरूप होते हैं, तब शल्य बन जाते हैं । इसलिये दुष्ट का सम्बन्ध रोम नखादि से दोष तक समझना चाहिये । शारीरिक शल्य कायचिकित्सा की परिभाषा में मलस्वरूप धातु कहलाता है—शरीरधातवः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण—मलभूताः प्रसादभूताश्च । तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युस्तद्यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः, ये चान्येऽपि केचित् शरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते सर्वांस्तान् मलान् संचक्ष्महे । (चरक) । भावाः—तृण, काष्ठ, पाषाण, लोह, लोष्ट्र इत्यादि पदार्थ । अंग्रेजी में आगन्तुक शल्य को 'फॉरिन बॉडी' (Foreign body) कह सकते हैं ।

अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृङ्गास्थिमयेषु[1], तत्रापि विशेषतो लोहेष्वेवं, विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य, लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद्दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः ॥५॥

शल्यत्व का अधिकार लोह, बाँस, वृक्ष, तृण, सींग, अस्थि इनके पदार्थों में ही होता है । परन्तु उनमें भी हिंसार्थप्रयुक्त होने के कारण लोह के पदार्थों में ही विशेष करके होता है । लोहे के पदार्थों में भी दुर्निवारक, सूक्ष्म मुख और दूर से ही प्रयुक्त होने पर भी कार्यकारी होने के कारण बाण ही (विशेष करके शल्यपद के लिये) अधिकारी है ॥५॥

वक्तव्य—सूत्र तीन और चार में शल्य की जो व्यापक व्याख्या की गई है, उसके अनुसार शल्य अनंत होते हैं, जिनका प्रतिकार की दृष्टि से इस अध्याय में वर्णन करना असंभव है । इसलिये शल्य कहने योग्य पदार्थों का प्रथम निर्देश करके तत्पश्चात् लोहे के शर का ही विचार इस अध्याय में क्यों किया गया है, इसके कारण बतलाये हैं । अत्यंत प्राचीन काल से सुश्रुत के समय तक युद्ध के लिये बाणों का ही उपयोग अधिक हुआ करता था । ये बाण अत्यंत कठिन, तीक्ष्ण मुख वाले होते

---

[1] कीर्तिप्रीत्यर्थं. कीर्तिमत्यर्थं. [2] 'शल' हिंसायां धातुस्तस्य शल्यमिति रूपम्. 'शल' रुजायाम्.

[1] लोहमयेष्वेव. [2] 'निर्वाहित्वात्' 'निर्वासित्वात्'.

थे और दूर से ही अत्यंत वेग के साथ आते हुए कवच आदि का प्रतिबन्ध तोड़कर शरीर के भीतर (दुर्वारत्वात्, दूरप्रयोजनकरत्वाच्च) प्रविष्ट होकर अत्यंत पीड़ा देते थे। शल्य शब्द की विशेष निरुक्ति (सूत्र २) बाणों की शरीर के भीतर प्रवेश करने की क्रिया की दृष्टि से की गई है और सामान्य निरुक्ति पीड़ा या हिंसा करने की क्रिया की दृष्टि से की गई है। शल्यविज्ञान और चिकित्सा का उदय प्रथम इन बाणों के लिये ही हुआ है। इसलिये समस्त शस्त्रचिकित्सा को शल्यचिकित्सा या शल्यतंत्र कहते हैं। लोह—प्रथम और द्वितीय लोहशब्द सुवर्णादिक पंचलोह पर है। तृतीय और चतुर्थ लोहशब्द आयसपर (Iron) है। विशसनार्थोपपन्नत्वात्—हिंसार्थोपयोगित्वात्। दुर्वारत्वात्—निष्प्रतिबंधेनान्तःशरीरप्रवेशित्वात्। दूरप्रयोजनकरत्वाच्च—दूरादपि हिंसाकार्यसंपादकत्वात्। शर एवाधिकृतः—'शल्यत्वेन अस्मिन्नध्याये' इति शेषः।

स द्विविधः कर्णी[1], श्लक्ष्णश्च; प्रायेण विविधवृक्षपत्रपुष्पफलतुल्याकृतयो व्याख्याता व्यालमृगपक्षिवक्त्रसदृशाश्च ॥६॥

यह शर दो प्रकार का होता है—१ कर्णयुक्त, और २ कर्णरहित। ये बाण बहुधा अनेक प्रकार के वृक्षों के पत्तों के और फूलों के आकार के सदृश तथा सर्प मृग पक्षियों के मुख के आकार के सदृश होते हैं ॥६॥

वक्तव्य—कर्णी श्लक्ष्णश्च—जिसके पिछाड़ी में कुछ लगा हुआ है, वह कर्णी और जो बिलकुल सीधा है, वह श्लक्ष्ण कहलाता है। इन बाणों के मुख (शरीर में प्रवेश करने वाली सिरा) विविध आकार के होते हैं। इसलिये उनका संक्षेप से और सामान्य रूप से वर्णन किया गया है 'विविधवृक्ष' इत्यादि। यथा कुछ पीपल के पत्तों के समान चौड़ी और चपटी नोक वाले, कुछ कनेर के पत्तों के समान लंबी और चपटी नोक वाले, कुछ मालती कलिका के समान गोल नोक वाले, कुछ एलाफल के समान तिधारी नोक वाले और कुछ सिंह, व्याघ्र, हरिण, काक, कङ्क इत्यादि प्राणियों के मुख के समान नोक वाले होते हैं।

सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा पञ्चविधो गतिविशेष ऊर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्यगृजुरिति ॥७॥

छोटे बड़े सब शल्यों की पाँच प्रकार की गतिविशेष होती है—१ ऊपर को, २ नीचे को, ३ विपर्यस्त, ४ तिर्यक्, और ५ सरल ॥७॥

वक्तव्य—नीचे से आने वाले शर की गति शरीर में ऊपर की ओर होती है। ऊपर से आने वाले की नीचे की ओर होती है, पार्श्व से आने वाले की तिर्यक् होती है, अग्रप्रदेश से सीधे आने वाले की सरल होती है और कभी कभी शरीर की ओर आने वाली दिशा के विरुद्ध या विपर्यस्त दिशा में भी शरीर की गति शरीर के भीतर होती है। यथा—पार्श्व से आकर शरीर में सरल प्रवेश करना इत्यादि। इस गति को अर्वाचीन गति कहते हैं।

तानि वेगक्षयात् प्रतिघाताद्वा त्वगादिषु व्रणवस्तुष्ववतिष्ठन्ते, धमनीस्रोतोऽस्थिविवरपेशीप्रभृतिषु वा शरीरप्रदेशेषु ॥८॥

वे शल्य वेग का क्षय होने से या प्रतिघात से त्वचा आदि व्रण के अधिष्ठानों में तथा धमनी, स्रोत और अस्थियों के विवरों में तथा मांसखंडादि शरीर के प्रदेशों में स्थित होते हैं ॥८॥

वक्तव्य—वेगक्षयात्—बाण की गति कम होने से। बाण की गति अधिक दूर से आने के कारण कम हो जाती है अथवा समीप होने पर भी धनुराकर्षण बहुत न करने से कम रहती है। प्रतिघाताद्वा—अस्थि जैसे कठिन अथवा मांस खंड जैसे मृदु परन्तु मोटे पदार्थ के प्रतिबंध से। व्रणवस्तु—व्रण के आठ अधिष्ठान—त्वगामिषसिरास्नायुसन्ध्यस्थीनि व्रणाशयाः। कोष्ठो मर्म च तान्यष्टौ। (वाग्भट)। धमनीस्रोतोऽस्थिविवर—धमनीविवर, स्रोतोविवर और अस्थिविवर। शरीरप्रदेशेषु—धमन्यादिशरीरप्रदेशेषु 'अवतिष्ठन्ते' इति शेषः।

तत्र शल्यलक्षणमुच्यमानमुपधारय। तत्तु द्विविधं—सामान्यं, वैशेषिकं च। श्यावं पिडकाचितं शोफवेदनावन्तं मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं बुद्बुदवदुन्नतं मृदुमांसं च व्रणं जानीयात् सशल्योऽयमिति। सामान्यमेतल्लक्षणमुक्तम् ॥९॥

वहाँ (स्थित होने पर) शल्य के लक्षण जैसे कहे जाते हैं, श्रवण करो। ये लक्षण दो प्रकार के होते हैं—१ सामान्य, और २ विशेष। यदि व्रण श्यामवर्ण हो, पिटका शोथ और वेदनायुक्त हो, बारंबार रुधिर निकलता हो, बुलबुले के तुल्य ऊँचा उठा हो, कोमल मांस युक्त हो तो समझना चाहिये, वह शल्ययुक्त है और यही शल्ययुक्त व्रण का सामान्य लक्षण है ॥९॥

वक्तव्य—सामान्य से व्रण की सशल्यता प्रतीत होती है और विशेष से शल्य का अधिष्ठान मालूम होता है।

वैशेषिकं तु—त्वग्गते विवर्णः शोफो भवत्यायतः कठिनश्च; मांसगते शोफाभिवृद्धिः शल्यमार्गानुपसंरोहः पीडनासहिष्णुता चोषपाकौ च; पेश्यन्तरस्थेऽप्येतदेव चोषशोफवर्जं; सिरागते सिराध्मानं सिराशूलं सिराशोफश्च; स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षेपणं संरम्भश्चोग्रा रुक् च; स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः ॥१०॥

(स्थान के अनुसार) विशेष लक्षण ये हैं—त्वचा में शल्य हो तो त्वचा का वर्ण बदल जाता है तथा शोथ विस्तृत और कड़ा होता है। मांसगत शल्य हो तो शोथ की वृद्धि, शल्य के मार्ग का न भरना, स्पर्शनाक्षमता (Tenderness), दाह और पाक ये लक्षण होते हैं। पेशी में शल्य हो तो चोष और शोथ के अतिरिक्त मांसगत शल्य के ही लक्षण होते हैं। सिरा में शल्य होने से (रक्तप्रवाह रुक जाने से) सिरा का फूलना, सिरा में वेदना तथा शोथ (Phlebitis) होता है। स्नायु में शल्य हो तो स्नायुओं का

---

[1] कर्णवान्.

संकोच (और उसी के कारण ऊपर को होना), तीव्र शोथ और दारुण वेदना होती है। स्रोत में शल्य हो तो स्रोत के कार्य की हानि हो जाती है ॥१०॥

धमनीस्थे सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गमर्दः पिपासा हृल्लासश्च; अस्थिगते विविधवेदनाप्रादुर्भावः शोफश्च; अस्थिविवरगतेऽस्थिपूर्णताऽस्थितोदः संहर्षो बलवांश्च; सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरमश्च; कोष्ठगत आटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखात्; मर्मगते मर्मविद्धवच्चेष्टते । सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यस्पष्टानि भवन्ति ॥११॥

धमनीगत शल्य हो तो झागयुक्त रक्त को बाहर निकालता हुआ वायु शब्द के साथ निकलता है तथा अंगमर्द, तृषा और उबकाई होती है। अस्थि में शल्य हो तो विविध प्रकार की पीड़ा और सूजन उत्पन्न होती है। अस्थि के छिद्र में शल्य हो तो उसका भर जाना, अस्थियों में पीड़ा और व्याकुल हो जाना ये लक्षण होते हैं। संधि में शल्य हो तो अस्थिगत शल्य के लक्षण होते हैं तथा संधिचेष्टा बंद हो जाती है। कोष्ठ में शल्य हो तो आटोप, आनाह तथा व्रण के मुख से मूत्र, पुरीष और आहार का दर्शन होता है। मर्मगत शल्य हो तो मर्मवेध की भाँति चेष्टा करने लगता है। सूक्ष्म शल्य में ये ही लक्षण अस्पष्टता से होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—धमनीस्थे—धमनी में रक्त के साथ वायु भी होता है, ऐसी प्राचीन काल में कल्पना थी—देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम् । तत्संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥ संकोचने वहिर्याति वायुरंतर्विकासतः । ततो नाड्यश्चलन्त्यस्रग्धरायाः स्फुरणं ततः ॥ (उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्)। अस्थिविवर—अस्थियों के बीच की नाली (Medullary Cavity)। अस्थिपूर्णता—अस्थि के विवर का रक्त लसिकादि से भर जाना। संहर्षः—आकुलत्वम् (इन्दु), अत्यन्त व्याकुल होना वेदना के कारण। चेष्टोपरमः—प्रसारण, आकुंचन, उत्क्षेपण अवक्षेपणादि क्रियाओं का बंद हो जाना। आटोप—उदर में वात के कारण गुड़गुड़ शब्द होना। आनाह—मलावरोध—मूत्रपुरीषाहारदर्शनम्—बस्ति में शल्य प्रविष्ट होने से मूत्रदर्शन, स्थूलान्त्र में प्रविष्ट होने से मल का दर्शन और आमाशय में प्रविष्ट होने से आहार का दर्शन हो सकता है—कोष्ठस्थे शल्ये व्रणमुखात् स्थानविशेषेण यथासंभवं मूत्रादिदर्शनादि भवति। (इन्दु)। यहाँ कोष्ठ से केवल उदर विभाग (Abdomen) अभिप्रेत है यद्यपि उसमें वक्षविभाग का भी समावेश किया जाता है—स्थानान्यामाग्निपक्कानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ मर्मविद्धवत्—मर्म का वेध होने से जो लक्षण होते हैं, वैसे लक्षण रोगी में दिखाई देते हैं—मर्मवेध के सामान्य लक्षण संग्रह में ये दिये हैं—सामान्यलक्षणं पुनर्मर्मणां पीडिते रुजोत्पत्तिर्विषमं च स्पन्दनम् । सामान्येनैव च —देहप्रसुप्तिर्गुरुता संमोहः शीतकामिता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥ स्थान के अनुसार विशेष लक्षण। शारीरस्थान के छठे अध्याय में वर्णन किये हैं। परंतु मर्मवेध में विशेष लक्षणों की अपेक्षा सामान्य लक्षण अधिक महत्त्व के हैं। यह जो मर्मवेध का लक्षण समूह होता है, उसे अंग्रेजी में शॉक (Shock) कहते हैं। मर्म के ऊपर भारी चोट लग जाने से अथवा शल्य प्रविष्ट होने से तीव्र पीड़ा होती है जिससे मस्तिष्क का कार्य थोड़े समय के लिये विरल हो जाता है और इस कारण शरीर की सारी शक्तियाँ और कार्य अत्यंत मन्द हो जाते हैं और रक्त का भार (Blood pressure) भी कम हो जाता है। सूक्ष्मगतिषु शल्येषु—सूक्ष्मगतियुक्त शल्यों में अर्थात् सूक्ष्म आकार के शल्यों में—सूक्ष्मशल्येषु। (इन्दु)।

महान्त्यल्पानि[१] वा शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टानि रोहन्ति विशेषतः कण्ठस्रोतःसिरात्वक्पेश्यस्थिविवरेषु; दोषप्रकोपव्यायामाभिघाताजीर्णेभ्यः प्रचलितानि पुनर्बाधन्ते ॥१२॥

वातादि से अदूषित देह वालों के अनुलोम रूप से प्रविष्ट हुए छोटे या बड़े शल्ययुक्त व्रण, विशेष करके कण्ठ, सिरा, त्वचा, पेशी और अस्थिविवर इन स्थानों के व्रण भर जाते हैं। परंतु दोषप्रकोप से, व्यायाम से तथा अभिघात से प्रचलित होने पर फिर पीड़ा करने लगते हैं ॥१२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शरीर के भीतर शल्य होने पर भी व्रण भर जाने से शल्य प्रनष्ट यानि अदृश्य होने का कारण तथा अदृष्ट होने पर शल्य को निकालने की क्यों आवश्यकता है, उसका कारण बतलाया है। महान्त्यल्पानि वा रोहन्ति—महान्ति, अल्पानि वा शल्यानि रूढव्रणानि भवन्ति। अनुलोमसन्निविष्टानि—स्वल्पाबाधं सन्निविष्टानि। अनुलोम का अर्थ कभी कभी अनुकूल होता है—अनुलोमसुखो वायुरनुसारयतीव माम्। (रामायण)।

तत्र, त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोधूमगोमयमृदितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, स्त्यानघृतमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धायां शल्योष्मणाऽऽशु विसरति घृतमुपशुष्यति वा लेपो यत्र तत्र शल्यं विजानीयात्; मांसप्रनष्टे स्नेहस्वेदादिभिः क्रियाविशेषैरविरुद्धैरातुरमुपपादयेत्, कर्शितस्य तु शिथिलीभूतमनवबद्धं क्षुभ्यमाणं यत्र संरम्भं वेदनां वा जनयति तत्र शल्यं विजानीयात्; कोष्ठास्थिसन्धिपेशीविवरेष्ववस्थितमेवमेव परीक्षेत ॥१३॥

उनमें से त्वचा में यदि शल्य गुप्त हो तो स्नेहन स्वेदन करने पर मृत्तिका, उड़द, जौ, गेहूँ, गोबर इनका चूर्ण त्वचा पर मर्दन करने से जहाँ सुर्खी, शोथ और पीड़ा हो वहाँ शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिये। (दूसरी परीक्षा यह है कि) जमे हुए घृत का लेप या मृत्तिका और चन्दन के कल्क का लेप करने पर जहाँ शल्य की ऊष्मा से घृत पतला होकर झरने लगता है अथवा चंदन का लेप शीघ्र सूखने लगता है, वहाँ शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिये। यदि मांस में शल्य गुप्त

---

[१] मृदून्यल्पानि.

हो तो स्नेहन स्वेदनादि अनुगुण क्रिया विशेषों द्वारा रोगी को उपचार करे और कृश हुए रोगी का ढीला, अपने स्थान से विमुक्त और क्षोभित किया हुआ शल्य जहाँ सुर्खी, शोथ और वेदना उत्पन्न करता है वहाँ ही (उसका स्थान) जानना चाहिये । कोष्ठ, अस्थि, संधि, पेशी और विवर में स्थित हुआ शल्य इसी प्रकार देखना चाहिये ॥१३॥

वक्तव्य—मृन्माषयवगोधूमगोमयमृदितायाम—मृन्माषयवगोधूमगोमयचूर्णमर्दितायाम् । विसरति—द्रव होकर वहाँ से फैलने लगता है । क्रियाविशेषैः—वमन विरेचनादि संशोधनात्मक विशेष क्रियाओं द्वारा—मांसप्रनष्टं संशुद्धया कर्शणात् श्लथतां गतम् । (वाग्भट) । क्षुभ्यमाणम्—यानारोहण, व्यायाम, प्रतरण, आकुंचन, प्रसारण, मर्दन इत्यादि क्रियाओं द्वारा क्षोभित किया हुआ ।

सिराधमनीस्रोतःस्नायुप्रनष्टे खण्डचक्रसंयुक्ते याने व्याधितमारोप्याशु विषमेऽध्वनि यायाद्यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं जानीयात्; अस्थिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपाचरेद्यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं जानीयात्; सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसरणाकुञ्चनबन्धनपीडनैर्भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्; मर्मप्रनष्टे त्वनन्यभावान्मर्मणामुक्तं परीक्षणं भवति ॥१४॥

सिरा, धमनी, स्रोत और स्नायु इनमें शल्य गुप्त हो तो टूटे पहिये की गाड़ी में रोगी को बिठा कर विषम मार्ग में शीघ्र चलावे । (उसके झटकों से) जहाँ सुर्खी, शोथ अथवा वेदना होती है, वहाँ शल्य जानना चाहिये । अस्थि में शल्य नष्ट हुआ हो तो स्नेह और स्वेद युक्त अस्थियों को बंधन और मर्दन द्वारा खूब उपचार करे । जहाँ सुर्खी, शोथ अथवा वेदना हो, वहाँ शल्य जानना चाहिये । संधियों में नष्ट हुआ हो तो स्नेह स्वेद युक्त संधियों को प्रसारण, आकुंचन, बंधन और पीड़न द्वारा खूब उपचार करे । जहाँ सुर्खी शोथ अथवा वेदना हो वहाँ शल्य जानना चाहिये । सिरा, मांस इत्यादि वस्तुओं से मर्म पृथक् न होने के कारण यदि उन (मर्मों) में शल्य नष्ट हुआ हो तो उपर्युक्त (त्वगादिस्थित शल्य) परीक्षा विधि द्वारा मर्म स्थित शल्य की भी परीक्षा होती है ॥१४॥

वक्तव्य—अनन्यभावान्मर्मणाम्—'मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसंधिसन्निपाताः'। अर्थात् मांस आदि से मर्म पृथक् नहीं हो सकते हैं इसलिये ।

सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठपर्वतद्रुमारोहणधनुर्व्यायामद्रुतयाननियुद्धाध्वगमनलङ्घनप्रतरणप्लवनव्यायामैर्जृम्भोद्गारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्वातमूत्रपुरीषशुक्रोत्सर्गैर्वा[1] यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं जानीयात् ॥१५॥

और (गुप्तशल्य का) सामान्य लक्षण (यह है कि) हाथी के कंधे, घोड़े की पीठ, पहाड़, वृक्ष इन पर चढ़ना, धनुराकर्षण का व्यायाम करना, शीघ्र चलने वाली गाड़ी में बैठना, कुश्ती लड़ना, मार्ग चलना, कूदते कूदते चलना, तैरना, ऊँचा कूदना, व्यायाम इत्यादि से तथा जंभाई, डकार, खाँसी, छींक, थूकना, हँसना, प्राणायाम इनसे तथा अधोवात, मूत्र, मल और शुक्र इनके उत्सर्ग से जहाँ सुर्खी शोथ अथवा वेदना होती है वहाँ शल्य जानना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में प्रनष्टशल्य का सामान्य लक्षण संक्षेप में ऐसा दिया है—सामान्येन सशल्यं तु क्षोभिण्या क्रियया सरुक् । और शल्य के आकार का अनुमान व्रणाकृति से करने के लिये कहा है—वृत्तं पृथु चतुष्कोणं त्रिपुटं च समासतः । अदृश्यशल्यसंस्थान व्रणाकृत्या विभावयेत् ॥

भवन्ति चात्र—

यस्मिंस्तोदादयो देशे सुप्तता गुरुताऽपि च ।
घट्टिते[1] बहुशो यत्र स्रूयते तुद्यतेऽपि च ॥१६॥
आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति ।
संवाह्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दिशेत् ॥१७॥

शरीर के जिस अवयव में पीड़ा (राग शोथ इत्यादि), सुप्तता (स्पर्शज्ञान की कमी) तथा भारीपन मालूम होता हो, जहाँ घर्षण से स्राव होता हो और बहुत पीड़ा होती हो ॥१६॥ तथा आतुर जिस स्थान की छेड़ने छूने दबाने (संवाह्यमानः) इत्यादि से बारबार रक्षा करता हो, वहाँ शल्य जानना चाहिये ॥१७॥

अल्पाबाधमशूनं[2] च नीरुजं निरुपद्रवम् ।
प्रसन्नं मृदुपर्यन्तं निराघट्टमनुन्नतम् ॥१८॥
एषण्या सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः ।
प्रसाराकुञ्चनान्नूनं निःशल्यमिति निर्दिशेत् ॥१९॥

जिसमें थोड़ी बाधा हो, सूजन न हो, पीड़ा न हो, कोई उपद्रव न हो, जो (देखने से) प्रसन्न हो, जिसके किनारे मृदु हों, जो निराघट्ट हो, ऊँचा भी न हो ॥१८॥ ऐसे व्रण को वैद्य शल्यमार्ग सर्व प्रकार से एषणी द्वारा देखकर और प्रसारण तथा आकुंचन करके फिर निश्चित रूप से निःशल्य ऐसा कहे ॥१९॥

अस्थ्यात्मकं भज्यते तु शल्यमन्तश्च शीर्यते ।
प्रायो निर्भुज्यते शार्ङ्गमायसं चेति निश्चयः ॥२०॥

अस्थिरूप शल्य शरीर के भीतर खण्डशः फूटता है तथा कणशः फूटता है और सींग तथा लोहे का शल्य प्रायः वक्र हो जाता है, यह निश्चय है ॥२०॥

वार्क्षवैणवतार्णानि निर्ह्रियन्ते तु नो यदि ।
पचन्ति रक्तं मांसं च क्षिप्रमेतानि देहिनाम् ॥२१॥

वृक्ष, बाँस और तृण इनके (शरीर के भीतर घुसे हुए) शल्य यदि नहीं निकाले जायँ तो शीघ्र ही रक्त और मांस को पका देते हैं ॥२१॥

---

१ उत्सर्गैर्वा यत्र तोदादयस्तत्र शल्यं विजानीयात्.

१ घट्टते. २ अल्पताप०.

कानकं राजतं ताम्रं रैतिकं त्रपुसीसकम्।
चिरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजःप्रतापनात् ॥२२॥
स्वभावशीता मृदवो ये चान्येऽपीदृशा मताः।
द्रवीभूताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः ॥२३॥

सुवर्ण, चांदी, ताँबा, पित्तल, रांगा और सीसा इनके शल्य शरीर में अधिक काल तक रह जाने पर पित्त के तेज से तप्त होकर विलीन हो जाते हैं (यानि सात्म्य हो जाते हैं) ॥२२॥ स्वभाव से शीतल मृदु जो ऐसे ही और भी शल्य होते हैं, वे भी (पित्त के तेज से) पिघल कर धातुओं के साथ एकता को प्राप्त हो जाते हैं ॥२३॥

विषाणदन्तकेशास्थिवेणुदारूपलानि तु।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च ॥२४॥

सींग, दंत, केश, अस्थि, बाँस, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी इनके शल्य शरीर में (अधिक काल अवस्थित होने पर भी) विशीर्ण नहीं होते (यानि कणशः छिन्न भिन्न होकर सात्म्य नहीं होते) ॥२४॥

वक्तव्य—शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए शल्य की चतुर्विध गति होती है—(१) यदि शल्य असात्म्य परन्तु शुद्ध (Sterile) हो तो धातुओं में वैसा ही चिरकाल तक रह सकता है। केवल उसके ऊपर तांतव धातु का कोश बन जाता है। (२) यदि शल्य असात्म्य परन्तु दूषित हो तो पाक होकर त्वचा फूटने से पूय के साथ बाहर निकल आता है। (३) यदि शल्य सात्म्य और शुद्ध हो तो पित्त तेज से पाचन और शोषण होकर शरीर के धातुओं के साथ एकता प्राप्त करता है। (४) यदि शल्य सात्म्य परन्तु दूषित हो तो पाक होकर पूय के साथ बाहर निकल आता है या रक्त के द्वारा शरीर में ही शोषित होकर वृक्क त्वचादि इन्द्रिय मार्ग से मल के रूप में बाहर फेंका जाता है।

द्विविधं पञ्चगतिमत्[2] त्वगादिव्रणवस्तुषु।
विश्लिष्टं वेत्ति यः[3] शल्यं स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥२५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रनष्टशल्यविज्ञानीयो
नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

जो वैद्य शल्य के दो (कर्णी और श्लक्ष्ण) प्रकार, उनकी (ऊर्ध्वाधोभेद से) पाँच गतियाँ तथा त्वगादि अधिष्ठानों में (स्पष्ट या गुप्त स्थिति में) स्थित हुए उनके लक्षण जानता है, वही राजा की चिकित्सा करने योग्य है ॥२५॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां प्रनष्टशल्यविज्ञानीयो नाम
षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः।

अथातः शल्यापनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शल्यापनयनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

शल्यं द्विविधमवबद्धमनवबद्धं च ॥२॥

शल्य दो प्रकार का होता है—(१) अवबद्ध (विशेष रूप से संसक्त गड़ा हुआ), (२) अनवबद्ध (शिथिलरूप से स्थित हुआ) ॥२॥

तत्र समासेनानवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदश हेतून् वक्ष्यामः। तद्यथा—स्वभावः, पाचनं, भेदनं, दारणं, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्ध्मापनं, वमनं, विरेचनं, प्रक्षालनं, प्रतिमर्शः, प्रवाहणम्, आचूषणम्, अयस्कान्तो, हर्षश्चेति ॥३॥

उनमें से अनवबद्ध शल्य निकालने के लिये संक्षेप से पंद्रह उपाय वर्णन करते हैं। वे ये हैं—१ स्वभाव, २ पाचन, ३ भेदन, ४ दारण, ५ पीडन, ६ प्रमार्जन, ७ निर्ध्मापन, ८ वमन, ९ विरेचन, १० प्रक्षालन, ११ प्रतिमर्श, १२ प्रवाहण, १३ आचूषण, १४ अयस्कान्त, १५ हर्ष ॥३॥

वक्तव्य—हेतु—साधन या उपाय। स्वभाव—शरीर के स्वाभाविक वेग। पाचन—अतसी कुष्ठ अगुरु प्रभृति तथा 'शणमूलक' प्रभृति द्रव्यों द्वारा शल्ययुक्त स्थान का पाक करना। भेदन—पक्वस्थान को शस्त्र से चीरना। दारण—पके हुए स्थान को चिरबिल्वादि मिश्रकोक्त द्रव्यों द्वारा फोड़ना। पीडन—पके तथा फूटे हुए स्थानस्थित शल्य को हाथ के दबाव से या शाल्मल्यादि पिच्छिल द्रव्यों के शुष्क हुए लेप के दबाव से निकालना। प्रमार्जन—वस्त्रादि से पोंछना। निर्ध्मापन—प्रधमन नस्य का एक प्रकार है। इसमें नासा के भीतर नलिका द्वारा नस्य चूर्ण छोड़ा जाता है। इस चूर्ण का प्रयोग होने से जो छींक या वेगविशेष आता है, वह निर्ध्मापन है। प्रतिमर्श—अंगुलि से घर्षण। प्रवाहण—कुन्थन। आचूषण—मुख, सींग या अन्य यन्त्र के द्वारा चूसना। अयस्कान्त—लोह आकर्षण करने की जिसमें स्वाभाविक शक्ति होती है, ऐसा खनिज (Load stone) पदार्थ।

तत्राश्रुक्षवथूद्गारकासमूत्रपुरीषानिलैः स्वभावबलप्रवृत्तैर्नयनादिभ्यः पतति; मांसावगाढं शल्यमविदह्यमानं पाचयित्वा प्रकोपा(था)त्तस्य पूयशोणितवेगाद्गौरवाद्वा पतति। पक्वमभिद्यमानं भेदयेद्दारयेद्वा। भिन्नमनिरस्यमानं पीडनीयैः पीडयेत् पाणिभिर्वा। अणून्यक्षिशल्यानि परिषेचनाध्मापनैर्बालवस्त्रपाणिभिः प्रमार्जयेत्। आहारशेषश्लेष्महीनाणुशल्यानि श्वसनोत्कासनप्रधमनैर्निर्धमेत्। अन्नशल्यानि वमनाङ्गुलिप्रतिमर्शप्रभृतिभिः। विरेचनैः पक्वाशयगतानि। व्रणदोषाशयगतानि प्रक्षालनैः। वातमूत्रपुरीषगर्भसङ्गेषु प्रवाहणमुक्तम्। मारुतोदकसविषरुधिरदुष्टस्तन्येष्वाचूषणमास्येन विषाणैर्वा। अनुलोममनवबद्धमकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन। हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेणेति ॥४॥

---

१ कृष्णायस्त्रपुसीसकम्. २ पञ्चगतिकं. ३ यो वेत्त्यधिष्ठितं.

उनमें अश्रु, छींक, डकार, खाँसी, मूत्र, विष्ठा, वायु इन स्वभावबलप्रवृत्त वेगों से नयनादि (इन वेगों के अधिष्ठानों से शल्य निकल आता है। मांस में गहराई पर स्थित हुआ शल्य यदि न पकता हो तो उसे पकावे। पकने से वह पूय और रुधिर इनके वेग के साथ या अपने ही भारीपन से निकल जाता है। पकने पर भी जो नहीं फूटता है, उसे (शस्त्र द्वारा) भेदन करे या (उष्ण ओषधि के लेप से) विदारण करे। फूटने पर भी उसमें से शल्य न निकले तो पीड़न द्रव्यों के लेप से या हाथ से दबा दे और शल्य निकाले। नेत्रादि इंद्रियों के सूक्ष्म शल्यों को परिषेचन, आध्मापन, बाल, कपड़ा और हाथ इनसे पोंछ कर निकाले। आहारशेष, श्लेष्मा और (बाहर निकले हुए शल्य के बचे हुए) सूक्ष्म सूक्ष्म टुकड़े श्वास लेने, खाँसने और प्रध्मापन से निकाले। खाये हुए अन्न का शल्य वमन (द्रव्य का उपयोग) करके या (गले में) अंगुली से घर्षण करके निकाले। पक्काशयगत शल्य विरेचन से निकाले। व्रण के भीतरी शल्य जल द्वारा प्रक्षालन करके निकाले। अधोवात, मूत्र, मल और गर्भ इनके अटक जाने में (जो शल्य उत्पन्न होता है, उसको निकालने के लिये) प्रवाहण कर्म कहा है। वायु, जल, दूषित रक्त तथा स्तनगत दूध (रूपशल्य को) मुख या सींग के द्वारा चूस कर निकाले। अनुलोम, शिथिल, कर्णहीन (श्लक्ष्ण) और चौड़े मुख के व्रण में स्थित हुआ (शर) लोहचुंबक से निकाले। अनेक कारणों से हृदय में उत्पन्न हुआ शोकरूपी शल्य हर्ष उत्पन्न करके दूर करे ॥४॥

वक्तव्य—अक्षशल्य—इंद्रियगत शल्य। आध्मापन—वायु से भरना। अंग्रेजी में इसको 'इन्फ्लेशन' (Inflation) कहते हैं। इसका विशेष उपयोग कर्णशल्य निकालने के लिये होता है। इसकी तीन पद्धतियाँ हैं। (१) वेलसल्वा की पद्धति (Valsalva's method)—इसमें होठ तथा नासा बंद करके निश्वसन की क्रिया जोर से की जाती है, जिससे श्रुतिसुरंगा (Eustachian tube) में से वायु मध्यकर्ण में चली जाती है। (२) पोलिट झर की पद्धति (Politzer's method)—इसमें रबड़ की थैली (Rubber bag) से एक नासिका में वायु भरी जाती है जिस समय दूसरी नासिका तथा मुख बंद होता है। (३) श्रुतिसुरंगा नाड़ीयंत्र (Eustachian catheter) के द्वारा सीधी हवा मुख से श्रुतिसुरंगा में प्रविष्ट की जाती है। आध्मापन का दूसरा अर्थ मुख से फूँकना भी होता है। इसका उपयोग व्यवहार में हमेशा नेत्रगत शल्य निकालने के लिये होता है। आहारशेषश्लेष्महीनाणुशल्यानि—खाद्य द्रव्यों के कण, थूक और नासा तथा मुख से निकले या गिरे हुए मोटे शल्य के सूक्ष्म भाग यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ श्लेष्महीन खाद्य द्रव्यों के ही कण्ठनासासक्त सूक्ष्म कण—लवमात्रेण कण्ठादावासक्तानि श्लेष्मणाऽरूषितान्यन्नादीनि ताम्बूलादीनि वा आहारश्लेष्महीनाणुशल्यानि। अत्र श्लेष्महीनेति विशेषणं तत्संपृक्तानां पैच्छिल्येनानालंबित्वादित्यनुसंधेयम्। (हाराणचंद्र)। अन्नशल्यानि—अन्न के साथ आमाशय या अन्ननलिका (Oesophagus) में स्थित हुआ शल्य। पक्काशयगतानि—ग्रहणी (Duodenum) से लेकर गुदा तक महास्रोत का जो भाग है; उसमें स्थित हुआ शल्य। व्रणदोषाशयगतानि—व्रण का दोष जो पूय उसके आशय में स्थित हुए अर्थात् व्रण भीतर स्थित हुए शल्य। प्रवाहण—विशेष जोर लगाकर कुंथना (Straining)। मारुतोदक—अस्थिगत वायु और कर्णगत जल—निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते। नाडीं दत्त्वाऽस्थनि भिषक् चूषयेत् पवनं बली ॥ (सुश्रुत)। कर्णेऽम्बुपूर्णे हस्तेन मथित्वा तैलवारिणि। क्षिपेदधोमुखं कर्णं हन्याद्वा चूषयेत वा ॥ (अष्टांगहृदय)। विषाण—श्रृंग यन्त्र तथा आवश्यकता के अनुसार चूषण के लिये दूसरे नाड़ीयन्त्र। अनुलोम—ऋजुस्थित—अयस्कान्तेन निष्कर्णं विवृतास्यमृजुस्थितम्। (वाग्भट)। शोकशल्यं हर्षेण—यहाँ शोक और हर्ष दोनों उपलक्षण समझ कर शोक से सामान्यतया मानसशल्य और हर्ष से मानसशल्याहरण उपाय समझना योग्य है।

सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा द्वावेवाहरणहेतू भवतः—प्रतिलोमोऽनुलोमश्च। तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेत्, अनुलोमं पराचीनम्। उत्तुण्डितं छित्त्वा निर्घातयेच्छेदनीयमुखम्। छेदनीयमुखान्यपि[1] कुक्षिवक्षःकक्षावंक्षणपर्शुकान्तरपतितानि[2] च हस्तशक्यं यथामार्गेण हस्तेनैवापहर्तुं प्रयतेत। हस्तेनापहर्तुमशक्यं[3] विशस्य[4] शस्त्रेण यन्त्रेणापहरेत् ॥५॥

भवति चात्र—

शीतलेन जलेनैनं मूर्च्छन्तमवसेचयेत्।
संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराश्वासयेच्च तम् ॥६॥

सब छोटे या बड़े शल्यों के निकालने के दो ही उपाय होते हैं—१ अनुलोम और २ प्रतिलोम। उनमें से जो शल्य अर्वाचीन हो, उसे प्रतिलोम करके निकाले। जो शल्य पराचीन हो, उसे अनुलोम करके निकाले। जो शल्य उत्तुण्डित और तीक्ष्ण धारा मुख हो, उसको (निकालने के लिये दूसरी ओर छेदन करके) इधर उधर हिलावे। परंतु कुक्षि (Sides), वक्ष, कांख, वंक्षण और पर्शुकान्तरीय स्थान (Intercostal spaces) इनमें प्रविष्ट हुए तीक्ष्णधारामुख शल्यों को भी जो हाथ से निकल सके उन्हें उसी मार्ग से (प्रतिलोम) हाथ से निकालने का यत्न करे। जो हाथ से निकालना अशक्य हो, उसे (पहले) शस्त्र से कुरेद कर (पश्चात्) यन्त्र से पकड़ कर निकाले ॥५॥

(शल्य निकालते समय) मूर्च्छित हुए शल्य युक्त आतुर पर ठंडे पानी का (थोड़ा थोड़ा) सिंचन करे, (छेदन करते समय) उसके मर्मों की रक्षा करे तथा (संपूर्ण शस्त्रकर्म के प्रारंभ से अन्त तक) उसे बारबार (हर्षणात्मक वचनों से) तसल्ली देता रहे ॥६॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—जिस छेद में से शल्य शरीर के भीतर प्रविष्ट हुआ है, उसी छेद में से या मार्ग से (यथामार्ग)

---

[1] अच्छेदनीयमुखानि तु. [2] एतदग्रे—'अनुत्तुण्डितशल्यानि छेदनीयमुखानि च। अनिर्घात्यानि जानीयाद्भूयश्छेदानुबन्धतः ॥' इति कचित्प्रामादिकः पाठः. [3] हस्तेन चाहर्तुमशक्ये अविशस्य यन्त्रेणापहरेत्. [4] विमृज्य शस्त्रेण वा.

निकालना अथवा शल्य की शरीरप्रवेश दिशा के विरुद्ध दिशा से निकालना। अनुलोम—प्रवेशमार्ग से न निकाल कर दूसरी ओर नया मार्ग करके निकालना अथवा शरीर में जिस दिशा से शल्य प्रविष्ट हुआ उसी दिशा में आगे बढ़ाकर निकालना। अर्वाचीन—नातिदूर प्रविष्ट अथवा जिस शल्य का अग्रभाग शरीर के मध्यभाग तक गहरा नहीं पहुँचा है। 'अर्वन्तमवरमंचति' इति अर्वाचीनम्। पराचीन—दूर प्रविष्ट अथवा जिस शल्य का अग्रभाग दूसरी ओर के पृष्ठभाग के समीप पहुँचा है—'परा बहुलञ्चाञ्चति' इति पराचीनम्। शल्य निकालने के लिये उत्तम विधि वह कही जा सकती है, जिसमें निकालते समय शरीर के धातुओं का नाश बिलकुल न हो या अत्यल्प हो तथा शल्य का बाहर आने का मार्ग भी अत्यल्प हो। इस दृष्टि से नातिदूर स्थित शल्य प्रतिलोम निकालना और विदूरस्थित शल्य दूसरी ओर थोड़ा छेद करके निकालना ही अधिक प्रशस्त होता है। पराचीन शल्य प्रवेशमार्ग से ही निकालने में पूर्व व्रणमार्ग होने पर भी शल्य के मुख का पिछला हिस्सा स्थूल तथा नोकीला होने के कारण बहुत कठिनाई होती है, व्रणमार्ग के चारों ओर के धातु में वह स्थूलभाग अटक जाने से उस धातु का नाश होता है और शल्य के संघर्ष से पीड़ा भी बहुत होती है। उत्तुण्डित—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) पृष्ठ भाग के ऊपर मुँह दिखाता हुआ शल्य—दृश्यमानमुखम् (इन्दु)। बाह्ये बुद्बुदवदुन्नतम्। (अरुणदत्त)। (२) कंटकयुक्तमुख—उद्गतकंटकाञ्चितमुखम्। (हाराणचंद्र)। छेदनीयमुखम्—इसके भी दो अर्थ किये गये हैं—(१) छेदनार्हमुखदेशम्। (चक्र)। (२) धारामुखम्। (हाराणचंद्र)। छित्त्वा—शल्य की मोटाई के अनुसार आयत और विशाल दूसरा छेद करके—शल्यदैर्घ्यपरिणाहसंघर्षकृतोपतापशंकाजिहासार्थमिदं छेदनं तावत्यंशे न कर्तव्यं यावत्यंशे छिन्ने सुखं शल्यं पराचीनं भवति। (हाराणचंद्र)। इस प्रकार यद्यपि दो प्रकार के अर्थ उत्तुण्डित और छेदनीय मुख के होते हैं तथापि 'उत्तुंडितं छित्त्वा निर्घातयेच्छेदनीयमुखम्' इस सूत्र के अर्थ में विशेष फर्क नहीं होता। पहले मतानुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि जो शल्य शरीर में प्रविष्ट होकर दूसरी ओर मुँह दिखाता है वह शल्य अनुलोम विधि से निकालने के लिये उस स्थान का छेदन करके मुद्गर इत्यादिक से इधर उधर हिलाना चाहिये। हाराणचंद्र के अनुसार इसका अर्थ यह है कि जो शल्य कंटकाचित और धारामुख है, वह अर्वाचीन होने पर दूसरी ओर छेदन करके अनुलोम विधि से निकाले। विशस्य शस्त्रेण—यंत्र प्रवेश निरोधक अथवा शल्य निर्गम निरोधक प्रदेश शस्त्र से छेदित करके। यन्त्रेण—अष्टांगहृदय में यन्त्रों के द्वारा शल्यों के आहरण का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—दृश्यं सिंहाहिमकरवर्मिककंटकाननैः। अदृश्यव्रणसंस्थानाद् ग्रहीतुं शक्यते यतः॥ कंकभृंगाह्वकुररशरारीवायसाननैः। संदंशाभ्यां त्वगादिस्थं तालाभ्यां शुषिरं हरेत्। शुषिरस्थं तु नलकैः शेषं शेषैर्यथायथम्॥ जो शल्य विशल्यघ्न मर्म स्थानों में प्रविष्ट हुए हैं तथा जो शोफ वेदनादि से विरहित हैं ऐसे शल्य निकालने की जरूरत नहीं है—नैवाहरेद्विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम्। (अष्टांगहृदय)। नैवाहरेत्...शोफवेदनापाकविरहितम्। (अष्टांगसंग्रह)।

ततः शल्यमुद्धृत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा स्वेदार्हमग्निघृतप्रभृतिभिः संस्वेद्य विदह्य प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां बद्ध्वाऽऽचारिकमुपदिशेत्॥७॥

(उपर्युक्त विधि के अनुसार हाथ से अथवा शस्त्र द्वारा छेदन करके यंत्र से) तदनंतर शल्य निकाल कर व्रण के रक्त को साफ करके स्वेदन योग्य व्रण को अग्नि घृत आदि से स्वेद करके, अग्निदाह योग्य व्रण को दाह करके पश्चात् मधुयुक्त घृत से लेप करे और व्रण का बंधन करके (व्रणितोपासनीयोक्त पथ्यादि) आचार का उपदेश करे॥७॥

वक्तव्य—निर्लोहितम्—शल्य प्रविष्ट होने के समय तथा शल्य निकालते समय व्रण से निकले हुए रक्त को पोंछकर। स्वेदार्ह—स्वेदनयोग्यव्रण—अग्निकृत्या व्रणा ये तु तेष्वग्निमवचारयेत्। स्वेदयेत् सक्तुपिण्डीभिः स्वेदकृत्यान् समन्ततः॥ (भोज)।

सिरास्नायुविलग्नं शलाकादिभिर्विमोच्यापनयेत्; श्वयथुग्रस्तवारङ्गं समवपीड्य श्वयथुं; दुर्बलवारङ्गं कुशादिभिर्बद्ध्वा॥८॥

सिरास्नायु से उलझे हुए शल्य को सलाई आदि से छुड़ा कर निकाले। शोथ में ग्रसित हुए बाण को शोथ को दबाकर निकाले। यदि बाण का पकड़ने का स्थान दुर्बल हो तो कुशादि से बाँधकर निकाले॥८॥

हृदयमभितो वर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेद्यथामार्गं; दुरुपहरमन्यतोऽपबाध्यमानं पाटयित्वोद्धरेत्॥९॥

हृदयसमीपवर्ती भाग में स्थित हुआ शल्य उद्विग्न हुए मनुष्य को ठंडे पानी से आश्वासित करके प्रतिलोमविधि से निकाले। यदि यथामार्ग न निकल सके तो उस मर्मपीडाकर (अपबाध्यमान) शल्य को अन्यस्थान में थोड़ा छेदन करके निकाले॥९॥

अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत्, अशक्यमेवं वा बलवद्भिः सुपरिगृहीतस्य यन्त्रेण ग्राहयित्वा शल्यवारङ्गं प्रविभुज्य धनुर्गुणैर्बद्ध्वैकतश्चास्य[1] पञ्चाङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकविके बध्नीयात्, अथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरो वेगेन शल्यमुद्धरति[2]; दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद्बद्ध्वोद्धरेत्॥१०॥

अस्थि के छिद्र में प्रविष्ट हुए अथवा अस्थि में संसक्त हुए शल्य को यन्त्र से (मजबूत पकड़कर और शल्यस्थित भाग पर) दोनों पाँवों की रोक लगाकर खींच ले। यदि ऐसे नहीं खींच सके तो बलवान् मनुष्यों से पकड़े हुए मनुष्य को शल्यवारंग यन्त्र से पकड़ कर टेढ़ा करे और उसे एक तरफ से धनुष की डोरी से बांध दे और दूसरी ओर पंचांगी बंध में बद्ध किये हुए घोड़े के मुख चूड़े में बांधे और उसको ऐसी रीति से चाबुक मारे कि वह शिर को झटके से ऊँचा

---

[1] धनुर्गुणैर्बद्ध्वैकतोऽश्ववक्त्रकविके. [2] ०मुद्धरति, नामितायां पञ्चाङ्ग्यां वृक्षशाखायां वा पूर्ववद्बद्ध्वोद्धरेत.

करता हुआ शल्य को निकाले । अथवा पूर्ववत् (धनुष की डोरी बांधे हुए शल्य वारंग को घोड़े के बजाय) वृक्ष की मजबूत शाखा को नवाकर बांध दे (और फिर शाखा को झटके से छोड़ कर) शल्य निकाले ॥१०॥

वक्तव्य—पादाभ्यामवगृह्य—शल्य के दोनों तरफ दोनों पाँव रख शल्ययुक्त अंग को स्थिर करके । प्रविभुज्य—वक्र करके। धनुष की डोरी मजबूत बाँधने के लिये शर का वारंग टेढ़ा किया जाता है । पंचांगी—घोड़े को निश्चल करने का एक विशेष बंध होता है, जिसमें घोड़े के चारों पाँव और मुख कसके बांध दिये जाते हैं—सुसंयतस्य सुष्ठु शोभनं कृत्वा बद्धस्य । कथं सुसंयतस्य । पंचांग्या । पंचानामंगानां चतुर्णां पादानां मुखसमाहितानां समाहारः पंचांगी बन्धविशेषः । (अरुणदत्त)। कुछ टीकाकार तथा हाराणचंद्रचक्रवर्ती 'पंचांग्यामुपसंयतस्य' का संबंध मनुष्य के साथ करके पंचांगी से सारयुक्त वृक्ष ऐसा करते हैं—त्वक्पत्रकुसुमं मूलं फलमेकस्य शाखिनः । एकत्र मिलितं चैतत् पंचांगमिति संज्ञितम् ॥ (राजनिघंटु) । पंचांगीशब्देन चेह वृक्षस्योपदेशे वेगसहत्वाज्जातसारत्वेनैनं ग्राहयितुमिति निश्चीयते। जात एव हि सारे पुष्पफलागमात् पंचांगानि पूर्यन्ते । (हाराणचंद्र) । दूसरे अर्थ की अपेक्षा पहला अर्थ अधिक उचित है ।

अदेशोत्तुण्डितमष्ठीलाश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव यन्त्रेण ॥११॥

कुक्ष्यादि अच्छेदनीय प्रदेश में स्थित हुए उत्तुण्डित शल्य को अष्ठीला, पत्थर या मुद्गर इनमें से किसी के प्रहारों द्वारा हिलाकर प्रवेशमार्ग से ही निकाले ॥११॥

(यन्त्रेण) विमृदितकर्णानि कर्णवन्त्यनाबाधकरदेशोत्तुण्डितानि पुरस्तादेव ॥१२॥

मर्मादिरहित शस्त्रकर्म योग्य प्रदेश में स्थित हुए उत्तुण्डित कर्णवान् शरयन्त्र से कर्ण को संकुचित करके अनुलोम विधि से निकालें ॥१२॥

वक्तव्य—अनाबाधकरदेश—मर्मादि बाधा विरहित प्रदेश। विमृदितकर्णानि—'कृत्वा' इति शेषः । कर्ण को संकुचित करके। पुरस्तादेव—'आकर्षयेत्' इति शेषः ।

जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेश्याग्नितप्तां च शलाकां तयाऽवगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतामुद्धरेत्। अजातुषं जतुमधूच्छिष्टप्रलिप्तया शलाकया पूर्वकल्पेनेत्येके ॥१३॥

कण्ठ में लाख का शल्य यदि फँस जाय तो कण्ठ में एक नलिका और (उसमें से) तपाई हुई सलाई को प्रवेश करे और उससे शल्य को पकड़ ले । फिर उस पर ठंडे पानी से सींच कर स्थिर हुए शल्य को निकाले। लाख के सिवा और किसी वस्तु का शल्य हो तो लाख और मोम लगी हुई शलाका से पूर्व कल्पना के अनुसार निकाले, ऐसा कई एक का मत है ॥१३॥

वक्तव्य—नाडीं प्रवेश्य—यह कण्ठशल्यावलोकिनी नाड़ीयन्त्र (Ocsophagoscope) है, जिससे कण्ठगत शल्य का अवलोकन करने में सुभीता होता है तथा तप्तशलाका से कण्ठ की रक्षा होती है। यथाऽवगृह्य—लाक्षा के साथ तप्तशलाका का संबंध होते ही वह उसमें गड़ जाती है और फिर ठंडी करने से लाक्षा उसमें चिपक जाती है । पूर्वकल्पना—पूर्ववत् गले में नाली प्रवेश करे। उसमें से तप्तशलाका को मोम या लाख लगा कर गले में प्रवेश करे । जब उसमें शल्य चिमट जाय तो ठंडे पानी से शलाका ठंडी करे, जिससे शलाका पर लाख के कड़े होने से चिपका हुआ शल्य खींच ले । जातुष—प्राचीन काल में बालकों के लिये लाख के बनाये हुए खिलौने दिये जाते थे। इसलिये लाक्षाशल्य का यहाँ उल्लेख किया गया है। आज कल इसका प्रचार नहीं है—जातुषं घोषवच्चित्रमत्रासं रमणं बृहत् । अतीक्ष्णाग्रं गवाश्वादिमंगल्यमथवा फलम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोण्डुकं दृढैकसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं पाययेदाकण्ठात् पूर्णकोष्ठं च वामयेत्, वमतश्च शल्यैकदेशासक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्; मृदुना वा दन्तधावनकूर्चकेनापहरेत् प्रणुदेद्वाऽन्तः । क्षतकण्ठाय च मधुसर्पिषी लेढुं प्रयच्छेत्त्रिफलाचूर्णं वा मधुशर्कराविमिश्रम् ॥१४॥

अस्थि का टुकड़ा या और कोई वस्तु तिरछी कंठ में फँसी हुई देखकर बालों से बनी हुई गेंद दृढ सूत्र के एक सिरे से बांध कर पतले भात के साथ निगलवा दे और भात कण्ठ तक भर दे। फिर भरपेट उस मनुष्य को वमन करावे। वमन के समय बालों की गेंद शल्य के एक आध हिस्से में फँसी हुई जानकर शीघ्रता से सूत्र को खींच ले (जिसके साथ शल्य बाहर निकल आवेगा)। अथवा दतौन के मृदु कूंचे से (अटकाकर) निकाले या भीतर को धकेल दे । यदि कण्ठ में क्षत हो जाय तो उसे मधु और घृत मिलाकर अथवा त्रिफला का चूर्ण मधु और शर्करा में मिला कर चटाने के लिये प्रदान करे ॥१४॥

वक्तव्य—अस्थिशल्यम्—भोजन के समय भोज्य पदार्थों में से मछली या अन्य प्राणि की हड्डी का टुकड़ा। केशोण्डुकम्—केशोऽयमुण्डुकमिव इति केशोण्डुकम् । उण्डुकसदृश केश का बनाया हुआ गोला। उंडुक—क्षुद्र और स्थूल आंत्र के संयोग स्थान का आंत्र का एक भाग (Coccum) है—उण्डुकस्थं विभजते मल मलधरा कला । गले में अटके हुए अस्थिशल्य को निकालने के लिये पाश्चात्त्य शल्यचिकित्सा में आज भी घोड़े के बालों का बना हुआ प्रोबंग (Probang) नामक यंत्र प्रयोग होता है। यह एक नाड़ीगत शलाका यंत्र है, जिसके अगले सिरे में शलाका के चारों ओर घोड़े के बाल नलिका की भाँति लगाये हुए होते हैं। गले में डालते समय यह बालों का भाग शलाका की तरह बंद रहता है, जो शल्य के पास से पीछे धकेल दिया जाता है। तत्पश्चात् यन्त्र को बाहर खींचा जाता है। उस समय भीतर के बाल चारों ओर फैलकर एक पोली गेंद सी (केशोंडुक) बन जाती है, जिसमें वहाँ पर स्थित हुआ शल्य फँस जाता है अथवा बाहर खींचने के समय बालों को गेंद के आगे आगे फिसलता हुआ चला आता है ।

उदकपूर्णोदरमवाक्शिरसमवपीडयेद्धुनीयाद्वामयेद्वा भस्मराशौ वा निखनेदामुखात् ॥१५॥

जिसके पेट में जल भरा हुआ है, ऐसे मनुष्य को शिर

नीचा करके रखे। उसका पीड़न करे, हिलावे, वमन करा दे अथवा राख के ढेर में मुख तक दबाया रखे ॥१५॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जल में डूबने के कारण पानी पिये हुए मनुष्य की चिकित्सा वर्णन की है। कुछ लोग (डॉ. उदयचन्द्र) इस सूत्र का संबंध कंठगतशल्य निर्हरण विधि के साथ समझते हैं। परंतु यह संबंध अयोग्य मालूम होता है। डल्हण, अरुणदत्त और इन्दु इत्यादि प्राचीन टीकाकार इस सूत्र में जलमृत या जलनिमज्जित की ही चिकित्सा वर्णन की गई है, ऐसा समझते हैं। अवाक्शिरस्—सिर नीचे करके। पीडयेत्—छाती और उदर पर पीड़न करे। धुनुयात्—रोगी के दोनों पाँव टखने के पास पकड़कर और सिर नीचा करके उसे चारों ओर घुमावे अथवा चाक के ऊपर उसे लिटाकर चाक को घुमावे—उदकपूर्णस्य चक्राद्यारोपणेनोदकनिःसारः कार्य इति। (अरुणदत्त)। भस्मराशि—इसमें रोगी को रखने का कोई विशेष उद्देश कहीं भी लिखा नहीं है। परंतु यह अनुभव से सिद्ध हो गया है कि पेट का पानी निकालने के तथा रोगी होश में आने के पश्चात् रोगी की बाह्य शीत से रक्षा के लिये तथा भीतरी उष्णता का नाश बंद करने के लिये उष्णोपचार की आवश्यकता होती है और यही कार्य भस्मराशि में रखने से होता होगा। आज भी साधु लोग शीत से रक्षा करने के लिये भस्म का शरीर पर उपयोग करते हैं। बेहोश जलनिमज्जित की आधुनिक सिद्ध चिकित्सा निम्न प्रकार से होती है—जल से किनारे पर निकालते ही उसके कपड़े विशेष करके छाती और गले के पास जो हों उतारने चाहिये और यदि आवश्यक हो तो चीर के उतारना चाहिये। तत्पश्चात् उसको भूमि पर अधोमुख लिटाकर कृत्रिम श्वास क्रिया (Artificial respiration) करानी चाहिये। यह क्रिया आधा घंटे से घंटों तक करनी पड़ती है। इस क्रिया के साथ रोगी का मुख साफ करना चाहिये, उसको सूखा करना चाहिये, उसके पास गरम पानी की बोतलें रखनी चाहिये, शरीर पर घर्षण करना चाहिये, सूँघने के लिये अमोनिया जैसी तीव्र गंध युक्त वायु नाक के पास रखनी चाहिये और सल्कुचला (Strychnine) जैसे हृदयोत्तेजक और श्वासकेन्द्रोत्तेजक ओषधि की सुई लगानी चाहिये। पुनर्प्राणन (Resuscitation) होने के पश्चात् रोगी की पीठ पर सुलाकर उसके गीले कपड़े पूरे निकाल देने चाहिये और उसको गरम कपड़ों में लपेट कर गरम बिस्तरे पर लिटा देना चाहिये। होश पर आने के पश्चात् उसको गरम पेय मद्य इत्यादि पीने के लिये देना चाहिये। यदि फिर श्वास प्रश्वास की क्रिया बंद हो जाय तो लाबोर्दे (Laborde's method) की कृत्रिम श्वसन की पद्धति का प्रयोग करना चाहिये। होश में आने के पश्चात् रोगी के न्युमोनिया (श्वसनक ज्वर), दौर्बल्य इत्यादि विकारों से मरने की संभावना होती है; इसलिये उसको 'पथ्याचार से रखना आवश्यक है। अष्टांगसंग्रह में जलनिमज्जित मनुष्य के लिये निम्न उपद्रव बतलाये गये हैं—अन्यथा ह्युन्मार्गगामिभिरद्भिराध्मानकासश्वासपीनसेन्द्रियोपघातज्वरादयः श्लेष्मविकारा मृत्युश्च। तत्र यथास्वं कफे प्रतिकुर्यात्। कृत्रिम प्रश्वसन की कई विधियां प्रचलित हैं जो धूमोपहत, जलनिमज्जन, पाशबद्ध इत्यादि प्राणावरोधजनक (Asphysia) अनेक अवस्थाओं में पुनर्प्राणन के लिये प्रयोग होती हैं। शेफर की विधि (Śchafer's method)—यह विधि सब से उत्तम और आसान है। इसमें रोगी को भूमि पर उसका मुख नीचे करके लिटा दिया जाता है और उसके वक्षःप्रदेश का निचला हिस्सा एक छोटे तकिया पर रक्खा जाता है। तत्पश्चात् कार्यकर्ता रोगी की पीठ पर दोनों ओर जमीन में घुटने टेक कर सवार होता है परन्तु वह रोगी के शरीर पर नहीं बैठता। तदनंतर वह अपने दोनों हाथों को रोगी के पीठ के नीचे के दोनों ओर की अन्तिम पसलियों पर रखता हुआ आगे को झुककर अपने शरीर के भार को धीरे धीरे हाथों पर डालकर रोगी की छाती को खूब दबाता है जिससे फुफ्फुस संकुचित हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपने शरीर को फिर पीछे की ओर पूर्वस्थिति में लौटा लाता है जिससे छाती पर का दबाव हट जाता है और फुफ्फुस का विकास होता है। इस प्रकार कृत्रिम पद्धति से छाती का संकोच और विकास कराने से भीतर से वायु बाहर को जाती है और बाहर से वायु भीतर को जाती है। इस प्रकार छाती का संकोच और विस्तार प्रति मिनिट बारह से पंद्रह दफा करना चाहिए। इस शेफर की विधि से फुफ्फुस में अधिक से अधिक वायु की राशि प्रविष्ट होती है तथा इससे फुफ्फुस विदीर्ण होने की भी भीति नहीं होती। बीच बीच में रोगी को पीठ पर उलटा करके उसके हृदयप्रदेश पर दबाव देने से हृदय को भी उत्तेजना मिलती है। सिल्वेस्टर की विधि—(Silvester's Method)—प्रथम रोगी के मुख से जितना पानी निकल जाता है उतना निकल जाने के पश्चात् उसको भूमि पर पीठ पर लिटा दिया जाता है। उसका छाती का निचला हिस्सा एक छोटे तकिया पर रक्खा जाता है और उसकी जिह्वा को आगे की ओर सूत्र से, संदंश से या अन्य प्रकार से खींचा जाता है। तत्पश्चात् कार्यकर्ता सिरहाने की ओर जमीन में घुटने टेक कर कुहनी से रोगी के दोनों बाहुओं को पकड़कर धीरे धीरे रोगी के सिर के ऊपर की ओर ले जाता है और वहां दो सेकण्ड तक ठहरता है। इससे छाती चौड़ी होती है, फुफ्फुस फैलते हैं और वायु बाहर से भीतर प्रवेश करती है। तत्पश्चात् बाहुओं को वहां से नीचा करके छाती के दोनों ओर रखकर अपने पूरे बल से दाबता है जिससे छाती दब जाती है, फुफ्फुस का संकोच होता है और भीतर प्रविष्ट हुई वायु बाहर की ओर निकल आती है। यह क्रिया प्रति मिनिट १५ बार करनी चाहिये। सिल्वेस्टर की विधि जलनिमज्जित की चिकित्सा के लिये विशेष उपयोगी नहीं होती। लबोर्डे की विधि (Laborde's method)—इस विधि में रोगी की जिह्वा को रूमाल की सहायता से पकड़कर प्रति मिनिट पंद्रह बार आगे की ओर पूर्णतया खींच लिया जाता है। इस क्रिया से मस्तिष्कगत श्वसनकेंद्र (Respiratory centre) उत्तेजित हो जाता है। इस विधि का उपयोग स्वतंत्र या अन्य विधियों के साथ हो सकता है।

ग्रासशल्ये तु कण्ठासक्ते निःशङ्कमनवबुद्धं स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात् स्नेहं मद्यं पानीयं वा पाययेत् ॥१६॥

ग्रास यदि गले में अटक जाय तो निःशंक होकर, सहसा रोगी के कंधे पर मुष्टि से प्रहार करे अथवा स्नेह, मद्य या पानी पिलावे ॥१६॥

वक्तव्य—ग्रासशल्य—ग्रासः शल्यमिव ग्रासशल्यम्, ग्रासरूपी शल्य निःशंकं—मुष्टिप्रहार का आगे क्या परिणाम होगा, इसकी शङ्का मन में न करके । अनवबुद्धम्—रोगी को मुष्टिप्रहार करने की सूचना न देते हुए अर्थात् एकाएक ।

बाहुरज्जुलतापाशैः[1] कण्ठपीडनाद्वायुः प्रकुपितः श्लेष्माणं कोपयित्वा स्रोतो निरुणद्धि लालास्रावं फेनागमनं संज्ञानाशं चापादयति, तमभ्यज्य संस्वेद्य शिरोविरेचनं तस्मै तीक्ष्णं दद्याद्रसं च वातघ्नं विदध्यादिति ॥१७॥

हाथ, डोरी या लता इनके पाश से कण्ठ घुट जाने के कारण वायु प्रकुपित होकर कफ को प्रकुपित करती है और मार्ग को रोक देती है तथा मुख से लाला का स्राव, झाग का निकलना और बेहोशी ये लक्षण उत्पन्न करती है । उसे अभ्यंग कराकर स्वेद दिलाकर तीक्ष्ण शिरोविरेचन देवे और वायुनाशक रस प्रदान करे ॥१७॥

वक्तव्य—बाहुरज्जुलतापाश—बाहुपाश, रज्जुपाश और लतापाश । बाहुपाश से जो कण्ठ पीड़न किया जाता है, उसे अंग्रेजी में 'थ्रोट्लिंग' (Throttling) कहते हैं । रज्जु या लता का पाश लगाकर जो कण्ठ का पीड़न होता है या किया जाता है, उसे स्ट्रॅंग्युलेशन (Śtrangulation) कहते हैं । जो रज्जु या लता का पाश लगाकर मनुष्य स्वयं टाँग लेता है या उसे टाँग देते हैं तो उसको 'हैंगिंग' (Hanging) कहते हैं । तीनों अवस्थाओं में कण्ठ का पीड़न होने के कारण शुद्ध वायु का भीतर जाने का मार्ग बंद हो जाता है तथा अशुद्ध वायु बाहर नहीं जा सकती—नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् । कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥ पीत्वा चांबरपीयूषं पुनरायाति वेगतः । प्रीणयन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम् ॥ (शार्ङ्गधर) । प्राण वायु का अभाव और अशुद्ध वायु की शरीर में उपस्थिति इन कारणों से संज्ञानाशादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । इस अवस्था की चिकित्सा में भी कृत्रिम श्वसन, गले के फाँस को निकाल देना, रोगी को खुले स्थान में रखना और यदि शक्य हो तो शुद्ध प्राणवायु (Pure Oxygen) ही सूँघने के लिये देना ये प्रधान उपाय हैं । उपर्युक्त शल्यों के अतिरिक्त वाग्भट ने निम्न कर्ण के शल्य वर्णन किये हैं—कीटे कर्णस्रोतःप्रविष्टे तोदो गौरवं भरभरायणं च भवति स्पन्दमाने चाप्यधिक वेदना । तत्र सलवणेनांबुना मधुकयुक्तेन मद्येन वा सुखोष्णेन पूरणम् ॥ तोयपूर्णं कर्णं हस्तोन्मथितेन तैलांबुना पूरयेत । पार्श्वावनतं वा कृत्वा हस्तेनाहन्यान्नाड्या वा चूषयेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

भवन्ति चात्र—

शल्याकृतिविशेषांश्च स्थानान्यावेद्य बुद्धिमान् ।
तथा यन्त्रपृथक्त्वं च सम्यक् शल्यमथाहरेत् ॥१८॥
कर्णवन्ति तु शल्यानि दुःखाहार्याणि यानि च ।
आददीत भिषक् तस्मात्तानि युक्त्या समाहितः ॥१९॥
एतैरुपायैः शल्यं तु नैव निर्यात्यंते[1] यदि ।
मत्या निपुणया वैद्यो यन्त्रयोगैश्च निर्हरेत् ॥२०॥
शोथपाकौ रुजश्चोग्राः कुर्याच्छल्यमनिर्हृतम् ।
वैकल्यं मरणं चाऽपि तस्माद्यत्नाद्विनिर्हरेत् ॥२१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शल्यापनयनीयो
नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

शल्यों की आकृति के विविध भेद, शल्यप्रवेश के स्थान, (शल्य तथा स्थान इनकी भिन्नता के अनुसार) आहरण के लिये यंत्रों की भी भिन्नता इनका विचार करके बुद्धिमान् वैद्य शल्य को निकाले ॥१८॥ जो कर्णयुक्त शल्य निकालने में बहुत पीड़ा होती है, उन्हें वैद्य सावधानी करके युक्ति से निकाले ॥१९॥ यदि उन उपायों से शल्य नहीं निकले तो वैद्य अपनी प्रवीण बुद्धि के अनुसार (अनुक्त) यन्त्रों तथा उपायों को अंगीकार करके जैसे बने वैसे उसे निकाले ॥२०॥ न निकाला हुआ शल्य शोथ, पाक, दारुण पीड़ा, विकलता और मृत्यु भी करता है। इसलिये (सर्व प्रकार का) यत्न करके शल्य को (अवश्यमेव) निकाले ॥२१॥

वक्तव्य—यन्त्रपृथक्त्वम्—दृश्यं सिंहमुखाद्यैस्तु गूढं कंकमुखादिभिः । निर्हरेत्तु शनैः शल्यं शास्त्रयुक्तिव्यपेक्षया ॥ (सुश्रुत) । अथाहरेत् करप्राप्यं करेणैवेतरत् पुनः । दृश्यं सिंहाहिमकरवर्मिकर्कटकाननैः ॥ अदृश्यं व्रणसंस्थानाद् ग्रहीतुं शक्यते यतः । कंकभृंगाह्वकुररशरारीवायसाननैः ॥ संदंशाभ्यां त्वगादिस्थं तालाभ्यां सुषिरं हरेत् । सुषिरस्थं तु नलकैः शेषं शेषैर्यथायथम् ॥ (अष्टांगहृदय) । यन्त्रयोगैश्च—यन्त्र तथा योग यानि उपाय इनके द्वारा । बीसवें श्लोक का तात्पर्य यह है कि ऊपर इस अध्याय में प्रत्येक प्रकार का शल्य निकालने के लिये जो यन्त्रों और उपायों की परिपाटी वर्णन की है, उससे यदि कार्य न हो तो अपनी बुद्धि के बल से अन्य अनुक्त यन्त्रों तथा उपायों की खोज करके उनसे शल्य निकालना चाहिये जैसे कि चिकित्सा के संबंध में चरकसंहिता में कहा गया है—न चैकान्तेन निर्दिष्टे तत्राभिनिविशेद् बुधः । स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ॥ यत्नाद्विनिर्हरेत्—प्रत्येक शल्य यत्न से निकालना चाहिये । परन्तु इस नियम के दो अपवाद वाग्भट में लिखे हैं—नैवाहरेद्विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम् । विशल्यघ्न मर्मों में स्थित हुए शल्य तथा गुप्त उपद्रव रहित शल्य नहीं निकालना चाहिये । विशल्यघ्न मर्म से शल्य निकालने पर मृत्यु होती है—शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवति, उद्धृतशल्यो म्रियते । (सुश्रुत) ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां शल्यापनयनीयो नाम
सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

---

[1] ०पाशशल्ये तु.

[1] निर्घात्यते.

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विपरीताविपरीत व्रणविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य--विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीय--शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध इनकी दृष्टि से विपरीत यानि विकृत और अविपरीत यानि प्राकृत व्रणों का विशेष ज्ञान जिसमें वर्णन किया है, ऐसा अध्याय ।

फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा ।
ख्यापयन्ति भविष्यत्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥२॥

होने वाले फल, अग्नि और जल की वृष्टि को यथाक्रम से जैसे पुष्प, धूम और मेघ सूचित करते हैं, वैसे ही रिष्ट होने वाली मृत्यु की सूचना देते हैं ॥२॥

वक्तव्य—रिष्ट—आयुष्य का क्षयसूचक लिंग । इसी को ही अरिष्ट भी कहते हैं—रोगिणो मरणं यस्मादवश्यंभावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्टं स्याद्रिष्टं चापि तदुच्यते ॥ (भावप्रकाश)। ये रिष्ट दो प्रकार के होते हैं। (१) पुरुषमनाश्रित यानि जिनका संबंध रोगी के साथ नहीं होता । यथा-दूताधिकार, पथि चौत्पातिक, आतुरकुले भावावस्था इत्यादि । (२) पुरुषसंश्रय यानि जिनका संबंध रोगी के साथ होता है । इसलिये इस प्रकार के रिष्ट को अष्टांगसंग्रह में 'आतुराश्रयरिष्ट' कहा है । इस पुरुषसंश्रय रिष्ट के कई आचार्य दो भेद करते हैं—(१) स्थायिरिष्ट या रिष्ट. (२) अस्थायिरिष्ट या रिष्टाभास । केचित्तु तद्द्विधेत्याहुः स्थाय्यस्थायिविभेदतः । (अष्टांगहृदय)। इनमें शरीर के प्राकृतिक भावों में शारीरिक और मानसिक दोष असाध्य होने के कारण अकस्मात् और निर्निमित्त जो विपर्यास उत्पन्न होते हैं, वे स्थायिरिष्ट कहलाते हैं—स्वस्थानामातुराणां वा पुरुषाणां देहान्तराभिलापिणामौषधविषयमतीताः सकलशरीरव्यापिनो दोषा घनाघना इव वर्षमायुषः क्षयं सूचयन्तोऽकस्मात् स्वभावविपर्यासं जनयन्ति । तत्समासतो रिष्टमित्याहुः । (अष्टांगसंग्रह) । क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः । चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निगद्यते॥ क्षणेन हि प्रादुर्भवन्ति अरिष्टानि, अनिमित्ततश्चारिष्टप्रादुर्भावः । (चरक)। रूपेन्द्रियस्वरच्छाया प्रतिच्छाया क्रियादिषु । अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः ॥ विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत् ॥ (अष्टांगहृदय)। ये स्थायिरिष्ट निश्चित रूप से मृत्यु की सूचना देते हैं तथा इनका हेत्वादि निमित्त अव्यक्त, अज्ञात और अदृष्ट होता है । इसलिये ये 'नियतारिष्ट' या 'अनिमित्तारिष्ट' भी कहलाते हैं। इनका दर्शन होने पर मृत्यु का निवारण कदाचित् दैविक शक्ति से हो सकता है, अन्यथा असंभव है । इसी लिये आगे लिखा है—ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः । रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥ (सुश्रुत)। कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति । (योगरत्नाकर) । अस्थायिरिष्ट ज्ञातनिमित्त और दोषों के बाहुल्य से उत्पन्न होते हैं । यदि चिकित्सा न की जाय तो मृत्यु होती है । यदि निमित्त का परिहार करके दोषों की उचित चिकित्सा की जाय तो रिष्टों का नाश होकर मृत्यु का निवारण होता है । इसलिये इनको 'अनियत रिष्ट' भी कहते हैं—दोषाणामपि बाहुल्याद्रिष्टाभासः समुद्भवेत् । तद्दोषाणां शमे शाम्येत् । (अष्टांगसंग्रह)। ये रिष्टाभास ज्ञातनिमित्त और प्रतिक्रियाक्षम होने के कारण इनका विचार रिष्ट विभाग में नहीं किया जाता है। रिष्ट विभाग में केवल उन लक्षणों का निर्देश किया जाता है, जिनका निमित्त अज्ञात है, जिनकी चिकित्सा असंभव है तथा जिनका दर्शन रोगी की मृत्यु सूचित करता है। चरकसंहिता के इंद्रियस्थान में इसी दृष्टि से लक्षणों का समावेश किया गया है—निमित्तानुरूपा (विकृतिः) तु निमित्तार्थानुकारिणी । यामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिंगानुरूपां यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः । यां चाधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लक्षणानुपदेक्ष्यामः । (इत्युद्देशः)। ये रिष्ट रोगी की मृत्यु के पूर्व उत्पन्न होने पर भी उनका ज्ञान कभी कभी क्यों नहीं होता है, इसके कारण वर्णन करते हैं—

तानि सौक्ष्म्यात् प्रमादाद्वा तथैवाशु व्यतिक्रमात् ।
गृह्यन्ते नोद्गतान्यज्ञैर्मुमूर्षोर्न त्वसंभवात् ॥३॥

वे अरिष्ट उत्पन्न होने पर भी सूक्ष्म होने से, (वैद्य के) अज्ञान से, शीघ्र पलट जाने से मूर्ख वैद्यों से ग्रहण नहीं होते । इसलिये नहीं कि मरने वाले के शरीर में इनकी उत्पत्ति नहीं हुई ॥३॥

वक्तव्य—आशुव्यतिक्रमात्—अरिष्टों का शीघ्र नाश होने से या रोगी की शीघ्र मृत्यु होने से । मुमूर्षोः—'शरीरे' इति शेषः । मृत्यु के पूर्व अरिष्ट का दर्शन निरपवाद होता है। ऊपर रिष्ट और मृत्यु का संबंध बतलाने के लिए जो पुष्प और फल का दृष्टान्त दिया है, उसमें कभी कभी व्यभिचार हो सकता है परंतु रिष्ट और मृत्यु के संबंध में कदापि नहीं होता है—अप्येवं तु भवेत् पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् । फलं चापि भवेत् किंचित् यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ नत्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते । मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥ (चरक) ।

ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः ।
रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥४॥

रिष्ट उत्पन्न होने पर मृत्यु निश्चित है (तथापि) ऐसा कहा जाता है कि निर्मल ब्राह्मणों से अथवा रसायन, तप और जप इनमें तत्पर ऐसे ब्राह्मणों से मृत्यु का निवारण हो सकता है ॥४॥

वक्तव्य--किल—यह शब्द यहाँ आगम, वार्ता या ऐतिह्य इस अर्थ से प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ 'ऐसा कहा जाता है, ऐसा शास्त्र में प्रतिपादित किया है' इत्यादि होता है । वार्तासंभाव्ययोः किल । (अमर)। किलशब्दोऽत्रागमार्थं सूचयति, एवं किल आगमे प्रतिपादितमित्यर्थः । (डल्हण) । अमलैः--मलरहित । मल का अर्थ मानस दोष । रागद्वेषादि मानस दोषों से निर्मुक्त । रसायनपराः—यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्। इस प्रकार स्वभावव्याधिनिकारक औषधिचिंतक। आत्रेय महर्षि के मतानुसार रिष्ट और मरण का अव्यभिचार होता है परंतु महर्षि सुश्रुत आगम प्रामाण्य मानते हुए दोनों में व्यभिचार होने की संभावना पर विश्वास करते हैं ।

नक्षत्रपीडा बहुधा यथा कालं[1] विपच्यते ।
तथैवारिष्टपाकं च ब्रुवते बहवो[2] जनाः ॥५॥

जैसे—(विशिष्ट) नक्षत्र (पर स्थित हुए ग्रहों की) पीड़ा विशिष्ट काल पर फलती है वैसे अरिष्ट का फल भी विशिष्ट काल पर होता है, ऐसा बहुत लोगों का मत है ॥५॥

वक्तव्य—नक्षत्रपीडा—नक्षत्रविशेषेग्रहावस्थान जन्यापीडा। कालात्—कालविशेषमाश्रित्य—होरायां नवमे सूर्यः सप्तमे च शनैश्चरः । एकादशे गुरुः शुक्रो मासमेकं न जीवति ॥ अशुभे लग्नसंप्राप्ते षष्ठाष्टमे निशाकरः । शनैश्चरस्तु बंधुस्थो द्विमासे मृत्युमृच्छति ॥

असिद्धिमाप्नुयाल्लोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः ।
अतोऽरिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक् ॥६॥

जिसकी आयु क्षीण हो गई है, उस मनुष्य की चिकित्सा करने से संसार में असिद्धि को प्राप्त हो जाता है । इसलिये कुशल वैद्य विशेष ध्यान देकर अरिष्टों का निरीक्षण करे ॥६॥

वक्तव्य—असिद्धि—धमर्थि कामादि की हानि—स्वार्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम् । प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥ (चरक) ।

गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां स्वभावतः[3] ।
वैकृतं यत् तदाचष्टे व्रणिनः पक्वलक्षणम् ॥७॥

गंधवर्ण रसादिक (प्रत्येक व्रण के दोष के अनुसार) जो विशेष भाव होते हैं, उनमें विकृति होने से व्रणी मनुष्य की मरणोन्मुखता समझनी चाहिये ॥७॥

वक्तव्य—आदि—स्पर्श शब्द का भी समावेश आदि से होता है । स्वभावतः—दोषों के स्वभाव के अनुसार । पक्वलक्षणम्—विनाशोन्मुखता ।

कटुस्तीक्ष्णश्च विस्रश्च गन्धस्तु पवनादिभिः ।
लोहगन्धिस्तु रक्तेन व्यामिश्रः सान्निपातिकः ॥८॥
लाजातसीतैलसमाः किंचिद्विस्राश्च गन्धतः ।
ज्ञेयाः प्रकृतिगन्धाः स्युरतोऽन्यद्गन्धवैकृतम् ॥९॥

वात से कटु गंध, पित्त से तीक्ष्ण गंध, कफ से आम गंध, रक्त से लोह गंध और सन्निपात से मिश्र गंध आती है ॥८॥ (वात पित्त से) लाजा गंध, (वात कफ से) अतसी तैल गंध और (पित्त कफ से) तिल तैल गंध आती है । ये तीनों द्वंद्वज किंचित् आमगंधी होते हैं । ये गंध (दोषों के) स्वाभाविक गंध समझने चाहिये और इनसे विपरीत विकृत गंध समझना चाहिये ॥९॥

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः ।
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ॥१०॥
श्ववाजिमूषिकध्वाङ्क्षपूतिवल्लूरमत्कुणैः ।
सगन्धाः पङ्कगन्धाश्च भूमिगन्धाश्च गर्हिताः ॥११॥

(गंधविकृति—) मरणोन्मुख मनुष्य के व्रण मद्य, अगुरु, घृत, जाति (सुमन), कमल, चंदन, चंपक इनके समान गंधयुक्त (सगंध) और अलौकिक गंधयुक्त (दिव्यगंध) होते हैं ॥१०॥ कुत्ता, घोड़ा, चूहा, कौआ (ध्वाङ्क्ष), पूययुक्त शुष्क मांस, खटमल इनके समान गंधयुक्त व्रण, कीचड़ के समान गंधयुक्त व्रण तथा भूमि के समान गंधयुक्त व्रण अनिष्ट समझने चाहिये ॥११॥

ध्याम[1]कुङ्कुमकङ्कुष्ठसवर्णाः पित्तकोपतः[2] ।
न दह्यन्ते न चूष्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१२॥
कण्डूमन्तः स्थिराः श्वेताः स्निग्धाः कफनिमित्ततः ।
दूयन्ते वाऽपि दह्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१३॥
कृष्णास्तु ये तनुस्रावा वातजा मर्मतापिनः ।
स्वल्पामपि न कुर्वन्ति रुजं तान् परिवर्जयेत् ॥१४॥

जो पित्तज व्रण ईषत् कृष्ण (ध्याम), केशर और कंकुष्ठ के तुल्यवर्ण होते हुए भी दाह और चोष उत्पन्न नहीं करते, उनको वैद्य त्याग दे ॥१२॥ जो कफज व्रण कण्डूयुक्त, स्थिर, श्वेतवर्ण, स्निग्ध होते हुए भी पीड़ा और दाह उत्पन्न करते हैं, उनको वैद्य त्याग दे ॥१३॥ जो वातज व्रण कृष्णवर्ण, अल्पस्रावयुक्त, मर्म पर होते हुए थोड़ी भी पीड़ा नहीं करते, उनको त्यागना चाहिये ॥१४॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में वातादि दोषयुक्त व्रणों की वर्णविकृति वर्णन की गई है । रसविकृति स्वसंवेधन होने के कारण उसका वर्णन नहीं किया गया है । कंकुष्ठ—सुवर्णक्षीरि, पीलियो, उसारे रेवन्द, रेवाचिनी, Gamboge tree, Garcinia morella । कुछ लोग कंकुष्ठ से पार्वतीय मृत्तिका मुर्दारसंग भी मानते हैं । तान्—ऐसे विपरीतगंधयुक्त व्रणों से पीड़ित रोगियों को ।

क्ष्वेडन्ति घुर्घुरायन्ते ज्वलन्तीव च ये व्रणाः ।
त्वङ्मांसस्थाश्च पवनं सशब्दं विसृजन्ति ये ॥१५॥

(शब्दविकृति—) जो व्रण खटखट, घुर्घुर इत्यादि ध्वनि करते हैं, जो जलनयुक्त प्रतीत होते हैं और त्वचा, मांस में होने पर भी शब्द के साथ वायु को छोड़ते हैं (उन्हें गर्हित समझना चाहिये) ॥१५॥

वक्तव्य—पवनं विसृजन्ति—इसके लिये पीछे २५ वें अध्याय के १६ वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ।
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः ॥१६॥
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ।

(स्पर्शविकृति—) जो व्रण मर्मस्थान पर न होते हुए भी अत्यंत पीड़ा करते हैं, भीतर से अत्यंत गरम और बाहर से ठंडे होते हैं तथा जो व्रण बाहर से गरम और भीतर से ठंडे होते हैं (उन्हें असाध्य समझना चाहिये) ॥१६॥

शक्तिध्वजरथा कुन्तवाजिवारणगोवृषाः ॥१७॥
येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादाकृतयस्तथा ।
चूर्णावकीर्णा इव ये भान्ति वा न च चूर्णिताः ॥१८॥

(रूपविकृति—) शक्ति (आयुधविशेष), ध्वजा, भाला, घोड़ा, हाथी, गौ, वृषभ इनकी आकृति तथा राजमहल की आकृति जिसमें आभासित होती है और जो चूर्ण न छोड़ने

---

[1] कालात्. [2] बहुधा. [3] समासतः.

[1] श्यामाकुङ्कुम०. [2] ०दोषतः.

पर भी चूर्ण से अवकीर्ण हुए दिखाई देते हैं (वे व्रण असाध्य होते हैं) ॥१७-१८॥

प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥१९॥

जो व्रण प्राणक्षय (Lowered vitality)' मांसक्षय, श्वास, कास, अरोचक इन (उपद्रवों) से युक्त होते हैं, जिनमें पूय और दुष्ट रक्त काफी होता है तथा जिनका अवस्थान मर्मों में होता है, वे व्रण (असाध्य होते हैं) ॥१९॥

क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेत्तान् भिषक् प्राज्ञः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥२०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीयो नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

जो व्रण (प्रारंभ से ही), योग्य उपचारों से चिकित्सा होने पर अच्छे नहीं होते, उनको बुद्धिमान् वैद्य अपने यश की रक्षा करने के लिये त्याग दे ॥२०॥

वक्तव्य—इस अध्याय में शब्द, स्पर्श, रूप और गंध इन चार भावों का रिष्टवर्णन किया है । इनके सिवाय अनुक्त अशेष रिष्टों का संग्रह करने के लिये यह श्लोक लिखा गया है । जब शरीरगत धातुओं की प्राणशक्ति नष्ट हो जाती है, तब योग्य ओषधियों द्वारा चिकित्सा करने पर भी यश नहीं मिलता । इस विषय का विशेष विवरण आगे ३२ वें अध्याय के छठे श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीयो नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से विपरीताविपरीत स्वप्ननिदर्शनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

दूतदर्शनसंभाष वेषाश्चेष्टितमेव च ।
ऋक्षं वेला तिथिश्चैव निमित्तं शकुनोऽनिलः ॥२॥
देशो वैद्यस्य वाग्देहमनसां च विचेष्टितम् ।
कथयन्त्यातुरगतं शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥३॥

दूत का दर्शन, संभाषण, वेष और चेष्टा, नक्षत्र, (मध्याह्नादिक) वेला, (चतुर्थ्यादि) तिथि, निमित्त, शकुन, वायु, वैद्य का देश, शारीरिक मानसिक और वाचिक चेष्टा ये रोगी के शुभ या अशुभ की सूचना देते हैं ॥२-३॥

पाखण्डाश्रमवर्णानां सपक्षाः कर्मसिद्धये ।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥४॥
नपुंसकं स्त्री बहवो नैककार्या असूयकाः ।
गर्दभोष्ट्ररथप्राप्ताः प्राप्ता वा स्युः परम्पराः ॥५॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

(अब दूतदर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं—) (वेदबाह्य बौद्ध कापालिक इत्यादि) नास्तिक मत, (ब्रह्मचर्यादिक) आश्रम, (ब्राह्मणादि) वर्ण इनमें से जिस मत, आश्रम या वर्ण का रोगी हो उसी मत, आश्रम या वर्ण का दूत होने से चिकित्सा में सफलता होती है और इससे विपरीत मत, आश्रम या वर्ण का होने से चिकित्सा में अपयश होता है ॥४॥ नपुंसक, स्त्री, अनेक दूत एक समय आये हुए, अनेक कार्यों के लिये आये हुए, निन्दक, गधों और ऊंटों के वाहन में आये हुए, (एक के पीछे एक) परंपरा से प्राप्त हुए ॥५॥ जो दूत वैद्य के पास आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये ।

वक्तव्य—पाखंड—षण्णवतिभेदभिन्नो व्रात्यविशेषः । (अरुणदत्त) । कर्मविपत्ति–चिकित्सानैष्फल्य । प्राप्ता वा स्युः परम्पराः—वैद्य को जलदी बुलाने के लिये एक के पीछे एक इस क्रम से आये हुए ।

पाशदण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवाससः ॥६॥
आर्द्रजीर्णापसव्यैकमलिनोद्ध्वस्तवाससः[१] ।
न्यूनाधिकाङ्गा उद्विग्ना विकृता रौद्ररूपिणः ॥७॥

(अब दूतों के वेष के सम्बन्ध में लिखते हैं—) पाश, डंडा, शस्त्र धारण करने वाले, श्वेत रंग के अतिरिक्त इतर रंग के वस्त्र धारण करने वाले, गीले पुराने अपसव्य गंदे फटे हुए वस्त्र धारण करने वाले, (शरीर का एकाध) अवयव न्यून होने वाले, (अंगुल्यादि एकाध) अवयव अधिक होने वाले, उद्विग्नचित्त, (लंगड़ा कुब्ज आदि) विकृतशरीरी, भयानक रूप वाले (दूत भी गर्हित समझने चाहिये) ॥६-७॥

रूक्षनिष्ठुरवादाश्चाप्यमाङ्गल्याभिधायिनः[२] ।

(दूतसंभाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—) रूक्ष, कठोर और अमांगलिक शब्द बोलने वाले दूत भी (गर्हित समझने चाहिये) ।

छिन्दन्तस्तृणकाष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् ॥८॥
वस्त्रान्तानामिकाकेशनखरोमदशास्पृशः ।
स्रोतोवरोधहृद्गण्डमूर्धोरःकुक्षिपाणयः ॥९॥
कपालोपलभस्मास्थितुषाङ्गारकराश्च ये ।
विलिखन्तो महीं किंचिन्मुञ्चन्तो लोष्टभेदिनः ॥१०॥
तैलकर्दमदिग्धाङ्गा रक्तस्रगनुलेपनाः ।
फलं पक्वमसारं वा गृहीत्वाऽन्यच्च तद्विधम् ॥११॥
नखैर्नखान्तरं वाऽपि करेण चरणं तथा ।
उपानच्चर्महस्ता वा विकृतव्याधिपीडिताः ॥१२॥
वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणाः ।
याम्यां दिशं प्राञ्जलयो विषमैकपदे स्थिताः ॥१३॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

(अब दूतचेष्टित के सम्बन्ध में लिखते हैं—) तृण और काष्ठ इनको तोड़ने वाले, नाक, स्तन, वस्त्र के सिरे, अनामिका अंगुलि, सिर के बाल, नख, शरीर के बाल, दाँत इनको छूने वाले, कर्णच्छिद्र (स्रोत), स्कंधदेश (अवरोध), हृदय,

---

[१] मलिनध्वस्तवाससः. [२] वक्तारस्त्वमाङ्गल्या०.

कपोल, सिर, छाती और कुक्षि इनके ऊपर हाथ रखने वाले ॥८-९॥ ठिकरी, पत्थर, भस्म, हड्डी, भूसी, अंगार इनमें से कोई वस्तु हाथ में लेने वाले, (अपने नाखून से) जमीन को खरोंचने वाले, (हाथ में) जो कुछ हो उसको छोड़ देने वाले, मिट्टी के ढेले को फोड़ने वाले ॥१०॥ तैल या कीचड़ शरीर पर मले हुए, लाल रंग की माला या तिलक धारण करने वाले, पका हुआ फल, निःसार फल या अन्य कोई क्षुद्र वस्तु हाथ में लिये हुए ॥११॥ नाखून से नाखून और हाथ से पाँव रगड़ते हुए, हाथ में जूता लिये हुए, (गलत्कुष्ठादि) शरीर विकृत करने वाले रोगों से पीड़ित हुए ॥१२॥ अधम आचार करने वाले, रोते हुए, हाँफते हुए, विकृत नेत्र वाले, दक्षिण दिशा को अंजलि किये हुए, टेढ़े या एक पैर से खड़े हुए ॥१३॥ इस प्रकार के जो दूत वैद्य के पास आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये ।

दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुताशनम् ॥१४॥
ज्वलयन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्मणि चोद्यतम् ।
नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सर्गेषु वाऽशुचिम् ॥१५॥
प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विक्लवमेव वा ।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥१६॥

(अब वैद्य के शारीरिक मानसिक चेष्टा के सम्बन्ध में लिखते हैं—) दक्षिणाभिमुख, अशुद्ध स्थान में बैठा हुआ, अग्नि ॥१४॥ जलाता हुआ या कोई वस्तु पकाता हुआ, (पशुवधादि) क्रूरकर्म में उद्यत हुआ, नंगा, भूमि पर लेटा हुआ, (मलमूत्रादि) वेगोत्सर्ग से अशुद्ध हुआ ॥१५॥ बाल बिखरा हुआ, तैल का अभ्यंग किया हुआ, स्वेदित और विह्वल हुआ ऐसे वैद्य के पास जो दूत जाते हैं, उन दूतों को भी गर्हित समझना चाहिये ॥१६॥

वैद्यस्य पैत्र्ये दैवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने ।
मध्याह्ने चार्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च ॥१७॥
आर्द्राश्लेषामघामूलपूर्वासु भरणीषु च ।
चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा षष्ठ्यां सन्धिदिनेषु च ॥१८॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

(अब वेला, नक्षत्र और तिथि इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—) जब वैद्य (श्राद्धादि) पितृकार्य, (हवनादि) दैवकार्य करता हो, (उल्कापात भूमिकम्पादि) उत्पात दर्शन के समय, मध्याह्न, अर्धरात्र, प्रभात और सायंकाल के संधिकाल इन समय में (जो दूत आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये)। कृत्तिका ॥१७॥ आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, मूल, पूर्वा, (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा), भरणी इन नक्षत्रों में (जो दूत आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये) । चतुर्थी, नवमी अथवा षष्ठी और (पौर्णिमा, अमावस्या, प्रतिपद् इत्यादि) संधि दिनों में ॥१८॥ जो दूत वैद्य के पास आते हैं, उन्हें भी गर्हित समझना चाहिये ।

स्विन्नाभितप्ता मध्याह्ने ज्वलनस्य समीपतः ॥१९॥
गर्हिताः पित्तरोगेषु दूता वैद्यमुपागताः ।
त एव कफरोगेषु कर्मसिद्धिकराः स्मृताः ॥२०॥
एतेन शेषं व्याख्यातं बुद्ध्वा संविभजेत्तु तत् ।
रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च ॥२१॥
प्रशस्तो जलरोधेषु दूतवैद्यसमागमः ।
विज्ञायैवं विभागं तु शेषं बुध्येत पण्डितः ॥२२॥

पसीने से तर हुए, तप्त, मध्याह्न के समय, तथा अग्नि के समीप से ॥१९॥ जो दूत वैद्य के पास आते हैं, उन्हें पित्त के रोगों में निंदित समझना चाहिये । परंतु कफ के रोगों में वे ही दूत चिकित्सा की सिद्धि सूचित करते हैं ॥२०॥ इस बात से अनुक्त बातों का व्याख्यान समझकर अन्य स्थानों में अपनी बुद्धि से शुभाशुभ का विचार जानना चाहिये । रक्तपित्त, अतिसार तथा प्रमेह रोगों में ॥२१॥ जहाँ पानी बंधा हुआ हो, ऐसे स्थान में वैद्य और दूत का समागम श्रेष्ठ होता है । इससे अनुक्त बातें बुद्धिमान् वैद्य जान ले ॥२२॥

वक्तव्य—एतेन शेषं व्याख्यातम्—तद्यथा—घृतोदकादिद्रवसमीपस्थमतिशीतस्तब्धः प्रत्युषसि श्लेष्मामयेऽशुभः । पित्तामये तु शुभः । (अष्टांगसंग्रह) । वातरोगे परुषरूक्षसिकतापाषाणशर्करादिविशिष्टे देशे काले सायाह्ने दूतोऽशुभः । विपरीतस्तु शुभः । (अरुणदत्त) । जलरोधेषु—जहाँ जल का प्रवाह रोकने के लिये बाँध बनाया गया है, ऐसे स्थान में । किंवा आगे चरकसंहिता का जो श्लोक दिया है, उसके अनुसार 'मेघ बरस कर बंद होने के समय में' ऐसा भी अर्थ हो सकता है । अष्टांगसंग्रह में केवल प्रथम अर्थ ही दिया है—तथा सेतुभंगे छर्दिमेहातिसारादिष्वशुभः सेतुबंधे तु शुभः शेषं बुध्येत—यथा उदावर्त, मूत्रकृच्छ्र इत्यादि अवरोधक रोगों में जल प्रवाह युक्त स्थानों में अथवा मेघ बरसते समय में दूत का आना शुभकारक होगा । यहाँ दूत-वैद्य समागम के संबंध में रोगों की दृष्टि से जो शुभाशुभ स्थान और काल बतलाये गये हैं, उनका सामान्य ग्रहण करने के लिये चरकसंहिता में निम्न सुन्दर श्लोक दिया है—विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक् । दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ।

शुक्लवासाः शुचिर्गौरः श्यामो वा प्रियदर्शनः ।
स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूतः कार्यकरः स्मृतः ॥२३॥
गोयानेनागतस्तुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः ।
[१]स्मृतिमान् विधिकालज्ञः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान् ॥२४॥
अलंकृतो मङ्गलवान् दूतः कार्यकरः स्मृतः ।
स्वस्थं प्राङ्मुखमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम् ॥२५॥
उपसर्पति यो वैद्यं स च कार्यकरः स्मृतः ।

जो दूत शुक्ल उज्ज्वल वस्त्र पहना हुआ, पवित्र, गौरवर्ण, सांवला, देखने में मनोहर और रोगी की अपनी जाति अथवा गोत्र का हो वह कार्यसिद्धि करने वाला होता है ॥२३॥ बैल (या अन्य शुभ पशु की) गाड़ी से आया हुआ, संतुष्ट, या पैदल आया हुआ, शुभ चेष्टा करने वाला, जिसकी स्मृति उत्तम है ऐसा, शास्त्रविधि और काल (के अनुसार कैसा वर्तन करना चाहिये इस) को जानने वाला, स्वतंत्र, प्रगल्भ बुद्धि का ॥२४॥ अलंकृत, मंगलकारक ऐसा दूत कार्यसिद्धिकर

---

[१] धृतिमान्.

होता है। जब वैद्य स्वस्थ, पूर्वाभिमुख, सम और पवित्र देश में शुद्ध होकर बैठा हुआ हो ॥२५॥ ऐसे समय उसके पास जो दूत जाता है, वह कार्यसिद्धिकर होता है।

वक्तव्य—चरकसंहिता में प्रशस्त दूत के निम्न लक्षण दिये हैं—स्वाचारं हृष्टमव्यंगं यशस्यं शुक्लवाससम्। अमुण्डमजरं दूतं जातिवेशक्रियासमम् ॥ अनुष्ट्रखरयानस्थमसंध्यास्वग्रहेषु च। दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक् ॥ अब इसके आगे शुभाशुभ शकुन वर्णन करते हैं—

मांसोदकुम्भातपत्रविप्रवारणगोवृषाः ॥२६॥
शुक्लवर्णाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गताः।
स्त्री पुत्रिणी सवत्सा गौर्वर्धमाना[1] स्वलंकृता ॥२७॥
कन्या मत्स्याः फलं चामं स्वस्तिकं मोदका दधि।
हिरण्याक्षतपात्रं वा रत्नानि सुमनो[2] नृपः ॥२८॥
अप्रशान्तोऽनलो वाजी हंसश्चाषः शिखी तथा।

मांस, जलपूर्ण घड़ा, छत्र, ब्राह्मण, हाथी, गौ, वृषभ ॥२६॥ और श्वेत वस्तु इनका प्रस्थान के समय दर्शन शुभ होता है। अपने बालक के सहित स्त्री, अपने बछड़े के सहित गौ, यौवनावस्था में पहुँची हुई अलंकार युक्त ॥२७॥ कुमारिका, मत्स्य, कच्चे फल, स्वस्तिक, मोदक, दही, सुवर्ण, अक्षतपूर्ण पात्र, रत्न, पुष्प, राजा ॥२८॥ जलती हुई अग्नि, घोड़ा, हंस, चाषपक्षी तथा मयूर (इनका भी प्रस्थान के समय दर्शन शुभ होता है)।

वक्तव्य—मांस—सद्योमांस। उदकुंभ—जलपूर्णकुंभ—रत्नानां पूर्णकुंभानाम् (चरक)। वर्धमाना—जिनके शरीर पर यौवन खिलने लगा है—कन्यानां वर्धमानानाम् (चरक)। इसके निम्न अर्थ भी किये गये हैं—(१) शराव (ल्हण)। (२) अंकारोपितं कुमारं कुमारीं वा वर्धमानमाहुः। (चक्र)। (३) अलंकारविशेष। (इन्दु)। शुक्लवर्णाः कार्पासास्थितक्रभस्मक्षारादिव्यतिरिक्ताः सुमनोदध्यक्षतमौक्तिकादयः पदार्थाः। (डल्हण)। स्वस्तिक—(स्वस्ति शुभाय यत् तत्) स्वस्तिकचिह्न, तण्डुल पिष्ट। मुक्तादामविशेषः, अन्ये स्वस्तिकं स्वस्तिकाकारं दूर्वाशकलमण्डितं धवलं दर्पणसक्तं मृण्मयं गोमयकृतं वा मङ्गल्यमवतारणाकार्यं कुर्वते मांगलिककृत्स्त्रियः। (डल्हण)। अक्षता—लाजा (डल्हण)। यवाः, अखण्डितास्तण्डुला इत्यन्ये, धान्यमेवाखंडितमक्षतशब्दवाच्यमित्यपरे (अरुणदत्त)।

ब्रह्मदुन्दुभिजीमूतशङ्खवेणुरथस्वनाः ॥२९॥
सिंहगोवृषनादाश्च हेषितं गजबृंहितम्।
शस्तं हंसरुतं नृणां कौशिकं चैव वामतः ॥३०॥
प्रस्थाने यायिनः श्रेष्ठा वाचश्च हृदयंङ्गमाः।
पत्रपुष्पफलोपेतान् सक्षीरान्नीरुजो द्रुमान् ॥३१॥
आश्रिता वा नभोवेश्मध्वजतोरणवेदिकाः।
दिक्षु शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्ठतोऽनुगाः ॥३२॥
वामा वा दक्षिणा वाऽपि शकुनाः कर्मसिद्धये।

वेदध्वनि, नगारा, मेघ, शङ्ख, वंशी, रथ इनकी ध्वनि ॥२९॥ तथा सिंह, गौ, बैल का शब्द घोड़े का हिनसना, हाथी की आवाज, हंस का शब्द और बाँयें को उल्लू का शब्द इनको मनुष्यों के प्रस्थान में शुभ समझना चाहिये ॥३०॥ तथा राजभवन में जाने वाले लोग और श्रेष्ठ तथा हृदयंगम वाणी भी प्रस्थान के समय शुभ होती है। पत्र, पुष्प, फल युक्त रसदार नीरोग वृक्षों पर ॥३१॥ बैठे हुए, आकाश में उड़ते हुए, गृह, ध्वजा, तोरण, वेदिका इन पर स्थित हुए, शांत दिशाओं में मधुर आवाज करने वाले, पीछे से आने वाले ॥३२॥ तथा बाँई अथवा दाहिनी तरफ से आने वाले पक्षी कार्यसिद्धिसूचक होते हैं।

शुष्केऽशनिहतेऽपत्रे वल्लीनद्धे सकण्टके ॥३३॥
वृक्षेऽथवाऽश्मभस्मास्थिविट्तुषाङ्गारपांशुषु।
चैत्यवल्मीकविषमस्थिता दीप्तखरस्वराः ॥३४॥
पुरतो दिक्षु दीप्तासु वक्तारो नार्थसाधकाः।

सूखे हुए, बिजली के मारे हुए, पत्र रहित, बेल से जकड़े हुए, कंटक युक्त ॥३३॥ वृक्ष पर अथवा पत्थर, भस्म, अस्थि, विष्ठा, तुष, कोयला, धूलि, चैत्य, वल्मीक, विषम स्थान इन पर बैठे हुए, उग्र कर्कश शब्द करते हुए ॥३४॥ तथा (तीव्र आतप के कारण) दिशाएँ जब प्रदीप्त हों उस समय संमुख बोलने वाले पक्षी अर्थसाधक नहीं होते।

पुन्नामानः खगा वामाः स्त्रीसंज्ञा दक्षिणाः शुभाः ॥३५॥
दक्षिणाद्वामगमनं प्रशस्तं श्वशृगालयोः।
वामं नकुलचाषाणां नोभयं शशसर्पयोः ॥३६॥
भासकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम्।
दर्शनं वा रुतं चापि न गोधाकृकलासयोः ॥३७॥

पुँल्लिंगी पक्षी बाँयें को और स्त्रीलिंगी पक्षी दाहिने को शुभदायक होते हैं ॥३५॥ कुत्ते और गीध का दाहिने से बाँयें को जाना शुभ होता है। नकुल और चाष पक्षी इनका (दक्षिण की अपेक्षा) वामगमन (अधिक) प्रशस्त होता है। खरगोश और सर्प इनका दोनों तरफ को भी गमन प्रशस्त नहीं है ॥३६॥ भास पक्षी और उल्लू इनका भी दोनों तरफ को गमन प्रशस्त नहीं है और गोधा तथा गिरगिट इनका दर्शन और शब्द शुभ नहीं है ॥३७॥

दूतैरनिष्टैस्तुल्यानामशस्तं दर्शनं नृणाम्।
कुलत्थतिलकार्पासतुषपाषाणभस्मनाम् ॥३८॥
पात्रं नेष्टं तथाऽङ्गारतैलकर्दमपूरितम्।
प्रसन्नेतरमद्यानां पूर्णं वा रक्तसर्षपैः ॥३९॥
शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि सङ्गमाः।
नेष्यन्ते पतितान्तस्थदीनान्धरिपवस्तथा ॥४०॥
मृदुः शीतोऽनुकूलश्च सुगन्धिश्चानिलः शुभः।
खरोष्णोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः ॥४१॥

अनिष्ट दूतों के समान अन्य (अनिष्ट) मनुष्यों के दर्शन (भी) अशुभ होते हैं। कुलथी, तिल, कपास (के पदार्थ), तुष, पत्थर, भस्म तथा ॥३८॥ कोयला, तैल और कीचड़ इनसे भरा पात्र शुभ नहीं है अथवा प्रसन्ना के अतिरिक्त अन्य सब

---

[1] वर्धमानमलंकृता. [2] सुमना.

प्रकार के मद्यों से या लाल सरसों से भरा हुआ पात्र शुभ नहीं है ॥३९॥ शव (जलाने के लिये) सूखी लकड़ी और पत्ती (लिये हुए मनुष्य), तथा दुराचारी, चाण्डाल, दीन, अंधे और शत्रु इनका मार्ग में संगम होना भी अनिष्ट है ॥४०॥ कोमल, शीतल, अनुकूल तथा सुगंधित वायु शुभ होती है और तीक्ष्ण, गरम, दुर्गंधित तथा विरुद्ध दिशा की वायु अशुभ होती है ॥४१॥

ग्रन्थ्यर्बुदादिषु सदा छेदशब्दस्तु पूजितः।
विद्रध्युदरगुल्मेषु भेदशब्दस्तथैव च ॥४२॥
रक्तपित्तातिसारेषु रुद्धशब्दः प्रशस्यते।
एवं व्याधिविशेषेण निमित्तमुपधारयेत् ॥४३॥
तथैवाक्रुष्टहाकष्टमाक्रन्दरुदितस्वनाः।
छर्द्यां वातपुरीषाणां शब्दो वै गर्दभोष्ट्रयोः ॥४४॥

ग्रंथि, अर्बुद, आदि रोगों में सर्वदा छेदवाचक शब्द शुभ होता है। विद्रधि, उदर गुल्म इनमें भेद अर्थवाचक शब्द शुभ होता है ॥४२॥ रक्त पित्त, अतिसार इनमें अवरोधवाचक शब्द शुभ होता है। इस प्रकार विशिष्ट व्याधियों में (विशिष्ट शुभ सूचक) निमित्त समझना चाहिये ॥४३॥ ऐसे ही आक्रोश (जोर से चिल्लाना), हा कष्ट (हाय हाय करके दुःख के शब्द), आक्रन्द (जोर से रोना), रोने के शब्द तथा वमन, अपान वायु और पुरीष का शब्द तथा गधे का और ऊँट का शब्द (ये वैद्य के चिकित्सार्थ जाने के समय शुभ नहीं हैं) ॥४४॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में व्याधि के अनुसार विशेष तथा सामान्य शाब्दिक शुभाशुभ निमित्त वर्णन किये हैं। इससे यह मालूम होता है कि जिस रोग में चिकित्सानुकूल शब्द सुनाई देते हैं उसके लिये उन्हें शुभ समझना चाहिये और इससे विपरीत को अशुभ समझना चाहिये। अष्टांगसंग्रह में निम्न शब्दनिमित्त अधिक वर्णन किये हैं—अश्मर्युदरादिषु प्रवर्तनशब्दः। सर्वत्रैव च स्थिरस्थावरवर्धमानत्राताचलध्रुवक्षेमशिवादयः शब्दा धन्यवादित्रस्वराश्च श्रेष्ठाः। क्षतहतपतिताक्रोशप्रहारच्छेदभेददाहहाहाप्रतिषेधादिशब्दाः चिकित्साप्रतिषेधाय। इन्दु अपनी टीका में निम्न शब्द निमित्त वर्णन करते हैं—यथा पाण्डुरोगे शून्नशब्दः। कासे क्षतशब्दः। श्वासे छिन्नः।

प्रतिषिद्धं तथा भग्नं[1] क्षुतं स्खलितमाहतम्।
दौर्मनस्यं च वैद्यस्य यात्रायां न प्रशस्यते ॥४५॥
प्रवेशेऽप्येतदुद्देशादवेक्ष्यं च तथाऽऽतुरे।
प्रतिद्वारं गृहे वाऽस्य पुनरेतन्न गण्यते ॥४६॥
केशभस्मास्थिकाष्ठाश्मतुषकार्पासकण्टकाः।
खट्वोर्ध्वपादा मद्यापो वसा तैलं तिलास्तृणम् ॥४७॥
नपुंसकव्यङ्गभग्ननग्नमुण्डासिताम्बराः।
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा नेष्यन्ते दर्शनं गताः ॥४८॥

(चिकित्सार्थ) यात्रा करते समय वैद्य को (किसी ने जाने के लिये) मना करना, शरीर में कहीं भग्न होना (या कोई चीज भग्न होना), छींक आना, हाथ पैर से कोई चीज़ गिर जाना, आघात होना, विमनस्कता होना इत्यादि शुभ नहीं हैं ॥४५॥ संक्षेप से रोगी के घर में (प्रथम) प्रवेश करते समय भी इस प्रकार (के शुभाशुभ) लक्षणों को देखना चाहिये। परन्तु प्रवेश करने के पश्चात् प्रत्येक दरवाजे पर इनका विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥४६॥ केश, भस्म, अस्थि, काष्ठ, पत्थर, तुष, कपास (के पदार्थ), कंटक, ऊपर पाँव की हुई खटिया, मद्यपी, चरबी, तैल, तिल, घास फूस, ॥४७॥ नपुंसक, एकाध अवयव व्यंग होने वाला, एकाध अवयव टूटा हुआ, नंगा, सिर मुंडा हुआ, काले वस्त्र धारण किया हुआ इनका दर्शन वैद्य को घर से प्रस्थान करते समय तथा रोगी के घर में प्रवेश करते समय शुभ नहीं है ॥४८॥

भाण्डानां संकरस्थानां स्थानात् संचरणं तथा।
निखातोत्पाटनं भङ्गः पतनं निर्गमस्तथा ॥४९॥
वैद्यासनावसादो वा रोगी वा स्यादधोमुखः।
वैद्यं संभाषमाणोऽङ्गं कुड्यमास्तरणानि वा ॥५०॥
[1]प्रमृज्याद्वा धुनीयाद्वा करौ पृष्ठं शिरस्तथा।
हस्तं चाकृष्य वैद्यस्य न्यसेच्छिरसि चोरसि ॥५१॥
यो वैद्यमुन्मुखः पृच्छेदुन्मार्ष्टि स्वाङ्गमातुरः।
न स सिध्यति वैद्यो वा गृहे यस्य न पूज्यते ॥५२॥
भवने पूज्यते वाऽपि यस्य वैद्यः स सिध्यति।
शुभं शुभेषु दूतादिष्वशुभं ह्यशुभेषु च ॥५३॥
आतुरस्य ध्रुवं तस्माद् दूतादीन् लक्षयेद्भिषक्।

(रोगी के घर में) इकट्ठे धरे हुए पात्रों का गिरना, भूमि को खोदना, कोई वस्तु उखाड़ना, टूटना या गिर पड़ना, (मांगलिक) पदार्थों का घर से बाहर जाना (ये भी शुभ नहीं हैं) ॥४९॥ वैद्य के आसन का टूटना अथवा रोगी नीचे को मुख किये हुए सोना, वैद्य से बातचीत करते समय अंग, भित्ति, बिछौना ॥५०॥ हाथ, पीठ, सिर इनको रोगी का छूना या हिलाना और वैद्य का हाथ खींचकर अपने सिर या छाती पर रखना ॥५१॥ (ये भी निमित्त शुभ नहीं हैं) जो रोगी ऊपर को मुख करके वैद्य से प्रश्न करता है अथवा अपने शरीर को साफ़ करता है तथा जिसके घर वैद्य का पूजन नहीं होता वह रोगी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ॥५२॥ जिसके घर में वैद्य का पूजन होता है, वह रोगी सिद्धि को प्राप्त होता है। दूत आदि शुभ होने से शुभ और अशुभ होने से अशुभ फल ॥५३॥ रोगी के लिये आवश्यक होता है। इसलिये वैद्य दूतादिकों का परीक्षण करे।

वक्तव्य—ऊर्ध्वपादा—ऊर्ध्वगाः पादा येषाम् (इन्दु)। ऊर्ध्वपादः शरभाख्यो गजाकृतिः पशुभेदः (हाराणचन्द्र)। संकरस्थानाम्—संकीर्यन्ते भाण्डान्यत्रेति संकरो भाण्डाधारः, तत्रस्थानां भाण्डानां संचरणं पतनम्, चरकेऽपि उक्तम्—आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा। अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ (हाराणचन्द्र)। निर्गमः—दधि घृत लाजापुष्पादिक मंगल पदार्थों का घर से बाहर जाना—प्रवेशे चातुरगृहात् पूर्वोक्तमांगल्यनिर्गमः (अष्टांगसंग्रह)। प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्निमृद्बीजफलसर्पिषाम्। वृषब्राह्मणरत्नान्नदेवतानां विनिर्गतिम् ॥ (चरक)।

---

[1] लग्नं.

[1] प्रमृद्याद्वा.

स्वप्नानतः प्रवक्ष्यामि मरणाय शुभाय च ॥५४॥
सुहृदो यांश्च पश्यन्ति व्याधितो वा स्वयं तथा ।

अब इसके बाद मरणसूचक या शुभसूचक स्वप्नों को वर्णन करते हैं ॥५४॥ जिन्हें रोगी के मित्र तथा रोगी स्वयं देखे ।

वक्तव्य—निद्रितावस्था में ही स्वप्न उत्पन्न हो सकते हैं। जब इन्द्रिय तथा मन क्लान्त होकर बाह्य विषयों से पूर्ण निवृत्त हो जाते हैं, तब निद्रा उत्पन्न होती है।[निद्रा में मन निरिन्द्रिय प्रदेश में अवस्थित होता है—यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥ (चरक)। परन्तु जब केवल इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति होती है और मन अनिवृत्त होता है, उस समय मन कार्य पर होने के कारण मनुष्य निद्रितावस्था में नाना प्रकार के स्वप्न देखा करते हैं—सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा । विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति ॥ (अष्टांगसंग्रह)। नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि । इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ (चरक)। मन दोषपूर्ण होने से स्वप्न दिखाई देते हैं। ये स्वप्न सात प्रकार के होते हैं—मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः। स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा। भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः॥ (चरक)। इन सात प्रकार के स्वप्नों का विवरण अरुणदत्त अपनी टीका में करते हैं—(१) यश्चक्षुषा जाग्रदवस्थायां किंचिद् वस्तुजातं दृष्ट्वा तदानीं सुप्तावस्थायां तादृशं वस्तुजातं संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'दृष्ट' उच्यते ॥ (२) यश्च शब्दमात्रेण वस्तुजातं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते तदिदानीं सुप्तावस्थायां तादृक्संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'श्रुत' उच्यते ॥ (३) यस्तु जाग्रदवस्थायां यथायथमिन्द्रियैरनुभूयते सुप्तावस्थायां तादृगन्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते सो'ऽनुभूत' उच्यते ॥ (४) यस्मिन् दृष्टे श्रुतेऽनुभूते वा यत्पूर्वं जाग्रदवस्थायां वस्तुजातं मनसाऽभ्यर्थ्यते तथैव च सुप्तावस्थायामन्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'प्रार्थित' उच्यते ॥ (५) यस्तु षड्भिः प्रत्यक्षानुमानादिभिर्न दृष्टो नापि श्रुतो नाप्यनुमतो दृष्टश्रुतानुभूतत्वाभावादेव न च प्रार्थितोऽपि तु केवलं मनसा यथेच्छमुत्प्रेक्ष्य यत्किंचनरूपाभिः कल्पनाभिः कल्पितो जाग्रदवस्थायां वस्तुजातान्तःसंवित्तावुपारूढस्तदानीं सुप्तावस्थायां तादृगनुभूयते स 'कल्पितः' ॥ (६) यश्च दृष्टश्रुतादिभ्यः स्वप्नेभ्योऽन्यो विलक्षणः स्वप्नो यथा दृश्यते सुप्तावस्थायामुत्तरकालं तथैव स्वप्नदर्शिना नरेण तन्मुखावगततदर्थैरपि प्रत्यक्षतो दृश्यते स 'भाविकः' ॥ (७) दोषजः स स्वप्नो यो वातजः पित्तजः कफजो वा यथायथं दोषाणामनुरूपोऽन्तःसंवित्तावनुभूयते स 'दोषज' उच्यते ॥ इनमें से पहले पांच प्रकार के स्वप्न, यथाप्रकृति दोषज स्वप्न (जैसे पित्तप्रकृति के पित्तानुकूल स्वप्न), दिवास्वप्न, विस्मृतस्वप्न, अतिदीर्घस्वप्न, अतिलघुस्वप्न ये निष्फल होते हैं—तेष्वाद्या निष्फलाः पंच यथास्वप्रकृतिर्दिवा । विस्मृतो दीर्घह्रस्वोऽति । (अष्टांगहृदय)'। यहाँ भी आगे 'यथास्वं प्रकृतिस्वप्नो विस्मृतो विहतस्था । चिन्ताकृतो दिवादृष्टो भवन्त्यफलदास्तु ते ॥' ऐसा लिखा है। रात्रि के पहले प्रहर में देखा हुआ स्वप्न अल्पफल होता है परन्तु स्वप्न देखने के पश्चात् यदि पुनर्निद्रा न मिले तो वह स्वप्न महाफल करने वाला होता है। अशुभ स्वप्न देखने के पश्चात् यदि उसी समय दूसरा शुभ सूचक स्वप्न देखा जाय तो पहले का अशुभ फल नष्ट होकर शुभ ही फल मिलता है—दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत् । न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः ॥ अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः । पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्यात् शुभं फलम् ॥ (चरक)। इन नियमों के अनुसार शुभाशुभ स्वप्नों की निष्फलता, अल्पफलता अथवा महाफलता समझनी चाहिये।

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्तु करभव्यालगर्दभैः ॥५५॥
वराहैर्महिषैर्वाऽपि यो यायाद्दक्षिणामुखः ।
रक्ताम्बरधरा कृष्णा हसन्ती मुक्तमूर्धजा ॥५६॥
यं वा[1] कर्षति बद्ध्वा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ।
अन्तावसायिभिर्यो वाऽऽकृष्यते दक्षिणामुखः ॥५७॥
परिष्वजेरन् यं वाऽपि प्रेताः प्रव्रजितास्तथा ।
मुहुराघ्रायते[2] यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः ॥५८॥
पिबेन्मधु च तैलं च यो वा पङ्केऽवसीदति ।
पङ्कप्रदिग्धगात्रो वा प्रनृत्येत् प्रहसेत्तथा ॥५९॥
निरम्बरश्च यो रक्तां धारयेच्छिरसि स्रजम् ।
यस्य वंशो नलो वाऽपि तालो वोरसि जायते ॥६०॥
यं वा मत्स्यो ग्रसेद्यो वा जननीं प्रविशेन्नरः ।
पर्वताग्रात् पतेद्यो वा श्वभ्रे वा तमसाऽऽवृते ॥६१॥
ह्रियते स्रोतसा यो वा यो वा मौण्ड्यमवाप्नुयात् ।
पराजीयेत बध्येत काकाद्यैर्वाऽभिभूयते ॥६२॥
पतनं तारकादीनां प्रणाशं दीपचक्षुषोः ।
यः पश्येद्देवतानां च (वा) प्रकम्पमवनेस्तथा ॥६३॥
यस्य छर्दिर्विरेको वा दशनाः प्रपतन्ति वा ।
शाल्मलीं किंशुकं यूपं वल्मीकं पारिभद्रकम् ॥६४॥
पुष्पाढ्यं कोविदारं वा चितां वा यो[3]ऽधिरोहति ।
कार्पासतैलपिण्याकलोहानि लवणं तिलान् ॥६५॥
लभेताश्नीत वा पक्वमन्नं यश्च पिबेत् सुराम् ।
स्वस्थः स लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमृच्छति ॥६६॥

(तैलादिक) स्नेह से शरीर अभ्यंग करके जो ऊँट, हिंस्र पशु, गधा ॥५५॥ अथवा सूकर, महिष इनके साथ (या इन पर सवार) होकर दक्षिणाभिमुख गमन करता है। लाल वस्त्र परिधान की हुई, कृष्णवर्णा, हँसती हुई, मुक्तकेशा ॥५६॥ ऐसी स्त्री जिसको बाँधकर दक्षिण दिशा की ओर नृत्य करती हुई खींचती है। अथवा जो मनुष्य अन्त्यजों से दक्षिण दिशा की ओर खींचा जा रहा है ॥५७॥ मृत मनुष्य अथवा संन्यासी जिसको आलिंगन करते हैं, अथवा जिसको बार बार (व्याघ्रादिक) भयानक मुख वाले श्वापद सूँघते हैं ॥५८॥ जो मधु और तैल पीता है, कीचड़ में फँस जाता है, शरीर पर कीचड़ मल कर नाचता है, तथा हँसता है ॥५९॥ जो नंगा होकर शिर पर लाल रंग की माला धारण करता है, अथवा जिसकी छाती पर बाँस, नल अथवा तालवृक्ष आदि उगता है ॥६०॥ जिसको मत्स्य भक्षण करता है, जो माता के उदर में प्रवेश करता है, जो पर्वत के शिखर से गिरता है अथवा

---

[1] वाऽऽकर्षति. [2] मूर्धन्याघ्रायते. [3] योधिऽरोहति मानवः.

अँधेरे गर्त में गिर जाता है ॥६१॥ नदी आदि स्रोत में जो बह जाता है, जिसके सिर का मुंडन होता है, जिसका पराजय होता है, जो कैद होता है, या जो काक आदि पक्षियों से पराभूत होता है ॥६२॥ जो (चंद्र सूर्य आदि) तारिकाओं का पतन, दीप और नेत्रों का नाश अथवा देवताओं का नाश तथा भूकम्प देखता है ॥६३॥ जो अपने को वमन विरेचन से पीड़ित देखता है, जिसके दाँत गिर जाते हैं, जो संभल, पलाश, यूप (यज्ञस्तम्भ), वल्मीक, नीम का वृक्ष ॥६४॥ फूला हुआ कचनार अथवा चिता इन पर चढ़ता है। जिसको रुई, तैल, खलि, लोह, नमक और तिल ॥६५॥ इतने पदार्थ मिलते हैं, अथवा जो पकान्न खाता है और सुरा का पान करता है। (इन उपरोक्त घटनाओं को यदि मनुष्य स्वप्न में देखे) यदि वह स्वस्थ हो तो रोगी होता है, और रोगी हो तो मृत्यु को प्राप्त होता है ॥६६॥

वक्तव्य—अन्त्यावसायिभिः—चाण्डाल से भी दुष्ट संकरवर्ण जाति—निषादस्त्री तु चाण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम्। श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम्॥ (मनुस्मृति)। मौण्ड्यम्—मुण्डितशिरस्त्वम्। यूप—वंश अथवा खदिर वृक्ष का बनाया हुआ यज्ञपशुबंधन स्तम्भ।

यथास्वं प्रकृतिस्वप्नो विस्मृतो विहतस्तथा।
चिन्ताकृतो दिवा दृष्टो भवन्त्यफलदास्तु ते ॥६७॥

अपनी प्रकृति के अनुसार देखा हुआ स्वप्न, जिसका स्मरण नहीं होता हो ऐसा स्वप्न, जो दूसरे स्वप्न से दबाया गया है ऐसा स्वप्न, चिन्ताजन्य स्वप्न, दिन में देखा हुआ स्वप्न ये सब निष्फल होते हैं ॥६७॥

वक्तव्य—यथास्वं प्रकृतिस्वप्नः—जैसे वातप्रकृति का आकाश गमन—वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः। पित्तप्रकृति का अग्नि, विद्युत् उल्कापादि देखना—सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः। कफप्रकृति का हंस चक्रवाकादि को देखना, जलावमज्जन करना—सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥ विहत—दूसरे विशिष्ट शुभ स्वप्न से जिसका प्रभाव हत यानि पराभूत हो गया है—अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः। पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम्॥ (चरक)। चिन्ताकृत शब्द से दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित और कल्पित पांचों प्रकार के चरकोक्त स्वप्नों का ग्रहण किया जाता है।

ज्वरितानां शुना सख्यं कपिसख्यं तु शोषिणाम्।
उन्मादे राक्षसैः प्रेतैरपस्मारे प्रवर्तनम् ॥६८॥
मेहातिसारिणां तोयपानं स्नेहस्य कुष्ठिनाम्।
गुल्मेषु स्थावरोत्पत्तिः कोष्ठे, मूर्ध्नि शिरोरुजि ॥६९॥
शष्कुलीभक्षणं छर्द्यामध्वा श्वासपिपासयोः।
हारिद्रं भोजनं वाऽपि यस्य स्यात् पाण्डुरोगिणः ॥७०॥
रक्तपित्ती पिबेद्यस्तु शोणितं स विनश्यति।

ज्वर रोग वालों की कुत्तों से मित्रता, क्षयरोग वालों की वानर से मित्रता, उन्माद रोग में तथा अपस्मार में राक्षसों और प्रेतों से मित्रता ॥६८॥ प्रमेह और अतिसार में जल पीना, कुष्ठ रोग में तैल पीना, गुल्म रोग में कोष्ठ पर और शिरोरोग में सिर पर वृक्ष की उत्पत्ति ॥६९॥ वमन रोग में शष्कुली भक्षण, श्वास और पिपासा रोग में मार्ग प्रवास, पांडु रोगी का पीला भोजन खाना ॥७०॥ और रक्तपित्ती जो रक्त पान करे, वे नाश हो जाते हैं।

वक्तव्य—इन श्लोकों में विशिष्ट रोगों के लिये विशिष्ट प्रकार के अशुभ स्वप्न वर्णन किये हैं। स्थावरोत्पत्तिः—वंशलतादीनामुत्पत्तिः—लता कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते। स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम्॥ (चरक)। हारिद्रम्—हारिद्राक्तभोजनलक्षणम्। (डल्हण)। प्रवर्तनम्—नाच गान इत्यादि में मिलना—नृत्यन् रक्षोगणैः साकम्। (चरक)।

स्वप्नानेवंविधान् दृष्ट्वा प्रातरुत्थाय यत्नवान् ॥७१॥
दद्यान्माषांस्तिलांल्लोहं विप्रेभ्यः काञ्चनं तथा।
जपेच्चापि शुभान् मन्त्रान् गायत्रीं त्रिपदां तथा ॥७२
दृष्ट्वा तु प्रथमे यामे स्वप्याद् ध्यात्वा पुनः शुभम्।
जपेद्वाऽन्यतमं देवं[1] ब्रह्मचारी समाहितः ॥७३
न चाचक्षीत कस्मैचिद् दृष्ट्वा स्वप्नमशोभनम्।
देवतायतने चैव वसेद्रात्रित्रयं तथा।
विप्रांश्च पूजयेन्नित्यं दुःस्वप्नात् प्रविमु[2]च्यते ॥७४

(अशुभ स्वप्नों का परिहार—) इस प्रकार के अशुभ स्वप्नों को देखकर प्रयत्नशील पुरुष प्रातःकाल उठकर ॥७१॥ उड़द, तिल, लोह तथा सुवर्ण इनका दान ब्राह्मणों को करे और मंगलकारक मन्त्रों को तथा त्रिपदा गायत्री को जपे ॥७२॥ रात्रि के पहले प्रहर में (अशुभ स्वप्न) देखने पर शुभचिन्तन करके फिर सो जावे अथवा सावधान होकर और ब्रह्मचर्यपालन कर अन्य इष्ट देवता का जप करे ॥७३॥ अशुभ स्वप्न देखकर उसका कथन किसी को भी न करे। तीन रात्रि देवता के मन्दिर में वास करे और नित्य ब्राह्मणों का पूजन करता रहे। इससे दुःस्वप्न के अशुभ फल से मनुष्य मुक्त होता है ॥७४॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रशस्तं स्वप्नदर्शनम्।
देवान् द्विजान् गोवृषभान् जीवतः सुहृदो नृपान् ॥७५
समिद्धमग्निं सा[3]धूंश्च निर्मलानि जलानि च।
पश्येत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७६
मांसं मत्स्यान् स्रजः श्वेता वासांसि च फलानि च।
लभन्ते धनलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७७
महाप्रासादसफलवृक्षवारणपर्वतान्।
आरोहेद् द्रव्यलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७८
नदीनदसमुद्रांश्च क्षुभितान् कलुषोदकान्।
तरेत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७९
उरगो वा जलौको वा भ्रमरो वाऽपि यं दशेत्।
आरोग्यं निर्दिशेत्तस्य धनलाभं च बुद्धिमान् ॥८०॥
एवंरूपान् शुभान् स्वप्नान् यः पश्येद्व्याधितो नरः।

---

[1] वेदं. [2] परिमुच्यते. [3] विप्रांश्च.

स दीर्घायुरिति ज्ञेयस्तस्मै कर्म समाचरेत् ॥८१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीयो
नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२९॥

अब इसके आगे शुभदायक स्वप्नों का दर्शन वर्णन करते हैं। जो मनुष्य स्वप्न में देवता, द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य), गौ, बैल, अपने सजीव मित्र, राजा ॥७५॥ प्रज्वलित अग्नि, साधु लोग, निर्मल जल इनको देखे, उसको व्याधि का नाश होकर कल्याण की प्राप्ति होती है ॥७६॥ मांस, मत्स्य, श्वेत माला तथा उज्ज्वल वस्त्र, फल ये स्वप्न में प्राप्त हों तो धन का लाभ होता है और व्याधि का नाश होता है ॥७७॥ बड़े राजमहल, फल युक्त वृक्ष, हाथी, पर्वत इन पर जो स्वप्न में चढ़ता है; वह द्रव्य लाभ को प्राप्त होकर व्याधि से छूटता है ॥७८॥ क्षुब्ध तथा कलुषोदक नदी, नद तथा समुद्र इनको जो स्वप्न में तैर कर पार हो जाता है; वह कल्याण की प्राप्ति कर रोग से मुक्त होता है ॥७९॥ सर्प, जोंक या भ्रमर जिसको स्वप्न में दंश करे, उसको बुद्धिमान् वैद्य रोग का नाश और द्रव्य का लाभ बतलावे ॥८०॥ इस प्रकार के शुभ स्वप्नों को जो रोगी देखे, वह दीर्घायु समझ कर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥८१॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीयो
नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातः पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिः—पञ्चेन्द्रियाणि 'चक्षुः, श्रोत्रं, घ्राणं, रसनं, स्पर्शनमिति' । तेषामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । तेषामर्थानां विप्रतिपत्तिः हीनातियोगेन रिष्टाख्यो विपरीतावबोधः । इन ज्ञानेंद्रियों के साथ मन का भी ग्रहण होता है। क्योंकि मन के विना इन्द्रिय अर्थग्रहण करने में असमर्थ होते हैं—मनःपुरःसराणि चेन्द्रियाण्यर्थसंग्रहसमर्थानि भवन्ति । तदर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् । (चरक)।

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत् ।
तत्त्वरिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे ॥२॥

मनुष्य के शरीर, शील और प्रकृति इनमें (अकस्मात्) विपरीत भाव उत्पन्न होना यही संक्षेप से अरिष्ट (का लक्षण) है। विस्तार से अब मुझ से सुनो ॥२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में पुरुषसंश्रय रिष्ट का संक्षिप्त लक्षण वर्णन किया है । इस विषय का विशेष विवरण पीछे २८ वें अध्याय के दूसरे श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। शरीर—अथेन्द्रियादिसमुदायात्मकपांचभौतिकचेतनाधिष्ठानभूतप्राणिकायः । शील—नैसर्गिक स्वभाव। प्रकृति—प्रकृति वातादि दोष, सत्त्वादि गुण और जात्यादिक भेद से सात प्रकार की होती है—सप्त प्रकृतयो दोषैः पृथक् संसर्गेण साम्येन च भवन्ति। दोषवच्च गुणैरपि सत्त्वादिभिः सप्त प्रकृतयो भवन्ति। तथा पुनः सप्त प्रकृतयो जातिकुलदेशकालवयोबलप्रत्यात्मसंश्रयाः। दृश्यन्ते हि पुरुषाणां जात्यादिनियतास्ते ते भावविशेषाः। (अष्टांगसंग्रह)। दोष तथा गुण इनके अनुसार प्रकृति का वर्णन आगे शारीरस्थान के चौथे अध्याय में किया गया है। जात्यादि प्रकृति चरक में केवल छः प्रकार की वर्णन की है। यथा—क्षत्रिय जाति में शौर्य, किंचित् कुल में शूरता, किसी देश में शूरता, हिमकाल में बलाधिक्य, यौवनावस्था में बलाधिक्य, कोई पुरुष जन्म से ही शूरप्रकृति (प्रत्यात्मनियता) होता है। विकृति—शरीर, शील और प्रकृति इनमें निर्निमित्तक और अकस्मात् विपरीत भाव उत्पन्न होना। इससे चरकोक्त 'निमित्तानुरूपा विकृति' अभिप्रेत है, जिसका वर्णन ऐसा किया गया है—यामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिंगानुरूपां यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः। यां चाधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः। अर्थात् यह रिष्टरूपा विकृति है, सामान्य विकृति नहीं है । अब इसके पश्चात् विकृति का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रथम आतुरग्राह्य विरुद्ध शब्दप्रतिपत्ति का वर्णन करते हैं—

शृणोति विविधान् शब्दान् यो दिव्यानामभावतः ।
समुद्रपुरमेघानामसंपत्तौ च निःस्वनान् ॥३॥
तान् स्वनान्नावगृह्णाति मन्यते चान्यशब्दवत् ।
ग्राम्यारण्यस्वनांश्चापि विपरीतान् शृणोति च ॥४॥
द्विषच्छब्देषु रमते सुहृच्छब्देषु कुप्यति ।
न शृणोति च योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥५॥

जो नाना प्रकार के (सिद्ध किन्नर गंधर्वों के) दिव्य शब्द तथा समुद्र, नगर और मेघ इनके शब्द विद्यमान न होने पर भी (असंपत्तौ) सुनता है ॥३॥ अथवा शब्द (विद्यमान होने पर भी) जिसको सुनाई न दे या और प्रकार का शब्द सुनाई दे। तथा जो ग्रामवासी प्राणियों के शब्दों को वन्य प्राणियों के शब्दों की भाँति सुनता है और वन्य प्राणियों के शब्दों को ग्राम्य प्राणियों के शब्दों के से सुनता है ॥४॥ जो शत्रु के शब्दों से रमता है और मित्र के शब्दों से क्रुद्ध होता है अथवा जिसकी श्रवणशक्ति अकस्मात् (सदा के लिये) नष्ट होती है, उसे विद्वान् लोग गतायु कहते हैं ॥५॥

वक्तव्य—द्विषच्छब्देषु—सच्चे मित्रों के वचनों पर अविश्वास और शत्रुओं के वचनों पर विश्वास करने की प्रवृत्ति जब मनुष्य में उत्पन्न होती है तब उसका विनाशकाल बहुत दूर नहीं है, ऐसा समझना चाहिये—परान्तकाले हि गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम्॥ (रामायण)।

यस्तूष्णमिव गृह्णाति शीतमुष्णं च शीतवत् ।
संजातशीतपिडको यश्च दाहेन पीड्यते ॥६॥
उष्णगात्रोऽतिमात्रं च यः शीतेन प्रवेपते ।
प्रहारान्नाभिजानाति योऽङ्गच्छेदमथापि वा ॥७॥

(स्पर्शविप्रतिपत्ति—) जो शीतल पदार्थ को उष्ण समझता है और उष्ण को शीत समझता है, जिसके शरीर में शीतल पिडका (कफपिडका) होने पर भी जो दाह से पीडित होता

है ॥६॥ शरीर बहुत गरम होने पर भी जो शीत से कंपायमान होता है तथा शरीर पर लगी हुई चोट को या शरीर के छेदन को नहीं जानता (उसे गतायु कहते हैं) ॥७॥

पांशुनेवावकीर्णानि यश्च गात्राणि मन्यते ।
वर्णान्यता[1] वा राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥८॥

(रूपविप्रतिपत्ति—) जो अपने अवयवों को धूलि रेत आदि से (न भरने पर भी) भरा हुआ मानता है तथा जिसके शरीर का वर्ण पलट जाता है और जिसके शरीर पर (नीललोहित आदि) रेखाएँ उत्पन्न होती हैं (उसको गतायु कहते हैं) ॥८॥

स्नातानुलिप्तं यं चापि भजन्ते नीलमक्षिकाः ।
सुगन्धिर्वाऽति योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥९॥

(रस और गन्ध विप्रतिपत्ति—) स्नान कर अनुलेपन करने पर भी जिसके शरीर पर नील मक्खियाँ बैठती हैं तथा जिसके शरीर से अकस्मात् सुगंध आने लगती है, उसे गतायु कहते हैं ॥९॥

वक्तव्य—रसविप्रतिपत्ति के संबंध में चरक में लिखा है—यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसंभवः । स एषां चरमे काले विकारं भजते द्वयम् ॥ कश्चिदेवास्य वैरस्यमत्यर्थमुपपद्यते । स्वादुत्वमपरश्चापि विपुलं भजते रसः ॥ तमनेनानुमानेन विद्याद्विकृतितां गतम् । मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात् ॥ मक्षिकाश्चैव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह । विरसादपसर्पन्ति जन्तोः कायान्मुमूर्षतः ॥ अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः । अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः ॥ **गन्धविप्रतिपत्ति**—जिसमें शरीर से भिन्न भिन्न प्रकार के गंध आने लगते हैं, उसको चरक में 'पुष्पित' कहा है—नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य भाति दिवानिशम् । पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ॥ तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः । स ना संवत्सराद्देहं जहातीति विनिश्चयः ॥ आप्लुतानाप्लुता काये यस्य गन्धाः शुभाशुभाः । व्यत्यासेनाऽनिमित्ताः स्युः स च पुष्पितमुच्यते ॥

विपरीतेन गृह्णाति रसान् यश्चोपयोजितान् ।
उपयुक्ताः क्रमाद्यस्य रसा दोषाभिवृद्धये ॥१०॥
यस्य दोषाग्निसाम्यं च कुर्युर्मिथ्योपयोजिताः ।
यो वा रसान्न संवेत्ति गतासुं तं प्रचक्षते ॥११॥

जो सेवन किये हुए रसों का विपरीत रूप से ग्रहण करता है तथा क्रम से योजना किये पर भी रस जिसमें दोषों की वृद्धि करते हैं ॥१०॥ मिथ्योपयोग से भी जिसमें रस दोष और अग्नि की समता करते हैं अथवा जो रसों को जानता ही नहीं, उसे गतायु समझते हैं ॥११॥

वक्तव्य—विपरीतेन—खट्टे को कड़वा, कड़वे को मीठा, मीठे को चरपरा इत्यादि । क्रमात्—रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः । तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ॥ कषायतिक्तमधुराः पित्तम् ॥ इस क्रम से प्रयुक्त करने पर भी उलटा कार्य करते हैं । यह अरिष्ट मासिक माना जाता है ।

सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम् ।
गृह्णीते वाऽन्यथा गन्धं शान्ते दीपे च नीरुजः ॥१२॥
यो वा गन्धान्न जानाति गतासुं तं विनिर्दिशेत् ।

जो सुगन्ध को दुर्गन्ध और दुर्गन्ध को सुगन्ध समझता है, अथवा जो विद्यमान गंध को भिन्न प्रकार की गंध समझता है, अथवा (पीनसादि नासा) रोग से पीड़ित न होने पर भी जो दीप नष्ट होने पर (उत्पन्न होने वाले वर्ति की) दुर्गंध को नहीं जानता है, उसे गतायु समझना चाहिये ।

द्वन्द्वान्युष्णहिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा ॥१३॥
विपरीतेन गृह्णाति भावानन्यांश्च यो नरः ।

जो शीत उष्ण आदि द्वन्द्व, काल अवस्था दिशा तथा अन्य भावों का विपरीत ग्रहण करता है (उसे गतायु समझना चाहिये) ।

वक्तव्य—शीत को उष्ण, उष्ण को शीत, सुख को दुःख, दुःख को सुख, प्रभात को मध्याह्न, मध्याह्न को संध्या, बाल्यावस्था को वृद्धावस्था, वृद्ध को बाल, पूर्व को पश्चिम, पश्चिम को पूर्व इत्यादि विपरीत ग्रहण करना । शीत उष्णादि द्वन्द्वों का विपरीत ग्रहण मासिक अरिष्ट और दिशाओं का विपरीत ग्रहण त्रैमासिक अरिष्ट है ।

दिवा ज्योतींषि यश्चापि ज्वलितानीव पश्यति ॥१४॥
रात्रौ सूर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवर्चसम् ।
अमेघोपप्लवे यश्च शक्रचापतडिद्गुणान् ॥१५॥
तडित्वतोऽसितान् यो वा निर्मले गगने घनान् ।
विमानयानप्रासादैर्यश्च संकुलमम्बरम् ॥१६॥
यश्चानिलं मूर्तिमन्तमन्तरिक्षं च पश्यति ।
धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ॥१७॥
प्रदीप्तमिव लोकं च यो वा प्लुतमिवाम्भसा ।
भूमिमष्टापदाकारां लेखाभिर्यश्च पश्यति ॥१८॥
न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम् ।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥१९॥

(रूपग्रहणविप्रतिपत्ति—) तथा जो दिन में नक्षत्रों को चमकता हुआ देखता है ॥१४॥ रात्रि में सूर्य को चमकता हुआ देखता है और दिन में सूर्य को चंद्रतेज के समान शीतल देखता है, निरभ्र आकाश में जो इन्द्रधनुष और बिजली देखता है ॥१५॥ जो निर्मल आकाश में काले बिजली युक्त मेघ देखता है । जो आकाश विमान, रथ, राजप्रासाद इनसे व्याप्त देखता है ॥१६॥ जो वायु और आकाश इनको साकार देखता है । जो धुँआँ, ओस और वस्त्र इनसे पृथ्वी ढकी हुई देखता है ॥१७॥ जो (ग्रीष्म ऋतु न होते हुए भी) समस्त जगत् को प्रदीप्त देखता है और (वर्षा ऋतु न होते हुए भी) जगत् को जलमय देखता है । जो भूमि रेखाओं से आठ खाने में विभक्त हुई सी देखता है ॥१८॥ जो तारागणयुक्त अरुन्धती नक्षत्र, ध्रुव तारा तथा आकाश गंगा नहीं देखता, उसको गतायु कहते हैं ॥१९॥

ज्योत्स्नादर्शोष्णतोयेषु छायां यश्च न पश्यति ।
पश्यत्येकाङ्गहीनां वा विकृतां वाऽन्यसत्त्वजाम् ॥२०॥
श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम् ।
पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि ॥२१॥

---

१ वर्णान्यभावो. २ दौर्गन्ध्यं.

योो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते ।
आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति-
र्नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

जिसे चांदनी, दर्पण, धूप (उष्ण) और जल में अपनी छाया (या प्रतिबिंब) नहीं दिखाई देती अथवा एक अंग हीन, विकृत अथवा अन्य प्राणियों की जैसी दिखाई देती है ॥२०॥ (जैसे) कुत्ता, कौआ, कंक, गीध, प्रेत, यक्ष, राक्षस, पिशाच, उरग, नाग अथवा भूत इनकी जैसी विकृत छाया दीखती है ॥२१॥ जो धूमहीन अग्नि को मयूरकंठ की भाँति (नीलवर्ण) देखता है, वह मनुष्य रोगी हो तो मृत होगा और स्वस्थ हो तो रोगी होगा ॥२२॥

वक्तव्य—यहाँ छायाशब्द प्रतिच्छाया (Shadow or Image) अर्थ से उपयुक्त हुआ है—प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु । छाया या सा प्रतिच्छाया ॥ (चरक) ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिर्नाम
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातश्छायाविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से छायाविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—इंद्रियविज्ञान या रिष्टविज्ञान में वर्ण, छाया, प्रभा और प्रतिच्छाया ये चार शब्द हमेशा प्रयुक्त होते हैं। इनमें से प्रतिच्छाया का वर्णन पिछले अध्याय के अन्त में किया गया है । वर्ण—शरीर का स्वाभाविक रंग (Colour) । यह वर्ण चार या पाँच प्रकार का होता है—कृष्णः कृष्णश्यामः, श्यमावदातः, अवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति । (चरक) । तत्र गौरः, श्यामः, कृष्णः, गौरश्यामः कृष्णश्यामः इति देहप्रकृतिवर्णाः। (अष्टांगसंग्रह) । ये प्रायः शरीर के स्वाभाविक वर्ण होते हैं। इनके अतिरिक्त जो वैकारिक वर्ण बतलाये हैं, वे भी क्वचित् प्राकृत हो सकते हैं। छाया—इसको शरीर की कांति (Complexion) कह सकते हैं—छाया वर्णप्रभाश्रया । (चरक) । यह पांच प्रकार की होती हैं—खादीनां पंच पंचानां छाया विविधलक्षणाः । नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च ॥ रूक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा । विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥ शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता । स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्मामा श्वेता च पार्थिवी ॥ प्रभा—शरीर का जो तेज (Lustre) होता है, वह प्रभा है । प्रभा और वर्ण दोनों के संयोग से शरीर की जो विशेषता होती है, वह छाया है । प्रभा सात प्रकार की है—स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता। रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ॥ तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः । ताः शुभा रूक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः ॥ (चरक) । छाया और प्रभा में भेद—छाया वर्ण पर अपना प्रभाव डालती है यानि वर्ण की खराबी को प्रच्छन्न करती है, प्रभा वर्ण को अधिक प्रकाशित करती है । छाया नजदीक से दिखाई देती है, प्रभा दूर से ही दिखाई देती है । छाया पंचमहाभूतात्मिका है और प्रभा तेजःप्रभवा है—तयोर्विशेषाः । छाया वर्णमाक्रामत्यासन्ना च लक्ष्यते पञ्चभूतात्मिका च । प्रभा तु वर्णं प्रकाशयति विप्रकृष्टाल्लक्षते । तेजःप्रभवैव च । (अष्टांगसंग्रह) । वर्णमाक्रमतिच्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी । आसन्ना लक्ष्यते छाया विकृष्टाभाः प्रकाशते ॥ (चरक) ।

श्यावा लोहितिका नीला पीतिका वाऽपि मानवम् ।
अभिद्रवन्ति यं छायाः स परासुरसंशयम् ॥२॥

जिस मनुष्य पर काली, लाल, नीली अथवा पीली छाया आक्रमण करती है, उसको निश्चय से गतप्राण ही समझना चाहिये ॥२॥

वक्तव्य—प्रत्येक व्यक्ति प्रभा और छाया से युक्त होता है और जब उसकी मृत्यु समीप आती है तब प्रभा और छाया में भी अशुभसूचक परिवर्तन होते हैं और वह श्याव आदि बन जाती हैं—वर्णेन प्रभया तथा । छाया विवर्तते यस्य स्वस्थोऽपि प्रेत एव सः ॥ नाऽच्छायो नाऽप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति हि । नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाः प्रभाश्रयाः ॥ (चरक) ।

ह्रीरपक्रमते यस्य प्रभाधृतिस्मृतिश्रियः ।
अकस्माद्यं भजन्ते वा स परासुरसंशयम् ॥३॥

जिस मनुष्य की लज्जा अकस्मात् नष्ट होती है अथवा प्रभा, धृति, स्मृति और शोभा अकस्मात् बढ़ती है, उसको निश्चय से गतप्राण समझना चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—प्रभा—दीप्ति किंवा तेज । इसका ऊपर वर्णन हो चुका है । धृति—निश्चयात्मिका बुद्धि—धृतिर्हि नियमात्मिका (चरक) । स्मृति—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः । (योगसूत्र) । आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः । (वैशेषिकदर्शन) ।

यस्याधरौष्ठः पतितः क्षिप्तश्चोर्ध्वं तथोत्तरः ।
उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥४॥
आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा ।
खञ्जनप्रतिमा वाऽपि तं गतायुषमादिशेत् ॥५॥
कृष्णा स्तब्धाऽवलिप्ता वा जिह्वा शूना च यस्य वै ।
कर्कशा वा भवेद्यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसून् ॥६॥
कुटिला स्फुटिता वाऽपि शुष्का वा यस्य नासिका ।
अवस्फूर्जति मग्ना वा न स जीवति मानवः ॥७॥
संक्षिप्ते विषमे स्तब्धे रक्ते स्रस्ते च लोचने ।
स्यातां वा प्रस्नुते यस्य स गतायुर्नरो ध्रुवम् ॥८॥

जिसका नीचे का होठ लटकता है, ऊपर का होठ ऊपर को चढ़ता है अथवा दोनों होठ जामुन के सदृश (नीलवर्ण) हो जाते हैं, उस मनुष्य का जीना दुर्लभ है ॥४॥ जिसके दाँत लाल या काले होते हैं, अथवा गिर जाते हैं अथवा खंजन की भाँति (नीलवर्ण) होते हैं, उसको गतायु समझना चाहिये ॥५॥ जिसकी जिह्वा काली, स्तंभित (गतिहीन), लेप युक्त, शोथ युक्त और कर्कश होती है, वह शीघ्र ही प्राणों का त्याग करता है ॥६॥ जिसकी नासिका टेढ़ी होती है, फट जाती है, सूखी होती है, शब्द करती है (अवस्फूर्ज) या निम्न (मग्ना)

होती है, वह मनुष्य नहीं जीता है ॥७॥ जिसके दोनों नेत्र संकुचित, विषम, स्तंभित, लाल, नीचे को लटके हुए होते हैं या बहते हैं, उस मनुष्य को निश्चय से गतप्राण समझना चाहिए ॥८॥

वक्तव्य—जाम्बवाभासौ—जम्बूफलसदृश नीलवर्ण। इस प्रकार की नीलिमा को अंग्रेजी में सायनोसिस (Cyanosis) कहते हैं। यह अवस्था हृद्रोग और फुफ्फुस रोग में रक्त की शुद्धि ठीक न होने के कारण उत्पन्न होती है और विशेष करके होठों पर तथा नाखून, नासिका, कर्णपालि इन स्थानों पर दिखाई देती है। इसका वर्ण ईषन्नीललोहित (Faintly purple) से पक्वजम्बूफल सदृश होता है। वर्ण की तीव्रता विकृति की गंभीरता निदर्शक होती है। चरक में भी वैकारिक वर्ण में इस घटना का वर्णन किया है—यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्वजांबवसन्निभौ। मुमूर्षुरिति तं विद्यान्नरो धीरो गतायुषम् ॥ खञ्जन—मृदंग के ऊपर लगाने की काली स्याही—मर्दनादिभिरंगारधूमानुरचितमुपस्तरणं खञ्जनमुच्यते। यं खरजमित्याहुर्मृदंगवादकाः। (डल्हण)। दूसरा अर्थ खंजरीट पक्षी। यह प्रतोदवर्ग का है। इसके कण्ठसदृश वर्ण का। जिह्वा—जिह्वा की स्थिति जठर रोग, ज्वर तथा अन्य गंभीर रोगों में बहुधा खराब हो जाती है। अवलिप्ता—लालास्राव कम होने के कारण जिह्वा सूख जाने से उस पर मैल का एक पर्त बन जाता है। अंग्रेजी में इस प्रकार की जिह्वा को 'कोटेड या प्लस्टर्ड टंग' (Coated, Plastered tongue) कहते हैं। कर्कशा—खुरदरी। जिह्वा के ऊपर के पृष्ठभाग की रचना देखने से उसमें तीन प्रकार के दाने या अंकुर दिखाई देते हैं। इनमें जो नीकीले अंकुर (Conical and filiform papillae) होते हैं, वे सारे पृष्ठभाग पर समान्तर पंक्तियों में फैले हुए होते हैं। जब जिह्वा मैली, शुष्क और इन उभरे हुए अंकुरों से युक्त हो जाती है, तब उसका स्पर्श कर्कश होता है। इसको अंग्रेजी में 'फर्ड टंग' (Furred tongue) कहते हैं। जिह्वा की यह स्थिति संन्यास आंत्रस्थ दुष्टमांसार्बुद (Cancer), राजयक्ष्मा की अन्तिमावस्था, तीव्रपाण्डुरोग तथा अन्य गंभीर रोगों की निदर्शक होती है।

केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ।
लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे ॥९॥
नाहरत्यन्नमास्यस्थं न धारयति यः शिरः।
एकाग्रदृष्टिर्मूढात्मा सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥१०॥
बलवान् दुर्बलो वाऽपि संमोहं योऽधिगच्छति।
उत्थाप्यमानो बहुशस्तं पक्वं[1] भिषगादिशेत् ॥११॥
उत्तानः सर्वदा शेते पादौ विकुरुते च यः।
विप्रसारणशीलो वा न स जीवति मानवः ॥१२॥
शीतपादकरोच्छ्वासश्छिन्नोच्छ्वासश्च[2] यो भवेत्।
काकोच्छ्वासश्च यो मर्त्यस्तं धीरः परिवर्जयेत् ॥१३॥
निद्रा न छिद्यते यस्य यो वा जागर्ति सर्वदा।
मुह्येद्वा वक्तुकामश्च प्रत्याख्येयः स जानता ॥१४॥
उत्तरौष्ठं च यो लिह्यादुत्कारांश्च[1] करोति यः।
प्रेतैर्वा भाषते सार्धं प्रेतरूपं तमादिशेत् ॥१५॥
खेभ्यः सरोमकूपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्तते।
पुरुषस्याविषार्तस्य सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥१६॥

जिसके केश सीमन्त युक्त हो जाते हैं, भौंहें सिकुड़ी हुई और नीचे को होती हैं और पलक के बाल गिर जाते हैं, वह मनुष्य शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है ॥९॥ जो मुख में डाले हुए अन्न को नहीं निगल सकता, अपने सिर को धारण नहीं कर सकता और जो मूढ होकर एक ही तरफ दृष्टि बाँध कर रखता है, वह शीघ्र ही प्राणों का त्याग करता है ॥१०॥ बलवान् हो अथवा दुर्बल हो जो उठते समय प्रायः (बहुशः) मूर्च्छित होता है, उसे वैद्य पक्व (मृत्यु के समीप पहुँचा हुआ) समझे ॥११॥ जो सर्वदा पीठ पर सोता है, अपने पाँवों को संकुचित और प्रसारित करता है अथवा सदा के लिये फैलाये हुए रखता है, वह मनुष्य नहीं जीता ॥१२॥ जिसके हाथ पैर और उच्छ्वास ठंडे होते हैं, श्वासप्रश्वास की क्रिया टूटी हुई होती है अथवा जो काक की भाँति मुख खोल के श्वास लेता है, उसको बुद्धिमान् वैद्य त्याग करे ॥१३॥ जिसकी निद्रा कभी खुलती नहीं या जो सर्वदा जागता रहता है तथा बोलने के समय जो मूर्च्छित होता है, वह रोगी बुद्धिमान् वैद्य से त्याग करने योग्य है ॥१४॥ जो ऊपर के होंठ को चूसता है, डकार देता है और प्रेतों से भाषण करता है, उसको प्रेतरूप ही समझना चाहिये ॥१५॥ (आगन्तुक) विष से पीड़ित न होने पर भी जिसके रोम कूपों से तथा (शरीर के अन्य) द्वारों से रक्त बहता है, वह शीघ्र ही प्राणों को छोड़ता है ॥१६॥

वक्तव्य—उत्थाप्यमानः—रोगी बिस्तरे पर से जब उठकर बैठता है; तब उसके मस्तिष्क में अकस्मात् रक्त की कमी (Cerebral anoemia) हो जाती है, जिससे उसे संमोह (Giddiness, Fainting) उत्पन्न होता है। मस्तिष्क में उठने पर रक्त की कमी उत्पन्न होने का प्रधान कारण हृदय का दौर्बल्य है। यह दौर्बल्य प्रत्येक चिरकालीन रोग में विशेष करके ज्वरों में उत्पन्न हुआ करता है और इससे मामूली चक्कर ही हुआ करता है। इसलिये आगे ज्वरचिकित्सा में लिखा है—ज्वरे प्रमोहो भवति स्वल्पैरप्यवचेष्टितैः। निषण्णं भोजयेत्तस्मान्मूत्रोच्चारौ च कारयेत् ॥ परंतु कुछ रोगों में और विशेष करके हृदय के रोगों में यह दौर्बल्य अधिक होता है, जिससे उठने पर बार बार चक्कर आया करता है। यह चक्कर आना हृदय की कमजोरी का बाह्य लक्षण है, और हृदय चेतना का स्थान होने के कारण उसका अतिदौर्बल्य एक रिष्ट ही समझना चाहिये। शीतपादकरोच्छ्वासः—जिसके हाथ, पैर और उच्छ्वास भी शीत होता है। उच्छ्वास का अर्थ उच्छ्वसित (Expired air) यानि फुफ्फुस से बाहर आई हुई हवा। मनुष्य अपने भीतर जो हवा लेता है, वह कितनी भी ठंढी क्यों न हो बाहर आते समय मनुष्यशरीर की उष्णता के बराबर गरम हुआ करती है और शरीर उष्ण रहना सजीवावस्था का एक मुख्य लक्षण है। कमजोरी के कारण हाथ पैर नासाग्र आदि हृदय से दूरवर्ती

---

[1] धीरः परिवर्जयेत. [2] छिन्नश्वासश्च.

[1] लिह्यादुद्गारांश्च.

और बाह्य वायु के लिये अनावृत (Exposed) स्थान ठंडे हुआ करते हैं परंतु केवल इनका ठंढापन मृत्युसूचक नहीं हो सकता। जब हाथ पैर के साथ साथ फुफ्फुस से बाहर निकली हुई हवा भी ठंढी होती है तब यह समझना चाहिये कि हृदय-समीपवर्ती फुफ्फुस जैसे महत्त्व के सुगुप्त स्थान भी ठंढे होने लगे हैं और यह ज़रूर मुमूर्षु का लक्षण है। छिन्नोच्छ्वासः—जिस की श्वास प्रश्वास की क्रिया बीच बीच में खंडित यानि कुछ काल तक बंद रहती है। इस प्रकार की स्थिति को अंग्रेजी में 'पीरिओडिक ब्रीदिंग' (Periodic breathing) कहते हैं। जन्म से मृत्यु तक जाग्रतावस्था में अनैच्छिक छिन्न श्वास हर्गिज़ नहीं होता। बाल्य तथा वृद्धावस्था में क्वचित् निद्रा में होता है। रुग्णावस्था में यह अवस्था जरूर रिष्टसूचक होती है। आधुनिक खोज से इस अवस्था के दो प्रकार मालूम हुए हैं—(१) चेन स्टोक्स रेस्पिरेशन (Cheyne-stokes respiration)—इस प्रकार के छिन्न श्वास की खोज 'चेन' और 'स्टोकस' नामक दो वैज्ञानिकों ने की है। इसलिये उनके ही नाम से यह मशहूर है। इस अवस्था में कुछ काल तक श्वास प्रश्वास की क्रिया बंद होती है (Apnoca)। तत्पश्चात् धीरे धीरे श्वास प्रश्वास की गति और गंभीरता बढ़ने लगती है। फिर धीरे धीरे घटने लगती है और कुछ काल तक श्वास प्रश्वास बंद हो जाता है। इस तरह से यह चक्र जारी रहता है। यह अवस्था हृद्रोग, मूत्रविषमयावस्था (Uraemia), मस्तिष्कगत रक्तस्राव या संन्यास (Apoplexy), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) और सूर्यातपदग्धावस्था (Sun stroke) इन रोगों में दिखाई देती है और जरूर अशुभसूचक होती है तथा मृत्यु के पूर्व कुछ घंटों तक होती है। (२) बायटस रेस्पिरेशन (Biats respiration)—इसमें भी कुछ काल तक श्वासप्रश्वास बंद होता है। तत्पश्चात् स्वाभाविक अवस्था के अनुसार श्वास प्रश्वास प्रारंभ होता है, फिर कुछ काल तक बंद होता है। इस तरह यह श्वासप्रश्वास का कार्यचक्र जारी रहता है। इसमें फर्क यह है कि पहले प्रकार की भाँति जब श्वासकर्म प्रारंभ होता है तब श्वास की गंभीरता और शीघ्रता में घटा बढ़ी नहीं होती है। यह अवस्था मस्तिष्कावरण शोथ में दिखाई देती है। खेभ्यः—कर्ण, नासिका गुद आदि शरीर के रंध्रों से—मार्गौ पुनरस्य द्वावूर्ध्वं चाधश्च,तत्...ऊर्ध्वं प्रपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः... अधःप्रपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते। तौ मार्गौ प्रपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य। (चरक)। इस श्लोक में वर्णन किया हुआ रिष्ट रक्तपित्त रोग में मिलता है—यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च। वर्तते तामसंख्येयां गतिं तस्याहुरन्तिकीम्॥ (चरक)। यह अवस्था निम्न औपसर्गिक रोगों में दिखाई देती है—मसूरिका, टैफस ज्वर (Typhus), मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (Cerebrospinal fever), प्लेग पर्प्यूरा (Purpura)।

वाताष्ठीला तु हृदये यस्योर्ध्वमनुयायिनी।
रुजाऽन्नविद्वेषकरी स परासुरसंशयम्॥१७॥
अनन्योपद्रवकृतः शोफः पादसमुत्थितः।
पुरुषं हन्ति नारीं तु मुखजो गुह्यजो द्वयम्॥१८॥
अतिसारो ज्वरो हिक्का छर्दिः शूनाण्डमेढ्रता।
श्वासिनः कासिनो वापि यस्य तं क्षीणमादिशेत्॥१९॥
स्वेदो दाहश्च बलवान् हिक्का श्वासश्च मानवम्।
बलवन्तमपि प्राणैर्वियुञ्जन्ति न संशयः॥२०॥

वायु की गाँठ जिसके हृदय में ऊपर को चढ़कर अन्न से विद्वेष उत्पन्न करे, उसको निःसंशय गतप्राण समझे॥१७॥ स्वतंत्र रूप से पुरुष के पाँव में उत्पन्न हुआ शोथ (जब ऊपर को फैलता है तब) उसका नाश करता है, स्त्री के मुख में उत्पन्न हुआ शोथ (जब नीचे को फैलता है तब) उसका नाश करता है और गुह्य प्रदेश में उत्पन्न हुआ शोथ स्त्री और पुरुष दोनों का भी नाश करता है॥१८॥ श्वास या कास से पीड़ित मनुष्य को जब अतिसार, ज्वर, हिचकी, वमन और वृषण तथा शिश्न का शोथ ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं, तब उसको क्षीण समझना चाहिये॥१९॥ अतिशय स्वेद, दाह, हिक्का और श्वास ये बलवान् मनुष्य को भी प्राणों से वियुक्त कर देते हैं॥२०॥

वक्तव्य—अनन्योपद्रवकृतः—इसके दो अर्थ होते हैं। (१) जो अन्य विकारों से उत्पन्न नहीं हुआ यानि जो शोथ-जनक निदान से स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है। (२) जो शोथ के सिवा अन्य रोग के उपद्रवों से नहीं उत्पन्न हुआ है यानि जो शोथ के ही उपद्रवों से उत्पन्न हुआ है—अन्यमुपद्रवं करोति इति अन्योपद्रवकृन्निदानम्, नान्योपद्रवकृदन्योपद्रवकृत्, ततः स्वनिदानात्, 'जातः' इति शेषः। तेन शोथजनकनिदानादेवोत्पन्न इत्यर्थः। अथवा, अनन्योपद्रवकृत इति अन्यस्य उपद्रवा अन्योपद्रवास्तद्विपरीता अनन्योपद्रवाः। एतेनायमर्थः—शोथस्यैव ये उपद्रवास्तैः कृतः। ते च—'श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः। हिक्कातिसारकासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि'॥ (मधुकोशव्याख्या)। पादसमुत्थितः—पाद में उत्पन्न हुआ और ऊपर को फैलता हुआ। मुखजः—मुख में उत्पन्न हुआ और नीचे को फैलता हुआ। गुह्यजो—बस्ति प्रदेश में उत्पन्न हुआ—पादप्रवृत्तः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम्। स्त्रीणां वक्त्रादधो याति बस्तिजश्च न सिध्यति॥ ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी मुखात् स्त्रियम्। उभयं बस्तिसजातः शोथो हन्ति न संशयः।

श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सव्यं चाक्षि निमज्जति।
मुखं च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत्॥२१॥
वक्त्रमापूर्यतेऽश्रुभिः[1] स्विद्यतश्चरणावुभौ।
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराष्ट्रं गमिष्यतः॥२२॥

जिसकी जिह्वा काली होती है, वामनेत्र गड़ जाता है, मुँह में बदबू आने लगती है, उसका परित्याग करे॥२१॥ यमलोक में जाने वाले का मुख आँसुओं से भरता है, दोनों पाँवों पर पसीना आ जाता है और नेत्र व्याकुल हो जाते हैं॥२२॥

अतिमात्रं लघूनि स्युर्गात्राणि गुरुकाणि वा।
यस्याकस्मात् स विज्ञेयो गन्ता वैवस्वतालयम्॥२३॥
पङ्कमत्स्यवसातैलघृतगन्धांश्च ये नराः।
मृष्टगन्धांश्च ये वान्ति गन्तारस्ते यमालयम्॥२४॥

---

[1] ०ऽश्रूणां.

जिसका शरीर एकाएक अतिशय हलका या भारी होता है, उसको यमलोक में जाने वाला समझना चाहिये ॥२३॥ जिनके शरीर से कीचड़, मत्स्य, चरबी, तैल, घृत इनकी गंध आती है या अन्य सुगंध (मृष्टगंध) आती हैं, वे मनुष्य यमलोक में जाने वाले होते हैं ॥२४॥

यूका ललाटमायान्ति बलिं नाश्नन्ति वायसाः ।
येषां वाऽपि रतिर्नास्ति यातारस्ते यमालयम् ॥२५॥
ज्वरातिसारशोफाः स्युर्यस्यान्योन्यावसादिनः ।
प्रक्षीणबलमांसस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥२६॥
क्षीणस्य यस्य क्षुत्तृष्णे हृद्यैर्मिष्टैर्हितैस्तथा ।
न शाम्यतोऽन्नपानैश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥२७॥
प्रवाहिका शिरःशूलं कोष्ठशूलं च दारुणम् ।
पिपासा बलहानिश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥२८॥

जिसके जुएँ ललाट में आजाती हैं, काक जिसकी बलि नहीं खाते तथा जिनको कहीं भी चैन नहीं पड़ता है, वे यमलोक में जाने वाले होते हैं ॥२५॥ जिस बलक्षीण और मांसक्षीण मनुष्य में ज्वर, अतिसार और शोथ ये एक दूसरे के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होते हैं, उसकी चिकित्सा करना असंभव है ॥२६॥ जिस क्षीण मनुष्य की क्षुधा तथा तृषा हृद्य, मिष्ट और हितकर खाद्य तथा पेय द्रव्यों से शान्त नहीं होती, उसकी मृत्यु समीप होती है ॥२७॥ जो मनुष्य प्रवाहिका, दारुण शिरःशूल तथा कोष्ठशूल और प्यास से पीड़ित है, और जिसकी शक्ति क्षीण हो गई है, उसकी मृत्यु समीप होती है ॥२८॥

वक्तव्य—अन्योन्यावसादिनः—परस्परोपद्रविणः । एक दूसरे के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होते हैं—ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये । दुर्बलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय कल्पते ॥ (चरक) ।

विषमेणोपचारेण कर्मभिश्च पुराकृतैः ।
अनित्यत्वाच्च जन्तूनां जीवितं निधनं व्रजेत् ॥२९॥

विषमोपचार से, पूर्वोपार्जित कर्मों से तथा प्राणियों की अनित्यता से मनुष्यों का जीवन नष्ट होता है ॥२९॥

वक्तव्य—इस श्लोक में मृत्यु के कारण और अप्रत्यक्षतया रिष्ट की उत्पत्ति के कारण बतलाये गये हैं । ये कारण तीन हैं—१ विषमोपचार, २ पूर्वकर्म, और ३ स्वभाव । विषमोपचार—प्रकृतेर्बलादीन् भावानपेक्ष्य कृत उपचारः (व्यवहारः) समोपचारः, तद्विपरीतो विषमोपचारः । (डल्हण) । सिंहव्याघ्रादिक हिंस्र पशु, उद्भ्रान्त चण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरग प्राणी, सरीसृपोरगादिक विविध विषयुक्त जन्तु इनसे शरीर की रक्षा न करना; दुष्टवायु, जल और भूमि का सेवन; वृक्ष पर्वत प्रपात; विषमवल्मीक दुष्ट वाजी कुञ्जर संदिग्ध नाव इत्यादि के ऊपर आरोहण करना; पूर्ण नदी समुद्राविदित पल्वल श्वभ्रकूप आदि में तैरना; नाना प्रकार के साहस कर्म करना; देश कालानुसार आहारविहारादिक सेवन न करना; व्यायाम व्यवायादि कर्म अपनी शक्ति के बाहर करना; अविधार्य वेगों को रोकना और विधार्य वेगों को नहीं रोकना; रोग उत्पन्न होने पर योग्य समय पर योग्य चिकित्सा न करना इत्यादि सर्व प्रकार के व्यवहारों का समावेश विषमोपचार में होता है । संसार में बहुधा लोगों की मृत्यु इन विषयों का परिहार न करने से होती है । पूर्वकर्म—पूर्व जन्मार्जित कर्म या पुण्य । पुण्य का क्षय हो जाने से मृत्यु एकाएक हो जाती है । इस कर्मज मृत्यु के कारण बहुधा अपरिहार्य तथा अप्रतिषेधनीय हुआ करते हैं । भूकम्प से मृत्यु, निद्रा में सर्पदंश होने से मृत्यु, वृक्ष के नीचे बैठते समय वृक्ष या उसके फल गिर जाने से मृत्यु, समुद्र या नदी में तूफान के कारण नाव उलट जाने से मृत्यु, रेल गाडियों की टक्कर से मृत्यु, ये सब कर्मज मृत्यु के उदाहरण हैं । अनित्यत्वात्—शरीर विनाशी होने के कारण युगानुरूप योग्य आयुर्मर्यादा के अन्त में जो मृत्यु होती है, वह स्वाभाविक या कालमृत्यु है । अल्पसंख्य लोगों की मृत्यु इस प्रकार से होती है । अष्टांगहृदय में ये ही मृत्यु के तीन कारण भिन्न प्रकार से वर्णन किये हैं— मरणं प्राणिनां दृष्टमायुःपुण्योभयक्षयात् । तयोरप्यक्षयाद् दृष्टं विषमापरिहारिणाम् ॥ इस विषय का अधिक विवरण युक्तसेनीय (३४ वें) अध्याय के पाँचवें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।

प्रेता भूताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च ।
मरणाभिमुखं नित्यमुपसर्पन्ति मानवम् ॥३०॥
तानि भेषजवीर्याणि प्रतिघ्नन्ति जिघांसया ।
तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्वा भवन्त्येव गतायुषाम् ॥३१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने छायाविप्रतिपत्ति-
र्नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

जिसकी मृत्यु होने वाली है, उस मनुष्य के समीप प्रेत, भूत, पिशाच तथा विविध राक्षस आते हैं ॥३०॥ वे (उस मनुष्य को) मारने की इच्छा से औषधियों की कार्य करने की शक्ति को नाश कर देते हैं । इसलिये गतायु मनुष्य के लिये (किये हुए) समस्त उपाय निष्फल हो जाया करते हैं ॥३१॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां छायाविप्रतिपत्तिर्नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातः स्वभावविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से स्वभावविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

स्वभावप्रसिद्धानां शरीरैकदेशानामन्यभावित्वं मरणाय । तद्यथा—शुक्लानां कृष्णत्वं, कृष्णानां शुक्लता, रक्तानामन्यवर्णत्वं, स्थिराणां मृदुत्वं[1], मृदूनां स्थिरता, चलानामचलत्वम्, अचलानां चलता, पृथूनां संक्षिप्तत्वं, संक्षिप्तानां पृथुता, दीर्घाणां ह्रस्वत्वं, ह्रस्वानां दीर्घता, अपतनधर्मिणां[2] पतनधर्मित्वं[3], पतनधर्मिणामपतनधर्मित्वम्, अकस्माच्च शैत्यौष्ण्यस्नैग्ध्यरौक्ष्यप्रस्तम्भवैवर्ण्यावसादनं चाङ्गानाम् ॥२॥

---

१ अस्थिरत्वं. २ अपतनधर्मणां. ३ पतनधर्मत्वं.

स्वाभाविक विशेषों से प्रसिद्ध शारीरिक अवयवों का अन्यथाभाव होना मृत्यु के लिये होता है। यथा—(नेत्र का शुक्ल मंडल, दाँत आदि) शुक्ल पदार्थों का काला पड़ना, (केशादि) काले पदार्थों का श्वेत होना, (होंठ जीभ आदि) रक्तवर्ण पदार्थों का वर्ण बदल जाना, (अस्थि आदि) कठिन पदार्थों का मृदु होना, (त्वचा मांस आदि) मृदु पदार्थों का कठिन होना, (संधि जिह्वा आदि) चल पदार्थों का जकड़ जाना, (अस्थि आदि) स्थिर पदार्थों का चलायमान होना, (छाती ललाट आदि) चौड़े पदार्थों का संकोच होना, (दृष्टि-मण्डल Pupil आदि) संकुचित पदार्थों का चौड़ा होना, (जंघा बाहु आदि) लंबे पदार्थों का छोटा होना, (ग्रीवा आदि) छोटे पदार्थों का लंबा होना, (नख केश आदि) न गिरने वाले पदार्थों का गिरना, (मूत्र पुरीष आदि) पतन-धर्मी पदार्थों का रुक जाना और एकाएक (विना कारण) शरीर के अंगों का ठंडा होना, गरम होना, चिकना होना, रूक्ष होना, जकड़ जाना, वर्ण बदल जाना और शक्ति नाश होना ॥२॥

स्वेभ्यः स्थानेभ्यः शरीरैकदेशानामवस्रस्तोत्क्षिप्तभ्रान्तावक्षिप्तपतितविमुक्तनिर्गतान्तर्गतगुरुलघुत्वानि, प्रवालवर्णव्यङ्गप्रादुर्भावो वाऽप्यकस्मात्, सिराणां च दर्शनं ललाटे, नासावंशे वा पिडकोत्पत्तिः, ललाटे प्रभातकाले स्वेदः, नेत्ररोगाद्विना वाऽश्रुप्रवृत्तिः, गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे निलयनं वा कपोतकङ्ककाकप्रभृतीनां, मूत्रपुरीषवृद्धिरभुञ्जानानां, तत्प्रणाशो भुञ्जानानां वा स्तनमूलहृदयोरःसु च शूलोत्पत्तयः, मध्ये शूनत्वमन्तेषु परिम्लायित्वं विपर्ययो वा, तथाऽर्धाङ्गे श्वयथुः, शोषोऽङ्गपक्षयोर्वा, नष्टहीनविकलविकृतस्वरता वा, विवर्णपुष्पप्रादुर्भावो वा दन्तमुखनखशरीरेषु ॥३॥

शरीर के अंगों का (भ्रू, पलक, होंठ आदि) अपने अपने स्थान से नीचे अथवा ऊपर को होना, (नेत्रादि में) चंचलत्व होना, टेढ़ा होना, (शिर ग्रीवा आदि) धारण करने की शक्ति नष्ट होना, (संधियों का) ढीला पड़ जाना, (जिह्वा नेत्र आदि) बाहर को निकल आना या भीतर को धँस जाना, (बाहु, सक्थि आदि अंगों का) भारी हो जाना या हलका हो जाना, प्रवाल के रंग का व्यंग (एक प्रकार का क्षुद्ररोग) अकस्मात् उत्पन्न होना, ललाट प्रदेश पर सिराओं का दर्शन होना, नासिका के ऊपर फुन्सियां उत्पन्न होना, प्रभात काल में ललाट पर पसीना आना, रोग के विना आँखों से अश्रु का प्रवाह होना, सिर पर गोबर चूर्ण जैसी धूलि दिखाई देना, कपोत, काक, कङ्क प्रभृति पक्षियों का सिर पर बैठना, न भोजन करने वालों के मूत्र और विष्ठा की वृद्धि होना, भोजन करने वालों के मूत्र और विष्ठा का क्षय होना, स्तनमूल, हृदय और छाती इनमें शूल उत्पन्न होना, शरीर के मध्य भाग में शोथ और (हस्तपादादि) अन्त प्रदेश में पतलापन अथवा मध्यभाग में पतलापन और अन्तभाग में शोथ उत्पन्न होना। तथा शरीर के आधे अंग पर शोथ उत्पन्न होना। शरीर के एकाध अवयव में अथवा आधे अंग में शुष्कता उत्पन्न होना। स्वर नष्ट, हीन, विकल या विकृत हो जाना। अथवा दाँत, मुख, नाखून या शरीर के अन्य अंगों पर विकृत वर्ण के फूल (चिह्न) उत्पन्न होना (ये मरणसूचक चिह्न हैं) ॥३॥

यस्य वाऽप्सु कफपुरीषरेतांसि निमज्जन्ति, यस्य वा दृष्टिमण्डले भिन्नविकृतानि रूपाण्यालोक्यन्ते, स्नेहाभ्यक्तकेशाङ्ग इव यो भाति, यश्च दुर्बलो भक्तद्वेषातिसाराभ्यां पीड्यते, कासमानश्च तृष्णाभिभूतः, क्षीणश्छर्दिभक्तद्वेषयुक्तः, सफेनपूयरुधिरोद्गामी हतस्वरः शूलाभिपन्नश्च मनुष्यः, शूनकरचरणवदनः क्षीणोऽन्नद्वेषी स्रस्तपिण्डिकांसपाणिपादो ज्वरकासाभिभूतः, यस्तु पूर्वाह्णे भुक्तमपराह्णे छर्दयत्यविदग्धमतिसार्यते वा ज्वरकासाभिभूतः स श्वासान्म्रियते ॥४॥

जिसका कफ, विष्ठा और वीर्य पानी में डूब जाता है। जिसके दृष्टिमंडल में छिन्नभिन्न विकृतरूप दिखाई देते हैं। केश और शरीर स्नेह से अभ्यक्त किया हुआ जो प्रतीत होता है। जो दुर्बल मनुष्य अन्नद्वेष और अतिसार से पीड़ित होता है। जो खाँसी से पीड़ित होकर तृष्णा से भी पीड़ित होता है। जो क्षीण होकर वमन तथा अन्नद्वेष से पीड़ित होता है। जो फेन, पूय और रक्त युक्त वमन, स्वरभंग और शूल से पीड़ित हुआ है ऐसा मनुष्य। जो क्षीण मनुष्य हाथ पैर और मुख में शोथ से पीड़ित है, जिसको अन्नद्वेष हुआ है, जिसकी पिंडली, कंधा, हाथ और पांव शिथिल हो गये हैं और जो ज्वर और खांसी से पीड़ित है। जो पूर्वाह्ण में सेवन किया हुआ अन्न अपराह्ण में वमन करता है अथवा जिसको अर्धपक्व अन्न के ही दस्त होते हैं और जो ज्वर तथा खांसी से पीड़ित है, वह श्वास का रोगी (तथा ऊपर वर्णन किये हुए लक्षणों वाला मनुष्य) मर जाता है ॥४॥

बस्तवद्विलपन् यश्च भूमौ पतति स्रस्तमुष्कः, स्तब्धमेढ्रो भग्नग्रीवः प्रनष्टमेहनश्च मनुष्यः, प्राग्विशुष्यमाणहृदय आर्द्रशरीरः, यश्च लोष्टं लोष्टेनाभिहन्ति काष्ठं काष्ठेन, तृणानि वा छिनत्ति, अधरोष्ठं दशति, उत्तरोष्ठं वा लेढि, आलुञ्चति वा कर्णौ केशांश्च, देवद्विजगुरुसुहृद्वैद्यांश्च द्वेष्टि, यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा गर्हितस्थानगताः पीडयन्ति जन्मर्क्षं वा यस्योल्काशनिभ्यामभिहन्यते होरा वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावो वेति ॥५॥

बकरी के बच्चे की भाँति जो भूमि पर विलाप करता हुआ पड़ता है अथवा जिसका अण्डकोष स्रस्त हुआ, शिश्न स्तंभित हुआ, ग्रीवा भग्न हुई और मूत्र नष्ट हो गया है, ऐसा मनुष्य।

जिसका शरीर गीला होने पर प्रथम हृदयप्रदेश शुष्क होता है। जो ढेले से ढेले को, काठ से काठ को मारता है । जो तृण को तोड़ता है। जो नीचे के होठ को काटता है या ऊपर के होठ को चूसता है। अथवा कानों और बालों को नोचता है। देवता, ब्राह्मण, गुरु, मित्र तथा वैद्यों का द्वेष करता है । वक्र और अनुवक्रग ग्रह जिसके निंदित स्थान में प्राप्त होकर जन्मनक्षत्र को पीड़ा करते हैं अथवा जिसका जन्मलग्न उल्का और अशनी इनसे वेधित होता है। (ये सब मनुष्य मर जाते हैं) अथवा जिसके घर, स्त्री, शयन, आसन, यान, वाहन, मणि, रत्न तथा अन्य उपकरण इनमें गर्हितलक्षण रूप (अशुभशंसी) निमित्तों का प्रादुर्भाव होता है (वह मनुष्य भी मर जाता है) ॥५॥

वक्तव्य—वस्तवत्—यज्ञ में याज्ञिकों से मारे हुए पशु की भाँति। प्रनष्टमेहनः—जिसमें मूत्राघात (Suppression of urine) हो गया है। प्राग्विशुष्यमाणहृदयः—यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम् । आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमासं न जीवति । (चरक)। वक्रानुवक्रगाः—ये ग्रहों के गति विशेष हैं—वक्रानुवक्रा कुटिला मन्दा मन्दतरा समा। तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः। (सूर्यसिद्धान्त)। राशिचक्रे स्पष्टगते ये प्रतिनिवृत्य गन्तुंप्रवृत्तास्ते वक्राः। ततोऽपि पुनर्व्यावृत्ताःस्पष्टमार्गमनुप्राप्ता अनुवक्राः। (इन्दु)। गर्हितस्थान—निन्दितस्थान। गर्हितस्थानमनुपचयराशिलक्षणम्। अनुपचयश्च राशयःस्वजन्मनक्षत्रराशेः प्रथमद्वितीयचतुर्थपंचमसप्तमाष्टमनवमद्वादशराशयः। (इन्दु)। होरा—जन्मराशि, जन्मनक्षत्र।

भवन्ति चात्र—

चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते ।
प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद्गतायुषः ॥६॥
निवर्तते महाव्याधिः सहसा यस्य देहिनः ।
न चाहारफलं यस्य दृश्यते स विनश्यति ॥७॥

जब क्षीणबलमांस रोगी का विकार यथार्थ चिकित्सा करने पर भी बढ़ता जाता है तब यह लक्षण उसकी आयु का नाशदर्शक समझना चाहिये ॥६॥ जिसकी महाव्याधि शीघ्र (अर्थात् अकारण) निवृत्त होती है तथा जिसके शरीर में भोजन का फल प्रकट नहीं होता, वह मनुष्य मर जाता है ॥७॥

वक्तव्य—चिकित्सा में प्रयुक्त हुई ओषधियों का शरीर पर कार्य होने के लिए शरीरगत धातुओं तथा इन्द्रियों में प्राणशक्ति या प्रतिक्रियाक्षमता उपस्थित होने की अत्यंत आवश्यकता होती है। क्योंकि धातुओं तथा इन्द्रियों द्वारा प्रयुक्त ओषधियों का ग्रहण, पचन, उत्सर्जन होने के पश्चात् उनका कार्य शरीर पर प्रकट हुआ करता है । ओषधियाँ कितनी ही गुणकारी क्यों न हों केवल अपने बल पर धातुओं के सहयोग के विना कार्य करने में असमर्थ होती हैं। शरीरगत धातुओं की इस प्रतिक्रियाक्षमता की भिन्नता के कारण ही भिन्न भिन्न रोगियों में एक ही ओषधि का भिन्न भिन्न परिणाम दिखाई देता है। रुग्णावस्था में शरीर के धातु तथा इन्द्रियाँ रोगविष के बलाबल के अनुसार दूषित होकर कम प्रतिक्रियाक्षम होती हैं जिससे ओषधियों का कार्य होने में कठिनाई उत्पन्न होती है। परन्तु जब तक धातुओं की प्राणशक्ति पूर्णतया नष्ट नहीं होती तब तक ओषधियाँ अपना कार्य करने में आखिरकार सफल होती हैं। प्राणशक्ति पूर्णतया नष्ट होने के पश्चात् उत्तमोत्तम ओषधियाँ भी कार्य करने में निष्फल होती हैं अर्थात् प्रतिक्रियाक्षमता का पूर्णनाश रोग की असाध्यता का निदर्शक या अरिष्टचिह्न समझना चाहिये। इसी दृष्टि से छठे श्लोक में लिखा है कि उत्तमोत्तम ओषधियों द्वारा यथाशास्त्र चिकित्सा करने पर भी यदि रोग बढ़ता जाता हो तो यह समझना चाहिये कि रोगविषाधिक्य के कारण शरीरगत धातुओं की प्राणशक्ति पूर्णतया नष्ट हो चुकी है जिस से चिकित्सा में सफलता मिलना असंभव हो गया है । ओषधियों के संबंध में जो तत्त्व ऊपर वर्णन किया है वही तत्त्व आहार के संबंध में लागू होता है। ओषधियाँ तथा आहार तब शरीर के लिये फायदेमन्द हो सकते हैं कि जब शरीर में उनसे फायदा उठाने की शक्ति उपस्थित हो, अन्यथा वे निष्फल हैं। चरक में भी ओषधि और आहार संबंध में लिखा है—विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम् । न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम्। यः फलं तस्य नाप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ (इन्द्रियस्थान, अध्याय १२)।

एतान्यरिष्टरूपाणि सम्यग् बुध्येत यो भिषक् ।
साध्यासाध्यपरीक्षायां स[1] राज्ञः संमतो भवेत् ॥८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने स्वभावविप्रतिपत्तिर्नाम
द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३२॥

जो वैद्य (अट्ठाईसवें अध्याय के प्रारंभ से लेकर इस अध्याय के अन्त तक वर्जित किये हुए) इन अरिष्ट लक्षणों को भली भाँति जानता है, वह (रोगों की) साध्यासाध्यता (Proguosis) बतलाने की परीक्षा में राजसंमत (उत्तीर्ण) होता है ॥८॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां स्वभावविप्रतिपत्तिर्नाम द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातोऽवारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से अवारणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—अवारणीय—उपद्रवों से युक्त होने के कारण जिनकी चिकित्सा (वारण) नहीं होती, ऐसे रोगों के सम्बन्ध में लिखा हुआ अध्याय।

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यवार्यताम् ।
रसायनाद्विना वत्स ! तान् शृण्वेकमना मम ॥२॥

जो व्याधियां उपद्रवों से संयुक्त होकर रसायन के विना असाध्य हो जाती हैं, उनको हे वत्स सुश्रुत ! एकाग्रचित्त होकर मुझ से श्रवण करो ॥२॥

---

[1] श्लाघ्यः स नृपतेर्भवेत्.

वक्तव्य—उपद्रव—मूलरोग उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न हुआ रोग—उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः । (चरकं) । यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः । (सुश्रुत) । अंग्रेजी वैद्यक में जिनको काँम्प्लिकेशनस् और सीक्वली (Complication and Sequalae) कहते हैं, वे सब उपद्रव में समाविष्ट होते हैं । रसायन—रसायन तप जप आदि उपाय—ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः । रसायनतपोजप्यतत्परैस्तन्निवार्यते ॥

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम् ।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम् ॥३॥
अष्टावेते[1] प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः ।

वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ और आठवां उदररोग ॥३॥ ये आठ महारोग स्वभाव से ही चिकित्सा के लिये कठिन होते हैं ।

प्राणमांसक्षयश्वासतृष्णाशोषवमीज्वरैः ॥४॥
मूर्च्छातिसारहिक्काभिः पुनश्चैतैरुपद्रुताः[2] ।
वर्जनीया विशेषेण भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥५॥

फिर जब ये रोग प्राणक्षय (बलक्षय), मांसक्षय, श्वास, तृष्णा, शोष (शरीर के सर्वधातुओं का क्षय), वमन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार, हिक्का इन उपद्रवों से युक्त हो जाते हैं तब सिद्धि की इच्छा करने वाले वैद्यों से विशेषतया त्याग करने योग्य होते हैं ॥४-५॥

शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् ।
नरं रुजार्तिमन्तं[3] च वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥६॥

वातव्याधि—शोथ, स्पर्शाज्ञत्व, अस्थिभंग, कंप, आध्मान और वेदना तथा दुःख से पीड़ित मनुष्य को वातव्याधि नाश करती है ॥६॥

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव वा ।
पिडकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥७॥

प्रमेह—जो यथोक्त उपद्रवों से पीड़ित है, जो (प्रतिदिन) मूत्र की अधिक राशि त्याग करता है, जो (शराविकादि) पिडकाओं से अतिशय पीड़ित हो गया है, उसका प्रमेह नाश करता है ॥७॥

वक्तव्य—यथोक्तोपद्रव—अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः । उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥ बस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः । दाहस्तृष्णाम्लको मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥ वातिकानामुदावर्तकण्ठहृद्ग्रहलोलताः । शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥ (अष्टांगहृदय) । पिडका—शराविका, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदारिका, विद्रधिका ये दस पिडकाएँ ।

प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ।
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् ॥८॥

कुष्ठ—जिसका शरीर फट गया है, अंग झिरने लगा है, नेत्र लाल हो गये हैं, आवाज बिगड़ गई है और जो पंचकर्म गुणातीत हो गया है, उस कुष्ठी का कुष्ठ रोग नाश करता है ॥८॥

वक्तव्य—पंचकर्मगुणातीतम्—इसके कई अर्थ होते हैं। इनमें प्रथम अर्थ अधिक सयुक्तिक और सुश्रुतमतानुसार है—(१) 'पञ्चमधात्वस्थिस्थितं कुष्ठं, तस्य कुष्ठस्य कर्माणि गुणाश्च नासाभंगादयस्तैरतीतम्, अतीतगुणप्राप्तम्' इत्यर्थः । पंचम धातु जो अस्थि उसमें स्थित हुए कुष्ठ के जो नासाभंगादिगुण इनसे भी अधिक गुणों से युक्त जो मनुष्य है उसको कुष्ठ मारता है, यह इसका अर्थ है । ये निम्न अधिक गुण हैं—नासाभंगोऽक्षिरागश्च क्षते च कृमिसंभवः । भवेत् स्वरोपघातश्च ह्यस्थिमज्जसमाश्रिते । कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ॥ संक्षेप में अस्थि मज्जा और शुक्रगत कुष्ठ के लक्षणों से पीड़ित मनुष्य को कुष्ठ मारता है । निदानस्थान में लिखा है—मेदोगतं भवेद्याप्यमसाध्यमत उत्तरम् । चिकित्सास्थान में पंचमं नैव चोपक्रमेत् । इसी प्रकार की शब्दरचना चिकित्सास्थान में भी मिलती है—चतुर्थकर्मगुणप्राप्त याप्यमात्मवतः संविधानवतश्च ॥ (२) डल्हण के अनुसार अस्थिगत कुष्ठ की जो संशोधन, संशमन, अभ्यंग गुग्गुल शिलाजतु प्रभृति चिकित्सा है, उससे भी जिस रोगी को आराम नहीं मिलता है । (३) वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन और शोणितावसेचन ये जो पंचकर्म इनसे भी जिस रोगी को आराम नहीं मिलता है ।

तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम् ।
शोफातीसारसंयुक्तमर्शोव्याधिर्विनाशयेत् ॥९॥

अर्श—जो तृष्णा, अरुचि, और शूल इनसे पीड़ित है, जिससे रक्त का स्राव बहुत होता है तथा जो शोथ और अतिसार से भी युक्त है, उस मनुष्य को अर्शव्याधि नाश करती है ॥९॥

वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् प्रस्रवन्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥१०॥

भगन्दर—वायु, मूत्र, विष्ठा, कृमि और वीर्य जिसके भगन्दर में से निकलते हैं, उसे त्याग कर देना चाहिये ॥१०॥

वक्तव्य—भगन्दर का अन्तर्मुख जब गुदसंकोचनी पेशी (Sphinctar Ani) के ऊपर होता है तब उसमें से विष्ठा और वायु निकलती है, जब भगन्दर का संबंध बस्ति के साथ होता है तब मूत्र निकल सकता है और जब वीर्याशय के साथ होता है तब शुक्र निकल सकता है । कृमयः—कृमियुक्त पूय ।

प्रशूननाभिवृषणं रुद्धमूत्रं रुगन्वितम् ।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकताशर्करान्विता ॥११॥

अश्मरी—जिसकी नाभि और वृषण पर शोथ उत्पन्न हुआ है, जिसका मूत्र बंद हो गया है और जिसके शरीर में शूल हो रहा है, ऐसे मनुष्य को अश्मरी शीघ्र ही नाश कर देती है । शर्करायुक्त सिकतामेह भी उपर्युक्त लक्षणयुक्त रोगी का नाश करता है ॥११॥

वक्तव्य—शर्करा—सा (अश्मरी) भिन्नमूर्तिर्वर्तिन शर्करेत्यभिधीयते ।

---

[1] अष्टावेते महान्तस्तु व्याधयो दुस्तराः सदा. [2] ०श्चैतैरुपद्रवैः. [3] रुजार्तमन्तश्च.

गर्भकोषपरासङ्गो मक्कल्लो योनिसंवृतिः ।
हन्यात्[1] स्त्रियं मूढगर्भं यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥१२॥

मूढगर्भ—गर्भमूढ होने के समय गर्भाशय का परासंग, मक्कल्लशूल, योनिसंवरण अथवा यथोक्त उपद्रव स्त्री का नाश करते हैं ॥१२॥

वक्तव्य—गर्भकोषपरासंग—गर्भाशयस्य परोऽत्यर्थमासंगः क्रियाहीनता । गर्भाशय की अत्यंत संकोचहीनावस्था (Uterine inertia) । मक्कल्लः—गर्भाशय संकोच के कारण उत्पन्न हुआ शूल । योनिसंवृतिः—गर्भाशय का अधिक काल तक संकोच की स्थिति में अवस्थान (Tonic Spasm of the uterus or Tetanus Uteri) । यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः—विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंश...श्वासकासभ्रमादयः । (सुश्रुत, निदान, अ. ८) ।

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोफातीसारपीडितम् ।
विरिक्तं पूर्यमाणं च वर्जयेदुदरार्दितम् ॥१३॥

उदर—जिसके पार्श्वभाग में (Sides) फटे हुए जैसी पीड़ा होती है, जिसको अन्न से द्वेष उत्पन्न हुआ है, जो शोथ (विशेष करके सर्वांगशोथ) और अतिसार से पीड़ित है और (सदैव) विरेचित करने पर भी जिसका उदर (जल से) भरा हुआ होता है (अथवा व्रीहिमुखयंत्र से पानी का विरेचन करने पर भी जिसका उदर फिर शीघ्र भर जाता है) ऐसे उदररोगी को त्याग करे ॥१३॥

यस्ताम्यति विसंज्ञश्च शेते निपतितोऽपि वा ।
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ॥१४॥
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ।
नित्यं वक्त्रेण चोच्छ्वस्यात्तं ज्वरो हन्ति मानवम् ॥१५॥
हिक्काश्वासपिपासार्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ।
सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ॥१६॥
आविलाक्षं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च ।
क्षीणशोणितमांसं च नरं नाशयति ज्वरः ॥१७॥

ज्वर—जो (बार बार) मूर्च्छित या बेहोश होकर सोता है या पड़ा रहता है तथा जिसको बाह्यांग से शीत और भीतर से दाह की अनुभूति होती है, ऐसा मनुष्य ज्वर से मरता है ॥१४॥ जिसके शरीर पर रोंगटे खड़े होते हैं, जिसके नेत्र लाल होते हैं, जिसके हृदयप्रदेश में महान् शूल होता है और जो सर्वदा मुख से श्वास की क्रिया करता है, ऐसे मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१५॥ जो हिक्का, श्वास और पिपासा से अत्यंत पीड़ित है, जिसका मन मोहयुक्त हो गया है, नेत्र विभ्रान्त हो गये हैं और जो सर्वदा जोर से हाँफता है, ऐसे क्षीण मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१६॥ जिसके नेत्र अश्रु से भरे हुए हैं, जो अत्यंत मोह और निद्रा से युक्त होता है तथा जिसका रक्त और मांस क्षीण हो गया है, ऐसे मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१७॥

श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वर[2]निपीडितम् ।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥१८॥

अतिसार—श्वास, शूल और पिपासा से अत्यंत पीड़ित, दुर्बल, ज्वरयुक्त मनुष्य को विशेष करके वृद्ध को अतिसार नाश करता है ॥१८॥

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।
कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥१९॥

राजयक्ष्मा—जिसके नेत्र श्वेत हो गये हैं, जिसको अन्न का द्वेष उत्पन्न हुआ है, जो ऊर्ध्वश्वास से पीड़ित है और अत्यंत कष्ट से मूत्र का त्याग करता है, उस मनुष्य को राजयक्ष्मा नाश करता है ॥१९॥

श्वासशूलपिपासान्नविद्वेषग्रन्थिमूढताः ।
भवन्ति दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मृत्युमेष्यतः ॥२०॥

गुल्म—श्वास, शूल, पिपासा, अन्नद्वेष, अकस्मात् गुल्म का लय होना (ग्रन्थिमूढता) और दुर्बलता ऐसे लक्षण मृत्यु को प्राप्त होने वाले गुल्म रोगी के होते हैं ॥२०॥

आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृडन्वितम् ।
रुजाश्वाससमाविष्टं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥२१॥

अन्तर्विद्रधि—जो (विद्रधियुक्त) मनुष्य आध्मान, मूत्र का बंद होना, छर्दि, हिक्का, तृषा, वेदना, श्वास इनसे पीड़ित होता है, उसे विद्रधि नष्ट करता है ॥२१॥

पाण्डुदन्तनखो यश्च पाण्डुनेत्रश्च मानवः ।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥२२॥

जिस मनुष्य के दाँत, नाखून और नेत्र श्वेत हो गये हैं तथा जिसको सब पदार्थ (संघात) श्वेत ही दीखते हैं, ऐसा पांडु रोगी मनुष्य मर जाता है ॥२२॥

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।
रक्तानां च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति ॥२३॥

जो बार बार रक्त का वमन करता है, जिसके नेत्र लाल हैं तथा जिसको सब दिशाएँ लाल ही दीखती हैं, ऐसा रक्तपित्त का रोगी नष्ट होता है ॥२३॥

अवाङ्[2]मुखस्तून्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः ।
जागरिष्णुरसन्देहमुन्मादेन विनश्यति ॥२४॥

जो (उन्माद से पीड़ित) क्षीणमांस, क्षीणबल मनुष्य अपना मुख नीचे को या ऊपर को रखता है तथा निरन्तर जागता है, वह उन्माद से निःसन्देह नष्ट होता है ॥२४॥

बहुशोऽपस्मरन्तं तु प्रक्षीणं चलितभ्रुवम् ।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥२५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽवारणीयो नाम
त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३३॥

जो बारबार अपस्मार के वेग से पीड़ित होता है, जो क्षीण है, जिसकी भ्रुकुटि चलायमान होती है और जो नेत्रों को बुरी तरह से फेरता है, उस (अपस्मारयुक्त मनुष्य) को अपस्मार रोग नाश करता है ॥२५॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायामवारणीयो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३३॥

---

१ हन्युः स्त्रियं मूढगर्भा. २ त्रिभिर्बिशीपीडितं.

१ लोहितोद्गारदर्शी च. २ अवाञ्ची वाऽप्युदञ्ची वा.

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो युक्तसेनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से युक्तसेनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—युक्तसेनीयः—युक्ता संग्रामार्थं नियुक्ता सेना यस्य स युक्तसेनो राजा। तमधिकृत्य कृतोऽध्यायः ॥ **संग्राम के लिये ससैन्य प्रयाण करने वाले राजा के संबंध का अध्याय।**

युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीषतः।
भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥२॥
विजिगीषुः सहामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः।
रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः ॥३॥

शत्रुओं को जीतने की इच्छा करने वाले ससैन्य राजा की रक्षा वैद्य को किस प्रकार करनी चाहिये, उसका उपदेश (अब) किया जाता है ॥२॥ विजय की इच्छा से (सेनापति तथा अन्य) कामदारों सहित जब राजा प्रयाण करता है तब (सर्व प्रकार की आगन्तुक मृत्यु के कारणों से) विशेषतया विष से भरसक प्रयत्न करके उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥३॥

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम्।
दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत् तथा ॥४॥
तस्य लिङ्गं चिकित्सा च कल्पस्थाने प्रवक्ष्यते।

(युद्ध के समय राजा जब शत्रु के प्रदेश में प्रवेश करता है तब) शत्रु मार्ग को, (मार्ग में होने वाले जलाशयों के) जल को, वृक्षों की छाया (से युक्त स्थान को, जहाँ राजा के सैन्य की छावनी हो सकती है), खाद्य द्रव्यों को, (अश्व-गजादि के) चारे को और लकड़ी को विष से दूषित कर दिया करते हैं। वैद्य (लक्षणों से) उनकी दुष्टि जाने और उनका विशोधन करे ॥४॥ उन (की दुष्टि) के लक्षण और चिकित्सा कल्पस्थान में वर्णन की जायगी।

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंज्ञस्तु शेषा आगन्तवः स्मृताः ॥५॥[3]

अथर्ववेदवेत्ता एक सौ एक मृत्यु मानते हैं। उनमें एक कालसंज्ञक और बाकी आगन्तु मृत्यु होती है ॥५॥

वक्तव्य—एकोत्तरं शतम्—मनुष्य के जीवन में उसके जीवन का नाश होने के कई प्रसंग आते हैं। उनकी इयत्ता करना असंभव है। इसलिये शत का अर्थ इयत्तादर्शक न करके असंख्यतावाचक करना उचित है। तथापि इन मृत्युकारक प्रसंगों की न्यूनाधिकता मनुष्य की रहन सहन (निजी कारण) तथा बाह्य जगत् के साथ संबंध (आगन्तु कारण) के ऊपर निर्भर होती है। कालमृत्यु केवल एक होती है, और उसकी मर्यादा युग के अनुसार बदलती (पीछे पृष्ठ ४ पर अल्पायुष्ट्वम् का वक्तव्य देखो) है। कलियुग में कभी एक सौ बीस (शार्ङ्गधर १-६-२०), कभी एक सौ सोलह (जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण ४-२-१) और प्रायः सौ साल की उसकी मर्यादा मानी जाती है। परन्तु इसमें भी कुछ फर्क व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार होता है। चरकसंहिता में कालमृत्यु और अकालमृत्यु का अतिसुन्दर याथातथ्यदर्शक वर्णन किया है, जिससे भी कालमृत्यु एक और अकालमृत्यु अनेक कैसे होती हैं, इसका बोध हो जाता है—श्रूयतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथाऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत् प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति। स मृत्युः काले ॥ यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभंगाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षात् पर्यसनादनुपांगाच्चान्तराव्यसनमापद्यते तथायुरप्ययथाबलमारंभादयथाग्न्यभ्यवहारादतिमैथुनादुदीर्णवेगविधारणाद्विधार्यवेगाविधारणाद्विषमशरीरन्यासादसत्संश्रयाद्भूतविषवाय्वग्न्युपतापादभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्चान्तराऽवसानमेवापद्यते। स मृत्युरकाले। तथा ज्वरादीनप्यातंकान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति ॥ (विमानस्थान. अ. ३.)। इस वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि मनुष्यों का आयुष्य प्रायः स्वाभाविक मृत्यु से नहीं परंतु अपमृत्यु से ही समाप्त होता है। पाश्चात्य वैद्यक में भी कालमृत्यु और अकालमृत्यु के सम्बन्ध में यही कल्पना प्रचलित है। हेलिबर्टन शारीरकार्यविज्ञान नामक अपनी पुस्तक में (Halliburton's Physiology) लिखते हैं कि 'युवावस्था पूर्ण हो जाने के पश्चात् वृद्धावस्था के चिह्न दीखने लगते हैं, आँखों की रोशनी कम होती है, केश सफेद होते हैं, तरुणास्थि कठिन होती हैं, पेशियां दुर्बल होती हैं, पाचनशक्ति क्षीण होती है और शरीर की क्रियाएँ सर्वप्रकार से दिन प्रतिदिन विकल होती जाती हैं। इस प्रकार शरीर का कार्य जारी रहने से अन्त में शरीर की परिसमाप्ति स्वाभाविक मृत्यु से होती है, जिसमें शरीरकार्य क्षीण होते होते बंद हो जाते हैं। परंतु वृद्धावस्था से मृत्यु होना परम दुर्लभ है। मृत्यु के सामान्य कारण प्रायः आगन्तुक होते हैं, जिन कारणों में रोगों का भी समावेश हम करते हैं'। 'As the prime of life is past, signs of old age begin to appear, the eyes become feeble, the hair becomes grey, the cartilages calcify, the muscles become weaker, digestion gets feebler, and metabolism in every way more and more imperfect. If this continues, life is ultimately terminated by natural death, in which the functions get weaker and weaker and finally cease. Death from old age is, however comparatively rare; the common cause of death is accident, in which term we include disease.' पाश्चात्य वैद्यक में भी चरक के अनुसार रोगों का समावेश अकालमृत्यु के कारणों में किया गया है, यह चिन्त्य है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपमृत्यु के कारणों का परिहार करके स्वाभाविक आयुर्मर्यादा के अन्त तक जीने का प्रयत्न करे। इसका सामान्य उपाय चरकसंहिता में लिखा है—इहाग्निवेश ! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते। दैवे पुरुषकारे

---

१ नृपतेर्युक्तसेनस्य. २ कालसंयुक्तः. ३ एतदग्रे—'विष्वग्वातादिभिर्यद्वद्दीपो वर्त्यादिसंयुतः। निर्वाप्यते क्षणाद्देही तथैवागन्तुमृत्युभिः ॥' इति कचिदधिकः पाठः.

च स्थितं ह्यस्य बलाबलम् ॥ तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च। नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा ॥ अब राजा के सम्बन्ध में इन आगन्तुक कारणों का परिहार कैसे करना चाहिये, इसके लिये लिखते हैं—

दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्नाद्[1] वैद्यपुरोहितौ ॥६॥

(वातादि) दोषों और (अभिशाप अभिषंग विष आदि) आगन्तुक कारणों से जो अपमृत्यु होती हैं, उनसे रसविशारद वैद्य और मन्त्रविशारद पुरोहित यत्नपूर्वक नित्य राजा की रक्षा करें ॥६॥

वक्तव्य—रसविशारद—रस, वीर्य, विपाक और प्रभावयुक्त विविध ओषधियों तथा रसायनों द्वारा वातादि दोषजन्य रोगों की युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करने में विचक्षण। मन्त्रविशारद—मन्त्रौषधिमणि मंगलबल्युपहार होम नियम प्रायश्चित्तोपवास स्वस्त्ययन प्रणिपात गमनादि द्वारा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करने में विचक्षण। राजरक्षा के सम्बन्ध में वैद्यों का कर्तव्य इस प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णन किया है—तस्मादस्य जांगलीविदो भिषजश्चासन्नास्स्युः। भिषग्भैषज्यागारादास्वादविशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत पानं पानीयं चौषधेन व्याख्यातम् ॥ (अध्याय २१)।

ब्रह्मा वेदाङ्गमष्टाङ्गमायुर्वेदमभाषत ।
पुरोहितमते तस्माद्वर्तेत भिषगात्मवान् ॥७॥

ब्रह्मा जी ने वेदांगरूप अष्टांग आयुर्वेद वर्णन किया है, इसलिये बुद्धिमान् वैद्य पुरोहित के मतानुसार बर्ताव रक्खे ॥७॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद की उत्पत्ति वेद में होने के कारण चारों वेदों, विशेष करके सम्पूर्ण अथर्व वेद का वेत्ता जो पुरोहित उसके मार्गदर्शित्व में अथवा दैविक उपायों को अंगीकार करके युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करना वैद्य के लिये अधिक श्रेयस्कर और सिद्धिकर होता है।

संकरः सर्ववर्णानां प्रणाशो धर्मकर्मणाम् ।
प्रजानामपि चोच्छित्तिर्नृपव्यसनहेतुतः[2] ॥८॥

राजा का नाश होने से (ब्राह्मणादिक) सर्व वर्णों का संकर, धर्म कर्मों का नाश और (व्यापार, कृषि तथा पशुपालनादि व्यवसायों का नाश होने के कारण) प्रजा का भी क्षय हो जाता है ॥८॥

वक्तव्य—संकर—चारों वर्णों का नाश होकर निर्वर्ण प्रजा होना। यह संकर अनुलोम प्रतिलोम विवाह और वर्णविहित कर्मों का त्याग करने से होता है—व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ (मनुस्मृति)। धर्मकर्मणाम्—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों के धर्मकर्म। व्यसन—रोगरूप या मृत्युरूप संकट। राजा दुर्बल या रोगी होने से दंडधारण द्वारा प्रजा का रक्षण करने में असमर्थ होता है, जिससे चोर लुटेरे नास्तिक लोग सर्व प्रकार से प्रजा का नाश करते हैं। इसलिये कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिखा है—तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डस्स्यात्। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेन गुप्तः प्रभवतीति। चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः। स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥ (अध्याय ४)।

पुरुषाणां नृपाणां च केवलं तुल्यमूर्तिता ।
आज्ञा त्यागः क्षमा धैर्यं विक्रमश्चाप्यमानुषः ॥९॥
तस्माद्देवमिवाभीक्ष्णं वाङ्मनःकर्मभिः शुभैः ।
चिन्तयेन्नृपतिं वैद्यः श्रेयांसीच्छन् विचक्षणः ॥१०॥

साधारण मनुष्यों और राजाओं की शरीर की आकृति में ही केवल समता होती है। परंतु आज्ञा, त्याग, क्षमा, संकट के समय की धीरता और पराक्रम ये सब दैविक (साधारण मनुष्यों के इन गुणों से अधिक तथा प्रभावशाली) होते हैं ॥९॥ इसलिये सुख की इच्छा करने वाला चतुर वैद्य राजा को देवता समझ कर निरन्तर शुभवाचिक, कायिक और मानसिक कर्मों से उसके (स्वास्थ्य की) चिन्ता करे ॥१०॥

वक्तव्य—अमानुषः—राजा चन्द्रसूर्यादिक देवताओं के अंश से उत्पन्न होने के कारण मनुष्यरूप होने पर भी देवतास्वरूप होता है, तथा उसके आज्ञादिक गुण भी दैविक होते हैं—रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः। इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ (मनुस्मृति, अ. ७)।

स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम् ।
भवेत्सन्निहितो नित्यं[1] सर्वोपकरणान्वितः ॥११॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम् ।
उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिताः ॥१२॥
स्वतन्त्रकुशलोऽन्येषु शास्त्रार्थेष्वबहिष्कृतः ।
वैद्यो ध्वज इवाभाति नृपतद्विद्यपूजितः[3] ॥१३॥

लश्कर की बड़ी छावनी में राजनिवास के अत्यन्त समीप अपनी सब साधनसामग्री के साथ वैद्य को सुसज्जित रहना चाहिये ॥११॥ वहाँ ध्वजा की भाँति यश और ख्याति से विख्यात ऐसे वैद्य के समीप विष, शल्य और रोगों से पीड़ित मनुष्य निश्चिन्त मन से पहुँचते हैं ॥१२॥ अपने (वैद्यक) शास्त्र में प्रवीण हो तथा (वैद्यकोपयोगी) अन्य शास्त्रों से भी जो अपरिचित नहीं, ऐसा वैद्य राजाओं तथा वैद्यों से संमानित होकर ध्वजा की तरह (सबसे ऊँचे दर्जे में) विख्यात होता है ॥१३॥

वक्तव्य—स्कन्धावार—स्कन्धार्थं सैन्यार्थमावारः। युद्धार्थमुद्युक्तानां सैन्यानां सन्निवेशः। लश्कर की छावनी या कैम्प (Camp)। स्कन्धावार की रचना के लिये कौटिलीय अर्थशास्त्र का 'स्कन्धावार निवेश' नामक १२९ वां अध्याय देखो। सर्वोपकरणान्वितः—यन्त्रशस्त्र क्षारौषध व्रण बंधन द्रव्यादि साधन सामग्री के साथ। कौटिलीय अर्थशास्त्र में सैनिकों की सेवा शुश्रूषा करने के लिये, उनके धैर्य, उत्तेजना देने के लिये स्त्रियों की भी योजना (Nurses) लिखी हैं—चिकित्सकाः

---

१ यत्तौ०. २ नृपव्यसनहेतुका.

१ नित्यं. २ वैद्यः. ३ नृपतद्विषपूजितः.

शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः ॥ (अध्याय १३१)। पाश्चात्त्य देशों में युद्ध के समय नर्सेस की योजना १९ वें शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारंभ हुई है। ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्—इस पद से प्राचीनकाल में भी झंडे का कितना महत्त्व था, इसकी कल्पना होगी।

वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः ।
एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥१४॥
गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक् ।
व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत् ॥१५॥

(चिकित्सापादचतुष्टय—) १ वैद्य, २ रोगी, ३ औषध और ४ परिचारक ये चिकित्सा के (चार) पाद हैं और धातुसाम्य (आरोग्य) रूप कर्मसिद्धि के हेतु हैं ॥१४॥ (रोगी, औषध और परिचारक) इन तीन (निम्नदर्शित) गुणों से युक्त पादों की सहायता से चतुर्थ पाद गुणी वैद्य थोड़े ही समय में दारुणव्याधि को भी अच्छा कर देता है ॥१५॥

वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः ।
उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्युं विनाऽध्वरे ॥१६॥
वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा ।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि ॥१७॥

(वैद्य की महत्ता —) जैसे कि यज्ञ में (यजुर्वेदविद्) अध्वर्यु (उपाध्याय) के विना उद्गाता (सामवित्), होता (ऋग्वेदवित्) और ब्रह्मा ये तीनों निरर्थक हो जाते हैं, वैसे ही (रोगी, औषध और परिचारक ये) तीनों पाद यथोक्त गुणयुक्त होने पर भी वैद्य के विना निरर्थक हो जाते हैं ॥१६॥ जैसे कि जलमें फँसी हुई नौका का तारण (कुशल) कर्णधार अन्य मल्लाहों की सहायता के बिना करता है, वैसे ही (यथोक्त) गुणयुक्त अकेला वैद्य (रोगरूप जलार्णव में फँसे हुए) रोगियों का तारण करता है ॥१७॥

वक्तव्य—उपर्युक्त पादचतुष्टय की सहायता से रोगों का जो प्रतिकार किया जाता है, उसे 'चिकित्सा' कहते हैं—चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते । प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ (चरक)। चिकित्सा में सफलता प्राप्त होने के लिये पादचतुष्टय गुणवान् होना आवश्यक है—भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् । गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥ (चरक)। तथापि इनमें भी वैद्य का महत्त्व सब से अधिक है, यह कल्पना इन श्लोकों में अनेक दृष्टान्तों से प्रदर्शित की गई है। चरक में भी लिखा है—विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु । पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः ॥ विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च । आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः ॥ मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा । न वहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥ (सूत्रस्थान अ. ९)।

[1]तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती ।
लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥१८॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः ।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पाद उच्यते ॥१९॥

(वैद्यगुण—) जो शास्त्रार्थ के तत्त्व में पारंगत हो, जिसने चिकित्सा के कर्म देखे हुए हों, स्वयं कर्म किये हुए हों, जिसका हाथ हलका हो, जो (अन्तर्बाह्य) स्वच्छ रहता हो, जो शूर हो, सब प्रकार की साधनसामग्री सज्ज रखता हो ॥१८॥ जो समयसूचक हो, बुद्धिमान् हो, उत्साहयुक्त (Energetic) हो, विचक्षण हो और सत्य तथा धर्म पर हो, ऐसा (मनुष्य वास्तव में) 'भिषक्पाद' कहा जाता है ॥१९॥

आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि ।
आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥२०॥

(रोगिगुण—) आयुष्मान्, सत्त्ववान्, साध्य, श्रीमान्, आत्मवान् (मनःसंयमी), आस्तिक (ईश्वर गुरु देवताओं पर श्रद्धा करने वाला) और वैद्य के वाक्यों में विश्वास करने वाला ऐसा (मनुष्य) 'व्याधितपाद' कहा जाता है ॥२०॥

प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।
युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥२१॥
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये ।
समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते ॥२२॥

(ओषधिगुण—) उत्तम भूमि में उत्पन्न हुआ, शुभ दिन में उखाड़ा हुआ, योग्य मात्रा में दिया हुआ, मनःप्रसन्नकर, गंध वर्ण और रस से युक्त ॥२१॥ दोषनाशक, ग्लानि न करने वाला, (देने में कुछ) विपर्यय होने पर भी विकार न करने वाला, (रोगी की) परीक्षा करके योग्य समय पर दिया हुआ (द्रव्य चिकित्सा का) 'भेषजपाद' कहलाता है ॥२२॥

वक्तव्य—प्रशस्तदेशसंभूत—३७ वें अध्याय के २ सूत्र में वर्णित भूमि में उत्पन्न हुआ। दोषघ्न—वातादि दोषों और रसादि धातुओं की दुष्टि दूर करने वाला। समीक्ष्य—३५ वें अध्याय के दूसरे सूत्र में वर्णित विषयों के अनुसार परीक्षा करके।

स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।
वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः ॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने युक्तसेनीयो
नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३४॥

(परिचारकगुण)—प्रेम करने वाला, निन्दा न करने वाला, बलवान्, रोगी की रक्षा में (तन मन से) लगा हुआ, वैद्य की आज्ञानुसार कार्य करने वाला और अविश्रान्त श्रम करने वाला (मनुष्य) 'परिचारकपाद' कहलाता है ॥२३॥

वक्तव्य—अजुगुप्सुः—रोगी का स्वभाव या रोग कितना ही घृणाजनक क्यों न हो, रोगी को एक शब्द से भी दुरुत्तर न करने वाला। बलवान्—इसका विवरण पीछे २२वें पृष्ठ पर ५ वें सूत्र की टीका में किया गया है। युक्तो व्याधितरक्षणे—रोगी की 'यूषरसादिकरण संवाहन स्वापनादि' परिचर्या (Nursing) में निपुण, यह भी इस पद का अर्थ हो सकता है। क्योंकि रोगी की रक्षा करने के लिये उत्तम परिचर्या बहुत ही आवश्यक होती है। चरक में इसलिये 'उपचारज्ञता' गुण परिचारक के गुणों में पहले निर्दिष्ट किया है—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि । शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥

---

[1] तीर्थाधिगतशास्त्रार्थः.

(सू. अ. ९)। पाश्चात्त्य देशों में परिचर्या के लिये पुरुषों की अपेक्षा परिचारिकाओं (Nurses) का प्रचार अधिक है। क्योंकि उनमें पुरुषों की अपेक्षा परिचर्या के लिये आवश्यक गुणों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। चरक तथा वाग्भट के अनुसार उपर्युक्त प्रत्येक पाद के केवल चार गुण होते हैं और इस प्रकार चिकित्सा षोडशगुणा होती है—कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम्। चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां युक्तसेनीयो नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथात आतुरोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से आतुरोपक्रमणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—आतुरोपक्रमणीय—चिकित्सा प्रारंभ करने के समय रोगी के विषय में जिन बातों का ज्ञान आवश्यक होना चाहिये, उनके संबंध में लिखा हुआ अध्याय।

आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुरादावेव परीक्षितव्यं[1]; सत्यायुषि व्याध्यृत्वग्निवयोदेहबलसत्त्वसात्म्यप्रकृतिभेषजदेशान् परीक्षेत ॥२॥

(आयु परीक्षामहत्त्व—) रोगी की चिकित्सा प्रारंभ करने वाले वैद्य को प्रथम (रोगी की) आयु की परीक्षा करनी चाहिये। यदि आयु (शेष) हो तो व्याधि, ऋतु, अग्नि, वय, देह, बल, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति, भेषज और देश इन (सब बातों) की परीक्षा करे ॥२॥

वक्तव्य—मनुष्य अल्पायु, मध्यमायु या दीर्घायु है। इस विषय की परीक्षा मनुष्य के शरीर के सामान्यलक्षण, शरीर का प्रमाण (अंगुलियों के हिसाब से), वातादिक प्रकृति और चिकित्सा के समय अरिष्टदर्शन इन चार उपायों से होती है—प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तैः। देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे ॥ (चरक)। इनमें से अरिष्टों का विचार पीछे हो चुका है। देहलक्षण और शरीरायाम इन दोनों का विचार नीचे किया है। चरक और वाग्भट के अनुसार यहाँ आयु-परीक्षा की दृष्टि से देहप्रकृति का महत्त्व यद्यपि नहीं बतलाया है, तथापि शारीरस्थान में प्रकृतियों का वर्णन करते समय कम से कम पित्तप्रकृति के संबंध में लिखा है—मध्यमायुश्च भवति। प्रकृति के अनुसार आयुर्मान ऐसा होता है—श्लेष्मला आयुष्मन्तश्च भवन्ति। पित्तला मध्यायुषो भवन्ति। वातला अल्पायुषश्च भवन्ति ॥ (चरक)। इसलिये रोगी की प्रकृति का विचार करके भी आयु की परीक्षा करना उपकारक होगा। रोगी की आयु की परीक्षा सर्व प्रकार से इसलिये करना आवश्यक है कि उस परीक्षा के ऊपर चिकित्सा में यश अपयश निर्भर होता है—औषधं मंगलं मन्त्रो ह्यन्याश्च विविधाः क्रियाः। यस्यायुस्तस्य सिध्यन्ति न सिध्यन्ति गतायुषि ॥ (योगरत्नाकर)।

तत्र महापाणिपादपार्श्वपृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कन्धललाटं दीर्घाङ्गुलिपर्वोच्छ्वासप्रेक्षणबाहुं विस्तीर्णभ्रूस्तनान्तरोरस्कं ह्रस्वजङ्घामेढ्रग्रीवं गम्भीरसत्त्वस्वरनाभिमनुच्चैर्बद्धस्तनमुपचितमहारोमशकर्णं पश्चान्मस्तिष्कं[1] स्नातानुलिप्तं मूर्धानुपूर्व्या विशुष्यमाणशरीरं[2] पश्चाच्च विशुष्यमाणहृदयं पुरुषं जानीयाद्दीर्घायुः खल्वयमिति। तमेकान्तेनोपक्रमेत्। एभिर्लक्षणैर्विपरीतैरल्पायुः; मिश्रैर्मध्यमायुरिति[3] ॥३॥

(आयु लक्षण—) उनमें जिसके हाथ, पाँव, पार्श्व, पीठ, स्तनाग्र, दाँत, चेहरा, कंधा और ललाट (स्वाभाविक आकार से अधिक) बड़े हों; अंगुलियों के पोर्वे, श्वास, नेत्र और भुजा (स्वाभाविक लंबाई से अधिक) लंबे हों; जिसकी भ्रुकुटी, स्तनमध्यभाग तथा छाती विस्तीर्ण हो; जिसकी जंघा, लिंग और गर्दन छोटी हो; जिसका सत्त्व (स्वभाव), स्वर और नाभि गंभीर हो; जिसके स्तन का भाग न बहुत ऊँचा न बहुत कड़ा हो; जिसके कान मांसल विस्तीर्ण और लोमयुक्त हों; जिसकी खोपड़ी का पिछला भाग (गुद्दी Occipital region) अधिक उन्नत हो; स्नान कर अनुलेपन करने के पश्चात् मस्तक से जिसका शरीर सूखने लगता हो और हृदयप्रदेश का भाग सब से पीछे सूखता हो, इन लक्षणों से युक्त मनुष्य को निश्चय से दीर्घायु समझना चाहिये और उसकी चिकित्सा निश्चिन्त मन से करनी चाहिये। इनसे विपरीत लक्षणों से अल्पायु और मिश्र लक्षणों से मध्यमायु समझना चाहिये ॥३॥

भवन्ति चात्र—

गूढसन्धिसिरास्नायुः संहताङ्गः स्थिरेन्द्रियः।
उत्तरोत्तरसुक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते ॥४॥
गर्भात्प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते।
शरीरज्ञानविज्ञानैः स दीर्घायुः समासतः ॥५॥

(दीर्घायु लक्षण) (शरीर मांसल होने के कारण) जिसके संधि, सिरा और स्नायु गूढ़ होते हैं, जिसका शरीर दृढ़ है, जिसकी इन्द्रियां स्थिर हैं, जिसका शरीर पैरों से लेकर शिर तक उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुडौल है, वह मनुष्य दीर्घायु कहलाता है ॥४॥ संक्षेप में माता के उदर में जन्म होने के दिन से जो नीरोग है, तथा जिसका शरीर, ज्ञान और विज्ञान इनकी धीरे धीरे (वयोनुरूप) वृद्धि होती है, उसे दीर्घायु समझना चाहिये ॥५॥

वक्तव्य—गूढसंधिसिरास्नायु—शरीर मांसल होने के कारण जिसके संध्यादि भाग ऊपर को नहीं दिखाई देते। कृश मनुष्य में ये अंग बाहर दिखाई देते हैं—स्थूलपर्वा सिराततः। उच्यतेऽतिकृशः। (संग्रह)। उत्तरोत्तरसुक्षेत्रः—इसका अर्थ डल्हण के अनुसार ऊपर दिया है। वही श्लोकसंदर्भ की दृष्टि से अधिक योग्य है। दूसरा अर्थ चक्र के अनुसार ऐसा है।

---

[1] परीक्ष्येत.

[1] पार्श्वमस्तिष्कम्. [2] विशुष्यमाणावयवं. [3] मध्यमायुषमिति.

जिसके खानदान में एक से एक अधिक दीर्घायु पूर्वज हो गये हैं—उत्तरोत्तरदीर्घायुःपुरुषकुलजातः, क्षेत्र प्रभवस्थानमिह कुलपुरुषाः ॥ कल्पना सुन्दर और नवीन है। ज्ञान—अध्यात्म ज्ञान। विज्ञान—भौतिक शास्त्रों का ज्ञान—शनैः समुपचीयते—शरीर की वृद्धि और ज्ञान विज्ञान की योग्यता अल्पवय में अधिक होना अल्पायु का लक्षण है—व्यंजनादिशुभा विद्या मेदोमेधादयो यशः। अल्पे वयसि यस्यैतन्न स जीवेत् कदाचन ॥ इसका अनुभव व्यवहार में अनेक बार मिलता है।

मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे।
अधस्तादक्षयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः ॥६॥
द्वे वा तिस्रोऽधिका वाऽपि पादौ कर्णौ च मांसलौ।
नासाग्रमूर्ध्वं च भवेदूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः ॥७॥
यस्य स्युस्तस्य परममायुर्भवति सप्ततिः।

(मध्यमायुलक्षण—) इसके पश्चात् मध्यमायु का ज्ञान मुझ से समझ लो। जिसके आँखों के नीचे दो, तीन या अधिक लंबी और स्पष्ट रेखाएँ दिखाई देती हैं, जिसके कान और पाँव मांसल होते हैं, नासाग्र ऊपर की ओर उठा हुआ होता है और पीठ पर ऊर्ध्वमुख रेखाएँ होती हैं ॥६–७॥ उसकी अधिक से अधिक आयुर्मर्यादा सत्तर वर्ष की होती है।

जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे ॥८॥
ह्रस्वानि यस्य पर्वाणि सुमहच्चापि मेहनम्।
तथोरस्यवलीढानि न च स्यात्पृष्ठमायतम् ॥९॥
ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानान्नासा चोच्चा शरीरिणः।
हसतो जल्पतो वाऽपि दन्तमांसं प्रदृश्यते।
प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत्पञ्चविंशतिम् ॥१०॥

(अल्पायुलक्षण—) इसके पश्चात् कनिष्ठ प्रकार की आयु का ज्ञान (लक्षण) मुझ से श्रवण कर ॥८॥ (आगे प्रदर्शित किये हुए प्रमाण की दृष्टि से) जिसके पोर्वे छोटे और शिश्न दीर्घ हो, तथा जिसकी छाती की पसलियाँ दबी हुई और पृष्ठ संकुचित हो ॥९॥ जिसके कान अपने स्थान से कुछ ऊँचे और नासा भी कुछ ऊपर चढ़ी हुई हो, हँसने या बोलने के समय जिसके दाँतों का मांस दिखाई देता हो और जो आँखों को फेरता हुआ दीखता हो, वह पच्चीस वर्ष की आयु तक जीता है ॥१०॥

वक्तव्य—अवलीढानि—यह पर्व का विशेषण है। पर्व संधियों के बीच का भाग। छाती की दृष्टि से पसलियाँ पर्व होती हैं। अवलीढ का अर्थ भक्षित और पर्याय से निम्न या दबी हुई। स्वस्थ छाती साधारणतया अण्डाकार या दीर्घवृत्त होती है। इसका पार्श्विक परिमाण आगे पीछे के परिमाण की अपेक्षा अधिक होता है। जो बाल्यावस्था में अस्थिवक्रता (Rickets) आदि हड्डी के रोगों से बीमार होते हैं, उनकी छाती विकृत हो जाती है। कुछ लोगों में जन्म से ही छाती का आकार अस्वाभाविक होता है। छाती के अस्वाभाविक आकारों में पंखवत् (Alar), चपटी (Flat), कबूतर की भाँति (Pigeon), कुबड़ी (Rickety), बेलनाकार (Barrel shaped) इत्यादि आकार प्रधान हैं। विकृत छाती वाले मनुष्यों में यक्ष्मा होने की अधिक संभावना होती है, जिसके कारण उनकी आयु अल्प हो जाया करती है।

अथ पुनरायुषो विज्ञानार्थमङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणसारानुपदेक्ष्यामः । तत्राङ्गान्यन्तराधिसक्थिबाहुशिरांसि, तदवयवाः प्रत्यङ्गानीति । तत्र, स्वैरङ्गुलैः पादाङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ द्व्यङ्गुलायते; प्रदेशिन्यास्तु मध्यमानामिकाकनिष्ठिका यथोत्तरं पञ्चमभागहीनाः; चतुरङ्गुलायते पञ्चाङ्गुलविस्तृते प्रपदपादतले; पञ्चचतुरङ्गुलायतविस्तृता पार्ष्णिः; चतुर्दशाङ्गुलायतः पादः; चतुर्दशाङ्गुलपरिणाहानि पादगुल्फजङ्घाजानुमध्यानि; अष्टादशाङ्गुला जङ्घा, जानूपरिष्टाच्च द्वात्रिंशदङ्गुलमेवं पञ्चाशत्; जङ्घायामसमावूरू ॥११॥

(शरीर प्रमाण—) अब आयुष्य के ज्ञान के लिये अंग और प्रत्यंग के प्रमाण तथा सार इनका उपदेश करते हैं। उनमें शरीर का मध्यभाग (अंतराधि), (दो) सक्थि, (दो) बाहु और शिर ये (छः) अंग हैं और उनके अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं। उनमें अपने अंगुलों से पाँव के अँगूठे और प्रदेशिनी की लंबाई (नाखून छोड़कर) दो दो अंगुल की होती है। प्रदेशिनी से मध्यमा, मध्यमा से अनामिका और अनामिका से कनिष्ठिका क्रम से पाँचवाँ भाग कम होती जाती है। प्रपद और पादतल चार अंगुल लम्बे और पाँच अंगुल चौड़े होते है। पार्ष्णि (एड़ी) पांच अंगुल लंबी और चार अंगुल चौड़ी होती है। पाँव चौदह अंगुल लंबा होता है। पादमध्य, गुल्फमध्य, जंघामध्य तथा जानुमध्य चौदह अंगुल परिणाह के होते हैं। जंघा अठारह अंगुल लंबी होती है। जानुसंधि से ऊपर (कटिसन्धि तक) का भाग बत्तीस अंगुल लंबा होता है और इस प्रकार (जंघा, जानु और ऊपर का भाग मिलकर) लंबाई पचास अंगुल होती है। जंघा के समान ऊरु (अठारह अंगुल) लंबे होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—अंग प्रत्यंग प्रमाण का नाप दर्शाने के लिये निम्न तीन शब्द प्रयुक्त होते हैं—१ आयाम—दैर्घ्य, लम्बाई, (Length)। २ विस्तार—व्यास, चौड़ाई (Breadth या greatest diameter)। परिणाह—परिवर्तुलता, घेरा, (Circumference)। परिणाह के सम्बन्ध में चक्रदत्त की निम्न टिप्पणी ध्यान में रखनी चाहिए—परिणाहपरिमाणं च यदुच्यते तन्मध्यस्थानस्य, तेनासमपरिणाहमानेषु जंघादिषु मध्यस्थानमेतज्ज्ञेयम् ॥ शिर—सग्रीव शिर या शिरोग्रीव। यथोत्तरं पंचमभागहीनाः—अन्यास्तिस्रोऽङ्गुल्यः क्रमेण द्व्यंगुलस्य पंचमभागेन हीनाः। (इन्दु)। मध्यमिका $\frac{८}{५}$ अंगुल लंबी, अनामिका $\frac{६}{५}$ और कनिष्ठिका $\frac{४}{५}$ लंबी होगी। पाद—पाद के तीन विभाग होते हैं—१ प्रपद—अंगुल्यनन्तरं पादाग्रम्। (इन्दु)। Part of the foot anterior to the arch। २ पादतल—पादमध्य, Arch of the foot। ३ पार्ष्णि—खुड्डिका भाग एड़ी। इस पाद की लंबाई चौदह अंगुल इस प्रकार होती है—२ अंगुष्ठ-प्रदेशिनी, ४ प्रपद, ४ पादतल, और ४ पार्ष्णि।

द्व्यङ्गुलानि वृषणचिबुकदशननासापुटभागकर्णमूलनयनान्तराणि; चतुरङ्गुलानि मेहनवदनान्तर-

नासाकर्णललाटग्रीवोच्छ्रायदृष्ट्यन्तराणि; द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तारमेहननाभिहृदयग्रीवास्तनान्तरमुखायाममणिबन्धप्रकोष्ठस्थौल्यानि; इन्द्रबस्तिपरिणाहांसपीठकूर्परान्तरायामः षोडशाङ्गुलः; चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः; द्वात्रिंशदङ्गुलपरिमाणौ भुजौ; द्वात्रिंशत्परिणाहावूरू; मणिबन्धकूर्परान्तरं षोडशाङ्गुलं; तलं षट्चतुरङ्गुलायामविस्तारम्। अङ्गुष्ठमूलप्रदेशिनीश्रवणापाङ्गान्तरमध्यमाङ्गुल्यौ पञ्चाङ्गुले; अर्धपञ्चाङ्गुले[1] प्रदेशिन्यनामिके; सार्धत्र्यङ्गुलौ कनिष्ठाङ्गुष्ठौ ॥१२॥

वृषण (अण्डगोलक), ठोड़ी, दाँत, (प्रत्येक) नासा पुट का बाह्यभाग, कर्णमूल और आँखों का मध्यभाग ये दो दो अंगुल के होते हैं । शिश्न (उच्छ्रायरहित, उच्छ्राययुक्त षडंगुल), व्यात्तमुख (पूर्णतया खुला हुआ मुख), नासावंश, कर्ण, ललाट, ग्रीवा और दृष्टिमंडल के बीच का अन्तर ये सब चार चार अंगुल होते हैं। योनिविस्तार, शिश्न और नाभि का अन्तर, नाभि और हृदय का अन्तर, हृदय से ग्रीवा मूल तक का अन्तर, दोनों स्तनों के बीच का अन्तर, चिबुक से ललाट के अन्त तक मुख का दैर्घ्य तथा मणिबंध और प्रकोष्ठ का परिणाह ये सब बारह बारह अंगुल के होते हैं। जंघामध्य ('जंघामध्ये इन्द्रबस्तिर्नाम') का परिणाह, कंधा और कोहनी के बीच का अन्तर ये सोलह अंगुल के होते हैं। कोहनी से मध्यमांगुलि के अग्र तक चौबीस अंगुल का हाथ होता है। दोनों भुज बत्तीस अंगुल के होते हैं। दोनों ऊरु प्रत्येक बत्तीस अंगुल परिणाह (घेरा) की होती हैं। मणिबंध से कोहनी तक की लम्बाई सोलह अंगुल की होती है। हथेली चार अंगुल चौड़ी और छः अंगुल लम्बी होती है। अंगुष्ट के मूल से तर्जनी का अन्तर, कान से नेत्र के बाह्यकोण का अन्तर तथा मध्यमांगुलि की लम्बाई प्रत्येक पाँच पाँच अंगुल की होती है। प्रदेशिनी और अनामिका साढ़े चार अंगुल की तथा अँगूठा और कनिष्ठिका साढ़े तीन अंगुल की होती है ॥१२॥

चतुर्विंशतिविस्तारपरिणाहं मुखग्रीवं; त्रिभागाङ्गुलविस्तारा नासापुटमर्यादा; नयनत्रिभागपरिणाहा तारका; नवमस्तारकांशो दृष्टिः; केशान्तमस्तकान्तरमेकादशाङ्गुलं; मस्तकादवटुकेशान्तो दशाङ्गुलः; कर्णावट्वन्तरं चतुर्दशाङ्गुलं; पुरुषोरःप्रमाणविस्तीर्णा स्त्रीश्रोणिः; अष्टादशाङ्गुलविस्तारमुरः; तत्प्रमाणा पुरुषस्य कटी; सविंशमङ्गुलशतं पुरुषायाम इति ॥१३॥

चार अंगुल विस्तार का मुख और बीस अंगुल परिणाह की ग्रीवा होती है । नासापुट का विस्तार १$\frac{१}{३}$ अंगुल का होता है। नेत्र का तिहाई कृष्णमंडल होता है । कृष्णमंडल का नवमांश दृष्टिमंडल होता है । (शंखप्रदेश स्थित) केशमर्यादा से शिरोमध्यभाग ग्यारह अंगुल होता है । मस्तक मध्यभाग से ग्रीवापश्चिमभाग का केशान्त दशांगुल होता है। पिछली तरफ से (अवटुप्रदेश से) दोनों कानों के बीच का अन्तर चौदह अंगुल होता है। पुरुष के छाती के समान विस्तार की स्त्रियों की श्रेणि होती है। (स्त्रियों का) वक्षभाग अठारह अंगुल के विस्तार का होता है । और पुरुषों की कटि भी अठारह अंगुल के प्रमाण की (स्त्रीवक्ष के प्रमाण के समान) होती है। (इस प्रकार) पुरुष की लंबाई एक सौ बीस अंगुल की होती है ॥१३॥

वक्तव्य—तारका—कृष्णमण्डल । इसको कोर्निआ (Cornea) कहते हैं—नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते । (उत्तरतन्त्र, अ०-१) । दृष्टिः—पुतली, इसको प्यूपिल (Pupil) कहते हैं। दृष्टिमण्डल आँख के पर्दे (Iris) का छेद है । उत्तरतन्त्र में इसका परिमाण $\frac{१}{७}$ दिया है—कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः ॥ इस मतभिन्नता का कारण दृष्टिमण्डल की परिवर्तनशीलता मालूम पड़ता है । जिसमें दृष्टिमण्डल है, वह आँख का पर्दा मांसतन्तुओं से बना है । इनमें कुछ तन्तु चक्रवत् वर्तुलाकार लगे हैं और कुछ पहिये के अरों के समान लगे रहते हैं। चक्राकार तन्तुओं के संकोच से पुतली छोटी और अराकार तन्तुओं के संकोच से मोटी हो जाती है। दृष्टिमण्डल के परिमाण का परिवर्तन दृश्य वस्तु की दूरता, समीपता तथा प्रकाश की तीव्रातीव्रता के अनुसार सदैव बदलता रहता है। डल्हणाचार्य के अनुसार सप्तमांश दृष्टिमण्डल सामान्य मनुष्यों के लिये और नवमांश दृष्टिमण्डल महापुरुष और पूर्णायुषों के लिये है—यद्येवं तर्हि आतुरोपक्रमणीये 'नवमस्तारकांशो दृष्टिः' इति कथमुक्तवान् ? सत्यम्, महापुरुषाणां पूर्णायुषां भिन्नविषयमभिधानमिति न दोषः॥ अवटु— गुद्दी (Nape of the neck)। सविंशमगुलशतं पुरुषायामः—चरक में पुरुष की लंबाई चौरासी अंगुल वर्णन की है—केवलं पुनः शरीरमंगुलिपर्वाणि चतुरशीतिः । तदायामविस्तारसमं समुच्यते । (विमान, अ. ८) । अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय में भी पुरुषायाम का यही परिमाण दिया है—सर्वं पुनः शरीरमंगुलानि चतुरशीतिः । स्वं स्वं हस्तत्रयं सार्धं वपुः पात्रं सुखायुषोः । व्यवहार में नाप के लिये चौरासी अंगुल का ही पुरुष का परिमाण होता है—चतुरशीत्यंगुलो व्यामो रज्जुमानं खातपौरुषं च । (कौटिलीय अर्थशास्त्र, अ. ४१)। इससे एक सौ बीस अंगुल का सुश्रुत का पुरुष चरकादि के चौरासी अंगुल के पुरुष से बिलकुल भिन्न है, ऐसा आभास होता है। परन्तु यदि केवल आयाम (Length या Height) के आवश्यक सुश्रुतोक्त प्रत्यंगमानों की तुलना चरकोक्त उन प्रत्यंगमानों के साथ की जाय तो (नीचे कोष्ठक देखो), यह विरोधाभास दूर हो जाता है ।

प्रत्यंग मानतुलना

प्रत्यंग नाम	सुश्रुत	चरक
पार्ष्णि	५	४
जंघा	१८	१८
जानु	४	४
ऊरु	१८	१८
मेहनाभ्यन्तर (बस्तिशिर)	१२	१०

---

[1] सार्धचतुरङ्गुले.

नाभिहृदयान्तर	१२	१२
हृदयग्रीवान्तर	१२	१२
ग्रीवा	४	४
आनन या मुख	१२	१२
सिर	११	६
प्रत्यंगायाम योग	१०८	१००

इनमें केवल सिर के मान में फर्क मालूम पड़ता है, परन्तु वह भी वास्तविक नहीं है। क्योंकि सुश्रुत का नाप टेढ़ा है और चरक का सीधा 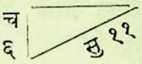 है—केशान्तमस्तकान्तरमेकादशांगुलम्। (सुश्रुत)। षडंगुलोत्सेधं शिरः। (चरक)। भूमिति की दृष्टि से सुश्रुतोक्त एकादशांगुल चरकोक्त षडंगुल ही हो जाते हैं। चक्रपाणिदत्त सुश्रुत की भानुमती टीका में पुरुष का आयाम १२० अंगुलि सही समझते हैं और चरक-सुश्रुत-विरोध का परिहार सुश्रुतोक्त अंगुलिमान अल्प मानकर करते हैं—सुश्रुतेन समं योऽत्र मानविरोधः सोऽत्रांगुलिमानभेदाच्छमयितव्यः। तत्र हि सविंशमंगुलिशतं पुरुषमानमुक्तम्। तेन तत्रांगुलिमानमेवाल्पं ज्ञेयम्। (चरकटीका)। परन्तु ऊपर कोष्टकस्थ दोनों के प्रत्यंगमान की तुलना करने से चक्र का कथन अयथार्थ है, इसमें कोई संदेह नहीं होगा। क्योंकि परिमाण अल्प होने पर सुश्रुत का प्रत्येक प्रत्यंग मान चरक के मान से अधिक होना आवश्यक है। ऊपर कोष्ठक देखने से यह स्पष्ट होगा कि प्रत्यंग मान जोड़ने से पुरुषायाम चौरासी अंगुल से अधिक होता है। यह अधिकता प्रत्यंगसीमाप्रान्त दोहरा नाप जाने से उत्पन्न होती है, वास्तविक नहीं है। यदि प्रत्यंगों के मान का ख्याल न रखकर केवल पुरुषायाम नापा जाय चौरासी अंगुल ही होगा—अत्र च प्रत्यवयवोत्सेधेन चतुरशीत्यंगुलादधिकं यच्छरीरं भवति तदवयवानामवयवान्तरदैर्घ्यानुप्रविष्टानां ग्रहणात्, तेन प्रत्यवयवदैर्घ्यमानेन न चतुरशीत्यंगुलं गणनीयं किन्तु समुदितमेव शरीरम्। (चक्रपाणिदत्त, चरकटीका)। अब प्रश्न यह उठता है कि जब चरक और सुश्रुत के पुरुषायाम में अभेद है तब सुश्रुत के एक सौ बीस अंगुल का क्या अर्थ है? इसके उत्तर में डल्हणाचार्य लिखते हैं कि पादाग्र पर खड़े हुए और ऊपर हाथ उठाये हुए पुरुष का पादाग्र से लेकर हस्ताग्र तक का यह आयाम है—विंशत्या अगुलैः सह शतं सविंशमङ्गुलशतं पुरुषायामः पादाग्रावस्थितस्योर्ध्वबाहोः पुरुषस्य दैर्घ्यम्॥ यह विरोधपरिहार यथार्थ है, क्योंकि पादाग्र पर खड़े होने से करीब दस अंगुल आयाम बढ़ सकता है और हाथ ऊपर उठाने से छब्बीस अंगुल के लगभग फिर बढ़ता है। इस तरह छत्तीस अंगुल चौरासी में मिलाने से पुरुष का आयाम एक सौ बीस अंगुल हो जाता है।

भवन्ति चात्र—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥१४॥

पुरुष (अपनी आयु की) पचीस वर्ष की अवस्था में और स्त्री सोलह वर्ष की अवस्था में परिपूर्ण वीर्य होते हैं, ऐसा कुशल वैद्य समझे॥१४॥

वक्तव्य—समत्वागतवीर्यौ—जिनका वीर्य यानि शक्ति या रसरक्तादि सप्तधातु समत्व को परिपूर्णता को प्राप्त हुए हैं। ऊपर दीर्घायु स्त्री पुरुष के अंग प्रत्यंग के जो प्रमाण दिये हैं, वे इस परिपूर्ण धातु की अवस्था को प्राप्त हुए लोगों के लिये लागू होते हैं। इसके पहले शरीर धातु अपरिपक्व होते हैं। स्त्री और पुरुष जब यौवनावस्था में पदक्षेप करते हैं तब स्त्रियों में आर्तव और स्त्रीबीज (Ova) और पुरुषों में वीर्य बनना आरंभ होता है। इसका साधारण काल स्त्रियों में बारह वर्ष का और पुरुषों में सोलह वर्ष का होता है। इस अवस्था में स्त्री और पुरुषों की बीजग्रंथियों में ऐसी वस्तु बनती है, जो रक्त के साथ शरीर के विविध अंग प्रत्यंगों में पहुँचकर उनको प्रबल और पुष्ट बनाती है। इस कार्य के लिये कुछ वर्षों का काल आवश्यक होता है। इसके पहले यदि सन्तानोत्पत्ति का कार्य किया जाय तो स्त्री और पुरुष दोनों अपरिपूर्ण धातु होने के कारण उनकी संतति निर्बल होती है और स्वयं उनके शरीर की वृद्धि भी कभी पूर्ण नहीं हो सकती है—Several years after puberty neither the male nor the female has arrived at sufficient maturity to produce healthy offspring. There is no doubt the first activity of the generative function should be exponded in energising the individual rather than in propagation of the species, *Esoteric Anthropology*. अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में जो अनुभव है, वह मनुष्यों के सम्बन्ध में भी है और इसी अनुभव के आधार पर आगे शरीर के १० वें अध्याय में लिखा है—ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥

देहः स्वैरङ्गुलैरेष यथावदनुकीर्तितः।
युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाऽङ्गना॥१५॥
दीर्घमायुरवाप्नोति वित्तं च महदृच्छति।
मध्यमं मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथाऽवरम्॥१६॥

अपने अपने अंगुलों से देह (को[illegible]) सम्पूर्णतया वर्णन किया गया है। जो पुरुष अथवा स्त्री शरीर के इस योग्य प्रमाण से युक्त होती है॥१५॥ वह दीर्घ आयु को और संपत्ति को (अथवा शरीर में संपत्ति को) प्राप्त होती है, मध्यम प्रमाणों से युक्त मध्यमायु और मध्यम राशि में धन को प्राप्त होती है और हीन प्रमाणों से युक्त अल्पायु और अल्पवित्त को प्राप्त होती है॥१६॥

वक्तव्य—चरक में सम, अधिक और हीन ये तीन शरीर के प्रमाण वर्णन किये हैं। सुश्रुत में जिसको युक्तप्रमाण कहा है, उसको चरक में समप्रमाण कहा है—तदायामविस्तारसमं सममुच्यते। तत्रायुर्बलमोजः सुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे। विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा॥ यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आजकल शरीर नापने के लिये जो 'इंच' (Inch) का नाप प्रयोग होता है, वह व्यक्ति निरपेक्ष है। इसलिये इंच की दृष्टि से जिनका शरीर समप्रमाण है, ऐसे व्यक्ति देखने में भी सम होते हैं। परंतु यहाँ वर्णन किया हुआ अंगुलि का नाप व्यक्तिसापेक्ष यानि प्रत्येक व्यक्ति में बदलने वाला होने के कारण जिनका शरीर समप्रमाण है ऐसे दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति

छोटा और नाटा तथा दूसरा मोटा और ऊँचा हो सकता है। पुरुष की पूर्ण ऊँचाई एक सौ बीस अंगुलि जो ऊपर वर्णन की है, वह पादाग्र से हाथ ऊपर उठाये हुए पुरुष की है। वैसी ऊँचाई केवल चौरासी अंगुल की होती है—केवलं पुनः शरीरमंगुलिपर्वाणि चतुरशीतिस्तदायामविस्तारसमं समुच्यते ॥ (चरक)।

अथ सारान् वक्ष्यामः—स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौर्यशौचोपेतं कल्याणाभिनिवेशं[1] सत्त्वसारं विद्यात्; स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण; अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञा; महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः; स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुं मेदसा; अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धिं मांसोपचितं च मांसेन; स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन; सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति । एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति ॥१७॥

(सार—) अब सार का वर्णन करते हैं । जो स्मृति, भक्ति, बुद्धि, शौर्य और पावित्र्य इन गुणों से युक्त तथा शुभ कामों में यत्नशील होता है, वह मनुष्य 'सत्त्वसार' समझना चाहिये । स्निग्ध, घन और श्वेत अस्थि दंत और नखयुक्त, प्रबल काम वासना युक्त और अधिक संतान युक्त मनुष्य 'शुक्रसार' का होता है । कृशतारहित, उत्तम बल युक्त, स्निग्ध और गंभीर स्वर युक्त, सौभाग्ययुक्त और महानेत्र मनुष्य 'मज्जसार' का होता है । जिसका शिर और कंधा बढ़ा है, जिसके दाँत, हनु, अस्थि और नाखून मजबूत हैं, ऐसा मनुष्य 'अस्थिसार' का होता है । जिसके मूत्र, स्वेद और स्वर में स्निग्धता होती है, शरीर बड़ा होता है और परिश्रम सहने का सामर्थ्य नहीं है, वह मनुष्य 'मेदसार' का है । जिसके शरीर पर कहीं भी निम्नता नहीं होती, जिसके अस्थि और संधि (मांस से) पूर्णतया गूढ़ होते हैं, तथा जिसका शरीर मांसल होता है, वह मनुष्य 'मांससार' का होता है । जिसके नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, होंठ, हथेली और पाँव के तलुवे स्निग्ध ताम्रवर्ण होते हैं, वह 'रक्तसार' का मनुष्य होता है । जिसकी त्वचा और रोम सुप्रसन्न और कोमल होते हैं, वह मनुष्य 'त्वक्सार' का समझना चाहिये । इनमें से पहले पहले सार आयु और सौभाग्य की दृष्टि से प्रधान होते हैं ॥१७॥

वक्तव्य—सार—'विशुद्धतरो धातुरुच्यते'। (चक्रपाणि)। सत्त्वसार—सत्त्वगुणविशिष्ट मनुष्य । सत्त्वमुच्यते मनः, तत् त्रिविधंबलभेदेन प्रवरं मध्यममवरं चेति । तत्र प्रवरसत्त्वास्ते सारेषूपदिष्टाः । ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा दृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात् । (चरक)। पूर्वं पूर्वं प्रधानम्—इनमें त्वक्सार से रक्तसार, रक्तसार से मांससार, मांससार से मेदसार, मेदसार से अस्थिसार, अस्थिसार से मज्जासार, मज्जासार से शुक्रसार और शुक्रसार से सत्त्वसार मनुष्य आयु सौभाग्य की दृष्टि से अधिकाधिक प्रशस्त समझना चाहिये । जो सर्वसारों से युक्त होते हैं, वे निम्न गुणों से परिपूर्ण होते हैं—तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः परमगौरवयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः...मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च प्रायो भवन्ति ॥ (चरक)।

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः ।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु ॥१८॥

विशेष करके अंगप्रत्यंग के प्रमाण से तथा (धात्वादिक के) सार से आयु की परीक्षा करके कुशल वैद्य चिकित्सा में सिद्धि प्राप्त करता है ॥१८॥

वक्तव्य—विशेषतः—दूत, पथि चौत्पादिक, छाया शरीर स्वभावविप्रतिपत्ति इत्यादि रिष्टाधिकार में वर्णन किये हुए लक्षणों के अनुसार आयुर्मर्यादा की सामान्य परीक्षा होती है । विशेष परीक्षा अंग प्रत्यंग प्रमाण और सार से होती है। चरकसंहिता में सार परीक्षा का महत्त्व बल विज्ञान के लिये भी वर्णन किया है—साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते । दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः । तत्र पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धिरतश्च सारतः परीक्षेत ॥

व्याधिविशेषास्तु प्रागभिहिताः; सर्व एवैते त्रिविधाः—साध्या, याप्याः, प्रत्याख्येयाश्च । तत्रैतान् भूयस्त्रिधा परीक्षेत—किमसावौपसर्गिकः, प्राक्केवलोऽन्यलक्षण इति ॥१९॥

(व्याधि के तीन प्रकार—) व्याधियों के विशेष पहले ही (अध्याय १, सूत्र २३) वर्णन हो चुके हैं । ये सर्व विशेष तीन (में से एक) प्रकार के होते हैं—१ साध्य, २ याप्य, और ३ असाध्य । इन व्याधियों को फिर आतुरोपक्रमण के समय (तत्र) तीन प्रकार से परीक्षा करे कि यह व्याधि (१) औपसर्गिक है, या (२) प्राक्केवल है, या (३) अन्य लक्षण है ॥१९॥

वक्तव्य—विशेष—भेद । यथा शारीरादिक चतुर्विध और आदिबलप्रवृत्तादिसप्तविध । साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय—इनका निर्देश तथा याप्य व्याधि का लक्षण कृत्याकृत्यविधि नामक तेईसवें अध्याय में वर्णन हो चुका है । साध्य और प्रत्याख्येय का लक्षण चरकसंहिता में ऐसा दिया है—हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च । न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥ न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः । गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च ॥ दौषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः । चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥ सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ॥ प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम् ॥ क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् । औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिंद्रियनाशनम् । दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च ॥ परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥

तत्र, औपसर्गिको यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूलमूलक एवोपद्रवसंज्ञः; प्राक्केवलो यः प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च; अन्यलक्षणो यो भविष्यद्व्याधिख्यापकः, स पूर्वरूपसंज्ञः ॥२०॥

---

[1] ०निवेशिनं.

१ तन्मूल.

(तीनों के लक्षण—) उनमें जो पहले उत्पन्न हुई व्याधि के उत्तर काल में उत्पन्न होता है, उसी व्याधि के साथ मिलता है, तथा पहले व्याधि के मूल में ही जिसका मूल है, वह औपसर्गिक या उपद्रव संज्ञक व्याधि है। प्राक्केवल व्याधि वह है, जो पहले ही उत्पन्न होकर पूर्वरूप संज्ञक व्याधि नहीं है, तथा उपद्रव संज्ञक व्याधि नहीं है। अन्य लक्षण व्याधि वह है, जो भविष्य में होने वाली व्याधि की सूचना देता है। वही पूर्वरूप भी कहलाता है ॥२०॥

वक्तव्य—औपसर्गिक—इस प्रकार के व्याधि को 'अनुबंध' 'अप्रधान' या 'परतन्त्र' भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको सेकण्डरी (Secondary) कहते हैं। चरक में इसका लक्षण ऐसा दिया है—उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः॥ तन्मूलमूलकः—पूर्वोत्पन्न व्याधि के जो असात्म्येन्द्रियार्थादि बाह्य कारण तथा वातादि आभ्यंतर कारण, उन कारणों से ही उत्पन्न हुआ। उपद्रव की व्याख्या कई स्थानों में इस अर्थ की दृष्टि से की गई है—'रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यो रोग उपद्रवः'। रोगारम्भकदोषस्य प्रकोपादुपजायते। योऽन्यो विकारः स बुधैरुपद्रव इहोदितः॥ (भावप्रकाश)। चक्रपाणिदत्त भी उपरोक्त चरकसंहिता के 'रोगाश्रय' शब्द की टीका में लिखते हैं—रोगोत्पादकदोषप्रकोपजन्यतया रोगेण समतुल्यकारणः॥ 'तन्मूल' ऐसा भी पाठ है। यह पाठ व्यावहारिक दृष्टि से योग्य है और इसी दृष्टि से चरकसंहिता के निदानस्थान में लिखा है—निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते। कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति। न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुतेऽपि च॥ परंतु वहाँ भी चक्रपाणिदत्त अपनी टीका में लिखते हैं—रोगजन्येऽपि रोगे मूलभूतासात्म्येन्द्रियार्थादिकारणत्रयमेव कारणं भवतीति। न च चतुर्थकारणापत्तिरिति प्रसंगो वाच्यः॥ प्राक्केवलः—इसी को 'प्रधान', 'स्वतन्त्र', 'अनुबन्ध्य' ऐसा भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको 'प्रायमरी' (Primary) कहते हैं। अपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च—इसका अर्थ 'पूर्वरूप और उपद्रव रहित तिलकालकन्यच्छादिक व्याधि' ऐसा किया गया है, परंतु वह योग्य नहीं है। क्योंकि इससे उपद्रव और पूर्वरूप युक्त अनेक व्याधियों का समावेश यहां निर्दिष्ट किये हुए किसी भी वर्ग में नहीं होता। इसके सिवाय प्राक्केवल व्याधियों से ही उपद्रव रोग उत्पन्न होते हैं, ऐसा चरक में स्पष्ट लिखा है—ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः॥ इसलिये शास्त्र और व्यवहार इनका विरोध न रखते हुए इस शब्दसमूह का अर्थ निम्न प्रकार से करना अधिक सयुक्तिक है। जो जन्म से ही (प्रागेव) अपूर्वरूप (पूर्वरूपेतर, जो पूर्वरूप वर्ग का व्याधि नहीं है, ऐसा) और अनुपद्रव (उपद्रवेतर, जो उपद्रव वर्ग का व्याधि नहीं है) ऐसा व्याधि प्राक्केवल होता है। अन्यलक्षण—शरीर के भीतर रोग पूर्ण प्रगल्भ होने के पहले उसकी उत्पत्ति सूचक लक्षण युक्त रोग। इसको अंग्रेजी में 'प्रोड्रोम' या 'प्रीमानिटरी स्टेज' (Prodrome or Premonitary Stage) कहते हैं। यह वास्तव में रोग न होकर रोग की पूर्वावस्था है। पाश्चात्त्य वैद्यक में व्याधि के केवल दो ही भेद किये जाते हैं—(१) प्राक्केवल और (२) औपसर्गिक। यहां यद्यपि अन्यलक्षण व्याधि का तीसरा भेद कहा गया है तथापि साधारणतया आयुर्वेद में भी अन्यलक्षण व्याधि का महत्त्व पूर्वरूप से अधिक नहीं होता।

तत्र, सोपद्रवमन्योन्याविरोधेनोपक्रमेत, बलवन्तमुपद्रवं वा; प्राक्केवलं यथास्वं प्रतिकुर्वीत; अन्यलक्षणे त्वादिव्याधौ प्रयतेत ॥२१॥

(तीनों की चिकित्सा विधि—) उनमें उपद्रवयुक्त व्याधि की चिकित्सा दोनों का (मूल व्याधि और उपद्रव) विरोध जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार से करनी चाहिये। अथवा बलवान् उपद्रव की चिकित्सा (प्रथम) करनी चाहिये। प्राक्केवल व्याधि में उसी की विशेष चिकित्सा करे। अन्यलक्षण व्याधि में व्याधि की प्रथमावस्था की चिकित्सा करे ॥२१॥

वक्तव्य—अन्योन्याविरोधेन—उपद्रवयुक्त व्याधि की चिकित्सा उपद्रव के बलाबल के अनुसार की जाती है। परंतु चिकित्सा में कदापि भी उपक्रम विरोध नहीं होना चाहिये। यदि उपद्रव दुर्बल हो तो मुख्यतया चिकित्सा मूल व्याधि की उपद्रव से विरोध न करते हुए करनी चाहिये। इसी दृष्टि से चरक में लिखा है—तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। परंतु जब उपद्रव बलवान् होता है और दुर्बल शरीर को बहुत पीड़ा देता है तब मुख्यतया और प्रथम उसी की चिकित्सा मूल रोग से विरोध न करते हुए करनी चाहिये। त्वरितं वा बलवन्तमुपद्रवं प्रधानाविरोधेन। (अष्टांगसंग्रह)। कभी कभी प्रधान रोग का उपशम होने पर भी उपद्रव शांत नहीं होता, तब पश्चात् उपद्रव की ही स्वतंत्र चिकित्सा करनी चाहिये—तेषामनुपशाम्यतो वा पश्चात्तानुपक्रमेत्। (अष्टांगसंग्रह)। आदिव्याधिः—व्याधेरादिः प्रथमावस्था इति आदिव्याधिः। व्याधि की प्रथमावस्था। इस अवस्था में भविष्यद् व्याधि के अनुसार चिकित्सा करने से रोगी को आराम मिलता है या रोग रुक जाता है—ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान्। पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम्॥ विधिर्मारुतजेष्वेषु पैत्तिकेषु विरेचनम्। मृदु प्रच्छर्दनं तद्वत् कफजेषु विधीयते। (सुश्रुत)। पूर्वरूपं विकाराणां प्रादुर्भविष्यताम्। या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम्॥ (चरक)। पाश्चात्त्य वैद्यक में भी प्रधान, अप्रधान और पूर्वरूप इन रोगों की चिकित्सा करने की यही पद्धति होती है।

भवति चात्र—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥२२॥

(अनुक्त रोग चिकित्सा—) चूँकि दोषों के विना रोग नहीं होता। इसलिये अज्ञात रोग की चिकित्सा दोषों के लक्षणों के अनुसार चतुर वैद्य करे ॥२२॥

वक्तव्य—अनुक्त—रोग अज्ञात दो प्रकार से हो सकता है—(१) ज्ञात रोग जिसका निदान (Diagnosis) हुआ नहीं। ऐसे उदाहरण व्यवहार में बहुत हुआ करते हैं। (२) वैद्यक में अनिर्दिष्ट नामधेय व्याधि या बिलकुल नई व्याधि, जिसका जिक्र कहीं भी मिलता नहीं। ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े होते हैं। परंतु इस प्रकार की संभावना की कल्पना प्राचीन आयुर्वेद के ग्रंथों में स्पष्ट वर्णन की है। त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः

विकारनामाकुशलो न जिह्नीयात् कदाचन । न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥ (चरक)। वास्तव में रोगों के नाम व्यवहार प्रयोजन के लिये जितने उपयोगी होते हैं, उतने चिकित्सा प्रयोजन के लिये नहीं होते। चिकित्सा में दोष-विज्ञान या 'प्रकृति विकारज्ञान' (Pathology) उपयोगी होता है। उसके अनुसार चिकित्सा करने से रोग में अज्ञात होते हुए भी सफलता मिल सकती है। पाश्चात्त्य वैद्यक में भी जब तक रोग का निदान नहीं होता है, तब तक आवस्थिकी या लाक्षणिक चिकित्सा (Symptomatic treatment) ही की जाती है।

प्रागभिहिता ऋतवः ॥२३॥

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्।
कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥२४॥
अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न कृता क्रिया।
क्रिया हीनाऽतिरिक्ता वा साध्येष्वपि न सिध्यति ॥२५॥
या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥२६॥

(ऋतु के अनुसार चिकित्सा—) ऋतुओं का वर्णन पहले (ऋतुचर्याध्याय में शीतोष्णादि की दृष्टि से) कर चुके हैं ॥२३॥ (उसके अनुसार) शीतकाल में शीत का प्रतिकार और उष्ण काल में उष्ण का निवारण करके प्राप्त क्रिया करनी चाहिये और योग्य क्रिया काल का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥२४॥ क्रिया करने के योग्य समय के पहले की हुई क्रिया, समय के पश्चात् की हुई क्रिया, (आवश्यकता से) हीन या अतिरिक्त क्रिया (और मिथ्या क्रिया) साध्य रोगों में भी दृष्टफल नहीं होती ॥२५॥ (यथार्थ) क्रिया वही है, जो बढ़े हुए दोष को शांत करे और अन्य (नये) व्याधि को उत्पन्न न करे। किन्तु जो एक व्याधि को दूर करती हुई अन्य व्याधि को उत्पन्न करे, वह यथार्थ क्रिया (चिकित्सा) नहीं है ॥२६॥

वक्तव्य—छः ऋतुओं में प्रावृट्, शरद् और वसन्त साधारण ऋतु होते हैं। इनमें वमनविरेचनादि तथा अग्नि-क्षारादि क्रिया करना श्रेयस्कर होता है। बाकी ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर ऋतुओं में उष्णता, वर्षा और शीत अधिक होने के कारण इन क्रियाओं से रोगी को दुःख होता है। इसलिये यह क्रियाएँ प्रायः वर्ज्य होती हैं। परन्तु आत्ययिक और कर्म-साध्य रोगों के लिये जब इन क्रियाओं को ग्रीष्मादि ऋतुओं में भी करना पड़ता है तब आच्छादन भोजन प्रदेहादि यथर्तु-विपरीत विधान करके योग्य समय पर इनको करना ही चाहिए। इस विषय पर चरक में लिखा है—अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः। तदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणास्त्रयः ॥ साधारणलक्षणा हि मन्दशीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्ति शरीरौषधानाम्। इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद्दुःखतमाश्च भवन्ति शरीरौषधानाम्। आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः। कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिवर्तयति ॥ क्रियां प्राप्तां—रोगी की अवस्था के अनुसार उचितकर्म। क्रियाकाल—उस उचित कर्म के लिये उचित काल—आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। तद्यथा। अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः. कालः पुनरन्यस्येति। एतदपि भवति अवस्थाविशेषेण ॥ (चरक)। श्लोक २५ में योग्यकाल के अतिरिक्त की हुई क्रिया तथा न्यूनाधिक क्रिया व्यर्थ होती है, यह बतलाया है—नह्यतिपातितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति। (चरक)। अप्राप्ते काले—इसके उदाहरण—(१) भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्। (२) नतु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे। विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥ (३) आमच्छेदे मांससिरास्नायुसन्धिव्यापादनमतिमात्रशोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावो भवति ॥ प्राप्ते वा न क्रिया कृता—इसका उदाहरण—यदा पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा द्वारमलभमानः पूयः स्वाश्रयमवदार्योत्संगं महान्तमवकाशं नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवति ॥ हीनाऽतिरिक्ता—रोगी के दोषबल प्रमाण की दृष्टि से अल्पबल या अधिक बल क्रिया—सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पबलमातुरमभिघातयेत्। तथा बलवति बलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति ॥ (चरक)। श्लोक २६ में योग्य और अयोग्य क्रिया की व्याख्या वर्णन की है। वाग्भट में भी लिखा है—प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्। नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति—दोषानभिपन्न एकः; विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति—विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति ॥२७॥

(जठराग्नि के प्रकार—) पहले (व्रणप्रश्न नामक २१ वें अध्याय में) वर्णन किया गया है कि (पाचक) अग्नि अन्न का पकाने वाला है। वह (दोषों के अनुसार) चार प्रकार का होता है दोषरहित (दोषानभिपन्न) एक और विकार युक्त तीन प्रकार का होता है। वायु से विषम, पित्त से तीक्ष्ण, कफ से मन्द और सर्व दोषों की समानता से सम (दोषानभिपन्न) होता है ॥२७॥

तत्र, यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः; यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा, स विषमः; यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते, स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसन्तापाञ्जनयति; यस्त्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः ॥२८॥

(उनके लक्षण—) उनमें जो योग्य समय पर सेवन किये हुए अन्न को अच्छे प्रकार पचावे वह 'सम' अग्नि है, और वह दोषों के साम्य से होती है। जो कभी कभी अन्न का ठीक पाचन कर देती है, और कभी कभी अफारा, पेट में शूल, मलावरोध, अतिसार, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़-

गुड़ाहट, कुन्थन इत्यादि विकार उत्पन्न करके अन्न का परिपाक कर देती है, वह विषम अग्नि है । जो मात्रा से अधिक सेवन किये हुए अन्न को शीघ्र पचाती है, वह तीक्ष्ण अग्नि है । वही अधिक बढ़ जाने से 'अत्यग्नि' कहलाती है । वह बारबार अधिक मात्रा में सेवन किये हुए अन्न को भी अत्यंत शीघ्रता से पचाती है, और पाककार्य हो जाने के पश्चात् गला, तालु, होंठ इनमें शुष्कता, दाह और संताप उत्पन्न करती है । जो यथाविधि सेवन किये हुए अल्प भोजन को भी पेट और शिर में भारीपन, खाँसी, श्वास, हल्लास, वमन और अंगों में थकान इत्यादि विकार उत्पन्न करके बहुत देर में पचाती है, वह मन्द अग्नि होती है ॥२८॥

वक्तव्य—आन्त्रकूजन—आन्त्र में वायु संचित होने के कारण पेट में गुड़गुड़ शब्द होना (Borborygmus) । आशु—साधारण समय से थोड़े समय में । अष्टांगसंग्रह में तीक्ष्णादि अग्नि से अन्न पचन के काल ऐसे दिये हैं—यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च भोज्यभैषज्ययोः समे । पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्राक् च तीक्ष्णे मन्दे पुनश्चिरात् । आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी प्राकृतिक अवस्था में अन्न पचन के लिये तीन से चार याम का ही समय प्रमाणित हुआ है । अत्यग्नि—इसी को हो 'भस्मकाग्नि' तन्त्रान्तर में कहते हैं—वर्धमानो भवेत्तीक्ष्णो भस्मकाख्यो महानलः । (वृन्दमाधव) । भुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्तस्मादयं भस्मकसंज्ञकोऽभूत् ॥ (योगरत्नाकर) । अभिवर्धमानः—तीक्ष्णाग्नियुक्त मनुष्य जब कटुतिक्तकषाय रसों का तथा रूक्ष पदार्थों का सेवन करता है तब अग्नि निरोधक कफ क्षीण हो जाता है और योगवाही अग्निपोषक वायु (दाहकृत्तेजसा युक्तः) वर्धित होती है । इससे तीक्ष्णाग्नि का परिवर्तन भस्मकाग्नि में होता है—कट्वादिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ । अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निः क्षणाद्रसं शोषयति प्रसह्य ॥ (योगरत्नाकर) । नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् । स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥ तथालब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः । परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥ (चरक) । पाकान्ते इत्यादि—अन्न का पचन होने के पश्चात् वह अग्नि धातुओं का पचन करने लगता है, जिससे गलतालुशोषदाहादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः । धातून् क्षीणेषु दोषेषु न जीवेद्धातुसंक्षये ॥ (शिवदास) । पक्त्वान्नं सततं धातूञ्शोणितादीन् पचत्यपि । (चरक) । भस्मक रोग एक प्रकार की वातविकृति (Neurosis) के कारण हो सकता है । भस्मक रोग को बुलीमिआ (Bulimia) या पॉलीफेगिआ (Polyphagia) कहते हैं । भस्मकाग्नि आमाशयिक रस की अधिकता (Hyperchlorhydria), मधुमेह और हिस्टीरिआ तथा क्वचित् आन्त्रस्थ कृमि इनके कारण होते हैं ।

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् ।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२९॥

(जठराग्नि भेद जन्य विकार—) विषमाग्नि वातजन्य रोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तजन्य रोगों को, और मन्दाग्नि कफजन्य रोगों को उत्पन्न करती है ॥२९॥

तत्र, समे परिरक्षणं कुर्वीत; विषमे स्निग्धाम्ललवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वीत; तीक्ष्णे मधुरस्निग्धशीतैर्विरेकैश्च; एवमेवात्यग्नौ, विशेषेण माहिषैश्च क्षीरदधिसर्पिर्भिः; मन्दे कटुतिक्तकषायैर्वमनैश्च ॥३०॥

इनमें से सम अग्नि की रक्षा करनी चाहिये । विषम अग्नि हो तो स्निग्ध (द्रव्यों) से, अम्ल, लवण (रसों से) तथा (वातनाशक अन्य आहार विहारादि) क्रियाविशेषों से उसका प्रतिकार करे । अग्नि तीक्ष्ण हो तो मधुर, स्निग्ध, शीत (खाद्यपेयों से) तथा विरेचन से उसका प्रतिकार करे । इसी प्रकार विशेष करके भैंस के दूध, दही और घृत से अत्यग्नि का प्रतिकार करे मन्द अग्नि में कटु, तिक्त और कषाय द्रव्यों से तथा वमन से प्रतिकार करे ॥३०॥

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।
सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥३१॥

अन्न का परिपाक करने वाला, रसों का ग्रहण करने वाला, महावीर्यवान्, शरीर का मालिक जो जठराग्नि उसका विशेष विवेचन करना, सूक्ष्म होने के कारण असंभव है ॥३१॥

वक्तव्य—ईश्वरः—आयुरादिक प्रदान करने के कारण शरीर का जो ईश होता है—आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा । ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥ शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः । रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ (चरक) ।

प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः ।
ध्मायते पाच्यते चापि स्वे[1] स्वे स्थाने व्यवस्थितैः ॥३२॥

अपने अपने स्थानों में व्यवस्थित (प्रकृतिस्थ) प्राण, अपान और समान वायुओं से यह जठराग्नि प्रज्वलित होती है, तथा उसका परिपालन होता है ॥३२॥

वक्तव्य—जठराग्नि यद्यपि शरीर का ईश्वर है, तथापि अपना ईश्वर नहीं है । वह प्राण, अपान और व्यान वायु के अधीन होती है । प्राणवायु अन्न का ग्रहण करके, अपानवायु मलमूत्रादिक का उत्सर्ग योग्यकाल पर करके और समानवायु साथ करके जठराग्नि का परिपालन और प्रज्वलन करती है । अर्थात् इनमें विकृति उत्पन्न होने से जठराग्नि में भी विकृति उत्पन्न हो जाती है । आधुनिक शरीरकार्य विज्ञान (Physiology) की दृष्टि से जठराग्नि के कार्य को समस्त शरीर का पचन व्यापार (Mechanism of digestion) कह सकते हैं । यह पचन का व्यापार अधिकांश वात के अधीन (Nervous control) है, यह भी सिद्ध हुआ है । वातसंस्थान की विकृति के कारण पचन व्यापार में भी कई बिगाड़ (Neurosis) उत्पन्न होते हैं ।

वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति । तत्रोनषोडशवर्षा बालाः । तेऽपि त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादा, अन्नादा इति । तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति ॥३३॥

---

[1] स्वां स्वां गतिमवस्थितैः.

(वय—) वयोवस्था तीन प्रकार की होती है—१ बाल्यावस्था, २ मध्यमावस्था, और ३ वृद्धावस्था। उनमें षोडश वर्ष तक बाल हैं। वे भी तीन प्रकार के होते हैं—१ दूध पीने वाले, २ दूध और अन्न सेवन करने वाले, और ३ अन्न सेवन करने वाले। इनमें एक वर्ष की अवस्था तक दूध पीने वाले, दो वर्ष की अवस्था तक (दूसरे और तीसरे वर्ष में) दूध और अन्न दोनों का आहार करने वाले, और इससे उपरान्त अन्न खाने वाले ॥३३॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में वय की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। यहाँ वय के तीन विभागों की जो वर्षमर्यादा वर्णन की है, वह स्थूलरूप से ही समझनी चाहिये। क्योंकि कई कारणों से उपर्युक्त वर्षमर्यादा में परिवर्तन होता है। अतः व्यवहार की दृष्टि से वर्षमर्यादा की अपेक्षा इनके विशिष्ट लक्षणों के अनुसार ही बाल्यादिक अवस्थाओं की निश्चिति करना अधिक योग्य होता है—तद्वयो यथास्थूलेन त्रिविधम्। अस्मिन् काले पुनरधिकोनवर्षशतजीविनो मनुष्याः। तेषां विकृतिवर्जैः प्रकृत्यादिवलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्॥ (चरक)। बाल्यम्—चरकसंहिता में बाल्यावस्था की वर्षमर्यादा तीस वर्ष की बतलाई है और उसके दो विभाग किये हैं—सोलह वर्ष की अवस्था तक अपरिपक्व धातु का काल—तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलम् श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं, विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम्॥ क्षीरपाः इत्यादि—यहाँ दूध और अन्न सेवन की दृष्टि से बाल्यावस्था के जो तीन विभाग किये हैं, उसमें बालक-पोषण के संबंध में बड़ा भारी तत्त्व है। अन्न से यहाँ उस प्रकार का अन्न अभिप्रेत है, जिसको चर्वण करने की आवश्यकता होती है। चर्वण के लिये दाँतों की जरूरत होती है। पहले वर्ष के शिशु के केवल छः दाँत होते हैं, जो काटने के काम में आने वाले (कर्त्तनक-Meisor) होते हैं। इसलिये पहले वर्ष में शिशु का आहार अधिकांश माता और गौ के दूध का ही होना चाहिये। इसके सिवाय अन्नप्राशनविधि के पश्चात् दाँत निकलना आरंभ होने के पश्चात् जो प्रायः ६-७ महीने की आयु से प्रारंभ होते हैं—शिशु को चूष्य, पेय, लेह्य, खाद्य द्रव्य थोड़ी मात्रा में दे सकते हैं। परंतु इन द्रव्यों की राशि अत्यल्प होनी चाहिये और इस दृष्टि से पहले वर्ष के बालक को क्षीरप कहा है—व्यपदेशस्तु भूयसा। पहले वर्ष में भक्ष्यभोज्यादि खाद्य द्रव्य, जिनके लिये चर्वण की आवश्यकता है, बालक को देना स्वास्थ्यविघातकर है। क्योंकि बालक इन द्रव्यों को वैसा ही निगल लेता है। द्वितीय और तृतीय वर्ष में शिशु के बाकी सब दाँत निकल आते हैं। इसलिये इस दो वर्ष की अवस्था में धीरे धीरे अन्न की मात्रा तथा भक्ष्यभोज्यादि प्रकार बढ़ाकर तीसरे वर्ष के अन्त से उसको पूर्ण अन्नाहारी बना सकते हैं। परंतु अन्नप्रदान के साथ साथ उसको अन्न अच्छी तरह से चबा चबा कर खाने के सम्बन्ध में बार बार उपदेश करते रहना चाहिये। द्विसंवत्सरपराः—शिशु के दूसरे और तीसरे वर्ष की अवधि तक। परतः—चौथे वर्ष के प्रारंभ से। ये दूध और अन्न सेवन के काल स्थूलरूप से दिये हैं। इसमें थोड़ा फर्क हो सकता है। राबर्ट हचीसन लिखते हैं--'दसवें महीने के पश्चात् शिशु को दूध के अतिरिक्त रोटी वगैरह का कुछ भाग चबाने के लिये देना चाहिए और तीसरा वर्ष खतम होने के पश्चात् उसको युवा मनुष्य की तरह सर्व प्रकार का अन्न देना चाहिये'। From about the tenth month onwards something to chew should be given occasinally, such as a rusk or a crust or a piece of sponge cake or stale bread and butter. After the third year a child should be fed much like a grown up person. *Lectures on diseases of children* ॥ इससे यह स्पष्ट है कि सुश्रुत का मत आधुनिक मत के साथ बिलकुल मिलता है।

षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता हानिरिति। तत्र, आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसंपूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति[1] ॥३४॥

(मध्यमायु—) सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर सत्तर वर्ष की अवस्थापर्यन्त मध्य वय होता है। उसके वृद्धि, यौवन, संपूर्णता और हानि ये भेद हैं। इनमें बीस वर्ष की अवस्था तक (शरीर के अंग प्रत्यंगों की) वृद्धि, तीस वर्ष की अवस्था तक यौवन, चालीस वर्ष की अवस्था तक सर्व धातु इन्द्रिय, बल और वीर्य इनकी संपूर्णता और इसके उपरान्त सत्तर वर्ष की आयु तक थोड़ी थोड़ी हानि (क्षति) होने लगती है ॥३४॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में मध्यमवय साठ वर्ष की अवस्था तक लिखा है—मध्यं पुनः पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्। वृद्धिः—शरीर की वृद्धि चरक में तीस वर्ष की अवस्था तक लिखी है—विवर्धमानधातुगुणमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम्। आधुनिक कल्पना के अनुसार शरीर की वृद्धि पच्चीस वर्ष अवस्था तक होती रहती है। यहां वृद्धि का विशेष सम्बन्ध अस्थियों के साथ है। मांसादि अन्य धातुओं की वृद्धि पच्चीसवें साल के बाद भी हो सकती है।

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ॥३५॥

(वृद्धावस्था—) सत्तर वर्ष के उपरान्त जिसके सब धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य और उत्साह दिन दिन क्षीण हो रहा है, (त्वचा में झुर्रियाँ पड़ रही हैं, बाल सफेद या नष्ट हो रहे हैं, खाँसी, श्वास आदि उपद्रवों से जो पीड़ित है, सब कार्यों में असमर्थ हो रहा है और मेघ बरसने पर पुराने मकान की भाँति जो गिर रहा है, ऐसे मनुष्य को वृद्ध कहते हैं ॥३५॥

वक्तव्य—चरक में वृद्धावस्था की मर्यादा साठ से सौ वर्ष तक लिखी है—अतः परं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते वर्षशतान्तम्। (चरक)। भारतीय शास्त्रज्ञों के मतानुसार

---

[1] पुष्टिः

कलियुग में आयुष्य की अधिकाधिक मर्यादा एक सौ बीस वर्ष की होती है—समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पंच च निशा । फ्लोरेन्स आदि आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भी मनुष्य की आयु एक सौ पच्चीस वर्ष की होती है । परन्तु इससे अधिक आयुष्मान् लोगों के कई उदाहरण प्राचीन और अर्वाचीन काल में मिलते हैं ।

तत्रोत्तरोत्तरासु वयोवस्थासूत्तरोत्तरा भेषजमात्राविशेषा भवन्ति, ऋते च परिहाणेः; तत्राद्यापेक्षया प्रतिकुर्वीत ॥३६॥

(वय के अनुसार ओषधिमात्रा—) वृद्धावस्था के अतिरिक्त उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वयोवस्थाओं में औषधप्रमाणविशेष भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है । वृद्धावस्था में बाल्यावस्थोपयोगी भेषजमात्रा से (रोगों का) प्रतिकार करना चाहिये ॥३६॥

वक्तव्य—उत्तरोत्तरा भेषजमात्रा—क्रम से बढ़ाया हुआ औषधों का प्रमाण । यह क्रमवृद्धि निम्न प्रकार से होती है—बालस्य प्रथमे मासि देया भेषजरक्तिका । अवलेहीकृतैकैव क्षीरक्षौद्रसिताघृतैः ॥ वर्धयेत्तावदेकैकां यावद्भवति वत्सरः । माषैर्वृद्धिस्तदूर्ध्वं स्याद्यावत्षोडशवत्सरः ॥ ततः स्थिरा भवेत्तावद्यावद्वर्षाणि सप्ततिः ॥ (शार्ङ्गधर) । विडंगफलमात्रं तु जातमात्रस्य भेषजम् । एतेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्धितम् ॥ कोलास्थिमात्रं क्षीरादेः दद्याद्भिषज्यकोविदः । क्षीरान्नादे कोलमात्रमन्नादे डुम्बरोपमम् ॥ (विश्वामित्र) । आद्यापेक्षया—आद्य जो बाल्यावस्था, उसकी दृष्टि से । सत्तर वर्ष के पश्चात् शनैः शनैः ओषधि प्रमाण कम करना चाहिये—ततो बालकवन्मात्रा ह्रासनीया शनैःशनैः । (शार्ङ्गधर) । बाल्य और वृद्ध अवस्थाओं का कई बातों में साम्य होता है । इसलिये लिखा है 'आद्यापेक्षया' । अँग्रेजी में भी कहते हैं कि Old age is second childhood । पाश्चात्त्यवैद्यक में बीस वर्ष से साठ वर्ष की आयु के लिये जो मात्रा होती है, उसे पूर्णमात्रा (Adult dose) कहते हैं । एक वर्ष से बारह वर्ष तक यंग या कौलिंग के नियमानुसार मात्रा का प्रमाण होता है । यंग (Young's rule) का नियम—रोगी की आयु में बारह मिलाकर उससे आयु को भाग देने पर जो फल मिलेगा, उतना पूर्ण मात्रा का अंश रोगी को देना चाहिये । जैसे—

१ वर्ष के बालक के लिये $\frac{१}{१+१२}=\frac{१}{१३}$ पूर्ण मात्रा का अंश

४ ,, ,, $\frac{४}{४+१२}=\frac{१}{४}$,, ,,

८ ,, ,, $\frac{८}{८+१२}=\frac{२}{५}$,, ,,

कौलिंग का नियम (Cowling's rule)—रोगी की आयु में एक मिलाकर उस संख्या को चौबीस से भाग देकर जो फल मिलेगा, उतना पूर्ण मात्रा का अंश रोगी को देना चाहिये ।

यथा-१ वर्ष के बाल के लिये $\frac{१+१}{२४}=\frac{१}{१२}$ पूर्ण मात्रा का अंश

४ ,, ,, $\frac{४+१}{२४}=\frac{५}{२४}$,, ,,

७ ,, ,, $\frac{७+१}{२४}=\frac{१}{३}$,, ,,

बारह से सोलह वर्ष तक $\frac{१}{२}$ से $\frac{२}{३}$ और सोलह से बीस वर्ष तक $\frac{२}{३}$ से $\frac{४}{५}$ तक पूर्णमात्रा का अंश दिया जाता है । आयुर्वैदिक ओषधियों के लिये भी इस उपर्युक्त नियम का उपयोग करना उचित है, क्योंकि माष वृद्धि का नियम सर्वत्र लागू नहीं हो सकता ।

भवन्ति चात्र—

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु ।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥३७॥
अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत् ।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् क्रियां शनैः ॥३८॥

बाल्यावस्था में कफ बढ़ता है, मध्यमावस्था में पित्त बढ़ता है और वृद्धावस्था में वायु बढ़ती है । इसलिए इसको देखकर औषधादि की योजना करनी चाहिये ॥३७॥ अग्निकर्म, क्षारकर्म तथा विरेचनकर्म तो बालक और वृद्धों को नहीं कराने चाहिये । यदि अग्नि, क्षार और विरेचन से ही रोग साध्य हो तो मृदु (ओषधियों द्वारा) क्रिया करनी चाहिये ॥३८॥

वक्तव्य—मृद्वीं क्रियाम्—अजाशकृदादि मृदु द्रव्य संश्रय अग्नि, मृदु क्षार तथा चतुरंगुलादि मृदु विरेचन से की हुई क्रिया ।

देहः स्थूलः, कृशो, मध्य, इति प्रागुपदिष्टः ॥३९॥
कर्शयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ ।
रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥४०॥

देह स्थूल, कृश और मध्य (तीन प्रकार का) पहले (दोषधातु मल क्षय वृद्धि विज्ञानीय नामक पन्द्रहवें अध्याय में) वर्णन हो चुका है ॥३९॥ उसमें वैद्य स्थूलशरीर मनुष्य का सदा कर्शन करे, कृशशरीर मनुष्य का सदा बृंहण करे और मध्यमशरीर मनुष्य की सदा रक्षा करे ॥४०॥

बलमभिहितगुणं; दौर्बल्यं च स्वभावदोषजरादिभिरवेक्षितव्यम् । यस्माद्बलवतः सर्वक्रियाप्रवृत्तिस्तस्माद्बलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ॥४१॥

केचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्चाल्पबला नराः ।
तस्मात् स्थिरत्वव्यायामैर्बलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ॥४२॥

(बलविचार—) बल के गुणों का विचार (पहले ही पन्द्रहवें अध्याय में) हो चुका है । दौर्बल्य का विचार स्वभाव, वातादि दोष तथा वार्धक्य आदि दृष्टि से करना चाहिये । चूँकि चिकित्सा की सर्वक्रियाओं की प्रवृत्ति (प्रयोग Applicability) बलवान् रोगी के सम्बन्ध में ही (सफल) हो सकती है । इसलिये चिकित्सोपयोगी सर्वक्रियाओं के आधारों में बल ही प्रधान है ॥४१॥ कुछ कृश भी बलवान् होते हैं और कुछ मोटे भी दुर्बल होते हैं । इसलिये (शरीर की) दृढता तथा व्यायाम (की शक्ति) इनके द्वारा बल का अनुभव वैद्य को करना चाहिये ॥४२॥

वक्तव्य—स्वभावदोषजरादिभिः—शुक्रशोणितजन्य यानि अनुवंशज है या वातादि दोषजन्य है या वयोनुरूप है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये । बलमेव प्रधानमधिकरणानाम्—'बलवर्णोपचयो-

---

१ अन्यापेक्षया.

पचितो हि सहत्वाद् व्याध्यौषधबलस्य कामं सुबहुलिंगोऽप्यल्पलिंग एव मन्तव्यः । (चरक) ।

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लव[1]करम् ॥४३॥

सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ॥४४॥

(सत्त्वविचार—) सत्त्वगुण विपत्ति के, उत्कर्ष के तथा (छेदन भेदनादि चिकित्सोपयोगी विविध) क्रियाओं के समय पर (मन को) अव्याकुल रखता है ॥४३॥ सत्त्वगुणयुक्त मनुष्य स्वयं अपने मन को दृढ़ करके (शारीरिक और मानसिक) सर्व दुःख को सह सकता है; रजोगुणयुक्त मनुष्य दूसरों से सहारा मिलने पर दुःख को सह सकता है और तमोगुण युक्त मनुष्य (किसी भाँति भी) नहीं सह सकता है ॥४४॥

वक्तव्य—स्थान—अधिकरणकाल । अविक्लवकर—दुःख के समय मन को अनुद्विग्न रखने वाला, सुख के समय हर्ष रहित करने वाला और शारीरिक पीड़ा के समय ग्लानि रहित रखने वाला ।

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्न[2]प्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति ॥४५॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव[3] निषेवितः ।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत् ॥४६॥

(सात्म्य—) देश, काल, जाति, ऋतु, रोग, व्यायाम, उदक, दिवास्वप्न इत्यादि जो प्रकृति विरुद्ध होने पर भी पीड़ाकर नहीं होते, उन्हें सात्म्य कहते हैं ॥४५॥ जो सेवन किया हुआ रस, व्यायाम या अन्य पदार्थ जिसके सुख के लिये कारण होता है, वह उसके लिये सात्म्य कहलाता है ॥४६॥

वक्तव्य—सात्म्यम्—सह आत्मना भवति इति सात्म्यम् । सात्म्यं नाम तत् यदात्मन्युपशेते । सात्म्यं नाम तत्, यत्सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते ॥ (चरक) । यह सात्म्य देशकालादि भेद से कई प्रकार का होता है । जातिसात्म्य—जन्म से ही सेवन करने के कारण सुखकर । यथा—'जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि' ॥ ऋतुसात्म्य—उत्तरतंत्र में स्वस्थवृत्त अध्याय में जो ऋतुचर्या वर्णन की गई है, वह ऋतुसात्म्य है । देशसात्म्य—देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणः । सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च ॥ (चरक) । रोगसात्म्य—उपशयो हेतुव्याधिविपरीतैर्विपरीतार्थकारिभिश्चौषधाहारविहारैः सुखानुबन्धः । स हि व्याधिसात्म्यसंज्ञः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । व्यायामसात्म्य—शारीरिक मानसिक और वाचिक सुखकर चेष्टा । उदकसात्म्य—खाद्यपेय द्रव्यों का सात्म्य । दिवास्वप्नसात्म्य दिन में सोना और रात्रि में जागरण इनका सात्म्य—निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा । न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वापि जायते ॥ (सुश्रुत) । प्रकृतिविरुद्ध—सेव्य पदार्थ का ही प्रकृतिविरुद्ध यानि एकान्ताहितकर होना । यथा—विष किंवा सेवन करने वाले की जो वातादिक सप्तविध प्रकृति उससे विरुद्ध होना । यथा—वातिक प्रकृति के लिये रूक्षाहार इत्यादि । ये सब प्रकार के विरुद्ध पदार्थ अभ्यास से सात्म्य हो जाते हैं ।

प्रकृतिं भेषजं चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥४७॥

प्रकृति और भेषज आगे वर्णन करेंगे ॥४७॥

वक्तव्य—प्रकृति शारीरस्थान के चौथे अध्याय में और भेषज भूमिप्रविभागादि सूत्रस्थान के अन्तिम अध्यायों में वर्णन किया गया है ।

देशस्त्वानूपो जाङ्गलः साधारण इति । तत्र, बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः ॥४८॥

(भूमिभेद—) आनूप, जांगल और साधारण तीन प्रकार का देश होता है । उनमें से जहाँ पानी बहुत हो, भूमि बहुत नीची और ऊँची हो, बहुत नदी नाले हों, बहुत वर्षा हो, कोमल और शीतल पवन चलता हो, बहुत और बड़े बड़े पर्वत तथा वृक्ष हों, जहाँ के अधिकसंख्य लोग मृदु, सकुमार और पुष्ट शरीर वाले हों और जहाँ कफ तथा वात के रोग अधिक हों, उसे आनूप देश कहते हैं ॥४८॥

आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गलः; उभयदेशलक्षणः साधारण इति ॥४९॥

आकाश के समान (जो ऊँचाई और नीचाई रहित सम) हो, जहाँ के वृक्ष अत्यन्त विरल छोटे और कंटकयुक्त हों, जहाँ वर्षा बहुत थोड़ी होती हो, जहाँ झरने कूप आदि में पानी थोड़ा हो, जहाँ उष्ण और वेगयुक्त हवा बहुत चलती हो, जहाँ छोटे छोटे पहाड़ क्वचित् होते हों, जहाँ अधिकसंख्य मनुष्य दृढ़ और कृश शरीर वाले होते हों तथा जहाँ वात और पित्त रोग अधिक होते हैं, उस देश को जांगल देश कहते हैं । जहाँ दोनों के लक्षण पाये जाते हैं, वह साधारण देश कहलाता है ॥४९॥

भवन्ति चात्र—

समाः साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्ममारुताः ।
दोषाणां समता जन्तोस्तस्मात्साधारणो मतः ॥५०॥

(साधारणभूमि—) चूँकि साधारण देश में शीत, वर्षा, गरमी और वायु सम होते हैं, तथा लोगों के दोष साम्यावस्था में होते हैं, इसलिये वह देश साधारण कहलाता है ॥५०॥

न तथा बलवन्तः स्युर्जलजा वा स्थलाहृताः ।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यस्मिन् कोपमागताः ॥५१॥
उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम् ।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणे सति ॥५२॥

स्वदेश में संचित हुए दोष अन्य देश में कुपित होने पर उतने बलवान् नहीं होते, जैसे कि जलचर जीव जमीन

---

१ अवैकल्यकरम्. २ ०स्वप्नरसप्रभृ०. ३ सुखायैवातिसेवित.

पर ले जाने से बलवान् नहीं होते ॥५१॥ देश के अनुसार उचित गुण आहार विहार निद्रादि बातों में व्यवहार करने वाले के लिये देश के गुण होने पर भी देशजन्य रोग होने का भय नहीं होता ॥५२॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में जलवायुचिकित्सा (Climatic treatment) का तत्त्व वर्णन किया है । वा—(१) यथा। जैसे जलचर जीव बलयुक्त होने पर भी जमीन पर बलहीन हो जाते हैं, उस प्रकार—नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति। स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते॥ (२) 'स्थलजा वा जलाहृताः' इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है । स्वदेशे—अनुगुणदेशे। यथा—आनूपोपचितः कफः। अन्यस्मिन्—विरुद्धगुणदेशे। यथा—जांगलदेशे कुपितः कफः। डल्हणाचार्य तथा चक्रपाणिदत्त प्रथम श्लोकार्ध रोगसंबंधी और द्वितीय श्लोकार्थ दोषसंबंधी मानते हैं—तुल्यगुणदेशजातस्य रोगस्य विपरीतगुणे देशे सुचिकित्स्यतां दर्शयन्नाह—न तथेत्यादि। जलजा इति आनूपदेशजाताः श्लीपदादयः। (डल्हण) । न केवलं व्याधय एव परं विरुद्धदेशगता दुर्बला भवन्ति किन्तु दोषा अपि विरुद्धदेशप्राप्तिकुपिता न बलवन्त इत्याह—स्वदेशे इत्यादि। (चक्र)। परन्तु इस प्रकार दोष और व्याधि या रोग पृथक् करने की कोई आवश्यकता नहीं है । चिकित्सा की दृष्टि से दोनों एक ही होते हैं—दोषा रोगशब्दं लभन्ते। (चरक)। रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता । (अष्टांगहृदय)। वास्तव में दोनों श्लोकार्ध में एक कल्पना है, और उस कल्पना को बुद्धिगम्य करने के लिये 'जलजा वा स्थलाहृताः' करके दृष्टान्त दिया है। अर्थात् इस श्लोक का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—तुल्यगुण देश में संचित हुए दोष यानि रोग जितने बलवान् यानि दुरुपक्रम होते हैं, उतने स्वप्रतिकूलगुण देश में कुपित होने पर बलवान् नहीं होते। जैसे कि जलचर प्राणी जल में जितने बलवान् होते हैं, उतने जमीन पर नहीं होते । इसी तत्त्व के आधार पर देशवैपरीत्य सुखसाध्यता का एक लक्षण होता है—न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः । (चरक)। देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः । (सुश्रुत) । अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसंपदि । (अष्टांगहृदय) । उचिते—देशगुण विपरीत गुण युक्त आहार विहारादि बातों में। इस व्यवहार को देशसात्म्य कहते हैं—देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः । सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च। (चरक)। तद्देशस्य गुणे सति—प्रत्येक देश के विशेष गुण होने पर भी। जैसे—जांगल देश के रौक्ष्य औष्ण्य इत्यादि गुण, आनूप देश के स्निग्धता, शैत्य इत्यादि गुण। गुणशब्द से देश के समस्त धर्मों का भी ग्रहण होता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि किसी भी देश के गुण कैसे ही तीव्र क्यों न हों, यदि उनकी तीव्रता का विचार कर उतने प्रमाण में देशगुणविपरीत आहारविहारं को मनुष्य अंगीकार करे तो उसको देशजन्य रोग से पीड़ित होने का कोई भी डर नहीं हो सकता।

देशप्रकृतिसात्म्यर्तु[1] विपरीतोऽचिरोत्थितः।
संपत्तौ भिषगादीनां बलसत्त्वायुषां तथा ॥५३॥
केवलः समदेहाग्नेः सुखसाध्यतमो गदः।
अतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात् कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः ॥

(साध्यासाध्यविचार—) देश, प्रकृति, सात्म्य और ऋतु के विपरीत, नवीन, वैद्य आदि सामग्री से समृद्ध, बलसत्त्व और आयु से समृद्ध ॥५३॥ निरुपद्रव, समदेह और समजठराग्नि युक्त रोगी का रोग अत्यन्त सुखसाध्य होता है । इन लक्षणों से विपरीत लक्षण युक्त असाध्य होता है और मिश्रलक्षण युक्त कृच्छ्रसाध्य होता है ॥५४॥

वक्तव्य—देशविपरीत—जांगल देश में कफरोगोत्पत्ति। प्रकृतिविपरीत—पित्तप्रकृति के रोगी में कफरोगोत्पत्ति । सात्म्यविपरीत—कटुसात्म्य मनुष्य में कफरोगोत्पत्ति । ऋतुविपरीत—शरद् ऋतु में वातरोगोत्पत्ति । इनके सिवाय दूष्य वैपरीत्य भी सुखसाध्य का ही लक्षण है । यथा श्लेष्मा से रक्त की दुष्टि । कुछ रोगों में तुल्य दूष्यादिक सुखसाध्य का लक्षण होता है—ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । अचिरोत्थित—नवीन। रक्तगुल्म पुराना सुखसाध्य होता है—रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् । बलसत्त्वायुषाम्—'संपत्तौ' इति संबध्यते। बलसंपत्तियुक्त—सर्वौषधक्षम । सत्त्वसंपत्तियुक्त—पीड़ा सहन करने वाला। आयु की संपत्तियुक्त—यस्यायुस्तस्य सिध्यन्ति न सिध्यन्ति गतायुषि । समदेह—सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः। दृढेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न बलेनाभिभूयते॥ क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः। समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः॥ (चरक)। इन लक्षणों के सिवा चरकमतानुसार जो सुखसाध्य के लक्षण हैं, वे १९ वें सूत्र के वक्तव्य में दिये गये हैं । इन दोनों के अतिरिक्त वाग्भट में अमर्मगत्व, युवावस्था और सूर्यादि ग्रहों की अनुकूल राशिस्थिति ये सुखसाध्य के अधिक लक्षण दिये हैं ।

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत्।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥५५॥

(क्रियासंकरनिषेध—) एक क्रिया के प्रयोग से यदि गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो उस क्रिया का वेग शान्त हो जाने पर दूसरी क्रिया प्रारंभ करनी चाहिये। परन्तु दोनों क्रियाओं का प्रयोग एक समय करना हितकर नहीं है ॥५५॥

वक्तव्य—शान्तवेगायाम्—पूर्व क्रिया का शरीर पर जो परिणाम होता है, वह नष्ट हो जाने पर दूसरी ओषधि प्रारंभ करनी चाहिये । क्योंकि पहिली ओषधि की क्रिया दूसरी ओषधि की क्रिया में बाधा उत्पन्न कर सकती है। क्रियासंकर—एक ही काल में दोनों का प्रयोग।

गुणालाभेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हिता।
कर्तव्यैव तदा व्याधिः कृच्छ्रसाध्यतमो यदि ॥५६॥

(इस प्रकार अन्य क्रिया प्रारंभ करने पर) रोग अत्यंत कृच्छ्रसाध्य होने के कारण यदि तुरन्त गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो वही क्रिया, यदि (उस प्रकार के रोगों में) लाभकर हुआ करती हो तो, (कुछ दिनों के लिये) जारी रखनी चाहिये ॥५६॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ओषधि के परिवर्तन में कभी कभी जो उतावली की जाती है, वह कम से कम कृच्छ्रसाध्य और चिरकारी रोगों में करनी उचित नहीं। कारण यह है कि इन रोगों में ओषधि का शरीर पर परिणाम

---

[1] ०सात्म्ये तु. ०सात्म्यर्त्वविप०.

होने के लिये समय की आवश्यकता होती है। अतः रोग का निदान करके योग्य और हितकर ओषधि का प्रयोग तुरन्त लाभकारी न हो तो भी सात दिन तक कम से कम इसका अनुभव देखना आवश्यक है—यस्यापि फलं न दृश्यते साऽपि सप्तरात्रं प्रतिकर्तव्या। (डल्हण)। तदनन्तर दूसरी क्रिया कर सकते हैं।

य एवमेनं विधिमेकरूपं
विभर्ति कालादिवशेन धीमान्।
स मृत्युपाशान् जगतो गदौघान्
छिनत्ति भैषज्यपरश्वधेन ॥५७॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आतुरोपक्रमणीयो
नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

जो बुद्धिमान् वैद्य ऋतु, अग्नि इत्यादि का विचार करके इस प्रकार की मुख्य विधि को चिकित्सा के समय यथाशास्त्र व्यवहार में लाता है, वह मृत्यु के पाशस्वरूप जगत् के रोगसमूह को औषधरूप कुठार से छेदन करता है ॥५७॥

वक्तव्य—एकरूप—मुख्य। विभर्ति—कार्यकाले यथावद् व्यवहरति। कालादिवशेन—ऋत्वग्न्यादिविवेकेन। गदौघ—विकारसमूह। परश्वध—परशु या कुठार—धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रसाराम्। (रघुवंश)।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायामातुरोपक्रमणीयो नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

२१८

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो मिश्रकमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से मिश्रक नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—मिश्रक—विम्लापनादि व्रणों के आठ उपक्रमों का मिश्र व्याख्यान करने के कारण, अथवा व्रण और शोफ दोनों के मिश्र योगों का व्याख्यान करने के कारण मिश्रक कहते हैं।

मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च भद्रदारु महौषधम्।
अहिंस्रा चैव रास्ना च प्रलेपो वातशोफजित् ॥२॥
दूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा।
शीतलाश्च गणाः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहृत् ॥३॥
आगन्तुजे रक्तजे च ह्येष एव विधिः स्मृतः।
विधिर्विषघ्नो विषजे पित्तघ्नोऽपि हितस्तथा ॥४॥
अजगन्धाऽश्वगन्धा च काला सरलया सह।
एकैषिकाऽजशृङ्गी च प्रलेपः श्लेष्मशोफहृत् ॥५॥
एते वर्गास्त्रयो लोध्रं पथ्या पिण्डीतकानि[1] च।
अनन्ता चेति लेपोऽयं सान्निपातिकशोफहृत् ॥६॥

बिजोरा, अरणी, देवदारु, शुण्ठी, अहिंस्रा (कण्ठकपाली वृक्ष), रास्ना इनका लेप वातशोथ का हरण करता है ॥२॥ दूर्वा, नरसल की जड़, मुलहटी, रक्त चन्दन और शीतल गण की ओषधियाँ इनका लेप पित्तजन्य शोथ का हरण करता है ॥३॥ आगन्तुज व्रणशोथ और रक्तज व्रणशोथ में भी यही (पित्त के समान) विधि करनी चाहिये। और विषजन्य शोथ में विषनाशक विधि तथा पित्तघ्न विधि हितकर होती है ॥४॥ वन की अजवायन, असगंध, मंजिष्ठा, अरुण त्रिवृत्, श्वेत त्रिवृत्, अजशृंगी (कर्कट शृंगी किंवा मेषशृंगी) इनका लेप कफजन्य शोथ को हरण करता है ॥५॥ इन तीन वर्गों के (वातघ्न, पित्तघ्न और कफघ्न) द्रव्य तथा लोध, हरड़े, मैनफल, अनन्तमूल (सालसा) इनका लेप सान्निपातिक शोथ दूर करता है ॥६॥

वक्तव्य—चन्दन—रक्त चन्दन—कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्। (शार्ङ्गधर)। शीतलगण—काकोल्यादि, उत्पलादि और न्यग्रोधादि गण।

स्निग्धाम्ललवणो वाते कोष्णः, शीतः पयोयुतः।
पित्ते, चोष्णः कफे क्षारमूत्राढ्यस्तत्प्रशान्तये ॥७॥

वात के शोथ में स्नेह, अम्ल और लवण युक्त तथा किंचित् उष्ण लेप करना चाहिये, पित्त के शोथ में दूध में किया हुआ लेप करना चाहिये और कफ के शोथ में गरम तथा क्षारबहुल और मूत्रबहुल लेप करना चाहिये। इससे इनकी शान्ति हो जाती है ॥७॥

शणमूलकशिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः।
सक्तवः[1] किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् ॥८॥

शण के बीज, मूली के बीज, सहंजन के बीज, तिल, सरसों, सत्तु, सुराबीज, तीसी तथा अन्य उष्ण पदार्थ इनका लेप व्रण शोथ का पाचन करता है ॥८॥

वक्तव्य—सक्तु—यवतण्डुललाजादिचूर्णे सक्तुः प्रकीर्तितः॥ उष्ण द्रव्य—कुष्ठ अगुरु प्रभृति। पाचन—इन द्रव्यों का उपयोग उपनाह (Poultice) के स्वरूप में करने से शोथ जलदी पक जाता है।

चिरबिल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः।
कपोतगृध्रकङ्कानां पुरीषाणि च दारणम्।
क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारणं परम् ॥९॥

(दारण—) बड़ा करंज, भल्लातक, दन्ती, चित्रक; कनेर तथा कपोत गीध और कंक इनकी विष्ठा व्रणशोथ का दारण करती है। अथवा (मुष्कककुटज पलाशादि) क्षार द्रव्य या क्षार ये भी विदारण करने में परम समर्थ हैं ॥९॥

द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्।
यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः ॥१०॥

पिच्छिल द्रव्यों की छाल या जड़ तथा यव, गेहूँ और उड़द इनका चूर्ण ये संक्षेप में (व्रणों के) पीड़न करने वाले होते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—पिच्छिल द्रव्य—शाल्मलि, श्लेष्मातक, बदर, नागबला इत्यादि द्रव्य। प्रपीडनम्—व्रणशोथ फूटने के पश्चात्

---

[1] पिण्डीतकत्रयम्.

[1] शक्तवः.

अन्तर्गत पूय को बाहर निकालने के लिये इन द्रव्यों को पीसकर मुख के अतिरिक्त सर्व शोथ स्थान पर लेप किया जाता है। लेप सूखने के पश्चात् जो खिंचाव उत्पन्न होता है, उससे पीप बाहर निकल आती है—पूर्यगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति। न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते ॥ (चिकित्सा अ. १)।

शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः ।
शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥११॥

(शोधन कषाय—) शंखिनी (यवतिक्ता), अंकोठ, मालती, कनेर, सूर्यमुखी और आरग्वधादि वर्ग के द्रव्य इनके कषाय व्रणशोधक होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—व्रणों का शोधन आठ प्रकार से किया जाता है—१ कषाय, २ वर्ति, ३ कल्क, ४ घृत, ५ तैल, ६ रसक्रिया, ७ अवचूर्णन, और ८ धूपन। प्रथम शंखिन्यादि द्रव्यों का कषाय धावन (Lotion) के स्वरूप में व्रण धोने के लिये प्रयुक्त होता है। धोने के पश्चात् सूत्रवर्ति पर निम्न द्रव्यों का लेप करके वह वर्ति व्रण के भीतर डाली जाती है।

अजगन्धाऽजश्टङ्गी च गवाक्षी लाङ्गलाह्वया।
पूतीकश्चित्रकः पाठा विडङ्गैलाहरेणवः ॥१२॥
कटुत्रिकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला।
कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुराष्ट्रजा ॥१३॥
संशोधनीनां वर्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत्।

अजगंधा, कर्कटश्टंगी, इन्द्रवारुणी, लांगली, बड़ा करंज, चित्रक, पाठा, विडङ्ग, बड़ी इलायची, रेणुका ॥१२॥ त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पिप्पली), यवक्षार, सैन्धवादि पंच लवण, मनशिल, हरा तुतिया, त्रिवृत्, दंती, हरिताल और फिटकरी ॥१३॥ संशोधन वर्तियों (को ऊपर लगाने) के लिये ये द्रव्य उपयुक्त होते हैं।

एतैरेवौषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान् ॥१४॥
कासीसकटुरोहिण्योर्जातीकन्दहरिद्रयोः ।
पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु कुर्यात्तैलघृतानि वै ॥१५॥

इन (अजगन्धादि) द्रव्यों से ही शोधनकल्क करने चाहिये ॥१४॥ कासीस, कटुकी, चमेली की जड़ और हलदी इनके क्वाथ और कल्क में तैल अथवा घृत पकाकर तैयार करना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—पूर्वोद्दिष्टेषु चांगेषु—संशोधन के लिये पूर्वोक्त निर्दिष्ट कल्क और क्वाथ में—यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात् स्नेहसंविधौ। तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवादिना ॥ कल्काच्चतुर्गुणः स्नेहः स्नेहात् क्वाथश्चतुर्गुणः ॥

अर्कोत्तमां स्नुहीक्षीरं[1] पिष्ट्वा क्षारोत्तमानपि।
जातीमूलं हरिद्रे द्वे कासीसं कटुरोहिणीम् ॥१६॥
पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि कुर्यात् संशोधनं घृतम्।

आक की जड़, त्रिफला (उत्तमा), सेहुन्ड का दूध, (मुष्कक, पलाश, कुटज, अश्वकर्णादि) क्षारश्रेष्ठ द्रव्य, जातिमूल, हलदी और दारु हलदी, कासीस, कटुकी ॥१६॥ और पूर्वोक्त शोधनवर्तिनिर्दिष्ट द्रव्यों को पीसकर उनमें संशोधन घृत साधित करे।

मयूरको राजवृक्षो निम्बः कोशातकी तिलाः ॥१७॥
बृहती कण्टकारी च हरितालं मनःशिला।
शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१८॥

अपामार्ग, अमलतास, निम्ब, कोषातकी, तिल ॥१७॥ बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हरिताल, मनशिल और अन्य (शोधनवर्तिनिर्दिष्ट) शोधन द्रव्य इनका उपयोग शोधन द्रव्य के लिए करना चाहिये ॥१८॥

कासीसे सैन्धवे किण्वे वचायां रजनीद्वये।
शोधनाङ्गेषु चान्येषु चूर्णं कुर्वीत शोधनम् ॥१९॥

कासीस, सैन्धव, सुराबीज, वच, हलदी, दारु हलदी तथा अन्य शोधन द्रव्य लेकर उनसे शोधन चूर्ण बनावे ॥१९॥

वक्तव्य—कासीसे सैन्धवे इत्यादि—ये सब सप्तमी के प्रयोग घटकतानिदर्शनार्थ प्रयुक्त हुए हैं।

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च।
रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥२०॥

(रसक्रिया—) सालसारादि गण के द्रव्य, पटोल, त्रिफला तथा अन्य शोधक द्रव्य इनसे व्रण शोधन के लिये रसक्रिया करनी चाहिये ॥२०॥

वक्तव्य—रसक्रिया—अष्टगुण या षोडशगुण पानी डाल कर उसका अष्टमांश या षोडशांश क्वाथ बनाया जाता है। तत्पश्चात् फिर उस क्वाथ को काकवी या चाशनी की भाँति अग्नि से गाढ़ा बनाया जाता है। शोधनेषु—शोधनाङ्गेषु।

श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि।
सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम् ॥२१॥

(धूपन द्रव्य—) श्रीवेष्टक (गुग्गुल-सरलनिर्यास या तार्पिन), राल, सरल वृक्षत्वचा, देवदार और सालसारादि द्रव्य इनके धूएँ से बुद्धिमान् वैद्य व्रण[illegible] धूपन करे ॥२१॥

कषायाणामनुष्णानां वृक्षाणां त्वक्षु साधितम्।
श्टतं शीतं कषायं वा रोपणार्थेषु शस्यते ॥२२॥
सोमामृताश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा।
क्षीरिप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः ॥२३॥

(रोपण द्रव्य—) अनुष्ण वीर्य और कसैले वृक्षों की छाल से साधित क्वाथ या शीत कषाय व्रण रोपण के लिये प्रशस्त होता है ॥२२॥ सोम वनस्पति (Sarcostemma Brevistiqma), गिलोय, असगंध, काकोल्यादि गण के द्रव्य तथा क्षीरी वृक्षों के अंकुर इनके कल्क से लिप्तवर्ति व्रण का रोपण करने वाली होती है ॥२३॥

वक्तव्य—कषायाणामनुष्णानाम्—न्यग्रोध, औदुंबर, प्लक्ष इत्यादि अनुष्ण और कषाय वर्ग के वृक्षों की छाल से। शीतकषाय—द्रव्यादापोत्थितात् तोये तत्पुनर्निशि संस्थितात्। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः ॥ क्षीरिवृक्षाः—अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटपिप्पलसंज्ञिताः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः ॥ (अरुणदत्त)।

समङ्गा सोमसरला सोमवल्कः सचन्दनः।
काकोल्यादिश्च कल्कः स्यात् प्रशस्तो व्रणरोपणे ॥२४॥

---

[1] सुधाक्षीरं.

लज्जालु, सोमलता, सरल, श्वेतखदिर (सोमवल्क—Acasia Polycantha), रक्तचन्दन और काकोल्यादि गण के द्रव्य इनका कल्क (लुगदी) व्रण का रोपण करने में प्रशस्त होता है ॥२४॥

पृथक्पर्ण्यात्मगुप्ता च हरिद्रे मालती सिता ।
काकोल्यादिश्च योज्यः स्याद्भिषजा रोपणे घृते ॥२५॥

पृश्निपर्णी, कवच बीज, हलदी और दारु हलदी, जाती, मिश्री और काकोल्यादि गण के द्रव्य रोपण घृत बनाने के लिये वैद्य को प्रयोग करने चाहिये ॥२५॥

कालानुसार्यागुरुणी हरिद्रे देवदारु च ।
प्रियङ्गवश्च रोध्रं च तैले योज्यानि रोपणे ॥२६॥

तगर, अगुरु, हरिद्रा और दारुहरिद्रा, देवदारु और प्रियङ्गु तथा लोध इनका उपयोग रोपणतैल बनाने के लिये करना चाहिये ॥२६॥

कङ्गुका[1] त्रिफला रोध्रं कासीसं श्रवणाह्वया ।
धवाश्वकर्णयोस्त्वक् च रोपणं चूर्णमिष्यते ॥२७॥
प्रियङ्गुका सर्जरसः पुष्पकासीसमेव च ।
त्वक्चूर्णं धवजं चैव रोपणार्थं प्रशस्यते ॥२८॥

कङ्गुधान्य, त्रिफला, लोध, कासीस, गोरक्षमुण्डी, धव, राल वृक्ष की छाल इनका चूर्ण रोपण करने वाला है ॥२७॥ (अथवा) प्रियंगु, राल, पुष्प कासीस और धव वृक्ष की छाल इनका चूर्ण व्रण रोपण के लिये प्रशस्त है ॥२८॥

वक्तव्य—पुष्पकासीस—किञ्चित् पीत, या श्वेत या कृष्ण वर्ण का कासीस—द्वितीयं पुष्पकासीसमसितं च सितं च तत् । (रत्नमाला) । कासीसं धातुकासीसं पांशुकासीसमित्यपि । तदेव किञ्चित्पीतं तु पुष्पकासीसमुच्यते ॥ (आयुर्वेदप्रकाश) ।

त्वक्षु न्यग्रोधवर्गस्य त्रिफलायास्तथैव च ।
रसक्रियां रोपणार्थं विदधीत यथाक्रमम् ॥२९॥

न्यग्रोधादिवर्ग के द्रव्यों की छाल और त्रिफला इनसे यथोक्त विधि (द्विव्रणीयोक्त विधि) के अनुसार व्रणरोपण के लिये रसक्रिया करनी चाहिये ॥२९॥

अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला ।
उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गणः ॥३०॥

(उत्सादनद्रव्य—) अपामार्ग, अश्वगंध, मुसली, ब्राह्मी (अथवा सूर्यावर्त) तथा काकोल्यादिगण (इनका लेप) मांसवर्धन के लिये (व्रण में) प्रशस्त होता है ॥३०॥

कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला ।
कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च ॥३१॥
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च ।
व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने ॥३२॥

(उत्सादनद्रव्य—) कासीस, सैन्धव, सुराबीज, पद्मराग, मनशिल, मुर्गी के अंडे का कवच, जातिकलिका ॥३१॥ शिरीष और करंज का फल तथा (हरितालादि) अन्य धातुओं के चूर्ण ये द्रव्य (व्रण के अतिवृद्धमांसांकुरों का) अवसादन करने के लिये प्रशस्त होते हैं ॥३२॥

समस्तं वर्गमर्धं वा यथालाभमथापि वा ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु ॥३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने मिश्रकाऽध्यायो नाम
षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३६॥

बुद्धिमान् वैद्य (विम्लापनादि) कार्यों में निर्दिष्ट किये हुए संपूर्ण या आधे या उनमें से जो मिल सके उन द्रव्यों का उपयोग यथोक्त विधि से करे ॥३३॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां मिश्रकाऽध्यायो नाम षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो भूमिप्रविभागीयमध्यायं[1] व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से भूमिप्रविभाग नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—भूमि की परीक्षा दो दृष्टि से की जाती है। पहली परीक्षा शीत, उष्ण, वर्षा आदि महाभूतों के कार्यों के अनुसार होती है और दूसरी परीक्षा पंचमहाभूतों के गुणों के अनुसार होती है। इस परीक्षा से ओषधियों के गुणधर्म, इनकी तीव्रातीव्रता तथा प्रशस्ताप्रशस्तता जानने में तथा रोगिपरिज्ञान में सहायता होती है। इसलिये चिकित्सा में इसका उपयोग होता है। चरक में लिखा है—तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा ।

श्वभ्रशर्कराश्मविषमवल्मीकश्मशानाघातनदेवतायतनसिकताभिरनुपहतामनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधार्थं[2] परीक्षेत ॥२॥

जो बिल, कंकड़, पत्थर, निम्नोन्नता, वल्मीक, श्मशान, वधस्थान, देवतायतन और वालू इत्यादि से दूषित न हो, जिसकी मिट्टी क्षारयुक्त न हो, जो (नदी आदि समीप होने के कारण) फटने वाली न हो, जिसमें पानी बहुत गहरा न हो, जो स्निग्ध हो, जिसमें (घास फूस आदि हमेशा) उगते हों, जो मृदु स्थिर और समतल हो, जो काले सफेद या रक्त वर्ण की हो, ऐसी भूमि औषध ग्रहण के लिये निरीक्षण करे (खोज करके ऐसी भूमि पसंद करे) ॥२॥

तस्यां जातमपि कृमिविषशस्त्रातपपवनदहनतोयसम्बाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीतेत्यौ[3]षधभूमिपरीक्षाविशेषः सामान्यः ॥३॥

सामान्यभूमिपरीक्षा—उपरोक्त (उत्तम) भूमि में उत्पन्न हुई ओषधि भी जो कीड़े ने न खाई हो, जिस पर विष न

---

१ किंशुका.

१ भूमिप्रविभागविज्ञानीयं. २ ०मौषधग्रहणाय. ३ ०तेत्येष भूमि०.

गिर गया हो, जो शस्त्र से न कटी हो, जो धूप से न मुरझा गई हो, जो वायु से न सूख गई हो, जो आग से न जल गई हो, जो जल से न गल गई हो, जो अन्य आपत्ति से न खराब हुई हो, मार्ग में होने से जिसको उपसर्ग न पहुँचा हो, जो उत्तम रसयुक्त और पुष्ट हो, जिसकी जड़ भूमि में बहुत गहराई तक गई हो, ऐसी ओषधि को उत्तराभिमुख होकर ग्रहण करे । यह औषध और भूमि परीक्षा का सामान्य भेद वर्णन किया है ॥३॥

विशेषतस्तु तत्र, अश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठा; स्निग्धा शीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धशस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाऽऽम्बुगुणभूयिष्ठा; नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रविरलाल्पपाण्डुवृक्षप्ररोहाऽग्निगुणभूयिष्ठा; रूक्षा भस्मरासभवर्णा तनुरूक्षकोटराल्परसवृक्षप्रायाऽनिलगुणभूयिष्ठा; मृद्वी समा श्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा महापर्वतवृक्षप्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा ॥४॥

विशेष भूमि परीक्षा—विशेष कर जो पत्थर वाली, स्थिर, भारी, सांवली या काली तथा मोटे मोटे वृक्ष और घास युक्त होती है, वह भूमि अपने (पृथ्वी के) गुण वाली होती है । जो स्निग्ध, शीतल, निकट जल वाली, स्निग्ध गुण विशिष्ट धान्य और तृण युक्त, कोमल वृक्ष युक्त और श्वेतवर्ण होती है, वह भूमि जलतत्त्वप्रधान होती है । जो भाँति भाँति के रंग युक्त, छोटे छोटे पत्थर युक्त, कहीं कहीं छोटे छोटे श्वेतवर्ण वृक्ष और तृणांकुर युक्त होती है, वह भूमि अग्नितत्त्वप्रधान है । जो रूक्ष, भस्म या गधे के रंग वाली, जहाँ के अधिकांश वृक्ष पतले, रूखे, गह्वरयुक्त, थोड़े रस वाले होते हैं, वह भूमि वायुगुणप्रधान होती है । जो मृदु, समतल, बिलयुक्त होती है, जहाँ रस और जल (अल्प होने के कारण) प्रकट नहीं होता है, जहाँ सर्वत्र सारहीन बड़े बड़े वृक्ष होते हैं तथा जहाँ बड़े बड़े पहाड़ होते हैं और जो श्याम वर्ण होती है, वह भूमि आकाशगुणप्रधान होती है ॥४॥

अत्र केचिदाहुराचार्याः—प्रावृड्वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वक्क्षीरसारफलान्याददीतेति; तत्तु न सम्यक्, सौम्याग्नेयत्वाज्जगतः । सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीताग्नेयान्याग्नेयेषु; एवमव्यापन्नगुणानि भवन्ति । सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्निग्धशीतानि जायन्ते । एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥५॥

इस विषय में कई आचार्य ऐसे कहते हैं कि (सब ओषधियों की) जड़ प्रावृड् ऋतु में, पत्ती वर्षा ऋतु में, छाल शरद् ऋतु में, दूध हेमन्त ऋतु में, सार (काष्ठान्तर्भूत परिणत अंश) वसन्त ऋतु में और फल ग्रीष्म ऋतु में ग्रहण करने चाहिये । परंतु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि जगत् सौम्य और आग्नेय (दो प्रकार का ही) होता है । इसलिये सौम्य (शीतवीर्य) ओषधियों को सौम्य ऋतुओं में और आग्नेय (उष्णवीर्य) ओषधियों को आग्नेय ऋतुओं में ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार (ग्रहण की हुई) ओषधियाँ निर्दोष गुणों से युक्त होती हैं । सोमगुणभूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई सौम्य ऋतु में ग्रहण की हुई सौम्य ओषधियाँ अत्यंत मधुर, स्निग्ध और शीतल होती हैं । ऐसे ही आग्नेय ओषधियों के संबंध में समझना चाहिये ॥५॥

तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्याददीत, अग्न्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतोभागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि, एवं बलवत्तराणि भवन्ति ॥६॥

विरेचन की ओषधियाँ पृथिवी और जलगुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । वमन की ओषधियाँ अग्नि, आकाश और वातगुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । वामक और विरेचक (दोनों गुणों से युक्त) ओषधियाँ दोनों प्रकार की मिश्र भूमि में उत्पन्न हुई लेनी चाहिये । संशमन ओषधियाँ आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । इस प्रकार (गुणों के अनुसार विशिष्ट प्रकार की भूमि से ग्रहण की हुई) ओषधियाँ (अपने गुणों में) बलवत्तर हुआ करती हैं ॥६॥

वक्तव्य—इस विषय का अधिक विवरण आगे एकतालीसवें अध्याय के ८, ९, १० सूत्र में किया गया है ।

सर्वाण्येव चाभिनवान्यन्यत्र मधुघृतगुडपिप्पलीविडङ्गेभ्यः ॥७॥ भवति चात्र—

विडङ्गं पिप्पली क्षौद्रं सर्पिश्चाप्यनवं हितम् ।
शेषमन्यत्त्वभिनवं गृह्णीयाद्दोषवर्जितम् ॥८॥

सर्वाण्येव सक्षीराणि वीर्यवन्ति, तेषामसम्पत्तावनतिक्रान्तसंवत्सराण्याददीतेति ॥९॥

मधु, घृत, गुड़, पिप्पली और वायविडंग इनके अतिरिक्त समस्त ओषधियाँ नवीन प्रयुक्त करनी चाहिये ॥७॥ यहाँ श्लोक है—विडंग, पिप्पली, शहद, घृत ये पुराने ही हित होते हैं । शेष सब ओषधियाँ नवीन और दोषरहित लेनी चाहिये ॥८॥ सर्व सरस ओषधियाँ वीर्यवान् होती हैं । उनके न मिलने पर एक वर्ष के भीतर की ग्रहण करनी चाहिये ॥९॥

वक्तव्य—अभिनव—नई ताजी आर्द्र या कम से कम एक वर्ष के भीतर की सूखी । निम्न ओषधियाँ सदैव आर्द्रावस्था में प्रयोग करनी चाहिये—गुडूची कुटजो वासा कूष्माण्डं च शतावरी । अश्वगन्धा सहचरी शतपुष्पा प्रसारणी । प्रयोक्तव्या सदैवार्द्रा ॥ (**शार्ङ्गधर**) । वासानिम्बपटोलकेतकबलाकूष्माण्डकेन्दीवरी, वर्षाभूकुटजाश्च कन्दसहिताः सा पूतिगन्धामृताः । ऐन्द्री नागबलाकुरण्टकपुरो क्षत्रामृता सर्वदा सार्द्रा एव तु न क्वचिद्द्विगुणिताः कार्येषु योज्या बुधैः ॥ (**भावप्रकाश**) । अन्यत्र—विडंगादि द्रव्यों के अतिरिक्त विडंगादि द्रव्य एक वर्ष से अधिक पुराने ग्रहण करने चाहिये । इन विडंगादि द्रव्यों में धान्यक का भी समावेश होता है—नवान्येव हि योज्यानि द्रव्या-

न्यखिलकर्मसु । विना विडंगकृष्णाभ्यां गुडधान्याज्यमाक्षिकैः । (शार्ङ्गधर)। मधुनः शर्करायाश्च गुडस्यापि विशेषतः । एकसंवत्सरे वृत्ते पुराणत्वं स्मृतं बुधैः ॥ (भावप्रकाश)। जैसे अन्य द्रव्य साधारणतया नवीन व्यवहृत होते हैं तथा घृतादि द्रव्य साधारणतया पुराने व्यवहृत होते हैं। परंतु अवस्था विशेषों में ये नवीन भी व्यवहृत होते हैं। यथा बृंहण के लिये नवीन मधु—बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं सरम्। (सुश्रुत)। घृत निम्न रोगों में नवीन व्यवहृत होता है—योजयेन्नवमेवाज्यं भोजने तर्पणे श्रमे । बलक्षये पाण्डुरोगे कामलानेत्ररोगयोः ॥ (भावप्रकाश)। अनतिक्रान्तसंवत्सराणि—एक वर्ष का समय मूल स्वरूप की ओषधियों के लिये है। जब ओषधियों से चूर्ण गुटिका घृतादि योग बनाये जाते हैं, तब एक वर्ष के पहले ही उनका वीर्य नष्ट हो जाता है। गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम्। मासद्वयात्तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात्॥ हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरात्परम्। हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकात्तथा ॥ (शार्ङ्गधर)।

भवन्ति चात्र—

गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः ।
मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥१०॥

(बकरी, भैंस,) गौ चराने वाले, तपस्वी, शिकारी तथा अन्य (कन्दफल) मूल का आहार करने वाले वनचारी लोक, उनसे ओषधियों की पहचान (सीखना) इष्ट है ॥१०॥

वक्तव्य—भेषजव्यक्ति—नामरूप से ओषधियों की पहचान। परन्तु केवल नामरूप से ओषधियों का ज्ञान वैद्य के लिये पर्याप्त नहीं है। रोग और रोगी की दृष्टि से उनका उपयोग कैसे करना चाहिये, उसका भी ज्ञान आवश्यक है—ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपावने । न नामज्ञानमात्रेण रूपमात्रेण वा पुनः ॥ ओषधीनांपरां प्राप्तिंकश्चिद्वेदितुमर्हति । योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते ॥ (चरक)।

सर्वावयवसाध्येषु पलाशलवणादिषु ।
व्यवस्थितो न कालोऽस्ति तत्र सर्वो विधीयते ॥११॥

(मूल, पत्र, फल आदि) सर्व अवयवों से बनाये हुए जो पलाशक्षारादि हैं, उनमें (ओषधि ग्रहण के लिये) कोई काल नियत (होने की आवश्यकता) नहीं है । उसके ग्रहण के लिये सब समय उचित होता है ॥११॥

गन्धवर्णरसोपेता षड्विधा भूमिरिष्यते ।
तस्माद्भूमिस्वभावेन बीजिनः षड्रसायुताः ॥१२॥
अव्यक्तः किल तोयस्य रसो निश्चयनिश्चितः ।
रस[1] एव स चाव्यक्तो व्यक्तो भूमिरसाद्भवेत् ॥१३॥

चूँकि भूमिस्वभावानुसार ही वनस्पतियाँ (मधुरादि) षड्रसयुक्त होती हैं, इसलिये गन्धवर्ण और रसयुक्त भूमि भी छः प्रकार की होती है ॥१२॥ सिद्धान्त से यह निर्णीत हुआ है कि जल का रस अव्यक्त (अनभिव्यक्तषड्रस) होता है। वह अव्यक्त रस पृथ्वी के रस से व्यक्त (स्पष्ट) हो जाता है ॥१३॥

सर्वलक्षणसम्पन्ना भूमिः साधारणा स्मृता ।
द्रव्याणि यत्र तत्रैव तद्गुणानि विशेषतः ॥१४॥

(पाँचों प्रकार की भूमि के) सर्वलक्षणों से युक्त भूमि साधारण कहलाती है। जिस प्रकार की भूमि में द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उसी के ही गुणों से युक्त विशेष करके वे होते हैं ॥१४॥

विगन्धेनापरामृष्टमविपन्नं रसादिभिः ।
नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेव विनिर्दिशेत् ॥१५॥
जङ्गमानां वयःस्थानां रक्तरोमनखादिकम् ।
क्षीरमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारेषु संहरेत् ॥१६॥

(ओषधिग्राह्याग्राह्यविचार—) ओषधि चाहे नई हो चाहे पुरानी हो, वही ग्राह्य समझनी चाहिये जो दुर्गंध से न छुई हो (अर्थात् दुर्गंध रहित हो) तथा जिसके रसादि में बिगाड़ न हुआ हो ॥१५॥ जिनकी शरीर की वृद्धि पूर्ण हो चुकी है ऐसे प्राणियों का रक्त, बाल, नख आदि अंग ग्रहण करने चाहिये और क्षीर मूत्र और विष्ठा अन्न पचन हो जाने के पश्चात् ग्रहण करना उचित है ॥१६॥

वक्तव्य—विगन्धेनापरामृष्टम—जिस द्रव्य की गन्ध सड़न उत्पन्न होने के कारण नष्ट न हुई हो अथवा जिसमें सड़न के कारण दुर्गंध न आती हो। अविपन्नं रसादिभिः—जिसका रस और वीर्य अविपन्न अर्थात् अविकृत हो । जंगमानाम्—चिरप्रसूता गौ का दूध लेना चाहिये और रक्तादिभाग स्वस्थ प्राणियों के लेने चाहिये—क्षीरं बाष्कयणं ग्राह्यं विण्मूत्रं तच्च नीरुजाम् । वयोबलवतां धातुपिच्छश्रृङ्गखुरादिकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, कल्प. ८)।

प्लोतमृद्भाण्डफलकशङ्कुविन्यस्तभेषजम् ।
प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते ॥१७॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने भूमिप्रविभागीयो
नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३७॥

(भेषजागार—) जिसमें (समस्त) ओषधियाँ कपड़ों में, मिट्टी के पात्रों में, (काठ के) तख्तों पर और खूँटियों पर सुरक्षित रक्खी हुई हैं, ऐसी ओषधिशाला प्रशस्त और पवित्र स्थान में (वास्तुविद्या की दृष्टि से बनाई हुई) होनी चाहिये ॥१७॥

वक्तव्य—उत्तम भूमि से यथोक्तविधि द्वारा रसवती ओषधियाँ संग्रहीत करने पर यदि सुरक्षित न रक्खी जायँ तो उनमें दुर्गंध, रसव्यापत्ति इत्यादि दोष उत्पन्न होते हैं । अतः उनकी स्थापना कैसी करनी चाहिये तथा स्थापना के लिये ओषधिशाला कैसी होनी चाहिये इसकी विधि संक्षेप से इस श्लोक में वर्णन की है । प्रायः ओषधियाँ ठीक न रखने से, धूआँ, वर्षा, सील, धूलि, मूषक, दीमग इत्यादि के संसर्ग से विगंधादि दोषयुक्त होती हैं। इसलिये ओषधियां पक्की शाला में कपड़ों में बांधकर या मिट्टी के पात्रों में भरके कपड़े से मुँह बंद करके तख्तों पर या खूँटियों पर लटकी हुई रखनी चाहिये—धूमवर्षानिलक्लेदैः सर्वर्तुष्वनभिद्रुते। ग्राहयित्वा गृहे न्यस्येद् विधिनौषधसंग्रहम ॥ (सुश्रुत, सूत्र ३८)। ओषधिशाला जहाँ तक हो सके, ऐसे देश में होनी चाहिये जहाँ ओषधियाँ प्रचुर मिलती हैं। इसके अतिरिक्त ओषधिशाला का अगवाड़ा पूर्व या उत्तर (प्रशस्त) दिशा में होना चाहिये तथा उसमें ओषधि के नाप, बाँट, खरल इत्यादि उपकरण भी होने

---

[1] रसः स एव.

चाहिये । प्लोत—वस्त्रखण्ड । शङ्कु—खूँटी । प्रशस्तायां दिशि—पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा । अष्टांगसंग्रह में और चरक में ओषधियों की ग्रहण और स्थापन की विधि निम्न प्रकार से वर्णन की है—अथ मङ्गलाचारः कल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः संपूज्य च देवतामश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवासः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात् । गृहीत्वा चानुरूपगुणवद्भाजने संस्थाप्य पूर्वोत्तरद्वारेषु निवातप्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहारबलिकर्मवत्स्वग्निसलिलोपस्वेदधूमरजोमूषिकचतुष्पदामनभिगमनीयानि स्ववच्छन्नानि शिक्येष्वासज्य स्थापयेत् ॥ (चरक, कल्पस्थान, अध्याय १) ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां भूमिप्रविभागीयो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यसंग्रहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से द्रव्यसंग्रहणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—द्रव्यसंग्रह—चिकित्सोपयोगी द्रव्यों का संक्षेप से ग्रहण (प्रतिपादन) ।

समासेन सप्तत्रिंशद्द्रव्यगणा भवन्ति ॥२॥ तद्यथा—

संक्षेप से द्रव्यों के सैंतीस गण होते हैं ॥२॥ जैसे—

(१) विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति ॥३॥

विदारिगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः ॥४॥

(विदारिगन्धादिगण—) विदारिगन्धा (शालपर्णी—Hedysarum Gangeticum), विदारी (भूमिकूष्मांड, हिं. बिलाई कन्द, Ipomoea Digitata), विश्वदेवा (नागबला, हिं. गंगेरन, गुलसकरी, Sida Spinosa), सहदेवा (पीतपुष्पाबला, Sida Cordifolia), श्वदंष्ट्रा (गोक्षुरक, हिं. गोखरु Tribulus Terrestris), पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी, हिं. पिठवन, Uraria Lagopoides), शतावरी (Asparagus Racemosus), सारिवा (अनन्तमूल, हिं. सालसा, Hemidesmus Indicus), कृष्णसारिवा (श्यामलता, Ichnocarpus Frutiscens), जीवक, ऋषभक (ये दोनों अष्टवर्ग की वनस्पतियाँ हैं । इनका इस समय ठीक ज्ञान नहीं है । इनके अभाव में गुडूची और वंशलोचन का ग्रहण किया जाता है—जीवकर्षभकाभावे गुडूचीवंशलोचने । भावमिश्र दोनों का प्रतिनिधि विदारीकंद लिखते हैं ।), महासहा (माषपर्णी, Glycine Labialis), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी, Phaseolus Trilobus), बृहत्यौ (स्थूलफला और सूक्ष्मफला बृहती—बृहत्यौ सूक्ष्मफला स्थूलफला च । द्वे बृहत्यौ इति एका बृहत्फला अपरा स्वल्पफला । बृहतीद्वयं क्षुद्रबृहती महाबृहती । बृहत्यौ से 'बृहती और कण्टकारी' यह जो अर्थ किया जाता है वह अनुचित है, यह उपर्युक्त टीकाकारों के वचनों से स्पष्ट है । Solanum Indicum), पुनर्नवा (Boerhavia Diffusa हिं. सांठ, गदहपूर्णा), एरण्ड (Ricinis Communis), हंसपादी (हंसपदाकारपत्रा पीतपुष्पा जलयुक्तदेशजाता 'हंसपदी' इति लोके प्रसिद्धा । कुछ टीकाकार इसको 'गोधापदी' मानते हैं । इसको बंगला में 'गोयालेलता' कहते हैं । Vitis Pedata । कुछ लोग इसको 'रक्त लज्जालु' भी समझते हैं ।), वृश्चिकाली (ईषद्रोमशा श्वेतपुष्पगुच्छा दक्षिणावर्तवल्ली मेषशृंगीभेदः । Trigia involucrata, हिं. बरहंटा. बं. विछातु), ऋषभी (कपिकच्छु, कंवचबीज, Mucuna Pruriens) ॥३॥ यह विदारिगंधादिगण पित्त और वायु को शांत करता है तथा राजयक्ष्मा, गुल्म, अंगमर्द ऊर्ध्वश्वास और खाँसी को नाश करता है ॥४॥

(२) आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरंण्टक[1]दासीकुरंण्टक[1]गुडूचीचित्रकशार्ङ्ग(ङ्ग)ष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति ॥५॥

आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः ।
मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनः ॥६॥

(आरग्वधादिगण—) आरग्वध (अमलतास, Cassia Fistula), मदन (मैनफल, Randia Dumetorium), गोपघोण्टा (कर्कोटी, बदरभेद इत्यन्ये, पूगभेदमपरे), कण्टकी (सं. विकङ्कतः, बं. वैंची, Flacourtia Ramontchi), कुटज (कुर्ची, Holarrhena Antidysenterica), पाठा (इस ओषधि के संबंध में थोड़ा मतभेद है), पाटला (वसन्तदूती, StercoSpurmum Suaveolens), मूर्वा ('धनुर्गुणोपयोग्या' मर्हरी, Sansevicria zeylanica), इन्द्रयव (कुटज फल), सप्तपर्ण (छातीन, Alstonia scholaris), निम्ब (Melia Azadirachta), कुरण्टक दासीकुरण्टक (पीले फूल का पियावासा और नीले फूल का पियावासा, Barleria Prionitis), गुडूची (गिलोय, Tinospora Cordifolia), चित्रक (Plumbago Zeylanica), शार्ङ्गष्टा (काकजंघा, Leea Hirta । कुछ लोग शार्ङ्गष्टा को 'काकमाची' और 'गुंजा' भी समझते हैं ।), करंजद्वय (१ करंज, Pongamia Glabra २ पूतिकरंज, सागरगोटा, Caesalpinia Bonduc), पटोल, किराततिक्तक (चिरायता Swertia Chirata), सुषवी (करेला, Momordica Charantia) (इन एक्कीस औषधों का आरग्वधादिगण होता है) ॥५॥ यह आरग्वधादिगण कफ और विष का हरण करता है; प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर, वमन और कण्डु इनका नाश करता है तथा व्रण का शोधन करता है ॥६॥

(३) वरुणार्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषशृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थसैरेयकद्वयबिम्बीवसुकवसिरचित्रकशतावरीबिल्वाजशृङ्गीदर्भा बृहतीद्वयं चेति ॥७॥

---

[1] कुरुण्टक.

**वरुणादिर्गणो ह्येष कफमेदोनिवारणः ।
विनिहन्ति शिरःशूलगुल्माभ्यन्तरविद्रधीन् ॥८॥**

(वरुणादिगण—) वरुण, (वरुणा, Cretaeva Religiosa), आर्तगल (नीले फूल का पियावासा, Barleria Cristata), शिग्रु (शोभांजन, सोहजन, Moringa Pterygosperma), मधुशिग्रु (लाल सोहजना), तर्कारी (अग्निमन्थ, अरणी, Premna Spinosa), मेषशृंगी (मेढ़ासिंगी, Gymnema Sylvestre), पूतीक (पूतिकरंज), नक्तमाल करंज, मोरट (मूर्वा या अङ्कोल या हस्तिकर्णपलाश), अग्निमंथ (अगेथू, बड़ी अरणी), सैरेयकद्वय (दो भिन्न रंग के कुरंटक), बिंबी (तिंदुरी, तेला कुचालता, Cephalandra indica), वसुक (बकपुष्प या अर्क), वसिर (अपामार्ग, रक्त अपामार्ग, गजपिप्पली या सूर्यावर्त), चित्रक, शतावरी, बिल्व (Aegle Marmelos), अजशृंगी (जिंगिनी, Odina wodier), दर्भ (पृथुलः खरपत्रीदीर्घः, Eragrostis Cynosuroides), बृहतीद्वय (स्थूलफला और सूक्ष्मफला बृहती) ॥७॥ यह वरुणादिगण कफ और मेद का हरण करता है तथा सिरदर्द, गुल्म, और आभ्यंतर विद्रधि का नाश करता है ॥८॥

(४) वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटावसुकवसिरभल्लूककुरण्टकेन्दीवरकपोतवङ्काः श्वदंष्ट्रा चेति ॥९॥

**वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत् ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजापहः ॥१०॥**

(वीरतर्वादिगण—) वीरतरु (अर्जुन, Terminalia Arjuna), सहचरद्वय (पीत और नील फूल की पियावासा, पीतनीलपुष्पभेदात् झिंटीद्वय), दर्भ, वृक्षादनी (बंदा, बांडगुल Loranthus Lougifolia), गुंद्रा (एक प्रकार का तृणभेद, Saccharum Araudinaceum), नल (नरसल Arundoo Karka), कुश (Poa Cilaris), काश Saccharum Spontaneum), अश्मभेद (पाषाणभेद, पायरचूर Coleus Aromaticus), अग्निमंथ, मोरट, वसुक, वसिर, भल्लूक (श्योनाक, सोणापाठा, Oroxylum Indicum), कुरण्टक (पीले फूल का पियावासा—पीतः कुरण्टको ज्ञेयः । धन्व ।),इन्दीवर (नीलकमल Nelumbium Speciosum), कपोतवङ्का (ब्राह्मी Herpestis Monniera), श्वदंष्ट्रा (गोखरु) ॥९॥ यह वीरतर्वादिगण वातविकारों को हरण करता है और पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात की पीड़ा को दूर करता है ॥१०॥

(५) सालसाराजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जमेषशृङ्गीतिनिशचन्दनकुचन्दनशिंशपाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतीकाश्वकर्णागुरूणि कालीयकं चेति ॥११॥

**सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनाशनः ।
मेहपाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः ॥१२॥**

(सालसारादिगण—) सालसार (सालवृक्ष, Shorea Robusta इसका सार), अजकर्ण (शालवृक्ष Vateria Indica—का ही एक भेद), खदिर (खैर जिससे कत्था निकाला जाता है, Acacia Catechu), कालस्कन्ध (तिन्दुकवृक्ष, Diospyros Embryopteris । इसके सिवाय उदुंबरवृक्ष, विट्खदिर, तमालपत्रवृक्ष ये भी अर्थ इसके होते हैं ।), क्रमुक (पूग, सुपारी का वृक्ष, Areca Catechu), भूर्ज (भूर्जपत्र Betula Bhojpattra), मेषशृंगी (मेढ़ासिंगी), तिनिश (सादन, Dalbergia Oojeinensis), चन्दन (श्वेतचन्दन, Santalum Album), कुचन्दन (रक्त चन्दन Pterocarpus Santalinus), शिंशपा (सीसम , Dalbergia Sissoo), शिरीष (शिरस, Albizzia Lebbec), असन (Terminalia Tomentosa), धव (धावड़ा Anogeissus Latifolia), अर्जुन, ताल (ताड़, Borassus flabellifrmis), शाक (सागवान, शेगुन Tectona Grandis), नक्तमाल पूतीक (करंज और पूतिकरंज), अश्वकर्ण (साल वृक्ष का ही एक भेद), अगुरु (अगर, Aquilaria Agallocha), कालीयक (मलयपर्वतोत्थ उत्तम पीतचन्दन—कालीयकं तु कालीयं पीताभं हरिचन्दनम । भावप्रकाश । मलयोत्थं पीतकाष्ठं चतुर्थं हरिचन्दनम् । धन्वन्तरिनिघंटु ।) ॥११॥ यह सालसारादिगण कुष्ठों का नाश करता है, प्रमेह और पाण्डुरोग का हरण करता है और कफ तथा मेद का शोषण करता है ॥१२॥

(६) रोध्रसावररोध्रपलाशकुटन्नटाशोकफञ्जीकट्फलैलवालुकशल्लकीजिङ्गिनीकदम्बसालाः कदली चेति ॥१३॥

**एष रोध्रादिरित्युक्तो मेदःकफहरो गणः ।
योनिदोषहरः स्तम्भी व्रण्यो विषविनाशनः ॥१४॥**

(रोध्रादिगण—) रोध्र (लोध, Symflocos Racemosa), सावर रोध्र (पठाणीलोध, यह लोध का ही एक भेद है जिसकी त्वचा स्थूल और श्वेत होती है), पलाश (ढाक Butea frondosa), कुटन्नट (श्योनाक), अशोक (Saraca Indica), फञ्जी (भार्गी, भारंगी, Clerodendrov Serratifolium), कट्फल, (कायफल Myrica Sapida), एलवालुक (एक प्रकार का कंकोलसदृश कुष्ठगंधि गन्धद्रव्य), शल्लकी साल का एक भेद, Boswellia), जिंगिनी (कासमल, Odina Wodier । इसके निम्न अर्थ भी किये गये हैं,—मंजिष्ठ, कृष्णशाल्मली), कदम्ब (Anthocephalus Kadamba), साल, और कदली (केला, Musa Sapientum) ॥१३॥ यह लोध्रादिगण मेद और कफ का हरण करने वाला, योनि के दोषों को दूर करने वाला, (अतिसारादि रोगों में) स्तम्भन करने वाला, व्रण में हितकर और विष का नाश करने वाला है ॥१४॥

(७) अर्कालर्ककरञ्जद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गीरास्नेन्द्रपुष्पीक्षुद्रश्वेतामहाश्वेतावृश्चिकाल्यलवणास्तापसवृक्षश्चेति ॥१५॥

**अर्कादिको गणो ह्येष कफमेदोविषापहः ।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद्व्रणशोधनः ॥१६॥**

(अर्कादिगण—) अर्क (आक, Calotropis Gigantea), अलर्क (सफेद आक), करंजद्वय, नागदन्ती (Croton oblongifolius), मयूरक (अपामार्ग Achyranthes Aspera), भार्गी (भारंगी), रास्ना (Vanda Roxburghii), इन्द्रपुष्पी (लांगली Gloriosa Superba), क्षुद्रश्वेता (१ श्वेतस्यदा श्वेतपुष्पा 'सफेन्द' । डल्हण । २ अतिविषा, ३ विदारीकन्द ।), महाश्वेता (नीलपुष्पः सफेन्दः, वंध्याकर्कोटी इत्यन्ये, श्वेतापराजिता इत्यपरे), वृश्चिकाली (मेढासिंगी का भेद), अलवणा (ज्योतिष्मती वर्तुलपक्वरक्तफला पीततैला 'काकमर्दनिका' इति लोके प्रसिद्धा । डल्हण । हरीतकी । हाराणचंद्र ।), तापसवृक्ष (इङ्गुदी, Balanitis Roxburghii, हिंगोल । तपस्वी लोग इसके तेल का अधिक उपयोग किया करते थे । इसलिये तापसवृक्ष कहलाता है— मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कनशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति । कालिदास ।) ॥१५॥ यह अर्कादिगण कफ, मेद और विष इनका नाशक है, कृमि और कुष्ठ इनका शमन करने वाला है और विशेष करके व्रण का शोधक है ॥१६॥

(८) सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकासमर्दक्षवकखरपुष्पाविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलोन्दुरुकर्णिकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति ॥१७॥

सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदनः ।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ॥१८॥

(सुरसादिगण—) सुरसा, श्वेत सुरसा (कृष्ण और श्वेतवर्ण तुलसी, Ocimum Śanctun), फणिज्झक (मरुबक, मरवा, Ocimum caryophyllatm), अर्जक (आजवला Ocimum gratissimum), भूस्तृण (रोहिसतृण, Andropogon citratis), सुगन्धक (बृहत्सुगन्धतृण), सुमुख (तुलसी का ही भेद है), कालमाल (काला आजवला, कृष्णार्जकः), कासमर्द (कसौंदी, Caffia Sophora), क्षवक (नाकछिक्कनी Centipeba ordicularis), खरपुष्पा (छिक्कनी का भेद, वनबर्बरिकाभेद इत्यन्ये), विडंग (वायविडंग, Embelia Ribes), कट्फल, सुरसी (कपित्थपत्रा तुल्सी, श्वेतनिर्गुंण्डी इत्यन्ये), निर्गुण्डी (नीलपुष्पनिर्गुण्डी, संभालू, Vitex Negundo), कुलाहल ('मुडिका' 'कुकुरशुंगा'), उंदुरुकर्णिका (मूसाकर्णी, Ipomoea Reniformis), फञ्जी (भारंगी), प्राचीबल (यद्यपि प्राचीबलशब्देन काकजंघा गण्डदूर्वा जलपिप्पली चोच्यते तथापि अत्र काकजंघेव केचिदाचार्या वदन्ति । डल्हणटीका), काकमाची, विषमुष्टि (राजनिम्बः, बृहदलम्बुषामपरे, कर्कोटीमन्ये) ॥१७॥ यह सुरसादिगण कफहर्ता, कृमिनाशक प्रतिश्याय, श्वास, कास तथा अरुचि इनका हरण करने वाला और व्रण का शोधक है ॥१८॥

(९) मुष्ककपलाशधवचित्रकमदनवृक्षकशिंशपावज्रवृक्षास्त्रिफला चेति ॥१९॥

मुष्ककादिर्गणो ह्येष मेदोघ्नः शुक्रदोषहृत् ।
मेहार्शःपाण्डुरोगघ्नः शर्करानाशनः परः ॥२०॥

(मुष्ककादिगण—) मुष्कक (मोख Schrebra Swietenoides), पलाश (ढाक), धव, चित्रक, मदन, वृक्षक (कूड़ा, कुटज), शिंशप (सीसम), वज्रवृक्ष (सेहुंड या थूहर Euphorbia Antiquorum), त्रिफला (हरीतकी, बहेड़ा और आँवला) ॥१९॥ यह मुष्ककादिगण मेद का नाश करने वाला, शुक्रदोषों को दूर करने वाला, प्रमेह अर्श और पाण्डु रोगों का नाश करने वाला और मूत्रशर्करा (पथरी) का परम नाशक है ॥२०॥

(१०) पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ॥२१॥

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः ।
निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥२२॥

(पिप्पल्यादिगण—) पिप्पली (Piperlongum पिप्पलीमूल (पिप्पली की जड़), चव्य (Piperchaba), चित्रक, शृङ्गवेर (सोंठ, Zingiber officinalis), मरिच (काली मिरच, Piper 'Nigrum), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली, चविका का फल—चविकायाः फलं प्राज्ञैः कथिता गजपिप्पली), हरेणुका (Piper Aurantiacum), एला (छोटी इलायची, Elettaria Cardamomum), अजमोदा (Seseli Indicum), इन्द्रयव, पाठा, जीरक (जीरा Cuminum cyminum), सर्षप (सरसों, Brassica Alba), महानिंबफल (बकायन का फल, Melia Sempervirens), हिंगु (हींग Assa foetida), भार्गी, मधुरसा (मूर्वा), अतिविषा (अतीस, Aconitum Heterophyllum), वचा (वच, Acorus Calamus), विडंग, कटुरोहिणी (कुटकी Picrorrhiza Kurroa) ॥२१॥ यह पिप्पल्यादिगण कफ का हरण करने वाला है, प्रतिश्याय वात और अरुचि का नाश करता है, अग्नि का दीपक है, गुल्म और शूल का घातक है और आम रस का पाचन करने वाला है ॥२२॥

वक्तव्य—आमरस—जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः ।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपकः ॥

(११) एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेशरं चेति ॥२३॥

एलादिको वातकफौ निहन्याद्विषमेव च ।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिडकाकोठनाशनः ॥२४॥

(एलादिगण—) एला (छोटी इलायची), तगर (Tabernacmontana Coronaria), कुष्ठ (Saussurea Lappa), मांसी (जटामांसी Nardostachys fatamansi), ध्यामक (कत्तृण, रोहिसतृण Andropogon Laniger), त्वक् (दालचीनी, Cinnamomum Zeylanicum), पत्र (तमालपत्र, तेजपत्र Cinnamomum Tamal), नागपुष्प (नागकेसर, Mesua ferrea), प्रियङ्गु (Aglaia Roxburghiana), हरेणुका, व्याघ्रनख (बृहन्नखः, बृहन्नखी

इत्यन्ये), शुक्ति (तद्भेदोऽल्पनखः, डल्हण), चण्डा (ईषत्कृष्णा चोरकभेदः अजमोदाकारा, खुरासानी अजवायन), स्थौणेयक (थुणेर, Taxus Baccatta), श्रीवेष्टक (सरल वृक्ष, Pinus Longifolia), चोच (दालचीनी का एक भेद), चोरक (ग्रंथिपर्णिभेद, गणोठा), वालुक (खश, Pavonia Odorata), गुग्गुलु (गुग्गुलवृक्ष Balsamodendron Mukul का निर्यास), सर्जरस (राल), तुरुष्क (सिल्हक, शिलारस, Liquidamber Orientalis नामक वृक्ष का निर्यास), कुन्दुरक (लोबन Boswellia Serrata), अगरु, स्पृक्का (कुटिलपुष्पा सुगन्धिद्रव्यमौत्तरापथिकम् Anisomeles Malabarica), उशीर (Andropogon Muricatus), भद्रदारु (देवदार), कुङ्कुम (केशर Crocus Sativus), पुन्नागकेशर (पुन्नाग Calophyllum Inophyllum का केशर पुष्पकिंजल्क) ॥२३॥ यह एलादिगण वात, कफ और विष का नाश करता है, वर्ण का प्रसादन करता है, और खाज, फुन्सियाँ तथा कोठ(Urticaria) का नाश करता है ॥२४॥

(१२) वचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति ॥२५॥

(१३) हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति ॥२६॥

एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ ।
आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ ॥२७॥

(वचादिगण—) वचा (वच), मुस्ता (नागरमोथा Cyperus rotundus), अतिविषा, अभया (हरड़ा), भद्रदारु (देवदारु), नागकेशर ॥२५॥ (हरिद्रादिगण)— हरिद्रा (Curcuma Longa), दारुहरिद्रा (दारु हलदी Berberis Asiatica), कलशी (पृश्निपर्णी), कुटजबीज (इन्द्रयव), मधुक (मुलहटी Glycyrrhiza Glabra) ॥२६॥ ये वचादिगण और हरिद्रादिगण दूध का शोधन करते हैं, अतिसार में आम का शमन करते हैं और विशेष करके (साम) दोषों का पाचन करते हैं ॥२७॥

(१४) श्यामामहाश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खिनीतिल्वककम्पिल्लकरम्यकक्रमुकपुत्रश्रेणीगवाक्षीराजवृक्षकरञ्जद्वयगुडूचीसप्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुवर्णक्षीरी चेति ॥२८॥

उक्तः श्यामादिरित्येष गणो गुल्मविषापहः ।
आनाहोदरविड्भेदी तथोदावर्तनाशनः ॥२९॥

(श्यामादिगण—) श्यामा (काला निसोत, Ipomoea Turpethum), महाश्यामा (वृद्धदारक, विधारा Argyreia Speciosa), त्रिवृत् (रक्त निसोथ), दन्ती (Croton Polyandrum), शङ्खिनी (यवतिक्ता, कालमेध या काला दाना), तिल्वक (लोध्र), कंपिल्लक (कपीला Mallotus Philippensis), रम्यक (महानिंब अथवा पटोलमूल), क्रमुक (सुपारी), पुत्रश्रेणी (दन्तीभेद), गवाक्षी (इन्द्रवारुणी Cucumis Trigonus), राजवृक्ष (अमलतास), करंजद्वय करंज और पूतिकरंज), गुडूची (गिलोय), सप्तला (शिकेकाई Acacia Coneinna, सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा । शङ्खिनी तिक्तला चैव यवतिक्ताक्षिपीडकः ॥ चरक), छगलान्त्री (वृद्धदारुक भेद, Igomoea Pescaprae), सुधा (सेहुण्ड), सुवर्णक्षीरी (कंकुष्ठ, उसारे रेवन्द, Garcinia Morella) ॥२८॥ यह उक्त श्यामादिगण गुल्म और विष का हरण करता है, आनाह और उदररोग में मल का भेद करता है तथा (सर्व प्रकार के) उदावर्त का नाश करता है ॥२९॥

(१५) बृहतीकण्टकारिकाकुटजफलपाठा मधुकं चेति ॥३०॥

पाचनीयो बृहत्यादिर्गणः पित्तानिलापहः ।
कफारोचक[1]हृद्रोगमूत्रकृच्छ्ररुजापहः ॥३१॥

(बृहत्यादिगण—) बृहती, कण्टकारिका (कटेरी, Solanum XanthoCorpum), कुटजफल (इन्द्रयव), पाठा और मुलहटी ॥३०॥ यह बृहत्यादिगण पित्त और वायु का नाशक तथा कफ, अरोचक, हृद्रोग और मूत्रकृच्छ्र रोगों का नाश करता है ॥३१॥

(१६) पटोलचन्दनकुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठाः कटुरोहिणी चेति ॥३२॥

पटोलादिर्गणः पित्तकफारोचकनाशनः ।
ज्वरोपशमनो व्रणयश्छर्दिकण्डूविषापहः ॥३३॥

(पटोलादिगण—) पटोल, चन्दन, कुचन्दन, मूर्वा, गुडूची, पाठा और कटुरोहिणी ॥३२॥ यह पटोलादिगण पित्त, कफ और अरोचक इन्हें नाश करता है, ज्वर को शमन करता है, व्रण को हितकर होता है और वमन, कण्डू और विष को दूर करता है ॥३३॥

(१७) काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटश्रृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकं चेति ॥३४॥

काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः ।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥३५॥

(काकोल्यादिगण—) काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक (इनके संबंध में कोई निश्चिति नहीं है), मुद्गपर्णी (वनमूँगी), माषपर्णी (वन उड़द); मेदा, महामेदा (ये दोनों भी अनिश्चित हैं), छिन्नरुहा (गिलोय), कर्कटश्रृङ्गी, तुगाक्षीरी (वंशलोचन Bamboo Mann), पद्मक (पद्मकाष्ट, पद्माक Prunus Padum), प्रपौण्डरीक (यष्टिमधुद्रव्याटीषत्स्थूलं मधुररसं नेत्राश्चोतनार्थं द्रव्यम्. अन्ये श्रीपुष्पमाहुः । Vangueria spinosa—पुण्डरिया), ऋद्धि, वृद्धि (ये दोनों भी अनिर्णीत हैं), मृद्वीका (द्राक्षा Vitis Vinifera), जीवन्ती, मधुक (मुलहटी) ॥३४॥ यह काकोल्यादिगण पित्त रक्त और वायु को नाश करता है, जीवन के लिये हितकर है, शरीर की पुष्टि करता है, वीर्यवर्धक है और दुग्ध तथा कफ को बढ़ाता है ॥३५॥

---

[1] ०हृल्लास.

वक्तव्य—इस वर्ग में जो आठ अनिर्णीत वनस्पतियाँ हैं, वह 'अष्टवर्ग' कहलाती हैं। उनके अभाव में निम्न ओषधियों का ग्रहण होता है—ऋद्ध्यभावे बला ग्राह्या वृद्ध्यभावे महाबला। मेदाभावे चाश्वगंधा महामेदे तु शारिवा॥ जीवकर्षभकाभावे गुडूचीवंशलोचने। काकोलीयुगलाभावे निक्षिपेच्च शतावरीम्॥

(१८) ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्वयहिङ्गूनि तुत्थकं चेति ॥३६॥

ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोषणः।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्म[1]प्रणाशनः ॥३७॥

(ऊषकादिगण—) ऊषक (क्षारमृत्तिका), सैन्धव (सैंधानमक), शिलाजतु, कासीसद्वय (कासीस और पुष्पकासीस, हिराकश Ferrus sulphate), हिंगु (हींग), तुत्थक (नीला तूतिया, Copper Sulphate) ॥३६॥ यह ऊषकादिगण कफ को शान्त करता है, मेद को शोषण करता है तथा अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और गुल्म इनका नाश करता है ॥३७॥

(१९) सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूकपुष्पाण्युशीरं चेति ॥३८॥

सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः।
पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः ॥३९॥

(सारिवादिगण—) सारिवा (अनंतमूल), मधुक (मुलहटी), चन्दन, कुचन्दन (रक्तचन्दन), पद्मक, काश्मरीफल (खंभारी का फल, Fruit of Gmelina Arborea), मधूकपुष्प (महुवे के Bassia Latifolia—फूल), उशीर (खस) ॥३८॥ यह सारिवादिगण तृषा का नाश करता है, रक्त पित्त का हरण करता है, पित्तज्वर का शमन करता है और विशेषतया दाह को शांत करता है ॥३९॥

(२०) अञ्जनरसाञ्जननागपुष्पप्रियङ्गुनीलोत्पलनलदनलिनकेशराणि मधुकं चेति ॥४०॥

अञ्जनादिर्गणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः।
विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं तथा ॥४१॥

(अञ्जनादिगण—) अञ्जन (सौवीराञ्जन, Sulphide of lead), रसाञ्जन (रसाञ्जनं द्विविधं—स्रोतोंजनं कृष्णपाषाणाकृति। Antimony Sulhhide। धातुद्रव्यं, अन्यद्दारुहरिद्राक्वाथेन कृत्रिमं पीतलोहितम्। डल्हण। दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं त्यक्त्वा यथाघनम्। तदा रसाञ्जनाख्यं तत्। भावप्रकाश।), नागपुष्प (नागकेसर), प्रियङ्गु, नीलोत्पल (नीलकमल), नलद (उशीर, खस—वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदं च तत्। भावप्रकाश), नलिनकेशर (पद्मकिंजल्क कमलकेशर), मधुक (मुलहटी) ॥४०॥ यह अञ्जनादिगण रक्तपित्त का नाश करता है, विष को शांत करता है तथा भीतर के दाह को प्रशमन करता है ॥४१॥

(२१) परूषकद्राक्षाकट्फलदाडिमराजादनकतकफलशाकफलानि त्रिफला चेति ॥४२॥

परूषकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः।
मूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाघ्नो रुचिप्रदः ॥४३॥

(परूषकादिगण—) परूषक (फालसा, Growia Asiatica), द्राक्षा, कट्फल, दाडिम (अनार, Punica Granatam), राजादन (खिरणी Mimusops Indica), कतकफल (निर्मली—Strychnos Potatorum—का बीज), शाकफल (सागवान का फल), और त्रिफला (हरड़ा, बहेड़ा, आँवला) ॥४२॥ यह परूषकादिगण वात का नाश करता है, मूत्र दोषों को हरण करता है, हृदय को हितकर होता है, तृषा को शांत करता है और (मुख में) रुचि उत्पन्न करता है ॥४३॥

वक्तव्य—इस गण के सर्व द्रव्यों के फल उपयोग के लिये ग्रहण करने चाहिये।

(२२) प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोञ्जनपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति ॥४४॥

(२३) अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमङ्गाकट्वङ्गमधुकबिल्वपेशिकासावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति ॥४५॥

गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणौ ॥४६॥

(प्रियंग्वादिगण—) प्रियङ्गु, समङ्गा (लज्जालु, Mimosa Pudica), धातकी (धाय के फूल, Woodfordia Tsloribunda), पुन्नाग, नागपुष्प (नागकेसर), चन्दन, कुचंदन, मोचरस (रक्तशाल्मली—Bombax Malabaricum—वृक्ष का रस—तद्रसस्तद्गुणो ग्राही स च मोचरसः स्मृतः। धन्वन्तरि निघण्टु), रसाञ्जन, कुम्भीक (जलकुम्भी, Pistia Stratiotes), स्रोतोञ्जन, पद्मकेसर (कमल केसर), योजनवल्ली (मंजिष्ठा, मजीठ, Rubia Manjista), और दीर्घमूला (शालपर्णी या दुरालभा) ॥४४॥ (अम्बष्ठादिगण—) अंबष्ठा (पाठा), धातकी, कुसुम, समङ्गा, कट्वङ्ग (श्योणाक, सोणापाठा), मधुक (मुलहटी), बिल्वपेशिका (बालबिल्वगिरी), सावरलोध्र (पठाणीलोध), पलाश (ढाक), नन्दीवृक्ष (तून Cedrela Toona) और पद्मकेसर ॥४५॥ यह प्रियंग्वादि और अम्बष्ठादिगण पक्वातीसार का नाश करते हैं, (भग्न अस्थि का) संधान करने वाले हैं, पित्त के लिये हितकर हैं और व्रणों के रोपण करने वाले हैं ॥४६॥

(२४) न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधुककपीतनककुभाम्रकोशाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयपियालमधूकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसावररोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृक्षश्चेति ॥४७॥

न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः।
रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् ॥४८॥

(न्यग्रोधादिगण—) न्यग्रोध (बड़ Ficus Bengalensis), औदुंबर (गूलर, Ficus Glomerata), अश्वत्थ

---

[1] शूलकगुल्मनुत्.

(पीपल Ficus Religiosa), प्लक्ष (पाकुड़ Ficus Infectoria), कपीतन (आम्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), ककुभ (अर्जुन), आम्र (आम Mangifera Indica), कोशाम्र (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), चोरकपत्र (लाक्षावृक्ष), जम्बूद्वय (महाजम्बू, बड़ी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eugeuia Caryophyllifolia), पियाल (चिरौंजीवृक्ष Buchanania Latifolia), मधूक (महुआ), रोहिणी (कटुकी), वञ्जुल (वेत Calamus Rotung), कदम्ब, बदरी (बेर, Zizyphus jujuba), तिन्दुकी (तेन्दु), सल्लकी (सालभेद, साकई, Boswellia Serrata), लोध्र, सावर लोध्र, भल्लातक (भिलावा Semicarpus Anacardium), पलाश (ढाक), नन्दीवृक्ष ॥४७॥ यह न्यग्रोधादिगण व्रण को हितकर है, संग्राही है, भग्न अस्थि को जोड़ने वाला है, रक्तपित्त का हरण करने वाला है और दाह, मेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥४८॥

(२५) गुडूचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पद्मकं चेति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति गुडूच्यादिस्तु दीपनः ।
हृल्लासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥

(गुडूच्यादिगण—) गिलोय, नीम; कुस्तुम्बुरु (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पद्माख ॥४९॥ यह गुडूच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और हृल्लास, अरुचि, वमन, तृषा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।
पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रक्तोत्पल (लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चंद्रोदय विकासी अत्यंत सुरभि नील कमल), कुवलय (श्वेत और नील वर्ण कमल), पुण्डरीक (अत्यंत श्वेत कमल) और यष्टिमधु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और तृषा, विष, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

वक्तव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके वर्ण के संबंध में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विसंवादी दिखाई देते हैं अपितु डल्हणाचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विसंवादी हैं । यथा जलौकावचरणीय (१३वें) अध्याय में 'पद्मोत्पलनलिनकुमुद' सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलमीषन्नीलं, पुण्डरीकमतिश्वेतपद्मं, कुवलयं रक्तोत्पलम् । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पलं नीलोत्पलं, पुण्डरीकं श्वेतपद्मं, कुवलयमीषन्नीलधवलम् ।

(२७) मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकविभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गेष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिषूदनः ।
योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥

(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हलदी, दारु हलदी, हरड़ा, आँवला, बहेड़ा, कुष्ठ, हैमवती (श्वेत वचा), वचा, पाठा, कटुकी, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा, काकमाची, काकादनी), अतिविषा, द्राविडी (छोटी इलायची), भल्लातक (भिलावा) और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिकगण कफ का नाशक है, योनि दोषों का हरण करने वाला है, दूध का शोधक है और पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविभीतकानि त्रिफला ॥५५॥

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरड़ा Terminalia Chebula), आमलक (आँवला Emblica Officinalis), और विभीतक (बहेड़ा Tafmeualia Belerica) यह त्रिफला है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥५६॥

वक्तव्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मरी खर्जूर और परूषक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पथ्या बिभीतकं धात्री महती त्रिफला मता । स्वल्पा काश्मर्यखर्जूरपरूपकफलैर्भवेत् ॥ त्रिफला में तीनों के प्रमाण के संबंध में मतभेद है—एका हरीतकी योज्या द्वौ च योज्यौ विभीतकौ । चत्वार्यामलकान्येवं त्रिफलैषा प्रकीर्तिता । (शार्ङ्गधर) । पथ्या विभीतधात्रीणां फलैः स्यात् त्रिफला समैः ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥

त्र्यूषणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वगामयान् ।
निहन्याद्दीपनं गुल्मपीनसाग्न्यल्पतामपि ॥५८॥

(त्रिकटु—) पिप्पली (Piper Longum), मरिच (काली मिरच Piper Nigrum) और शृङ्गवेर (सोंठ Zingiber Officinalis), ये तीन त्रिकटु अथवा त्र्यूषण कहलाते हैं ॥५७॥ यह त्र्यूषण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ठ और त्वचा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, पीनस तथा मन्दाग्नि को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्चित्रकश्चेति ॥५९॥

आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।
चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आँवला, हरड़ा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥६०॥

वक्तव्य—वृष्य—यत् किंचिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु । हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) त्रपुसीसताम्ररजतकृष्णलोहसुवर्णानि लोहमलश्चेति ॥६१॥

गणस्त्रप्वादिरित्येष गरक्रिमिहरः परः ।
पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा ॥६२॥

(त्रप्वादिगण—) त्रपु (वंग, रांगा, Tin), सीस (सीसा Lead), ताम्र (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iorn), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिट्ट, मण्डूर) यह त्रप्वादिगण है ॥६१॥ यह त्रप्वादिगण विष और कृमियों का परम नाशक है तथा तृषा, विष, हृद्रोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किट्ट का ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दमुत्तमं किट्टं मध्यञ्चाशीतिवार्षिकम् । अधमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥ गर—कृत्रिम विष—नानाप्राण्यङ्गशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम् । विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकट्फलहरिद्राद्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥६३॥

कषायस्तिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।
कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरग्वध, अमलतास), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (करवीर, कनेर, Nerium Odorum), कट्फल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा, निम्ब, सप्तच्छद (सप्तपर्ण, छतिबन), मालती (जाती) और त्रायमाणा (Delphimium Zalil) ॥६३॥ यह (लाक्षादिगण) कषाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है और दुष्ट व्रण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्नवैरण्डसूर्प्यपर्णीद्वयेन च । मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

कषायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखरु), छोटी बृहती और बड़ी बृहती, पृश्निपर्णी, विदारिगन्धा (शालपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कषाय, तिक्त और मधुर है, वातनाशक है, पित्तशामक है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) बिल्वाग्निमन्थटिण्टुकपाटलाः काश्मर्यश्चेति महत् ॥६८॥

सतिक्तं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम् ।
मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(बृहत् पंचमूल—) बिल्व, अग्निमन्थ (गणकारिका), टुंटुक (श्योनाक), पाटला (पारुल, पाडर वृक्ष, Stereosparmum Swaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arborea), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्ययेणानुरसः । (चरक) । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥७०॥
गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।
आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण श्वास का हरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञः ॥७२॥

(वल्लीपंचमूल—) विदारीकन्द, सारिवा, हरिद्रा, गिलोय और मेढ़ासींगी यह वल्ली संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः ॥७३॥

(कण्टकपंचमूल—) करमर्द (करौंदा Capparis Corundas), त्रिकण्टक (गोखरु), सैरीयक (कुरण्टक, पियावासा), शतावरी और गृध्रनखी (कण्टकपाली वृक्ष Capparis Sepiaria, अथवा बदरवृक्ष)। यह कण्टक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तहरौ ह्येतौ शोफत्रयविनाशनौ ।
सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ ॥७४॥

वल्लीपंचमूल और कण्टकपंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त हरण करने वाले, तीन प्रकार के शोथ को नष्ट करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा वीर्यदोषों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञकः ॥७५॥

मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च ।
अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(तृणपंचमूल—) कुश (Poa ciliaris), काश (Saccharum Spontaneum), नल (नरसल, Arundoo Karka),

दर्भ (Poa cynosuroides), और काण्डेक्षुक (खागड़ Saccharum fuscum) यह तृणसंज्ञक पंचमूल है ॥७५॥ यह अन्तिम (तृणसंज्ञक) पंचमूल दूध के साथ उपयोग करने से मूत्रदोष, मूत्रविकार तथा रक्तपित्त इनको त्वरित नाश कर देता है ॥७६॥

वक्तव्य—चरक के अनुसार तृणपंचमूल में निम्न ओषधियाँ होती हैं—शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च ॥ (चिकित्सा, अ. १)।

एषां वातहरावाद्यावन्त्यः पित्तविनाशनः ।
पञ्चकौ श्लेष्मशमनावितरौ परिकीर्तितौ ॥७७॥

इनमें पहले दो (लघुपञ्चमूल और बृहत्पंचमूल) वातनाशक हैं, अन्तिम (तृण पंचमूल) पित्तनाशक हैं और अन्य (वल्लीपंचमूल और कंटकपंचमूल) कफनाशक होते हैं ॥७७॥

त्रिवृतादिकमन्यत्रोपदेक्ष्यामः ॥७८॥

त्रिवृतादिक गण का अन्य स्थान पर उपदेश करेंगे ॥७८॥

समासेन गणा ह्येते प्रोक्तास्तेषां तु विस्तरम् ।
चिकित्सितेषु वक्ष्यामि—

ये गण संक्षेप से वर्णन किये गये हैं। इनके द्रव्यों का विस्तार चिकित्सा में (रोगचिकित्सा के साथ) किया जायगा।

—ज्ञात्वा दोषबलाबलम् ॥७९॥
एभिर्लेपान् कषायांश्च तैलं सर्पींषि पानकान् ।
प्रविभज्य यथान्यायं कुर्वीत मतिमान् भिषक् ॥८०॥

दोषों का तथा (रोगी के) बलाबल का विचार कर बुद्धिमान् वैद्य इन गणोक्त ओषधियों से ही लेप, (पंच) कषाय, तैल, घृत तथा पानक बनाकर जिसके लिये जो उचित हो, उसे प्रयोग करे ॥७९-८०॥

धूमवर्षानिलक्लेदैः सर्वर्तुष्वनभिद्रुते ।
ग्राहयित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनौषधसंग्रहम् ॥८१॥

(ओषधिरक्षणविधि—) (वैद्य को चाहिये कि) विधिपूर्वक ओषधियों का संग्रह करके उनको धूआँ, वर्षा, वायु और सील इनसे सब ऋतुओं में सुरक्षित ऐसे स्थान में रक्खे ॥८१॥

समीक्ष्य दोषभेदांश्च मिश्रान् भिन्नान् प्रयोजयेत् ।
पृथङ्मिश्रान् समस्तान्वा गणं वा व्यस्तसंहतम् ॥८२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यसंग्रहणीयो
नामाष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३८॥

दोषों के मिश्रित या भिन्न भेदों का विचार कर (बुद्धिमान् वैद्य) पृथक् पृथक् औषधों का उपयोग करे या (एक ही गण के अनेक) मिश्र औषधों का उपयोग करे या (गण के) सारे के सारे औषधों का उपयोग करे या (दोषकालादि के अनुसार अनेक गणों से उचित) दो दो चार चार ओषधियाँ छाँटकर उनका उपयोग करे ॥८२॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां द्रव्यसंग्रहणीयो नामाष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातः संशोधनसंशमनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से संशोधनसंशमनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—संशोधन—यदीरयेद्बहिर्दोषान् पंचधा शोधनं च तत्। (वाग्भट)। यहाँ केवल वमन, विरेचन और शिरोविरेचन तीनों का ही विचार किया है। संशमन—न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तच्च ॥ (वाग्भट)।

मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनसर्षपविडङ्गपिप्पलीकरञ्जप्रपुन्नाडकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगन्धाविदुलबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीबिम्बीवचामृगेर्वारुश्चित्रा चेत्यूर्ध्वभागहराणि । तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि ॥२॥

(ऊर्ध्वभागहर—) मदन (मैनफल), कुटज (कूड़ा), जीमूतक (देवदाली Luffa Pentandra), इक्ष्वाकु (कड़वी तूंबी, Lagenaria Vulgaris), धामार्गव (पीत पुष्प कोशातकी Luffa Acutangula), कृतवेधन (कोशातकीभेद Lufla Echinata), सर्षप (श्वेत सरसों, Brassica Campestris), विडंग, पिप्पली, करंज, प्रपुन्नाड (चक्रमर्द, Cassia Tora), कोविदार (कांचनारः, कचनार, Baūhinia Variegata), कर्बुदार (श्लेष्मान्तक, लसोड़ा Cordia Mixa. चक्रपाणि चरक की टीका में कर्बुदार का अर्थ 'श्वेतकांचन' करते हैं), अरिष्ट (निम्ब), अश्वगन्धा, विदुल (वेतस, Calamus Rotung चक्रपाणिदत्त चरक की टीका में विदुल का अर्थ 'हिज्जल' करते हैं Barringtonia Acutangula), बंधुजीवक (दुपहरिया, Pentapetes Phoenicea), श्वेता (श्वेतवचा, Acorus Calamus), शणपुष्पी (वन्यशण), बिम्बी (कंदूरी Cephalandra Indica), वचा (वच), मृगेर्वारु (इन्द्रवारुणी, Citrullus Colocynthis) और चित्रा (द्रवन्ती, Jatropha Montana) यह ओषधियाँ वमनकारक हैं। इनमें से कोविदार से पूर्व ओषधियों के फल और कोविदार जिनमें प्रथम हो उन ओषधियों की जड़ (वमन के लिये) लेनी चाहिये ॥२॥

त्रिवृताश्यामादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीविषाणिकागवाक्षीच्छगलान्त्रीस्नुक्सुवर्णक्षीरीचित्रककिणिहीकुशकाशतिल्वककम्पिल्लकरम्यकपाटलापूगहरीतक्यामलकबिभीतकनीलिनीचतुरङ्गुलैरण्डपूतीकमहावृक्षसप्तच्छदार्का ज्योतिष्मती चेत्यधोभागहराणि । तत्र तिल्वकपूर्वाणां मूलानि, तिल्वकादीनां पाटलान्तानां त्वचः, कम्पिल्लकफलरजः, पूगादीनामेरण्डान्तानां फलानि, पूतीकारग्वधयोः पत्राणि, शेषाणां क्षीराणीति ॥३॥

(विरेचक—) रक्तत्रिवृत् (निशोथ), श्यामात्रिवृत्, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला (शिकेकाई, Acacia Concinra), शंखिनी (यवतिक्ता), विषाणिका (वृश्चिकाली, मेषशृङ्गी भेद—द्वितीय। दक्षिणावर्ता वृश्चिकाली विषाणिका । धन्वन्तरि-निघंटु), गवाक्षी (इन्द्रवारुणी), छगलान्त्री (वृद्धदारुक-भेद Ipomoea Pescaprac), स्नुक् (थोहर, Euphorbia Ligularia), सुवर्णक्षीरी (उसारे-रेवन्द), चित्रक, किणिही (अपामार्ग, Achyranthes Aspera), कुश, काश, तिल्वक (लोध), कम्पिल्लक, रम्यक (पटोल—Trichosanthes Dioica—का मूल), पाटला, पूग (सुपारी), हरीतकी, आमलक, बिभीतक, नीलिनी (नील, Indigofera Tinctoria), चतुरंगुल (अमलतास), एरण्ड, पूतीक (पूतिकरंज), महावृक्ष (वज्रक, सेहुण्ड का भेद, Euphorbia Antiquorum), सप्तच्छदा (सप्तपर्णा) । अर्क (आक) और ज्योतिष्मती (मालकांगनी, Cardiospermum Halicacabum) यह ओषधियाँ अधोभागगत दोषों को हरण करने वाली (विरेचनकारक) हैं । इनमें से तिल्वक से पूर्व निर्दिष्ट हुई ओषधियों की जड़ लेनी चाहिये; तिल्वक से लेकर पाटलायुक्त ओषधियों की छाल लेनी चाहिये; कंपिल्लक के फल के ऊपर संचित हुआ रज लेना चाहिये; सुपारी से लेकर एरण्डयुक्त के फल लेने चाहिये; पूतीकरञ्ज और अमलतास के पत्ते लेने चाहिये; और बाकी ओषधियों का क्षीर लेना चाहिये ॥३॥

कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कारवेल्लिका चेत्युभयतोभागहराणि । एषां स्वरसा इति ॥४॥

(उभयभागहर—) कोशातकी, सप्तला, शंखिनी, देवदाली (कोशातकीभेद), कारवेल्लिका (करेला, Momordica Charantia) ये ऊर्ध्वभाग और अधोभाग से दोषों को हरण (वामक और विरेचक) करने वाले हैं । इनका स्वरस लेना चाहिये ॥४॥

पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिग्रुसिद्धार्थकशिरीषमरिचकरवीरबिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीवचाज्योतिष्मतीकरञ्जार्कालर्कलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीशतमालसुरसार्जकेङ्गुदीमेषशृङ्गीमातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलुजातीशालतालमधूकलाक्षाहिङ्गुलवणमद्यगोशकृद्रसमूत्राणीति शिरोविरेचनानि । तत्र करवीरपूर्वाणां फलानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, तालीशपूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि, इङ्गुदीमेषशृङ्ग्योस्त्वचः, मातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलुजातीनां पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः, हिङ्गुलाक्षे निर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः; मद्यान्यासुतसंयोगाः, शकृद्रसमूत्रे मलाविति ॥५॥

(शिरोविरेचक—) पिप्पली, विडंग, अपामार्ग (चिरचिरा), शिग्रु (सोहजन), सिद्धार्थक (सरसों), शिरीष (शिरस), मरिच, करवीर (कनेर), बिम्बी (कुन्दरू), गिरिकर्णिका (अपराजिता), किणिही (कटभी), वचा, ज्योतिष्मती (मालकंगुनी), करंज, अर्क, अलर्क (श्वेतपुष्प अर्क), लशुन (लहशुन, Allium Śativum), अतिविषा, शृङ्गवेर (सोंठ), तालीश, तमाल, सुरसा (तुलसी), अर्जक (तुलसीभेद), इंगुदी (हिंजन), मेषशृङ्गी (मेढ़ासींगी), मातुलुंगी (बिजौरा का भेद), सुरंगी (रक्तशिग्रु), पीलु (Salvadora Persica), जाती, शाल, ताल, मधुक, लाक्षा, हिंगु, लवण, मद्य, गोबर का रस और गोमूत्र ये पदार्थ शिरःस्थ दोषों का विरेचन करने वाले हैं । इनमें से कनेर से पहले निर्दिष्ट हुए द्रव्यों के फल लेने चाहिये; कनेर से लेकर अर्कयुक्त द्रव्यों की जड़ लेनी चाहिये; (अलर्क से लेकर) तालीशपूर्व द्रव्यों के कन्द लेने चाहिये; तालीश से लेकर अर्जकयुक्त द्रव्यों के पत्ते लेने चाहिये; इंगुदी और मेषशृङ्गी की छाल लेनी चाहिये; मातुलुंगी, सुरंगी, पीलु और जाती इनके पुष्प लेने चाहिये; शाल, तमाल और मधूक इनका सार लेना चाहिये; हिंगु और लाक्षा निर्यास होते हैं; लवण खनिज विशेष होते हैं; संधान संयोग से मद्य होते हैं; गोबररस और गोमूत्र ये मल होते हैं (इनको यथारूप ही लेना चाहिये) ॥५॥

संशमनान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावरुणमेषशृङ्गीबलातिबलार्तगलकच्छुरासल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालर्कार्कशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥६॥

(वातसंशमन वर्ग—) अब यहाँ से आगे संशमन वर्ग को वर्णन करते हैं—देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण (वरुणा), मेषशृंगी, बला (खिरैटी, Sida Cordifolia), अतिबला (कंघी, Sida Rhombifolia), आर्तगल (नील पियावासा किंवा ककुभ, Terminalia Tomentosa), कच्छुरा (कपिकच्छु, कवचबीज), सल्लकी (Boswellia Serrata), कुबेराक्षी (पाटला), वीरतरु (अर्जुनवृक्ष), सहचर (पियावासा), अग्निमंथ (बड़ी अरणी), वत्सादनी (गिलोय), एरण्ड, अश्मभेदक (पाथरचूर), अलर्क (श्वेतार्क), अर्क, शतावरी, पुनर्नवा (साठी, Boerhaavia Diffusa), वसुक, वसिर, काञ्चनक (कचनार, Bauhinia Variegata. डल्हण इसका अर्थ धत्तूर करते हैं), भार्गी (भाडंगी), कार्पासी (वनकपास, Gossypium Herbaceum), वृश्चिकाली, पत्तूर (कुचन्दन), बदर (बेर Zyzyphus Jujuba), यव, कोल (मध्यमाकार के बेर—पच्यमानं सुमधुरं सौवीरं 'बदरं' महत् । सौवीराल्लघु संपक्वं मधुरं 'कोल'मुच्यते ॥ भावप्रकाश), कुलत्थ (कुलथी Dolichos Biflorus) इत्यादि ओषधियाँ विदारिगन्धादिगण और लघु तथा महत् पंचमूल संक्षेप से वातशान्तिकारक वर्ग है ॥६॥

---

१ गोमूत्रशकृद्रसौ.

चन्दनकुचन्दनह्रीवेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकन्द(द)लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः ॥७॥

(पित्तसंशमन—) चन्दन (श्वेतचन्दन), कुचन्दन (रक्तचन्दन), ह्रीवेर (कालावाला), उशीर (खस), मंजिष्ठा, पयस्या (क्षीरकाकोली या अर्कपुष्पी), विदारी (विदारी कन्द), शतावरी, गुन्द्रा (तृणभेद, Saccharum Sara), शैवल (काई), कल्हार (श्वेत, नील, या रक्त कमल), कुमुद (श्वेतकमल), उत्पल (किंचित् नील कमल—ईषन्नीलमथोत्पलम्), कन्दली (पद्मबीज), दूर्वा (Cynodon Dactylon), मूर्वा इत्यादि ओषधियाँ, काकोल्यादिगण, सारिवादिगण, अञ्जनादिगण, उत्पलादिगण, न्यग्रोधादिगण और तृणपंचमूल यह संक्षेप से पित्तशान्तिकारक वर्ग है ॥७॥

कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमनःकाकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिर्बृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः ॥८॥

(कफसंशमन—) कालेयक (हरिचन्दन या पीतचन्दन), अगरु, तिलपर्णी (रक्तचन्दन), कुष्ठ, हरिद्रा, शीतशिव (कर्पूर या सैन्धव या शतपुष्पा का भेद), शतपुष्पा (सौंफ, Peucidanum Sowa), सरला (त्रिवृत् या राल का वृक्ष), रास्ना, प्रकीर्य पूतिकरंज), उदकीर्य (करंज), इंगुदी (हिंगोट), सुमनः (जाती), काकादनी (गुञ्जा), लांगलकी (कलिहारी, Gloriosa Superba), हस्तिकर्ण (गजकर्णाकारैकपत्रः 'भूपलाश' इति लोके, रक्तैरण्ड इत्यन्ये), मुञ्जातक, लामज्जक (खस का एक भेद) इत्यादि ओषधियाँ वल्लीपंचमूल, कण्टकपंचमूल, पिप्पल्यादिगण, बृहत्यादिगण, मुष्ककादिगण, वचादिगण, सुरसादिगण और आरग्वधादिगण यह संक्षेप से कफशान्तिकारक वर्ग हैं ॥८॥

तत्र सर्वाण्येवौषधानि व्याध्यग्निपुरुषबलान्यभिसमीक्ष्य विदध्यात् । तत्र, व्याधिबलादधिकमौषधमुपयुक्तं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यमावहति; अग्निबलादधिकमजीर्णं विष्टभ्य वा पच्यते; पुरुषबलादधिकं ग्लानिमूर्च्छामदानावहति संशमनम् , एवं संशोधनमतिपातयति । हीनमेभ्यो दत्तमकिंचित्करं भवति । तस्मात्सममेव विदध्यात् ॥९॥

(ओषधि मात्रा विचार—) सर्व प्रकार की ओषधियाँ व्याधि, जठराग्नि और रोगी इनका बल देखकर (न्यूनाधिक मात्रा में प्रदान) करनी चाहिये । उनमें व्याधि बल की दृष्टि से अधिक मात्रा में प्रयुक्त ओषधि उस व्याधि को शांत करके दूसरी किसी अन्य व्याधि को उत्पन्न करती है । जठराग्नि की शक्ति से अधिक मात्रा में प्रयुक्त ओषधि अजीर्ण उत्पन्न करती है, या (शूलादिक उत्पन्न करके) देर से पचती है । रोगी के बल से अधिक मात्रा में प्रयुक्त संशमन ओषधि ग्लानि, मूर्च्छा और मद उत्पन्न करती है । संशोधन ओषधि भी व्याधि, अग्नि और रोगी के बल से अधिक प्रयोग करने पर अधिक हानि करती है । व्याधि, अग्नि और रोगी की शक्ति की दृष्टि से न्यून मात्रा में प्रदत्त ओषधि निष्फल हो जाती है । इसलिये व्याधि, अग्नि और रोगी इनके बल के समान (अनुसार) ओषधि की मात्रा प्रदान करनी चाहिये ॥९॥

वक्तव्य—संशमन तथा संशोधन की ओषधियाँ व्याधि बलादि देखकर देनी चाहिएँ । इनमें अधिक मात्रा में दी हुई संशोधक ओषधि संशमन की अपेक्षा अधिक हानि किया करती है । विष्टब्धे—विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदना । मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

भवन्ति चात्र—

रोगे शोधनसाध्ये तु यो भवेद्दोषदुर्बलः ।
तस्मै दद्याद्भिषक् प्राज्ञो दोषप्रच्यावनं मृदु ॥१०॥

संशोधनसाध्य रोग से पीड़ित रोगी यदि दोषों के कारण दुर्बल हो गया हो तो उसे बुद्धिमान् वैद्य मृदुवीर्य (वमनविरेचनादि) दोषहारक ओषधि प्रदान करे ॥१०॥

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेतात्र बलं नृणाम् ।
अव्याधिदुर्बलस्यापि शोधनं हि तदा भवेत् ॥११॥
स्वयं प्रवृत्तदोषस्य मृदुकोष्ठस्य शोधनम् ।
भवेदल्पबलस्यापि प्रयुक्तं व्याधिनाशनम् ॥१२॥

दोष चलायमान और कोष्ठ मृदु ऐसी अवस्था में मनुष्यबल देखना नहीं चाहिये, इसलिये कि दोषों के अतिरिक्त (उपवासादि अन्य) कारणों से दुर्बल हुए मनुष्य के लिये भी संशोधन हितकर होता है ॥११॥ (इसका कारण यह है कि) जिसके दोष स्वयं अपने स्थान से चलायमान हुए हैं और जिसका कोष्ठ मृदु हुआ है ऐसे अल्पबल रोगी में भी प्रयुक्त किया हुआ संशोधन व्याधिनाशक होता है ॥१२॥

व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते ।
बिडालपदकं चूर्णं देयः कल्कोऽक्षसंमितः ॥१३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने संशोधनसंशमनीयो
नामैकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥३९॥

(ओषधिमात्रा—) जब व्याधि, अग्नि और पुरुष का बल मध्यम हो तो क्वाथ की मात्रा अंजलि होनी चाहिये, चूर्ण बिडालपदक भर और कल्क अक्ष भर देना चाहिये ॥१३॥

वक्तव्य—अञ्जलि—चार पल, १६ तोला । बिडालपदक—कर्ष, एक तोला । अक्ष—कर्ष, क्वाथस्य—क्वाथ में शृत, शीत और फांट तीनों का समावेश करना चाहिये । स्वरस का प्रमाण भी वाग्भट ने चार पल ही बतलाया है—मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुःपलम् ॥ शार्ङ्गधर में स्वरस का प्रमाण अर्धपल कहा है—स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्धं प्रयोजयेत् । व्याध्यादिषु तु मध्येषु—व्याधि, कोष्ठ, रोगी का बल मध्यम होने पर उपर्युक्त मात्रा प्रयुक्त करनी चाहिये । इससे अधिक बल हो तो अधिक मात्रा

और बल कम हो तो हीन मात्रा प्रयुक्त करनी चाहिये। वास्तव में मात्रा तथा कषाय कल्पना के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता। प्रत्येक रोगी की स्थिति और रोग का विचार कर अपने अनुभव के अनुसार मात्रा का प्रमाण निश्चित करना चाहिये—मात्राया न व्यवस्थाऽस्ति व्याधिं कोष्ठं बलं वयः। आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना॥ (अष्टांगसंग्रह)। मात्रा के संबंध में पीछे ३५वें अध्याय के ३६वें श्लोक के वक्तव्य में कुछ विवरण किया है, उसे देखो।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां संशोधनसंशमनीयो नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥३९॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥१॥

अब यहाँ से द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाकविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया॥१॥

वक्तव्य—द्रव्यादिविज्ञानीय अध्याय—द्रव्यादीनां विशिष्टं ज्ञानं तदधिकृत्य कृतोऽध्याय इत्यर्थः। इस अध्याय में ओषधियों के वैद्यकीय उपयोगों की उपपत्ति (Rationale) का ज्ञान होने के लिए द्रव्यादि आवश्यक बातों का विशेष विवरण किया गया है। वैद्यक के इस विभाग को पाश्चात्त्य वैद्यकीय परिभाषा में 'फॉर्माकोलॉजी' (Pharmacology) कहते हैं। अधिकांश ओषधियों की वैद्यकीय उपयोगिता इन द्रव्यादि बातों की सहायता से सिद्ध होती है। आयुर्वेद में और पाश्चात्त्य वैद्यक में प्रयुक्त हुई कुछ ओषधियाँ ऐसी हैं कि जिनकी उपयोगिता की उपपत्ति सिद्ध करने में उपर्युक्त द्रव्यादिविज्ञान असफल हुआ है। ऐसी ओषधियों की कार्य करने की पद्धति प्रदर्शित करने के लिये चरक तथा वाग्भट में 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग किया है। सुश्रुतसंहिता में ओषधियों की इस शक्ति का निर्देश 'प्रभाव' के नाम से यद्यपि नहीं किया गया है तथापि अप्रत्यक्षतया उसी का ही वर्णन इस अध्याय के 'अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि' इत्यादि अन्तिम श्लोकों में किया गया है। प्रभाव का विवरण इसलिये इन श्लोकों के वक्तव्य में ही किया जायगा। द्रव्य—ओषधियों की सोत्कर्षापकर्ष पंचमहाभूतात्मक रचना—प्रमाणतः प्रभावतश्चावयवानामुत्कर्षापकर्षसद्भावः। इस पंचमहाभूतात्मक रचना के अनुसार ओषधियों का वर्णन आगे ४१वें अध्याय (द्रव्यविशेषविज्ञानीय) में किया गया है। इस अध्याय में 'तद् द्रव्यमात्मना किंचित्' इस श्लोक में 'आत्मना' शब्द से ओषधियों की पंचमहाभूतात्मक रचना ही अभिप्रेत है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार द्रव्य को ओषधियों का संगठन (Composition of drugs) कह सकते हैं। रस—रस्यते आस्वाद्यत इति रसः। रसनार्थो रसः। (चरक)। ओषधियों का जिह्वाग्राह्य अर्थ। इस अर्थ के अनुसार समस्त ओषधियाँ मधुरादि छः रसों में विभक्त की गई हैं। यद्यपि 'रसनाग्राह्य' ऐसी रस की व्याख्या की गई है तथापि ओषधियों के रसों का ग्रहण जिह्वा के अतिरिक्त अन्य अंगों से भी होता है; फर्क इतना ही है कि जिह्वा पर रस की संवेदना अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक और विशेष रूप से प्रतीत होती है। जैसे कटु या कषाय रस का ज्ञान जैसे जिह्वा पर होता है वैसे ही गले में होता है, आमाशय में होता है, त्वचा पर होता है। शरीर में रस का कार्य निपातस्थान के साथ संबंध होते ही होता है, उसमें रूपान्तर की आवश्यकता नहीं होती—रसो निपाते द्रव्याणाम्। (चरक)। रसं विद्यान्निपातेन। (अष्टांगसंग्रह)। रस का यह कार्य बहुधा निपात-स्थान के ऊपर प्रत्यक्षतया हुआ करता है और उसी स्थान पर मर्यादित रहता है। यथा फिटकरी जैसी कषाय रस युक्त ओषधि का प्रयोग त्वचा पर करने से स्थानिक लसिकास्राव तथा रक्तस्राव बंद होता है, आँखों में करने से पानी का स्राव बंद होता है और मुख द्वारा सेवन करने पर आमाशय तथा आन्त्र का स्राव (अतिसार) कम होता है। कभी कभी रस स्थानिक वातनाड़ियों के अग्रों (Nerve terminals) द्वारा प्रत्यावर्तन (Reflex action) से भी कार्य करता है। 'अम्लः क्षालयते मुखम्', 'लवणः स्यन्दयत्यास्यम्', 'कटुः स्रावयत्यक्षिनासास्यम्' ये सब उदाहरण प्रत्यावर्तन के हैं। पाश्चात्त्य वैद्यक में आयुर्वेद की भाँति यद्यपि रस की कल्पना नहीं है तो भी सुविधा के लिये तिक्त (Bitters), कषाय (Astringents) और अम्ल (Acids) ऐसे रसों के अनुसार ओषधियों के कुछ वर्ग किये गये हैं। पाश्चात्त्य वैद्यक में रस के लिये कोई ठीक पर्याय नहीं दिखाई देता जो रस के पूरे अर्थ को बतला सके, क्योंकि रुचि (Taste) के अतिरिक्त रस में आधुनिक परिभाषा के अनुसार ओषधियों की स्थानिक, प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक क्रिया (Local, direct and primary action of drugs) भी अन्तर्भूत होती है। रस और अनुरस—उपर्युक्त छओं रस ओषधियों में व्यक्त और अव्यक्त द्विविध प्रकार से उपस्थित रहते हैं। इन्हीं को क्रम से 'रस' और 'अनुरस' कहते हैं। ओषधियों का जो रस जिह्वा के साथ संबंध होते ही विशेषरूप से प्रतीत होता है वह 'व्यक्तरस' और जो पीछे तथा अस्पष्टतया प्रतीत होता है वह 'अनुरस' कहलाता है—तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः। अव्यक्तोऽनुरसः किंचिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते॥ (अष्टांगहृदय)। व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते। विपर्ययेणाऽनुरसः। (चरक)। चक्रपाणिदत्त के मतानुसार अनुरस सदैव कार्यानुमेय होता है—शुष्कस्य वाऽऽर्द्रस्य वा प्रथमजिह्वासंबंधे वाऽऽदावास्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते स व्यक्तः। यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किन्तर्हि अव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यमात्रेण वा मीयते सोऽनुरस इति वाक्यार्थः। (चक्रपाणिदत्तटीका)। रस और अनुरस का बलाबलविचार ४२ वें अध्याय के अन्तिम श्लोक के वक्तव्य में और किया गया है। गुण—ओषधियों के वैद्यकीय कार्यों के द्योतक गुण होते हैं। गुणों को 'फॉर्माकोलॉजिकल ॲक्शन' (Pharmacological actions) कह सकते हैं। ये संख्या में साधारणतया बीस हैं; परन्तु विकासी व्यवायी इत्यादि अन्य गुण भी होते हैं—गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः। गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः॥ इन्द्रियार्था व्यवायी च विकासी चापरे गुणाः॥ (अष्टांगसंग्रह)। इनके संबंध में विशेष विवरण ४६ वें

अध्याय के अन्त में किया गया है । कुछ आधुनिक विद्वान् गुण से भौतिकगुण (Physical properties) समझते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है । ४६ वें अध्याय में गुणों का विवरण करते समय लिखा है—कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः । भौतिक धर्म प्रत्यक्ष होते हैं, परन्तु वैद्यकीयगुण कर्मानुमेय होते हैं । इसलिये रस वीर्यादि द्वारा ओषधियों के जो जो कार्य शरीर में होते हैं वे सब उनके गुण होते हैं। ओषधियों के इन गुणों का उत्कर्षापकर्ष भी संस्कार तथा भावनाओं द्वारा किया जाता है—गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्कारात् सविपर्ययम् । व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डकाः ॥ (चरक) । इसमें संदेह नहीं कि गुरु, लघु, द्रव, कठिन इत्यादि शब्द ओषधियों की भौतिक स्थिति (Physical state) प्रदर्शित करने के लिये भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु ओषधि विज्ञान की परिभाषा में गुण मुख्यतया शरीरगत विविध क्रियाओं के द्योतक होते हैं । प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशास्तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्याः । (चरक) । वीर्य—इसके दो अर्थ होते हैं । (१) वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया । नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया ॥ (चरक) । येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम् । (सुश्रुत) । येनेति रसेन वा विपाकेन वा प्रभावेण वा गुर्वादिपरत्वादिभिर्वा गुणैर्या क्रिया तर्पणह्लादनशमनादिरूपा कृत्स्ना क्रियत इत्युपदिश्यते तस्यां क्रियायां तद्रसादि वीर्यम् । (चक्रपाणिदत्तटीका) । संक्षेप में जिसके द्वारा ओषधि का कार्य निष्पन्न होता है, वह वीर्य है । ओषधियाँ तरुण होने पर वीर्य अल्प होता है, पक्व होने पर वीर्य परिणत होता है और पुरानी होने पर वीर्य धीरे धीरे घटता जाता है—तत्र वर्षासु ओषधयस्तरुण्योल्पवीर्याः । ता एव ओषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या भवन्ति । (सुश्रुत) । वर्षातीतं सर्वधान्यं परित्यजति गौरवम् । नतु त्यजति तद्वीर्यं वीर्यं मुञ्चत्यतः क्रमात ॥ यह वीर्य का साधारण अर्थ है, इसके लिये अँग्रेजी में पोटन्सी (Potency) कह सकते हैं । (२) 'रसविपाकप्रभावातिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणीगुणे वीर्यम्' इति संज्ञा । रस, विपाक, प्रभाव इनके गुणों के अतिरिक्त द्रव्य का जो विशेष कार्यकारीगुण होता है उसे वीर्य कहते हैं । यह वीर्य की 'पारिभाषिक' संज्ञा है । इस अध्याय में यही दूसरा अर्थ अभिप्रेत है और इसी का ही वर्णन आगे सूत्र चार में किया गया है । आधुनिक पाश्चात्त्य वैद्यकीय परिभाषा में इस वीर्य के लिये कोई भी योग्य पर्यायशब्द नहीं दिखाई देता । शीत और उष्ण करके वीर्य दो प्रकार का होता है । इसलिये ओषधियों के वीर्य का संबंध शरीरगत Biochemical और Metabolic processes के साथ मालूम पड़ता है । जैसे हरड़ा और आँवला दोनों गुण और कर्म में समान होने पर भी वीर्य में विरुद्ध होते हैं । हरड़ा गरम होता है और आँवला शीतल होता है । उष्ण और शीतवीर्य के लक्षण—तत्रोष्णं श्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाशुपाकिताः । शमं च वातकफयोः करोति शिशिरं पुनः ॥ ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः ॥ (अष्टांगहृदय) । विपाक—महास्रोत में जठराग्नि के संयोग से रस कारणभूत द्रव्यों का पचन होने के पश्चात् शरीर में जो रसान्तर उत्पन्न होता है वह विपाक है—जाठरेणाऽग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) । विपाक को 'निष्ठापाक' भी कहते हैं । छः रसों के मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन विपाक चरक के अनुसार और मधुर तथा कटु दो ही विपाक सुश्रुत के अनुसार होते हैं । इन विपाकों का कार्य रससदृश (रसैरसौ तुल्यफलः) होता है, फर्क इतना ही है कि विपाक का कार्य सार्वदैहिक, अप्रत्यक्ष या अनुमेय और द्वितीयक (Systemic, indirect and Secondary) तथा रस से बलवत्तर है । विपाक का बलाबल द्रव्यगत रस के बलाबल पर निर्भर होता है । यदि द्रव्य अत्यंत मधुर हो तो विपाक भी उत्कृष्ट होता है, यदि मध्यम मधुर हो तो मध्यम होता है और यदि अल्पमधुर हो तो अल्पलक्षण होता है—विपाकलक्षणस्याल्पमध्यभूयिष्ठतां प्रति । द्रव्याणां गुणवैशिष्ट्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥ (चरक) । ओषधियों के रस, वीर्य और विपाक की उपलब्धि—रस का ज्ञान जिह्वा के साथ संबंध होते ही होता है; विपाक का ज्ञान शरीर में ओषधियों का पचन होने के पीछे दोषों की वृद्धि, प्रकोप या संशमन देखकर होता है और वीर्य का ज्ञान कभी शरीर के साथ संबंध होते ही, कभी शरीर पर जो कार्य होता है उससे और कभी उक्त दोनों प्रकार से होता है । संक्षेप में रस का ज्ञान प्रत्यक्ष, विपाक का अप्रत्यक्ष या कार्यानुमेय और वीर्य का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से होता है—रसो निपाते द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया । वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलक्ष्यते ॥ (चरक) । अधिवास का अर्थ शरीर में निवास कर लेखन बृंहणादिकार्य के द्वारा । चक्रपाणिदत्त अधीवास का अर्थ 'भक्षण करने के पीछे परिपाक होने के पूर्व क्षण तक' (एतच्च पाकात् पूर्वं निपाताच्चोर्ध्वं ज्ञेयम्) करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अधिवास से आगे चौथे सूत्र में निर्दिष्ट किये लेखनबृंहणादिकार्य नहीं हो सकते ।

केचिदाचार्या ब्रुवते—द्रव्यं प्रधानं, कस्मात् ? व्यवस्थितत्वात्, इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः, यथा—आमे फले ये रसादयस्ते पक्के न सन्ति; नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः, यथा—कल्कादिप्रविभागः, स एव संपन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति; स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि पार्थिवं द्रव्यमन्यभावं न गच्छत्येवं शेषाणि; पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादयः, आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाश्रिता रसादयो भवन्ति; आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भः, यथा—विदारिगन्धादिमाहृत्य संक्षुद्य विपचेदित्येवमादिषु न रसादिष्वारम्भः; शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशे हि योगानां, यथा—मातुलुङ्गाग्निमन्थौ चेत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते; क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा—तरुणे तरुणाः संपूर्णे संपूर्णा इति; एकदेशसाध्यत्वाच्च; द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते, यथा—महावृक्षक्षीरेणेति; तस्माद्द्रव्यं

प्रधानम्। द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ॥२॥

कई आचार्य कहते हैं कि (द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाक इनमें) द्रव्य प्रधान है । किस हेतु से ? (१) द्रव्य स्थिर (अपरिवर्तनशील) होने के हेतु से, प्रधान है। क्योंकि द्रव्यरसवीर्यविपाकादि में द्रव्य ही स्थिर होता है न रसादि, जैसे कच्चे फल में जो रसादि होते हैं वे पक्व फल में नहीं होते । (२) नित्य होने से द्रव्य प्रधान है । द्रव्य नित्य (शाश्वत) है और उसके गुण अनित्य होते हैं, जैसे उसके कल्कादि कषायविभाग नित्य होते हैं परन्तु उनके रसगन्धादि गुण कभी उत्तम (प्रशस्त) होते हैं कभी दूषित होते हैं । (३) अपनी (पार्थिवादि विशिष्ट) जाति में स्थिर रहने से द्रव्य प्रधान है, जैसे कि पार्थिवद्रव्य अन्य (आप्यादि) जाति में परिवर्तित नहीं होते, इसी प्रकार आप्यादि द्रव्य अन्य जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं । (४) पाँचों इन्द्रियों द्वारा भी ग्रहण होने से द्रव्य प्रधान है, द्रव्यों का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा होता है परन्तु रसादि का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता । (५) (रसादि का) आश्रयस्थान होने से द्रव्य प्रधान है, रसादि द्रव्य के आश्रयभूत होते हैं (स्वतन्त्र नहीं हो सकते) । (६) (आहरण कुट्टनादि विविध प्रकार के) कर्म द्रव्यों पर ही हो सकते हैं इसलिये द्रव्य प्रधान है, जैसे विदारिगन्धादि (गण के द्रव्यों) को लाकर कूटे और फिर पकावे इत्यादि सब क्रियाओं का आरंभ द्रव्यों में ही होता है रसादि में नहीं हो सकता । (७) शास्त्र के प्रमाणों से भी द्रव्य प्रधान है; शास्त्र में योगों के उपदेश में द्रव्य ही प्रधान माना गया है, जैसे कि (वातशोथहर प्रलेप का योग वर्णन करते समय) मातुलंग अग्निमंथ आदि द्रव्यों का ही उपदेश किया गया है न रसादि का । (८) द्रव्य के क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुसार रसादिकों की क्रमापेक्षा होने से द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि रसादि द्रव्य के स्थित्यन्तर की अपेक्षा करते हुए रहते हैं, जैसे अपक्व पदार्थ में रसादि अपक्व (अप्रशस्त) होते हैं और पूर्ण (पक्व) पदार्थ में पूर्ण (प्रशस्त) होते हैं । (९) एकदेशसाध्यत्व होने से, द्रव्यों का एक एक अंग उपयोग करके व्याधियों का साधन हो जाता है, जैसे थोहर के दूध से (कई रोग साधन होते हैं) इसलिये द्रव्य ही प्रधान है। द्रव्य का लक्षण ऐसा है—जिसमें क्रिया और गुण (दोनों) हैं तथा (जो क्रिया और गुण दोनों का) समवायिकारण है ॥२॥

वक्तव्य—यहां दिया हुआ द्रव्य का लक्षण वैशेषिक दर्शन का है । क्रियागुणवत्—क्रियाश्च गुणाश्च सन्त्यस्मिन्निति । समवायिकारणम्—यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते, यथा तन्तवः पटस्य। उपादान कारण जैसे वस्त्र का तन्तु और घट का मृत्कपाल इत्यादि।

नेत्याहुरन्ये, रसास्तु प्रधानं; कस्मात्? आगमात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा—रसायत्त आहार इति, तस्मिंश्च प्राणाः; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा—मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति; अनुमानाच्च, रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति; ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदो यथा—किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति; तस्माद्रसाः प्रधानं; रसेषु गुणसंज्ञा । रसलक्षणमन्यत्रोपदेक्ष्यामः ॥३॥

अन्य कई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान मानना प्रशस्त नहीं है । (वे कहते हैं कि) रस ही प्रधान हैं । किस हेतु से ? (१) आगम के आधार से रस ही प्रधान होते हैं। आगम ही शास्त्र हैं और शास्त्र (आयुर्वेद) में रस ही अधिकृत किये हैं, जैसे रसों के अधीन आहार है और आहार में प्राण रहते हैं। (२) (शास्त्र में रसों का ही) उपदेश होने से रस ही प्रधान हैं। रसों का ही उपदेश किया जाता है, जैसे मधुर, अम्ल और लवण रस वात का शमन करते हैं। (३) अनुमान से रस ही प्रधान होते हैं । रस ही के द्वारा द्रव्य का अनुमान किया जाता है, जैसे यह द्रव्य मधुर है। (४) ऋषियों के वचन से भी रस प्रधान हैं । वेद ऋषियों का वचन है—जैसे 'यज्ञ के लिये कुछ मधुर (द्रव्य) लाओ' इत्यादि। इन कारणों से रस ही प्रधान हैं । रस के लिये ही दूसरी संज्ञा गुण होती है (इसलिये रसप्राधान्य हेतुओं से गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है) । रस का लक्षण अन्य स्थान (रसविशेषविज्ञानीय अध्याय) में वर्णन करेंगे ॥३॥

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति। कस्मात्? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनसंशमनसंग्राहकाग्निदीपनपीडनलेखनबृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनानि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति । तच्च वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः—शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं चेति । एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति । यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रं च; तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥४॥

अन्य आचार्य (द्रव्य, या रस की प्रधानता) नहीं मानते। (वे कहते हैं कि) वीर्य प्रधान है। किस हेतु से ? ओषधियों के कर्म की सिद्धि वीर्य के अधीन होने से। यहाँ पर ऊर्ध्वभाग संशोधन (वमन), अधोभाग संशोधन (विरेचन), उभय-

भाग संशोधन, संशमन, संग्राहक, अग्नि दीपन, पीड़न, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, शोथकरण, शोथविलयन, दहन, दारण, मादन (मत्तताकरण), प्राणनाशन तथा विषप्रशमन इत्यादि ओषधियों के कर्म वीर्य की प्रधानता से होते हैं। समस्त जगत् अग्निसोमात्मक होने से यह वीर्य दो ही प्रकार का होता है—उष्ण और शीत। कई आचार्य इसको आठ प्रकार का मानते हैं। यथा—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण। ये वीर्य अपने बल और गुण की उत्कृष्टता से रस के कार्य का निराकरण करके अपना कार्य किया करते हैं। जैसे—बृहत् पंचमूल रस में कषाय और अनुरस में तिक्त होने पर भी उष्णवीर्य होने से वायु को शांत करता है। वैसे ही कषायरसयुक्त कुलथी (उष्ण वीर्य होने से) और कटुक रस युक्त प्याज स्निग्धवीर्य होने से (वायु को शान्त करता है)। गन्ने का रस मधुर होने पर भी शीतवीर्य होने से वायु को बढ़ाता है। कटुक रस युक्त पिप्पली मृदुशीतवीर्य होने से पित्त को शांत करती है, तथा अम्ल रस युक्त आँवला और लवण रस युक्त सैंधा नमक भी शीतवीर्य होने से पित्त को शान्त करते हैं। तिक्त रस काकमाची उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाती है; वैसे ही मछली मधुर होने पर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाती है। (मोटी) मूली कटुरस युक्त होने पर भी स्निग्धवीर्य होने से श्लेष्मा को बढ़ाती है। अम्ल रस कपित्थ रूक्षवीर्य होने से श्लेष्मा को शान्त करता है; वैसे ही मधुररस मधु भी रूक्षवीर्य होने से कफ को शान्त करता है। वीर्य के कार्य की दिशा प्रदर्शित करने के लिये यह थोड़ा सा वर्णन कर दिया है ॥४॥

वक्तव्य—उपर्युक्त पदार्थों में रस का कार्य वीर्यविरुद्ध होता है—रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः। तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्। कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥ (अष्टांगहृदय)। परन्तु उन्हीं पदार्थों का वीर्य रस कार्य का नाश करके उसके विरुद्ध कार्य करता है।

भवन्ति चात्र—

ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्युःसमीरणम् ॥५॥
ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
तैक्ष्ण्यौष्ण्यलघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः ॥६॥
ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
स्नेहगौरवशैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः ॥७॥
तस्माद्वीर्यं प्रधानमिति ॥८॥

जो रस वायु की शान्ति करने वाले हैं यदि उनमें रूक्षता, लघुता और ठंडापन हो तो वे वायु को शान्त नहीं कर सकते हैं ॥५॥ जो रस पित्त की शान्ति करने वाले हैं उनमें यदि तीक्ष्णता, उष्णता और लघुता हों तो वे (पित्तशमन का) वह कार्य नहीं करते हैं ॥६॥ जो रस कफ की शान्ति करने वाले हैं उनमें यदि स्निग्धता, गौरव और ठंडापन हों तो वे (कफ शमन का) वह कार्य नहीं करते हैं ॥७॥ इसलिये (रस की अपेक्षा) वीर्य ही प्रधान है ॥८॥

नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति। कस्मात्? सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वात्; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति ॥९॥

कई दूसरे आचार्य (द्रव्य, रस, वीर्य की प्रधानता को) नहीं मानते। (वे कहते हैं कि) विपाक ही प्रधान है। किस हेतु से? सब द्रव्यों का योग्य या अयोग्य विपाक होने (पर ही उनकी शरीर पर क्रिया निर्भर होने) के हेतु से। सेवन किये हुए सर्व द्रव्य शरीर में योग्य या अयोग्य विपाक होने पर गुण या दोष उत्पन्न करते हैं ॥९॥

वक्तव्य—इसमें सन्देह नहीं कि ओषधियों का शरीर पर कार्य सम्यग् विपाक होने के पश्चात् ही प्रायः होता है और इस हेतु से विपाक प्रधान हो सकता है। जैसे कुनीन (Quinine) विषम ज्वर के लिये बड़ी प्रभावी ओषधि है परन्तु जब उसकी शर्करावगुंठित गोली (Sugareoatid) सेवन की जाती है तब उसका विषम ज्वर पर कभी कभी प्रभाव योग्य विपाक न होने के कारण नहीं पड़ता। तथापि रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव में से किसी एक की सर्वश्रेष्ठता सर्वावस्था में और सर्व ओषधियों में नहीं हो सकती है न देखने में आती है। इसलिये आचार्यों में इस विषय पर ऐकमत्य नहीं होता है। चरकसंहिता में तथा इसी अध्याय के १४–१५ श्लोकों में इस मतभिन्नता का समन्वय बहुत सयुक्तिक किया गया है—किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन ॥ जैसे तिक्त, उष्णवीर्य और प्रभावी कुनीन अरोचक पीड़ित रोगी में केवल रस से रुचि उत्पन्न करता है, प्रतिश्याय एन्फ्लूएन्जा आदि कफोल्बण रोग से पीड़ित रोगियों में उष्णवीर्य से रोग नाशन करता है, ज्वरनिर्मुक्त अवस्था की दुर्बलता में विपाक से शक्ति देता है और विषम ज्वर से पीड़ित रोगी में प्रभाव से ज्वरनाशन करता है।

तत्राहुरन्ये—प्रति रसं पाक इति। केचित्त्रिविधमिच्छन्ति—मधुरमम्लं कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्, भूतगुणादामाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्यग्नेर्मन्दत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति ॥१०॥

इसमें कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि रसादि छः रसों के यथाक्रम रसादि छः विपाक होते हैं। कई (आचार्य केवल) तीन प्रकार का विपाक मानते हैं। परन्तु यह (त्रैविध्य) ठीक नहीं है, क्योंकि पंचमहाभूतों के गुणों से और शास्त्र से अम्ल विपाक सिद्ध नहीं होता है। अग्नि की मन्दता से विदग्ध होकर पित्त ही अम्लता को प्राप्त होता है। इसलिये यदि अम्ल विपाक माने तो चौथा लवण विपाक भी (ग्रहण करना) होगा, क्योंकि कफ विदग्ध होकर लवणभाव को प्राप्त होता है ॥१०॥

मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुः; दृष्टान्तं चोपदिशन्ति, यथा—तावत् क्षीरमुखागतं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्तथा शालि-

यवमुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति । केचिद्वदन्ति—अबलवन्तो बलवतां वशमायान्तीति । एवमनवस्थितिः; तस्माद-सिद्धान्त एषः ॥११॥

कई आचार्य कहते हैं कि मधुर का मधुर, अम्ल का अम्ल, इसी प्रकार प्रत्येक रस का वही पाक होता है । दृष्टान्त देते हैं कि, जैसे स्थालि में पकता हुआ दूध (शुरू से आखिर तक) मधुर ही होता है और चावल यव, मूँग बोने पर अरोहण के समय भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, वैसे रस भी (अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते)। कई आचार्य कहते हैं कि (मधुरादि रसों में) जो अबलवान् होते हैं वे (विपाक के समय) बलवान् (रस के) वश में आ जाते हैं । इस प्रकार सब बातें अव्यवस्थित (अनिर्णीत) हैं । इसलिये उपरोक्त विपाक विषयक बातें सिद्ध नहीं मानी जा सकतीं ॥११॥

आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च । तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति । तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुण-साधर्म्याद्गुरुता लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि; तस्माद्द्विविध एव पाक इति ॥१२॥

आयुर्वेदशास्त्र से तो दो ही प्रकार का विपाक है, मधुर और कटुक । उनमें से मधुरविपाक गुरु होता है और कटु-विपाक लघु होता है । पृथिवी, आप, तेज, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों के (गुरुत्व और लघुत्व) गुणों के साध-र्म्य से गुरुता और लघुता ऐसे दो भेद होते हैं । इनमें पृथिवी और जल गुरु हैं और शेष (तेज, वायु और आकाश) लघु होते हैं । इससे विपाक भी दो प्रकार का ही होता है ॥१२॥

भवन्ति चात्र—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः ।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥१३॥
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु ।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥१४॥

जिन पचन होने वाले द्रव्यों में पृथिवी और जल के गुण अधिक होते हैं वहाँ विपाक मधुर होता है ॥१३॥ जिन पचन होने वाले द्रव्यों में तेज, वायु और आकाश के गुण अधिक होते हैं वहाँ विपाक कटुक होता है ॥१४॥

वक्तव्य—ऊपर विपाक के संबंध में चार मत निर्दिष्ट किये हैं—(१) प्रतिरसपाक, (२) अनवस्थितपाक, (३) त्रिविधपाक और (४) द्विविधपाक । इनमें से प्रतिरसपाक और अनवस्थितपाक इनका यहाँ विचार करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उनका ग्रहण करने से विपाक को रस से स्वतंत्र मानने की भी आवश्यकता नहीं होती । त्रिविधपाक चरक तथा चरकमतानुसारी वाग्भट का मत है—कटुतिक्तकषा-याणां विपाकः प्रायशः कटु । अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा॥ (सूत्रस्थान अध्याय २६) । पराशरमुनि यद्यपि तीन विपाक मानते हैं तथापि उनका वर्गीकरण भिन्न है—पराशरस्तु पठति । पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते कटुः कटुकम् । चत्वारोऽन्ये मधुरं संकीर्णरसास्तु संकीर्णम् ॥ कटुतिक्तकषायाणां कटुको येषां विपाक इति पक्षः । तेषां पित्तविघाते तिक्तकषायौ कथं भवतः ॥ (अष्टांग-संग्रह सूत्र, १७) । सुश्रुत के मतानुसार केवल मधुर और कटु दो ही विपाक होते हैं । इस मतभिन्नता का कारण यह है कि चरक में त्रिविध पाक रसपाक के अभिप्रायानुसार तथा त्रिदोषों के तीन रसों (वायु कटु, पित्त अम्ल और कफ मधुर) के अनुसार माना गया है । सुश्रुत में द्विविधपाक भूतगुणपाक के अभिप्रायानुसार तथा दोषों के रसानुसार माना गया है । फर्क यही है कि चरकमतानुसार प्रकृतिस्थ पित्त अम्ल है—सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु । सुश्रुत के मतानुसार प्रकृतिस्थ पित्त कटु है और विदग्ध पित्त अम्ल है—उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च । इसलिये पित्त के अम्लत्व को अंगीकार न करने के कारण अम्ल-विपाक भी अंगीकार करने की कोई आवश्यकता सुश्रुत को मालूम नहीं हुई ।

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः ।
चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः ॥१५॥
तद्द्रव्यमात्मना किंचित्किंचिद्वीर्येण सेवितम् ।
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥१६॥

(इस अध्याय के प्रारंभ से यहाँ तक जो लिखा गया है, वह केवल द्रव्यादि के प्राधान्य के संबंध में) पृथक् पृथक् प्राधान्य मानने वाले विवादी आचार्यों के वादविवाद का संग्रह है । परन्तु तत्त्वदर्शी लोक (द्रव्य, रस, गुण और वीर्य इन) चारों के समुदाय को (कार्य की दृष्टि से एकत्र) मानते हैं ॥१५॥ (वास्तव में) सेवन किया हुआ द्रव्य दोष-प्रकोप या दोषहरण का कार्य थोड़ा अपने (द्रव्यात्मक) सामर्थ्य से, थोड़ा अपने वीर्य (के सामर्थ्य)[1] से और थोड़ा रस विपाक (के सामर्थ्य) से करता है (यानि प्रत्येक द्रव्य का शरीर पर जो कार्य होता है वह द्रव्य रस, वीर्य और विपाकों के मिश्रसामर्थ्य का फल होता है) ॥१६॥

वक्तव्य—आत्मना—पृथिवी, आप, तेज, वायु और आकाश इनके गुणों के सामर्थ्य से । इनका वर्णन आगे १४ वें अध्याय के ८ से लेकर १३ सूत्र तक किया गया है—एवमेतद्गु-णाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिर्श्चितम् । द्विशो वा बहुशो वाऽपि ज्ञात्वा दोषेषु चाचरेत् ॥ चरक में और वाग्भट में भी द्रव्य के कार्य सामर्थ्य के संबंध में ऐसा ही लिखा है—किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम् । द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन ॥ (चरक) । रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव के स्वाभाविक बल के संबंध में चरक और वाग्भट में लिखा है—यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते । अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते ॥ विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाल्पं हि जीयते । रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान् व्यपोहति ॥ बलसाम्ये रसादीना-मिति नैसर्गिकं बलम् । विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाद्याः कार्यसाधने ॥ नावश्यं स्युर्विघाताय गुणदोषा मिथो यथा । रसवीर्यप्रभृतयो भूतोत्क-

---

१ निर्वर्तन्ते.

[1] सामर्थ्य.

र्षापकर्षतः । एकरूपा विरूपा वा द्रव्यं समधिशेरते ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान १७ अध्याय) ।

पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात् ।
रसो नास्ति विना द्रव्याद्द्रव्यं श्रेष्ठतमं[1] स्मृतम् ॥१७॥

वीर्य के विना पाक नहीं, रस के विना वीर्य नहीं और द्रव्य के (आश्रय के) विना रस नहीं, इसलिये द्रव्य ही सब से श्रेष्ठ है ॥१७॥

जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम् ।
अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद्देहदेहिनोः ॥१८॥
वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः ।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः ॥१९॥
द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः ।
श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं, शेषा भावास्तदाश्रयाः ॥२०॥

जैसे शरीर और आत्मा का जन्म अन्योन्याश्रित होता है वैसे ही द्रव्य और रस का जन्म एक दूसरे के आश्रित होता है ॥१८॥ वीर्यसंज्ञक (शीतादि) जो आठ (तथा सूक्ष्मादि अन्य) गुण होते हैं वे भी द्रव्य के आश्रित होते हैं, रसों में अधिष्ठित नहीं हो सकते; क्योंकि गुण (स्वयं) निर्गुण होते हैं ॥१९॥ (षड्रसात्मक, द्विविध या अष्टविध वीर्यात्मक एवं विंशतिगुणात्मक द्रव्यजात जो मनुष्य सेवन करते हैं उस) द्रव्यजात में (विविध) द्रव्यों का ही परिपाक होता है, न छः रसों का (अथवा अष्टविध वीर्य का अथवा विंशति गुणों का), इसलिये द्रव्य को ही श्रेष्ठ समझना चाहिये और (द्रव्य के अतिरिक्त) शेष (रस वीर्य गुणात्मक) भावों को उस द्रव्य के अधीन समझना चाहिये ॥२०॥

वक्तव्य—रस, वीर्य और विपाक इनका अधिष्ठान द्रव्य होने के कारण वही सब से श्रेष्ठ है, यह इन श्लोकों में सिद्ध किया है । अठारहवें श्लोक में यह बतलाया है कि, जैसे शरीर के अधिष्ठान के विना आत्मा प्रकट नहीं हो सकती, वैसे ही द्रव्य के अधिष्ठान के विना रस प्रकट नहीं हो सकता । उन्नीसवें श्लोक में यह बतलाया है कि यद्यपि व्यवहार में 'कषाय रस रूक्ष है' 'अम्लरस उष्ण है' 'मधुर स्निग्ध है' ऐसी परिभाषा प्रयुक्त होती है, तथापि वास्तव में ये रूक्षादि गुण रसों के न होकर रसाधार द्रव्य के ही होते हैं । उपर्युक्त परिभाषा प्रयुक्त होने का कारण रस और गुणों का 'साहचर्य' है—गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये । रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः । (अष्टांगहृदय. सू. ९) । रस स्वयं गुण होते हैं (रसेषु गुणसंज्ञा । सुश्रुत) और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं (अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः । भाषापरिच्छेद) इसलिये शीतादि गुण जो रसों के बतलाये जाते हैं उन्हें द्रव्य के ही समझना चाहिये—गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक् । विद्याद् द्रव्यगुणान्, कर्तुरभिप्रायः पृथग्विधः ॥ (चरक. सू. २६) । गुणों का द्रव्य के सिवा दूसरा आश्रय नहीं हो सकता । द्रव्ये—आहार तथा ओषधियों के लिये प्रयुक्त समस्त द्रव्यवर्ग, उसमें । अरुणदत्त के अनुसार 'पञ्चभूतात्मके देहे' । द्रव्याणि—'पंचमहाभूतद्रव्याणि' ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है और विपाक की दृष्टि से यह भी अर्थ प्रशस्त है, क्योंकि विपाक में द्रव्यगत पंचमहाभूतों का ही परिपाक होता है ऐसा लिखा गया है—भौमाप्याग्नेयवायव्याः पंचोष्माणः सनाभसाः । पंचाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्त्यनु ॥ यथास्वं ते च पुष्णन्ति पक्त्वा भूतगुणान् पृथक् । पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च देहगान् ॥ (अष्टांगहृदय. शा. ३) ।

अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः ।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः ॥२१॥
प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः ।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथं(दा)चन ॥२२॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत् ।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु ॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यगुणरसवीर्यविपाकविज्ञानीयो
नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४०॥

जो ओषधियाँ (अर्थात् जिन ओषधियों की कार्यकर शक्ति) मीमांसा और तर्क से सिद्ध नहीं होती, परन्तु जो (सहज) स्वभाव से ही प्रसिद्ध हैं वे ओषधियाँ व्यवहारकुशल वैद्यों से शास्त्र के आधार पर ही प्रयुक्त होनी चाहिये ॥२१॥ जिन ओषधियों के गुण और फल प्रत्यक्ष हों तथा जो स्वभाव से ही मशहूर हों उन ओषधियों को विद्वान् वैद्य तर्कवितर्कादि से न परखें ॥२२॥ अंबष्ठादिगण की ओषधियाँ (विरेचन करती हैं यह) हजारों तर्कवितर्कों से (यदि सिद्ध किया जाय तो) भी विरेचन नहीं करतीं (क्योंकि यह शास्त्र और प्रत्यक्ष विरुद्ध है) । इसलिये बुद्धिमान् वैद्य (कुछ ओषधियों के विषय में) शास्त्र के आधार पर भरोसा रक्खे और हेतुओं में नहीं (अर्थात् कार्यकारण भाव से उन ओषधियों का कार्य सिद्ध करने में सिर न पचावे) ॥२३॥

वक्तव्य—आयुर्वेद में ओषधियों के वैद्यकीय उपयोगों की मीमांसा या उपपत्ति उनके पंचतत्त्वात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य और विपाक की सहायता से की जाती है । रसादि द्वारा चिकित्सा में प्रयुक्त हुई अधिकसंख्य ओषधियों के उपयोगों की कार्य कारणमीमांसा ज्ञात हो जाती है । तथापि खदिर तुवरक विषमणि प्रभृति कुछ द्रव्य ऐसे भी प्रयुक्त होते हैं जिनके उपयोगों की मीमांसा रसादिद्वारा नहीं हो सकती है । इसलिये इन ओषधियों को 'अमीमांस्य' या 'अचिन्त्य' कहा है । अमीमांस्य या अचिन्त्य का अर्थ 'रसवीर्यविपाकतयाऽचिन्त्यं वाऽमीमांस्यं वा' ऐसा है । ओषधिगत अचिन्त्य कार्यशक्ति का विवरण इन अन्तिम श्लोकों में किया है । चरक और वाग्भट में द्रव्यगत इस अचिन्त्यशक्ति को ही 'प्रभाव' कहा है । रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते । विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य च स्मृतः ॥ प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥ (चरक, सू. २६) । सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः प्रभाव इत्याम्नातः ॥ (अष्टांगसंग्रह, सू. १७) । रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम् ॥ दन्तीरसाद्यैस्तुल्यापि चित्रकस्य विरेचनी । मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम् ॥ कटुपाकरसस्निग्धगुरुत्वैः कफवातजित् । लशुनो वातकफकृन्नतु तैरेव यद्गुणैः ॥ मिथो विरुद्धान् वातादीन् लोहिताद्या जयन्ति यत् । कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत्प्रभावविजृम्भितम् ॥ शिरी-

---

[1] श्रेष्ठमतः.

षादिविषं हन्ति स्वप्नाद्यं तद्विवृद्धये । मणिमन्त्रौषधीनां च यत् कर्म विविधात्मकम् । शल्याहरणपुंजन्मरक्षायुर्द्धीवशादिकम् । दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः ॥ विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा । ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च ॥ मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत् प्रपञ्चेन वर्णितम् । तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते ॥ रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विदध्यात् । सद्योऽन्यथा तत्कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति ॥ (**अष्टांगसंग्रह, सूत्र, अ. १७**) । यत् सोपपत्तिकं कार्यं न तत् प्रभावकृतमिति व्यपदिश्यते; उक्तं हि प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते । (**चक्रपाणिदत्त**) । पाश्चात्त्य ओषधिगुणविज्ञान में भी ओषधियों के वैद्यकीय उपयोगों के संबंध में मीमांस्य और अमीमांस्य ऐसे दो भेद किये जाते हैं। जिनके उपयोग की मीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार की जा सकती है, उनको मीमांस्य या रयाशनल (Rational) कहते हैं । जिनके उपयोग की मीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार नहीं की जा सकती, अर्थात् जिनका उपयोग केवल अनुभवों पर निर्भर होता है उनको 'अमीमांस्य' या एम्फीरिकल (Empherical) कहते हैं। विषमज्वर के लिये कूनिन (Quinine), काला अजार निद्रारोग इत्यादि के लिये अंजन तथा उसके योग (Antimony and its preparations), राजयक्ष्मा के लिये स्वर्ण इत्यादि कई शर्तिया दवाइयाँ इसी अमीमांस्यवर्ग की हैं। इस अमीमांस्यकार्य को आयुर्वेद में प्रभाव कहते हैं और पाश्चात्त्य कल्पना के अनुसार (Empherical action) कह सकते हैं, यद्यपि प्रभाव का पूरा पूरा अर्थ इससे निदर्शित नहीं होता।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां द्रव्यगुणरसवीर्यविपाकविज्ञानीयो
नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४०॥

एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से द्रव्यविशेषविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—द्रव्यविशेषविज्ञानीय—द्रव्यों के विशेष यानि पार्थिवादि भेद उनके संबंध में विस्तृत रूप से विवरण करने वाला अध्याय।

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद्द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥२॥

(द्रव्योत्पत्ति—) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों तत्त्वों के अपृथक् संयोग से सब पदार्थों की उत्पत्ति हुआ करती है, परंतु (किसी तत्त्व की) अधिकता द्रव्य का विशेषक होती है; यह पार्थिव है, यह आप्य है, यह तैजस है, यह वायव्य है और यह आकाशीय है ॥२॥

वक्तव्य—अभिनिर्वृत्ति—उत्पत्ति। यद्यपि पाँचों तत्त्वों से प्रत्येक द्रव्य उत्पन्न होता है तथापि प्रत्येक तत्त्व का कार्य उत्पत्ति के संबंध में विशेष होता है । इस विषय में वाग्भट लिखते हैं कि द्रव्य का आधार पृथिवी है, जल योनि है और अग्नि, वायु तथा आकाश ये तीन तत्त्व द्रव्य की विशेषता बनाने वाले होते हैं—इह हि द्रव्यं पंचमहाभूतात्मकम् । तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ । (**अष्टांगसंग्रह**) । अभिव्यञ्जकः—परस्पर असादृश्य करने वाला। यद्यपि रचना की दृष्टि से (Qualitatively) सब पदार्थ एक यानि पंचतत्त्वात्मक होते हैं तथापि पदार्थों में उपस्थित इन तत्त्वों के प्रमाण में (Quantitatively) भेद होने के कारण पदार्थों में भी भेद होता है । यथा जिसमें पृथिवीतत्त्व का प्रमाण अधिक होता है वह पार्थिव कहलाता है, जिसमें जल का प्रमाण अधिक होता है वह आप्य कहलाता है इत्यादि—व्यपदेशस्तु भूयसा। इस सोत्कर्षापकर्ष युक्त पंचतत्त्वात्मक संगठन का निर्देश कभी कभी 'द्रव्य' शब्द से किया जाता है । ४० वें अध्याय के पहले सूत्र के वक्तव्य में 'द्रव्य' देखो ।

तत्र स्थूलसारसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं; तत् स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति ॥३॥

(पार्थिव द्रव्य—) इनमें जो स्थूल (मोटा), सार (मजबूत), सान्द्र (ठोस), मन्द, स्थिर, गुरु (भारी), कठिन होता है, जिसमें गंध बहुत होती है, जो किंचित् कसैला परंतु प्रायः अधिक मीठा होता है वह पार्थिव द्रव्य है । वह पार्थिव द्रव्य (शरीर की) स्थिरता, शक्ति, गुरुता, काठिन्य और वृद्धि करने वाला होता है, विशेष करके उसका स्वभाव नीचे की ओर गमन करने का है ॥३॥

शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुररसप्रायमाप्यं; तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनविष्यन्दनकरमिति ॥४॥

(आप्य द्रव्य—) शीतल, स्तिमित (गीला या जड़), चिकना, मन्द, भारी, सर (फैलने वाला), सान्द्र (गाढ़ा), मृदु, पिच्छिल (लसलसा), अधिक रस युक्त, किंचित् कषाय अम्ल और लवण रस युक्त और अधिक मधुर रस युक्त द्रव्य आप्य होता है । वह आप्य पदार्थ शरीर में स्नेहन (चिकनाई), प्रह्लादन (तृप्ति), आर्द्रता, बंधन और विस्रावण करता है ॥४॥

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरूक्षखरलघुविशदं रूपगुणबहुलमीषदम्ललवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं; तद्दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति ॥५॥

(तैजस द्रव्य)—जो पदार्थ गरम, (मिरच या सरसों की भाँति) तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रूक्ष, खरस्पर्श, हलका, विशद (स्वच्छ), रूप गुण की अधिकता युक्त, किंचित् अम्ल और लवण रस युक्त, कटुक रस भूयिष्ठ और विशेष करके ऊर्ध्वगमन

के स्वभाव वाला हो वह तैजस है । वह तैजस द्रव्य दहन, पचन, विदारण, तापन, प्रकाशन, कान्ति और वर्ण करने वाला होता है ॥५॥

सूक्ष्मरूक्षखरशिशिरलघुविशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयं; तद्वैशद्यलाघवग्लपनविरूक्षणविचारणकरमिति ॥६॥

(वायवीय द्रव्य—) जो पदार्थ सूक्ष्म, रूक्ष, खुरदरा, शीत, हलका, विशद (अपिच्छिल), स्पर्श गुण युक्त, किंचित् तिक्त रस परंतु विशेष करके कषाय रस युक्त होता है वह वायवीय है । वह वायवीय द्रव्य वैशद्य, हलकापन, ग्लपन (ग्लानि या अवृष्यत्व), रौक्ष्य और विचारण (मन में अनेक कल्पना करना) ये कार्य करता है ॥६॥

श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं; तन्मार्दवशौषिर्यलाघवकरमिति ॥७॥

(आकाशीय द्रव्य—) मसृण (चिकना), सूक्ष्म स्रोतोनुसारी, कोमल, व्यवायि, विशद, विविक्त (पृथग्भूतम्, अवयवद्वारेण शून्यम् । डल्हण), अप्रकट रस का और शब्दबाहुल्य युक्त आकाशीय द्रव्य होता है । वह (शरीर की) मृदुता, सच्छिद्रता और लघुता करने वाला है ॥७॥

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति । तानि यदा कुर्वन्ति स कालः, यत्कुर्वन्ति तत्कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यन्निष्पादयन्ति तत् फलमिति ॥८॥

इस निदर्शन से जगत् में कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं होता, इस हेतु से कि नानाविध योजना विशेषों और प्रयोजनों का पूर्ण विचार कर (प्रयुक्त किये हुए) अपने स्वाभाविक वीर्य और गुणों से युक्त द्रव्य कार्य करने में समर्थ होते हैं । वे जब कार्य करते हैं वह काल है; जो कुछ करते हैं वह कर्म है; जिससे कार्य करते हैं वह वीर्य है; जहाँ पर कार्य करते हैं वह अधिकरण है; जिस प्रकार से कार्य करते हैं वह उपाय है; और (परिणाम स्वरूप में) जो कुछ निष्पादन होता है वह फल है ॥८॥

वक्तव्य—यही सूत्र थोड़े फर्क से चरकसंहिता (सूत्र, अ० २६ सू. २२–२३) में मिलता है । अनेन निदर्शनेन—समस्त द्रव्यजात पंचमहाभूतात्मक है । जिस भूत की अधिकता होती है उसके अनुसार द्रव्यों के पार्थिवादि पाँच भेद होते हैं तथा उनमें विशेष गुण उत्पन्न होते हैं इत्यादि द्वितीयसूत्र से अष्टमसूत्र तक जो विवरण किया गया है, उसके अनुसार । नानौषधिभूतम्—अनौषधिभूतं द्रव्यं नास्तीति संबंधः । अनौषधीभूतम—व्याधिहरण के लिये अनुपयोगी किंवा अपथ्यकर । इस शब्द का तात्पर्य यह है कि यदि वैद्य व्याधिनिदान और मात्रादि योजनापरिज्ञान में निपुण हो तो उसको स्थावरजंगमाख्यपंचमहाभूतारब्ध जगत् में कोई भी द्रव्य, यहाँ तक कि सर्पविष भी, अनुपयोगी या अपथ्यकर नहीं मालूम होगा । व्यवहार में भी इस प्रकार की कहावत मशहूर है—अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् । अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥ युक्तिविशेष—योजनाविशेष—युक्तिश्च योजना या तु युज्यते । (चरक) । इस योजनाविशेष में ओषधि के बाह्य प्रयोग के समय 'अभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनादि' का विचार और अन्तः प्रयोग के समय 'मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषगुणान्तर' का विचार होता है । अर्थ—प्रयोजन—प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च । (चरक) । अभिसमीक्ष्य—अभिसमीक्ष्य 'प्रयुक्तानि' इति शेषः । स्ववीर्यगुणयुक्तानि—अव्यापन्नवीर्यगुणयुक्तानि । कार्मुक—कर्मणे प्रभवति उकञ्, कार्यकर । इस सूत्रार्ध में त्र्यावयववाक्य है, जिसमें 'नानौषधिभूतं किंचिद्द्रव्यमस्ति' यह प्रतिज्ञा है, 'तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य' इत्यादि हेतु है, और 'अनेन निदर्शनेन' (अर्थात् दूसरे सूत्र से ८ वें सूत्र तक) उदाहरण या व्याप्ति है । काल—शीतोष्णवर्ष लक्षणरूप काल तथा आतुरावस्था । अधिकरण—पंचमहाभूत शरीरिसमवाय पुरुष । उपाय—जिस प्रकार से कार्य होता है वह उपाय है—कार्याणामभिनिर्वर्तक इत्यतस्तूपायः । (चरक) । फल—'सुखावाप्तिः । (चरक) । अर्थात् आरोग्य की प्राप्ति होना । चरक की टीका में चक्रपाणिदत्त सोदाहरण इसका विवरण निम्न प्रकार से करते हैं—यत्कुर्वन्तीत्यादावुदाहरणम्—यथा, शिरोविरेचनद्रव्याणि यत् शिरोविरेचनं कुर्वन्ति तत् शिरोविरेचनं कर्म । येनोष्णत्वादिकारणेन शिरोविरेचनं कुर्वन्ति तद्वीर्यं वीर्यं शक्तिः, सा च द्रव्यस्य गुणस्य वा । यत्र शिरोविरेचनं कुर्वन्ति तदधिकरणं शिरः । यदेति वसन्तादौ शिरोगौरवादियुक्ते च काले, एतेनाकाले शीतादौ शिरोविरेचनं स्तब्धत्वान्न कार्मुकं, किन्तु स्वकाले एव । यथा येन प्रकारेण प्रधमनावपीडनादिना तथा 'प्रसारिताङ्गमुत्तानं शयने संस्तरास्तृते । ईषत्प्रलंबशिरसं संवेश्य चावृतेक्षण ॥' इत्यादिना विधिना कुर्वन्ति स उपायः । यत्साधयंति शिरोगौरवशूलाद्युपरमं तत् फलं, फलमुद्देश्यम् । एवं वमनादिष्वपि कर्मवीर्याधिकरणाद्युन्नेयम् ।

तत्र, विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्यस्ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात् ॥९॥

(विरेचन द्रव्य—) इनमें से विरेचन द्रव्य पृथिवी और जल की अधिकतायुक्त होते हैं । पृथिवी और जल भारी होते हैं, वे भारी होने से नीचे की ओर गमन करते हैं । इसलिये अनुमान से (यह कहा जा सकता है कि) विरेचनद्रव्य (जिनमें अधोगमन का गुण विशेष है) अधोगामी द्रव्यतत्त्व (पृथिवी और जल) गुणभूयिष्ठ होते हैं ॥९॥

वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम् ॥१०॥

(वमन द्रव्य—) वमन द्रव्य अग्नि और वायु की अधिकतायुक्त होते हैं । अग्नि और वायु दोनों ही हलके हैं और

---

१ कर्मकराणि.

१ तानि.

हलके होने के कारण दोनों ही ऊपर की ओर गमन करते हैं। इसलिये वमन द्रव्य ऊर्ध्वगामीतत्त्व (अग्निवायु) गुणभूयिष्ठ होता है ॥१०॥

उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्; आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनं; सांग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्; दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं (तत्समानत्वात्); लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठं; बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्; एवमौषधकर्माण्यनुमानात्साधयेत् ॥११॥

जिस पदार्थ में दोनों प्रकार के (अधोगामी और ऊर्ध्वगामी) गुण हों वह दोनों तरफ गमन (वमन और विरेचन का कार्य) करता है। आकाश के गुणों की अधिकता से होने वाला द्रव्य संशमन होता है । वायु के गुणों की अधिकता होने वाला द्रव्य संग्राहक होता है, क्योंकि वायु शोषण करने वाला है। अग्नि के समान कार्य करने वाले होने के कारण दीपनद्रव्य अग्नितत्त्व की अधिकता वाले होते हैं। लेखनद्रव्य अग्नि और वायु इनकी अधिकता वाले होते हैं। बृंहणद्रव्य पृथिवी और जल इनकी अधिकता वाले होते हैं। इस प्रकार ओषधियों के कार्यों को अनुमान से सिद्ध करना चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—उभयगुणभूयिष्ठ—पृथिवी, अग्नि, जल और वायु इनके गुणों की अधिकता युक्त। संशमन—दोषों का केवल शमन करने वाला—न शोधयति यद्दोषान् समान् नोदीरयत्यपि। समीकरोति क्रुद्धांश्च तत् संशमनमुच्यते ॥ (शार्ङ्गधर) । संग्राही—द्रवांश का शोषण करके मल का संग्रहण करने वाला द्रव्य—आग्नेयगुणभूयिष्ठात् तोयांशं परिशोष्य यत् । संगृह्णाति मलं यत्तु ग्राही शुण्ठ्यादयो यथा ॥ (भावप्रकाश) । भावप्रकाश की तथा शार्ङ्गधर की व्याख्या में संग्राहक द्रव्य आग्नेयगुणभूयिष्ठ वर्णन किये हैं; परन्तु सुश्रुत में वातगुणभूयिष्ठ वर्णन किये हैं। इस विरोध का परिहार आढमल्ल शार्ङ्गधरदीपिका में इस प्रकार से करते हैं—ग्राहकद्रव्य उष्णग्राहक और शीतग्राहक दो प्रकार के होते हैं । उष्णग्राहकद्रव्य आग्नेयगुणभूयिष्ठ और शीतग्राहकद्रव्य वातगुणभूयिष्ठ होते हैं—पक्वामग्राहकत्वेन द्विविधं हि संग्राहकत्वं तत्र यत् ग्रहण्यामामं संपाच्य वह्निं कृत्वा तत्रस्थं द्रवं च शोषयित्वा स्तम्भनं करोति तदुष्णग्राहकं ज्ञेयम् । यद्द्रव्यमतिसारादौ पक्वमलादिकं संस्तभ्य संग्रहं करोति तच्छीतग्राहकं ज्ञेयमेतदनिलगुणभूयिष्ठमित्यदोषः ॥ दीपन—जठराग्निप्रदीपक । लेखन—धातुमलों का शोषण करके शरीर को कृश करने वाला—धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्। लेखनं तत्। (शार्ङ्गधर) । बृंहण—शरीर की पुष्टि करने वाला—बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्। (चरक)। बृंहण और विरेचन द्रव्यों के संगठन का विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि दोनों में भी पृथिवी और जल तत्त्व की अधिकता है । परन्तु दोनों की क्रिया में अत्यंत फर्क होता है । इसलिये यह समझना चाहिये कि यद्यपि दोनों में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा पृथिवी और जल तत्त्वों की अधिकता है तथापि विरेचन द्रव्य में जलतत्त्व अधिकतर और बृंहणद्रव्य में पृथिवीतत्त्व अधिकतर होता है।

भवन्ति चात्र—

भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः।
भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम् ॥१२॥
खतेजोनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम् ।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिं[1]माप्नोति मारुतः ॥१३॥
आग्नेयमेव यद्द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते ।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते ॥१४॥
एवमेतद्गुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम् ।
द्विशो वा बहुशो वाऽपि ज्ञात्वा दोषेषु[2] चाचरेत् ॥१५॥

पृथिवी, अग्नि और जलभूयिष्ठ द्रव्यों से वायु शांत होती है; पृथ्वी, जल और वायु भूयिष्ठ द्रव्यों से पित्त शीघ्र शांत होता है ॥१२॥ और मनुष्यों का कफ आकाश, अग्नि और वायुभूयिष्ठ द्रव्यों से शांत होता है; आकाश और वायुगुण भूयिष्ठ द्रव्यों से वायु वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१३॥ आग्नेयगुण भूयिष्ठ द्रव्य से ही केवल पित्त वृद्ध होता है और पृथिवी जलभूयिष्ठ द्रव्यों से कफ की वृद्धि होती है ॥१४॥ इस प्रकार द्रव्य द्रव्य में जिस जिस तत्त्व के गुणों की अधिकता निश्चित है उसे जानकर (एक दोष), द्विदोष या बहुत दोषों (की चिकित्सा) में उनका उपयोग करे ॥१५॥

तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्ण[3]पिच्छिलविशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ, शीतपिच्छिलौ[4]वम्बुगुणभूयिष्ठौ, पृथिव्यम्बु[5]गुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं, क्षितिसमीरणगुणभू[6]यिष्ठं वैशद्यम् ॥१६॥

शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल और विशद ये जो वीर्यसंज्ञक (आठ) गुण होते हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण आग्नेय हैं; शीत और पिच्छिल जलगुणभूयिष्ठ हैं; स्नेह पृथिवी और जल गुण की अधिकता से होता है; मृदुता जल और आकाश की अधिकता से होता है; रौक्ष्य वायु गुण की अधिकता से होता है और विशदता पृथिवी और वायु गुण की अधिकता से होती है ॥१६॥

गुरुलघुविपाकावुक्तगुणौ; तत्र, उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ, शीतमृदुपिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्णरूक्षविशदाः श्लेष्मघ्नाः[7]; गुरुपाको वातपित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः ॥१७॥

गुरु और लघु विपाक के गुण पहले कह चुके हैं । इनमें उष्ण और स्निग्ध वातनाशक हैं । शीत, मृदु और पिच्छिल पित्तनाशक हैं । तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद श्लेष्मनाशक हैं । गुरुविपाक वातपित्तनाशक है । और लघुपाक श्लेष्मनाशक है ॥१७॥

---

[1] वृद्धिमभ्येति. [2] दोषेऽवचारयेत्. [3] गुरुलघुमृदुतीक्ष्णा. [4] गुरुशीतौ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठौ. [5] अम्बुगुणभूयिष्ठः. [6] अग्न्याकाशसमीरणगुणभूयिष्ठं लघुत्वम्. [7] गुरूष्णस्निग्धा वातघ्नाः, मृदुशीतौ पित्तघ्नौ, लघुतीक्ष्णरूक्षाः श्लेष्मघ्नाः.

वक्तव्य—गुरुलघुविपाकौ—मधुर और कटुक विपाक—द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च । तयोर्मधुराख्यो गुरुः कटुकाख्यो लघुरिति । उक्तगुणौ—गुरुविपाक पृथिवी और जल गुणभूयिष्ठ, तथा लघुविपाक वायु और आकाशगुण भूयिष्ठ होता है। 'तत्र पृथिव्यप्तेजो' से लेकर छठे सूत्र के अंत तक वर्णन किये हुए गुण ।

तेषां मृदुशीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिलविशदौ चक्षुःस्पर्शाभ्यां, स्निग्धरूक्षौ चक्षुषा, तीक्ष्णो मुखदुःखोत्पादनात्[१]; गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च ॥१८॥

इनमें मृदु, शीत और उष्ण ये स्पर्श से ग्रहण किये जाते हैं। पिच्छिल और विशद ये नेत्र तथा स्पर्श से ग्रहण किये जाते हैं। स्निग्ध और रूक्ष नेत्रों से ग्रहण किये जाते हैं। तीक्ष्ण मुख में दुःख के उत्पादन से जाना जाता है । गुरुपाक मलमूत्र के त्याग से तथा कफ के उत्क्लेश (वमनेच्छा) से जाना जाता है। लघुपाक मलमूत्र के अवरोध से तथा वात के प्रकोप से जाना जाता है ॥१८॥

तत्र तुल्यगुणेषु भूतेषु रसवैशेष्यमुपलक्षयेत्; तद्यथा—मधुरो गुरुश्च पार्थिवः, मधुरः स्निग्धश्चाप्य इति ॥१९॥

समानगुणयुक्त भूतारब्धक द्रव्यों में एक ही प्रकार का रस विशेष समझना चाहिये। यथा—जो पार्थिव द्रव्य होते हैं वे मधुर और गुरुविपाकी होते हैं और जो आप्य द्रव्य हैं वे मधुर और स्निग्ध होते हैं ॥१९॥

भवति चात्र—

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा ।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥२०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यविशेषविज्ञानीयो
नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४१॥

जो गुण द्रव्यों में कहे हैं वे प्राणियों के शरीर में भी होते हैं। इसलिये मनुष्यों (के शरीर) की स्थिति, वृद्धि और क्षय इन द्रव्यों के कारण ही हुआ करते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—गुण—गुण शब्द से यद्यपि शीतोष्णादि का बोध होता है तथापि गुण निराधार होने के कारण उनके आधारभूत जो पृथिव्यादि पंचमहाभूतात्मक द्रव्य हैं वे ही यहाँ अधिक अभिप्रेत हैं। स्थान—दोष धातु और मलों की साम्यावस्था में अवस्थिति अर्थात् शरीर का न घटना न बढ़ना । इस श्लोक का अधिक विवरण आगे ४६ वें अध्याय के ५२४ श्लोक वक्तव्य में होगा तथापि इसका तात्पर्य यह है कि पंच महाभूतात्मक द्रव्यों का अधिक सेवन करने से शरीर की वृद्धि, आवश्यकतानुसार सेवन करने से शरीर की स्थिति और कम सेवन करने से शरीर का क्षय होता है।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां द्रव्यविशेषविज्ञानीयो
नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो रसविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से रसविशेषविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तस्मादाप्यो रसः । परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् ॥२॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन तत्त्वों में यथासंख्य एक एक की वृद्धि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये गुण होते हैं। इससे जल का गुण रस होता है (जल ही से रस की उत्पत्ति होती है)। परन्तु सब तत्त्वों का सब तत्त्वों में परस्पर संसर्ग होने से, परस्पर अनुग्रह से और परस्पर एक में एक का प्रवेश होने से सब तत्त्वों का सब तत्त्वों में सान्निध्य होता है। परंतु जिसका उत्कर्ष होता है उसीके नाम से उसका ग्रहण (यथा आप्यो रसः) होता है और जिसका अपकर्ष होता है उसका ग्रहण नहीं होता ॥२॥

वक्तव्य—यथासंख्य—आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और भूमि का गंध ये महाभूतों के नैसर्गिक गुण होते हैं—महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा । शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ (चरक)। ये गुण इन भूतों में उत्कर्ष से होते हैं। इनके सिवाय अन्य भूतों के गुण भी अपकर्ष से होते हैं और इसी लिये लिखा है 'एकोत्तरपरिवृद्धाः । यथा आकाश में शब्द; वायु में शब्द और स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस; पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँचों होते हैं—तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे । पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ (चरक)। उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्—उत्कर्षात् ग्रहणम्, अपकर्षात् अग्रहणम् ।

स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते; तद्यथा—मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति । ते च भूयः परस्परसंसर्गात्त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते ॥३॥

वही जलमय रस पृथिव्यादि शेष महाभूतों के संसर्ग से विदग्ध होकर छः प्रकार का हो जाता है। जैसे—१ मधुर, २ अम्ल, ३ लवण, ४ कटुक, ५ तिक्त, और ६ कषाय। ये ही छः रस फिर परस्पर मिलकर ६३ प्रकारों में विभक्त हो जाते हैं

---

[१] तेषां शीतोष्णस्निग्धा ह्लादनपाचनस्तम्भनादिना, रूक्षगुरुलघवो विरूक्षणोपलेपलेखनादिना, तीक्ष्णो दहनपचनादिना, मृदुस्तद्विपर्यासेनानुमीयते.

(इन ६३ भेदों का वर्णन उत्तरतन्त्र के ८३वें अध्याय में किया गया है) ॥३॥

तत्र, भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः, तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात्कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात्कषाय इति ॥४॥

इनमें से पृथिवी और जल के गुणों की अधिकता से मधुर रस होता है; पृथिवी और अग्नि के गुणों की अधिकता से अम्ल रस होता है; जल और अग्नि के गुणों की अधिकता से लवण रस बनता है; वायु और अग्नि के गुणों की अधिकता से कटु रस होता है; वायु और आकाश के गुणों की अधिकता से तिक्त (कड़ुवा) रस होता है; और पृथिवी तथा वायु के गुणों की अधिकता से कषाय रस होता है ॥४॥

वक्तव्य—महाभूतों के अनुसार छः रसों की घटना ध्यान में रखने के लिये अष्टांगहृदय का निम्न श्लोक बहुत उपयोगी है—क्ष्मामोऽग्निक्ष्मांऽम्बुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः । द्वयोल्बणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥

तत्र, मधुराम्ललवणा वातघ्नाः, मधुरतिक्तकषायाः पितघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः ॥५॥

इनमें मधुर, अम्ल और लवण रस वातनाशक होते हैं; मधुर, तिक्त और कषाय रस पित्तनाशक होते हैं; और कटु, तिक्त तथा कषाय रस कफनाशक होते हैं ॥५॥

तत्र, वायु(यो)रात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति । त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च ॥६॥

इनमें से वायु की आत्मा (योनि) वायु ही होती है; पित्त अग्न्यात्मक होता है और कफ सोमात्मक है। ये (मधुरादि) रस स्वयोनि (जो दोष होता है उस) का वर्धन करते हैं और अन्य योनि (जो दोष है उस) का प्रशमन करते हैं ॥६॥

वक्तव्य—स्वयोनि—समान योनि, यथा कषाय रस का समान योनि वायु, कटुक रस का समान योनि पित्त, मधुर रस का समान योनि श्लेष्मा इत्यादि । वर्धनाः—इनकी वृद्धि करने वाले। अन्ययोनिप्रशमनाः—विपरीत योनि, यथा कटुक रस का अन्य योनि श्लेष्मा उसका शमन करने वाला इत्यादि।

केचिदाहुरग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः—सौम्या आग्नेयाश्च । तत्र मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः; कट्वम्ललवणा आग्नेयाः । तत्र मधुराम्ललवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटुतिक्तकषाया रूक्षा लघवश्च; सौम्याः शीता, आग्नेयाश्चोष्णाः ॥७॥

कई आचार्य कहते हैं कि जगत् अग्निरूप और सोमरूप होने के कारण रस भी दो ही प्रकार के हैं—१ सौम्य, और २ आग्नेय। उनमें मधुर, तिक्त और कषाय रस सौम्य होते हैं; और कटु, अम्ल और लवण रस आग्नेय होते हैं। मधुर, अम्ल और लवण रस स्निग्ध तथा भारी होते हैं; और कटु, तिक्त तथा कषाय रस रूक्ष और हलके होते हैं। सौम्य रस ठंडे हैं और आग्नेय रस उष्ण होते हैं ॥७॥

तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः; तस्य समानयोनिः कषायो रसः; सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति ॥८॥

उनमें शीतता, रूक्षता, लघुता, विशदता और विष्टम्भता इन गुणों से युक्त लक्षणों वाली वायु है, और उसके समान योनि कषाय रस है। वह अपनी शीतलता से (वायु के) शैत्य को बढ़ाता है, रूक्षता से रौक्ष्य को बढ़ाता है, लाघव से लघुता को बढ़ाता है, विशदता से वैशद्य को बढ़ाता है और विष्टंभता से विष्टंभत्व (कब्जीयत) को बढ़ाता है ॥८॥

औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः; सोऽस्यौष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं; रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यमिति ॥९॥

उष्णता, तीक्ष्णता, रूक्षता, लघुता और विशदता इन गुणों से युक्त लक्षणों वाला पित्त है। उसके समान योनि कटु रस है। वह कटुक रस अपनी उष्णता से पित्त की उष्णता को बढ़ाता है, तीक्ष्णता से तीक्ष्णता को, रूक्षता से रूक्षता को, लघुता से लघुता को और विशदता से विशदता को बढ़ाता है ॥९॥

माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा, तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः; सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद्गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात्पैच्छिल्यमिति ॥१०॥

मधुरता, स्नेह, गुरुता, शैत्य और पिच्छिलता इन गुणों से युक्त लक्षणों वाला कफ है। उसके समान योनि मधुर रस होता है। वह मधुर रस अपनी मधुरता से कफ की मधुरता को बढ़ाता है, स्निग्धता से स्निग्धता को, भारीपन से भारीपन को, शैत्य से शैत्य को, और पिच्छिलता से पिच्छिलता को बढ़ाता है ॥१०॥

तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः; स श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद्गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात्पैच्छिल्यमिति । तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥११॥

फिर कफ की अन्य योनि कटुक रस होता है। वह कफ के विपरीत होने से कटुक स्वाद से कफ की मधुरता को नाश करता है। रूक्षता से स्नेह का नाश करता है, लाघव से भारीपन का नाश करता है, उष्णता से शीतलता का नाश करता है और विशदता से पिच्छिलता का नाश करता है। यह केवल दिग्दर्शन करने के लिए वर्णन किया है ॥११॥

वक्तव्य—यहाँ रस के जो गुरुत्वादि गुण वर्णन किये हैं वे तद्रस युक्त द्रव्य के ही समझने चाहिये—गुणा गुणाश्रया नोक्ता तस्माद्रसगुणान् भिषक् । विद्याद्द्रव्यगुणान् । (चरक)। यह सामान्य नियम है कि समानयोनि द्रव्य से दोष धातुओं की

---

१ तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः.

वृद्धि होती है और विपरीतयोनि द्रव्य से क्षति होती है—वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः । (वाग्भट) ।

रसलक्षणमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति प्रह्लादयति तर्पयति जीवयति मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चाभिवर्धयति स मधुरः ॥१२॥

(मधुररसलक्षण—) इसके आगे अब रसों के लक्षण कहते हैं—इसमें जो संतोष उत्पन्न करता है, आह्लाद देता है, तृप्ति करता है, प्राणों का धारण करता है, मुख में मालिन्य उत्पन्न करता है और कफ को बढ़ाता है वह मधुर रस है ॥१२॥

यो दन्तहर्षमुत्पादयति मुखास्रावं जनयति श्रद्धां चोत्पादयति सोऽम्लः ॥१३॥

(अम्लरसलक्षण—) जो दाँतों में हर्ष उत्पन्न करता है, मुख में लालास्राव उत्पन्न करता है और (सेवन करने की) इच्छा उत्पन्न करता है वह अम्ल रस है ॥१३॥

वक्तव्य—श्रद्धा—अन्य रस युक्त पदार्थों की अपेक्षा अम्ल रस युक्त पदार्थ ऐसा होता है कि जिसको देखते ही खाने की श्रद्धा हो जाती है ।

यो भक्तरुचिमुत्पादयति कफप्रसेकं जनयति मार्दवं चापादयति स लवणः ॥१४॥

(लवणरस—) जो भोजन में रुचि उत्पन्न करता है, कफ का स्राव कराता है और कोमलता उत्पन्न करता है वह लवण रस है ॥१४॥

यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकां च स्रावयति स कटुकः ॥१५॥

(कटुकरस—) जो जिह्वा के अग्रभाग पर झनझनाहट उत्पन्न करता है, उद्वेग उत्पन्न करता है, (उद्वेग से) सिर में भारीपन करता है और नासिका से स्राव उत्पन्न करता है वह कटुक रस है ॥१५॥

यो गले चोषमुत्पादयति मुखवैशद्यं जनयति भक्तरुचिं चापादयति हर्षं च स तिक्तः ॥१६॥

(तिक्तरस—) जो गले में खिंचाव (चूषणवत् वेदना), मुख में सफाई, भोजन में रुचि और आनंद उत्पन्न करता है वह तिक्त (कड़वा) रस है ॥१६॥

यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं बध्नाति हृदयं कर्षति पीडयति च स कषायः ॥१७॥

(कषायरस—) जो मुख का शोषण करता है, जिह्वा को स्तम्भन (चलन वलन में कठिनाई) करता है, कण्ठ का संकोच करता है और हृदय प्रदेश में आकर्षण और पीड़ा करता है वह कषाय रस है ॥१७॥

रसगुणानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्रस्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यः केश्यो वर्ण्यो बलकृत्सन्धानः शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमस्तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः षडिन्द्रियप्रसादनः कृमिकफकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कासश्वासालसकवमथुवदनमाधुर्यस्वरोपघातकृमिगलगण्डानापादयति तथाऽर्बुदश्लीपदबस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीञ्जनयति ॥१८॥

(मधुररसगुण—) इसके आगे रसों के गुणों का वर्णन करते हैं—इनमें मधुररस रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, शुक्र (पुरुषों में), दूध (स्त्रियों में) इनको बढ़ाने वाला, नेत्र केश और शरीर वर्ण के लिये हितकर, बल देने वाला, टूटी हुई हड्डी को जोड़ने वाला, रक्त और रस को प्रसन्न करने वाला, बाल वृद्ध और क्षतक्षीण रोगियों के लिये हितकारक, भृंग और चींटियों के लिये अत्यंत प्रिय, तृष्णा मूर्च्छा दाह को शांत करने वाला, पंच ज्ञानेंद्रिय और मन को प्रसन्न करने वाला और कृमि तथा कफ को उत्पन्न करने वाला है । वह मधुर रस इतने गुण करने वाला होने पर भी अकेला ही अत्यन्त (अधिक मात्रा में या अधिक काल तक लगातार) सेवन करने से खाँसी, श्वास, अलसक (अजीर्ण का एक प्रकार), वमन, मुख का मीठा स्वाद, स्वर भंग, कृमि, गलगण्ड तथा अर्बुद, श्लीपद (फील पाव), बस्ति और गुद विभाग में भारीपन और अभिष्यंद (नेत्ररोग) इत्यादि रोग उत्पन्न करता है ॥१८॥

अम्लो जरणः पाचनो दीपनः पवननिग्रहणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही बहिःशीतः क्लेदनः प्रायशो हृद्यश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्षनयनसंमीलनरोमसंवेजनकफविलयनशरीरशैथिल्यान्यापादयति तथा क्षताभिहतदग्धदष्टभग्नशूनरुग्णप्रच्युतावमूत्रितविसर्पितच्छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिदहति कण्ठमुरो हृदयं चेति ॥१९॥

(अम्लरसगुण—) अम्लरस आहार का पचाव करने वाला, (शोथ आम दोषों का) पाचक, अग्निदीपक, वायु का निग्रहण करने वाला, अनुलोमक (Carminatue), कोठ में दाह करने वाला, बाहर से ठंडा, शरीर में क्लेद संचित करने वाला और प्रायः मन के लिये प्रियकर होता है । यह अम्लरस इतने गुण वाला होने पर भी अकेला ही अधिक सेवन करने से दन्तहर्ष, नेत्रों का संकोच, शरीर पर रोमांच, कफ का विलयन और शरीर का ढीलापन उत्पन्न करता है तथा क्षत (शस्त्रादि से घाव), अभिहत (डंडे के प्रहार से घाव), दग्ध (जला हुआ), दष्ट (सर्पादि से डसा हुआ), भग्न (टूटा हुआ), रुग्ण (टेढ़ा हुआ), प्रच्युत (अपने स्थान से भ्रष्ट), अवमूत्रित (मूत्रविष जन्तुओं के मूत्र से दूषित), विसर्पित (स्पर्श विष जन्तुओं के स्पर्श से दूषित), छिन्न (कटा हुआ), भिन्न (भेदन किया हुआ), विद्ध (सूक्ष्म शल्यादि से वेधित), उत्पिष्ट (चूर्णित, संधियुक्त का एक प्रकार), इत्यादि स्थानों को पकाता है तथा आग्नेय स्वभाव के कारण कण्ठ, छाती और हृदय में दाह करता है ॥१९॥

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः शैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोठशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवातशोणिताम्लिकाप्रभृतीनापादयति ॥२०॥

(लवणरसगुण—) लवणरस (वमन विरेचनादि द्वारा दोषों का) संशोधक, पाचक, (संधियों का) विश्लेषक, (व्रण में) क्लेद उत्पन्न करने वाला, शरीर में ढीलापन उत्पन्न करने वाला, गरम, सर्व रसों का विरोधी (लवण से सर्व रसों का स्वाद नष्ट हो जाता है इसलिये विरोधी), (मल मूत्रादि) मार्गों का विशोधक और सर्व शरीर के अवयवों को कोमल करने वाला है । यह लवण रस इतने गुण युक्त होने पर भी अकेला ही अत्यंत सेवन करने से शरीर में खाज, कोठ (चकदे), शोथ, वर्ण का नाश, पुरुषत्व का नाश, (नेत्रादि) इन्द्रियों की शक्ति का नाश, मुखपाक, अक्षिपाक, रक्तपित्त, वातरक्त, अम्लिका (Heartburn) इत्यादि रोग उत्पन्न करता है ॥२०॥

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफकृमिविषकुष्ठकण्डूपशमनः सन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापबलविघातकम्पतोदभेदकृत् करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति ॥२१॥

(कटुकरसगुण—) कटुक रस अग्निदीपक, पाचन, मुख में रुचि उत्पन्न करने वाला, दोषों का शोधन करने वाला, स्थूलता, आलस्य, कफ, कृमि, विष, कुष्ठ और कण्डू इनको शांत करने वाला, संधिबंधों को ढीले करने वाला, अनुत्साह उत्पन्न करने वाला, (स्त्रियों में) दूध, (पुरुषों में) शुक्र और मेद का नाश करने वाला है । यह कटुक रस इतने गुण वाला होने पर भी अकेला ही अत्यंत सेवन करने से भ्रम (चक्कर), मद, गला तालु और होंठ इनमें खुश्की, दाह, संताप, बल का नाश, कम्प, तोद (पीड़ा) और भेद (भेदन की पीड़ा) करने वाला और हाथ, पैर, पार्श्व पीठ इत्यादि अवयवों में वातशूल उत्पन्न करता है ॥२१॥

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दितशिरःशूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति ॥२२॥

(तिक्तरसगुण—) तिक्त रस (कड़वा रस) कफ का छेदन करने वाला, (स्वयं रुचिकर न होकर भी अन्य भक्ष्य वस्तुओं के लिये) रुचि उत्पन्न करने वाला, अग्निदीपक, (दोषों का) शोधक, कण्डू, कोठ, तृष्णा, मूर्च्छा और ज्वर का शमन करने वाला, स्तन्य दोषों को दूर करने वाला, मल, मूत्र, आर्द्रता, मेद, चरबी (शुद्ध मांस का स्नेह) और पूय इनका शोषण करने वाला है । यह तिक्तरस इतने गुण वाला होने पर भी अकेला अत्यंत सेवन करने से शरीर के अवयवों और ग्रीवा में जकड़न, आक्षेप (ऐंठन), अर्दित (लकवा Facial paralysis), शिर में दर्द, भ्रम, तोद, भेद, छेद (भिन्न भिन्न प्रकार की वेदनाएँ) और मुख में विरसता उत्पन्न करता है ॥२२॥

कषायः संग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्यशोषोदराध्मानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुम[1]चुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति ॥२३॥

(कषायरसगुण—) कषायरस संग्राही, व्रण का रोपक, स्तंभन (रक्त या अन्य स्राव को रोकने वाला), दोष शोधन, लेखन (व्रणगत दुष्ट मांस का नाश करने वाला), शोषक, पीड़ा करने वाला और क्लेद का शोषण करने वाला है । यह कषाय रस इतने गुण वाला होने पर भी अकेला ही अत्यन्त सेवन करने से हृदय में पीड़ा, मुख में खुश्की, उदर, आध्मान, वाक्यग्रह (बोलने में कठिनाई), मन्यास्तम्भ (Stiff neck), गात्रस्फुरण, चुमचुमायन (Tingling sensation), गात्र संकोच और आक्षेप (Convulsions) इत्यादि रोग उत्पन्न करता है ॥२३॥

वक्तव्य—पाश्चात्त्य वैद्यक में रसों के अनुसार ओषधियों के गुणधर्म वर्णन करने की पद्धति नहीं है । तथापि तिक्त (Bitters) और कषाय (Astringents) रस युक्त जो वनौषधियाँ हैं उनका वर्णन आयुर्वेद के अनुसार तिक्तवर्ग (Vegetable bitters) और कषायवर्ग (Vegetable Astringents) ऐसा ही किया गया है और उनके गुण धर्म भी उपर्युक्त गुण धर्मों के साथ बहुत कुछ मिलते हैं ।

अतः सर्वेषामेव द्रव्याण्युपदेक्ष्यामः । तद्यथा—काकोल्यादिः क्षीरघृतवसामज्जशालिषष्टिकयवगोधूममाषशृङ्गाटककसेरुकत्रपुसैर्वारुकर्कारुकालाबुकालिन्दकतक[2]गिलोड्यपियालपुष्करबीजकाश्मर्यमधूकद्राक्षाखर्जूरराजादनतालनालिकेरेक्षुविकारबलातिबलात्मगुप्ताविदारीपयस्यागोक्षुरकक्षीरमोरटमधूलिकाकूष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः ॥२४॥

(मधुरवर्ग—) अब सब रसों के द्रव्यों का उपदेश करते हैं । वे ऐसे हैं—काकोल्यादिगण, दूध, घृत, चरबी, मज्जा, शालि (चावल), षष्टिक (एक प्रकार के चावल), यव, गेहूँ, उड़द, सिंघाड़े (Trapa Bispinosa नामक वनस्पति का फल), कसेरु (Scirpus Kysoor नामक वनस्पति के कन्द), त्रपुस (क्षीरा Cucumis Sativus), एर्वारु

---

[1] चुमुचुमा०. [2] अङ्कलोड्य.

(ककड़ी Cucumis utilissimus), कर्कारुक (खरबूजा, Cucumis Melo), अलाबु (तुंबी, Lagenaria Vulgaris), कालिन्द (खरबूज का ही एक प्रकार, म. कलिंगड), कतक (निर्मली का बीज), गिलोड्य (कालकलकः शितोड्यकन्दः प्रावृट्जातः शणपत्रिकाकारो वल्लीयुक्तो गिलोठीति लोके । डल्हण । गिलं मधुजंबीरफलम्, उडयं जिज्ञासितव्यम् । हाराणचन्द्र), पियाल (चिरौंजी), पुष्करबीज (कमलबीज), काश्मरी, मधूक (महुवा), द्राक्षा, खर्जूर (Phoenix Sylvestris नामक वृक्ष का फल), राजादन (खिरनी), ताल (Borassus Flabelliformis नामक वृक्ष का फल), नारिकेर (नारियल Cocos Nucifera नामक वृक्ष का फल), इक्षुविकार (ईख के पदार्थ यथा गुड़, चीनी, काकवी इत्यादि), बला, अतिबला, आत्मगुप्ता (कवचबीज), विदारी, पयस्या (विदारीभेद), गोक्षुरक, क्षीरमोरट (किलाटमस्तु, पीलुपर्णीत्येके । डल्हण । प्रसूताया गोः सप्तरात्रात् परमप्रसन्नं क्षीरमिक्षुमूलं वा । हाराणचंद्र), मधूलिका (कर्कटक या मूर्वा), कूष्मांड (पेठा, Beninkasa Cerifera), इत्यादि द्रव्य संक्षेप से मधुरवर्ग के होते हैं ॥२४॥

दाडिमामलकमातुलुङ्गाम्रातककपित्थकरमर्दबदरकोलप्राचीनामलकतिन्तिडीककोशाम्रकभव्यपारावतवेत्रफललकुचाम्लवेतसदन्तशठदधितक्रसुराशुक्तसौवीरकतुषोदकधान्याम्लप्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्गः ॥२५॥

(अम्लवर्ग—) अनार, आँवला, नींबू, आम्रातक (आमड़ा, Spondias Mangifera), कपित्थ (कवठ Feronia Elephantum), करमर्द (करोंदा), बदर, कोल (बड़े और छोटे बेर), प्राचीनामलक (पानी आँवला, Flacourtia Cataphracta), तिन्तिडी (इमली, Tamarindus Indicus), कोशाम्रक (आम का भेद), भव्य (कमरख Dillenia Indica), पारावत (तिन्दुक भेद, हाराणचंद्र) वेत्रफल (वेत का फल), लकुच (Artocarpus Lakoocha), आम्लवेतस (Rumex Vesicarus), दन्तशठ (जंबीर नींबू), दही, छाछ, मद्य, शुक्त, सौवीरक, तुषोदक, धान्याम्ल (कांजी) इत्यादि द्रव्य संक्षेप से अम्लवर्ग के होते हैं ॥२५॥

वक्तव्य—सुरा से लेकर धान्याम्ल तक मद्य के प्रकार हैं। उनके लक्षण शार्ङ्गधर में ऐसे दिये हैं—परिपक्वान्नसंधानसमुत्पन्नां सुरां जगुः । कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च ॥ यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥ तुषाम्बुसंधितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः। यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं संधितं भवेत् ॥ कुल्माषधान्यमण्डादि संधितं काञ्जिकं विदुः ॥

सैन्धवसौवर्चलविडपाक्यरोमकसामुद्रकपक्त्रिमयवक्षारोषरप्रसूतसुवर्चिकाप्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः ॥२६॥

(लवणवर्ग—) सेंधा नमक, कालानमक, बिड़ लवण, पाक्य (उद्भिद लवण), रोमक (सांभर लवण), सामुद्रक (समुद्र के पानी से बना हुआ नमक), पक्त्रिम (नमकीन द्रव्य का पाक करके बनाया हुआ), यवक्षार, ऊपर प्रसूत (क्षारमृत्तिका से बनाया हुआ), सुवर्चिका (सज्जीक्षार), प्रभृति द्रव्य संक्षेप से लवणवर्ग के होते हैं ॥२६॥

पिप्पल्यादिः सुरसादिः शिग्रुमधुशिग्रुमूलकलशुनसुमुख[1]शीतशिवकुष्ठदेवदारुहरेणुकावल्गुजफलचण्डागुग्गुलुमुस्तलाङ्गलकीशुकनासापीलुप्रभृतीनि सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः ॥२७॥

(कटुकवर्ग—) पिप्पल्यादि गण, सुरसादि गण, सोहजना, लाल सोहजना, मूलक (मूली, Raphanus Sativus), लशुन, सुमुख (तुलसी भेद), शीतशिव (कपूर), कुष्ठ, देवदारु, हरेणुका (संभालु का बीज, Piper Aurantiacum), अवल्गुज फल (बावची, Vernonia Anthelmintica), चण्डा (अजमोदाकारसुगंधिद्रव्यम्, डल्हण । शंखपुष्पीभेद, हाराणचंद्र), गुग्गुलु, मुस्त (नागरमोथा), लांगलकी (कलिहारी), शुकनासा (स्योनाक), पीलु इत्यादि द्रव्य तथा सालसारादि गण प्रायः कटुकवर्ग के होते हैं ॥२७॥

आरग्वधादिर्गुडूच्यादिर्मण्डूकपर्णीवेत्रकरीरहरिद्राद्वयेन्द्रयववरुणस्वादुकण्टकसप्तपर्णबृहतीद्वयशङ्खिनीद्रवन्तीत्रिवृत्कृतवेधनकर्कोटककारवेल्लकवार्ताककरीरकरवीरसुमनःशङ्खपुष्प्यपामार्गत्रायमाणाऽशोकरोहिणीवैजयन्तीसुवर्चलापुनर्नवावृश्चिकालीज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः ॥२८॥

(तिक्तवर्ग—) आरग्वधादि गण, गुडूच्यादि गण, मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी भेद), वेत्रकरीर (वेत के अंकुर), हरिद्रा और दारुहरिद्रा, इन्द्रयव, वरुण, स्वादुकण्टक (विकंकत, Flacourtia Ramontchi), सप्तपर्ण (छातीन), बृहतीद्वय (छोटी और बड़ी बृहती), शंखिनी, द्रवन्ती, त्रिवृत् (निशोथ), कृतवेधन (कोशातकी), कर्कोटक (Momordica Dioica), कारवेल्लक (करेला), वार्ताक (बैंगन), करीर (Capparis Aphylla), करवीर (कनेर), सुमन (जाती, चमेली), शङ्खपुष्पी, अपामार्ग, त्रायमाणा, अशोक, रोहिणी (कटुकी), वैजयन्ती (अग्निमन्थ), सुवर्चला (सूर्यावर्त, या ब्राह्मी), पुनर्नवा, वृश्चिकाली (मेढ़ासिंगी), ज्योतिष्मती (मालकांगनी) इत्यादि द्रव्य संक्षेप से तिक्त वर्ग के होते हैं ॥२८॥

न्यग्रोधादिरम्बष्ठादिः प्रियङ्ग्वादी रोध्रादिस्त्रिफला शल्लकीजम्ब्वाम्रबकुलतिन्दुकफलानि कतकशाकपाषाणभेदकवनस्पतिफलानि सालसारादिश्च प्रायशः कुरुवककोविदारकजीवन्तीचिल्लीपालङ्क्यासुनिषण्णकप्रभृतीनि नीवारकादयो मुद्गादयश्च वैदलाः समासेन कषायो वर्गः ॥२९॥

(कषायवर्ग—) न्यग्रोधादिगण, अम्बष्ठादिगण, प्रियंग्वादिगण, रोध्रादिगण, त्रिफला, शल्लकी, जामुन, आम, बकुल (Mimusops Elengi), तिन्दुक इनके फल, कतक, शाक, पाषाण भेद इनके फल, सालसारादिगण, प्रायः कुरवक (लाल पुष्प का पियावासा), कोविदार (कचनार),

---

[1] ०सुमुखशीतशीतशिव०.

जीवन्तीशाक (Dendrobium Macraci), चिल्लीशाक (Chenopodium Album), पालंकी (Spinaceaoleracca पालक शाक), सुनिषण्णक (चौपतिया शाक) इत्यादि तथा नीवार धान्यादि और मुद्गादि (वैदल धान्य) मिलकर संक्षेप से कषाय वर्ग होता है ॥२९॥

तत्रैतेषां रसानां संयोगास्त्रिषष्टिर्भवन्ति । तद्यथा—पञ्चदश द्विकाः, विंशतिस्त्रिकाः, पञ्चदश चतुष्काः, षट् पञ्चकाः, एकशः षड्रसाः, एकः षट्क इति । तेषामन्यत्र प्रयोजनानि वक्ष्यामः ॥३०॥

(रससंयोग—) इन छः रसों के संयोग से ६३ भेद होते हैं । जैसे—दो दो रसों के पंद्रह संयोग होते हैं, तीन तीन रसों के बीस, चार चार रसों के पंद्रह, पाँच पाँच रसों के छः, एक एक रस के छः और छः रसों का एक (ऐसे ६३ संयोग होते हैं) । इनका प्रयोजन अन्य स्थान में (उत्तरस्थान के ६३ अध्याय में) वर्णन किया जायगा ॥३०॥

भवति चात्र—

जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वशतां रसाः ।
यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति बलीयसः ॥३१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने रसविशेषविज्ञानीयो
नाम द्वाचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

जैसे कि प्रकुपित हुए दोष बलवान् मनुष्य के वश में हो जाते हैं (यानि अपनी प्रकटता नहीं करते) वैसे ही सेवन किये हुए (द्रव्यों के) छओं रस (उन द्रव्यों का जो) बलवान् (व्यक्त) रस होता है उसके वश में हो जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—सर्वकार्यद्रव्य पंचमहाभूतात्मक होने के कारण केवल एक रस युक्त नहीं हो सकते—तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात् । (वाग्भट)। प्रत्येक द्रव्य में एक या दो बलवान् यानि व्यक्तरस होते हैं और कई अल्प बल यानि अव्यक्त रस होते हैं । ये अव्यक्त रस अपना अस्तित्व व्यक्तरस के सामने नहीं प्रकट कर सकते—तत्र व्यक्तो रसः । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः । (संग्रह)। इसलिये प्रत्येक द्रव्य के रस का निर्देश उसके बलवान् रस के अनुसार ही किया जाता है । ऊपर मधुरादि वर्गों में द्रव्यों का जो निर्देश किया गया है वह 'भूयसाऽल्पं हि जीयते' के तत्त्वानुसार ही किया गया है यह इस श्लोक का तात्पर्य है । चरक विमानस्थान के आठवें अध्याय में षडास्थापनवर्ग का वर्णन करते समय ऐसा ही लिखा है—यत्तु षड्विधमास्थापनमेकरसमित्याचक्षते भिषजस्तद्दुर्लभतमं संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम् । तस्मान्मधुराणि च मधुरप्रायाणि च मधुरविपाकानि च मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते तथेतराणि द्रव्याण्यपि ॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां रसविशेषविज्ञानीयो नाम
द्वाचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय—मदनादि अनेक वमनद्रव्यों के विविध प्रयोग करने का विज्ञान जिसमें वर्णन किया है ।

वमनद्रव्याणां फलादीनां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति । अथ मदनपुष्पाणामातपपरिशुष्काणां चूर्णप्रकुञ्चं प्रत्यक्पुष्पीसदापुष्पीनिम्बकषायाणामन्यतमेनालोड्य मधुसैन्धवयुक्तां पुष्पचूर्णमात्रां पाययित्वा वामयेत् ॥२॥

मदनादि वमनद्रव्यों में मैनफल सब से श्रेष्ठ है । धूप में सुखाये हुए मदन के फूलों का एक पल भर (चार तोला) चूर्ण अपामार्ग, आक या नींम के (चूर्ण से चौगुने) क्वाथ में मिलाकर उसमें मधु और सैंधा नमक डालकर यथोचित मात्रा में पिलाकर वमन करावे ॥२॥

वक्तव्य—फलादीनाम्—फल यानि मदन जिसमें आदि यानि प्रथम निर्दिष्ट किया गया है । ३९ वें अध्याय का द्वितीय सूत्र देखो । मदनपुष्पाणाम्—मदनफलानाम्—अत्र पुष्पशब्दः फले वर्तते, कारणे कार्योपचारात् । (डल्हण)।

मदनशलाटुचूर्णान्येवं वा बकुलरम्यकोपयुक्तानि मधुलवणयुक्तान्यभिप्रतप्तानि; मदनशलाटुचूर्णसिद्धां वा तिलतण्डुलयवागूम् ॥३॥

मदन के कच्चे फल के चूर्ण को उसी प्रकार (एक पल प्रमाण चतुर्गण प्रत्यक्पुष्पी, सदापुष्पी अथवा निम्ब के क्वाथ में) पिलावे अथवा बकुल, महानिम्ब (बकायन), इनके क्वाथ में मधु और सैंधानमक मिलाकर गरम करके पिलाकर वमन करावे । अथवा मदन के कच्चे फल के चूर्ण से सिद्ध की हुई तिल और चावलों की यवागू को पिलाकर वमन करे ॥३॥

वक्तव्य—शलाटु—आम फल । मधु उष्ण सेवन करना अयोग्य है, परन्तु वमन तथा निरूह में उष्ण सेवन करने में आपत्ति नहीं होती—प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते । अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते ॥ (अष्टांगहृदय)।

निर्वृत्तानां वा नातिहरितपाण्डूनां कुशमूढावबद्धमृद्गोमयप्रलिप्तानां यवतुषमुद्गमाषशाल्यादिधान्यराशावष्टरात्रोषितक्लिन्नभिन्नानां फलानां फलपिप्पलीरुद्धृत्यातपे शोषयेत्, तासां दधिमधुपललविमृदितपरिशुष्काणां सुभाजनस्थानामन्तर्नखमुष्टिमुष्णे यष्टीमधुककषाये कोविदारादीनामन्यतमे वा कषाये प्रमृद्य रात्रिपर्युषितं मधुसैन्धवयुक्त-

---

१ मधुसैन्धवयुक्तमुदङ्मुखः.

माशीर्भिरभिमन्त्रितमुदङ्मुखः प्राङ्मुखमातुरं पाययेदनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य—

"ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानलानिलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥१॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥२॥"
विशेषेण श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु ॥४॥

(मदनफल का अब प्रधान योग कहते हैं—) पके हुए मदन फलों को, जो न बहुत हरे हों न बहुत पीले पड़ गये हों, कुश से लपेट कर ऊपर गोबर लगाकर यवतुष, मूँग, उड़द, चावल इत्यादि धान्यों की राशि में आठ अहोरात्र तक रक्खे, जब क्लेदित होकर फूटे तब फलों से बीज निकाल कर धूप में सुखा ले। फिर उन बीजों को दही, मधु और तिलकल्क में मृदित कर (भिगोकर) सुखावे और एक सुरक्षित पात्र में रख ले। फिर उसमें से जिसके नख भीतर की ओर किये गये हैं ऐसी मुष्टिभर गिरी लेकर गरम मुलहटी के क्वाथ में अथवा कोविदारादि (संशोधनसंशमनीय अध्यायोक्त) गण में से किसी के क्वाथ में दिन रात भिगोकर मलकर मधु और सैंधा नमक मिलाकर वेदोक्त आशीर्वचनों से पूर्वाभिमुख बैठे रोगी को अभिमंत्रित करके उत्तराभिमुख बैठा हुआ वैद्य इन (निम्न) मन्त्रोच्चारणपूर्वक पिलावे—ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, ओषधियों के समूह सहित ऋषिगण तथा भूतसमूह तेरी रक्षा करें ॥१॥ जैसे कि ऋषियों के लिये रसायन, देवताओं के लिये अमृत और उत्तम नागों के लिये सुधा (आरोग्यदायक) होती है, वैसे तुम्हारे लिये यह औषध (आरोग्यदायक) हो ॥२॥ विशेष करके (उपर्युक्त योग) कफज्वर, जुकाम और अन्तर्विद्रधि इनमें प्रदान करना चाहिये ॥४॥

वक्तव्य—निवृत्त—पक्व । योग्य पक्वावस्था निदर्शित करने के लिये 'नातिहरितपाण्डूनां' का प्रयोग किया है । कुशमूढ—कुशविरचितपुटक । फलपिप्पली—मदनफलमध्यगतानि पिप्पलीसंस्थानि बीजानि । (चक्रपाणि) । पलल—तिलकल्क (इन्दु) । सुभाजनस्थानां—योग्य रक्षा से पात्र में रक्खे हुए—नवकलशं सुप्रमृष्टवालुकमरजस्कमाकण्ठं पूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्ये आसज्य स्थापयेत् । (चरक)। अभिमन्त्र्य—इन मन्त्रों का यद्यपि यहाँ पर भाषांतर दिया है तथापि उनका प्रयोग मूल संस्कृत में ही करना चाहिये । विशेषेण—श्लेष्मज्वरादिषु 'देय' इत्यध्याहारः ॥ अन्तर्नखमुष्टि—अन्तरीकृतनखमुष्टिपरिमाणम् । (चक्रपाणिदत्त) अन्तर्नखा मुष्टिर्यस्मिन् मुष्टौ नखानि न दृश्यन्ते । (इन्दु) । वमन के लिये यह जो मात्राप्रमाण दिया है, वह अधिक है । चरक में इसके सिवाय 'यावद्वा साधु मन्येत' ऐसा दूसरा प्रमाण दिया है । व्यवहार में सूखे हुए फलबीज की १०—३० रत्ती मात्रा वामक होती है ।

अप्रवर्तमाने वा दोषे पिप्पलीवचागौरसर्षपकल्कोन्मिश्रैः सलवणैस्तुषाम्बुभिः पुनः पुनः प्रवर्तयेदासम्यग्वान्तलक्षणादिति ॥५॥

(इस प्रयोग से) यदि दोषों का प्रवर्तन न हो तो पिप्पली, वचा और श्वेत सरसों के कल्क के साथ नमक मिलाकर गरम जल के साथ बार बार पिलाकर वमन करावे, जब तक कि ठीक वमन हुए के लक्षण दिखाई दे ॥५॥

वक्तव्य—आसम्यग्वान्तलक्षणात्—पित्त दर्शन होने पर सम्यग्वान्त लक्षण समझना चाहिये—पित्तान्तमिष्टं वमनं तथोर्ध्वम् । (चरक) ।

मदनफलमज्जचूर्णं वा तत्क्वाथपरिभावितं मदनफलकषायेण; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसः सन्तानिकां क्षौद्रयुक्तां, मदनफलमज्जसिद्धं वा पयः, मदनफलमज्जसिद्धेन वा पयसा यवागूम्, अधोभागास्रक्पित्तहृद्दाहयोः; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसो दधिभावमुपगतस्य दध्युत्तरं दधि वा कफप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छातमकेषु; मदनफलमज्जरसं भल्लातकस्नेहवदादाय फाणितीभूतं लेहयेत्, आतपपरिशुष्कं वा तमेव जीवन्तीकषायेण पित्ते कफस्थानगते; मदनफलमज्जक्वाथं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं, तच्चूर्णं वा निम्बरूपिकाकषाययोरन्यतरेण संतर्पणकफजव्याधिहरं, मदनफलमज्जचूर्णं वा मधुककाश्मर्यद्राक्षाकषायेण । मदनफलविधानमुक्तम् ॥६॥

मैन फल की गिरी का चूर्ण उसी के क्वाथ की भावना देकर उसके क्वाथ के साथ पिलाकर वमन करावे । अथवा मदन फल की गिरी दूध में उबाल कर उस दूध की मलाई को चाटने के लिये देकर वमन करावे । अथवा मदन फल की गिरी से सिद्ध दूध को देकर वमन करावे । मदन फल की गिरी से दूध सिद्ध करके उसमें यवागू बनाकर अधोभागगत रक्त पित्त और हृदय के दाह में पिलावे । कफ से मुख में लार आती हो, वमन होता हो, मूर्च्छा आ जाती हो, तमक श्वास हो तो मदन फल की गिरी से सिद्ध दूध का दही बनाकर उस दही का रस या दही ही चाटने के लिये प्रदान करे । जैसे भिलावे का तेल निकालते हैं उसी प्रकार मदन फल की गिरी का तेल निकाल कर उसे पकाकर फाणित की भाँति गाढ़ा कर चाटने के लिये प्रदान करे अथवा धूप में सुखाये हुए मदन फल की गिरी का चूर्ण जीवन्ती क्वाथ के साथ दे, यदि पित्त कफस्थान में चल गया हो । मदन फल की गिरी के क्वाथ में पिप्पल्यादि डालकर पीवे । अथवा मदन फल की गिरी का चूर्ण नीम या आक (रूपिका) के क्वाथ में पीवे; यह संतर्पणजन्य तथा कफजन्य व्याधियों का हरण करने वाला योग है । अथवा मदन फल की गिरी का चूर्ण महुआ, काश्मरी और द्राक्षा इनके क्वाथ के साथ सेवन करे । यह मदन फल का वमन संबंध में विधान वर्णन किया है ॥६॥

जीमूतककुसुमचूर्णं पूर्ववदेव क्षीरेण, निर्वृत्तेषु क्षीरयवागूं, रोमशेषु सन्तानिकाम्, अरोमशेषु दध्युत्तरं, हरितपाण्डुषु दधि तत्कषायसंसृष्टां वा सुरां,

कफारोचककासश्वासपाण्डुरोगयक्ष्मसु; पर्यागतेषु मदनफलमज्जवदुपयोगः। तद्वदेव कुटजफलविधानम्। कृतवेधनानामप्येष एव कल्पः। इक्ष्वाकुकुसुमच्चूर्णं वा पूर्ववत्[1], एवं क्षीरेण, कासश्वासच्छर्दिकफरोगेषूपयोगः ॥७॥

देवदाली के (सूखे हुए) पुष्पों का चूर्ण पहले की तरह (प्रत्यक्पुष्पादि तीन द्रव्यों के क्वाथ के साथ) अथवा दूध के साथ देकर वमन करावे। फल परिपक्व हो जाने पर उनसे दूध यवागू बनाकर देवे। बहुत रोम युक्त हो तो दूध में उबाल कर मलाई को प्रदान करे। रोम झड़ जाने पर (उससे दूध सिद्ध कर दही बनाकर) दही का जल प्रदान करे। जब फल हरित पाण्डु वर्ण हों तो उनसे दही बनाकर दे अथवा उसके क्वाथ से सिद्ध की हुई सुरा प्रदान करे; (इन योगों से) कफ, अरुचि, कास, श्वास, पाण्डुरोग और राजयक्ष्मा (इतने रोगों में वमन के द्वारा लाभ होता है)। परिपक्व फल हो जाने पर इनकी गिरी का उपयोग मैनफल की गिरी की तरह करे। इसी तरह कुटज फल (इन्द्रयव) का भी विधान समझो। कृतवेधन (कड़वी तोरी) का भी ऐसा ही (देवदाली फल के अनुसार) उपयोग करे। तथा इक्ष्वाकु (कड़वी तुंबी) के फूल का चूर्ण पहले की तरह दूध के साथ ले। इससे कास, श्वास, वमन और कफ रोगों में बहुत उपयोग होता है ॥७॥

धामार्गवस्यापि मदनफलमज्जवदुपयोगो विशेषतस्तु गरगुल्मोदरकासश्वासश्लेष्मामयेषु वायौ च कफस्थानगते ॥८॥

धामार्गव (राजकोशातकी, पीले फूल की कड़वी तोरी, Luffa Amara) का भी मदन फल की गिरी की तरह उपयोग विशेष करके गर (कृत्रिम विष), गुल्म, उदर, कास, श्वास, कफ रोग और कफ स्थान में पहुँचे हुए वात रोगों में होता है ॥८॥

कृतवेधनफलपिप्पलीनां वमनद्रव्यकषायपरिपीतानां बहुशश्चूर्णमुत्पलादिषु दत्तमाघ्रातं वामयति, तत्त्वनवबद्धदोषेषु यवागूमाकण्ठपीतवत्सु च विदध्यात्। वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याण्येवं वा प्रधानतमानि भवन्ति ॥९॥

कृतवेधन (श्वेतपुष्प की कड़वी तोरी, Luffa Echinata) के फल की मज्जा को अन्य वमन द्रव्यों के कषाय से बहुत भावना देकर (सुखाकर) चूर्ण करे। फिर उस चूर्ण को कमल आदि पुष्पों में रखकर सुँघाने से वमन हो जाता है। जिसके दोष बहुत प्रकुपित हो गये हैं तथा जो आकण्ठ यवागू पान किया है ऐसे पुरुष में इस योग का उपयोग होता है। इसी प्रकार (तुल्यगण द्रव्यों के कषाय से भावना देने पर) वमन, विरेचन और शिरोविरेचन द्रव्य बलवत्तर हो जाते हैं ॥९॥

वक्तव्य—परिपीत—भावित। प्रधानतमानि भवन्ति—अपना कार्य करने में बलवान् बन जाते हैं। भावना के संबंध में दृढबल चरकसंहिता में लिखते हैं—भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः। सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहुकर्मकृत् ॥ स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद् द्रव्याणि भावयेत् ॥ (कल्पस्थान, अध्याय १२)।

भवतश्चात्र—

व[1]मनद्रव्ययोगाणां दिगियं संप्रकीर्तिता।
तां विभज्य यथाव्याधि कालशक्तिविनिश्चयात् ॥१०॥
कषायैः स्वरसैः कल्कैश्चूर्णैरपि च बुद्धिमान्।
पेयलेह्याद्यभोज्येषु वमनान्युपकल्पयेत् ॥११॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४३॥

वमन द्रव्यों के योगों का यह केवल दिग्दर्शनमात्र यहाँ वर्णन किया है। इस (सूत्ररूप से वर्णन किये हुए वमनद्रव्यविकल्पविज्ञान) को बुद्धिमान् वैद्य विभक्त करके फिर भिन्न भिन्न रोगों में (रोग) काल और (रोगी की) शक्ति का निर्णय कर फिर वामक द्रव्यों को कषाय, स्वरस, कल्क, चूर्ण (तथा अन्य घृतादि) के स्वरूप में खाद्य पेयादि भोज्य द्रव्यों के साथ प्रयुक्त करे ॥१०,११॥

वक्तव्य—विभज्य—विवेचनात्मक अधिक गाढ़ा अभ्यास करके।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विरेचनद्रव्यविकल्प (भेद) विज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने।
प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी ॥२॥
तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका।
सुधापयः पयःसूक्तमिति प्राधान्यसंग्रहः ॥३॥
तेषां[2] विधानं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥४॥

(श्रेष्ठविरेचनद्रव्य—) विरेचनीय मूलों में रक्तवर्ण त्रिवृत् का मूल श्रेष्ठ है; (विरेचनीय) त्वचाओं में तिल्वक (स्वल्परोध्र) की त्वचा प्रधान है; (विरेचनीय) फलों में हरीतकी प्रधान है; (विरेचनीय) तैलों में एरण्ड का तैल श्रेष्ठ है; (विरेचनीय) स्वरसों में करेले का स्वरस श्रेष्ठ है; (विरेचनीय) दुग्धों में सेहुण्ड का दूध प्रधान है। यह (विरेचनीय द्रव्यों का) प्रधान संग्रह है। इनके विधान को क्रम से यथाविधि वर्णन करते हैं ॥२,३,४॥

वै[3]रेचनद्रव्यरसानुपीतं
मूलं महत्त्रैवृतमस्तदोषम्।

---

[1] पूर्ववदेव.

[1] वान्तिद्रव्यविकल्पानां. [2] विधानमेषां वक्ष्यामो. [3] वैरेचनस्वरसक्वाथपीतां गाढमूलां त्रिवृतां कालपुष्टाम्। चूर्णीकृतां नागरसैन्धवाढ्यां पिबेदम्लैरनिलव्याधिजुष्टः ॥.

चूर्णीकृतं सैन्धवनागराढ्य-
मम्लैः पिबेन्मारुतरोगजुष्टः ॥५॥
इक्षोर्विकारैर्मधुरै रसैस्तत्
पैत्ते गदे क्षीरयुतं पिबेच्च[1] ।
गुडूच्यरिष्टत्रिफलारसेन
सव्योषमूत्रं कफजे पिबेत्तत्[2] ॥६॥

अन्य विरेचनीय द्रव्यों के रस में भावना दिया हुआ मोटे निशोथ का निर्दोष मूल (मूल के ऊपर की छाल) चूर्ण करके उसमें सैंधा नमक और सोंठ (का चूर्ण) मिलाकर अम्लरस से वातरोग से पीड़ित मनुष्य सेवन करे ॥५॥ पित्तरोग से पीड़ित हो तो ईख के पदार्थों के साथ या मधुर रसों के साथ अथवा दूध के साथ उस चूर्ण का सेवन करना चाहिये; और कफ दोष से पीड़ित हो तो निशोथ का चूर्ण गिलोय, नीम और त्रिफला इनके क्वाथ में त्रिकटु और गोमूत्र डालकर पीना चाहिये ॥६॥

[3]त्रिवर्णकत्र्यूषणयुक्तमेतद्
गुडेन लिह्यादनवेन चूर्णम् ।
प्रस्थे च तन्मूलरसस्य दत्त्वा
तन्मूलकल्कं कुडवप्रमाणम् ॥७॥
कर्षोन्मिते सैन्धवनागरे च
विपाच्य कल्कीकृतमेतदद्यात् ।
[4]तत्कल्कभागः समहौषधार्धः
ससैन्धवो मूत्रयुतश्च पेयः ॥८॥

त्रिवर्णक (त्रिजातक—दालचीनी, तेजपत्र और इलायची) और त्र्यूषण (त्रिकटु—सोंठ, मिरच और पिप्पली) इनके साथ पूर्वोक्त निशोथ का चूर्ण पुराने गुड़ के साथ मिलाकर (त्रिवर्ण, त्रिकटु और गुड़ का एक भाग और त्रिवृत् चूर्ण का एक भाग) सेवन करे। अथवा निशोथ का स्वरस एक प्रस्थ (१२८ तोला) लेकर उसमें निशोथ का कल्क एक कुड़व (१६ तोला) डाले और सैंधा नमक तथा सोंठ एक एक कर्ष (१ तोला) छोड़कर पकावे। जब गाढ़ा (कल्क की भाँति) हो जाय तब उसमें से (दोषबलानुरूप) सेवन करे। अथवा एक भाग त्रिवृतकल्क में आधा भाग सोंठ मिलाकर सैंधव और गोमूत्र के साथ सेवन करे ॥७,८॥

[5]समास्त्रिवृन्नागरकाभयाः स्यु-
र्भागार्धकं पूगफलं सुपक्वम् ।
विडङ्गसारो मरिचं सदारु
योगः ससिन्धूद्भवमूत्रयुक्तः ॥९॥
विरेचनद्रव्यभवं तु चूर्णं
रसेन तेषां भिषजा विमृद्य ।

---

१ स्वादुक्वाथैश्चापि नोष्णैर्विकारे पैत्ते द्राक्षाक्षीरयुक्तां पिबेद्वा. २ क्षौद्रारिष्टत्रिफलाक्वाथयुक्ता मूत्रैः पेया कफजे व्योषगाढा. ३ क्वाथप्रस्थे कुडवं तस्य दद्याद्युक्त्या दद्यान्नागरं सैन्धवं च । पचेत् सर्वं यावदेतद्घनं स्याल्लेहीभूतं तत् प्रयोज्यं ततस्तु॥. ४ त्रिवृत्कल्को नागरभागयुक्तः ससैन्धवो मूत्रयुतः प्रदेयः. ५ समे त्रिवृन्नागरे

तन्मूलसिद्धेन च सर्पिषाऽऽक्तं
सेव्यं तदाज्ये गुटिकीकृतं च ॥१०॥
गुडे च पाकाभिमुखे निधाय
चूर्णीकृतं सम्यगिदं विपाच्य ।
शीतं त्रिजाताक्तमथो विमृद्य
योगानुरूपा गुटिकाः प्रयोज्याः ॥११॥

निशोथ, सोंठ और हरड़ा प्रत्येक एक भाग, सुपक्व सुपारी, विडंगबीज, मरिच और देवदार, आधा आधा भाग इनका चूर्ण सैंधव और गोमूत्र के साथ सेवन करे ॥९॥ विरेचनद्रव्यों के चूर्ण को उन्हींके रस की भावना देकर उस चूर्ण में उनकी जड़ से सिद्ध किये हुए घृत को डालकर गोली बनावे और विरेचन के लिये घृत के साथ सेवन करे ॥१०॥ अथवा चासनी होते हुए गुड़ में उस चूर्ण को डालकर पकावे और ठंढा होते समय उसमें दालचीनी, तेजपत्र और इलायची (का चूर्ण सुगंध उत्पन्न होने के लिये जितना आवश्यक हो उतना) मिलाकर जैसी चाहिये वैसी गुटिका बनाकर उपयोग करे ॥११॥

वैरेकीयद्रव्यचूर्णस्य भागं
सिद्धं सार्धं क्वाथभागैश्चतुर्भिः ।
आमृद्नीयात् सर्पिषा तच्छृतेन
तत्क्वाथोष्मस्वेदितं सामितं च ॥१२॥
पाकप्राप्ते फाणिते चूर्णितं तत्
क्षिप्तं पक्वं चावतार्य प्रयत्नात् ।
शीतीभूता मोदका हृद्यगन्धाः
कार्यास्त्वेते भक्ष्यकल्पाः समासात् ॥१३॥

(त्रिवृत्श्यामादि) विरेचन द्रव्यों का चार भाग क्वाथ लेकर उसमें सिद्ध किया हुआ विरेचन द्रव्य का एक भाग चूर्ण तथा विरेचनद्रव्य के क्वाथ से (स्वेदनीयंत्र में) स्वेदित किया हुआ गेहूँ का चूर्ण इनको विरेचनद्रव्यक्वाथ में सिद्ध किये हुए घृत में मर्दन कर जब गुड़ की चाशनी पकाव पर आवे तब उसमें उस (घृत में मर्दन किये हुए) चूर्ण को डाल दे और पक्व हो जाने पर यत्न से उतार ले और जब ठंढा होने लगे तब (उसमें दालचीनी, तेजपत्र इत्यादि सुगंधित द्रव्य छोड़कर) उसके हृद्यगंधमोदक बनावे। ये संक्षेप में विरेचन के लिये भक्षण करने के योग होते हैं ॥१२,१३॥

वक्तव्य—सामितं–गोधूमचूर्णं–गोधूमा धवला धौताः कुट्टिताः शोधितास्ततः । प्रोक्षिताश्च विनिस्सृष्टाश्चालिताः समिताः स्मृताः । (राजनिघंटु)। गेहूँ का मैदा ।

रसेन तेषां परिभाव्य[1] मुद्गान्
यूषः ससिन्धूद्भवसर्पिरिष्टः ।
वैरेचनेऽन्यैरपि वैदलैः स्या-
देवं विदध्याद् वमनौषधैश्च ॥१४॥

विरेचनद्रव्यों के रस (स्वरस या क्वाथ) में मूँगों को भावना देकर उनका यूष सैंधा नमक और घृत के साथ (विरेचन के लिये) इष्ट होता है। तथा अन्य द्विदल धान्यों को

---

१ रसे च तेषां परिपाच्य.

भी विरेचनद्रव्यरस की भावना देकर विरेचन के लिये यूप के स्वरूप में प्रयुक्त कर सकते हैं । वमन के लिये वमनद्रव्यों की भावना देकर यूप प्रयुक्त कर सकते हैं ॥१४॥

भित्त्वा द्विधेक्षुं परिलिप्य कल्कै-
स्त्रिभण्डिजातैः प्रतिबध्य रज्ज्वा ।
पक्वं च सम्यक् पुटपाकयुक्त्या
खादेत्तु तं पित्तगदी सुशीतम् ॥१५॥

गन्ने को बीच से दो भागों में चीरकर उसके बीच में निशोथ के कल्क का लेप करे और डोरी से बांधकर पुटपाक विधि से उसे ठीक पकाकर ठंडे होने पर पित्त का रोगी उसको सेवन करे ॥१५॥

वक्तव्य—पुटपाकविधि—पुटपाकस्य मात्रेयं लेपस्यांगारवर्णता । लेपं च द्व्यंगुलं स्थूलं कुर्याद्वांगुष्ठमात्रकम् ॥ काश्मरीवटजम्ब्वादिपत्रैर्वेष्टनमुत्तमम ॥ (शार्ङ्गधर) ।

सिताजगन्धात्वक्क्षीरीविदारीत्रिवृतः समाः ।
लिह्यान्मधुघृताभ्यां तु तृड्दाहज्वरशान्तये ॥१६॥

शर्करा, वन अजवायन, वंशलोचन, भूमिकुष्माण्ड और निशोथ सब समभाग लेकर तृषा, दाह और ज्वर की शांति करने के लिये मधु और घृत के साथ सेवन करे ॥१६॥

शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णावचूर्णितम् ।
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचांशकम् ॥१७॥

शर्करा और शहद के साथ निशोथ का चूर्ण मिलाकर उसमें चौथा भाग दालचीनी, तेजपत्र और मिरच का चूर्ण मिलावे; यह सुकुमार मनुष्यों के लिये विरेचन है ॥१७॥

पचेल्लेहं सिताक्षौद्रपलार्धकुडवान्वितम् ।
त्रिवृच्चूर्णयुतं शीतं पित्तघ्नं तद्विरेचनम् ॥१८॥

शर्करा एक पल (चार तोला) और मधु आधा कुडव (१६ तोला) लेकर उसमें निशोथ का चूर्ण (सब का चौथाई) डालकर अवलेह बनावे और ठंडा होने पर उसका सेवन करे। यह पित्त को नाश करने वाला विरेचन है ॥१८॥

वक्तव्य—प्रथम मिश्री में पानी डालकर उसकी चाशनी बनावे । फिर उसमें त्रिवृत् का चूर्ण छोड़ दे । तत्पश्चात् जब चाशनी ठंडी हो जाय, तब उसमें मधु डाले ।

त्रिवृच्छ्यामाक्षारशुण्ठीपिप्पलीर्मधुनाप्नुयात् ।
सर्वश्लेष्मविकाराणां श्रेष्ठमेतद् विरेचनम् ॥१९॥

निशोत्तर, वृद्धदारुक, यवक्षार, सोंठ और पिप्पली इनका चूर्ण शहद के साथ चाटे । यह लेह सर्व प्रकार के कफविकारों के लिये श्रेष्ठ विरेचन है ॥१९॥

बीजाढ्यपथ्याकाश्मर्यधात्रीदाडिमकोलजान् ।
तैलभृष्टान् रसानम्लफलैरावाप्य साधयेत् ॥२०॥
घनीभूतं त्रिसौगन्ध्यं त्रिवृत्क्षौद्रसमन्वितम् ।
लेह्यमेतत् कफप्रायैः सुकुमारैर्विरेचनम् ॥२१॥

पूर्ण पक्व (बीजाढ्य) हुए हरड़े, काश्मरी, आँवले, अनार और बेर इनके (एक प्रस्थ) रसों (स्वरस या क्वाथ) को एरण्ड के (चार पल) तैल में भर्जित करके उसमें (बीजपूरादि) अम्ल फलों का कल्क (चार पल) डाल दे ॥२०॥ जब गाढ़ा हो जाय तब उसमें त्रिसुगन्ध (दालचीनी, तेजपत्र और इलायची का चूर्ण एक कर्ष) और त्रिवृत् (का चूर्ण चार पल) छोड़ दे और ठंडा होने पर शहद (दो पल) मिला दे । यह अवलेह कफभूयिष्ठ रोगों से पीड़ित कोमल मनुष्यों को विरेचन के लिये चाटना चाहिये ॥२१॥

नीलीतुल्यं त्वगेलं च तैस्त्रिवृत्ससितोपला ।
चूर्णं संतर्पणं क्षौद्रफलाम्लं सन्निपातनुत् ॥२२॥

नीली के समान दालचीनी और इलायची को ले और सब के समान शर्करायुक्त निशोथ का चूर्ण मिलाकर मधु और (बीजपूरादि) अम्ल फल के रस के साथ सेवन करे । यह लेह तृप्तिकारक और सन्निपात को नाश करने वाला (विरेचन) है ॥२२॥

त्रिवृच्छ्यामासिताकृष्णात्रिफलामाक्षिकैः समैः ।
मोदकाः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहाः ॥२३॥

निशोथ, विधारा, पिप्पली और त्रिफला (इनका चूर्ण) समान भाग में लेकर शर्करा और मधु से उसके मोदक बनावे । ये विरेचक मोदक सन्निपात, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त और ज्वर का नाश करते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—डल्हणाचार्य के मतानुसार मधु और शर्करा सब ओषधियों से दुगुनी लेनी चाहिये ।

त्रिवृद्भागास्त्रयः प्रोक्तास्त्रिफला तत्समा तथा ।
क्षारकृष्णाविडङ्गानि संचूर्ण्य मधुसर्पिषा ॥२४॥
लिह्याद्गुडेन गुटिकाः कृत्वा वाऽप्यथ भक्षयेत् ।
कफवातकृतान् गुल्मान् प्लीहोदरहलीमकान् ॥२५॥
हन्त्यन्यानपि चाप्येतन्निरपायं विरेचनम् ।

त्रिवृत् तीन भाग, त्रिफला तीन भाग, यवक्षार **एक** भाग, पिप्पली एक भाग, विडंग एक भाग इनका चूर्ण करके मधु और घृत के साथ चाटे, या गुड़ से गुटिका बनाकर सेवन करे । यह चूर्ण या गोली कफजन्य तथा वातजन्य गुल्म, प्लीहोदर, हलीमक (पाण्डु रोग का भेद) तथा अन्य रोगों को भी नाश करती है । यह विरेचन किसी भी प्रकार से उपद्रव नहीं करता है ॥२४,२५॥

चूर्णं श्यामात्रिवृन्नीली कट्वी मुस्ता दुरालभा ॥२६॥
चव्येन्द्रबीजं त्रिफला सर्पिर्मांसरसाम्बुभिः ।
पीतं विरेचनं तद्धि रूक्षाणामपि शस्यते ॥२७॥

विधारा, निशोथ, नीलिनी, कटुरोहिणी, नागरमोथा, दुरालभा (धमासा Alhagi Maurorum), चव्य, इन्द्रयव और त्रिफला इनका चूर्ण घृत, मांसरस और जल के साथ सेवन करे । यह विरेचन रूक्षप्रकृति मनुष्यों के लिखे भी प्रशस्त होता है ॥२६,२७॥

वक्तव्य—रूक्षप्रकृति मनुष्यों को घृत और मांसरस

---

१ इक्षुं द्विधा पाटयित्वाऽवलिप्य त्रिवृत्कल्कैः प्रतिसन्धाय चापि । पक्वं सम्यक् पुटपाकक्रमेण खादेच्छीतं पित्तरोगाभिभूतः ॥.

के साथ और स्निग्धप्रकृति मनुष्यों को जल के साथ देना चाहिये ।

वैरेचनिकनिःक्वाथभागाः शीतास्त्रयो मताः ।
द्वौ फाणितस्य तच्चापि पुनरग्नावधिश्रयेत् ॥२८॥
तत् साधुसिद्धं विज्ञाय शीतं कृत्वा निधापयेत् ।
कलसे कृतसंस्कारे विभज्यर्तू हिमाहिमौ ॥२९॥
मासादूर्ध्वं जातरसं[1] मधुगन्धं वरासवम् ।
पिबेदसावेव विधिः क्षारमूत्रासवेष्वपि ॥३०॥

निशोत्तर का ठंढा हुआ क्काथ तीन भाग और गुड़ की राब (काकवी) दो भाग मिलाकर अग्नि पर पकावे । जब ठीक सिद्ध (अर्धावशिष्ट) हुआ मालूम हो तब संस्कार किये हुए कलसे में डालकर सर्द या गरम ऋतु के अनुसार संधान करे । एक मास से ऊपर काल होने पर जब उसमें रस तथा मधु की सी गंध उत्पन्न हो जाय तब उसका सेवन करे । क्षार, मूत्र तथा अन्य आसवों के संबंध में भी इसी प्रकार बनाने की विधि जाननी चाहिये ॥२८-३०॥

वक्तव्य—संस्कार—कलसी को धोकर सुखाकर मधु-पिप्पली का लेपन करे और अन्त में अगुरु से धूपन करे । विभज्यर्तू हिमाहिमौ—शीतकाल में कलसी धान्यराशि में एक महीना भर रखनी चाहिये और गरमी के काल में पंद्रह दिन रखनी चाहिये ।

वैरेचनिकमूलानां क्वाथे माषान् सुभावितान् ।
सुधौतांस्तत्कषायेण शालीनां चापि तण्डुलान् ॥३१॥
अवक्षुद्यैकतः पिण्डान् कृत्वा शुष्कान् सुचूर्णितान् ।
शालितण्डुलचूर्णं च तत्कषायोष्मसाधितम् ॥३२॥
तस्य पिष्टस्य भागांस्त्रीन् किण्वभागविमिश्रितान् ।
मण्डोदकार्थं क्वाथं च दद्यात्तत्सर्वमेकतः ॥३३॥
निदध्यात्कलसे तां तु सुरां जातरसां पिबेत् ।
एष एव सुराकल्पो वमनेष्वपि कीर्तितः ॥३४॥

विरेचनद्रव्यों की जड़ के काढ़े में भावना दिये हुए उड़दों को तथा उसी विरेचनक्काथ से साफ धोये हुए चावलों को एक करके (ओखली में) कूट ले और उस पिण्ड को सुखाकर चूर्ण करे; फिर (दूसरे) शालि के चावलों का चूर्ण लेकर उसी विरेचनीयक्काथ की भाप से पकावे । फिर उस (माषयुक्त शालितण्डुलचूर्ण तथा कषायस्वेदितशालिचूर्ण की) पिट्टी के तीन भाग लेकर उसमें सुराबीज एक भाग मिला दे और सुरा बनाने के लिये क्काथ भी उसी के साथ मिलाकर कलश में रख दे । जब सुरा सिद्धरस हो जाय तब उसका पान करे । इसी प्रकार वमन के लिये योग्य सुरा भी वमनद्रव्यों के क्काथ में साधन करके सिद्ध हो सकती है ॥३१,३४॥

मूलानि त्रिवृ[2]दादीनां प्रथमस्य गणस्य च ।
महतः पञ्चमूलस्य मूर्वाशार्ङ्गेष्टयोरपि ॥३५॥
सुधां हैमवतीं चैव त्रिफलातिविषे वचाम् ।
संहृत्यैतानि भागौ द्वौ कारयेदेकमेतयोः ॥३६॥
कुर्यान्निःक्वाथमेकस्मिन्नेकस्मिंश्चूर्णमेव तु ।
क्षुण्णांस्तस्मिंस्तु निःक्वाथे भावयेद्बहुशो यवान् ॥३७॥
शुष्काणां मृदुभृष्टानां तेषां भागास्त्रयो मताः ।
चतुर्थं भागमावाप्य चूर्णानामनु(त्र)कीर्तितम् ॥३८॥
प्र[1]क्षिप्य कलसे सम्यक् समस्तं तदनन्तरम् ।
तेषामेव कषायेण शीतलेन सुयोजितम् ॥३९॥
पूर्ववत्सन्निदध्यात्तु ज्ञेयं सौवीरकं हि तत् ।

(संशोधन संशमनीयोक्त) त्रिवृतादि की जड़, प्रथमगण (विदारिगंधादिगण) के औषधों की जड़, बृहत्पंचमूल, मूर्वा, शार्ङ्गेष्टा (पूतिकरंज) इनकी जड़ ॥३५॥ सुधा (सेहुंड), हैमवती (उशारे रेवन्द), त्रिफला, अतिविष और वच इन सब को लेकर इनके दो भाग करे । उनमें से एक भाग का ॥३६॥ निःक्काथ बनावे और एक भाग का चूर्ण कर ले । उस निःक्काथ में कूटे हुए जौओं को कई बार भावना दे ॥३७॥ फिर उनको सुखाकर थोड़ा भून ले और उनके तीन भाग के साथ (पूर्वोक्त) चूर्ण का एक भाग मिलावे ॥३८॥ फिर उस चूर्ण को (पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार संस्कृत) एक घड़े में डालकर उसमें (त्रिवृतादि के) क्काथ को ठंढा करके छोड़ दे ॥३९॥ और पूर्वोक्त रीति से संधान करे । इसको 'सौवीरक' कहते हैं ।

वक्तव्य—भावनाविधि—द्रव्यों को भावना सामान्यतया निम्न प्रकार से दी जाती है—दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ निवासयेत् । शुष्कं चूर्णीकृतं द्रव्यं सप्ताह भावनाविधिः ॥ द्रवेण यावता द्रव्यमेकीभूयार्द्रतां व्रजेत् । द्रवप्रमाणं निर्दिष्टं भिषग्भिर्भावनाविधौ ॥ भाव्यद्रव्यसमं क्वाथ्यं क्वाथ्यादष्टगुणं जलम् । अष्टांशशोषितः क्वाथो भाव्यानां तेन भावना ॥

पूर्वोक्तं वर्गमाहृत्य द्विधा कृत्वैकमेतयोः ॥४०॥
भागं संक्षुद्य संसृज्य यवै[2]ः स्थाल्यामधिश्रयेत् ।
अजशृङ्ग्याः कषायेण त[3]मभ्यासिच्य साधयेत् ॥४१॥
सुसिद्धांश्चावतार्यैतानौषधिभ्यो विवेचयेत् ।
विमृद्य सतुषान् सम्यक् ततस्तान् पूर्ववन्मितान् ॥४२॥
पूर्वोक्तौषधभागस्य चूर्णं दत्त्वा तु पूर्ववत् ।
तेनैव सह यूषेण कलसे पूर्ववत् क्षिपेत्[3] ॥४३॥
ज्ञात्वा जातरसं चापि तत्तुषोदकमादिशेत् ।
तुषाम्बुसौवीरकयोर्विधिरेष प्रकीर्तितः ॥४४॥
षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वा ते च पेये प्रकीर्तिते ।

पूर्वोक्त (सौवीरक साधन में कहे हुए त्रिवृतादि, विदारिगन्धादिगण, महत्पंचमूल, मूर्वा और शार्ङ्गेष्टा) वर्ग लेकर उसके दो भाग करे । उनमें से एक भाग को कूटकर तुष युक्त जौओं के साथ मिलाकर एक स्थालि में रक्खे और मेढ़ासिंगी का क्काथ उसमें डालकर साधन करे (पकावे) ॥४०,४१॥ जब यव सिद्ध हो जायँ (पक जायँ) तब उनको ओषधियों से छाँट ले । पश्चात् उबले हुए उन सतुष यवों को अच्छी तरह से कूटकर उनमें (उनके तीन भाग में) पूर्वोक्त औषधिओं का

---

[1] जातरसमासवं मधुगन्धिकम्. [2] त्रिवृता०.

[1] प्रक्षेप्यं. [2] यवान्. [3] तानभ्यासिच्य. [3] न्यसेत्.

(शेष) चूर्ण (एक भाग) मिलाकर वह मिश्रण पहले की तरह (संस्कृत) कलश में उसी काढ़े के साथ (जिसमें जौ-समेत औषध उबाली थी और जो उबल कर कुछ गाढ़ा हुआ था) डाल दे ॥४२,४३॥ (और उस कलश को धान्य राशि में रक्खे) जब उसमें अम्ल रस उत्पन्न हो जाय तब उसको 'तुषोदक' समझे। तुषोदक और सौवीरक की यही विधि है ॥४४॥ ये सौवीरक और तुषोदक दोनों छः दिन में या सात दिन में (पीने योग्य) हो जाते हैं।

वैरेचनेषु सर्वेषु त्रिवृन्मूलविधिः स्मृतः ॥४५॥

(श्यामा, द्रवन्ती, दन्ती, सप्तला इत्यादि) सर्व विरेचनीय द्रव्यों के लिये भी त्रिवृत् मूल के संबंध में जो विधियाँ वर्णन की गई हैं, उन्हीं के अनुसार विधियाँ होती हैं ॥४५॥

दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि विशेषान्मृत्कुशान्तरे ।
पिप्पलीक्षौद्रयुक्तानि स्विन्नान्युद्धृत्य शोषयेत् ॥४६॥
ततस्त्रिवृद्विधानेन योजयेच्छ्लेष्मपित्तयोः ।

दन्ती और द्रवन्ती की जड़ को मधु और पिप्पली इनसे लिप्त कर खूब मिट्टी और कुशा से लपेट कर (पुटपाकविधि से) स्वेदन करे, फिर निकाल कर सुखा ले ॥४६॥ पश्चात् निशोथ की तरह (इक्षुविकार और दूध के साथ) पित्त में और (गुडूची, नीम, त्रिफला आदि के रस में) कफ में (विरेचन के लिये) उपयोग करे।

तयोः कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत् ॥४७॥
सर्पिश्च पक्वं वीसर्पकक्षादाहालजीर्जयेत् ।
मेहगुल्मानिलश्लेष्मविबन्धांस्तैलमेव च ॥४८॥
चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसंरोधजा रुजः ।

(दन्ती और द्रवन्ती) इनके कल्क और कषाय में कोल्हू से निकाला हुआ तिल तैल साधन करे ॥४७॥ तथा घृत भी साधन करे। यह घृत विसर्प, कक्षा, दाह और अलजी को नाश करता है और तैल प्रमेह, गुल्म तथा वातजन्य और कफजन्य मलावरोध का नाश करता है ॥४८॥ (दन्ती और द्रवन्ती से साधित) चतुःस्नेह मल, वीर्य और वात इनके अवरोध से उत्पन्न हुए रोगों को नाश करता है।

वक्तव्य—चक्रतैल—चक्रपीडित तिल तैल । तैल सिद्ध करने की विधि—कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा । चतुर्गुणे द्रव्ये साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता ॥ निक्षिप्य क्वाथयेत्तोयं क्वाथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम् । पादशिष्टं गृहीत्वा च स्नेहं तेनैव साधयेत् ॥ (शार्ङ्गधर) । कक्षा—यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाह्वाजनिभास्तु कक्षाः । (चरक)। इस रोग को अंग्रेजी में हर्पिस झोस्टर (Herpes Zoster) कहते हैं। अलजी—इससे तीन रोगों का बोध हो सकता है—(१) अलजी नामक प्रमेहपिडका, (२) अलजी नामक लिंग का शूकदोष, (३) और नेत्रसंधिगत अलजी नामक फुन्सियाँ (Phlyctinules)। चतुःस्नेह—घृत, तैल, वसा और मज्जा।

दन्तीद्रवन्तीमरिचकनकाह्वयवासकैः ॥४९॥
विश्वभेषजमृद्वीकाचित्रकैर्मूत्रभावितैः ।
सप्ताहं सर्पिषा चूर्णं योज्यमेतद्विरेचनम् ॥५०॥
जीर्णे सन्तर्पणं क्षौद्रं पित्तश्लेष्मरुजापहम् ।
अजीर्णपार्श्वरुक्पाण्डुप्लीहोदरनिबर्हणम् ॥५१॥

दन्ती, द्रवन्ती, मिरच, कनकाह्व (नागकेशर या कंकुष्ठ), दुरालभा, सोंठ, द्राक्षा, चित्रक इनको सात दिन तक गोमूत्र में भावना देकर घृत के साथ विरेचन के लिये प्रयुक्त करे। औषध जीर्ण हो जाने पर संतर्पण (लाजासक्तु) और मधु का सेवन करे। यह विरेचन पित्त और श्लेष्म के रोग, अजीर्ण, पार्श्वरुक्, पाण्डु रोग और प्लीहोदर इनको नाश करता है ॥४९-५१॥

गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्युः पलं पलम् ।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ॥५२॥
कृत्वैतान्मोदकानेकं दशमे दशमेऽहनि ।
ततः खादेदुष्णतोयसेवी निर्यन्त्रणास्त्विमे ॥५३॥
दोषघ्ना ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठनाशनाः ।

गुड़ आठ पल, बीस हरड़े, दन्ती और चित्रक का एक एक पल, पिप्पली और निशोथ एक एक कर्ष लेकर इनके दश मोदक बनावे और एक एक मोदक दसवें दसवें दिन सेवन करे और ऊपर से गरम पानी पीवे। ये मोदक निर्यन्त्रण (पथ्य रहित) दोषों की शान्ति करते हैं; तथा ग्रहणी, पाण्डु रोग, अर्श और कुष्ठ इनको नाश करते हैं ॥५२,५३॥

व्योषं त्रिजातकं मुस्ता विडङ्गामलके तथा ॥५४॥
नवैतानि समांशानि त्रिवृदष्टगुणानि वै ।
श्लक्ष्णचूर्णीकृतानीह दन्तीभागद्वयं तथा ॥५५॥
सर्वाणि चूर्णितानीह गालितानि विमिश्रयेत् ।
षड्भिश्च शर्कराभागैरीषत्सैन्धवमाक्षिकैः ॥५६॥
पिण्डितं भक्षयित्वा तु ततः शीताम्बु पाययेत् ।
बस्तिरुक्तृड्ज्वरच्छर्दिशोषपाण्डुभ्रमापहम् ॥५७॥
निर्यन्त्रणमिदं सर्वं विषघ्नं तु विरेचनम् ।
त्रिवृदष्टकसंज्ञोऽयं प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ॥५८॥
भक्ष्यः क्षीरानुपानो वा पित्तश्लेष्मातुरैर्नरैः ।
भक्ष्यरूपसधर्मत्वादाढ्येष्वेव विधीयते ॥५९॥

(त्रिवृदष्टक—) त्रिकटु (सोंठ, मिरच और पिप्पली), त्रिजातक (दालचीनी, तेजपत्र और इलायची), नागरमोथा, विडंग और आँवले ये नौ वस्तु सम भाग (एक एक भाग), निशोथ आठ भाग, दन्ती दो भाग ये सब द्रव्य बारीक चूर्ण करके और वस्त्र से छानकर मिलके। पश्चात् उसमें छः भाग शर्करा और थोड़ा ($\frac{१}{४}$ भाग) सैन्धव तथा मधु मिलाकर ॥५४,५६॥ उसके मोदक बनावे और (मात्रा के अनुसार) सेवन कराकर ऊपर से ठंढा पानी पिलावे। इससे बस्ति के रोग, तृषा, ज्वर, वमन, शरीर की कृशता, पाण्डुरोग और भ्रम इतने रोग नाश होते हैं ॥५७॥ यह निर्यन्त्रण (वातातपादि प्रतिषेध नियम रहित) और विषनाशक विरेचन है। यह 'त्रिवृदष्टक' संज्ञक योग पित्त के रोगियों को बहुत हितकर

---

१ मूत्रभावितम्.

१ वातश्लेष्मातुरैर्नरैः.

है ॥५८॥ श्लेष्म और पित्तजन्य रोगों से पीड़ित मनुष्यों को इसे खाकर ऊपर दूध पीना चाहिये । (अपूप लड्डू आदि) भक्ष्य पदार्थों की तरह होने से अमीर रोगियों में भी इसका प्रयोग हो सकता है ॥५९॥

तिल्वकस्य त्वचं शुष्कामन्तर्वल्कविवर्जिताम् ।
चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कषायेण गालयेत् ॥६०॥
तृतीयं भावितं तेन भागं शुष्कं तु भावितम् ।
दशमूलीकषायेण त्रिवृद्वत् संप्रयोजयेत् ॥६१॥

लोध (मूल) की अन्तर्वल्क छोड़कर सूखी छाल को चूर्ण करके उस चूर्ण के दो तिहाई भाग को उसी के क्वाथ में भिगोकर वह क्वाथ छान ले ॥६०॥ और इस क्वाथ से शेष चूर्ण को भावना देकर सुखा ले । फिर उसे दशमूलक्वाथ में भावना देवे और त्रिशोथ की भाँति प्रयोग करे ॥६१॥

विधानं त्वक्षु निर्दिष्टं फलानामथ वक्ष्यते ।

(विरेचनीय) त्वचाओं की विधि (अब तक) वर्णन की गई है । अब आगे (विरेचनीय) फलों की विधि वर्णन की जायगी ।

हरीतक्याः फलं त्वस्थिविमुक्तं दोषवर्जितम् ॥६२॥
योज्यं त्रिवृद्विधानेन सर्वव्याधिनिबर्हणम् ।
रसायनं परं मेध्यं दुष्टान्तर्व्रणशोधनम् ॥६३॥

गुठली निकाले हुए दोषरहित हरड़े के फल निशोथ की विधि के अनुसार उपयोग करने से सब रोगों का नाश होता है । हरीतकी का प्रयोग परम रसायन, बुद्धि के लिये हितकर और दुष्ट तथा अन्तर्व्रण को शोधन करने वाला है ॥६२,६३॥

वक्तव्य—दोषवर्जित—आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि । आदित्यपवनच्छायासलिलप्रीणितानि च । यान्यजग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च ॥ (चरक) । रसायन—लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ (चरक) ।

हरीतकी विडङ्गानि सैन्धवं नागरं त्रिवृत् ।
मरिचानि च तत्सर्वं गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६४॥

हरड़ा, विडंग, सैन्धव, सोंठ, निशोथ और मिरच इन सबों का सेवन गोमूत्र के साथ करने से विरेचन होता है ॥६४॥

हरीतकी भद्रदारु कुष्ठं पूगफलं तथा ।
सैन्धवं शृङ्गवेरं च गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६५॥

हरड़ा, देवदारु, कुष्ठ, सुपारी, सैन्धव और सोंठ इनको गोमूत्र के साथ सेवन करने से विरेचन होता है ॥६५॥

नीलिनीफलचूर्णं च नागराभययोस्तथा ।
लिह्याद् गुडेन सलिलं पश्चादुष्णं पिबेन्नरः ॥६६॥

नीलिनीफल, सोंठ और हरड़ा इनका चूर्ण गुड़ के साथ सेवन करे और पीछे गरम पानी पीवे ॥६६॥

पिप्पल्यादिकषायेण पिबेत्पिष्टां हरीतकीम् ।
सैन्धवोपहितां सद्य एष योगो विरेचयेत् ॥६७॥

सैंधानमक मिलाकर हरड़े का चूर्ण पिप्पल्यादिगण के क्वाथ के साथ सेवन करे । यह योग तत्काल विरेचन करता है ॥६७॥

हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा ।
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी ॥६८॥
वातानुलोमनी वृष्या चेन्द्रियाणां प्रसादनी ।
सन्तर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥६९॥

सोंठ, गुड़ या सैन्धा नमक के साथ निरन्तर सेवन करने से हरीतकी अग्नि का दीपन करती है ॥६८॥ हरीतकी प्रायः वातानुलोमक, शरीरपुष्टिकर, इन्द्रियों में प्रसाद उत्पन्न करने वाली और (दिवास्वप्न, स्निग्ध भोजन आदि) संतर्पक आहार विहार से उत्पन्न होने वाले रोगों का नाश करने वाली होती है ॥६९॥

वक्तव्य—वृष्य—शरीरपुष्टि करने वाली—यत्किंचिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु । हर्षणं मनसश्चैव तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) । वृष्य का सामान्य अर्थ वीर्यवृद्धिकर होता है; परन्तु यह अर्थ हरीतकी के संबंध में प्रशस्त नहीं है, क्योंकि हरीतकी वीर्यक्षयी लोगों के लिये अहितकर है—अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीसंगविषकर्षिताः । सेवेरन्नाभयामेते ॥ (चरक) । चरक में भी हरीतकी को 'पौष्टिकी' कहा है । संतर्पणकृत रोग—प्रमेहकण्डूपिडकाः कोठपाण्ड्वामयज्वराः । कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकः ॥ तन्द्राक्लैब्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता । इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः ॥ (चरक) ।

शीतमामलकं रूक्षं पित्तमेदःकफापहम् ।
विभीतकमनुष्णं तु कफपित्तनिबर्हणम् ॥७०॥
त्रीण्यप्यम्लकषायाणि सतिक्तमधुराणि च ।

आँवला ठंढा, रूक्ष और पित्त, मेद तथा कफ का नाशक है । बहेड़ा अनुष्ण (न गरम न ठंढा) और कफ तथा पित्त का नाशक है ॥७०॥ ये तीनों भी (त्रिफला) अम्ल, कषाय, तिक्त और मधुररसयुक्त होते हैं ।

त्रिफला सर्वरोगघ्नी त्रिभागघृतमूर्च्छिता ॥७१॥
वयसः स्थापनं चापि कुर्यात् संततसेविता ।

(त्रिफला के गुण—) त्रिफला (हरड़ा, बहेड़ा और आमलक) तिगुने घृत के साथ मिलाकर निरन्तर सेवन करने से सब रोगों का नाश करती है और वय को स्थापन करती है ।

हरीतकीविधानेन फलान्येवं प्रयोजयेत् ॥७२॥
विरेचनानि सर्वाणि—

सब विरेचनीय फलों का उपयोग इस प्रकार हरीतकी विधि के अनुसार करे ।

—विशेषाच्चतुरङ्गुलात् ।
फलं काले समुद्धृत्य सिकतायां निधापयेत् ॥७३॥
सप्ताहमातपे शुष्कं ततो मज्जानमुद्धरेत् ।
तैलं ग्राह्यं जले पक्त्वा तिलवद्वा प्रपीड्य च ॥७४॥
तस्योपयोगो बालानां यावद्वर्षाणि द्वादश ।
लिह्यादेरण्डतैलेन कुष्ठत्रिकटुकान्वितम् ॥७५॥
सुखोदकं चानुपिबेदेष योगो विरेचयेत् ।

विशेष करके चतुरंगुल (अमलतास) वृक्ष से परिपक्वावस्था में फलों को लेकर सात दिन तक वालुका में रक्खे ।

---

१ बाह्या०.

फिर धूप में सुखाकर उनकी गिरी निकाल ले । फिर पानी में उबालकर या तिलों की तरह कोल्हू में पेरकर उस गिरी से तेल निकाले ॥७३,७४॥ इस तेल का उपयोग बारह वर्ष तक के बालकों के लिये होता है । इसको एरण्डतैल तथा कुष्ठ और त्रिकटु मिलाकर चाटे ॥७५॥ ऊपर से सोहाता जल पीवे। यह योग विरेचन करता है ।

एरण्डतैलं त्रिफलाक्काथेन त्रिगुणेन तु ॥७६॥
युक्तं पीतं तथा क्षीररसाभ्यां तु विरेचयेत् ।
बालवृद्धक्षतक्षीणसुकुमारेषु योजितम् ॥७७॥

एरण्ड का तैल तिगुने त्रिफला के क्वाथ के साथ या दूध के साथ या मांसरस के साथ पीवे । इससे भी विरेचन होता है । बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण तथा सुकुमार प्रकृति वाले मनुष्यों के लिये यह योग प्रशस्त होता है ॥७६,७७॥

फलानां विधिरुद्दिष्टः क्षीराणां शृणु सुश्रुत ! ।

हे सुश्रुत ! (विरेचनीय) फलों का उपयोग कैसे करना चाहिये, इसकी विधि वर्णन की गई । अब दुग्धों की विधि श्रवण करो ।

विरेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं मतम् ॥७८॥
अज्ञप्रयुक्तं तद्धन्ति विषवत् कर्मविभ्रमात् ।
विजानता प्रयुक्तं तु महान्तमपि संचयम् ॥७९॥
भिनत्त्याश्वेव दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तरान् ।

तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों में स्नुहीक्षीर सर्वश्रेष्ठ है ॥७८॥ उसके कर्म का ज्ञान न होने के कारण अज्ञ के हाथ का उपयोग किया हुआ उसका क्षीर विष के समान नाश करता है । परन्तु ज्ञानी वैद्य के द्वारा उपयोग करने से वह क्षीर दोषों के भारी संचय को भी तुरन्त भेदन कर देता है तथा दारुण रोगों को भी दूर करता है ।

वक्तव्य—सुधावृक्ष दो प्रकार का होता है, एक बहुकण्टक और दूसरा तीक्ष्णाल्पकण्टक । बहुकण्टक को स्नुक्, सुधा या स्नुही (Euphorbia Ligularia) कहते हैं। तीक्ष्णाल्पकण्टक को सेहुण्ड (Euphorbia Antiquorum) कहते हैं । इनमें से स्नुही या बहुकण्टक अधिक तीक्ष्ण होता है—द्विविधः स मतो यैश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः । सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः ॥ (चरकसंहिता) । ऐसे द्विवर्ष या त्रिवर्ष आयु के वृक्ष का क्षीर शिशिरऋतु के अन्त में ग्रहण करना चाहिये—तं विपाट्याहरेत् क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक् । द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (चरक) ।

महत्याः पञ्चमूल्यास्तु बृहत्योश्चैकशः पृथक् ॥८०॥
कषायैः समभागं तु तद[1]ङ्गारैर्विशोषितम् ।
अम्लादिभिः पूर्ववत्तु प्रयोज्यं कोलसंमितम् ॥८१॥

महत्पंचमूल, स्थूलबृहती और सूक्ष्मबृहती इन (सात) वस्तुओं का पृथक् पृथक् कषाय बनाकर एक साथ मिला दे और उसमें एक के तुल्य (एक सप्तमांश) थोहर का दूध डालकर उसे अंगारों पर सुखा ले और एक कर्ष की मात्रा में अम्ल पदार्थों (सौवीरक, तुषोदक, सुरा, मातुलुंगरस, आमलकरस इत्यादि के) साथ पूर्ववत् (निशोथ की विधि के अनुसार) प्रयुक्त करे ॥८०,८१॥

महावृक्षपयपीतै र्यवागूस्तण्डुलैः कृता ।
पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥८२॥
लेहो वा साधितः सम्यक् स्नुहीक्षीरै[1]सिताघृतैः ।
भावितास्तु स्नुहीक्षीरे पिप्पल्यो लवणान्विताः ॥८३॥
चूर्णं काम्पिल्लकं वाऽपि तत्पीतं गुटिकीकृतम् ।

थोहर के दूध में भावना दिये हुए चावलों से बनाई हुई यवागू ; अथवा (भावना दिये हुए गेहूँ के) गुड़ में बनाई हुई उत्कारिका (लप्सी); अथवा थोहर का दूध, शर्करा और घृत इनसे योग्य विधि द्वारा सिद्ध किया हुआ लेह; अथवा थोहर के दूध में भावना दी हुई लवण युक्त पिप्पली; अथवा थोहर के दूध में भिगोकर बनाई हुई कमीले की गोली सेवन करने पर तत्काल विरेचन होता है ॥८२,८३॥

सप्तला शङ्खिनी दन्ती त्रिवृदारग्वधं गवाम् ॥८४॥
मूत्रेणाप्लाव्य सप्ताहं स्नुहीक्षीरे ततः परम् ।
कीर्णं तेनैव चूर्णेन माल्यं वसनमेव च ।
आघ्रायावृत्य वा सम्यङ्मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥८५॥

शिकेकाई, शंखिनी, दन्ती, निशोथ, अमलतास इनको (पहले) सात दिन तक गोमूत्र में भावना दे; फिर (सात दिन) थोहर के दूध में भावना दे । पश्चात् (चूर्ण करके) उस चूर्ण को फूल पर डालकर सूंघने से या उसी चूर्ण से वस्त्र को भावना देकर परिधान करने से (आवृत्य) मृदुकोष्ठ मनुष्यों को विरेचन हो जाता है ॥८४,८५॥

क्षीरत्वक्फलमूलानां विधानैः परिकीर्तितैः ।
अवेक्ष्य सम्यग्रोगादीन् यथावदुपयोजयेत् ॥८६॥

रोगादि (बातों के बलाबल) को देखकर (विरेचनीय) क्षीर, त्वचा, फल और मूल इनके वर्णन किये हुए विधानों को जहाँ जिसका प्रयोग उचित हो, वहाँ उपयोग करे ॥८६॥

त्रिवृच्छाणमितास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः ।
विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः ॥८७॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन वा ।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥८८॥
गुल्मान् प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति ॥८९॥

निशोथ तीन शाण ($\frac{3}{4}$ तोला), त्रिफला की छाल तीन शाण, विडंग, पिप्पली और यवक्षार तीनों (मिलकर) तीन शाण लेकर उनका चूर्ण करे ॥८७॥ और घृत तथा मधु के साथ चाटे या गुड़ से मोदक बनाकर सेवन करे । यह योग निर्यंत्रण और श्रेष्ठ विरेचन है ॥८८॥ जो गुल्म, प्लीहोदर, कास, हलीमक, अरुचि तथा कफवातजन्य अन्य रोगों को नाश करता है ॥८९॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि
मद्येषु मूत्रेषु तथा रसेषु ।

---

[1] तदङ्गारेषु शोषितम्.

[1] स्नुहीक्षीरपयोघृतैः.

भक्ष्यान्नलेह्येषु च तेषु तेषु
विरेचनान्यग्रमतिर्विदध्यात् ॥९०॥

घृत, तैल, दूध, मद्य, मूत्र, स्वरस, (मोदक आदि) भक्ष्य पदार्थ, (भात आदि) अन्न पदार्थ और अवलेह इनमें से जो उचित हो उसी में (मिलाकर) बुद्धिमान् वैद्य विरेचन द्रव्यों का उपयोग करे ॥९०॥

क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः
शृतश्च शीतश्च तथैव फाण्टम् ।
कल्पाः षडेते खलु भेषजानां
यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः ॥९१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो
नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४४॥

(वृक्षादि का) दूध, स्वरस, कल्क, शृत कषाय, शीत कषाय तथा फाण्ट ये ओषधियों के छः कल्प होते हैं और ये उत्तरोत्तर हलके हैं ॥९१॥

वक्तव्य—स्वरस—आहतात्तत्क्षणाकृष्टाद् द्रव्यात्क्षुण्णात्समुद्धरेत् । वस्त्रनिष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते ॥ **(शार्ङ्गधर)** । कल्क—यः पिण्डश्चार्द्रपिष्टानां स कल्कः परिकीर्तितः ॥ शृत कषाय—**काढा**—पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत् । मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥ **क्वाथ को अँग्रेजी में डीकोक्शन** (Decoction) **कहते हैं** । शीत कषाय—क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम् । निशोषितं हिमः स स्यात्तथा शीतकषायकः ॥ फाण्ट—क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग्जलमुष्णं विनिक्षिपेत् । मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्रावयेत्पटात् ॥ **अँग्रेजी में शीत तथा फाण्ट दोनों को भी इन्फ्यूजन** (Infusion) **कहते हैं । फाण्ट के स्थान में कहीं चूर्ण ऐसा भी पाठ है परन्तु चूर्ण का समावेश कल्क में ही हो जाता है**—चूर्णं कल्क एवान्तर्भावनीयम् । द्विविधो हि कल्कः स द्रवोऽद्रवश्चेति कृत्वा । **(चक्रपाणिदत्त, चरकटीका)**। लघवः—**क्षीर से स्वरस हलका, स्वरस से कल्क हलका, कल्क से क्वाथ हलका इत्यादि और फाण्ट सबसे हलका**—तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्, अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी । नत्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति । **(चरक)** । **शरीर पर अपना कार्य करने की दृष्टि से हलका ।**

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो
नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रवद्रव्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से द्रवद्रव्यविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—द्रवद्रव्यविधि—पतले पदार्थों के प्रकार (विधि) जिसमें वर्णन किये हैं, ऐसा अध्याय ।

पानीयमान्तरिक्षमनिर्देश्यरसममृतं जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजननं श्रमक्लमपिपासामदमूर्च्छातन्द्रानिद्रादाहप्रशमनमेकान्ततः पथ्यतमं च ॥२॥

आन्तरिक्ष जल अव्यक्तरस, अमृत के समान जीवन के लिये हितकर, तृप्तिकर, शरीर धारण करने वाला, सुख उत्पन्न करने वाला, श्रम, क्लम, प्यास, मद, मूर्च्छा, तन्द्रा, निद्रा तथा दाह को शांत करने वाला और निरपवाद पथ्य है ॥२॥

वक्तव्य—आन्तरिक्ष—भूलोक और सूर्यलोक के मध्यवर्ति आकाश प्रदेश में स्थित । भूपृष्ठ पर जो जल होता है उसकी भाप सूर्य की उष्णता से बनकर आकाश प्रदेश में स्थित होती है, वही आन्तरिक्ष जल है । अनिर्देश्यरस—अव्यक्तरस यानि जिसका स्वाद लेने से किसी एक प्रकार के रस का भी प्रकटरूप से बोध नहीं होता । अमृत—अमृतमिव । जीवन—जीने के लिये आवश्यक और हितकर । क्लम—योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ **(सुश्रुत)** । तन्द्रा–इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ तन्द्रा को अंग्रेजी में 'टायफाइड स्टेट' (Typhoid State) कह सकते हैं । एकान्ततः पथ्यतमं च—प्रकृति में जो जल मिलता है, उसमें वर्षा जल के समान विशुद्ध और पथ्यकर दूसरा जल नहीं है । इसलिये चरकसंहिता में 'आन्तरिक्षमुदकानाम्' ऐसा इसका यथार्थ वर्णन किया है । नवीन दृष्टि से आन्तरिक्ष जल की दो विशेषताएँ होती हैं:—(१) इसमें चूना और म्याग्नेसिअम (Magnesium) के लवण नहीं होते जिससे यह अत्यंत मृदु (Soft) या हलका होता है । (२) इसमें रोगोत्पादक जीवाणु, विशेष करके आंत्रिकज्वर, विसूचिका के जीवाणु नहीं होते हैं । इन दो कारणों से आन्तरिक्ष जल स्वास्थ्य के लिये सदैव हितकर होता है ।

तदेवावनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थानविशेषान्नदीनदसरस्तडागवापीकूपचुण्टीप्रस्रवणोद्भिदविकिरकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥३॥

पृथिवी पर गिरा हुआ वही आन्तरिक्ष जल (गंगादि) नदी, (सिन्धु शोणादि) नद, (मानसादि स्वाभाविक) सरोवर, (कृत्रिम) तालाव, बावड़ी, कूप, चौंड्य (अबद्धकूप), प्रस्रवण (पहाड़ से नीचे गिरने वाला झरना), उद्भिद (पृथिवी से जहां पानी निकलता हो यथा कुण्ड), विकिर (जहाँ वालु खोदने से पानी निकलता है), केदार तथा पल्वल (आनूपदेशजतृणादिच्छन्नं सरः) इत्यादि स्थानों में स्थित हुआ स्थानगुण के अनुसार किसी न किसी रस को प्राप्त होता है ॥३॥

वक्तव्य—आन्तरिक्ष जल के गुणधर्म तमाम दुनिया में एक से ही हुआ करते हैं, परन्तु भूमिगत जल के गुणधर्म प्रत्येक स्थान में भिन्न भिन्न हुआ करते हैं । वस्तुतः आन्तरिक्ष जल और भूमिगत जल दोनों एक ही हैं । आधुनिक भौतिकविज्ञान से दोनों भी प्रकार का पानी एक रासायनिक यौगिक है जिसमें दो भाग हायड्रोजन वायु और एक भाग आक्सीजन वायु (H_2O) होती है । परन्तु भूमिगत पानी में भूमि की जाति

---

१ चूर्णम्.

के अनुसार भिन्न भिन्न पदार्थ मिलने से पानी के गुणों में भी बहुत भिन्नता हो जाती है। इसका प्रधान कारण यह है कि पानी में अन्य पदार्थों को अपने में विलीन (Dissolve) करने का विशेष धर्म है, जिससे जिस भूमि में पानी स्थित होता है उस भूमि के कई पदार्थ पानी में विद्रुत हो जाते हैं और पानी के गुण धर्मों में फेर फार हो जाता है। इसी दृष्टि से चरक में लिखा है—जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्। तत्पतत्पतितं चैव देशकालानपेक्षते ॥ खात्पतत्सोमवाय्वर्कैः स्पष्टं कालानुवर्तिभिः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ॥ शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ॥ (सूत्र, २७)। इसके सिवाय भूमिगत पानी में फर्क होने का दूसरा कारण यह है कि आन्तरिक्ष जल के वायुमण्डल में से होकर भूमि पर गिरते समय उसमें हवा के कई वायुरूप पदार्थ, दूसरे ठोस अवलंबनस्थ सूक्ष्मांश, धूलि के कण इत्यादि पदार्थ मिल जाते हैं। सामान्यतः एक लिटर (९० तोला) वर्षा जल में २५ सी. सी. (२ तोला) वायुरूप पदार्थ होते हैं जिसमें ६४0/0 नायट्रोजन, ३४0/0 आक्सीजन और २0/0 कार्बन डायोक्साईड होती है। समुद्रसमीपवर्ती नगरों के वर्षाजल में नमक भी मिलता है। बड़े बड़े व्यापारी नगरों में जहाँ कल कारखाने बहुत होते हैं, उनसे निकले हुए जहरीले पदार्थ, कज्जली, धूलि तथा अन्य पदार्थ वर्षाजल में मिले हुए रहते हैं। वर्षा ऋतु के प्रारंभ में वायुमण्डल इन अशुद्धियों से भरा रहता है, इसलिये उस समय का वर्षाजल सेवन करने योग्य नहीं होता—अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत्। लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम्। न पिबेत् ॥ (वाग्भट)। इसलिये यदि वर्षाजल साक्षात् पीने के लिये इकट्ठा करना हो तो उपर्युक्त बातों पर ध्यान देकर इकट्ठा करना चाहिये।

तत्र, लोहितकपिलपाण्डुनीलपीतशुक्लेष्ववनिप्रदेशेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणि यथासङ्ख्यमुदकानि संभवन्तीत्येके भाषन्ते ॥४॥

उनमें लाल, कपिल, पाण्डु, पीत, नील तथा श्वेत (रंग की) पृथिवी के प्रदेशों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय (रस का) पानी यथाक्रम होता है, इस प्रकार कई आचार्य कहते हैं ॥४॥

वक्तव्य—यथासंख्य—लोहितवर्ण की भूमि में मधुर, कपिलवर्ण की भूमि में अम्ल, पाण्डुरवर्ण की भूमि में लवण, पीतवर्ण भूमि में कटु, नीलवर्ण भूमि में तिक्त और श्वेतवर्ण भूमि में कषाय रस का पानी होता है। इस मत से भिन्न मत चरक तथा अष्टांगसंग्रह में मिलता है—श्वेते कषायं भवति पाण्डुरे चैव तिक्तकम्। कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम्। कटु पर्वतविस्तारे मधुरं कृष्णमृत्तिके ॥

तत्तु न सम्यक्। तत्र पृथिव्यादीनामन्योन्यानुप्रवेशकृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण। तत्र, स्वलक्षणभूयिष्ठायां भूमावम्लं लवणं च; अम्बुगुणभूयिष्ठायां मधुरं; तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं च; वायुगुणभूयिष्ठायां कषायम्; आकाशगुणभूयिष्ठायामव्यक्तरसम्, अव्यक्तं ह्याकाशमित्यतः; तत् प्रधानमव्यक्तरसत्वात्, तत्पेयमान्तरिक्षालाभे ॥५॥

(धन्वन्तरि भगवान् कहते हैं कि) यह मत ठीक नहीं है। पृथिव्यादि महाभूतों के पंचीकरण से उत्पन्न हुए जल के रस का भेद (भूमिगत महाभूतों के) उत्कर्ष या अपकर्ष के अनुसार हुआ करता है। उनमें से पृथिवी के गुण अधिक होने वाले भूमि में अम्ल या खारा जल होता है। जल के गुण अधिक होने वाले भूमि में मीठा जल होता है। अग्नि के गुण अधिक होने वाले भूमि में कटु या तिक्त रस का जल होता है। वायु के गुण अधिक होने वाले भूमि में कषाय रस का जल होता है। आकाश के गुण अधिक होने वाले भूमि में जल का रस अव्यक्त अर्थात् अप्रकट होता है। इसलिए कि आकाश अव्यक्त होता है। वही जल अव्यक्त रस होने के कारण इतर जल की अपेक्षा प्रधान है। आन्तरिक्ष जल के अभाव में वही आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि का जल पीने योग्य होता है ॥५॥

तत्रान्तरिक्षं चतुर्विधम्। तद्यथा—धारं, कारं, तौषारं, हैममिति। तेषां धारं प्रधानं, लघुत्वात्; तत् पुनर्द्विविधं—गाङ्गं, सामुद्रं चेति। तत्र गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति। तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत—शाल्योदनपिण्डमकुथितमविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वीत, स यदि मुहूर्तं स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यं; वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्लेदे च सामुद्रमिति विद्यात्, तन्नोपादेयम्। सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद्भवति। गाङ्गं पुनः प्रधानं, तदुपादीताश्वयुजे मासि। शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युतमथवा हर्म्यतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभिर्भाजनैर्गृहीतं सौवर्णे राजते मृण्मये वा पात्रे निदध्यात्। तत्सर्वकालमुपयुञ्जीत, तस्यालाभे भौमम्। तच्चाकाशगुणबहुलम्। तत् पुनः सप्तविधम्। तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडागं, प्रास्रवणम्, औद्भिदं चौण्ट्यमिति ॥६॥

आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का होता है। जैसे—१ धार (जो धारा से वर्षा हो उसका जल), २ कार (कर अर्थात् ओले गिरें उसका जल), ३ तौषार (अर्थात् ओस की बिन्दुओं से उत्पन्न हुआ जल), ४ हैम (बर्फ गिरता है वह पिघल कर उत्पन्न हुआ जल)। इन (चारों) में हलका होने के कारण मेघ धारा का जल प्रधान है। फिर वह दो प्रकार का है—१ गांग और २ सामुद्र। इनमें से गांग जल प्रायः आश्विन के महीने में बरसता है। फिर भी उन दोनों की परीक्षा करनी चाहिये—जो न सड़ा हुआ है या न जिसका वर्ण बदल गया है ऐसे पकाये हुए शालि चावलों का पिण्ड बनाकर चाँदी के पात्र में रखकर मेघ बरसते समय बाहर रख दे। वह यदि

---

१ स्वगुणभूयिष्ठायाम्.

एक मुहूर्त (४८ मिनिट) (बरसते पानी में) वैसा ही (अविवर्ण और अकुथित) रहे तो जानना चाहिये कि गांग जल बरसता है और यदि वर्ण पलट जाय तथा पिण्ड में कोथ पैदा हो जाय तो समझना चाहिये कि सामुद्र जल बरसता है। वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। सामुद्र जल भी आश्विन के महीने में ग्रहण किया हुआ गांग जल के समान होता है। गांग जल आन्तरिक्ष जल में प्रधान है; वह आश्विन के महीने में इकट्ठा कर लेना चाहिये। वही जल स्वच्छ, सफेद, बड़े फैले हुए वस्त्र के एक देश से गिरा हुआ, अथवा पक्के मकान की स्वच्छ छत से गिरा हुआ, अथवा स्वच्छ पात्रों में इकट्ठा किया हुआ सोने, चांदी या मिट्टी के पात्र में रखे और सब काल में उसका उपयोग करे। यदि वह न मिले तो आकाशगुणभूयिष्ठ पृथिवी से निकाला हुआ जल ग्रहण करे। वह भौम जल फिर सात प्रकार का होता है। जैसे—१ कौप (कुए का जल), २ नादेय (नदी का जल), ३ सारस, ४ तालाव का जल, ५ झरने का जल, ६ जमीन से निकालने वाला जल, और ७ चौण्ड्य (कच्चे कुए का जल) ॥६॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में आन्तरिक्ष जल के गांग और सामुद्र भेद नहीं दिखाई देते। गांग और सामुद्र पारिभाषिक शब्द हैं। गांग का अर्थ गंगाजल के समान शुद्ध और हितकर हो सकता है और सामुद्र का अर्थ समुद्र के पानी के समान खराब होता है। हारीतसंहिता में सामुद्र जल का लक्षण ऐसा दिया है—आविलं समलं नीलं घनं पीतमथापि वा। सक्षारं पिच्छिलं चैव सामुद्रं तन्निगद्यते॥ मकानों के छतों से वर्षा जल इकट्ठा करने के लिये आज कल विशेष प्रकार के यंत्र (Robert's or Gibb's rain water Separator) होते हैं जो प्रारंभिक दूषित जल को छोड़कर केवल शुद्ध पानी को ग्रहण करते हैं। तस्यालाभे भौमम्—आन्तरिक्ष जल सब से उत्तम होता है इसलिये उसी का ही सेवन सदैव करना हितकर है। परन्तु वर्षाजल बारहों मास मिलना दुर्लभ है इसलिये उसके समान गुण जिसके होते हैं ऐसे आकाशगुणभूयिष्ठ भूमिगत जल का सेवन करना चाहिये। चौण्ड्यम्—पर्वतादौ पाषाणनिम्नस्थितम्। (इन्दु)।

तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत, महागुणत्वात्; शरदि सर्वं, प्रसन्नत्वात्; हेमन्ते सारसं ताडागं वा; वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा; ग्रीष्मेऽप्येवं; प्रावृषि चौण्ड्यमनभिवृष्टं सर्वं चेति ॥७॥

इनमें से वर्षा ऋतु में आन्तरिक्ष अथवा औद्भिद जल महागुणवान् होने के कारण सेवन करना चाहिये। शरद्ऋतु में सर्वजल प्रसन्न हो जाने के कारण सेवन करना चाहिये। हेमन्तऋतु में सरोवर या तालाव का पानी पीना चाहिये। वसन्तऋतु में कूए या झरने का जल पीना चाहिये और इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु में भी। प्रावृड्ऋतु में चुण्डी का पानी तथा वर्षा के पानी से जो दूषित नहीं हुआ है ऐसा (अनभिवृष्टं) सर्व प्रकार का जल पीना चाहिये ॥७॥

वक्तव्य—वर्षा—आश्विनमास। वर्षाऋतु के प्रारंभिक महीने में वायुमण्डल धूलि तथा अन्य जीव जन्तुओं से भरा रहने के कारण वर्षा का जल भी इनसे दूषित हो जाता है—बलाहकाद्याः समदाः कीटा लूताश्च खेचराः। तद्विपोत्सर्गसंसर्गादग्राह्यं तत्तदा जलम्॥ प्रसन्नत्वात्—शरद्ऋतु में आकाश निरभ्र होता है और अगस्ति का उदय होता है। सूर्य और अगस्ति की किरणें पानी में पड़ने के कारण वर्षाऋतु में खराब हुआ सब जल शरद्ऋतु में प्रसन्न हो जाता है। चरकसंहिता में लिखा है—दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्। कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम्॥ हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि। स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथामृतम्॥

कीटमूत्रपुरीषाण्डशवकोथप्रदूषितम् ।
तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विषसंयुतम् ॥८॥
योऽवगाहेत वर्षासु पिवेद्वाऽपि नवं जलम् ।
स बाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव तु ॥९॥

कीड़े, मूत्र, विष्ठा, (कीड़ों के) अंडे, सड़े गले मृत शरीर इनसे दूषित और तृण, वृक्षों के पत्ते, कूड़ा इनसे संयुक्त तथा गंदे विषयुक्त वर्षा के पानी में जो मनुष्य स्नान करता है या उस नये पानी को पीता है वह मनुष्य (फोड़े, फुन्सियाँ नारू इत्यादि त्वचासंबंधी) बाह्य रोगों को तथा (अजीर्ण, मलावरोध आदि) आभ्यन्तर रोगों को तत्काल प्राप्त होता है ॥८,९॥

वक्तव्य—कीट मूत्रादि पानी की अशुद्धियाँ हैं। यह तीन प्रकार की होती हैं—१ वनस्पतिज, २ खनिज या पार्थिव, और ३ प्राणिज। प्रथम प्रकार की अशुद्धि वनस्पतियों के सूखे पत्ते तथा सूखे पेड़ आदि के पानी में सड़ जाने से होती है। दूसरे प्रकार की अशुद्धि जिन जिन स्थानों में से पानी आता है या जिन स्थानों में कूवा तालाव इत्यादि खोदा जाता है उन स्थानों की अन्तर्गत प्रकृति पर निर्भर होती है। इस अशुद्धता से पानी के बाह्य स्वरूप में विशेष फर्क नहीं होता। इसमें लोहा, जसद, खटिक, म्याग्नेसिअम अभ्रक इत्यादि खनिज पदार्थ होते हैं। तीसरे प्रकार की अशुद्धता स्वास्थ्यहानि की दृष्टि से सब से महत्त्व की है। इससे अनेक संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं। यह अशुद्धता प्राणियों के (विशेष करके मनुष्यों के) मलमूत्र का पानी के साथ संसर्ग होने से उत्पन्न होती है। व्याधित मनुष्यों के मलमूत्र में अनेक रोगों के जीवाणु उपस्थित होते हैं जो जल के साथ मिलकर दूसरे स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर रोग उत्पन्न करते हैं। बाह्याभ्यन्तरान् रोगान्—त्वचा के रोग तथा अग्निमान्द्य अतिसारादि आभ्यन्तरीय रोग—स्नानेन त्वग्भवान् रोगान् कण्डूकुष्ठविसर्पकृत्। पानेन कफगुल्मानां कृमीणां वरसंभवान्। करोति विविधान् रोगान्॥ (हारीतसंहिता)। नवीन वैज्ञानिक खोज के अनुसार वनस्पतिज अशुद्धि से दस्त मरोड़, खनिज अशुद्धि से अग्निमान्द्य, मलावरोध और दस्त तथा गलगण्ड (Goitre); प्राणिज अशुद्धि से विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर (Typhoid fever) तथा भिन्न भिन्न प्रकार के कृमि यथा गण्डूपद कृमि (Round worm), सूत्रकृमि (Thread worm), चपटे कृमि (Tape worm) अंकुशमुख कृमि

---

१ वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं कौपं वा.

(Hook worm), प्रतोदकृमि (Whip worm), स्नायुक कृमि (Guinea worm) इत्यादि उत्पन्न होते हैं ।

तत्र यत् पङ्कशैवालहटतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं शशिसूर्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोपसृष्टं च तद्व्यापन्नमिति विद्यात् । तस्य स्पर्शरूपरसगन्धवीर्यविपाकदोषाः षट् संभवन्ति ॥१०॥

इनमें जो जल काई, हटतृण (जलकुम्भिका—Pistia stratiotes), पद्मपत्र इत्यादि के पत्तों से व्याप्त है, जिसे चंद्र और सूर्य की किरणों का तथा वायु का स्पर्श नहीं होता तथा जो गन्धवर्ण और रसयुक्त है उसे दूषित जल समझना चाहिये । उसके छः दोष होते हैं—१ स्पर्शदोष, २ रूपदोष, ३ रसदोष, ४ गन्धदोष, ५ वीर्यदोष, और ६ विपाकदोष ॥१०॥

तत्र, खरता पैच्छिल्यमौष्ण्यं दन्तग्राहिता च स्पर्शदोषः; पङ्कसिकताशैवालबहुवर्णता रूपदोषः; व्यक्तरसता रसदोषः; अनिष्टगन्धता गन्धदोषः; यदुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स वीर्यदोषः; यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टम्भयति वा स विपाकदोष इति । त एते आन्तरिक्षे न सन्ति ॥११॥

उनमें से खरता (तीक्ष्णस्पर्शता), पिच्छिलता (चिकनाहट), उष्णता और दन्तग्राहिता (अतिशीतता) ये दोष स्पर्श के होते हैं । पङ्क, सिकता और शैवाल के (संसर्ग से उनके) वर्ण का दर्शन या (अन्य दोष के कारण नील पीतादि) अनेक वर्णों का दर्शन यह रूप के दोष हैं । (किसी भी प्रकार के) रस की प्रकटता रस का दोष है । बुरी गंध आना गन्ध दोष है । यदि उपयोग करने से तृषा, भारीपन, शूल, कफ, प्रसेक (इत्यादि विकार) उत्पन्न हों तो वीर्य दोष है । जिसके सेवन से अन्न देर से पचे और पेट में विष्टंभ (मलावरोध, वायु का गुड़गुड़ शुरू इत्यादि) हो तो यह विपाक दोष हैं । ये (ऊपर कहे हुए छओं प्रकार के) दोष आन्तरिक्ष जल में (तथा आकाशगुणभूयिष्ठ भूमिगत जल में भी प्रायः) नहीं होते ॥११॥

व्यापन्नस्य चाग्निक्वथनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ट्राणां वा निर्वापणं प्रसादनं च कर्तव्यं नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति ॥१२॥

दूषित जल का विशोधन अग्नि पर पानी औटाने से, सूर्य की धूप में गरम करने से तथा लोहे, रेती या मिट्टी के पिण्ड अग्नि में लाल करके पानी में छोड़ने से करना चाहिये और पानी को सुगंधित करने का काम नागकेशर, चम्पक, कमल, पाटल इत्यादि पुष्पों से करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—दूषित जल के सेवन से अनेक रोग उत्पन्न होने के कारण उन रोगों से रक्षा करने के लिये पानी का प्रसादन करना बहुत आवश्यक है । पानी में जो अवलंबनस्थ सूक्ष्मांश, विद्रुत पदार्थ तथा जल बाह्य रोगों के जीवाणु होते हैं उनको पानी से अलग करना यह पानी के प्रसादन या विशुद्धि (Purification) का अर्थ है । यहाँ प्रसादन की तीन विधियाँ प्रदर्शित की हैं । इनमें पहली उत्क्वथन की विधि सबसे उत्तम है और वैज्ञानिक दृष्टि से भी उत्तम प्रमाणित हुई है । क्योंकि जो विधि जलस्थित रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश करती है, वही उत्तम कहलाती है । पानी उबालने के पश्चात् उसमें स्थित हुए सर्व विकारी जीवाणु तथा कृमि नष्ट हो जाते हैं, उसमें विलीन हुए अमोनिया आदि सर्व वायु रूप पदार्थ निकल जाते हैं और खटिक तथा अन्य मैला तली में बैठता है । संक्षेप में उबालने से स्वाथ्यहानिकारक जल के प्रायः सर्व दोष दूर हो जाते हैं । केवल जल यदि बहुत मटीला हो तो वह निर्मल नहीं हो सकता । सूर्यप्रकाश में जल तपाने की दूसरी विधि बहुत व्यावहारिक नहीं है, तथा इस विधि के ऊपर अधिक विश्वास भी नहीं कर सकते; तथापि यह निःसंदेह सिद्ध हुआ है कि सूर्य की किरणों में जीवाणुनाशन की बहुत शक्ति है और प्रकृति में नैसर्गिक जल की (नदी, तालाव, सरोवर इत्यादि की) शुद्धि करने में सूर्य की किरणें बहुत सहायता करती हैं । तप्त पिण्डों का निर्वापण करके जलप्रसादन करने की तीसरी विधि स्वस्थ मनुष्यों का पीने का पानी शुद्ध करने के लिये प्रचलित नहीं है । इसका उपयोग रुग्णावस्था में तृषा हरण करने के लिये होता है—मुस्ता पर्पटकं ज्वरे, तृषि जलं मृद्भृष्टलोष्टोद्भवम् । (अष्टांगहृदय) । आधुनिक काल में जलप्रसादन की विधियों में बहुत कुछ सुधार हुआ है और जहाँ जहाँ इनका प्रयोग जारी हुआ है वहाँ वहाँ जल दोषोत्पन्न रोग बिलकुल नष्ट हो गये हैं या उनकी संख्या बहुत घट गई है । आधुनिक काल में पानी की शुद्धि निम्न विधियों द्वारा की जाती है—(१) भौतिक विधि—(अ) तिर्यक्पातन (Distillation)—(आ) उत्क्वथन, (इ) नील लोहित किरणें (Ultra-violet-rays)-ये किरणें कृत्रिमतया उत्पन्न करके पानी में प्रविष्ट की जाती हैं । (२) रासायनिक विधि—(अ) प्रक्षेपण (Precipitation)—इसमें निम्न रासायनिक पदार्थ जल में विशिष्ट मात्रा में डाले जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो मैला होता है वह तली में बैठ जाता है—यथा चूना, फिटकरी इत्यादि । (आ) जन्तुनाशन—इसमें निम्न रासायनिक पदार्थ जल में विशिष्ट मात्रा में छोड़ दिये जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो विकारी जीवाणु होते हैं वे मर जाते हैं । यथा—पोट्यासिअम परमैंगानेट, नीला तूतिया, क्लोरीन वायु इत्यादि । (३) यांत्रिक निधारक (Mechanical filtration)—इसमें छोटे या बड़े निधारकों द्वारा जल की शुद्धि की जाती है । इन सब विधियों में विकारी जीवाणुओ का पूर्णतया नाश करने की दृष्टि से उत्क्वथन के सिवा दूसरी कोई विश्वसनीय विधि नहीं है । इन विधियों के विशेष विवरण के लिये ग्रंथकार का 'स्वास्थ्यविज्ञान' (पृष्ठ ७५-९०) देखो ।

सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमयेऽपि वा ।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगन्धि सलिलं पिबेत् ॥१३॥
व्यापन्नं वर्जयेन्नित्यं तोयं यच्चाप्यनार्तवम् ।
दोषसंजननं ह्येतन्नाददीताहितं तु तत् ॥१४॥

व्यापन्नं सलिलं यस्तु पिबतीहाप्रसाधितम् ।
श्वयथुं पाण्डुरोगं च त्वग्दोषमविपाकताम् ॥१५॥
श्वासकासप्रतिश्यायशूलगुल्मोदराणि च ।
अन्यान्वा विषमान् रोगान्प्राप्नुयादचिरेण सः ॥१६॥

पुष्पों से सुगन्धित किया हुआ जल सुवर्ण, चांदी, तांबा कांसा, स्फटिक (या काँच) अथवा मिट्टी इनके बर्तन में पीना चाहिये ॥१३॥ दोष युक्त (भौम) जल तथा वर्षा ऋतु के अतिरिक्त दूसरे ऋतु का (आन्तरिक्ष) जल सदा त्यागना चाहिये । यह दोष उत्पन्न करने वाला है इसलिये ग्रहण नहीं करे । उसका ग्रहण अहितकर होता है ॥१४॥ दूषित जल को विना प्रसाधन किये जो पीता है वह शोथ, पाण्डुरोग, त्वचा की व्याधियाँ, अजीर्ण ॥१५॥ श्वास, कास, जुकाम, शूल, गुल्म, उदर और अन्यान्य प्रकार के विषम रोगों को प्राप्त हो जाता है ॥१६॥

वक्तव्य—खराब जल के सेवन से उत्पन्न होने वाले रोगों में गलगण्डश्वयथु का उदाहरण है; अंकुशमुख कृमिरोग (Hook worm disease) पाण्डुरोग का उदाहरण है; स्नायुक कृमि, दाद, फोड़े फुन्सियाँ त्वग्दोष के उदाहरण हैं । अविपाकिता, शूल इत्यादि लक्षण केंचवे के (Intestinal worms) कारण उत्पन्न होते हैं । श्वास, कास, प्रतिश्याय प्रायः अप्रत्यक्षतया उत्पन्न होते हैं ।

तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति । तद्यथा—कतकगोमेदकबिसग्रन्थिशैवालमूलवस्त्राणि मुक्तामणिश्चेति ॥१७॥

मैले जल को निर्मल करने की सात वस्तुएँ हैं । जैसे—१ कतक, २ गोमेदक (एक प्रकार का मणि), ३ बिसग्रंथि (कमल की जड़), ४ शैवालमूल, ५ वस्त्र, ६ मुक्ता और ७ स्फटिकमणि ॥१७॥

वक्तव्य—वस्त्र के सिवा इन सब पदार्थों के पानी में डालने से जल निर्मल हो जाता है । कतक—यह एक प्रकार का फल (Strychnos potatorum) है । पानी के साथ रगड़ कर पानी में मिला देने से थोड़ी देर में पानी की सारी मैल नीचे तली में बैठकर पानी निर्मल हो जाता है । इसलिये इसको 'निर्मली' भी कहते हैं । वस्त्र—वस्त्र में छानने से जल निर्मल और क्षुद्र जीवजन्तु रहित हो जाता है । छानने के लिये वस्त्र घन (गफदार) होना आवश्यक है । जहाँ नारू की (Guinea worm) बीमारी है वहाँ गफदार कपड़े में से जल छानने पर रोग से रक्षा होती है—घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम् । (अष्टांगसंग्रह), वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ॥ (मनुस्मृति ६,४६) ।

पञ्च निक्षेपणानि भवन्ति । तद्यथा—फलकं, त्र्यष्टकं, मुञ्जवलयं[2], उदकमञ्चिका, शिक्यं चेति ॥१८॥

जलपात्र रखने के लिये पाँच वस्तुएँ होती हैं । जैसे—१ फलक, २ त्र्यष्टक, ३ मुंजवलय (मुंज नामक घास का बनाया हुआ कंकण, मराठीभाषा में चुंबक), ४ उदकमञ्चिका, और ५ शिक्य (मुंज के बने हुए छींके जो घरों में लटके होते हैं) ॥१८॥

वक्तव्य—भूमिगत धूलि आदि से रक्षा करने के लिये इन वस्तुओं का उपयोग किया जाता है । निक्षेपणं—निक्षिप्यते स्थाप्यतेऽत्रेति निक्षेपणमासनम् ॥ त्र्यष्टक—अष्टकोनी तिपाई—अष्टास्रदण्डत्रयसंयोगः । (डल्हण) । उदकमञ्चिका—पानी रखने के लिये विशेष पद्धति से बनाया हुआ उच्च स्थान (Platform)—आकाशान्तराले निरन्तरनिहितवेत्रवैणवादिविरचिता वेत्रगृहाद्यभिधाना । (डल्हण) ।

सप्त शीतीकरणानि भवन्ति—प्रवातस्थापनम्, उदकप्रक्षेपणं, यष्टिकाभ्रामणं, व्यजनं, वस्त्रोद्धरणं, वालुकाप्रक्षेपणं, शिक्यावलम्बनं चेति ॥१९॥

जल ठंढा करने की सात पद्धतियाँ हैं । १ प्रवातस्थापन (चौड़े मुख के पात्र में पानी भरकर हवा में रखना), २ उदकप्रक्षेपण (ठंडे जल से भरे पात्र में उदकपात्र रखना), ३ यष्टिकाभ्रामण (लकड़ी से पानी को हिलाना), ४ व्यजन (चौड़े पात्र में पानी भरकर पंखे से पवन करना), ५ वस्त्रोद्धरण (भीगे कपड़े में लपेट कर रखना), ६ वालुका प्रक्षेपण (जल से भरे मिट्टी के पात्र को वालू में आकण्ठ गाढ़कर रखना), ७ शिक्यावलंबन (जलपात्र को छींके पर रखकर हिलाते रहना) ॥१९॥

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम् ।
अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते ॥२०॥

गंधरहित, जिसमें कोई भी रस प्रकट नहीं है ऐसा, तृषा को शांत करने वाला, शुद्ध, शीतल, स्वच्छ, हलका और (सेवन करने पर) मन में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला ऐसा जल प्रशस्तगुणयुक्त कहलाता है ॥२०॥

तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखाः पथ्याः, लघूदकत्वात्; पूर्वाभिमुखास्तु न प्रशस्यन्ते, गुरूदकत्वात्; दक्षिणाभिमुखा नाऽतिदोषलाः, साधारणत्वात् । तत्र सह्यप्रभवाः कुष्ठं जनयन्ति, विन्ध्यप्रभवाः कुष्ठं पाण्डुरोगं च, मलयप्रभवाः कृमीन्, महेन्द्रप्रभवाः श्लीपदोदराणि, हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान्, प्राच्यावन्त्या अपरावन्त्याश्चार्शांस्युपजनयन्ति, पारियात्रप्रभवाः पथ्या बलारोग्यकर्य इति ॥२१॥

पश्चिम को बहने वाली नदियों का जल हलका होने के कारण पथ्यकर होता है । पूर्व को बहने वाली नदियों का जल भारी होने के कारण पथ्यकर नहीं है । दक्षिण को बहने वाली नदियों का जल साधारण होने के कारण बहुत दोष उत्पन्न करने वाला नहीं है । इनमें से सह्याद्रि पर्वत से निकली हुई नदियों का जल कुष्ठ उत्पन्न करता है । विन्ध्यपर्वत से निकली हुई नदियों का जल कुष्ठ और पाण्डुरोग उत्पन्न करता है । मलयपर्वत से निकली हुई नदियों का जल कृमिरोग उत्पन्न करता है । महेन्द्रपर्वत से निकली हुई नदियों का जल श्लीपद और उदर रोग उत्पन्न करता है । हिमालयपर्वत से निकली

---

१ बिसग्रन्थीत्यस्याग्रे 'पर्णीमूलमि'ति क्वचित्पाठः. २ वलयं.

हुई नदियों का जल हृद्रोग, शोथ, शिरोरोग, श्लीपद और गलगण्ड उत्पन्न करता है । उज्जयिनी से पूर्व और पश्चिम की नदियों का जल अर्श उत्पन्न करता है । पारियात्र से निकली हुई नदियों का जल पथ्यकर, बलकर और आरोग्यकर होता है ॥२१॥

वक्तव्य—पश्चिमाभिमुखाः—पश्चिमोदधिगाः । पूर्वपश्चिमाभिमुख नदियों के जल के पथ्यापथ्य के संबंध में वाग्भट में अधिक स्पष्टरूप से लिखा है—पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलोदकाः । पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्त्वतोऽन्यथा ॥ हिमवत्प्रभवाः—हिमालय और मलय पर्वत से निकली हुई प्रत्येक नदी अपथ्यकर नहीं होती । चरक और वाग्भट के मतानुसार केवल वह नदी अपथ्यकर होती है जो मन्दवह अर्थात् उपत्यकाप्रभव है । जो शीघ्रवह है अर्थात् अधित्यकाप्रभव है वह पथ्यकर होती है—उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः । हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्याः, ता एव च स्थिराः । कृमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। प्राच्यावन्त्या अपरावन्त्याश्च—अरुणदत्त और इन्दु के अनुसार इसका अर्थ बंगाल, मालवा और कोंकण (महाराष्ट्र) होता है । श्लीपदगलगण्ड—ये रोग हिमालय के तराई प्रदेश में अधिक होते हैं । इनमें श्लीपदरोग दूषित जल के सेवन से नहीं होता । यह रोग 'मायक्रो फायलेरिआ' नामक सूक्ष्म कृमि मच्छरों के काटने से शरीर में प्रवेश होने के पश्चात् होता है । गलगण्ड रोगनिदान के संबंध में अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ है । कुछ शास्त्रज्ञ मलमूत्र दूषित खाद्यपेय के सेवन से, कुछ खाद्यपेय में आयोडिन (Iodine) की कमी से, कुछ जीवनीयद्रव्य ए, बी, (Vitamin A. B.) और फासफेट की कमी से, कुछ मकई, मूँगफली और गोभी (Cabbage) इत्यादि पदार्थों में मिलने वाले गलगण्डजनक पदार्थ (Goitrigenous) के सेवन से गलगण्ड की उत्पत्ति समझते हैं । कुछ शास्त्रज्ञ इसका कारण जीवाणु भी मानते हैं जिसका अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है । इसमें संदेह नहीं हैं कि गलगण्ड अनेक कारणों से होता है परन्तु आयोडिन की कमी उसका प्रधान कारण है ।

नद्यः शीघ्रवहा लघ्व्यः प्रोक्ता याश्चामलोदकाः ।
गुर्व्यः शैवालसंच्छन्नाः कलुषा मन्दगाश्च याः ॥२२॥
प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः ।
ईषत्कषाया मधुरा लघुपाका बले हिताः ॥२३॥

जो नदियाँ शीघ्र वहने वाली तथा निर्मल जल वाली होती हैं वे हलकी होती हैं । (यानि उनका पानी हलका होता है) जो काई सिवार से भरी हुई, मैली और मन्द बहने वाली होती हैं वे (उनका पानी) भारी होती हैं ॥२२॥ प्रायः मरुदेश (मारवाड़) की नदियों का जल तिक्त, लवण, कुछ कषाय और मधुररसयुक्त होता है और पचने में हलका तथा बल के लिये हितकर होता है ॥२३॥

वक्तव्य—शीघ्रवह—नदी, नद, तालाव इत्यादि जलाशयों का पानी कई कारणों से निरन्तर खराब होता रहता है, तथापि उस खराब पानी को शुद्ध करने के लिये प्रकृति में कई साधन होते हैं । उनमें से सूर्यप्रकाश का उल्लेख पीछे किया गया है । इसके सिवाय निम्न साधन भी प्रकृति में खराब पानी की शुद्धि करने में सहायता करते हैं । यथा—पानी का प्रवाह, काई सीवार इत्यादि जलवासी वनस्पतियाँ, जलवासी मछली, आक्सिजन (प्राणवायु) और जीवाणु (Saprophytic Bacteria Bacteriophage) । प्रवाह के कारण पानी में जो गंदगी होती है वह एक स्थान में इकट्ठा न होकर तमाम पानी में मिलकर नीचे निकल जाती है और पानी साफ हो जाता है—नदी वेगेन शुध्यति । (मनुस्मृति) ।

तत्र सर्वेषां भौमानां ग्रहणं प्रत्यूषसि, तत्र ह्यमलत्वं शैत्यं चाधिकं भवति, स एव चापां परो गुण इति ॥२४॥

भूमिगत सब जलों का ग्रहण प्रभात समय में करना चाहिये, क्योंकि प्रभात जल में निर्मलता और शीतलता अधिक होती है और यही जल का परम गुण है ॥२४॥

दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः ।
अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥२५॥
गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत् सुभाजने ।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम् ॥२६॥

जो जल दिन में सूर्य की किरणों से और रात्रि में चंद्रमा की किरणों से संस्कृत होता है तथा जो रूक्ष और अभिष्यन्दी नहीं है वह जल (गुण की दृष्टि से) आन्तरिक्ष जल के समान है ॥२५॥ अच्छे पात्र में ग्रहण किया हुआ आन्तरिक्ष जल त्रिदोषनाशक, बलकारक, रसायन और बुद्धिवर्धक होता है । इसके सिवा जैसे पात्र में उसका ग्रहण किया हुआ हो, उसके अनुसार भी जल के गुण होते हैं ॥२६॥

वक्तव्य—अनभिष्यन्दि—हृदयस्थान्ननिर्यासत्वाहिस्रोतोमुखानि यत् । भुक्तं लिम्पति पैच्छिल्यादभिष्यन्दि तदुच्यते ॥ वैशद्यात् कफहन्तृत्वात् तान्येव विवृणोति यत् । तदुक्तमनभिष्यन्दि द्रव्यं द्रव्यविशारदैः ॥ रसायन—लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ (चरक) । मेध्यं—मेधा धारणाशक्तिस्तस्यै हितम् ॥

रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहम् ।
चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम् ॥२७॥

चन्द्रकान्त मणि का जल राक्षसों का भयहारक, आह्लाददायक, ज्वर, दाह तथा विष इनको दूर करनेवाला, पित्तनाशक और निर्मल होता है ॥२७॥

वक्तव्य—चन्द्रकान्त मणि के संबंध में प्राचीन कल्पना यह है कि चन्द्र किरणों का संस्पर्श होने पर उससे जल स्रवता है—द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः । (भवभूति) ।

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये ।
भ्रमक्लमपरीतेषु तमके वमथौ तथा ॥२८॥
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते ।

मूर्च्छा, पित्त के रोग, उष्ण काल, दाह, विष के रोग, मदात्यय, भ्रम और क्लम युक्त अवस्था, तमक (चक्कर आना),

---

१ लघ्व्यः समधुराश्चैव पौरुषेया बले हिताः.

१ शीतम.

वमन और ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त इनमें शीतल जल प्रशस्त होता है ॥२८॥

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे ॥२९॥
आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धे नवज्वरे ।
हिक्कायां स्नेहपीते च शीताम्बु परिवर्जयेत् ॥३०॥

छाती की वेदना (फुफ्फुस और उसके आवरण के रोगों) में, जुकाम में, वायु के रोगों में, गले के रोगों में, पेट अफर जाने में, कोष्ठस्थित आहार की आमावस्था में, जिस दिन (वमन विरेचनादि) संशोधन सेवन किया हो उस दिन में, ज्वर के प्रथम सप्ताह में, हिचकी में और स्नेहपान करने के पीछे शीतल जल का त्याग करना चाहिये ॥२९,३०॥

नादेयं वातलं रूक्षं दीपनं लघु लेखनम् ।
तदभिष्यन्दि मधुरं सान्द्रं गुरु कफावहम् ॥३१॥
तृष्णाघ्नं सारसं बल्यं कषायं मधुरं लघु ।
ताडागं वातलं स्वादु कषायं कटुपाकि च ॥३२॥
वातश्लेष्महरं वाप्यं सक्षारं कटु पित्तलम् ।
सक्षारं पित्तलं कौपं श्लेष्मघ्नं दीपनं लघु ॥३३॥
चौण्ट्यमग्निकरं रूक्षं मधुरं कफकृन्न च ।
कफघ्नं दीपनं हृद्यं लघु प्रस्रवणोद्भवम् ॥३४॥
मधुरं पित्तशमनमविदाह्यौद्भिदं स्मृतम् ।
वैकिरं कटु सक्षारं श्लेष्मघ्नं लघु दीपनम् ॥३५॥
कैदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम् ।
तद्वत्पाल्वलमुद्दिष्टं विशेषाद्दोषलं तु तत् ॥३६॥
सामुद्रमुदकं विस्रं लवणं सर्वदोषकृत् ।

नदी का जल—वातल, रूक्ष, दीपक, हलका और लेखन (शरीर को पतला करने वाला) है । यदि वह गाढ़ा और मीठा हो तो अभिष्यन्दि, भारी और कफकारक होता है ॥३१॥ सरोवर का जल—तृष्णाहर, बलकारक, कषाय, मधुर और हलका होता है । तालाब का जल—वातल, मीठा, कषाय और विपाक में कटु होता है ॥३२॥ बावड़ी का जल—वातहर, कफहर, खारा, कटु और पित्तकर होता है । कूए का जल—खारा, पित्तकर, कफहर, दीपक और हलका होता है ॥३३॥ चुण्टी का जल—अग्निकारक, रूक्ष, मीठा और कफ करने वाला नहीं होता है । झरने का जल—कफहर, दीपक, हृदय के लिये हितकर और हलका होता है ॥३४॥ औद्भिद जल—मीठा, पित्तशामक, और अविदाहि होता है । विकिर जल (रेती से निकाला)—कटु, खारा, कफहर, हलका और दीपन होता है ॥३५॥ केदार का जल—मीठा, विपाक में भारी, और दोषकारक होता है । इसी के अनुसार पल्वल का भी जल होता है परंतु विशेष करके यह (अधिक) दोषकारक है ॥३६॥ समुद्र का जल—दुर्गंध युक्त, खारा और सर्वदोषकारक होता है ।

अनेकदोषमानूपं वार्यभिष्यन्दि गर्हितम् ॥३७॥
एभिर्दोषैरसंयुक्तं निरवद्यं तु जाङ्गलम् ।
पाकेऽविदाहि तृष्णाघ्नं प्रशस्तं प्रीतिवर्धनम् ॥३८॥
दीपनं स्वादु शीतं च तोयं साधारणं लघु ।

आनूप देश का जल—अनेक दोष युक्त, अभिष्यन्दि और (उपयोग की दृष्टि से) निन्द्य होता है ॥३७॥ जांगल देश का पानी—(पूर्वोक्त स्पर्श आदि के) दोषों से रहित और प्रशस्त होता है । साधारण देश का जल—विपाक में अविदाहि, तृषाशामक, प्रशस्त, आह्लाद बढ़ाने वाला ॥३८॥ दीपन, मीठा, ठंढा और हलका होता है ।

कफमेदोऽनिलामघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥३९॥
श्वासकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा ।
यत् क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु ॥४०॥
चतुर्भागावशेषं तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम् ।

उष्ण जल—कफरोग, मेदोरोग, वातरोग और आम इनका नाशक, दीपक, मूत्र शोधक, श्वास, कास और ज्वर का नाशक तथा सदा पथ्यकर होता है । जो औटाया हुआ जल वेगरहित, फेनरहित, निर्मल, हलका और चतुर्थांश रहा हो वही गुण वाला कहलाता है ।

न च पर्युषितं देयं कदाचिद्वारि जानता ॥४१॥
अम्लीभूतं कफोत्क्लेशि न हितं तत् पिपासवे ।

जानने वाले वैद्य को चाहिये कि वह रात्रि का बासी जल कदापि भी (पीने के लिये तृषित मनुष्य को) न दे, क्योंकि वह अम्लतायुक्त और कफ का उत्क्लेश करने वाला (होने के कारण) तृषित मनुष्य को हितकर नहीं होता ।

मद्यपानात्समुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा ॥४२॥
सन्निपातसमुत्थे च शृतशीतं प्रशस्यते ।
दाहातीसारपित्तासृङ्मूर्च्छामद्यविषार्तिषु ॥४३॥
शृतशीतं जलं शस्तं तृष्णाच्छर्दिभ्रमेषु च ।

मद्यपान जनित रोगों में, पित्त के रोगों में और सन्निपात के रोगों में औटाकर ठंढा किया हुआ जल प्रशस्त होता है । दाह, अतिसार, पित्त रक्त रोग, मूर्च्छा, मद्य और विष की पीड़ा इनमें तथा तृषारोग, वमन और भ्रम इन रोगों में भी शृत शीतल जल श्रेष्ठ होता है ।

स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥४४॥
वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नारिकेलोदकं गुरु ।

नारियल का जल—स्निग्ध, मीठा, ठंढा, हृदय को आह्लाद देने वाला, दीपक, मूत्रमार्ग का विशोधक, वृष्य, पित्त और प्यास को शांत करने वाला तथा भारी होता है ।

वक्तव्य—नारियल का जल बड़ी उपकारी चीज है । यह जल अत्यंत विशुद्ध होता है जो तृषितों की प्यास और थके-मांदे की थकावट दूर करने के लिये अपना सानी नहीं रखता । यह पचने में अत्यंत हलका है और आंत्र में पूर्णतया शोषित हो जाता है । अम्लपित्त में यह बड़ा पथ्यकर है । ज्वर और विसूचिका में रोगी की तृषा शान्त करने के लिये इसका बहुत उपयोग होता है । यह मूत्रशोधक है इसलिये पथरी, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, सुज़ाक इत्यादि मूत्र के रोगों में बहुत फायदा करता है । इसमें निम्न उपादान मिलते हैं—

पानी ९९.३२, प्रोटीन ०.२२, कार्बोहाइड्रेट (शर्कराजातीय) ६.२० और क्षार ०.२६। इसमें स्नेहजातीय कोई द्रव्य नहीं होता।

अरोचके प्रतिश्याये प्रसेके श्वयथौ क्षये ॥४५॥
मन्देऽग्नावुदरे कुष्ठे ज्वरे नेत्रामये तथा।
व्रणे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् ॥४६॥
इति जलवर्गः।

अरुचि, प्रतिश्याय, प्रसेक (Catarrhal Conditions), शोथ (सर्वांग या अवयव), क्षय, मन्दाग्नि, उदररोग, कुष्ठ, ज्वर, नेत्रविकार, व्रण और मधुमेह इतने रोगों में पानी बहुत कम पीना चाहिये ॥४५,४६॥

वक्तव्य—उपर्युक्त रोगों में से ज्वर और मधुमेह में जलसेवन की कमी आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा की दृष्टि से प्रशस्त नहीं होती। अन्य रोगों में कम से कम पानी का कम सेवन करने से नुकसान नहीं होगा। इति जलवर्गः।

अथ क्षीरवर्गः।

गव्यमाजं तथा चौष्ट्रमाविकं माहिषं च यत्।
अश्वायाश्चैव नार्याश्च करेणूनां च यत्पयः ॥४७॥

क्षीरवर्ग—गौ का, बकरी का, ऊँटनी का, भेड़ का, भैंस का, घोड़ी का, स्त्री का और हथनी का जो दूध है ॥४७॥

वक्तव्य—अश्वायाः—इसका अर्थ केवल घोड़ी नहीं है। यह शब्द एक शफवाले प्राणियों का निदर्शक है। आगे प्रत्येक प्रकार के दूध का गुण वर्णन करते समय घोड़ी के बदले एकशफ शब्द प्रयोग किया है—[illegible] माहि॰ ॥ (डल्हण)। आयुर्वेद में अनेक प्राणियों के दूध का उपयोग औषधार्थ किया जाता है, परन्तु पीने के लिये जिनका दूध प्रयुक्त होता है वे आयुर्वेद आठ प्रकार के प्राणी हैं। अन्य प्राणियों के दूध का उपयोग [illegible] के लिये किया जाता है—[illegible] समान[illegible] [illegible] गामपि [illegible] । [illegible] (डल्हण)। [illegible] के लिये [illegible] पर उसका [illegible] । [illegible]

तत्र [illegible] गुरु।
मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु।
सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते ॥४८॥

([illegible]) वह प्रत्येक प्रकार के [illegible] प्राणप्रदायक ([illegible]), भारी, मधुर, [illegible], शीतल, चिकना, [illegible], पिच्छिल और मृदु होता है, अतः सब प्राणियों के लिये दूध सात्म्य कहलाता है ॥४८॥

वक्तव्य—[illegible]

बलवर्णौजसां च, न [illegible] पुनरोपचयः ॥ (सुश्रुत)। मधुरादि दूध के [illegible] गुण समझने चाहिये, क्योंकि बकरी का दूध [illegible] ग्राही होता है, ऊँटनी का दूध [illegible] है। सर—मृदुविरेचक (Laxative)। यह विरेचन का कार्य केवल पित्त प्रकृति मनुष्य में होता है—[illegible] विरिच्यते ॥ (सुश्रुत)। सर्वप्राणभृताम्—मनुष्य मात्रों के लिये—'सर्वप्राणभृतां सात्म्यम्' इत्यत्र सर्वशब्दोऽभिधेयतया [illegible] वर्तते। (चक्रपाणिदत्त)। किंवा सर्व समस्त प्राणियों के लिये।

तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणिनामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्वविरुद्धं जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममददाहपिपासाहृद्बस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोगगर्भास्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं पाप्मापहं बल्यं वृष्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं सन्धानमास्थापनं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं बृंहणं वमनविरेचनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम् ॥४९॥

जन्म से दूध सेवन का अभ्यास होने के कारण मनुष्यों के लिये सर्व प्रकार का दूध (सेवन के लिये) निषिद्ध नहीं होता है। वात, पित्त, रक्त तथा मानस रोगों में भी दूध विरुद्ध नहीं है। जीर्णज्वर, खाँसी, श्वास, राजयक्ष्मा, शरीर-शुष्कता, गुल्म, उन्माद, उदर, मूर्च्छा, भ्रम, मद, दाह, तृषा, हृद्रोग, मूत्ररोग, पाण्डुरोग, ग्रहणी, अर्शरोग, शूल, उदावर्त, अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भस्राव (Abortion), रक्तपित्त, श्रम और क्लम इतने रोगों को दूर करता है। पाप का नाशक, बलकारक, वृष्य, वाजीकरण, रसायन, [illegible] ॥४९॥

वक्तव्य—[illegible]

नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः। व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्॥ **(चरक)** । संधान—भग्नसंयोजक। जीवन—जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक, इस सूत्र में दूध के जो गुणधर्म वर्णन किये हैं उनको देखते हुए यह प्रतीत होता है। संसार में दूध के मुकाबले में दूसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता। परन्तु यह अतिशयोक्ति नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक कसौटी का प्रयोग होने पर भी खाद्य द्रव्यों में दूध की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हुई है। जन्म से लेकर मृत्यु के समय तक ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है कि जिसमें दूध का प्रतिषेध होता है। बाल्यावस्था के प्रथम दो तीन बरस तक दूध ही जीवन का आधार है। जिनको माता या गौ का दूध पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता, उनका स्वास्थ्य सदा के लिये बिगड़ जाता है। बाल्यसम वृद्धावस्था में, थके मांदे अवस्था में तथा अनेक प्रकार के रोगों में दूध ही पथ्यकर होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि शरीर संवर्धन के लिये खाद्यद्रव्यों के जिन जिन उपादानों की आवश्यकता होती है वे सब उपादान दूध में विद्यमान होते हैं, जिससे आवश्यकता के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में केवल दूध का ही सेवन करने से मनुष्य स्वस्थ तथा व्याधित अवस्था में सजीव रह सकता है। इसलिये दूध पूर्णाहार कहलाता है। दूध का संगठन—दूध में रसरक्तादि धातुओं की वृद्धि और क्षति की पूर्ति के लिये आवश्यक प्रोटीनें होती हैं। वसा या चरबी होती है। यह वसा इतने सूक्ष्म कणों के रूप में दूध में फैली रहती है कि एक बूँद में पंद्रह लक्ष के लगभग कण होते हैं। इस कारण से दूध की चरबी पचने में हलकी होती है। दूध में दुग्धशर्करा (Loctose) नामक शर्करा होती है। चूना, सोडिअम, पोट्यासिअम म्याग्नेसिअम, लोह, गंधक, फास्फरस, आयोडिन इत्यादि शरीर के लिये अत्यावश्यक खनिज भी दूध में होते हैं। इनके अलावा जीवन रक्षा के लिये आवश्यक सब जीवद्रव्य विशेष करके ए. डी. इ (Vitamines A. D. E) भी दूध में उपस्थित रहते हैं। जो जानवर ताजी हरियाली तथा घास अधिक खाता है और सूर्य प्रकाश में घूमता फिरता है उसके दूध में इन जीवद्रव्यों की मात्रा अधिक होती है। भिन्न भिन्न प्राणियों के दूध में प्रोटीनादि उपादानों की भिन्न भिन्नता हुआ करती है, इसलिये इनके दूध के संगठन का कोष्टक ऊपर दिया गया है।

दूध के संगठन का कोष्टक

दूध	कुल ठोस	प्रोटीन	वसा	शर्करा	क्षार	गुरुता
१ गौ	१२·९—१४·५	३·४—४·०	३·०—३·८५	४·५—५·२	०·४५—०·६५	१·०२६—१·०३५
२ बकरी	१५·५—१९·५	५·८—७·५	५·२—८·६	४·५—५·०	०·६—१·३	१·०३५—१·०४२
३ भेड़ी	१२·६—१३·२	३·६—६·२	३·२—३.९५	४·०—५·३	०·६—०·८२	१·०३—१·०३६
४ भैंस	१८—२२·५	५·३—६·१५	६·५—८·७५	५·०—५·४	०·७—०·९५	१·०३८—१·०४२
५ घोड़ी	९·५—११·२	२·१—२·५५	०·६—१·८	६·०—८·५	०·३—०·४	१·०३१—१·०३८
६ गधी	९·१६—९·५३	१·६—२·०	१·३—१·५	६.२७—६·८	०·४—०·४८	१·०२३—१·०३५
७ स्त्री	११·५—१३·५	१·०—१·६५	२·०—३·६५	५·८—६·५	०·१५—०·२५	१·०३—१·३४
८ हथिनी	२०—२८·९	१०·३—१३·४	१२·५—१५·६	७·२—१०·३	१·२—२·७	१·२—१·७५

इस कोष्टक में प्रत्येक दूध के क्षार की जो राशि बतलाई है वह वास्तविक राशि से कुछ कम है; क्योंकि उस राशि का निर्णय उच्च तापमान (Higher Temperature) किया गया है। प्रत्येक वर्ग के प्राणी के दूध का संगठन भी विशेष जाति, नसल (Breed), जलवायु, ऋतु, आहारविहार, आयु, प्रसूति के पश्चात् का काल, प्रदेश इत्यादि की भिन्नता के अनुसार बदलता रहता है। दूध पचने में हलका तथा पौष्टिक होता है। उसका सारभूत भाग पचन करने में तथा मलस्वरूप भाग शरीर के बाहर निकाल देने में शरीर के वृक्कादि इन्द्रियों को बहुत कम कष्ट करना पड़ता है तथा शरीर के सेलों का ह्रास भी कम होता है। दूध जब आन्त्र में पहुँचता है तब आन्त्रस्थ जीवाणुओं तथा उनके विष का नाश (Anti toxic) किया करता है। यदि थोड़े दिन केवल दुग्धाहार सेवन किया जाय तो आन्त्रस्थ जीवाणुओं की संख्या बहुत कम हो जाती है। यह कार्य विशेष करके दुग्धशर्करा से होता है। यह शर्करा आन्त्र में ल्याक्टिक तथा सक्सीनिक अम्ल (Lactic and Succinic Acid) में परिवर्तित होकर उनकी सहायता से जीवाणुनाशन का कार्य दूध तथा दही करता है। इसका विशेष वर्णन आगे दही के वर्णन में होगा।

अल्पाभिष्यन्दि गोक्षीरं स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः[1]।
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम्॥५०॥

गौ का दूध—अल्पाभिष्यन्दि, स्निग्ध, भारी, रसायन, रक्तपित्त नाशक, शीतल, मीठा, विपाक में मधुर, जीवनीय तथा वात और पित्त का परम नाश करने वाला होता है॥५०॥

गव्यतुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम्।
दीपनं लघु संग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत्[2]॥५१॥
अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तनिषेवणात्।
नात्यम्बुपानाद् व्यायामात् सर्वव्याधिहरं पयः॥५२॥

---

[1] गोक्षीरमनभिष्यन्दि. [2] श्वासकासाम्लपित्तनुत्.

बकरी का दूध—(गुण में) गौ के दूध के समान, विशेष करके राजयक्ष्मा के रोगी के लिये हितकर, दीपन, हलका, संग्राहि (अर्थात् अतिसार में उपयोगी) होता है; तथा श्वास, कास और रक्त पित्त को दूर करता है ॥५१॥ बकरियों का दूध शरीर छोटा होने से; कटु, तिक्त (वृक्षों के पत्ते नित्य) सेवन करने से; थोड़ा जल पीने से और व्यायाम करने से सब व्याधियों का हरण करने वाला होता है ॥५२॥

रूक्षोष्णं लवणं किंचिदौष्ट्रं स्वादुरसं लघु ।
शोफगुल्मोदराशोंघ्नं कृमिकुष्ठविषापहम् ॥५३॥

ऊँटनी का दूध—रूक्ष, गरम, किंचित् खारा, मधुर और हलका होता है तथा शोथ, गुल्म, उदररोग, अर्श, कृमि, कुष्ठ और विष का नाशक है ॥५३॥

आविकं[1] मधुरं स्निग्धं गुरु पित्तकफावहम् ।
पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसंभवे ॥५४॥

भेड़ी का दूध—मधुर, स्निग्ध, भारी, पित्त और कफ कारक है तथा केवल वात के रोगों में तथा वात के कास में पथ्यकर होता है ॥५४॥

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम् ।
निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु ॥५५॥

भैंस का दूध—अधिक अभिष्यन्दि, मधुर, (मंद) जठराग्नि का नाशक, निद्रा उत्पन्न करने वाला, शीतल और गौ के दुग्ध से अधिक स्निग्ध तथा भारी होता है ॥५५॥

उष्णमैकशफं[2] बल्यं शाखावातहरं पयः ।
मधुराम्लरसं रूक्षं लवणानुरसं लघु ॥५६॥

एक शफ वाले चतुष्पादों (घोड़ी, गधी आदि) का दूध—उष्ण, बलकारक, हाथ पैरों के वायु का नाशक, रस में मधुर तथा अम्ल, रूक्ष, अनुरस में लवण और हलका होता है ॥५६॥

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम् ।
नस्याश्च्योतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम् ॥५७॥

स्त्री का दूध—(रस में) मधुर, अनुरस में कषाय, शीतल, नस्य और आश्च्योतन (नेत्र में टपकाने) के लिये पथ्यकर, जीवनीय, हलका और दीपन होता है ॥५७॥

हस्तिन्या मधुरं वृष्यं कषायानुरसं गुरु ।
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्धनम् ॥५८॥

हथिनी का दूध—(रस में) मधुर, वृष्य, अनुरस में कषाय, भारी, स्निग्ध, शरीर को स्थिर करने वाला, शीतल, नेत्र के लिये हितकर और बलवर्धक होता है ॥५८॥

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा ॥५९॥
दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात् ।
वातानुलोमि[1] श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यं चापराह्णिकम् ॥६०॥

रात्रि में चंद्र के (शीतल) गुण होने से तथा (चलने फिरने का) व्यायाम न होने से (जानवरों का) प्रभात का दूध भारी, विष्टम्भि और शीतल होता है ॥५९॥ दिन में सूर्य की किरणों से अभितप्त होने से, (चलने फिरने का) व्यायाम होने से तथा (शुद्ध) वायु के सेवन से संध्या के समय का दूध वायु को अनुलोम करने वाला, श्रमनाशक और नेत्रों के लिये हितकर होता है ॥६०॥

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं प्रायशः परिकीर्तितम् ।
तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै शृतम् ॥६१॥

कच्चा दूध—प्रायः अभिष्यन्दि और भारी ऐसा कहा जाता है। वही यदि (युक्ति से ठीक) औटाया जाय तो बहुत हलका और अनभिष्यन्दि होता है ॥६१॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् ॥६२॥

स्त्री के दूध के सिवा (सब प्रकार के दूध गरम करके पीने योग्य हैं)। स्त्री का दूध कच्चा ही हितकर होता है ॥६२॥

धारोष्णं गुणवत् क्षीरं विपरीतमतोऽन्यथा ।
तदेवातिशृतं शीतं गुरु बृंहणमुच्यते ॥६३॥

धारोष्ण दूध (अमृत के समान) गुणदायक होता है, और इसके विपरीत (बहुत) देर का निकाला ठंढा (विष के समान) अवगुणदायक होता है । वही अधिक औटाया हुआ ठंढा दूध भारी और शरीर पुष्टिकर होता है ॥६३॥

वक्तव्य—वास्तव में धारोष्ण दूध अमृत के समान गुणकारक है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु यह दूध अपने स्वच्छ हाथों से स्वच्छ बर्तन में स्वस्थ गौ या अन्य प्राणी के स्वच्छ स्तनों से निकाल कर सान्द्र स्वच्छ कपड़े से छान कर गरम गरम पीना चाहिये। इससे दूध में किसी प्रकार का विषम परिवर्तन नहीं होता, उसमें धूलि तथा जीवाणु प्रविष्ट नहीं होते, शरीर उष्णता के बराबर गरम होने के कारण पचन सुलभ होता है और उसमें होने वाले शरीरपोषक सर्व उपादान तथा जीवद्द्रव्य शुद्ध और नैसर्गिक अवस्था में मिलते हैं। माता का या धात्री का दूध बालक सीधा स्तन से ही सेवन करता है इसलिये वह दूध धारोष्ण दूध से भी अधिक गुणकर होता है। इस कारण से स्त्री के दूध का सेवन आमावस्था में करने के लिये कहा है। यदि उत्तम धारोष्ण दूध न मिले तो दूध अच्छी तरह उबालकर पीना ही योग्य है। कच्चा ठंढा दूध पीना ठीक नहीं है। कारण यह है कि दूध निकाल कर रखने से उसमें वायुमंडल की कई खराब वायु घुल जाती हैं तथा धूलि और अन्य जीवाणु प्रविष्ट होते हैं जिनके कारण कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अतः जीवाणुजन्य रोगों से बचने के लिये दूध उबाल कर पीना बहुत आवश्यक है। परन्तु उबालने से दूध में निम्न परिवर्तन होते हैं, जिससे उसकी पौष्टिकता कम हो जाती है और वह पचने में गरिष्ठ होता है। उबालने से दूध का जलांश कम हो जाता है, दुग्ध-शर्करा का कुछ अंश जलकर दूध का रंग भूरा होता है, उसके प्रोटीन विघटित हो जाते हैं, -फास्फरस जो पहले सेंद्रिय

---

[1] आविकं मधुरं स्निग्धमुष्णं पित्तकफावहम् । गुरु शुद्धेऽनिले पथ्यं सेकश्चानिलशोणिते ॥. इति क्वचिदन्यथापाठः [2] उष्णश्चैक०

[1] श्रमघ्नं वातनुच्चैव.

(Organicstate) अवस्था में होता है वह निरिंद्रिय (Morganic) हो जाता है, चूना तथा म्याग्नेसिअम के लवण प्रक्षेपित हो जाते हैं और सब से विशेष महत्त्व का फर्क दूध के फर्मेंट (Ferment) तथा जीवद्रव्यों का कुछ अंश नष्ट हो जाता है।

अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत्।
वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत् ॥६४॥

इति क्षीरवर्गः।

(वर्ज्यदुग्ध—) जिसमें बुरी गन्ध आती है, जो खट्टा हो गया है, जिसका वर्ण और स्वाद बदल गया है, जो खारा हो गया है तथा जो फट गया है ऐसा दूध वर्ज्य (सेवन करने के लिये अयोग्य) होता है ॥६४॥

वक्तव्य—यहाँ खराब दूध के जो गुणधर्म वर्णन किये हैं, उसके विरुद्ध गुण शुद्ध दूध के होते हैं। शुद्ध दूध काँच के बर्तन में रखने से अपारदर्शक और वर्ण में श्वेत होता है। उसके तली में कोई अवक्षेप नहीं बैठता। उसका स्वाद मीठा होता है। उसमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं आती। थोड़ी देर तक रखने पर उसके ऊपर मलाई आती है जो कि १२% होती है। लिटमस (Litmus) कागज से परीक्षा करने पर ताजे दूध से अम्ल तथा क्षारीय दोनों प्रकार की प्रतिक्रिया (Amphoteric reaction) मिलती है। कभी कभी प्रतिक्रिया रहित (Neutral) भी होता है। यदि गौ बीमार या सद्यःप्रसूता हो तो दूध की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) होती है। दूध की गुरुता (Sp. gravity) सामान्यतया १०२७ से १०३४ तक होती है। ६० फारनहीट उष्णता के ऊपर प्रति १० फा. उष्णतावृद्धि के पीछे दूध की गुरुता एक अंश कम हुआ करती है। इस गुरुता का मापन दुग्धमापक (Lactometer) से किया जाता है। दूध में यदि केवल पानी की मिलावट हो तो इस यन्त्र से पता चलता है; परन्तु यदि उसमें चीनी इत्यादि डाल दिया हो तो इस यन्त्र से ठीक पता नहीं चल सकता। दूध की दुष्टि के कारण—अस्वस्थ पशु का दूध स्वभावतः ही दुष्ट होता है। अस्वच्छ स्तनों से तथा अस्वच्छ हाथों से निकाला हुआ दूध दूषित होता है। दूध निकाल कर बहुत देर तक खुला रखने से दूषित हो जाता है। दूध में खराब पानी चीनी आदि की मिलावट करने से वह दूषित होता है। इन कारणों से दूध में विकारी जीवाणु प्रविष्ट होकर दूध की खराबी करते हैं। इति क्षीरवर्गः।

अथ दधिवर्गः।

दधि तु मधुरमम्लमत्यम्लं चेति; तत्कषायानुरसं स्निग्धमुष्णं पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्रकृच्छ्रकार्श्यापहं वृष्यं प्राणकरं मङ्गल्यं च ॥६५॥

दही (सामान्यतया) मधुर, अम्ल और अति अम्ल (तीन प्रकार का) होता है। वह अनुरस में कषाय, स्निग्ध और उष्णवीर्य है। पीनस, विषमज्वर, अतिसार, अरोचक, मूत्रकृच्छ्र और शरीर की कृशता इनका नाश करता है, शुक्र को बढ़ाता है, प्राणशक्ति की वृद्धि करता है और मंगल कार्यों में उपयोगी है ॥६५॥

वक्तव्य—ल्याक्टिक अम्ल तैयार वाले जीवाणुओं की क्रिया (Lacting fermenting microbes) दूध पर होने से दही बनता है। ये जीवाणु दूध में अभिषंग (Fermentation) उत्पन्न करके दुग्धशर्करा का अधिकांश भाग ल्याक्टिक अम्ल में परिवर्तित करते हैं। इस अम्ल के कारण दूध के मेद और प्रोटीन जम जाते हैं और दही बनता है। पौष्टिकता की दृष्टि से दूध के सर्व उपादान दही में भी मिलते हैं, केवल दुग्धशर्करा के स्थान में दुग्धाम्ल तथा दुग्धाम्लजनक जीवाणु होते हैं। इनमें कारण दूध की अपेक्षा दही में निम्न गुण विशेष रूप से दिखाई देते हैं। दही में होने वाले क्षीराम्लजीवाणु अन्य रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश करते हैं, इसलिये दूध की भाँति दही से रोग उत्पन्न होने की बहुत कम संभावना होती है। किटासाटो नामक जापानी शास्त्रज्ञ की यह राय है कि दही का ३% ल्याक्टिक अम्ल पाँच घण्टे में विसूचिका जीवाणुओं (Cholerabacillus) का नाश करता है। दूध की भाँति दही आन्त्र में मल के सड़न को रोकता है परन्तु दूध से दही की क्रिया अधिक होती है। इसलिये दैनिक आहार में दही का सेवन बहुत आवश्यक है। मेचनीकाफ (Metchnikoff) नामक शास्त्रज्ञ ने प्रयोगों द्वारा यह बतलाया है यथाविधि दही सेवन करने से आन्त्र में होने वाले जीवाणु (Proteolytic Bacilli) अधिकांश नष्ट हो जाते हैं तथा उनका विष भी नष्ट हो जाता है। इस कारण से अनेक रोगों से तथा वृद्धावस्था से शरीर की रक्षा होती है। मनुष्य के आन्त्र में अनेक प्रकार के स्वास्थ्यहानिकर जीवाणु उपस्थित रहते हैं और जैसे आयु बढ़ती है वैसे इनकी संख्या और उनका विष बढ़ता जाता है। अकाल वृद्धावस्था उत्पन्न होने का प्रधान कारण ये जीवाणु और उनका विष है। दही के सेवन से इन जीवाणुओं का तथा उनके विष का नाश हो जाता है। पचनसंस्थान के अनेक विकारों में दही बहुत फायदेमन्द होता है।

महाभिष्यन्दि मधुरं कफमेदोविवर्धनम्।
कफपित्तकृदम्लं स्यादत्यम्लं रक्तदूषणम्।
विदाहि सृष्टविण्मूत्रं मन्दजातं त्रिदोषकृत् ॥६६॥

मधुर दही बहुत अभिष्यन्दि, कफ और मेद वर्धक होता है। खट्टा दही कफ और पित्त को बढ़ाता है। अधिक खट्टा दही रक्त को दूषित करता है। मन्दजात (न सम्यक् दधिभावमापन्नम्—ठीक ठीक न जमा हुआ) दही शरीर से मलमूत्र का उत्सर्ग ठीक जारी करने वाला और त्रिदोष का प्रकोप करने वाला होता है ॥६६॥

स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्धनम्।
वातापहं पवित्रं च दधि गव्यं रुचिप्रदम् ॥६७॥

गौ का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, दीपन, बलवर्धक, वातनाशक, पवित्र और रुचिकर होता है ॥६७॥

दध्याजं कफपित्तघ्नं लघु वातक्षयापहम्।

---

[१] दधि तु मधुरं सृष्टपुरीषं गुर्वम्लमभिष्यन्दि श्लेष्मपित्तशोफवर्धनं कार्श्यापहं रोचनं माङ्गल्यं च, तदेव चोद्धृतसारं ग्राह्यनभिष्यन्दि च, सरं कफमेदःशुक्रकृत्, त्रिदोषकृन्मन्दजातम्.

दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम् ॥६८॥

बकरी का दही—कफपित्तनाशक, हलका, वात और क्षयनाशक, अर्श (दुर्नाम) श्वास और कास में हितकर तथा जठराग्नि का दीपक होता है ॥६८॥

विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रसादनम् ।
बलासवर्धनं स्निग्धं विशेषाद्दधि माहिषम् ॥६९॥

भैंस का दही—विपाक में मधुर, वृष्य, वात और पित्त का शामक, कफकारक और विशेष रूप से स्निग्ध होता है ॥६९॥

विपाके कटु सक्षारं गुरु भेद्यौष्ट्रिकं दधि ।
वातमर्शांसि कुष्ठानि कृमीन् हन्त्युदराणि च ॥७०॥

ऊँटनी का दही—विपाक में कटु, खारा, भारी, विरेचक है और वात, अर्श, कुष्ठ, कृमि और उदर इनका नाश करता है ॥७०॥

कोपनं कफवातानां दुर्नाम्नां चाविकं दधि ।
रसे पाके च मधुरमत्यभिष्यन्दि दोषलम् ॥७१॥

भेड़ का दही—कफ, वात और अर्श इनका प्रकोप करता है; रस और विपाक में मधुर होता है, अत्यंत अभिष्यन्दि है तथा अपथ्यकर है ॥७१॥

दीपनीयमचक्षुष्यं वाडवं दधि वातलम् ।
रूक्षमुष्णं कषायं च कफमूत्रापहं च तत् ॥७२॥

घोड़ी का दही—दीपन, नेत्र के लिये अहितकर, वात प्रकोपक, रूक्ष, उष्ण, कषाय तथा कफ और मूत्र दोष का नाशक है ॥७२॥

स्निग्धं विपाके मधुरं बल्यं सन्तर्पणं गुरु ।
चक्षुष्यमग्र्यं दोषघ्नं दधि नार्या गुणोत्तरम् ॥७३॥

स्त्री का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, बलकारक, तृप्तिकर, भारी, नेत्र के लिये अत्यन्त हितकर, दोषनाशक और गुणश्रेष्ठ है ॥७३॥

लघु पाके बलासघ्नं वीर्योष्णं पक्तिनाशनम् ।
कषायानुरसं नाग्या दधि वर्चोविवर्धनम् ॥७४॥

हथिनी का दही—विपाक में हलका, कफनाशक, उष्णवीर्य, पचनशक्ति का नाशक, अनुरस में कषाय और मल को बढ़ाने वाला है ॥७४॥

दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् ।
विज्ञेयमेवं सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम् ॥७५॥

(गौ के दही की श्रेष्ठता—) यहाँ गव्यादि जो भिन्न भिन्न प्रकार के दही वर्णन किये हैं, उन सब में गौ का ही दही गुण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये ॥७५॥

वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं नातिपित्तकृत् ।
कुर्याद्भक्ताभिलाषं च दधि यत् सुपरिस्नुतम् ॥७६॥

कपड़े में बांधकर निचोड़ा हुआ दही वातनाशक, कफकर, स्निग्ध, शरीरपुष्टिकर होता है, पित्त को विशेष बढ़ाता नहीं है और भोजन में अभिलाषा उत्पन्न करता है ॥७६॥

शृतात् क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद्दधि तत् स्मृतम् ।
वातपित्तहरं रुच्यं धात्वग्निबलवर्धनम् ॥७७॥

(ठीक) औटाये हुए दूध से बना हुआ दही (अधिक) गुणवान्, वात और पित्त का नाशक, रुचिकर, धातु, जठराग्नि तथा बल को बढ़ाने वाला है (अर्थात् कच्चे दूध से बना हुआ दही गुणकारक नहीं होता) ॥७७॥

दध्नः सरो गुरुर्वृष्यो विज्ञेयोऽनिलनाशनः ।
वह्नेर्विधमनश्चापि कफशुक्रविवर्धनः ॥७८॥

दही के ऊपर का भाग भारी, वृष्य, वात और अग्नि नाशक तथा कफ और शुक्र को बढ़ाने वाला है ॥७८॥

वक्तव्य—सर—दध्नस्तूपरि यो भागो घनः स्नेहसमन्वितः । स लोके सर इत्युक्तो दध्नो मण्डस्तु मस्त्विति ॥ (भावप्रकाश) ।

दधि त्वसारं रूक्षं च ग्राहि विष्टम्भि वातलम् ।
दीपनीयं लघुतरं सकषायं रुचिप्रदम् ॥७९॥

जिसमें स्नेह का भाग न हो ऐसा दही रूक्ष, ग्राही, विष्टम्भि, वातकारक, दीपन, हलका, कषाय रस युक्त और रुचिकर होता है ॥७९॥

शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।
हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ॥८०॥

शरद्, ग्रीष्म तथा वसन्त इन तीन ऋतुओं में दही (अधिक) खाना अनुचित है । और हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में दही खाना प्रशस्त है ॥८०॥

वक्तव्य—दधिसेवन के सम्बन्ध में चरक में निम्न प्रकार से निषेध किया है—रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेष्वहितं च तत् । न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम् । नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना ॥ ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्ड्वामयभ्रमान् । प्राप्नुयात् कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः ॥ (सू. अ. ७) ।

तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् ।
अम्लं कषायं मधुरमवृष्यं कफवातनुत् ॥८१॥
प्रह्लादनं प्रीणनं च भिनत्त्याशु मलं च तत् ।
बलमावहते क्षिप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥८२॥

(दही का पानी—) तृषा और थकावट दूर करता है, हलका है, स्रोतोविशोधक है, (किंचित्) अम्ल, कषाय और मधुर होता है, वृष्य नहीं है, कफ और वात का हरण करता है ॥८१॥ आह्लाद देता है, तृप्ति करता है, मल को शीघ्र भेदन करता है, बल बढ़ाता है और भोजन में रुचि करता है ॥८२॥

स्वाद्वम्लमत्यम्लकमन्दजातं
तथा शृतक्षीरभवं सरश्च ।
असारमेवं दधि सप्तधाऽस्मिन्
वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥८३॥

इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में १ मीठा, २ खट्टा, ३ अति खट्टा, ४ मन्द, ५ उबाले हुए दूध का, ६ सार, और ७ असार ऐसे सात प्रकार के दही के तथा मस्तु के गुण वर्णन किये हैं ॥८३॥ इति दधिवर्गः ।

अथ तक्रवर्गः ।

तक्रं मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रूक्ष-

मग्निदीपनं गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्शःप्लीहगुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेदःश्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्यं च ॥८४॥

(तक्र—) तक्र रस में मधुर तथा अम्ल, अनुरस में कषाय, उष्णवीर्य, हलका और जठराग्नि को दीपन करने वाला है। कृत्रिम विष, शोथ, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डु रोग, अर्श, प्लीहोदर, गुल्म, अरुचि, विषम ज्वर, तृष्णा, वमन, जी मचलाना, शूल, मेदोवृद्धि, कफ और वात इनको हरण करता है, विपाक में मधुर है, हृदय के लिये हितकर है, मूत्रकृच्छ्र तथा अधिक स्निग्ध पदार्थ सेवन करने से होने वाली व्यापत्तियों को दूर करता है और वृष्य नहीं है ॥८४॥

वक्तव्य—स्नेहव्यापत्—तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता । कुष्ठानि कण्डूः पाण्डुत्वं शोफार्शांस्यरुचिस्तथा ॥ जठरं ग्रहणीदोषाः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः । शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात् ॥ (चरक)।

मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्धोदकं च यत् ।
नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे ।
यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते ॥८५॥

(तक्र और घोल—) मंथनादि द्वारा जिसमें से मक्खन निकाला है, जिसमें आधा पानी मिलाया है, जो न बहुत गाढ़ा है न पतला है और रस में जो मधुर, अम्ल और कषाय है वही तक्र होता है। जिसमें से मक्खन नहीं निकाला है, जिसमें पानी नहीं डाला है और जो दही केवल मथानी से मथ दिया है उसे घोल कहते हैं ॥८५॥

तक्रं नैव क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले ।
न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके ॥८६॥

(तक्रनिषेध—) व्रण (से पीडित अवस्था) में, गर्मियों के दिनों में दुर्बल को तथा मूर्च्छा, भ्रम, दाह और रक्त पित्त में तक्र नहीं देना चाहिये ॥८६॥

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च कफोत्थेष्वामयेषु च ।
मार्गावरोधे दुष्टे च वायौ तक्रं प्रशस्यते ॥८७॥

शीत काल में, जठराग्नि की मन्दता में, कफ के विकारों में, स्रोतसों के अवरोध में एवं वात की दुष्टि में तक्र प्रशस्त है ॥८७॥

तत् पुनर्मधुरं श्लेष्मप्रकोपणं पित्तप्रशमनं च; अम्लं वातघ्नं पित्तकरं च ॥८८॥

मधुर तक्र कफप्रकोपक और पित्तशामक है। खट्टा तक्र वातनाशक और पित्तकर होता है ॥८८॥

वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं, स्वादु पित्ते सशर्करम् ।
पिबेत्तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम् ॥८९॥

वातप्रकोप में खट्टा तक्र सैंधा नमक डालकर पीना चाहिये; पित्तप्रकोप में मधुर तक्र चीनी के साथ पीना चाहिये; और कफप्रकोप में त्रिकटु तथा यवक्षार के साथ पीना चाहिये ॥८९॥

ग्राहिणी वातला रूक्षा दुर्जरा तक्रकूर्चिका ।
तक्राल्लघुतरो मण्डः कूर्चिकादधितक्रजः[1] ॥९०॥

तक्रकूर्चिका ग्राही, वातल, रूक्ष और पचने में कठिन होती है। दधि और तक्र कूर्चिका से उत्पन्न हुआ मण्ड तक्र से भी अति हलका होता है ॥९०॥

वक्तव्य—कूर्चिका—दध्ना तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूतघनद्रवभागं क्षीरं कूर्चिकेत्युच्यते । सा द्विविधा—दध्ना सह च यत्पक्वं क्षीरं सा दधिकूर्चिका । तक्रेण पक्वं यत क्षीरं सा भवेत्तक्रकूर्चिका ॥ दही या तक्र के साथ गरम करके फटे हुए दूध का ठोस दधि कूर्चिका या तक्रकूर्चिका कहलाता है और तरल भाग मण्ड कहलाता है।

गुरुः किलाटोऽनिलहा पुंस्त्वनिद्राप्रदः स्मृतः ।
मधुरौ बृंहणौ वृष्यौ तद्वत्पीयूषमोरटौ ॥९१॥

किलाट (छाना) भारी, वायुनाशक, पुंस्त्व और निद्रा देने वाला होता है। तथा पीयूष और मोरट मधुर, पुष्टिकर और वृष्य होते हैं ॥९१॥

वक्तव्य—किलाट—नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः । पीयूषमोरटौ—क्षीरं सद्यः प्रसूतायाः पीयूषमिति संज्ञितम् । सप्तरात्रात् परं क्षीरमप्रसन्नन्तु मोरटः ॥

नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषार्शोऽर्दितापहं, चिरोत्थितं गुरु कफमेदोविवर्धनं[2] बलकरं बृंहणं शोषघ्नं विशेषेण बालानां प्रशस्यते ॥९२॥

(नवनीत—) ताजा मक्खन हलका, शरीर सुकोमल करने वाला, मधुर, कषाय और किंचित् अम्ल, शीतल, मेधाजनक, अग्निदीपक, हृद्य, ग्राहि, वात और पित्त नाशक, वृष्य, अविदाहि, राजयक्ष्मा, कास, व्रण, शरीर की कृशता, अर्श और अर्दित (Facial Paralysis) इनको दूर करता है। पुराना मक्खन भारी, कफ और मेद बढ़ाने वाला बलकर, शरीरपुष्टिकारक, कृशता दूर करने वाला होता है। मक्खन विशेष करके बालकों के लिये बहुत प्रशस्त होता है ॥९२॥

वक्तव्य—खाद्य द्रव्यों में मक्खन सब से अधिक हलका पदार्थ है और उसका संपूर्ण पचन और शोषण आँत में होता है। इसमें ७८ से ९४ प्रतिशत स्नेह, १२ से १५ प्रतिशत पानी, १ से ३ प्रतिशत प्रोटीन और ० से ७ प्रतिशत खनिज (फास्फेट इत्यादि) होते हैं। इसके अलावा दूध के जीव द्रव्य भी इसमें उपस्थित रहते हैं। इसलिये ताजा मक्खन क्षय, शरीरकृशता (Marasmus), अग्निमान्द्य इत्यादि रोगों में बहुत उपकारी सिद्ध हुआ है। मक्खन का रक्षण करने के लिये उसे पानी में रखना चाहिये या उसमें नमक डालना चाहिये।

क्षीरोत्थं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्यमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनं च ॥९३॥

---

[1] दधिकूर्चिकतक्रजः. [2] कफमेदोविलयनं.

कच्चे दूध से निकाला हुआ मक्खन अत्यन्त स्निग्ध, अतिमधुर, अतिशीतल, शरीर सुकुमार करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, ग्राहि, रक्तपित्त तथा नेत्र रोगों का नाशक और प्रसादन करने वाला होता है ॥९३॥

सन्तानिका पुनर्वातघ्नी तर्पणी बल्या वृष्या स्निग्धा रुच्या मधुरा मधुरविपाका रक्तपित्तप्रसादनी गुर्वी च ॥९४॥

मलाई वातनाशक, तृप्ति करने वाली, बल बढ़ाने वाली, वीर्यवर्द्धिनी, स्निग्ध, रुचिकर, मधुर, विपाक में मधुर, रक्तपित्त को प्रसादन करने वाली और भारी होती है ॥९४॥

विकल्प एष दध्यादिः श्रेष्ठो गव्योऽभिवर्णितः ।
विकल्पानवशिष्टांस्तु क्षीरवीर्यात्समादिशेत् ॥९५॥

इति तक्रवर्गः ।

ये तक्रादि (दुग्ध के) प्रकार गौ के ही श्रेष्ठ होते हैं (इसलिये) वे ही वर्णन किये हैं । जो शेष (प्राणियों के दुग्ध के) प्रकार हैं उनके गुणधर्म दूध के गुण के अनुसार जानने चाहिये ॥९५॥ इति तक्रवर्गः ।

अथ घृतवर्गः ।

घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि स्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नं च ॥९६॥

(घृत—) (सामान्यतया) घृत मधुर, सौम्य, मृदु, थोड़ा अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाला, शीतवीर्य, शरीर में चिकनाई उत्पन्न करने वाला, उदावर्त, उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह, वात और पित्त इनका शमन करने वाला, जठराग्नि प्रदीपक, स्मृति, मति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सौकुमार्य, ओज, तेज और बल इनको करने वाला, आयु बढ़ाने वाला, वृष्य, पवित्र, वय को स्थिर करने वाला, गुरु, नेत्र के लिये हितकर, कफवर्धक, पाप और अलक्ष्मी का नाश करने वाला, विषनाशक तथा राक्षस भय हरने वाला होता है ॥९६॥

वक्तव्य—मक्खन गरम करके घी बनाया जाता है। घी में केवल मेद (१००%) होता है।

विपाके मधुरं शीतं वातपित्तविषापहम् ।
चक्षुष्यमग्र्यं बल्यं च गव्यं सर्पिर्गुणोत्तरम् ॥९७॥

गौ का घी—विपाक में मधुर, शीतल, वात पित्त और विष नाशक, नेत्र के लिये हितकर वस्तुओं में श्रेष्ठ, बलकारक और सर्व प्रकार के घी में गुणों में श्रेष्ठ है ॥९७॥

आजं घृतं दीपनीयं चक्षुष्यं बलवर्धनम् ।
कासे श्वासे क्षये चापि पथ्यं पाके च तल्लघु ॥९८॥

बकरी का घी—अग्निदीपक, नेत्र के लिये हितकर, बलवर्धक, कास श्वास और राजयक्ष्मा के लिये हितकर और पचने में हलका होता है ॥९८॥

मधुरं रक्तपित्तघ्नं गुरु पाके कफावहम् ।
वातपित्तप्रशमनं सुशीतं माहिषं घृतम् ॥२९॥

भैंस का घी—मधुर, रक्तपित्त नाशक, पचने में भारी, कफकारक, वात और पित्त शामक तथा शीतल है ॥९९॥

औष्ट्रं कटु रसं[1] पाके शोफक्रिमिविषापहम् ।
दीपनं कफवातघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥१००॥

ऊँटनी का घी—विपाक में कटु, शोथ कृमि और विषनाशक, अग्नि दीपन, कफ और वात हर तथा कुष्ठ, गुल्म और उदर का नाशक होता है ॥१००॥

पाके लघ्वाविकं सर्पिर्न च पित्तप्रकोपणम् ।
कफेऽनिले योनिदोषे शोषे[2] कम्पे च तद्धितम् ॥१०१॥

भेड़ का घी—पचन में हलका होता है, पित्त का प्रकोप नहीं करता है, कफ, वायु, योनिरोग, शोफ और कम्प में हितकर होता है ॥१०१॥

पाके लघूष्णवीर्यं च कषायं कफनाशनम् ।
दीपनं बद्धमूत्रं च विद्यादैकशफं घृतम् ॥१०२॥

एक खुर वाले प्राणी (घोड़ी, गधी इत्यादि) का घी—पचने में हलका, उष्णवीर्य, कषाय, कफनाशक, अग्निदीपक, और मूत्र की राशि कम करने वाला होता है ॥१०२॥

चक्षुष्यमग्र्यं स्त्रीणां तु सर्पिः स्यादमृतोपमम् ।
वृद्धिं करोति देहाग्न्योर्लघुपाकं विषापहम् ॥१०३॥

स्त्री का घृत—नेत्र के लिये सर्वोत्तम, अमृत के समान, देह और जठराग्नि की वृद्धि करने वाला, पचन में हलका और विषहर होता है ॥१०३॥

कषायं बद्धविरामूत्रं तिक्तमग्निकरं लघु ।
हन्ति कारेणवं सर्पिः कफकुष्ठविषक्रिमीन् ॥१०४॥

हथिनी का घी—मल और मूत्र का अवरोधक, तिक्त, अग्निदीपक, हलका होता है और कफ, कुष्ठ, विष तथा कृमि इनका नाश करता है ॥१०४॥

क्षीरघृतं पुनः संग्राहि रक्तपित्तभ्रममूर्च्छाप्रशमनं नेत्ररोगहितं च ॥१०५॥

कच्चे दूध से निकले मक्खन से बनाया हुआ घी ग्राही, रक्तपित्त, भ्रम, मूर्च्छा इनका नाशक तथा नेत्ररोग के लिये हितकर होता है ॥१०५॥

सर्पिर्मण्डस्तु मधुरः सरो योनिश्रोत्राक्षिशिरसां शूलघ्नो बस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते ॥१०६॥

जमे हुए घृत के ऊपर जो स्वच्छ पतला घी रहता है वह (सर्पिर्मण्ड) मधुर, मृदुविरेचक, योनि, कर्ण, नेत्र और सिर के शूल का विनाशक होता है तथा बस्ति, नस्य और नेत्र पूरण के काम में प्रयुक्त करने के लिये कहा है ॥१०६॥

सर्पिः पुराणं सरं कटुविपाकं[3] त्रिदोषापहं मूर्च्छामदोन्मादोदरज्वरगरशोषापस्मारयोनिश्रोत्राक्षिशिरःशूलघ्नं दीपनं बस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते ॥१०७॥

---

[1] घृतं [2] शोफे. [3] कटुपाकि.

पुराना घी—मृदुविरेचक, विपाक में कटु, त्रिदोषनाशक होता है, मूर्च्छा, मद, उन्माद, उदर, ज्वर, गर, शोष, अपस्मार, योनिशूल, कर्णशूल, नेत्रशूल, और शिरःशूल इनको दूर करता है, अग्निदीपक है और बस्ति, नस्य तथा नेत्र पूरण के लिये योग्य कहा है ॥१०७॥

भवति चात्र—

पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत् ।
मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥१०८॥
एकादशशतं चैव वत्सरानुषितं घृतम् ।
रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् [१]परतस्तु महाघृतम् ॥१०९॥
पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैः ।
वल्यं पवित्रं मेध्यं च विशेषात्तिमिरापहम् ॥११०॥
सर्वभूतहरं चैव घृतमेतत् प्रशस्यते ॥१११॥

इति घृतवर्गः ।

पुराना घृत तिमिररोग, श्वास, पीनस, ज्वर, कास, मूर्च्छा, कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह (की पीड़ा) और अपस्मार इनका नाश करता है ॥१०८॥ एकादश वर्ष से सौ वर्ष का पुराना घृत 'कुम्भसर्पि' कहलाता है और वह रक्षोघ्न है । इससे अधिक पुराना घृत 'महाघृत' कहलाता है ॥१०९॥ यह महाघृत वात प्रकृति मनुष्यों के लिये पीने योग्य है, कफघ्न है, बलकारक है, पवित्र है, मेधाजनक है, विशेष करके तिमिर रोग नाशक है ॥११०॥ और (प्रेतपिशाचादि) सब भूतों की बाधा को दूर करता है । इसलिये यह घृत बहुत प्रशस्त है ॥१११॥

वक्तव्य—पुराने घृत के काल के संबंध में कुछ मतभिन्नता प्राचीन ग्रंथकार और टीकाकारों में दिखाई देती है । कुछ लोग पुराने घृत का काल एक वर्ष का, कुछ दश वर्ष का और पंद्रह वर्ष का मानते हैं—वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणम् । (भावप्रकाश) । सर्पिः पुराणं विज्ञेयं दशवर्षस्थितं तु यत् । (योगरत्नाकर) । पुराणमिति च बहुकालं पंचदशादिवर्षस्थितम् । (अरुणदत्त) । कुछ लोग कुंभघृत का काल दस वर्ष मानते हैं, कुछ सौ वर्ष मानते हैं—कौम्भं दशाब्दिकम् । (चक्रपाणिदत्त चरकटीका) । शतवर्षस्थितं यत्तु कुम्भसर्पिस्तदुच्यते ॥ (योगरत्नाकर) । तथापि इस विषय में सब का ऐकमत्य है कि घृत जितना अधिक पुराना होगा उतना ही अधिक गुणकारी होगा—यथा यथा जरां याति गुणवत्स्यात्तथा तथा ॥ (हारीतसंहिता) । इति घृतवर्गः ।

अथ तैलानि ।

तैलं त्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं शोधनं मेधामार्दवमांसस्थैर्यवर्णबलकरं चक्षुष्यं बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनमनिलबलासक्षयकरं क्रिमिघ्नमशितपित्तजननं योनिशिरःकर्णशूलप्रशमनं गर्भाशयशोधनं च, तथा छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टच्युतमथितक्षतपिच्चितभग्नस्फुटितक्षाराग्निदग्धविश्लिष्टदारिताभिहतदुर्भग्नमृगव्यालविदष्टप्रभृतिषु च परिषेकाभ्यङ्गावगाहादिषु तिलतैलं प्रशस्यते ॥११२॥

तद्वस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे ।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ॥११३॥

तिल का तैल—आग्नेय, गरम, तीक्ष्ण, मधुर, विपाक में मधुर, शरीरपुष्टिकर, तृप्तिकारक, व्यवायि, सूक्ष्म, विशद, भारी, विरेचक, विकासी, वृष्य, त्वचा की प्रसन्नता करने वाला, शोधन, मेधा, मार्दव, मांस, स्थिरता, वर्ण और बल इनको करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, मूत्र को रोकने वाला, (शरीर की स्थूलता निवारण करके) पतला करने वाला, अनुरस में तिक्त और कषाय, पाचक, वात और कफ का क्षय करने वाला, क्रिमिनाशक, शीत और पित्त की उत्पत्ति का प्रतिबंधक, योनि, शिर और कर्ण इनका शूल नाशक तथा गर्भाशयशोधक होता है । और छिन्न, भिन्न, विद्ध, उत्पिष्ट, च्युत, मथित, क्षत, पिच्चित, भग्न, स्फुटित, क्षार तथा अग्नि दग्ध, विश्लिष्ट, दारित, अभिहत, दुर्भग्न, अहिंस्र तथा हिंस्र पशुओं से दष्ट इत्यादि अवस्थाओं में परिषेक, अभ्यंग और अवगाह के लिये तिलतैल प्रशस्त होता है ॥११२॥ परिषेकादि के अनुसार बस्तिकर्म, स्नेहपान, नस्य, कर्ण और नेत्र का पूरण, विविध खाद्य पेय पदार्थों का संस्करण और वायु की शान्ति इनके लिये भी उसका उपयोग करना चाहिये ॥११३॥

वक्तव्य—व्यवायी सूक्ष्मादि गुणों की व्याख्याएँ सूत्रस्थान के ४६वें अध्याय के अन्त में वर्णन की गई हैं । छिन्न भिन्नादि सद्योव्रण (चिकित्सास्थान अध्याय २) और भग्न (निदान अ. १५) के प्रकार हैं ।

एरण्डतैलं मधुरमुष्णं तीक्ष्णं दीपनं कटु कषायानुरसं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वयःस्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृतिबलकरं वातकफहरमधोभागदोषहरं च ॥११४॥

एरण्ड का तैल—मधुर, गरम, तीक्ष्ण, दीपन, कटु, अनुरस में कषाय, सूक्ष्म, स्रोतोमार्गविशोधन करने वाला, त्वचा के लिये हितकारक, वृष्य, विपाक में मधुर, वयःस्थापक, योनि और शुक्र का विशोधक, आरोग्य, मेधा, कान्ति, स्मृति और बल इनको करने वाला, वात और कफ को हरण करने वाला और अधोभाग के दोषों को हरण करने वाला है ॥११४॥

वक्तव्य—एरण्डी का तेल अनपायी स्वरूप का विरेचक (अधोभाग दोषहर) है । इसका उपयोग बालकों के लिये, सुकुमार प्रकृति के स्त्री पुरुषों के लिये, गर्भिणी और प्रसूत स्त्रियों के लिये बहुत प्रशस्त होता है । चरकसंहिता में इसका वर्णन किया है—गुल्मोदरब्रध्नार्शःप्लीहोदरावर्तयोनिशुक्रगदे । मेदःकफसंसृष्टे मारुतरक्तेऽवगाढे च ॥ गृध्रासिपक्षवधादिषु विरेचनार्हेषु वातरोगेषु । वाते विबद्धमार्गे मेदःकफपित्तरक्तेन ॥ पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूषमूत्रमदिराभिः । दोषानुबन्धयोगात् प्रशस्तमेरण्डजं तैलम् ॥ तद्वातनुत् स्वभावात् संयोगवशाद्विरेचनाच्च जयेत् । मेदोऽसृक्पित्तकफान्मिश्रानिलरोगजित् तत्स्यात् ॥ इस चरकवचन के अनुसार यह

---

[१] तत्परं तु.

स्पष्ट होता है कि एरण्डी के तेल का शरीर पर जो कार्य होता है वह अधिकतर विरेचन क्रिया द्वारा होता है ।

निम्बातसीकुसुम्भमूलकजीमूतकवृक्षककृतवेधनार्ककम्पिल्लकहस्तिकर्णपृथ्वीकापीलुकरञ्जेङ्गुदीशिग्रुसर्षपसुवर्चलाविडङ्गज्योतिष्मतीफलतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि चेति ॥११५॥

नीम, अलसी, कुसुंब, मूली, देवदाली, कुटज, कोशातकी, आक, कम्पिल्लक, हस्तिकर्ण (रक्त एरण्ड या भूपलाश), काला जीरा, पीलु, करञ्ज, इङ्गुदी, सोहजन, सरस, सूर्यावर्त, विडंग, मालकांगनी इनके फलों (या बीजों) के तेल तीक्ष्ण, हलके, उष्णवीर्य, कटु, विपाक में भी कटु, मृदु विरेचक तथा वात, कफ, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग इन रोगों के नाशक होते हैं ॥११५॥

वातघ्नं मधुरं तेषु क्षौमं तैलं बलापहम् ।
कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तलम् ॥११६॥
कृमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डूकुष्ठापहं लघु ।
कफमेदोनिलहरं लेखनं कटु दीपनम् ॥११७॥
कृमिघ्नमिङ्गुदीतैलमीषत्तिक्तं तथा लघु ।
कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रबलापहम् ॥११८॥
विपाके कटुकं तैलं कौसुम्भं सर्वदोषकृत् ।
रक्तपित्तकरं तीक्ष्णमचक्षुष्यं विदाहि च ॥११९॥

इनमें से अलसी का तैल वातनाशक, मधुर, बलवर्धक, विपाक में कटु, नेत्र के लिये अहितकर, स्निग्ध, उष्ण, भारी और पित्तकर होता है ॥११६॥ सरसों का तेल कृमि, कण्डू और कुष्ठ नाशक होता है, कफ, मेद और वायु का हरण करता है तथा लेखन, कटु और दीपन है ॥११७॥ हिंगोट का तैल कृमिनाशक, किंचित् तिक्त तथा हलका है, कुष्ठ रोग और कृमियों का हरण करता है, तथा दृष्टि, शुक्र और बल का नाश करता है ॥११८॥ करड़ का तैल, विपाक में कटु, सर्व दोष प्रकोपक, रक्त पित्त उत्पन्न करने वाला, तीक्ष्ण, नेत्र के लिये अहितकर और विदाह उत्पन्न करने वाला है ॥११९॥

किराततिक्तकातिमुक्तकविभीतकनालिकेरकोलाक्षोडजीवन्तीप्रियालकर्बुदारसूर्यवल्लीत्रपुसैर्वारुककर्कारुकूष्माण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुरविपाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्यन्दीनि सृष्टमूत्राण्यग्निसादनानि चेति ॥१२०॥

चिरायता, अतिमुक्तक (माधवीलता का फल), बहेड़ा, नारियल, बेर, अखरोट, जीवन्ती, चिरोंजी, कचनार, अर्कपुष्पी, त्रपुस, एर्वारुक, कर्कारु, कोहला इत्यादि के तैल मधुर, विपाक में मधुर, वात और पित्त के शामक, शीतवीर्य, अभिष्यन्दि, मूत्र का उत्सर्ग ठीक कराने वाले और जठराग्नि के नाशक होते हैं ॥१२०॥

मधुककाश्मर्यपलाशतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि ॥१२१॥

महुआ, गंभारी और पलाश इनके तैल मधुर तथा कषाय होते हैं और कफ तथा पित्त को प्रशमन करते हैं ॥१२१॥

तुवरकभल्लातकतैले उष्णे मधुरकषाये तिक्तानुरसे वातकफकुष्ठमेदोमेहकृमिप्रशमने उभयतोभागदोषहरे च ॥१२२॥

तुवरक और भिलावे का तैल उष्ण, मधुर और कषाय, अनुरस में तिक्त होता है और वात, कफ, कुष्ठ, मेद, प्रमेह तथा कृमियों को दूर करता है और ऊर्ध्व भाग से तथा अधोभाग से (वमन विरेचन द्वारा) दोषों को हरण करता है ॥१२२॥

वक्तव्य—तुवरक वृक्ष का वर्णन आगे चिकित्सास्थान के १३वें अध्याय में किया गया है । तुवरक तैल गलित कुष्ठ (Leprosy) के लिये आज भी एकमात्र ओषधि है । इससे कुष्ठ में बहुत लाभ होता है । इसलिये इस तैल का समावेश (Oleum Hydnocarpi) 'ब्रिटिश फार्माकोपिया' में किया गया है ।

सरलदेवदारुगण्डीरशिंशपागुरुसारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च ॥१२३॥

सरल (Pinus Longifolia), देवदार, गण्डीर, शीशम, अगुरु इन वृक्षों के सार भाग का तैल तिक्त, कटु और कषाय होता है, दुष्ट व्रण का शोधन करता है, कृमि, कफ, कुष्ठ और वात का नाश करता है ॥१२३॥

तुम्बीकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीश्यामासप्तलानीलिकाकम्पिल्लकशङ्खिनीस्नेहास्तिक्तकटुकषाया अधोभागदोषहराः कृमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रणशोधनाश्च ॥१२४॥

कड़वी तुम्बी, कोशाम्र (एक प्रकार का आम), दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला, नीलिका, कंपिल्लक और शंखिनी इनके तैल तिक्त, कटु और कषाय, अधोभाग के दोषों को हरण करने वाले, कृमि, कफ, कुष्ठ और वात के नाशक तथा दुष्ट व्रण के शोधक होते हैं ॥१२४॥

यवतिक्तातैलं सर्वदोषप्रशमनमीषत्तिक्तमग्निदीपनं लेखनं मेध्यं पथ्यं रसायनं च ॥१२५॥

यवतिक्ता का तैल सब दोषों को शान्त करता है, किंचित् कड़वा है, अग्नि प्रदीप्त करने वाला, लेखन, मेध्य, पथ्य और रसायन है ॥१२५॥

एकैषिकातैलं मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिलप्रकोपणं श्लेष्माभिवर्धनं च ॥१२६॥

एकैषिका (निशोथ या पाठा) का तैल मधुर, अति शीतल, पित्तनाशक; वातप्रकोपक और कफवर्धक होता है ॥१२६॥

सहकारतैलमीषत्तिक्तमतिसुगन्धि वातकफहरं रूक्षं मधुरकषायं रसवन्नातिपित्तकरं च ॥१२७॥

आम का तैल किंचित् तिक्त, अत्यन्त सुगंध युक्त, वात कफ नाशक, रूक्ष, मधुर, कषाय है तथा (आम के) रस की भाँति वह अतिपित्तकारक नहीं है ॥१२७॥

फलोद्भवानि तैलानि यान्यनु[1]क्तानि कानिचित् ।
गुणान् कर्म च विज्ञाय फल[2]वत्तानि निर्दिशेत् ॥१२८॥
यावन्तः स्थावराः स्नेहाः समासात्परिकीर्तिताः ।
सर्वे तैलगुणा ज्ञेयाः सर्वे चानिलनाशनाः ॥१२९॥
सर्वेभ्यस्त्विह तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते ।
निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि ॥१३०॥

जो जो फलों के तैल यहाँ नहीं वर्णन किये हैं उनके गुण कर्म फलों के गुण कर्मानुसार समझ लेने चाहिये ॥१२८॥ जो जो स्थावर (वनस्पतिजन्य) स्नेह संक्षेप से वर्णन किये हैं उनमें (तिल) तैल के सर्व (सामान्य) गुण धर्म उपस्थित होते हैं, तथा वे सर्व वातनाशक भी हैं ॥१२९॥ जितने तैल हैं सब में तिल का तैल श्रेष्ठ है। (इतर वानस्पतिक स्नेहों से तिल तैल के कर्मों की) निष्पत्ति होने से तथा वे तिल तैल के गुणों से युक्त होने से उनमें भी तैलत्व आ जाता है ॥१३०॥

वक्तव्य—स्थावर—वानस्पतिक—स्नेहानां द्विविधा योनिः सौम्यस्थावरजंगमा । (चरक)। विशिष्यते—तिल तैल की विशेषता के कारण चरक में इस प्रकार वर्णन किये हैं—तैलं संयोगसंस्कारात् सर्वरोगापहं परम् । तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः । आसन्नातिबलाः संख्ये दैत्याधिपतयः पुरा । निष्पत्तेः—(१) कर्मनिष्पत्तेः । (२) तिले यथा तैलं निष्पद्यते चूर्णीकरणयन्त्रादिना तथा सर्षपादावपि स्नेहापकर्षणात् । भवति च समाननिष्पत्तिकतया तच्छब्दता । (शिवदाससेन)। इस श्लोकार्ध का तात्पर्य यह है कि इतर वानस्पतिक स्नेहों में तिल तैल का कर्मसामान्य और गुणसामान्य होने के कारण उनके लिये भी तैल शब्द रूढ हो गया है। तैल—इसका सरल अर्थ 'तिलोत्पन्न' है और यह काण्ड, पत्र, स्नेह इत्यादि के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है, परन्तु रूढि से इसका प्रयोग केवल स्नेहविषयक होता है—रूढिरूपत्वात्तैलशब्दस्य स्नेहविषय एव तैलशब्दो रूढो न काण्डपत्रादिविषये । तिलस्य हि काण्डं पत्रं वा न तैलमित्युच्यते किं तर्हि तिलपत्रं तिलकाण्डमिति । अत एव तैलशब्दोच्चारणस्य समनंतरं स्नेहविषयैव धीर्जायते न पत्रकाण्डादिविषया ॥ (अरुणदत्त)।

ग्राम्यानूपौदकानां च वसामेदोमज्जानो गुरूष्णमधुरा वातघ्नाः, जाङ्गलैकशफक्रव्यादादीनां लघुशीतकषाया रक्तपित्तघ्नाः, प्रतुदविष्किराणां श्लेष्मघ्नाः । तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोत्तरं गुरुविपाका वातहराश्च ॥१३१॥ इति तैलवर्गः ।

(घोड़ा, गौ आदि) ग्राम्य, (महिषादि) आनूप, (मत्स्यादि) औदक प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा भारी, उष्ण, मधुर और वातनाशक होती है। जांगल, एक शफ और हिंस्र प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा हलकी, शीतल, कषाय और रक्तपित्तनाशक होती है। प्रतुद (कपोतपारावतादि), विष्किर (लावत्तित्तिरादि) प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा कफनाशक होती है। घी, तैल, वसा, मेद और मज्जा ये स्नेह द्रव्य पचन के लिये उत्तरोत्तर अधिक भारी तथा वातनाशन के लिये अधिक बलवत्तर होते हैं ॥१३१॥

वक्तव्य—आधुनिक काल में प्राचीन काल की भाँति कई प्रकार के जंगम स्नेह पदार्थ खाने के लिये तथा चिकित्सा के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनमें मछली का तेल निर्देश करने योग्य है। इसमें स्नेह (Fat) के सिवाय शरीर की पुष्टि और रक्षा के लिये अत्यावश्यक जीवनीयद्रव्य (Vitamin A. D.) होते हैं। इसके दो प्रधान उदाहरण हैं—'काड लिवर ओईल' और 'हलीबट लिवर ओईल'। तैल, वसा, मेद और मज्जा—ये चारों द्रव्य स्नेहवर्ग के हैं। इनमें तैल (Oil) और वसा (Fat) शुद्ध स्नेहद्रव्य हैं। स्नेहद्रव्य ग्लिसरीन और फ्याटी एसिड के संयोग से बनते हैं। रासायनिक दृष्टि से उस प्रकार के स्नेह को तैल कहते हैं जिसमें निम्न श्रेणि के फ्याटीएसिड (Lower Fatty acids) होते हैं। इनके कारण वह स्नेह पतला होता है। जिसमें उच्च श्रेणि के (Higher Fatty acids) फ्याटी एसीड होते हैं वह वसा कहलाता है। इनके कारण वह स्नेह कुछ गाढा होता है। मेद (Red marrow) और मज्जा (Yellow marrow) स्नेहभूयिष्ठ द्रव्य हैं, पूर्णतया स्नेह नहीं हैं—It (Fat) is however found in large quantities in three situations, Viz, Marrow, adipose and mammary gland during lactation, (Halliburton's Physiology).

अथ मधुवर्गः ।

मधु तु मधुरं कषायानुरसं रूक्षं शीतमग्निदीपनं वर्ण्यं[1] बल्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वाजीकरणं सन्धानं शोधनं रोपणं संग्राहि चक्षु[2]ष्यं प्रसादनं सूक्ष्ममार्गानुसारि पित्तश्लेष्ममेदोमेहहिक्काश्वासकासातिसारच्छर्दितृष्णाकृमिविषप्रशमनं ह्लादि त्रिदोषप्रशमनं च; तत्तु लघुत्वात्कफघ्नं पैच्छिल्यान्माधुर्यात्कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम् ॥१३२॥

(मधुवर्ग—) मधु—रस में मधुर, अनुरस में कषाय रूक्ष, शीतल, अग्निदीपन, शरीर की कान्ति और बल बढ़ाने वाला, हलका, सौकुमार्यकर, लेखन, हृदय के लिये हितकर, वाजीकरण, अस्थिसंधानक, व्रणरोपण, ग्राहि, नेत्रों को प्रसन्न करने वाला, शरीर के सूक्ष्म मार्गों में प्रवेश करने वाला, पित्त, कफ, मेद, प्रमेह, हिक्का, श्वास, कास, अतिसार, वमन, तृष्णा, कृमि और विष इनको शांत करने वाला, आह्लाद देने वाला और त्रिदोषप्रशमन है। यह हलका होने से कफ को शांत करता है, मधुर, पिच्छिल और कषाय होने से वात और पित्त को शांत करता है ॥१३२॥

वक्तव्य—मधु शर्करायुक्त खाद्य पदार्थ है जो कि मधुमक्खियाँ फूलों की मिठास को ग्रहण कर अपने छत्तों में इकट्ठा करती हैं। मधु में द्राक्षाशर्करा या ग्लूकोज (Grape Sugar or Glucose) अधिक राशि में (औसत ७५%) होता

---

[1] यानीत्युक्तानि. यान्युक्तानीह. [2] फलानीव विनिर्दिशेत्.

[1] स्वर्यं. [2] चक्षुःप्रसादनं.

है । इसके सिवाय इक्षुशर्करा, लेव्यूलोज (Levulose), प्रोटीड्स, गोंद, मोम, रंजन द्रव्य, फार्मिक एसिड (Formic Acid), सुगंधि द्रव्य, लोह, चूना, फास्फरस, जीवनीय द्रव्य (Vitamins), पिष्ट पदार्थों का (Starchy) पचन करने वाला एक पाचक द्रव्य (Diastatic ferment) जल तथा पुष्प पराग भी होते हैं। संक्षेप में मनुष्य शरीर में मिलने वाले तथा मनुष्य शरीर के लिये हितकर प्रायः सर्व उपादान न्यूनाधिक मात्रा में मधु में मिलते हैं। शर्करा कई प्रकार की होती हैं। मधु में जो शर्करा मिलती है वह अत्यन्त पचनसुलभ, अविदाहि, उत्तेजक, पोषक, बल्य और हृद्य है; इसलिये अग्निमांद्य, ज्वर, वमन, तृषा, अम्लावस्था (Acidosic), विषमय अवस्था (Toxaemia), मधुमेह, श्रान्तावस्था, हृदयदौर्बल्य, हृदयावसाद (Collapse) इत्यादि अवस्थाओं में मधु बहुत ही लाभदायक प्रतीत हुई है। हृदय के लिये तो सांप्रत मधु शर्करा यानि ग्लूकोज एक प्रधान औषधि मानी जाती है, और रुग्णावस्था में हृदयदौर्बल्य को दूर करने के लिये इसका उपयोग होता है। मधु में जो अम्ल होते हैं उनके कारण वह कासश्वासादि श्वाससंस्थान के रोगों के लिये हितकर होता है। संखिया, अंजन (Antimony), विस्मय (Bismuth), क्लोरोफार्म (Chloroform) कार्बन टेट्रा क्लोराइड (Carbon tetra chloride) आदि विषैले पदार्थों का विषत्वहरण करने की शक्ति मधुशर्करा में है। पाश्चात्त्य वैद्यक में मधु शर्करा के उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ रहे हैं। उनको देखते हुए मधु के जो गुण धर्म यहाँ वर्णन किये हैं वे बहुत ही प्रशस्त मालूम होते हैं। आशा है कि आयुर्वेद में मधु के लिये जो ऊँचा स्थान दिया है वही स्थान पाश्चात्त्य चिकित्सा में भी थोड़े दिनों में मधु के लिये मिल जायगा। असली मधु में सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा जाय तो पुष्प पराग जरूर दिखाई पड़ते हैं।

पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च।
आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥१३३॥

(मधु के प्रकार—) १ पौत्तिक, २ भ्रामर, ३ क्षौद्र, ४ माक्षिक, ५ छात्र, ६ आर्घ्य, ७ औद्दालक, और ८ दाल ये मधु की आठ जातियाँ हैं ॥१३३॥

वक्तव्य—आठ प्रकार के मधु के लक्षण—१ **पौत्तिक लक्षण**—कृष्णा या मशकोपमा लघुतरा प्रायो महापीडिका वृद्धानां तरुकोटरान्तरगताः पुष्पासवं कुर्वते। तास्तज्ज्ञैरिह पूतिका निगदितास्ताभिः कृतं सर्पिषा तुल्यं यन्मधु तद्वनेचरजनैः संकीर्तितं पौत्तिकम् ॥ **(भावप्रकाश)**। महत्यः पिंगला यास्तु मक्षिकाः पुत्तिकाः स्मृताः। तद्भवं मधु पौत्तिकम्। २ **भ्रामर लक्षण**—किंचित् सूक्ष्मैः प्रसिद्धेभ्यः षट्पदेभ्योऽलिभिश्चितम्। निर्मलं स्फटिकाभं यत्तन्मधु भ्रामरं स्मृतम् ॥ **(भावप्रकाश)**। ३ **क्षौद्र लक्षण**—मक्षिकाः कपिलाः सूक्ष्मा क्षुद्राख्यास्तत् कृतं मधु। मुनिभिः क्षौद्रमित्युक्तं तद्वर्णात् कपिलं भवेत् ॥ ४ **माक्षिक लक्षण**—मक्षिकाः पिंगवर्णास्तु महत्यो मधुमक्षिकाः। ताभिः कृतं तैलवर्णं माक्षिकं परिकीर्तितम् ॥ ५ **छात्र लक्षण**—वरटाः कपिलाः पीताः प्रायो हैमवते वने। कुर्वन्ति छत्रकाकारं तज्जं छात्रं मधु स्मृतम् ॥ ६ **आर्घ्य लक्षण**—मधूकवृक्षनिर्यासं जरत्कार्वाश्रमोद्भवम्। स्रवंत्यार्घ्यं तदाख्यातं श्वेतकं मालवे पुनः ॥ तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीतवर्णाः षट्पदसन्निभाः। अर्घ्यास्तास्तत्कृतं यत्तदार्घ्यमित्यपरे जगुः ॥ ७ **औद्दालक लक्षण**—प्रायो वल्मीकमध्यस्थाः कपिला स्वल्पकीटकाः। कुर्वन्ति कपिलं स्वल्पं तत्स्यादौद्दालकं मधु ॥ ८ **दाल लक्षण**—संस्रुत्य पतितं पुष्पाद्यत्तु पत्रोपरि स्थितम्। मधुराम्लकषायं च तद्दालं मधु कीर्तितम् ॥ **(भावप्रकाश)**। इन्द्रनीलदलाकाराः सूक्ष्मा या मक्षिकाः शुभाः। वृक्षकोटरमध्यस्थास्तज्जं दालमुदाहृतम्। **चरकसंहिता में केवल चार प्रकार की मधु वर्णन की है**—माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं मधुजातयः।

विशेषात्पौत्तिकं तेषु रूक्षोष्णं सविषान्वयात्।
वातासृक्पित्तकृच्छेदि विदाहि मदकृन्मधु ॥१३४॥
पैच्छिल्यात् स्वादुभूयस्त्वाद्भ्रामरं गुरुसंज्ञितम्।
क्षौद्रं विशेषतो ज्ञेयं शीतलं लघु लेखनम् ॥१३५॥
तस्माल्लघुतरं रूक्षं माक्षिकं प्रवरं स्मृतम्।
श्वासादिषु च रोगेषु प्रशस्तं तद्विशेषतः ॥१३६॥
स्वादुपाकं गुरु हिमं पिच्छिलं रक्तपित्तजित्।
श्वित्रमेहकृमिघ्नं च विद्याच्छात्रं गुणोत्तरम् ॥१३७॥
आर्घ्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम्।
कषायं कटु पाके च बल्यं तिक्तमवातकृत् ॥१३८॥
औद्दालकं रुचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषापहम्।
कषायमुष्णमम्लं च पित्तकृत् कटुपाकि च ॥१३९॥
छर्दिमेहप्रशमनं मधु रूक्षं दलोद्भवम्।

(उनके गुण—) सविष मक्षिकाओं से संबंध रखने के कारण उक्त आठ प्रकारों में पौत्तिक मधु विशेषतया रूक्ष और उष्ण होता है तथा वातरक्तकर, पित्तकारक (मेदोग्रन्थ्यादि का) छेद करने वाला, विदाह और मदकारक होता है ॥१३४॥ भ्रामर मधु गाढ़ा और अत्यंत मीठा होने से भारी होता है। क्षौद्र मधु विशेष करके शीतल, हलका और लेखन है ॥१३५॥ माक्षिक मधु क्षौद्र से भी हलका और रूक्ष है; सबसे श्रेष्ठ है तथा श्वासादि रोगों में विशेषतया प्रशस्त होता है ॥१३६॥ छात्र मधु विपाक में मधुर, भारी, शीतल, पिच्छिल, रक्तपित्त, श्वेत कुष्ठ, प्रमेह और कृमि इनका नाशक तथा गुण में भी उत्तम होता है ॥१३७॥ आर्घ्य मधु नेत्रों के लिये अत्यंत हितकर, कफ पित्त का परम नाशक, कषाय, विपाक में कटु, बलकर तिक्त और किंचित् वातकर होता है ॥१३८॥ औद्दालक मधु रुचिकर, स्वर के लिये हितकर और कुष्ठ तथा विष का नाशक है। दाल मधु कषाय, उष्ण, अम्ल पित्तकर, विपाक में कटु, वमन तथा प्रमेह को शान्त करने वाला और रूक्ष होता है।

बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं सरम् ॥१४०॥
मेदःस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम्।
दोषत्रयहरं पक्वमाममम्लं त्रिदोषकृत् ॥१४१॥

नवीन मधु शरीरपुष्टिकर है, कफ का विशेष हरण नहीं करता है तथा मृदु विरेचक है ॥१४०॥ पुराना मधु मेद और स्थूलतानाशक, ग्राहि और अत्यंत लेखन है। पक्व मधु त्रिदोषों का नाशक है और आम मधु अम्ल और त्रिदोष प्रकोपक है ॥१४१॥

वक्तव्य—पुराना—एक साल से अधिक समय का—मधुनः शर्करायाश्च गुडस्यापि विशेषतः । एकसंवत्सरेऽतीते पुराणत्वं स्मृतं बुधैः ॥ (भावप्रकाश)। पक्क और आम—छत्ते में ही अधिक काल रहा हुआ मधु पक्क होता है और अल्पकाल तक रहा हुआ आम होता है।

तद्युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून् ।
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ॥१४२॥

वह मधु नाना प्रकार के योगों (के साथ प्रयोग करने) से अनेक रोगों का नाश करता है; और नाना (प्रकार के रस वीर्य प्रभावयुक्त) पुष्पों से उत्पन्न होने के कारण सर्वोत्तम योगवाही है ॥१४२॥

वक्तव्य—योगवाही—इस शब्द के कई अर्थ होते हैं। इनमें से निम्न अर्थ अधिक संमत है—जो द्रव्य विपरीत गुण युक्त अन्य द्रव्य के साथ मिलाने पर सेवक के समान उसी द्रव्य के गुणानुकारी कार्य करता है तथा उस द्रव्य को गुण का विरोध न करते हुए अपना भी कार्य किया करता है वह योगवाही कहलाता है। इसके विशेष विवरण के लिये अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय पंचम श्लोक ५२ की अरुणदत्त की टीका देखो या सिद्ध योग (वृन्दमाधव) में व्रणशोथचिकित्सा में श्रीकण्ठ की टीका देखो।

तत्तु नाना[1]विधानां रसगुणवीर्यविपाकविरुद्धानां पुष्पाणां[2] रससंभवत्वात् सविषमक्षिकासंभवत्वाच्चानुष्णोपचारम् ॥१४३॥

उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु ।
उष्णार्तमुष्णैरुष्णे वा तन्निहन्ति यथा विषम् ॥१४४॥
तत्सौकुमार्याच्च तथैव शैत्या-
न्नानौषधीनां रससंभवाच्च ।
उष्णैर्विरुध्येत विशेषतश्च
तथाऽन्तरीक्षेण जलेन चापि ॥१४५॥

रस, गुण, वीर्य और विपाक की दृष्टि से विरुद्ध नाना प्रकार के पुष्पों के रस से तथा विषयुक्त मक्खियों से उत्पत्ति होने के कारण वह मधु अनुष्णोपचार (किसी प्रकार की उष्णावस्था के साथ संबंध रखने के लिये अयोग्य) होता है ॥१४३॥ विष का संबंध होने से सर्व प्रकार का मधु उष्णविरुद्ध होता है। इसलिये उष्ण (अग्नि या सूर्य के ताप) से पीड़ित मनुष्य को, उष्ण द्रव्यों के साथ, उष्ण काल में देने से वह विष की भाँति (सेवन करने वाले का) नाश करता है ॥१४४॥ मधु सुकुमार, शीतल और नाना प्रकार के ओषधिरस से उत्पन्न होने के कारण उष्णता के साथ विशेष रूप से तथा आन्तरीक्ष जल से विरुद्ध होता है ॥१४५॥

उष्णेन मधु संयुक्तं वमनेष्ववचारितम् ।
अपाकादनवस्थानान्न विरुध्येत पूर्ववत् ॥१४६॥
मध्वामात्परतस्त्वन्यदामं कष्टं न विद्यते ।
विरुद्धोपक्रमत्वात्तत् सर्वं हन्ति यथा विषम् ॥१४७॥

इति मधुवर्गः ।

वमन के लिये उष्ण पदार्थों के साथ प्रयुक्त किया हुआ मधु परिपाक न होने के कारण तथा शरीर में न ठहरने के कारण विरुद्ध नहीं होता है ॥१४६॥ मधु की आमावस्था (अजीर्णावस्था) से अन्य और आमावस्था उतनी कष्टकर नहीं होती है; क्योंकि सर्व उपक्रम विरुद्ध होने से वह आमावस्था विष की भाँति प्राणनाशक होती है ॥१४७॥

वक्तव्य—विरुद्धोपक्रम—आमावस्था के लिये सेक उष्ण जलादि उष्णोपचार प्रशस्त होते हैं, परन्तु मधु के लिये वे ही उपचार अप्रशस्त होते हैं। अतः उपक्रमों का विरोध उत्पन्न हो जाता है। इस विरोध से रोग के लिये हितकर उपचार रोगी के लिये अहितकर होकर उपचार करने पर भी मृत्यु होने की संभावना होती है। तथा उपचार न करने से भी रोगी की स्थिति असाध्य हो जाती है । इति मधुवर्गः।

अथेक्षुवर्गः ।

इक्षवो मधुरा मधुरविपाका गुरवः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तप्रशमनाः कृमिकफकराश्चेति ॥१४८॥

सर्व प्रकार के गन्ने रस और विपाक में मधुर, गुरु, शीतल, स्निग्ध, बलकर, वृष्य, मूत्रल (Diuretic), रक्त पित्त प्रशामक, कृमि और कफ कारक होते हैं ॥१४८॥

ते चानेकविधाः । तद्यथा—

पौण्ड्रको भीरुकश्चैव वंशकः श्वेतपोरकः[1] ।
कान्तारस्तापसेक्षुश्च काष्ठेक्षुः[2] सूचिपत्रकः ॥१४९॥
नेपालो दीर्घपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकृत् ।
इत्येता जातयः स्थौल्याद्गुणान् वक्ष्याम्यतः परम् ॥१५०॥

(इक्षु के प्रकार—) वे कई प्रकार के होते हैं। जैसे कि—१ पौण्ड्रक, २ भीरुक, ३ वंशक, ४ श्वेतपोरक, ५ कान्तार, ६ तापसेक्षु, ७ काष्ठेक्षु, ८ सूचिपत्रक, ९ नेपाल, १० दीर्घपत्रक, ११ नीलपोर, और १२ कोशकृत् । गन्ने की इतनी जातियाँ प्रधानतया होती हैं। इसके आगे अब उनका वर्णन करते हैं ॥१४९,१५०॥

सुशीतो मधुरः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलः सरः ।
अविदाही गुरुर्वृष्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा ॥१५१॥
आभ्यां तुल्यगुणः किंचित्सक्षारो वंशको मतः ।
वंशवच्छ्वेतपोरस्तु किंचिदुष्णः स वातहा ॥१५२॥
कान्तारतापसाविक्षू वंशकानुगतौ मतौ ।
एवंगुणस्तु काष्ठेक्षुः स तु वातप्रकोपणः ॥१५३॥
सूचीपत्रो नीलपोरो नैपालो[3] दीर्घपत्रकः ।
वातलाः कफपित्तघ्नाः सकषाया विदाहिनः ॥१५४॥
कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयापहः ॥१५५॥

(उनके गुण—) पौण्ड्रक तथा भीरुक दोनों शीतल, मधुर, स्निग्ध, पुष्टिकर, कफकर, सर, अविदाहि, गुरु और वृष्य होते हैं ॥१५१॥ वंशक इन दोनों के तुल्य, किंचित् खारा होता है। श्वेतपोरक वंश के समानगुण, किंचित् उष्ण और वात-

---

[1] नानाद्रव्यरस वीर्य०. [2] पुष्परसानां सविष०.

[1] शतपोरकः. [2] काण्डेक्षुः. [3] नेपालो.

नाशक होता है ॥१५२॥ कान्तार और तापसेक्षु वंशक के समानगुण होते हैं । काष्ठेक्षु इन्हीं के समान गुण वाला परन्तु वातप्रकोपक होता है ॥१५३॥ सूचीपत्र, नीलपोर, नेपाल और दीर्घपत्रक वातकारक, कफपित्तनाशक, कषाय और विदाह उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥१५४॥ कोशकृत् गुरु, शीतल और रक्तपित्त तथा क्षय का नाशक है ॥१५५॥

अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव तु ।
अग्रेष्वक्षिषु विज्ञेय इक्षूणां लवणो रसः ॥१५६॥

गन्ना मूल की तरफ अति मधुर होता है; बीच में मधुर होता है; और अग्रभाग तथा गाँठों में (कुछ) खारा होता है ॥१५६॥

अविदाही कफकरो वातपित्तनिवारणः ।
वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः ॥१५७॥

दाँतों से दबा दबा कर निकाला हुआ गन्ने का रस अविदाही, कफकारक, वात और पित्त नाशक, मुख को प्रसन्न करने वाला तथा वृष्य होता है ॥१५७॥

गुरुर्विदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः ।
पक्वो गुरुः सरः स्निग्धः सतीक्ष्णः कफवातनुत् ॥१५८॥

यन्त्र (कोल्हू) का निकाला हुआ रस भारी, विदाह उत्पन्न करने वाला और पेट में विष्टम्भ (गुड़गुड़ शब्द) करने वाला होता है । अग्नि पर पकाया हुआ रस भारी, मृदु विरेचक, स्निग्ध, तीक्ष्ण, वात तथा कफ नाशक होता है ॥१५८॥

वक्तव्य—विदाही—द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात् । पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि ॥ यान्त्रिकरस विदाही होने के कारण वाग्भट लिखते हैं—मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसंकरात् । किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः । विदाहि गुरु विष्टम्भी तेनासौ ॥ (अष्टांगहृदय) ।

फाणितं गुरु मधुरमभिष्यन्दि बृंहणमवृष्यं त्रिदोषकृच्च ॥१५९॥

फाणित (राब या काकवी—) भारी, मधुर, अभिष्यन्दि, पुष्टिकर होती है, वृष्य नहीं है और त्रिदोषप्रकोपक है ॥१५९॥

गुडः सक्षारमधुरो नातिशीतः स्निग्धो मूत्ररक्तशोधनो नातिपित्तजिद्वातघ्नो मेदःकृमिकफकरो बल्यो वृष्यश्च ॥१६०॥

(अशुद्ध) गुड़ क्षारयुक्त मधुर है, अतिशीतल नहीं है, स्निग्ध है, मूत्र और रक्त शोधक है, पित्त का विशेष शमन करने वाला नहीं है, वातनाशक है, मेद, कृमि और कफ करने वाला है, बलकारक है तथा वृष्य है ॥१६०॥

पित्तघ्नो मधुरः शुद्धो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः ।
स पुराणोऽधिकगुणो गुडः पथ्यतमः स्मृतः ॥१६१॥

शुद्ध गुड़ वात और पित्त नाशक, मधुर तथा रक्त प्रसादन होता है । (एक वर्ष से अधिक काल का) पुराना गुड़ गुण में अधिक और अतिशय पथ्यकर होता है ॥१६१॥

मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धाः गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च ॥१६२॥

यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा तथा ।
स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा तथा ॥१६३॥

मत्स्यण्डिका (मीजाँ खाँड), खाँड और मिश्री अधिकाधिक विमल होती हैं; इसलिये उत्तरोत्तर शीतल, स्निग्ध, भारी, मधुर, वृष्य, रक्तपित्त प्रशमन और तृष्णा शान्त करने वाले होते हैं ॥१६२॥ जितनी जितनी निर्मलता इन भिन्न भिन्न शर्कराओं में अधिक होती है उतनी उतनी मधुरता, स्नेह, भारीपन, शीतलता और सरत्व भी अधिकाधिक होता है ॥१६३॥

यो यो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्कराणां स्वको गुणः ।
तेन तेनैव निर्देश्यस्तेषां विस्रावणो गुणः ॥१६४॥

मत्स्यण्डिका, खण्ड तथा शर्करा का जो जो अपना गुण होता है वही गुण उनके विस्रावण (बोल या उनकी उत्पत्ति के समय निकले हुए मल) में समझना चाहिये ॥१६४॥

सारस्थिता सुविमला निःक्षारा च यथा यथा ।
तथा तथा गुणवती विज्ञेया शर्करा बुधैः ॥१६५॥

शर्करा जितनी अधिक निर्मल होकर सार रूप और क्षार रहित होगी उतनी ही अधिक गुण युक्त होगी, यह वैद्यों को जानना चाहिये ॥१६५॥

मधुशर्करा पुनश्छर्द्यतीसारहरी रूक्षा छेदनी प्रसादनी कषायमधुरा मधुरविपाका च ॥१६६॥

मधुशर्करा—वमन और अतिसार को हरण करने वाली, रूक्षा, छेदनी, मन को प्रसन्न करने वालीरस और विपाक में कषायमधुर तथा मधुर होती है ॥१६६॥

यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरी सरा चेति ॥१६७॥

यवासशर्करा—मधुर, कषाय, अनुरस में तिक्त, श्लेष्मनाशक और मृदुविरेचक होती है ॥१६७॥

वक्तव्य—यवासशर्करा को अँग्रेजी में मना (Manna) कहते हैं । यवास (Alhagi Maurorum) नामक वृक्ष से जो निर्यास निकलता है वही यवासशर्करा किंवा तुरंजवीन है । कृत्रिम तौर पर यवासक्वाथ को घन करके भी शर्करा बनाई जाती है—यवासक्वाथपाकघनीभावाच्छर्करा कृता यवासशर्करा । (डल्हण) । इसमें कई प्रकार की शर्कराएँ (Cane Sugar, Mannite etc) मिश्र होती हैं ।

यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रणाशनाः ।
रक्तपित्तप्रशमनाश्छर्दिमूर्च्छातृषापहाः ॥१६८॥

ऊपर जितनी प्रकार की शर्कराएँ वर्णित हुई हैं वह सर्व दाह को नाश करती हैं, रक्तपित्त को शान्त करती हैं, वमन, मूर्च्छा और प्यास को दूर करती हैं ॥१६८॥

---

१ कफकृच्चाविदाही च रक्तपित्तनिबर्हण [illegible] दन्त-

२ सर्वा.

रूक्षं मधूकपुष्पोत्थं फाणितं वातपित्तकृत् ।
कफघ्नं मधुरं पाके कषायं बस्तिदूषणम् ॥१६९॥

इतीक्षुवर्गः ।

महुवे के फूलों से बनी हुई राब रूक्ष, वात और पित्तकारक, कफनाशक, विपाक में मधुर, कषाय और मूत्र दूषक होती है ॥१६९॥

वक्तव्य—आज कल खजूर, बीट रूट (Beat Root) आदि कई वृक्षों से शर्करा बनाई जाती है, परन्तु सब में रासायनिक दृष्टि से एक ही द्रव्य (Saccharose) होता है । इति इक्षुवर्गः ।

अथ मद्यवर्गः ।

सर्वं पित्तकरं मद्यमम्लं रोचनदीपनम् ।
भेदनं कफवातघ्नं हृद्यं बस्तिविशोधनम् ॥१७०॥
पाके लघु विदाह्युष्णं तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनम् ।
विकासि सृष्टविण्मूत्रं शृणु तस्य विशेषणम् ॥१७१॥

(मद्य के गुण—) सर्व प्रकार का मद्य पित्तकारक, अम्ल, रुचि उत्पन्न करने वाला, अग्निदीपक, विरेचक, कफवात नाशक, हृदय के लिये हितकर (अथवा मन को आनंद देने वाला), मूत्रशोधक ॥१७०॥ पचन के लिये हलका, दाह उत्पन्न करने वाला, गरम, तीक्ष्ण, ज्ञानेन्द्रिय को उत्तेजना देने वाला, संधिबंधविमोचक तथा मूत्र और मल को खुलकर लाने वाला होता है । (अब) इसके विशेष (भेदों का वर्णन) श्रवण करो ॥१७१॥

वक्तव्य—मद्य में लवण के अतिरिक्त शेष पाँच रस होते हैं परन्तु अम्लरस की उत्कटता होने से केवल अम्लरस का ही यहाँ निर्देश किया है—मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः । मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च ॥ गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः । सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति ॥ (चरक) । हृद्य—हृदय रक्तपरिभ्रमण तथा मन दोनों का ही स्थान है—रसधात्वादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् । प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥ (चरक) । मद्य दोनों के लिये प्रशस्त होता है । इन्द्रियबोधन—अल्प मात्रा में सेवन करने पर मद्य यह कार्य करता है—प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः । वाद्यगीतप्रहासानां कथानां च प्रवर्तकः ॥ (चरक) । विशेषणम्—प्रत्येक प्रकार के मद्य के विशेष गुणधर्म उस मद्य के प्रधान द्रव्य के गुणधर्म पर, उसमें पड़ने वाले भिन्न भिन्न द्रव्यों पर तथा उसमें उत्पन्न होने वाले अलकोहोल (Alcohol) की राशि पर निर्भर होते हैं ।

मार्द्वीकमविदाहित्वान्मधुरान्वयतस्तथा ।
रक्तपित्तेऽपि सततं बुधैर्न प्रतिषिध्यते ॥१७२॥
मधुरं तद्धि रूक्षं च कषायानुरसं लघु ।
लघुपाकि सरं शोषविषमज्वरनाशनम् ॥१७३॥

द्राक्षा का मद्य—अविदाहि और मधुररसोत्पन्न होने से रक्तपित्त में भी सदैव (सेवन करने के लिये) वैद्य लोग इसका निषेध नहीं करते हैं ॥१७२॥ वह मद्य मधुर, रूक्ष, अनुरस में कषाय, हलका, विपाक में हलका, मृदुविरेचक, शोष और विषम ज्वर का नाशक होता है ॥१७३॥

मार्द्वीकाल्पान्तरं किंचित् खार्जूरं वातकोपनम् ।
तदेव विशदं रुच्यं कफघ्नं कर्शनं लघु ॥१७४॥
कषायमधुरं हृद्यं सुगन्धीन्द्रियबोधनम् ।

(खार्जूरमद्य—) छुहारे से बनाया हुआ मद्य द्राक्षा के मद्य से गुण में थोड़ा कम, किंचित् वातप्रकोपक, विशद, रुचिकारक, कफनाशक, कृशताकारक, हलका ॥१७४॥ कषाय और मधुर रस युक्त, हृद्य, सुगंधित और इन्द्रियबोधन है ।

कासार्शोग्रहणीदोषमूत्राघातानिलापहा ॥१७५॥
स्तन्यरक्तक्षयहिता सुरा बृंहणदीपनी ।

सुरा—खाँसी, बवासीर, ग्रहणी रोग, मूत्राघात और वात इनकी नाशक, स्तन्य और रक्त के क्षय में हितकर, शरीरपुष्टिकर तथा अग्निदीपक होती है ।

छर्द्यरोचकहृत्कुक्षितोदशूलप्रमर्दनी ॥१७६॥
प्रसन्ना कफवातार्शोविबन्धानाहनाशनी ।

प्रसन्ना (सुरामण्ड)—वमन, अरुचि, हृदय तथा कुक्षि की वेदना और शूल, कफ, वात, बवासीर, मलावरोध और अफारा इनको नाश करती है ।

कासार्शोग्रहणीश्वासप्रतिश्यायविनाशनी ॥१७७॥
श्वेता मूत्रकफस्तन्यरक्तमांसकरी सुरा ।

श्वेतवर्ण की सुरा—कास, अर्श, ग्रहणी, श्वास और जुकाम इनका नाश करती है और मूत्र, कफ, स्तन्य (दूध), रक्त और मांस इनकी वृद्धि करती है ।

पित्तलाऽल्पकफा रूक्षा यवैर्वातप्रकोपणी ॥१७८॥
विष्टम्भिनी सुरा गुर्वी श्लेष्मला[1] तु मधूलिका ।
रूक्षा नातिकफा वृष्या पाचनी चाक्षिकी स्मृता ॥१७९॥

यवसुरा—पित्तकारक, अल्प कफ करने वाली, रूक्ष और वातप्रकोपक होती है ॥१७८॥ मधूलिका नामक सुरा—विष्टम्भ करने वाली, भारी और कफकारक होती है । बहेड़े की सुरा—रूक्ष, अल्प कफकारक, वृष्य और पाचक होती है ॥१७९॥

वक्तव्य—मधूलिका—स्वल्पगोधूमो मध्यदेशे पीशीकेति ख्याता, मर्कट—हस्ततृणं वा, तत्फलकिण्वं मधूलकं, मधूकपुष्पोत्थमिति जेज्झटः । (डल्हणटीका) ।

त्रिदोषो भेद्यवृष्यश्च कोहलो वदनप्रियः ।

कोहल (यवसक्तुकृत) सुरा—त्रिदोषकारक, भेदी, अवृष्य और रुचिकर होती है ।

ग्राह्युष्णो जगलः पक्वा रूक्षस्तृट्कफशोफकृत् ॥१८०॥
हृद्यः प्रवाहिकाऽऽटोपदुर्नामानिलशोषहृत् ।

जगल (मद्य का नीचे का भाग—) ग्राही, उष्ण, पाचक, रूक्ष, तृषानाशक, कफहारक, (लेपन करने से) शोथनाशक, प्रवाहिका, मलावरोध, अर्श, वात और शोष इनका नाशक है ।

बक(क्क)सो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी वातकोपनः ॥१८१॥
दीपनः सृष्टविण्मूत्रो विशदोऽल्पमदो गुरुः ।

---

[1] श्लेष्मलं तु मधूलकम्.

बक्कस (सुराकल्क—) सार निकल जाने से विष्टम्भजनक, वातप्रकोपक, अग्निदीपक, मलमूत्र उत्सर्जक,. विशद, अल्प नशा करने वाला और भारी होता है ।

अथ सीधुः ।

कषायो मधुरः सीधुर्गौडः पाचनदीपनः ॥१८२॥
शार्करो मधुरो रुच्यो दीपनो वस्तिशोधनः ।
वातघ्नो मधुरः पाके हृद्य इन्द्रियबोधनः ॥१८३॥

गुड़ की सीधु (एक प्रकार का मद्य)—कषाय, मधुर और पाचन दीपन होती है ॥१८२॥ शर्करासीधु—मधुर, रुचिकर, दीपन, मूत्रशोधक, वातनाशक, विपाक में मधुर, हृदय के लिये हितकर और इन्द्रियबोधक होती है ॥१८३॥

तद्वत् पक्वरसः सीधुर्बलवर्णकरः सरः ।
शोफघ्नो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्मार्शसां हितः ॥१८४॥
कर्शनः शीतरसिकः श्वयथूदरनाशनः ।
वर्णकृज्जरणः स्वर्यो विबन्धघ्नोऽर्शसां हितः ॥१८५॥

गन्ने के पके रस की सीधु—बलकारक, वर्ण बढ़ाने वाली, मृदुविरेचक, शोथनाशक, अग्निदीपक, हृद्य, रुचिकारक, कफ और अर्श के लिये हितकर होती है ॥१८४॥ गन्ने के कच्चे रस की सीधु—शरीर को कृश करने वाली, शोथ और उदर की नाशक, कान्ति बढ़ाने वाली, आहार का पचन कराने वाली, स्वर के लिये हितकर, मलावरोध को दूर करने वाली और अर्श के लिये हितकर होता है ॥१८५॥

आक्षिकः पाण्डुरोगघ्नो व्रण्यः संग्राहको लघुः ।
कषायमधुरः सीधुः पित्तघ्नोऽसृक्प्रसादनः ॥१८६॥

बहेड़े की सीधु—पाण्डुरोगनाशक, व्रण के लिये हितकर, संग्राही, हलकी, कषाय और मधुर, पित्तनाशक और रक्तप्रसादन करने वाली होती है ॥१८६॥

जाम्बवो बद्धनिष्यन्दस्तुवरो वातकोपनः ।

जामुन की सीधु—मूत्रसंग्राही (मूत्र की राशि कम करने वाली), कषाय और वातप्रकोपक होती है ।

अथ आसवः ।

तीक्ष्णः सुरासवो हृद्यो मूत्रलः कफवातनुत् ।
मुखप्रियः स्थिरमदो विज्ञेयोऽनिलनाशनः ॥१८७॥

सुरासव—तीक्ष्ण, मन को आनन्ददायक, मूत्रल, कफ और वात हर, मुख को प्रिय, अधिक काल तक मद उत्पन्न करने वाला और वातनाशक होता है ॥१८७॥

वक्तव्य—सुरासव—सुरया सूयते तोयकार्यं क्रियते यस्मिन् स सुरासवः । (डल्हण) ।

लघुर्मध्वासवश्छेदी मेहकुष्ठविषापहः ।
तिक्तः कषायः शोफघ्नस्तीक्ष्णः स्वादुरवातकृत् ॥१८८॥

मधु का आसव—छेदी, मेह, कुष्ठ और विष-का हारक, तिक्त, कषाय, शोथनाशक, तीक्ष्ण, मधुर और वात न करने वाला होता है ॥१८८॥

तीक्ष्णः कषायो मदकृद्दुर्नामकफगुल्महृत् ।
मैरेयो मधुरो गुरुः ॥१८९॥

मैरेय मद्य—तीक्ष्ण, कषाय, मदकारक, अर्श, कफ और गुल्म नाशक, कृमि, मेद और वातहर, मधुर तथा गुरु होता है ॥१८९॥

वक्तव्य—मैरेय—आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने । संधानं तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम् ॥

बल्यः पित्तहरो वर्ण्यो हृद्यश्चेक्षुरसासवः[1] ॥१९०॥

इक्षुरसासव—बलकर, पित्तनाशक, शरीर का वर्ण बढ़ाने वाला और हृद्य होता है ॥१९०॥

शीधुर्मधूकपुष्पोत्थो विदाह्यग्निबलप्रदः ।
रूक्षः कषायः[2] कफहृद्वातपित्तप्रकोपणः ॥१९१॥
निर्दिशेद्रसतश्चान्यान्कन्दमूलफलासवान् ।

महुवे के पुष्पों का आसव—दाह पैदा करता है, जठराग्नि और बल का बढ़ाने वाला है, रूक्ष है, कषाय है, कफनाशक है और वात तथा पित्त का प्रकोप करने वाला है ॥१९१॥ (इनके अतिरिक्त) कंद, मूल और फलों के जो अन्य आसव होते हैं वे (कन्द, मूलादि के) रसानुसार (गुणकारक) समझने चाहिये ।

नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरु वातादिकोपनम् ।
अनिष्टगन्धि विरसमहृद्यं च विदाहि च ॥१९२॥

नवीन मद्य (एक वर्ष से कम पुराना)—अभिष्यन्दि, भारी, वातपित्त कफ प्रकोपक, अप्रियगन्धयुक्त, योग्य रस रहित, मन को प्रिय न होने वाला और विदाहजनक होता है ॥१९२॥

सुगन्धि दीपनं हृद्यं रोचिष्णु कृमिनाशनम् ।
स्फुटस्रोतस्करं जीर्णं लघु वातकफापहम् ॥१९३॥

पुराना मद्य—सुगंध युक्त, अग्निदीपक, मन को प्रिय होने वाला, रुचिकारक, कृमिनाशक, स्रोतोविकासी, हलका तथा वात और कफ हर होता है ॥१९३॥

अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः ।
बहुदोषहरश्चैव दोषाणां शमनश्च सः ॥१९४॥
दीपनः कफवातघ्नः सरः पित्ताविरोधनः ।
शूलाध्मानोदरप्लीहज्वराजीर्णार्शसां हितः ॥१९५॥

अरिष्ट (अभयाचित्रकादि) द्रव्यों का संयोग होने के कारण तथा (अनेक) संस्कार होने के कारण अधिक गुणकारक होता है, अनेक व्याधियों का नाशक होता है और (वातादि) दोषों को शांत करने वाला है ॥१९४॥ वह दीपक है, (विशेषतया) कफ और वात का नाश करता है, मृदुविरेचक है, पित्त का थोड़ा हरण करता है तथा शूल, आध्मान, उदर, प्लीहावृद्धि, ज्वर, अजीर्ण और अर्श इनके लिये हितकर होता है ॥१९५॥

पिप्पल्यादिकृतो गुल्मकफरोगहरः स्मृतः ।
चिकित्सितेषु वक्ष्यन्तेऽरिष्टा रोगहराः पृथक् ॥१९६॥

पिप्पल्यादि गण से बनाया हुआ अरिष्ट गुल्म और कफनाशक होता है । रोगहर अन्य अरिष्ट चिकित्सास्थान में पृथक् पृथक् (रोग के वर्णन के समय) वर्णन किये जाएँगे ॥१९६॥

अरिष्टासवसीधूनां गुणान् कर्माणि चादिशेत् ।

---

[1] मृद्वीकेक्षुरसासवः. [2] कषायंकफ०.

बुद्ध्या यथास्वं संस्कारमवेक्ष्य कुशलो भिषक् ॥१९७॥

भिन्न भिन्न अरिष्ट, आसव और सीधु इनके गुण तथा कर्म बुद्धिमान् वैद्य उनमें उपस्थित होने वाले द्रव्य तथा उन पर किये हुए संस्कार इनको देखकर अपनी बुद्धि से समझ ले ॥१९७॥

सान्द्रं विदाहि दुर्गन्धं विरसं कृमिलं गुरु।
अहृद्यं तरुणं तीक्ष्णमुष्णं दुर्भाजनस्थितम् ॥१९८॥
अल्पौषधं पर्युषितमत्यच्छं पिच्छिलं च यत्।
तद्वर्ज्यं सर्वदा मद्यं किंचिच्छेषं च यद्भवेत् ॥१९९॥

(दोष युक्त मद्य—) जो मद्य घन (गाढ़ा), विदाह करने वाला, दुर्गंधयुक्त, विरस, कृमियुक्त, भारी, दिल को पसंद न होने वाला, ताजा, तीक्ष्ण, गरम, खराब पात्र में रक्खा हुआ ॥१९८॥ मात्रा से कम ओषधियों से बना हुआ, बासी (खुले पात्र में कुछ समय तक रक्खा हुआ), जलवत् निर्मल, पिच्छिल तथा पात्र के तल में थोड़ा बचा हुआ है, ऐसा मद्य सर्वदा वर्ज्य समझना चाहिये ॥१९९॥

तत्र यत् स्तोकसम्भारं तरुणं पिच्छिलं गुरु।
कफप्रकोपि तन्मद्यं दुर्जरं च विशेषतः ॥२००॥
पित्तप्रकोपि बहलं तीक्ष्णमुष्णं विदाहि च।
अहृद्यं पेलवं पूति कृमिलं विरसं च यत् ॥२०१॥
तथा पर्युषितं चापि विद्यादनिलकोपनम्।
सर्वदोषैरुपेतं तु सर्वदोषप्रकोपणम् ॥२०२॥

इनमें से जिसमें ओषधियों की राशि या संख्या कम होती है ऐसा मद्य, ताजा, पिच्छिल और भारी मद्य कफप्रकोपक और विशेष करके पचन में कठिन होता है ॥२००॥ जो मद्य घन, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाहजनक होता है वह पित्तप्रकोपक है। जो मद्य अहृद्य, स्वच्छ, पिच्छिल, कृमियुक्त, विरस ॥२०१॥ तथा बासी होता है वह वातप्रकोपक है। और सर्व दोष युक्त मद्य सर्व दोषों का प्रकोपक होता है ॥२०२॥

चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफवातजित्।
रुच्यं प्रसन्नं सुरभि मद्यं सेव्यं मदावहम् ॥२०३॥

पुराना, जिसमें रस उत्पन्न हुआ है ऐसा, अग्निदीपक, कफवातहर, रुचिकर, मन प्रसन्न करने वाला, सुगंधयुक्त तथा यथोचित नशा उत्पन्न करने वाला मद्य सेवन करना चाहिये ॥२०३॥

तस्यानेकप्रकारस्य मद्यस्य रसवीर्यतः।
सौक्ष्म्यादौष्ण्याच्च तैक्ष्ण्याच्च विकासित्वाच्च वह्निना२०४
समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम्।
विक्षोभ्येन्द्रियचेतांसि वीर्यं मदयतेऽचिरात् ॥२०५॥

रस और वीर्य की दृष्टि से इस भिन्न भिन्न प्रकार के मद्य का वीर्य जठराग्नि के साथ मिलकर हृदय में प्राप्त हो जाता है और वहाँ से ऊर्ध्वगामी धमनियों से होकर अपने सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण और विकासि गुणों के कारण इन्द्रियों और चित्त को विक्षोभित करके शीघ्र ही मनुष्य को मदयुक्त करता है ॥२०४,२०५॥

वक्तव्य—मद की तीन अवस्थाएँ होती हैं:—१ हर्षणावस्था (Stage of excitement), २ प्रलापावस्था (Stage of delirium), ३ विसंज्ञावस्था (Stage of narcosis)। त्र्यवस्थश्च मदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः। पूर्वे वीर्यरतिप्रीतिहर्षभाष्यातिवर्धनम् ॥ प्रलापो मध्यमे मोहो युक्तायुक्तक्रियास्तथा। विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुणः ॥ (सुश्रुत)। मद का विशेष वर्णन उत्तरतन्त्र के पानात्ययप्रतिषेध अध्याय में किया गया है।

चिरेण श्लैष्मिके पुंसि पानतो जायते मदः।
अचिराद्वातिके दृष्टः पैत्तिके शीघ्रमेव तु ॥२०६॥

मद्यसेवन से कफप्रकृति मनुष्य को देर से नशा होता है, वातप्रकृति मनुष्य को थोड़ी देर से होता है, और पित्त-प्रकृति मनुष्य को शीघ्र ही हो जाता है ॥२०६॥

सात्त्विके शौचदाक्षिण्यहर्षमण्डनलालसः।
गीताध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहकृन्मदः ॥२०७॥
राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागं ससाहसम्।
कलहं सानुबन्धं तु करोति पुरुषे मदः ॥२०८॥
अशौचनिद्रामात्सर्यागम्यागमनलोलताः।
असत्यभाषणं चापि कुर्याद्धि तामसे मदः ॥२०९॥

सात्त्विक मनुष्य में उत्पन्न हुआ मद पावित्र्य, परानुकूलवृत्ति, हर्ष और शरीर सुशोभित करने की इच्छा उत्पन्न करता है; तथा गायन, अध्ययन, अपने नाम के लिये योग्य काम करना और मैथुन इन बातों में उत्साह उत्पन्न करता है ॥२०७॥ राजस प्रकृति के मनुष्य में मद्य का मद दुःखशीलता, आत्मनाशक कर्म, साहस कर्म, निरंतर कलह करने की प्रवृत्ति करता है ॥२०८॥ तामसप्रकृति के मनुष्य में मद्य का मद अपवित्रता, मात्सर्य, अगम्य स्त्रियों के साथ सहवास करने की इच्छा और असत्य भाषण (करने की प्रवृत्ति) उत्पन्न करता है ॥२०९॥

वक्तव्य—संसार में प्रायः सब लोग अपना व्यवहार आभ्यन्तरीय प्रवृत्ति को रोककर रूढ़ि और बाह्य समाज की दृष्टि से किया करते हैं। मद्य सेवन करने पर बाह्य जगत् का उसका बंधन कुछ नष्ट हो जाता है और मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार सर्व व्यवहार किया करता है—मदेन करणानां तु भावान्यत्वे कृते सति। निगूढमपि भावं स्वं प्रकाशीकुरुतेऽवशः ॥ (सुश्रुत)। इसी कारण से चरकसंहिता में मद्य को 'प्रकृतिदर्शक' कहा है—सत्त्वसंबोधकं हर्षं मोहप्रकृतिदर्शकम्। हुताशः सर्वसत्त्वानां मद्यं तूभयकारकम् ॥ प्रधानावरमध्यानां रूपाणां व्यक्तिदर्शकः। यथाग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ॥ वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि प्रकृति भेद के अनुसार मद्य के मद में भी भेद होता है—Infact the effects depend upon the nature of the environment and on the inherent mentality of the individual and would produce quite diverse Symptoms on different persons and different effects on the same individual under different conditions. Owing to a certain degree of freedom from restraint, the person will be talkative, boisterous, sentimental or

---

१ फेनिलं.

lancholic according to the individual peculiarities. *Ghosh's Materia Medica and Therapeutics.* साहस—मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् । पारुष्यमनृतं चैव साहसं पंचधा स्मृतम् ॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदि भुक्तविपाचनम् ।
वैस्वर्यं जरणं श्लेष्मपाण्डुक्रिमिहरं लघु ॥२१०॥
तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च ।
तद्वत्तदासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्त रक्तपित्तकारक, छेदि, भोजन का पचाने वाला, स्वर भंगकारक, आमपाचक, कफ, पाण्डुरोग और कृमि का नाशक तथा हलका है ॥२१०॥ शुक्त के अनुसार शुक्त संधित (कन्दादिक) तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रल, हृद्य, कफनाशक, विपाक में कटु और विशेषतया रुचिकारक होते हैं ॥२११॥

वक्तव्य—शुक्त—यन्मस्त्वादि शुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्र-काञ्जिकम् । धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते ॥

गौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च ।
यथापूर्वं गुरुतराण्यभिष्यन्दकराणि च ॥२१२॥

गौड़ के शुक्त, रस के शुक्त और मधु के शुक्त जितने हैं वे व्युत्क्रम से अधिकाधिक भारी और अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले हैं ॥२१२॥

वक्तव्य—गुडशुक्त—गुडांबुना सतैलेन संधानं काञ्जिकं तु यत् । कन्दशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥ **मधुशुक्त—**जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम् । मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् । त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥ **यथापूर्व—**गुडशुक्त सब से अधिक भारी और अभिष्यन्दकर तथा मधुशुक्त सब से हलका और कम अभिष्यन्दकर ।

तुषाम्बु दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत् ।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं भेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥

तुषोदक—अग्निदीपक, हृद्य, हृद्रोग, पाण्डुरोग, कृमिरोग, ग्रहणी और अर्श इन रोगों का नाशक तथा भेदी होता है । सौवीरक भी गुणों में ऐसा ही होता है ॥२१३॥

वक्तव्य—तुषाम्बु—तुषाम्बु संधितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः । यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं संधित भवेत् ॥ (शार्ङ्गधर) ।

धान्याम्लं धान्ययोनित्वाज्जीवनं दाहनाशनम् ।
स्पर्शात्पानात्तु पवनकफतृष्णाहरं लघु ॥२१४॥
तैक्ष्ण्याच्च निर्हरेदाशु कफं, गण्डूषधारणात् ।
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोषक्लमापहम् ॥२१५॥
दीपनं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च ।
समुद्रमाश्रितानां च जनानां सात्म्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मद्यवर्गः ।

धान्याम्ल (शालिकोद्रव आदि)—धान्यजन्य होने से प्राणधारक, स्पर्श करने से (क्षारजन्य) दाहनाशक, सेवन करने से वात, कफ और तृष्णा नाशक तथा लघु है ॥२१४॥ तीक्ष्ण होने से शीघ्र ही कफहर होता है, कुल्ला करने से मुख की विरसता, दुर्गन्ध, मल, शुष्कता और क्लम इनका नाश करता है ॥२१५॥ अग्निदीपक है, पाचक है, विरेचक है, आस्थापन बस्ति के लिये हितकर है और समुद्रतटनिवासी मनुष्यों के लिये सात्म्य (अनुकूल) होता है ॥२१६॥ इति मद्यवर्गः ।

अथ मूत्राणि ।

अथ मूत्राणि गोमहिषाजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्तानि लवणानुरसानि लघूनि शोधनानि कफवातकृमिमेदोविषगुल्मार्शउदरकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः ॥२१७॥

भवतश्चात्र—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु ।
शोधनं कफवातघ्नं कृमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥
अर्शोजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम् ।
पाण्डुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

गौ, भैंस, बकरी, भेड़ी, हाथी, घोड़ा, गधा और ऊंट इनके मूत्र सामान्यतया, तीक्ष्ण, उष्ण, कटुरस, तिक्तरस, अनुरस में लवण, हलके, मलशुद्धिकर, कफ, वात, कृमि, मेद, विष, गुल्म, अर्श, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरोचक और पाण्डुरोग इनको दूर करने वाले, हृद्य तथा अग्निदीपक होते हैं ॥२१७॥ सर्व मूत्र कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, अनुरस में लवण, हलके, मलशोधक, कफवातनाशक, कृमि, मेद और विष इनको हरण करने वाले ॥२१८॥ अर्श, गुल्म, उदर, शोथ, अरोचक, पाण्डुरोग इनके नाशक, विरेचक, हृद्य और दीपन पाचन हैं ॥२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षारत्वान्न वातलम् ।
लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तलं कफवातजित् ॥२२०॥
शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।
मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गोमूत्र—कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षारयुक्त होने से वातप्रकोप न करने वाला, हलका, अग्निदीपक, मेधाजनक (या पवित्र), पित्तकारक और कफवातहर है ॥२२०॥ शूल, गुल्म, उदर, आनाह इन रोगों में, विरेचन और आस्थापनबस्ति में तथा मूत्र प्रयोग से साध्य (सब विकारों में तथा कार्यों में) गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥२२१॥

दुर्नामोदरशूलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।
आनाहशोफगुल्मेषु पाण्डुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥

भैंस का मूत्र—अर्श, उदर, शूल, कुष्ठ, प्रमेह, (वमनादि की) ठीक प्रवृत्ति न होने की अवस्था, अफारा, शोथ, गुल्म और पाण्डुरोग इनमें प्रशस्त होता है ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।
कटुतिक्तान्वितं छागमीषन्मारुतकोपनम् ॥२२३॥

बकरी का मूत्र—कास और श्वास हर, शोथ, कामला और पाण्डुरोगनाशक, कटु और तिक्तरसयुक्त तथा किंचित् वातप्रकोपक होता है ॥२२३॥

कासप्लीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।
सक्षारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाविकम् ॥२२४॥

भेड़ी का मूत्र—कास, प्लीहा की वृद्धि, श्वास, राजयक्ष्मा, मलावरोध इनमें हितकर, क्षारयुक्त, तिक्त और कटुरसयुक्त, उष्ण और वातनाशक है ॥२२४॥

दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं वातचेतोविकारनुत् ।
आश्वं कफहरं मूत्रं कृमिदद्रुषु शस्यते ॥२२५॥

घोड़ी का मूत्र—अग्निदीपक, कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण, वात तथा मानसिक रोगों का नाशक, कफहर, कृमि और दद्रु (दाद) के लिये प्रशस्त है ॥२२५॥

सतिक्तं लवणं भेदि वातघ्नं पित्तकोपनम् ।
तीक्ष्णं क्षारे किलासे च नागं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हथिनी का मूत्र—तिक्त और लवणरसयुक्त, विरेचक, वातनाशक, पित्तप्रकोपक और तीक्ष्ण है तथा क्षार और किलास (श्वेत) कुष्ठ के लिये उपयोगी होता है ॥२२६॥

गरचेतोविकारघ्नं तीक्ष्णं ग्रहणिरोगनुत् ।
दीपनं गार्दभं मूत्रं कृमिवातकफापहम् ॥२२७॥

गधी का मूत्र—विषनाशक, (उन्मादादि) मानसिक विकारनाशक, तीक्ष्ण, ग्रहणीनाशक, अग्निदीपक, कृमि, वात और कफ नाशक होता है ॥२२७॥

शोफकुष्ठोदरोन्मादमारुतक्रिमिनाशनम् ।
अर्शोघ्नं कारभं मूत्रं मानुषं च विषापहम् ॥२२८॥

इति मूत्राणि ।

ऊँटनी का मूत्र शोथ, कुष्ठ, उदर, उन्माद, वात, कृमि और अर्श इनका नाशक होता है । मनुष्य का मूत्र विषनाशक होता है ॥२२८॥

वक्तव्य—मूत्र प्रायः स्त्रीजाति का ही प्रयुक्त होता है । परन्तु कई आचार्य पहले चार मूत्र स्त्रीजाति के और अन्तिम चार मूत्र पुरुषजाति के प्रशस्त मानते हैं—गोजाविमाहिषीणां तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते । खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥ (भावप्रकाश) ।

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि समासात् कीर्तितानि तु ।
कालदेशविभागज्ञो नृपतेर्दातुमर्हति ॥२२९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो
नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४५॥

(इस अध्याय में) सर्व द्रवपदार्थ संक्षेप से वर्णन किये गये हैं । उनको काल और देश विभाग का योग्य ज्ञानी वैद्य राजा के लिये भी दे सकता है ॥२२९॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम
पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४५॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से अन्नपानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—अन्नपानविधि—शाल्यादि अन्न, इनका सेवन करने के पश्चात् पीने के विविध द्रव्य तथा आहारविधि इसका वर्णन जिसमें किया है, ऐसा अध्याय ।

धन्वन्तरिमभिवाद्य सुश्रुत उवाच—प्रागभिहितः प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च, स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयिणः, द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकनिमित्ते च क्षयवृद्धी[1] दोषाणां साम्यं च, ब्रह्मादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः, आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्यं वर्णेन्द्रियप्रसादश्च, तथा ह्याहारवैषम्यादस्वास्थ्यं; तस्याशितपीतलीढखादितस्य नानाद्रव्यात्मकस्यानेकविधविकल्पस्यानेकविधप्रभावस्य पृथक् पृथग्द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकप्रभावकर्माणीच्छामि ज्ञातुं, न ह्यनवबुद्धस्वभावा भिषजः स्वस्थानुवृत्तिं रोगनिग्रहणं च कर्तुं समर्थाः; आहारायत्ताश्च सर्वप्राणिनो यस्मात्तस्मादन्नपानविधिमुपदिशतु मे भगवान् ! इत्युक्तः प्रोवाच भगवान् धन्वन्तरिः—अथ खलु वत्स सुश्रुत ! यथाप्रश्नमुच्यमानमुपधारयस्व—॥२॥

धन्वन्तरि भगवान् को प्रणाम करके महर्षि सुश्रुत बोले कि (हे भगवन् ! आपने) पहले (अध्याय में) वर्णन किया है कि प्राणियों के बल, वर्ण और ओज का मूल आहार है । वह छः रसों के अधीन है और रस फिर द्रव्यों के अधीन होते हैं । दोषों की क्षय वृद्धि तथा समता द्रव्यों के रस, वीर्य, गुण और विपाक के कारण ही हुआ करती है । ब्रह्मादि लोक की भी स्थिति, उत्पत्ति और विनाश का कारण आहार ही है । आहार ही से शरीर की वृद्धि, बल, आरोग्य, वर्ण और इन्द्रियों की प्रसन्नता उत्पन्न होती है; और आहार की विषमता (न्यूनता, अधिकता और अयोग्यता) से रोग उत्पन्न होते हैं । जिसमें भोज्य (जिसके लिये विशेष चर्वण की आवश्यकता नहीं होती ऐसे पदार्थ, यथा—भात, मोदक इत्यादि), पेय (दूध, रस इत्यादि), लेह्य (चाटने के पदार्थ, यथा—अवलेह, श्रीखंड इत्यादि), और भक्ष्य (जिसके लिये विशेष चर्वण की आवश्यकता होती है, यथा—लड्डू आदि) ऐसे चार प्रकार होते हैं; जो नाना द्रव्यों से बना हुआ है, जिसमें खाद्य के नाना प्रकार होते हैं, और जिसके सेवन से शरीर में बहुविध शक्ति उत्पन्न होती है ऐसे आहार के पृथक् पृथक् द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक और कर्म इनको जानने की मैं इच्छा करता हूँ; क्योंकि (आहार के लिये प्रयुक्त होने वाले विविध द्रव्यों का रसवीर्य विपाकादि ठीक ठीक) स्वरूप जो नहीं जानते हैं वे स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य का रक्षण और व्याधित लोगों को व्याधिपरिमोक्ष करने में असमर्थ होते हैं । जो कि समस्त जीवमात्र का मूल आहार है, इसलिये हे भगवन् ! मुझे अन्नपानविधि का ही उपदेश कीजिए । इस प्रकार सुश्रुत के पूछने पर भगवान् धन्वन्तरि बोले कि हे वत्स सुश्रुत ! तेरे प्रश्न के अनुसार ही मैं जो वर्णन करता हूँ तू उसे श्रवण और धारण कर ॥२॥

---

[1] क्षयवृद्धिर्दो०.

अथ शालिवर्गः ।

तत्र, लोहितशालिकलमकर्दमकपाण्डुकसुगन्धकशकुनाहृतपुष्पाण्डकपुण्डरीकमहाशालिशीतभीरुकरोध्रपुष्पकदीर्घशूककाञ्चनकमहिषमहाशूकहायनकदूषकमहादूषकप्रभृतयः शालयः ॥३॥

रक्तशालि, कलम, कर्दमक, पाण्डुक, सुगन्धक, शकुनाहृत, पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महाशालि, शीतभीरुक, रोध्रपुष्पक, दीर्घशूक, काञ्चनक, महिष, महाशूक, हायनक, दूषक, महादूषक इत्यादि शालि के भेद हैं ॥३॥

मधुरा वीर्यतः शीता लघुपाका बलावहाः ।
पित्तघ्नाल्पानिलकफाः स्निग्धा बद्धाल्पवर्चसः ॥४॥

ये शालि रस में मधुर हैं, वीर्य में शीत हैं, पचने में हलके हैं, बलकारक हैं, पित्तनाशक हैं, वात और कफ का थोड़ा प्रकोप करने वाले हैं, स्निग्ध हैं, मलावरोधक और अल्प मलोत्पादक होते हैं ॥४॥

तेषां लोहितकः श्रेष्ठो दोषघ्नः शुक्रमूत्रलः ।
चक्षुष्यो वर्णबलकृत् स्वर्यो हृद्यस्तृषापहः ॥५॥
व्रण्यो ज्वरहरश्चैव सर्वदोषविषापहः ।
तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशः शालयोऽवराः ॥६॥

इन सब में रक्तशालि श्रेष्ठ है; वह त्रिदोषनाशक, शुक्र और मूत्र उत्पन्न करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, वर्ण और बल कारक, स्वर के लिए हितकर, हृदय के लिए हितकर, तृषा शांत करने वाला ॥५॥ व्रण में हितकर, ज्वरनाशक, सर्व व्याधि और विष को शांत करने वाला है। (शालिवर्ग में) रक्तशालि के पश्चात् जो दूसरे शालि हैं वे क्रम से (उत्तरोत्तर) गुण में हीनतर होते हैं ॥६॥

षष्टिककाङ्गुकमुकुन्दकपीतकप्रमोदककाकलकासनपुष्पकमहाषष्टिक[1]चूर्णककुरवककेदारप्रभृतयः षष्टिकाः ॥७॥

रसे पाके च मधुराः शमना वातपित्तयोः ।
शालीनां च गुणैस्तुल्या बृंहणाः कफशुक्रलाः ॥८॥

षष्टिक भेद—षष्टिक, कङ्गुक, मुकुन्दक, पीतक, प्रमोदक, काकलक, असनपुष्पक, महाषष्टिक, चूर्णक, कुरवक, केदारक इत्यादि षष्टिकभेद हैं ॥७॥ सब प्रकार के साठी चावल रस और विपाक में मधुर, वात और पित्त के शमन करने वाले, गुणों में शालि के समान, बृंहण, कफकारक और शुक्रकर होते हैं ॥८॥

षष्टिकः प्रवरस्तेषां कषायानुरसो लघुः ।
मृदुः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नः स्थैर्यकृद्बलवर्धनः ॥९॥
विपाके मधुरो ग्राही तुल्यो लोहितशालिभिः ।
शे[2]षास्त्वल्पान्तरगुणाः षष्टिकाः क्रमशो गुणैः ॥१०॥

साठी चावलों में षष्टिक श्रेष्ठ है। वह अनुरस में कषाय, हलका, मृदु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, शरीर स्थैर्य करने वाला, बलवर्धक ॥९॥ विपाक में मधुर, ग्राही और (गुण में) रक्त शालि के समान होता है। (इस वर्ग के) शेष चावल गुण में उत्तरोत्तर हीन होते हैं ॥१०॥

कृष्णव्रीहिशालामुखजतुमुखनन्दीमुखलावाक्षकत्वरितककुक्कुटाण्डकपारावतकपाटलप्रभृतयो व्रीहयः ॥११॥

व्रीहि भेद—कृष्णव्रीहि, शालामुख, जतुमुख, नन्दीमुख, लावाक्षक, त्वरितक, कुक्कुटाण्डक, पारावतक, पाटल इत्यादि व्रीहि के भेद हैं ॥११॥

कषायमधुराः पाके[1] मधुरा वीर्यतोऽहिमाः ।
अल्पाभिष्यन्दिनस्तुल्याः षष्टिकैर्बद्धवर्चसः ॥१२॥
कृष्णव्रीहिर्वरस्तेषां कषायानुरसो लघुः ।
तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशो व्रीहयोऽपरे ॥१३॥

व्रीहि जाति के चावल रस में कषाय और मधुर, विपाक में मधुर, वीर्य में उष्ण, थोड़ा अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले, मल को बांधने वाले और (गुणों में) षष्टिक के समान ही होते हैं ॥१२॥ इनमें कृष्णव्रीहि सब से श्रेष्ठ है। वह अनुरस में कषाय, हलका है। शेष सर्व व्रीहि उत्तरोत्तर अल्प गुण वाले होते हैं ॥१३॥

दग्धायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः ।
कषाया बद्धविण्मूत्रा रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥१४॥

जलाई हुई भूमि में उपजे हुए शालि चावल पाक में हलके, कषाय, मल और मूत्र की प्रवृत्ति कम करने वाले, रूक्ष और कफ का कर्षण करने वाले हैं ॥१४॥

स्थलजाः कफपित्तघ्नाः कषायाः कटुकान्वयाः ।
किंचित्सतिक्तमधुराः पवनानलवर्धनाः ॥१५॥
कैदारा मधुरा वृष्या बल्याः पित्तनिबर्हणाः ।
ईषत्कषायाल्पमला गुरवः कफशुक्रलाः ॥१६॥

जांगल भूमि में उपजने वाले शालि कफ और वात नाशक, कषाय, किंचित् कटुक, तिक्त और मधुर, वायुवर्धक और अग्नि दीपक होते हैं ॥१५॥ अनूप या सजल भूमि भाग में उपजने वाले शालि मधुर, वृष्य (स्निग्ध या बृंहण), बलकारक, पित्तनाशक, किंचित् कषाय, अल्प मल उत्पन्न करने वाले, गुरु, कफकर और शुक्रवर्धक होते हैं ॥१६॥

रोप्यातिरोप्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः ।
अदाहिनो दोषहरा बल्या मूत्रविवर्धनाः ॥१७॥
शालयश्छिन्नरूढा ये रूक्षास्ते बद्धवर्चसः ।
तिक्ताः कषायाः पित्तघ्ना लघुपाकाः कफापहाः ॥१८॥

रोप्य (एक स्थान में बनाये हुए जिनके पौधे केवल एक ही बार दूसरी जगह बदले जाते हैं) और अतिरोप्य (जिनके पौधे कई बार कई जगह बदले जाते हैं) शालि हलके, शीघ्र पचने वाले, गुण में श्रेष्ठ, दाह उत्पन्न न करने वाले, दोषों को हरण करने वाले, बलकर और मूत्रल होते हैं ॥१७॥ एक बार काटे हुए पौधों से उपजने वाले शालि रूक्ष, मल को बांधने वाले, तिक्त, कषाय, पित्तनाशक, पचने में हलके और कफकारक होते हैं ॥१८॥

---

१ ०महापिण्डक०. २ शेषास्त्वल्पान्तरास्तस्मात्.

१ पाकेऽमधुरा.

विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालिवर्गो हिताहितः ॥१९॥

(कभी) हितकर और (कभी) अहितकर (ऐसा) यह शालि (षष्टिक और व्रीहि) वर्ग विस्तारपूर्वक वर्णन किया है ॥१९॥

वक्तव्य—हिताहितः—शालि स्वस्थावस्था में एकान्तहित होते हैं, परन्तु रुग्णावस्था में दोष विकृति के अनुसार हितकर या अहितकर होते हैं—अवस्थान्तरबाहुल्याद्रोगादीनां व्यवस्थितम्। द्रव्यं नेच्छन्ति भिषज इच्छन्ति स्वस्थरक्षणे ॥ (सुश्रुत)। शालिवर्ग—शालिवर्ग में शालि, षष्टिक और व्रीहि इनका समावेश होता है। जो हेमन्त ऋतु में (अर्थात् रबी की फ़सल में) होते हैं वे शालि हैं; और जो वर्षा ऋतु में होते हैं वे व्रीहि हैं—कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ताः शालयः स्मृताः । वार्षिकाः कण्डिताः शुक्ला व्रीहयश्चिरपाकिनः॥ (भावप्रकाश)। षष्टिक व्रीहि का ही एक भेद है जो शीघ्रपाकी यानि साठ दिन में ही उपजता है—षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठः । (अष्टांगहृदय)। ते हि षष्टिरात्रेण भवन्ति ॥ (चक्रदत्त)। भारतवर्ष में बंगाल, बिहार, आसाम, मद्रास तथा बर्मा प्रान्तों में चावल का उपयोग आहार में प्रमुख है। चावल कई प्रकार के होते हैं। उनके अनुसार तथा जमीन की प्रकृति, सिंचाई, खाद, और तैयार करने की पद्धति उनके अनुसार चावलों के गुण धर्मों में और पौष्टिकता में बहुत फर्क होता है। आगे ५२वें श्लोक के वक्तव्य में दी हुई तालिका देखने से पता लगेगा कि चावल में पिष्टमय पदार्थ (कार्बोहैड्रेट Carbohydrate) बहुत अधिक है और शरीरधातुवर्धक (प्रोटीन Protein) पदार्थ, चरबी और खनिज बहुत कम हैं। खनिज में फास्फरस, लोह, म्यांगानीज इत्यादि तत्त्व होते हैं। खनिज और प्रोटीन चावल के ऊपरी पर्त (कंद या कोंडा) में होते हैं। इनके अतिरिक्त कंद में जीवद्रव्य बी (Vitamin B) भी होता है। जीवनीय द्रव्यों के संबंध में आगे ५२४ श्लोक के वक्तव्य में विचार किया गया है। जानवरों की खाद डाली हुई सूखी भूमि में वर्षा के पानी से उपजने वाले धान के चावलों में, रासायनिक खाद डाली हुई भूमि में सिंचाई विभाग के (Channel irrigation) पानी से उपजने वाले धान के चावलों की अपेक्षा जीवनीय तथा पौष्टिक द्रव्य अधिक होते हैं। मशीन में डालकर कूटने से, पानी में बहुत धोने से तथा चावलों को उबालकर मांड को फेंक देने से प्रोटीन, खनिज तथा जीवद्रव्य नष्ट हो जाते हैं, और चावलों की पौष्टिकता कम होती है; इसलिये अतिस्वच्छ (Polished rice) चावलों का उपयोग करना तथा चावलों को उबालकर मांड को फेंक देना स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर है। चावल में जो कार्बोहैड्रेड है वह स्टार्च रूप में होता है। यह स्टार्च पचन में सुलभ और शीघ्र है तथा इसका अधिकांश भाग आँतों में शोषित होता है और बहुत अल्प भाग किट्ट के रूप में उत्सर्गित होता है; इसलिये शालि को शीघ्रपाकी, अल्पवर्चस् कहा है। इसमें सारक गुण नहीं है इसलिये ग्राही और बद्धवर्चस् कहा है। कार्बोहाईड्रेड से शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिये इसे बलवर्धक, स्निग्ध कहा है। कांजी के रूप में चावल मूत्रल, तृषाहर और ज्वरहर है। चावलों के बोरे हमेशा पक्के सूखे खुले स्थान में रखने चाहिये। बंद और तर स्थान में रखने से उनमें खमीर उठने (Fermentation) लगता है। जिसके कारण उनसे दुर्गंध आती है और उनमें विष (Toxins and Toxic-amines) उत्पन्न हो जाते हैं। खराब चावल के बोरे में हाथ डाला जावे तो चावल गरम प्रतीत होंगे। खराब, पुराने और घटाये हुए चावल बेरी बेरी (Beri—Beri) नामक रोग की उत्पत्ति में बड़ा भारी भाग लेते हैं। इति शालिवर्गः।

तद्वत् कुधान्यमुद्गादिमाषादीनां च वक्ष्यते ॥२०॥

इसी प्रकार कुधान्य, मुद्गादि और माषादि के गुण वर्णन किये जायंगे ॥२०॥

अथ कुधान्यवर्गः।

कोरदूषकश्यामाकनीवारशान्तनुवरकोद्दालकप्रियङ्गुमधूलिकानान्दीमुखीकुरुविन्दगवेधुक[1]वरुकतोद(य)पर्णीमुकुन्दकवेणुयवप्रभृतयः कुधान्यविशेषाः ॥२१॥

कोरदूषक (कोद्रव), श्यामाक, नीवार, शान्तनु, वरक, उद्दालक (वनकोद्रव), प्रियङ्गु, मधूलिका, नान्दीमुखी, कुरुविन्द, गवेधुक, वरुक, तोदपर्णी, मुकुन्दक, वेणुयव प्रभृति कुधान्य (कुत्सित धान्य) विशेष हैं ॥२१॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में शालि के साथ कुधान्य का समावेश शूकवर्ग (Cereals) में किया है। वनस्पतिशास्त्र की दृष्टि से चरक का वर्गीकरण ठीक है, क्योंकि ये सब एक प्रकार के घास (Grass) हैं।

उष्णाः कषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिनः ।
श्लेष्मघ्ना बद्धनिस्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः ॥२२॥

ये कुधान्य गरम, कषाय और मधुर, रूक्ष, विपाक में कटुक, कफनाशक, मूत्र की राशि कम करने वाले और वात तथा पित्त प्रकोपक होते हैं ॥२२॥

कषायमधुरस्तेषां शीतः पित्तापहः स्मृतः ।
कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च सशान्तनुः ॥२३॥

इनमें से कोद्रव (कोदों), नीवार, श्यामाक और शान्तनु ये कषायमधुर, शीत और पित्त नाशक होते हैं ॥२३॥

कृष्णा रक्ताश्च पीताश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गवः ।
यथोत्तरं प्रधानाः स्यू रूक्षाः कफहराः स्मृताः ॥२४॥

काली, लाल, पीली और सफेद प्रियंगु उत्तरोत्तर (गुण में) श्रेष्ठ होती हैं, तथा रूक्ष और कफनाशक हैं ॥२४॥

मधूली मधुरा शीता स्निग्धा नान्दीमुखी[2] तथा ।
विशोषी तत्र भूयिष्ठं वरुकः समुकुन्दकः ॥२५॥

मधूलिका और नान्दीमुखी मधुर, शीत तथा स्निग्ध है। वरुक और मुकुन्दक (शरीर के जलांश का) अत्यन्त विशोषण करने वाले हैं ॥२५॥

रूक्षा वेणुयवा ज्ञेया वीर्योष्णाः कटुपाकिनः ।
बद्धमूत्राः कफहराः कषाया वातकोपनाः ॥२६॥

वेणुयव रूक्ष, उष्णवीर्य, विपाक में कटु, मूत्र की राशि कम करने वाले, कफनाशक, कषाय और वातप्रकोपक हैं ॥२६॥ इति कुधान्यवर्गः।

---

[1] ०गवेधुकसरवरुक०. [2] नन्दी०.

मुद्गवनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसतीनत्रिपुटकहरेणवाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

मुद्ग (मूँग, Phascolus Mungo), वनमुद्ग (वनमूँग, Phascolus Trilobus), कलाय (मटर का भेद, Pisum Arvense), मकुष्ठ (मोठ, मटकी), मसूर (Lens roculenta), मांगल्य (मसूर का भेद), चणक (चना Cicer Arientum), सतीन (मटर का भेद), त्रिपुटक (खेसारी, Lathyrus Sativus), हरेणु (मटर का भेद, वर्तुल कलाय), आढकी (अरहर Cajanus Indicus) प्रभृति वैदल हैं ॥२७॥

कषायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्कराः।
बद्धमूत्रपुरीषाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥

ये वैदल वर्ग के धान्य कषायमधुर, शीतल, विपाक में कटु, वातप्रकोपक, मल और मूत्र का अवरोध करने वाले तथा पित्त और श्लेष्म हरण करने वाले हैं ॥२८॥

नात्यर्थं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः।
प्रधाना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः ॥२९॥

वैदलों में मूँग अत्यंत वातल नहीं है और दृष्टि को प्रसन्न करते हैं। उनमें भी हरे मूँग प्रधान हैं और वनमूँग गुण में हरे मूँग के समान होते हैं ॥२९॥

विपाके मधुराः प्रोक्ता मसूरा बद्धवर्चसः।
मकुष्ठकाः क्रिमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मसूर विपाक में मधुर और मल को बाँधने वाले हैं। मोठ कृमिकारक होते हैं और मटर अत्यंत वातल हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी।
वातलाः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ॥३१॥
कफशोणितपित्तघ्नाश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः।
त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषशमनाः परम् ॥३२॥

अरहड़ कफ और पित्त का नाश करती है तथा वात का बहुत प्रकोप नहीं करती। चना वातल, शीतल, मधुर, कषाय, शरीर में रूक्षता उत्पन्न करने वाला, कफ और रक्तपित्त नाशक, पुंस्त्वनाशक होता है। घी के साथ सेवन करने से चना अत्यंत त्रिदोषशामक होता है ॥३१,३२॥

हरेणवः सतीनाश्च विज्ञेया बद्धवर्चसः।
ऋते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन (दोनों मटर के भेद) मल को बांधने वाले होते हैं। मूँग और मसूर के अतिरिक्त अन्य वैदल आध्मान (अफारा) उत्पन्न करने वाले हैं ॥३३॥

माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः
स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः।
सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्
बलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

(उड़द—) उड़द भारी, मल और मूत्र की प्रवृत्ति करने वाला, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, मधुर, वातनाशक, तृप्तिकर, (स्त्रियों में) विशेष करके दूध उत्पन्न करने वाला, बलदायक, शुक्र और कफ उत्पन्न करने वाला है ॥३४॥

कषायभावान्न पुरीषभेदी
न मूत्रलो नैव कफस्य कर्ता।
स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः
सन्तर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

(राजमाष—) राजमाष (अलसान्द्र) कषाय भावयुक्त होने से मल का भेदन नहीं करते, न मूत्रल होते हैं तथा कफ को भी नहीं करते हैं, विपाक में तथा रस में मधुर हैं, तृप्तिकारक हैं, स्तन्यजनक और रुचिकारक होते हैं ॥३५॥

माषैः समानं फलमात्मगुप्त-
मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव।
आरण्यमाषा गुणतः प्रदिष्टा
रूक्षाः कषाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

कौंच के बीज उड़द के समान (गुणकारक) जानने चाहिये। काकाण्डफल (बड़ी शिंबी के बीज) भी इसी प्रकार होते हैं। वन उड़द गुण में रूक्ष, कषाय और विदाह उत्पन्न न करने वाले होते हैं ॥३६॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कषायः
कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः।
शुक्राश्मरीगुल्मनिषूदनश्च
सांग्राहिकः पीनसकासहारी ॥३७॥
आनाहमेदोगुदकीलहिक्का-
श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च।
कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो
विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

कुलत्थ (कुलथी)—उष्णवीर्य, रस में कषाय, विपाक में कटु, कफ और वात का नाशक, शुक्र अश्मरी और गुल्म का नाशक, संग्राही और पीनस तथा खाँसी का हरण करने वाला है ॥३७॥ वनकुलत्थ आनाह, मेद रोग, अर्श, हिक्का और श्वास इनका नाशक, रक्तपित्तकर्त्ता, कफहर, नेत्ररोग नाशक विशेष करके होता है ॥३८॥

वक्तव्य—वाग्भट और चरक के अनुसार कुलत्थ का विपाक अम्ल है।

ईषत्कषायो मधुरः सतिक्तः
सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः।
तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः
स्निग्धो व्रणालेपन एव पथ्यः ॥३९॥
दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्र-
स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च।
तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो
मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

---

१ स्तन्यो.

(तिल—) तिल किंचित् कषाय, मधुर, तिक्त, संग्राही, पित्तकर, उष्ण, विपाक में मधुर, बलवर्धक, स्निग्ध, केवल व्रणालेपन के लिये पथ्यकर ॥३९॥ दाँतों के लिये हितकर, अग्निदीपक, बुद्धिवर्धक, मूत्र की राशि कम करने वाले, त्वचा तथा केश के लिये हितकर, वातनाशक और गुरु हैं। सब प्रकार के तिलों में काले तिल प्रधान हैं, श्वेत तिल मध्यम हैं और अन्य निकृष्ट होते हैं ॥४०॥

यवः कषायो मधुरो हिमश्च
कटुर्विपाके कफपित्तहारी ।
व्रणेषु पथ्यस्तिलवच्च नित्यं
प्रवद्धसूत्रो बहुवातवर्चाः ॥४१॥
स्थैर्याग्निमेधास्वरवर्णकृच्च
सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च ।
मेदोमरुत्तृड्हरणोऽतिरूक्षः
प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च ॥४२॥

(यव—) यवकषाय, मधुर, शीतल, विपाक में कटु, कफपित्तनाशक, तिल की भाँति व्रणालेपन में सदैव हितकर, मूत्र कम करने वाला, (आँत में) वात और मल को बढ़ाने वाला ॥४१॥ स्थैर्यजनक, अग्निदीपक, बुद्धिवर्धक, कण्ठ्य, वर्ण्य, पिच्छिल, स्थूल को कृश करने वाला, मेदोरोग, वातरोग और तृषा को हरण करने वाला, अतिशय रूक्ष और रक्त तथा पित्त को प्रसादन करने वाला है ॥४२॥

एभिर्गुणैर्हीनतरैस्तु किंचिद्
विद्याद्यवेभ्यो[1]ऽतियवानशेषैः ।

उपर्युक्त सब गुणों में अतियव (निःशूक काले लाल रंग के यव) किंचित् निकृष्ट समझने चाहिये।

वक्तव्य—व्रणेषु पथ्यस्तिलवच्च नित्यम्—तिल की भाँति व्रणालेपन के लिये पथ्यकर—तिलवद्यवकल्कं तु केचिदाहुर्मनीषिणः। (चि. अ. १) । नित्य—आभ्यंतरीय प्रयोग के लिये भी उपयोगी—शक्तून् विलेपीं कुल्माषं जलं चापि शृतं पिबेत् । (सूत्रस्थान, अ. १९) । प्रवद्धमूत्रः—मूत्र की राशि कम करने वाला। इसलिये प्रमेह में यवों का उपयोग होता है—यवप्रधानस्तु भवेत् प्रमेही। (चरक) । मेदोमरुत्तृड्हरणः—'मेदसावृतं वातं तृष्णां च हन्ति' इति। मेदसावृत वात तथा तृष्णा हरण करने वाला। चरक में मेदसावृत वायु की चिकित्सा में यव का भोजन करने के लिए लिखा है—यवका यवाः। भोजनार्थं प्रयोज्यानि। (सू. २१) । अतियव—निःशूकोऽतियवः स्मृतः। (भावप्रकाश)। आयुर्वेद में जौ (Hordcum Vulgare) एक बहुत चिकित्सोपयोगी वस्तु है। भारतवर्ष के असंख्य निर्धन लोग जौ खाकर अपना निर्वाह किया करते हैं। जौ का संगठन गेहूँ के बहुत कुछ समान है। पाश्चात्त्य देशों में वैद्यकीय उपयोगों के लिये जौ कई प्रकार के ('स्कॉच बार्ली,' पोर्ट बार्ली, 'पर्ल बार्ली,' 'पेटन्ट बार्ली' इत्यादि) बनाये जाते हैं। इस प्रकार के जौ से यूष (Barley water) बनाकर सर्व प्रकार के ज्वरों में तथा सुजाक, उष्ण वात इत्यादि मूत्र विकारों में दूध के साथ या वैसे ही देते हैं। जौ (Hordcum Distichon) ही से माल्ट (Malt) नामक एक शक्तिदायक, पाचक तथा पचनसुलभ पदार्थ बनाया जाता है। प्रथम जौ को पानी में मिलाकर रख दिया जाता है। जब अंकुर फूटने लगते हैं तब एक विशेष प्रकार की भट्ठी में दानों को रक्खा जाता है जिससे अंकुरों का निकलना बंद हो जाता है। इससे दानों के भीतर डायस्टेस (Diastase) नामक पदार्थ बनता है जो स्टार्च को डेक्स्ट्रिन और माल्ट शूगर (Dextrin and Malt Sugar) में परिवर्तित करता है। इस तरह माल्ट एक्स्ट्राक्ट में डायस्टेस, डेक्स्ट्रिन और माल्ट शूगर होती हैं। माल्ट में स्टार्च शर्करा युक्त अन्य पदार्थों को पचन करने की बड़ी भारी शक्ति होती है। गेहूँ के आटे के साथ माल्ट मिलाकर आज कल बाजार में बच्चों के लिए कई तरह के पेटन्ट खाद्य (यथा Savory and Moore's Allenbury's food, Coomb's food) मिलते हैं। कॉडलिवर तेल के साथ मिलाकर शरीरक्षय-कारक रोगों में माल्ट से बहुत लाभ होता है। आयुर्वेद में भी जौ से सत्तु, क्षार, अपूप, मन्थ, वाट्य, कुल्माष, धान इत्यादि विविध चिकित्सोपयोगी पदार्थ बनाये जाते हैं। मधुमेही के लिये जौ प्रधान खाद्य है और इसके सेवन से मधुमेह में बहुत फायदा होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

गोधूम उक्तो मधुरो गुरुश्च
बल्यः स्थिरः शुक्ररुचिप्रदश्च ।
स्निग्धोऽतिशीतोऽनिलपित्तहन्ता
सन्धानकृत् श्लेष्मकरः सरश्च ॥४३॥

(गेहूँ—) गेहूँ मधुर, भारी, बलकारक, स्थैर्यजनक, शुक्र और रुचि उत्पन्न करने वाला, अतिस्निग्ध, अति शीतल, वात और पित्तनाशक, (टूटी हड्डी को) जोड़ने वाला, कफकर और सारक है ॥४३॥

रूक्षः कषायो विषशोषशुक्र-
बलासदृष्टिक्षयकृद्विदाही ।
कटुर्विपाके मधुरस्तु शिम्बः
प्रभिन्न[1]विणमारुतपित्तलश्च ॥४४॥

शिम्बी (वर्ग के अन्न साधारणतया) रूक्ष, कषाय, विष, शोष, कफ और दृष्टि इनका क्षय करने वाले, विदाहजनक, विपाक में कटु, मधुर, मल का भेद करने वाले और वात तथा पित्त उत्पन्न करने वाले हैं ॥४४॥

सितासिताः पीतकरक्तवर्णा
भवन्ति येऽनेकविधास्तु शिम्बाः ।
यथोदितास्ते[2] गुणतः प्रधाना
ज्ञेयाः कटूष्णा रसपाकयोश्च ॥४५॥

सफेद, काले, पीले और लाल ऐसे अनेक प्रकार के जो शिंब होते हैं वे जिस क्रम से वर्णन किये हैं उसी क्रम से गुण में श्रेष्ठ होते हैं (यथा श्वेत सर्वप्रधान, काले उससे अल्पगुण, पीले काले से अल्पगुण और लाल पीले से भी अल्पगुण) और रस तथा विपाक में कटु तथा उष्ण होते हैं ॥४५॥

---

[1] यवेभ्योऽपि यवानशेषान्.

[1] प्रबन्धवि०. [2] यथोदितास्ते गुणतस्तथाऽऽर्द्राः.

[illegible]

कुशिम्बिवल्लीप्रभवास्तु [illegible]
ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च
बलप्रदाः पित्तनिबर्हणाश्च ॥४६॥

मुद्गपर्णी, माषपर्णी (सहाद्वयं), मूली और आत्मगुप्ता के वल्ली से उत्पन्न हुई शिम्बी रस और विपाक में मधुर, बलकारक और पित्तनाशक हैं ॥४६॥

विदाहवन्तश्च भृशं विरूक्षा
विष्टभ्य जीर्यन्त्यनिलप्रदाश्च ।
रुचिप्रदाश्चैव सुदुर्जराश्च
सर्वे स्मृता वैदलिकास्तु शिम्बाः ॥४७॥

(मुद्गादि वैदल धान्यों की आर्द्र) शिम्बी अतिशय विदाह उत्पन्न करती है, शरीर को रूक्ष करती है, पचन के समय पेट में गुड़गुड़ शब्द करती है, वात को बढ़ाती है, रुचिकर है और पचन में कठिन होती है ॥४७॥

कटुर्विपाके कटुकः कफघ्नो
विदाहिभावादहितः कुसुम्भः ।
उष्णाऽतसी स्वादुरसाऽनिलघ्नी
पित्तोल्बणा स्यात् कटुका विपाके ॥४८॥

कुसुंब (करड़) का बीज रस और विपाक में कटु, कफनाशक, विदाह उत्पन्न करने के कारण अहितकर होता है। अलसी उष्ण, रस में मधुर, वातनाशक, पित्तकर और विपाक में कटु होती है ॥४८॥

पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः
सिद्धार्थकः शोणितपित्तकोपी ।
तीक्ष्णोष्णरूक्षः कफमारुतघ्न-
स्तथागुणश्चासितसर्षपोऽपि ॥४९॥

श्वेत सर्षप रस और विपाक में कटु, रक्तपित्तकारक, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्षवात और कफ के नाशक हैं। रक्त सर्षप (या कृष्ण सर्षप) भी गुण में ऐसे ही होते हैं ॥४९॥

अनार्तवं व्याधिहतमपर्यागतमेव च ।
अभूमिजं नवं चापि न धान्यं गुणवत् स्मृतम् ॥५०॥
नवं धान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरोषितम् ।
विदाहि गुरु विष्टम्भि विरूढं दृष्टिदूषणम् ॥५१॥

जिस धान्य का जो ऋतु स्वाभाविक होता है उसको छोड़कर अन्य ऋतु में उत्पन्न हुए, विविध रोगों से दूषित, अपरिपक्व हुए, अप्रशस्त भूमि में उत्पन्न हुए तथा नये (शालि से लेकर सर्षप तक सर्व) धान्य गुणकारक नहीं होते हैं ॥५०॥ नवीन धान्य अभिष्यन्दि (शरीर में भारीपन उत्पन्न करने वाले) होते हैं और एक वर्ष के पुराने हलके होते हैं। विरूढ धान्य विदाहजनक, भारी, उदर में विष्टम्भजनक और दृष्टि की खराबी करने वाला होता है ॥५१॥

वक्तव्य—नव—एक वर्ष तक धान्य नया कहलाता है। एक वर्ष से दो वर्ष तक पुराना होता है। उसके पश्चात उसका वीर्य धीरे धीरे घटता है—वर्षोषितं सर्वधान्यं गौरवं परिमुञ्चति। न तु त्यजति वीर्यं स्वं क्रमान्मुञ्चत्यतः परम् ॥ (भावप्रकाश)। परन्तु यव गोधूमादि अपवाद हैं। इनका उपयोग नवावस्था में नया ही स्वास्थ्यप्रद है। एतेषु यवगोधूमतिलमाषा नवा हिताः। पुराणा वि[illegible] रूक्षा न तथा गुणकारिणः ॥ (भावप्रकाश)। बंगाल और कुछ प्रान्त में अत्यन्त पुराने चावल सेवन करने की जो प्रथा है वह स्वास्थ्यनाशक और आयुर्वेदविरोधी है और इसी के कारण बेरी बेरी नामक रोग उत्पन्न होता है। विरूढ—ठंडक और सील जहाँ होती है ऐसे स्थान में अधिक काल तक रखने से अंकुरित हुए धान्य। जो अनाज खाने के लिये पानी में छोड़कर अंकुरित (Sprouted or Germinating) किये जाते हैं उनमें उपर्युक्त दोष नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ऐसे अंकुरित धान्य खाने का रिवाज अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में है। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से अब यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक धान्य में अपने स्वाभाविक पौष्टिक गुणों के अतिरिक्त अंकुरित होने पर कुछ जीवनीय द्रव्य, विशेष करके बी. सी. ई (Vitamines B. C. E), उत्पन्न होते हैं जो शरीरस्वास्थ्य के लिये बहुत आवश्यक तथा हितकर हैं। इन जीवनीय द्रव्यों का विशेष विवरण आगे श्लोक ५२४ की टीका में किया जायगा।

शाल्यादेः सर्षपान्तस्य विविधस्यास्य भागशः ।
कालप्रमाणसंस्कारमात्राः संपरिकीर्तिताः ॥५२॥

(इस प्रकार) शालि से लेकर सरसों तक अनेक प्रकार के धान्य का काल, प्रमाण, संस्कार और मात्रा अंशतः (अल्प प्रमाण में) वर्णन की गई है (आगे कृतान्न वर्ग में अधिक वर्णन किया जायगा) ॥५२॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता में धान्य के कई वर्ग किये हैं। भावप्रकाश में भी धान्य के पांच वर्ग किये हैं—शालिधान्यं व्रीहिधान्यं शूकधान्यं तृतीयकम्। शिम्बीधान्यं क्षुद्रधान्यमित्युक्तं धान्यपंचकम् ॥ चरक और वाग्भट में धान्य के केवल दो ही वर्ग किये हैं—१ शूकधान्य (Cereals), और २ शिम्बीधान्य या वैदल (Pulses)। आधुनिक शास्त्र के अनुसार भी धान्य के ये ही दो वर्ग होते हैं। उपर्युक्त धान्यवर्गों में से कुधान्य जंगली लोगों के अतिरिक्त दूसरे लोग खाने के काम में बहुत कम लाते हैं। शूकवर्ग—इस वर्ग के अन्न ग्रामीनीएसी (Graminacae) नामक श्रेणि के वनस्पतियों का बीज है। मनुष्य जाति का प्रधान खाद्य केवल इस श्रेणि के धान्य से ही आता है। इसमें मुख्य चावल, गेहूँ, मकई, जौ, बाजरा, ज्वार इत्यादि हैं। केवल चावल और गेहूँ संसार के $\frac{१}{१०}$ लोगों का प्रधान खाद्य है। भारतवर्ष, चीन, जापान, ब्रह्मदेश इत्यादि पौर्वात्य देशों में चावल का सेवन अधिक है। यूरोप में गेहूँ का सेवन अधिक होता है। इटली, अमेरिका में मकई का सेवन बहुत होता है। इन द्रव्यों में कार्बोहायड्रेट (शक्तिदायक पदार्थों) की अधिकता होती है और प्रोटीन (धातुवर्धक पदार्थ) तथा चरबी की कमी होती है। इनमें कुछ खनिज द्रव्य भी होते हैं चावल के गुणधर्मों का विचार पीछे

---

१ मधुरोऽनिलघ्नः.

१६ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। पौष्टिकता की दृष्टि से गेहूँ चावल से बहुत उत्तम है। प्रोटीन, चरबी और खनिज-पदार्थ गेहूँ में चावल से ड्योढा प्रमाण में अधिक होते हैं। इसलिये गेहूँ भारी, बलकारक, स्निग्ध, स्थिर और संधानकृत् होता है। गेहूँ के छिलके (चोकर) का रासायनिक संगठन देखने से यह मालूम होगा कि उसमें प्रोटीन और खनिज अधिक परिमाण में होने के कारण उसको फेंक देने से हम गेहूँ के पौष्टिक भाग से वंचित हो जाते हैं। इसलिये आटा बहुत बारीक चलनी से छानना अच्छा नहीं। बिना छना (सालिम) आटा ही सब से अच्छा होता है। उसमें सेल्युलोज (Cellulose) भी अधिक होता है जो मलावरोध नहीं होने देता। इसलिये गेहूँ 'सर' भी है। शिम्बिधान्यवर्ग—इस वर्ग के धान्य वनस्पतिशास्त्र में लेग्युमिनोसी (Leguminosae) श्रेणि के हैं। इनमें अन्य वनस्पति द्रव्यों की अपेक्षा प्रोटीन की राशि अधिक होती है। इसको लेग्यूमिन (Legumin) कहते हैं। इस कारण से उनको 'निर्धनों का मांस' कहते हैं। परन्तु दाल का प्रोटीन मांस के प्रोटीन की अपेक्षा पचने में भारी होता है। प्रोटीन के अतिरिक्त इनमें पोट्यासिअम, चूना, गंधक इत्यादि खनिज भी होते हैं। जिनका मुख्य खाद्य चावल है, वे लोग चावल के प्रोटीन और क्षार की कमी की पूर्ति करने के लिये चावल के साथ दाल का सेवन किया करते हैं। दालें पचने में कठिन होती हैं और आध्मान करती हैं। छिलके उत्तरी हुई दाल छिलकेदार की अपेक्षा पचने में हलकी होती है। दाल में प्यूरिन (Purin) नामक द्रव्य भी बहुत होता है। इसलिये वातरक्त (Gout) के रोगी के लिये दाल का सेवन हानिकारक है। त्रिपुट कलाय (खेसारी दाल) के सेवन से कलायखंज (Lathyrism) नामक एक प्रकार का ऊरुस्तंभ होता है। इस दाल के संबंध में कुछ मतभिन्नता दिखाई देती है। नवीन खोज से यह मालूम हुआ है, आकटा (Vicia Sativa) नामक दाल के सेवन से यह रोग होता है।

शूक और शिम्बीवर्ग के प्रधान धान्यों का
रासायनिक संगठन

	नाम	प्रोटीन	स्नेह	कार्बोहैड्रेट	खनिज	जल
शूकवर्ग	१ गेहूँ	१२·२४	२·१८	७०·९२	२·२७	११·८३
	२ चोकर (गेहूँ की)	१६·४	३·५	४३·६	६·०	१२·५
	३ चावल	६·८६	०·८	७८·८	१·२३	११·५
	४ यव	८·९२	१·९०	७६·१	२·३	१२·३
	५ मकई	९·५२	४·४४	६८·९	३·७५	११·५
वैदलवर्ग	१ मूँग	२३·६२	२·६९	५३.४५	३.५७	१०·८७
	२ अरहर	२७·६७	३·३१	५७.२७	५.५	१०·८
	३ मसूर	२५·४७	३·०	५५.३	३.३३	१०·२३
	४ चना	१९·९४	४·३१	५१.१३	३.७२	१०·७
	५ उड़द	२२·३३	१·९५	५५.२२	३.०	
	६ मटर	२१·०	१·८	६१.४	२.६	१३·०

अथोर्ध्वं मांसवर्गानुपदेक्ष्यामः।

तद्यथा—जलेशया, आनूपा, ग्राम्याः, क्रव्यभुज, एकशफा, जाङ्गलाश्चेति षण्मांसवर्गाः। एतेषां वर्गाणामुत्तरोत्तरं प्रधानतमाः। ते पुनर्द्विविधा—जाङ्गला आनूपाश्चेति। तत्र जाङ्गलवर्गोऽष्टविधः। तद्यथा—जङ्घाला, विष्किराः, प्रतुदा, गुहाशयाः, प्रसहाः, पर्णमृगा, विलेशया, ग्राम्याश्चेति। तेषां जङ्घालविष्किरौ प्रधानतमौ ॥५३॥

अब यहाँ से आगे मांसवर्ग का वर्णन करते हैं। वह (उपदेश) इस प्रकार से है—१ जलेशय, २ आनूप, ३ ग्राम्य, ४ क्रव्यभुज, ५ एकशफ, और ६ जांगल ऐसा छः प्रकार के मांसवर्ग हैं। (मांस की दृष्टि से) ये वर्ग एक से एक बढ़कर होते हैं। फिर वे (आश्रय के अनुसार) जांगल और आनूप ऐसे दो प्रकार के होते हैं। इनमें से जांगलवर्ग आठ प्रकार का होता है। जैसे—१ जंघाल, २ विष्किर, ३ प्रतुद, ४ गुहाशय, ५ प्रसह, ६ पर्णमृग, ७ बिलेशय, और ८ ग्राम्य। इनमें जंघाल और विष्किर प्रधानवर्ग हैं ॥५३॥

वक्तव्य—मांसवर्ग—मांस के गुणानुरूप बनाये हुए मांसवर्ग। जलेशय—जल में रहने वाले जीवों का वर्ग; यथा—कोशस्थ पादिन और मत्स्य। आनूप—जलप्रायप्रदेशवासी प्राणी; यथा—कूलचर और प्लव। क्रव्यभुज—मांसभक्षकप्राणी; यथा—गुहाशय और प्रसह। एकशफ—एक खुर के प्राणी; यथा—घोड़ा गधा इत्यादि। ग्राम्य और एकशफ दोनों का समावेश जांगलवर्ग के ग्राम्यभेद में होता है। जंघाल—प्रशस्त और बलवान् जंघा होने के कारण तेजी से दौड़ने वाले प्राणी। विष्किर—पंजों से कुरेदकर चुगने वाले प्राणी। प्रतुद—नोक से कुरेदकर चुगने वाले पक्षी। प्रसह—अपना भक्ष्य जबरदस्ती से पकड़कर खाने वाले प्राणी। पर्णमृग—शाखामृग, वृक्षों पर रहने वाले वानर सदृश प्राणी। चरकसंहिता में इन शब्दों की निरुक्ति दी है—प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः। भूशया बिलवासित्वादानूपानूपसंश्रयात् ॥ जले निवासाज्जलजा, जलेचर्याज्जलेचराः। स्थलजा जांगलाः प्रोक्ता, मृगा जांगलचारिणः। विकीर्य विष्किराश्चेति, प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः ॥ (सूत्र. अ. २७)। सुश्रुत के अनुसार जांगल और आनूप मिलकर मांस के तेरह प्रकार होते हैं, परन्तु चरक और वाग्भट के अनुसार केवल आठ वर्ग हैं और इनके नाम में भी कुछ फर्क होता है। तथापि सुश्रुत के त्रयोदश वर्ग इन आठवर्ग के अन्तर्भूत हैं, यह नीचे तालिका देखने से स्पष्ट होगा।

चरक	सुश्रुत	वाग्भट	
१ जांगलमृगाः	१ जंघाल	१ मृगाः	जांगल वर्ग
२ विष्किर	२ विष्किर	२ विष्किर	
३ प्रतुद	३ प्रतुद	३ प्रतुद	
४ भूमिशय	४ बिलेशय	४ बिलेशय	साधारण वर्ग
५ प्रसह	५ प्रसह ६ गुहाशय ७ पर्णमृग ८ ग्राम्य	५ प्रसह	

६ आनूपमृगाः ९ कूलचराः ६ महामृगाः
७ जलचराः १० प्लवाः ७ अपचराः
८ वारिशया ११ कोशस्थाः
१२ पादिनः
१३ मत्स्याः
८ मत्स्याः
आनूप वर्ग
१ नादेयाः
२ सामुद्राः

तावेणहरिणर्क्षकुरङ्गकरालकृतमालशरभश्वदंष्ट्रा-पृषतचारुष्करमृगमातृकाप्रभृतयो जङ्घाला मृगाः कषाया मधुरा लघवो वातपित्तहरास्तीक्ष्णा हृद्या बस्तिशोधनाश्च ॥५४॥

(जंघाल वर्ग—) एण (काला हिरण), हरिण (सफेद हिरण), ऋष्य (नीले अंडे वाला रोहू मृग), कुरंग (चतुरंग चौकड़िया मृग), कराल (जिसके दाँत नीचे को निकले हों ऐसा हिमालयादि पर्वतस्थ कस्तूरी मृग), कृतमाल (संघातचारी मृग), शरभ (अष्टापद उष्ट्रप्रमाणो महाश्रृंगः पृष्ठगतचतुष्पादः काश्मीरे प्रसिद्धः), श्वदंष्ट्रा (चार दाँत का एक मृग भेद), पृषत (जिसके शरीर पर चित्र विचित्र बिंदु होते हैं ऐसा चित्तल मृग), चारुष्कर (सुन्दर और छोटे शरीर का एक मृग), मृगमातृका (छोटी और बड़े पेट वाली हिरनी) इत्यादि जंघालवर्ग के मृग हैं । ये (अर्थात् इनका मांस) कषाय, मधुर, हलका, वातपित्तनाशक, तीक्ष्ण, मन को प्रसन्नता देने वाले और मूत्रविरेचक होते हैं ॥५४॥

कषायो मधुरो हृद्यः पित्तासृक्कफरोगहा ।
संग्राही रोचनो बल्यस्तेषामेणो ज्वरापहः ॥५५॥

इनमें एण (का मांस) कषाय, मधुर, हृद्य, पित्त, कफ और रक्त रोगनाशक, ग्राही, रोचक, बलकारक और ज्वरनाशक है ॥५५॥

मधुरो मधुरः पाके दोषघ्नोऽनलदीपनः ।
शीतलो बद्धविण्मूत्रः सुगन्धिर्हरिणो लघुः ॥५६॥

ताम्र हरिण (का मांस) मधुर, विपाक में मधुर, दोषनाशक, अग्निदीपक, शीतल, मलमूत्रावरोधक, सुगंधि और हलका होता है ॥५६॥

एणः कृष्णस्तयोर्ज्ञेयो हरिणस्ताम्र उच्यते ।
यो न कृष्णो न ताम्रश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते ॥५७॥

इनमें से कृष्णवर्ण मृग 'एण' समझना चाहिये, ताम्रवर्ण मृग 'हरिण' कहलाता है और जो ताम्रवर्ण या कृष्णवर्ण नहीं है वह 'कुरंग' कहलाता है ॥५७॥

शीताऽसृक्पित्तशमनी विज्ञेया मृगमातृका ।
सन्निपातक्षयश्वासकासहिक्काऽरुचिप्रणुत् ॥५८॥

मृगमातृका (का मांस) शीतल, रक्तपित्त, सन्निपात, क्षय, श्वास, कास, हिक्का और अरोचक नाशक समझना चाहिये ॥५८॥

लावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्तिकावर्तकनप्तृकावार्तीकचकोरकलविङ्कमयूरक्रकरोपचक्रकुक्कुटसारङ्गशतपत्रकुतित्तिरिकुरुवाहकयवालकप्रभृतयस्त्र्याहला विष्किराः ॥५९॥

लघवः शीतमधुराः कषाया दोषनाशनाः ॥६०॥

(विष्किर वर्ग—) लाव, तित्तिर (काला तीतर), कपिंजल (गोरा तीतर), वर्तीर (घरघरा), वर्तिक, वर्तक, नप्तृक, वार्तीक, चकोर, कलविङ्क, मयूर, क्रकर, उपचक्र, कुक्कुट (मुरगा), सारङ्ग (पपहिया), शतपत्र, कुतित्तिर, कुरुवाहक यवालक इत्यादि (दोनो पंजे और तीसरी चंचु इन) तीनों से कुरेदने वाले (त्र्याहल) विष्किरवर्ग के हैं ॥५९॥ ये विष्किर (वर्ग के प्राणी) हलके, शीतल, मधुर, कषाय और दोषनाशक होते हैं ॥६०॥

संग्राही दीपनश्चैव कषायमधुरो लघुः ।
लावः कटुविपाकश्च सन्निपाते च पूजितः ॥६१॥

लाव पक्षी संग्राही, अग्निदीपक, कषाय, मधुर, हलका, विपाक में कटु और सन्निपात में प्रशस्त होता है ॥६१॥

ईषद्गुरूष्णमधुरो वृष्यो मेधाग्निवर्धनः ।
तित्तिरिः सर्वदोषघ्नो ग्राही वर्णप्रसादनः ॥६२॥
हिक्काश्वासानिलहरो विशेषाद्गौरतित्तिरिः ।
रक्तपित्तहरः शीतो लघुश्चापि कपिञ्जलः ।
कफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते ॥६३॥

काला तित्तिर किंचित् भारी, उष्ण, मधुर, वृष्य, मेधावर्धक, अग्निवर्धक, सर्वदोषनाशक, ग्राही और वर्ण प्रसादन होता है ॥६२॥ गोरा तित्तिर विशेष करके हिचकी, श्वास और वात रोग का हरण करने वाला है । कपिंजल रक्तपित्तनाशक, शीतल, हलका होता है और कफ रोग तथा मन्दवात में प्रशस्त है ॥६३॥

वातपित्तहरा वृष्या मेधाग्निबलवर्धनाः ।
लघवः क्रकरा हृद्यास्तथा चैवोपचक्रकाः ॥६४॥

क्रकर पक्षी वातपित्तनाशक, वृष्य, मेधा अग्नि और बल को बढ़ाने वाले, हलके तथा हृद्य होते हैं । उपचक्रक (गुण में) वैसे ही हैं ॥६४॥

कषायः स्वादुलवणस्त्वच्यः केश्योऽरुचौ[1] हितः ।
मयूरः स्वरमेधाग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत् ॥६५॥

मोर कषाय, मधुर और लवण है, त्वचा, केश और अरोचक के लिये हितकर है, स्वर, बुद्धि, जठराग्नि, नेत्र और कर्ण इनको दृढ़ता देने वाला है ॥६५॥

स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरबलावहः ।
बृंहणः कुक्कुटो वन्यस्तद्वद्ग्राम्यो गुरुस्तु सः ।
वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः ॥६६॥

वन का मुरगा स्निग्ध, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, स्वेदल, स्वर और बल बढ़ाने वाला तथा शरीरपुष्टिकर होता है । गांव का मुरगा वनकुक्कुट की भाँति ही होता है; परन्तु वह भारी और वातरोग, क्षय, वमन तथा विषम ज्वर का नाश करता है ॥६६॥

---

[1] रुचिप्रदः.

वक्तव्य—आज कल अंडे के सेवन का प्रचार बहुत बढ़ गया है। प्रायः मुरगी के अण्डे का प्रचार अधिक है; परन्तु कहीं कहीं भिन्न भिन्न बत्तकों के तथा समुद्रपक्षियों के अण्डे भी सेवन किये जाते हैं। दूध के अतिरिक्त खाद्य द्रव्यों में अण्डे के समान पौष्टिक दूसरा द्रव्य नहीं है। कार्बोहाइड्रेट को छोड़कर अण्डे में आहार के सर्व उपादान पाये जाते हैं। अण्डे में प्रोटीन, चरबी और क्यालसिअम, फस्फरस, लोह, पोट्यासिअम इत्यादि खनिज बहुत परिमाण में होते हैं, और ऐसे रूप में रहते हैं कि उनका पाचन और शोषण अत्यंत सहज में होता है। यह पाया गया है कि उसके ९५ प्रतिशत भाग का शोषण होता है। पौष्टिकता कि दृष्टि से मुरगी का एक अण्डा आध पाव दूध के बराबर होता है। पचनसुलभ होने के कारण इससे शीघ्र स्फूर्ति उत्पन्न होती है। इससे यूरिक अम्ल (Uric Acid) उत्पन्न न होने के कारण वातरक्त के (Gout) रोगियों के लिये यह फायदा करता है। यदि उत्तम अण्डे का सेवन किया जाय तो मांस वर्ग के सब खाद्य द्रव्यों में अण्डा सब से अधिक सुरक्षित समझना चाहिये। क्योंकि मनुष्यों पर संक्रामित होने वाला मुरगी का कोई भी रोग नहीं है, न रोगों के जीवाणुओं को अण्डा फैलाता है तथा न उसमें कोई स्वास्थ्यहानिकारक गुण पाये जाते हैं। संक्षेप में अभी तक कोई संक्रामक रोग का पता नहीं चला है जो अण्डे के सेवन से मनुष्यों में संक्रामित होता है। चरकसंहिता में अण्डों के गुणधर्म इस प्रकार वर्णन किये हैं—धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि। चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥ रेतःक्षीणेषु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च। मधुराण्यविपाकीनि सद्योबलकराणि च ॥ (सूत्र. अ. २७)।

कपोतपारावतभृङ्गराजपरभृतकोयष्टिककुलिङ्गगृहकुलिङ्गगोक्ष्वेडकडिण्डि[1]माणवकशतपत्रकमातृनिन्दकभेदाशिशुकसारिकावल्गुलीगिरिशालट्वालट्टूषकसुगृहीखञ्जरीटहारीतदात्यूहप्रभृतयः प्रतुदाः ॥६७॥

(प्रतुदवर्ग—) कपोत, पारावत (कबूतर के दो भेद), भृङ्गराज, परभृत (कोकिला), कोयष्टिक (टिटिहरी या क्रौंच पक्षी), कुलिंग (रान चीड़ा), गृहकुलिंग (गांव चिड़िया), गोक्ष्वेडक (गोनर्द पक्षी), डिण्डिमाणवक, शतपत्रक (राजशुक), मातृनिन्दक, भेदाशी, शुक (तोता) सारिका (मैना), वल्गुली, गिरिशा, लट्वा, अन्नदूषक, सुगृही, खंजरीट (खँजन), हारीत, दात्यूह प्रभृति प्रतुदवर्ग के हैं ॥६७॥

कषायमधुरा रूक्षाः फलाहारा मरुत्कराः।
पित्तश्लेष्महराः शीता बद्धमूत्राल्पवर्चसः ॥६८॥

(ये प्रतुदवर्ग के पक्षी सामान्यतया) कषाय, मधुर, रूक्ष, फलों का आहार करने वाले, वातकर, पित्त और श्लेष्म नाशक, शीतल, मूत्र को बंद करने वाले और अल्पमल उत्पन्न करने वाले हैं ॥६८॥

सर्वदोषकरस्तेषां भेदाशी मलदूषकः।
कषायस्वादुलवणो गुरुः काणकपोतकः ॥६९॥
रक्तपित्तप्रशमनः कषायविशदोऽपि च।
विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥७०॥
कुलिङ्गो मधुरः स्निग्धः कफशुक्रविवर्धनः।
रक्तपित्तहरो वेश्मकुलिङ्गस्त्वतिशुक्रलः ॥७१॥

इनमें से भेदाशी पक्षी (वातादि) दोषजनक और मलादि का दूषक है। कपोत पक्षी कषाय, मधुर, लवण और भारी है ॥६९॥ पारावत पक्षी रक्तपित्त शांत करने वाला, कषाय, विशद, विपाक में मधुर और भारी है ॥७०॥ कुलिंग मधुर, स्निग्ध, कफकर, शुक्रवर्धन और रक्तपित्तनाशक है। गृहकुलिंग अत्यंत वीर्य उत्पन्न करने वाला है ॥७१॥

सिंहव्याघ्रवृकतरक्षुऋक्षद्वीपिमार्जारश्रृगालमृगेर्वारुकप्रभृतयो गुहाशयाः ॥७२॥

(गुहाशयवर्ग—) सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया), तरक्षु (मृगशत्रुर्व्याघ्रविशेषः), ऋक्ष (रीछ), द्वीपि (चीता), मार्जार (रानबिलाव), श्रृगाल (गीदड़), मृगेर्वारुक प्रभृति गुहाशय (पर्वत की गुहा में रहने वाले) वर्ग के हैं ॥७२॥

मधुरा गुरवः स्निग्धा बल्या मारुतनाशनाः।
उष्णवीर्या हिता नित्यं नेत्रगुह्यविकारिणाम् ॥७३॥

(ये गुहाशयवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, गुरु, स्निग्ध, बलकारक, वातनाशक, उष्णवीर्य और नेत्र के तथा गुह्येन्द्रिय के विकारों से पीड़ितों के लिये हितकर हैं ॥७३॥

काककङ्ककुररचाषभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्रप्रभृतयः प्रसहाः ॥७४॥
एते सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसादयः।
रसवीर्यविपाकेषु विशेषाच्छोषिणे हिताः ॥७५॥

(प्रसहवर्ग—) काक (काग), कङ्क, कुरर, चाष, भास, शशघाती, उलूक (उल्लू), चिल्ली (चील), श्येन (बाज), गृध्र (गीध) प्रभृति प्रसह (शिकारी पक्षी) हैं ॥७४॥ ये काकादि (प्रसहवर्ग के पक्षी) रस, वीर्य और विपाक में सिंहादि के समान होते हैं और राजयक्ष्मा विकार वालों को विशेष करके हितकर हैं ॥७५॥

मद्गुमूषिकवृक्षशायिकावकुशपूतिघासवानरप्रभृतयः पर्णमृगाः ॥७६॥
मधुरा गुरवो वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे हिताः।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च कासार्शःश्वासनाशनाः ॥७७॥

(पर्णमृगवर्ग—) मद्गुमूषिक (एक प्रकार का वृक्षाश्रयी सर्प), वृक्षशायिका (गिलहरी), अवकुश (वानर का एक प्रकार), पूतिघास (वृक्षबिलाव), वानर प्रभृति पर्णमृगवर्ग के हैं ॥७६॥ (ये पर्णमृगवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, भारी, वृष्य, नेत्रों को हितकर, राजयक्ष्मा के लिये हितकर, मल और मूत्र को खुलकर निकालने वाले, खाँसी, अर्श और श्वास इनके नाशक हैं ॥७७॥

श्वाविच्छल्यकगोधाशशवृषदंशलोपाकलोमश-

---

१ ०डिडिमानक०.

कर्णकदलीमृगप्रियकाजगरसर्पमूषिकनकुलमहाबभ्रुप्रभृतयो विलेशयाः ॥७८॥

वर्चोमूत्रं संहतं कुर्युरेते
वीर्ये चोष्णाः पूर्ववत् स्वादुपाकाः ।
वातं हन्युः श्लेष्मपित्ते च कुर्युः
स्निग्धाः कासश्वासकार्श्यापहाश्च ॥७९॥

(बिलेशयवर्ग—) श्वाविद् (सेही), शल्यक, गोधा (गोह), शश (खरगोश), वृषदंश (रान का बिलाव), लोपाक (लोमड़ी), लोमशकर्ण, कदली, मृगप्रियक (गोनस), अजगर, सर्प, मूषिक (चूहे), नकुल (नेवला), महाबभ्रु (नकुलभेद) प्रभृति बिलेशयवर्ग के हैं ॥७८॥ ये (बिल में रहने वाले जीव साधारणतया) मलमूत्रसंग्राहक, उष्णवीर्य, पर्णमृग की भाँति (पूर्ववत्) विपाक में मधुर, वातनाशक, पित्तकफकर, स्निग्ध, कास, श्वास और कृशता को दूर करने वाले हैं ॥७९॥

कषायमधुरस्तेषां शशः पित्तकफापहः ।
नातिशीतलवीर्यत्वाद्वातसाधारणो मतः ॥८०॥
गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका स्मृता ।
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्धनी ॥८१॥
शल्यकः स्वादुपित्तघ्नो लघुः शीतो विषापहः ।
प्रियको मारुते पथ्योऽजगरस्त्वर्शसां हितः ॥८२॥
दुर्नामानिलदोषघ्नाः कृमिदूषीविषापहाः ।
चक्षुष्या मधुराः पाके सर्पा मेधाग्निवर्धनाः ॥८३॥
दर्वीकरा दीपकाश्च तेषूक्ताः कटुपाकिनः ।
मधुराश्चातिचक्षुष्याः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ॥८४॥

शश (खरगोश का मांस) कषाय, मधुर और पित्तकफनाशक है तथा वीर्य में अतिशीतल न होने से न वात का प्रकोप करता है, न प्रशम करता है ॥८०॥ गोधा (गोह का मांस) विपाक में मधुर, (रस में) कषाय और कटु, वातपित्तशामक, शरीरपुष्टिकर और बल बढ़ाने वाली है ॥८१॥ शल्यक मधुर, पित्तनाशक, हलका, शीतल और विषनाशक है। प्रियक वात रोगों के लिये पथ्यकर है । अजगर अर्श के लिये हितकर है ॥८२॥ साँप अर्श, वातदोष, कृमि और दूषी विष इनका नाशक, नेत्र के लिये हितकर, विपाक में मधुर और बुद्धि तथा जठराग्निवर्धक हैं ॥८३॥ इनमें से दर्वीकर (फण वाले साँप) और राजिमन्त (दीपक) विपाक में कटु, मधुर, नेत्र के लिये विशेष हितकर और मलमूत्र खुल के निकालने वाले हैं ॥८४॥

अश्वाश्वतरगोखरोष्ट्रबस्तोरभ्रमेदःपुच्छकप्रभृतयो ग्राम्याः ॥८५॥

ग्राम्या वातहराः सर्वे बृंहणाः कफपित्तलाः ।
मधुरा रसपाकाभ्यां दीपना बलवर्धनाः ॥८६॥

(ग्राम्यवर्ग—) अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर, घोड़ी और गधा इनसे उत्पन्न हुआ), गो (गाय), खर (गधा), उष्ट्र (ऊँट), बस्त (बकरा), उरभ्र (मेंढा), मेदःपुच्छ (दुम्बा या एड़क) प्रभृति ग्राम्यवर्ग के हैं ॥८५॥ ये सर्व (ग्राम्यवर्ग के प्राणी साधारणतया) वातनाशक, शरीरपुष्टिकर, कफपित्तकारक, रस और विपाक में मधुर, अग्निदीपक और बल बढ़ाने वाले हैं ॥८६॥

नातिशीतो गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफः स्मृतः ।
छगलस्त्वनभिष्यन्दी तेषां पीनसनाशनः ॥८७॥
बृंहणं मांसमौरभ्रं पित्तश्लेष्मावहं गुरु ।
मेदःपुच्छोद्भवं वृष्यमौरभ्रसदृशं गुणैः ॥८८॥
श्वासकासप्रतिश्यायविषमज्वरनाशनम् ।
श्रमात्यग्निहितं गव्यं पवित्रमनिलापहम् ॥८९॥
औरभ्रवत्सलवणं मांसमेकशफोद्भवम् ।

इन ग्राम्य पशुओं में से बकरी (का मांस) अति शीतल नहीं है, भारी, स्निग्ध, अल्पपित्तकफोत्पादक, अनभिष्यन्दी और पीनसनाशक है ॥८७॥ मेंढे का मांस शरीरपुष्टिकर, पित्तकफोत्पादक और भारी है । एड़के का मांस वृष्य और मेंढे के समान गुण वाला है ॥८८॥ गौ का मांस श्वास, खाँसी, जुकाम, विषम ज्वर इनका नाशक, थके मांदे अवस्था में और भस्मक रोग में हितकर, पवित्र और वायुनाशक है ॥८९॥ एक खुर वाले प्राणियों का मांस मेंढे के मांस के समान गुणकारी और नमकीन है ।

अल्पाभिष्यन्द्ययं वर्गो जाङ्गलः समुदाहृतः ॥९०॥
दूरे जनान्त[1]निलया दूरे पानीयगोचराः ।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च तेऽल्पाभिष्यन्दिनो मताः ॥९१॥
अतीवासन्ननिलयाः समीपोदकगोचराः ।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च महाभिष्यन्दिनस्तु ते ॥९२॥

यह जांगल जीवों का वर्ग अल्पाभिष्यन्दी होता है ॥९०॥ जो मृग, पक्षी (तथा जांगल वर्ग के अन्य जीव) मनुष्यों की बस्ती से तथा जल से दूर निवास करते हैं वे अल्प अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥९१॥ और जो मृग और पक्षी मनुष्य बस्ती के तथा जल के अत्यन्त समीप निवास करते हैं वे अत्यन्त अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥९२॥

आनूपवर्गस्तु पञ्चविधः । तद्यथा—कूलचराः, प्लवाः, कोषस्थाः, पादिनो, मत्स्याश्चेति ॥९३॥

आनूप (जल युक्त प्रदेश में रहने वाले जीवों का) वर्ग पाँच प्रकार का है । जैसे—१ कूलचर (जल किनारे पर विचरने वाले), २ प्लव (पानी पर तैरने वाले जीव), ३ कोशस्थ (शंख, सीपी इत्यादि कोश में रहने वाले जीव), ४ पादिन (पैरों वाले जीव यथा मेंडक), ५ और मत्स्य ॥९३॥

तत्र गजगवयमहिषरुरुचमरसृमररोहित[2]वराहखड्गिगोकर्णकालपुच्छकोद्रन्यङ्कुरण्यगवयप्रभृतयः कूलचराः पशवः ॥९४॥

वातपित्तहरा वृष्या मधुरा रसपाकयोः ।
शीतला बलिनः स्निग्धा मूत्रलाः कफवर्धनाः ॥९५॥

---

१ जनात्त. २ रोहिष.

(कूलचर—) गज (हाथी), गवय (नील गाय), महिष (भैंसा), रुरु (एक प्रकार का मृग), चमर (वन गाय जिसकी पुच्छ से चौरी बनती है), सृमर, रोहित, वराह (सूकर), खड्गि (गैंडा), गोकर्ण (मृगभेद), कालपुच्छक, उद्र (जलबिलाव या उदबिलाव), न्यङ्कु (अनेक सींग का मृगभेद), अरण्यगवय (गवयभेद) प्रभृति कूलचर (वर्ग के) पशु हैं ॥९४॥ ये (कूलचर पशु सामान्यतया) वातपित्तनाशक, वृष्य, रस और विपाक में मधुर, शीतल, बलवर्धक, स्निग्ध, मूत्रल और कफवर्धक हैं ॥९५॥

विरूक्षणो लेखनश्च वीर्योष्णः पित्तदूषणः ।
स्वाद्वम्ललवणस्तेषां गजः श्लेष्मानिलापहः ॥९६॥
गवयस्य तु मांसं हि स्निग्धं मधुरकासजित् ।
विपाके मधुरं चापि व्यवायस्य तु वर्धनम् ॥९७॥
स्निग्धोष्णमधुरो वृष्यो महिषस्तर्पणो गुरुः ।
निद्रापुंस्त्वबलस्तन्यवर्धनो मांसदार्ढ्यकृत् ॥९८॥

इनमें हाथी (का मांस) विरूक्षण, लेखन (शरीरकृशकारक), उष्णवीर्य, पित्तदूषक, (रस में) स्वादु, अम्ल, लवण और कफ तथा वायुनाशक है ॥९६॥ गवय का मांस स्निग्ध, मधुर, कासहर, विपाक में मधुर और मैथुनशक्ति को बढ़ाने वाला है ॥९७॥ भैंस (का मांस) स्निग्ध, उष्ण, मधुर, वृष्य, तृप्तिकारक, भारी, निद्रा, पुंस्त्व, बल और स्तन्य बढ़ाने वाला तथा मांस को दृढ़ करने वाला है ॥९८॥

रुरोर्मांसं समधुरं कषायानुरसं स्मृतम् ।
वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्धनम् ॥९९॥
तथा चमरमांसं तु स्निग्धं मधुरकासजित् ।
विपाके मधुरं चापि वातपित्तप्रणाशनम् ॥१००॥
सृमरस्य तु मांसं च कषायानुरसं मृतम् ।
वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्धनम् ॥१०१॥

रुरु का मांस मधुर, अनुरस में कषाय, वातपित्तविनाशक, भारी और शुक्र बढ़ाने वाला है ॥९९॥ उसी प्रकार चमर का मांस स्निग्ध, मधुर, कासनाशक, विपाक में मधुर और वातपित्तनाशक है ॥१००॥ सृमर का मांस अनुरस में कषाय, वातपित्तनाशक, भारी और शुक्र बढ़ाने वाला है ॥१०१॥

स्वेदनं बृंहणं वृष्यं शीतलं तर्पणं गुरु ।
श्रमानिलहरं स्निग्धं वाराहं बलवर्धनम् ॥१०२॥
कफघ्नं खड्गिपिशितं कषायमनिलापहम् ।
पित्र्यं पवित्रमायुष्यं बद्धमूत्रं विरूक्षणम् ॥१०३॥
गोकर्णमांसं मधुरं स्निग्धं मृदु कफावहम् ।
विपाके मधुरं चापि [1]रक्तपित्तविनाशनम् ॥१०४॥

सूकर का मांस स्वेदजनक, शरीरपुष्टिकर, वृष्य, शीतल, तृप्तिकारक, भारी, श्रम और वायुनाशक, स्निग्ध और बल बढ़ाने वाला है ॥१०२॥ गैंडे का मांस कफनाशक, कषाय, वातनाशक, पितरों को (श्राद्ध में) हितकर, पवित्र, आयुर्वर्धक, मूत्रसंग्राहक और विरूक्षण है ॥१०३॥ गोकर्ण का मांस मधुर, स्निग्ध, किंचित् कफकारक, विपाक में मधुर और रक्तपित्तनाशक है ॥१०४॥

हंससारसक्रौञ्चचक्रवाककुररकादम्बकारण्डवजीवञ्जीवकबकबलाकापुण्डरीकप्लवशरारीमुखनन्दीमुखमद्गूत्क्रोशकाचाक्षमल्लिकाक्षशुक्लाक्षपुष्करशायिकाकोनालकाम्बुकुक्कुटिकामेघरावश्वेतवारल[1]प्रभृतयः प्लवाः संघातचारिणः ॥१०५॥

रक्तपित्तहराः शीताः स्निग्धा वृष्या मरुज्जितः ।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च मधुरा रसपाकयोः ॥१०६॥
गुरूष्णमधुरः स्निग्धः स्वरवर्णबलप्रदः ।
बृंहणः शुक्रलस्तेषां हंसो वातविकारनुत् ॥१०७॥

(प्लव—) हंस, सारस, क्रौंच, चक्रवाक (चकवा चकवी), कुरर, कादम्ब (कलहंस), कारण्डव (शुक्ल हंस का भेद), जीवंजीवक (एक प्रकार का पक्षी है जो विष दर्शन से ग्लानियुक्त या मृत होता है । अन्न में विष की उपस्थिति जानने के लिये पुराने जमाने में राजे लोग इसे रखते थे । दृष्ट एव चास्मिंस्तु...म्रियते जीवञ्जीवको ग्लायति वा । अष्टांगसंग्रह ।), बक, बलाका (बकभेद), पुण्डरीक (बकभेद), प्लव, शरारीमुख, नंदीमुख, मद्गु (जलकारक), उत्क्रोश (कुररभेद), काचाक्ष, मल्लिकाक्ष, शुक्लाक्ष, पुष्करशायिका, कोनालक, अम्बुकुक्कुटिका, मेघराव, श्वेतचरण प्रभृति प्लव संघ बनाकर विचरने वाले होते हैं ॥१०५॥ ये (प्लववर्ग के पक्षी सामान्यतया) रक्तपित्तनाशक, शीतल, स्निग्ध, वृष्य, वायुनाशक, मलमूत्र को खुलकर निकालने वाले, रस और विपाक में मधुर होते हैं ॥१०६॥ उनमें से हंस गुरु, उष्ण, मधुर, स्निग्ध, स्वर, वर्ण, बल देने वाला, शरीरपुष्टिकर, शुक्रवृद्धिकर और वातरोगनाशक है ॥१०७॥

शङ्खशङ्खनखशुक्तिशम्बूकभल्लूकप्रभृतयः कोशस्थाः ॥१०८॥

कूर्मकुम्भीरकर्कटककृष्णकर्कटकशिशुमारप्रभृतयः पादिनः ॥१०९॥

शङ्खकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः ।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥
कृष्णकर्कटकस्तेषां बल्यः कोष्णोऽनिलापहः ।
शुक्लः सन्धानकृत् सृष्टविण्मूत्रोऽनिलपित्तहा ॥१११॥

(कोशस्थ और पादिन—) शङ्ख (बड़े शंख), शङ्खनख (छोटे शंख), शुक्ति (सीप), शंबूक (घोंघें), भल्लूक (घोंघें का भेद या कवरी) प्रभृति कोशस्थवर्ग के जीव हैं ॥१०८॥ कूर्म (कछुवा), कुम्भीर (घड़ियाल), कर्कटक (केकड़ा), कृष्णकर्कटक (काला केकड़ा), शिशुमार (नाक) प्रभृति पादिन (वर्ग के जलजन्तु) हैं ॥१०९॥ सामान्यतया ये शंखकूर्मादि जीव रस और विपाक में मधुर, वातनाशक, शीतल, स्निग्ध, पित्तविकार में हितकर, विष्टाकारक और कफवर्धक होते हैं ॥११०॥ उनमें से काला केकड़ा

---

[1] वातपित्तविनाशनम्.

[1] ०श्वेतचरण०.

बलकारक, किंचित् उ[illegible] [illegible]यनाशक है । श्वेत केकड़ा टूटे को जोड़ने वाला, मलमूत्र को खुलक[illegible]ालने वाला और वातपित्तनाशक है ॥१११॥

मत्स्यास्तु द्विविधा नादेयाः सामुद्राश्च ॥११२॥

(मत्स्य—) मत्स्य दो प्रकार के होते हैं, एक नदियों के मत्स्य और दूसरे समुद्रों के मत्स्य ॥११२॥

तत्र नादेयाः—रोहितपाठीनपाटलाराजीववर्मिगोमत्स्यकृष्णमत्स्यवागुञ्जारमुरलसहस्रदंष्ट्रप्रभृतयो नादेयाः ॥११३॥

नादेया मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः ।
रक्तपित्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवर्चसः ॥११४॥

(नादेय मत्स्य—) उनमें से रोहित, पाठीन, पाटला, राजीव, वर्मि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य, वागुञ्जार, मुरल, सहस्रदंष्ट्र प्रभृति नदियों के मत्स्य हैं ॥११३॥ नदियों के मत्स्य, मधुर, गुरु, वायुनाशक, रक्तपित्त उत्पन्न करने वाले, उष्ण, वृष्य, स्निग्ध और अल्पमल उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥११४॥

पाठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः ।
दूषयेद्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ।
मुरलो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥११५॥
कषायानुरसस्तेषां शष्पशैवालभोजनः ।
रोहितो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः ॥११६॥

पाठीन मत्स्य कफकर, वृष्य, निद्राजनक और मांसाहारी होकर रक्तपित्त (या अम्लपित्त) दूषित करके कुष्ठरोग भी करता है । मुरल मत्स्य शरीर पुष्टिकर, वृष्य और स्तन्य (दूध) तथा कफ बढ़ाने वाला है ॥११५॥ उनमें से रोहित मत्स्य तृण और शैवाल खाने वाला है, अनुरस में कषाय है, वायुनाशक है, और पित्त को अधिक प्रकुपित नहीं करता है ॥११६॥

वक्तव्य—कुष्ठरोगं करोति—आगे १२२वें श्लोक का वक्तव्य देखो । रोहित—चरक और वाग्भट के अनुसार रोहित मत्स्य मत्स्यों में सर्वश्रेष्ठ होता है—रोहितो मत्स्यानाम् । (चरक) । लावरोहितगोधैणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम् । (अष्टांगहृदय) ।

सरस्तडागसंभूताः स्निग्धाः स्वादुरसाः स्मृताः ।
महाह्रदेषु बलिनः, स्वल्पेऽम्भस्यबलाः स्मृताः ॥११७॥

सरोवर तथा तालाव में उत्पन्न हुए मत्स्य स्निग्ध और रस में मधुर होते हैं । जिसमें पानी का संचय भारी हो ऐसे जलाशय में उत्पन्न हुए मत्स्य अतिशय बल देने वाले होते हैं; और जिसमें पानी का संचय अल्प हो ऐसे जलाशय के मत्स्य अल्प बल देने वाले होते हैं ॥११७॥

तिमितिमिङ्गिलकुलिशपाकमत्स्यनिरुलेरु[1]नन्दिवारलकमकरगर्गरकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः सामुद्राः ॥११८॥

सामुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नातिपित्तलाः ।
उष्णा वातहरा वृष्या वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥११९॥
बलावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः ।

(सामुद्रमत्स्य—) तिमि, तिमिंगल, कुलिश, पाकमत्स्य, निरुलरु, नन्दिवारलक, मकर, गर्गरक, चन्द्रक, महामीन, राजीव इत्यादि समुद्रवासी मत्स्य हैं ॥११८॥ समुद्र के मत्स्य (सामान्यतया) भारी, स्निग्ध, मधुर, पित्त का अधिक प्रक[illegible]न करने वाले, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, विष्ठाकारक और कफवर्धक होते हैं ॥११९॥ ये समुद्र के मत्स्य ('मात्स्यन्याय' के अनुसार अन्य छोटी मछलियों का) मांस सेवन करने वाले होने से विशेष करके बलकारक होते हैं ।

समुद्रजेभ्यो नादेया बृंहणत्वाद्गुणोत्तराः ॥१२०॥
तेषामप्य[1]निलघ्नत्वाच्चौण्ट्यकौप्यौ गुणोत्तरौ ।
स्निग्धत्वात्स्वादुपाकत्वात्तयो[2]र्वाप्या गुणाधिकाः १२१

समुद्रवासी मत्स्य की अपेक्षा नदीवासी मत्स्य बृंहण होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२०॥ उन (नादेय मत्स्यों) में भी चुंडी और कूप के मत्स्य वातनाशक होने से गुण में अधिक होते हैं । चुंडी और कूप के मत्स्यों में कूप के मत्स्य स्निग्ध और विपाक में मधुर होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२१॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्मात् पुच्छास्यचारिणः ।
सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु ॥१२२॥
अदूरगोचरा यस्मात्तस्मादुत्सोदपानजाः ।
किंचिन्मुक्त्वा शिरोदेशमत्यर्थं गुरुवस्तु ते ॥१२३॥
अधस्ताद्गुरवो ज्ञेया मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः ।
उरोविचरणात्तेषां पूर्वमङ्गं लघु स्मृतम् ॥१२४॥

जो कि नदीवासी मत्स्य पूँछ और मुख से चलायमान होते हैं, इसलिये उनका मध्य भाग (धड़) भारी होता है (और पूँछ तथा मुख हलका होता है) । सरोवर और तालाब के मत्स्यों का सिर विशेष करके हलका होता है ॥१२२॥ अति दूर तक विचरने वाले न होने के कारण पर्वत के झरने के मत्स्य, सिर का कुछ भाग छोड़कर, भारी होते हैं ॥१२३॥ सरोवर की मछली (छाती के) नीचे भारी होती हैं, क्योंकि छाती से चलायमान होने के कारण उनका पूर्व भाग (छाती से सिर तक) हलका होता है ॥१२४॥

वक्तव्य—मछली एक पौष्टिक खाद्य है । मछली में प्रोटीन अधिक होते हैं, चरबी कम होती है, और कार्बोहायड्रेट तथा खनिज अत्यल्प होते हैं । मछलियाँ कई प्रकार की हैं, परन्तु चरबी के प्रमाण के अनुसार इसके दो मुख्य भेद किये जाते हैं:—कृश और स्थूल । कृश मछली वह है जिसमें चरबी का प्रमाण २ प्रतिशत तक होता है । जिसमें २–५ प्रतिशत या इससे भी अधिक चरबी होती है वह स्थूल कहलाती है । साधारणतया मछलियों का पाचन मांस की अपेक्षा शीघ्र होता है, तथा उसका शोषण भी ९५ प्रतिशत होता है । मोटी मछली, जिसमें चरबी का प्रमाण अधिक होता है, देर से पचती है परन्तु उससे काफी शक्ति मिलती है । जिनका मुख्य अन्न चावल है उनके लिये चावल के साथ मछली का सेवन बहुत उपकारी होता है, क्योंकि मछली से चावल की प्रोटीन की कमी पूरी हो जाती है । मछली के सेवन में दूसरा फायदा यह है

---

[1] ०निरालक०.

[1] तेभ्यश्चाप्यनिलघ्नत्वात्. [2] ताभ्यां.

कि उसके सेवन से जीवनीय द्रव्य विशेष करके ए और डी (Vitamines A. D) मिलते हैं। ये द्रव्य मछलियों के यकृत् में होते हैं। कॉड, (Cod), हलीबट (Halibut) आदि मत्स्य ऐसे हैं कि उनके यकृत् में इन द्रव्यों का बड़ा भारी संचय होता है, और यकृत् से जो तेल निकलता है उसमें ये द्रव्य आ जाते हैं। इसलिये इन तेलों का (Cod liver oil, Halibut liver oil) उपयोग उन अवस्थाओं में करते हैं जब इन जीवनीय द्रव्यों की शरीर के लिये आवश्यकता होती है। मछली हमेशा ताजी और जहाँ तक हो सके पकड़ने के पश्चात् शीघ्र ही खानी चाहिये; क्योंकि वह जल्दी सड़ने लगती है। गरमी के मौसिम में (मई, जून, जुलाई और अगस्त इन चार महीनों में) मछली का सेवन न करना ही प्रशस्त है, क्योंकि इन दिनों में वह और भी शीघ्रता से सड़ने लगती है। ताजी मछली सख्त और दुर्गंध रहित होकर यदि भूपृष्ठ से समान्तर पकड़ी जाय तो उसकी पूँछ नीचे की ओर नहीं झुकती। आँखें भरी और उभरी हुई, पुतलियाँ काली, फेफड़े चमकीले और लाल, शरीर के छिलके भरे हुए और दृढ़ होते और आसानी से अलग नहीं हो सकते। सड़ी गली मछली तथा डिब्बे की मछली खाने से वमन, अतिसार, ऐंठन, अवसाद इत्यादि पूति विष लक्षण (Ptomain Poisoning) उत्पन्न होते हैं। खराब पानी में रहने वाली मछली तथा आनूपवर्ग के अन्य प्राणी सेवन करने से विसूचिका, आन्त्रिकज्वर (Typhoid Fever), स्फीत (Tape) तथा अन्य कृमि इत्यादि विकारों से पीडित होने की संभावना होती है। मछली का सेवन कुष्ठोत्पत्ति का एक कारण है, यह भी आयुर्वेद का मत है। सुश्रुत के अनुसार पाठीन मत्स्य के सेवन से कुष्ठ होता है। चरक के अनुसार साधारण मछली के सेवन से भी कुष्ठ होता है—मधुफाणितमत्स्यलकुचमूलककाकमाचीः सततमतिमात्रमजीर्णे च समश्नतः, चिलिचिमं च पयसा। (निदान, अ. ५) आधुनिक काल में भी डॉ. म्यूर आदि कुछ वैज्ञानिक खराब मछली का सेवन कुष्ठोत्पत्ति का एक सहायक कारण मानते हैं; परंतु उसके साथ साथ उनका यह अभिप्राय होता है कि जब तक कुष्ठ के जीवाणु का शरीर के साथ संबन्ध नहीं होगा तब तक केवल मछली सेवन कुष्ठ उत्पन्न करने में असमर्थ है—Bad fish may predispose to leprosy as shown by E. Muir in India, but is not the direct cause of infection as once held. *Tropical Medicine, by Rogers and Magaw.*

इत्यानूपो महाभिष्यन्दिमांसवर्गो व्याख्यातः ॥१२५॥

इस प्रकार यह जलसंबंधी जीवों का अत्यंत अभिष्यन्दि (कफ और गुरुताकारक) मांसवर्ग वर्णन किया गया है ॥१२५॥

वक्तव्य—अभिष्यन्दि—हृदयस्थान्ननिर्यासवाहिस्रोतोमुखानि यत्। भुक्तं लिम्पति पैच्छिल्यादभिष्यन्दि तदुच्यते ॥ वैशद्यात् कफहन्तृत्वात्तान्येव विवृणोति यत्। तदुक्तमनभिष्यन्दि द्रव्यं द्रव्यविशारदैः ॥

तत्र शुष्कपूतिव्याधितविषसर्पहतदिग्धविद्धजीर्णकृशबालानामसात्म्यचारिणां च मांसान्यभक्ष्याणि, यस्माद्विगतव्यापन्नापहतपरिणताल्पासंपूर्णवीर्यत्वाद्दोषकराणि भवन्ति; एभ्योऽन्येषामुपादेयं मांसमिति ॥१२६॥

अरोचकं प्रतिश्यायं गुरु शुष्कं प्रकीर्तितम्।
विषव्याधिहतं मृत्युं बालं छर्दिं च कोपयेत् ॥१२७॥
कासश्वासकरं वृद्धं त्रिदोषं व्याधिदूषितम्।
क्लिन्नमुत्क्लेशजननं कृशं वातप्रकोपणम् ॥१२८॥

इन जांगल और आनूप प्राणियों के मांसों में से सूखा मांस, सड़ा गला दुर्गंधयुक्त मांस तथा रोगों से पीड़ित, विष और सर्पदंश से मृत, विषाक्त बाणों से विद्ध, अतिवृद्ध, दुर्बल, बालक (अल्पवय का) और अनुचित प्रदेश में संचार करके अस्वास्थ्यजनक आहार सेवन करने वाले प्राणियों का मांस भक्षण करने योग्य नहीं है; क्योंकि (शुष्कमांस) वीर्य नष्ट होने से, (पूतिव्याधित मांस) वीर्यदूषित होने से, (विष सर्पहत दिग्धविद्धमांस) वीर्य नष्ट होने से, (जीर्णमांस) वीर्य अतिपक्व होने से, (कृशपशु का मांस) वीर्य अल्प होने से, (बाल का मांस) वीर्य अपक्व होने से दोष उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसलिये इन (दोषयुक्त प्राणियों) से अन्य प्राणियों का मांस ग्रहण करना चाहिये ॥१२६॥ सूखा हुआ मांस अरुचिजनक, जुकाम करने वाला और भारी होता है। विषैले रोग से मृत प्राणियों का मांस मृत्यु करता है। अल्पवयी प्राणी का मांस वमन करता है ॥१२७॥ वृद्ध (प्राणी का मांस) खाँसी और श्वास करता है। रोगपीड़ित (प्राणियों का मांस) त्रिदोष (का प्रकोप) करता है। सड़ा गला मांस उत्क्लेश (मितली) उत्पन्न करता है। कृश (प्राणी का मांस) वात का प्रकोप करता है ॥१२८॥

वक्तव्य—एभ्योऽन्येषामुपादेयं मांसमिति—उपर्युक्त दोषवर्जित मांस ग्राह्य होता है; अर्थात् युवा, स्वस्थ प्राणियों का मांस, जो हत्या करने के पश्चात् बहुत समय तक न रक्खा हुआ हो, सेवन करने योग्य होता है—सद्योहतं वयःस्थं च शुद्धं सुरभि शस्यते। (अष्टांगसंग्रह)। उष्ण देशों में और उष्ण काल में मांस अधिक समय तक रखने से बिगड़ जाता है। इसका कारण यह है कि बैसीलस ऐन्टरीटीडस (B. Enteritidis), बैसीलस बोटुलीनस (B. Botulinus) इत्यादि पूतिजनक जीवाणु उसमें प्रविष्ट होकर विष उत्पन्न करते हैं, जिसके सेवन से वमन, उदरशूल, अतिसार, दुर्बलता इत्यादि पूतिविष (Ptomain Poisoning) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। व्याधित—व्याधिपीडित प्राणियों का मांस हानिकारक और व्याधिजनक होता है इसलिये उनका मांस अग्राह्य समझना चाहिये। प्राणियों में निम्न रोग पाये जाते हैं। यथा—राजयक्ष्मा, प्लूरोन्युमोनिया (Pleuro Pneumonia), प्लेग, अक्टिनो मायकोसिस (Actinomycosis), मुख पाद रोग (Foot and mouth disease), ऐन्थ्राक्स (Anthrax), कृमिजन्य रोग जैसे ट्रिकिनोसिस (Trichinosis) स्फीत कृमि रोग इत्यादि। कृमिजन्य रोगों में कृमियों के अण्डे मांस में रहते हैं और मांस के साथ शरीर के भीतर पहुँच जाते हैं। यद्यपि पकाने से बहुत से रोगों के कृमियों और जीवाणुओं का नाश हो

जाता है, तथापि उस पर पूर्ण[illegible] विश्वास नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त व्याधित प्राणियों का मांस [illegible] पौष्टिकता की दृष्टि से हीनतर होता है । इसलिये इनका मांस नहीं खाना चाहिये ।

स्त्रियश्चतुष्पात्सु, पुमांसो विहङ्गेषु, महाशरीरेष्वल्पशरीरा, अल्पशरीरेषु महाशरीराः प्रधानतमाः; एवमेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः कृशशरीराः प्रधानतमाः ॥१२९॥

चतुष्पाद प्राणियों में स्त्रीजाति का मांस श्रेष्ठ होता है; पक्षियों में पुरुषों का मांस श्रेष्ठ होता है; (गजगवयादि) बड़े शरीर वाले प्राणियों में छोटे शरीर वाले प्राणियों का मांस श्रेष्ठ होता है; (नकुल मूषकादि) अल्प शरीर वालों में बड़े और मोटे प्राणियों का मांस श्रेष्ठ होता है; इसी प्रकार एक ही जाति के बड़े शरीर वाले (जीवों) की अपेक्षा हलके शरीर वाले जीव श्रेष्ठ होते हैं ॥१२९॥

स्थानादिकृतं मांसस्य गुरुलाघवमुपदेक्ष्यामः । तद्यथा—रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुषूत्तरोत्तरा गुरुतरास्तथा सक्थिस्कन्धक्रोडशिरःपादकरकटीपृष्ठचर्मकालेयकयकृदन्त्राणि ॥१३०॥

शिरः स्कन्धं कटी पृष्ठं सक्थिनी चात्मपक्षयोः ।
गुरुपूर्वं विजानीयाद्धातवस्तु यथोत्तरम् ॥१३१॥
सर्वस्य प्राणिनो देहे मध्यो गुरुरुदाहृतः ।
पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योषिताम् ॥१३२॥
उरोग्रीवं विहङ्गानां विशेषेण गुरु स्मृतम् ।
पक्षोत्क्षेपात्समो दृष्टो मध्यभागस्तु पक्षिणाम् ॥१३३॥

(अब) स्थानादि के अनुसार मांस की गुरुता या लघुता का उपदेश किया जाता है । जैसे—रक्त से लेकर वीर्यपर्यंत उत्तरोत्तर धातुओं में अधिकाधिक गुरुता होती है; तथा सक्थि, स्कन्ध, हृदयविभाग, सिर, पाँव, हाथ (पूर्वपाद), कटी, पीठ, चर्म, वृक्क (कालेयक), यकृत् और आन्त्र ये भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक भारी होते हैं ॥१३०॥ स्त्री और पुरुष दोनों जाति के पक्षियों में सिर, स्कन्ध, कटी, पृष्ठ और सक्थि व्युत्क्रम से अधिकाधिक भारी होते हैं; और रक्तादि धातु उत्तरोत्तर अधिकाधिक भारी होते हैं ॥१३१॥ सर्व प्रकार के प्राणियों के शरीर में मध्यभाग भारी होता है । पुरुषों में पूर्व भाग और स्त्रियों में पश्चात् भाग भारी होता है ॥१३२॥ आकाशसंचारी पक्षियों का उर और ग्रीवा भाग विशेष करके भारी होता है और पाखों के क्षेपण के कारण मध्य भाग सम (न भारी न हलका) होता है ॥१३३॥

अतीव रूक्षं मांसं तु विहङ्गानां फलाशिनाम् ।
बृंहणं मांसमत्यर्थं खगानां पिशिताशिनाम् ।
मत्स्याशिनां पित्तकरं वातघ्नं धान्यचारिणाम्[1] ॥१३४॥

फल खाने वाले पक्षियों का मांस अतिरूक्ष होता है । मांस सेवन करने वाले पक्षियों का मांस शरीरपुष्टिकर होता है । मछली खाने वालों का मांस पित्तकर और धान्य खाने वालों का मांस वातनाशक होता है ॥१३४॥

जलजानूपजा ग्राम्या क्रव्यादैकशफास्तथा ।
प्रसहा बिलवासाश्च ये च जङ्गालसंज्ञिताः ॥१३५॥
प्रतुदा विष्किराश्चैव लघवः स्युर्यथोत्तरम् ।
अल्पाभिष्यन्दिनश्चैव यथापूर्वमतोऽन्यथा ॥१३६॥

जलज, आनूप, ग्राम्य, मांसभक्षक, एकशफ, प्रसह, बिलेशय, जंघाल ॥१३५॥ प्रतुद और विष्किर इन वर्गों के प्राणी उत्तरोत्तर अधिकाधिक हलके तथा अल्प अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं; और यथापूर्व अधिकाधिक भारी तथा अधिक अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥१३६॥

प्रमाणाधिकास्तु स्वजातौ चाल्पसारा गुरवश्च । सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेषु ये प्रधानतमा भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्तिनस्तानाददीत; प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लिष्टमुपादेयं मांसमिति ॥१३७॥

अपनी जाति के धारण प्रमाण की दृष्टि से जो अधिक मोटे होते हैं वे अल्प सारयुक्त और भारी होते हैं । सर्व प्राणियों में यकृत् प्रदेश के समीप भाग में जो (स्नायु मांसादि अंग) होते हैं वे शरीर के अन्य अंगों से (गुण में) अधिक श्रेष्ठ होते हैं; इसलिये उनका ग्रहण करना उचित है । उनके अभाव में मध्यमवय के प्राणियों का ताजा, दुर्गंधरहित मांस ग्रहण करना चाहिये ॥१३७॥

भवति चात्र—

चरः[1] शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः ।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते[2] ॥१३८॥

इति मांसवर्गः ।

मांस के गुरु लाघव का विचार करते समय (अस्मिन्) प्राणियों का आहार विहार, शरीर के अंग, स्वभाव, धातु, क्रिया, लिंग, प्रमाण, संस्कार और मात्रा इन बातों की परीक्षा करनी चाहिये ॥१३८॥

वक्तव्य—'चर' के स्थान में 'वय' ऐसा भी एक पाठ है । चर—चर शब्द से प्राणियों का आहार और विहार के देश का बोध होता है—चर गतिभक्षणयोः । चरकसंहिता के अन्नपानविधि अध्याय के अन्त में यही श्लोक मिलता है । इसके बाद इस श्लोक के प्रत्येक अंग का उदाहरण आगे दिया गया है, इसलिये वे श्लोक यहाँ भी दिये जाते हैं—चरोऽनूपजलाकाशधन्वाद्यो भक्ष्यसंविधिः । जलजानूपजाश्चैव जलानूपचराश्च ये ॥ गुरुभक्ष्यास्तु ये सत्त्वाः सर्वे ते गुरवः स्मृताः । लघुभक्ष्यास्तु लघवो धन्वजा धन्वचारिणः ॥ शरीरावयवाः सक्थिशिरःस्कन्धादयस्तथा । सक्थिमांसाद् गुरुः स्कन्धस्ततः क्रोडस्ततः शिरः ॥ वृषणौ चर्म मेढ्रं च श्रोणी वृक्कौ यकृद् गुदम् । मांसाद् गुरुतरं विद्याद्यथास्वं मध्यमास्थि च ॥ स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिंजलाः । स्वभावाद् गुरवो माषा बराहमहिषास्तथा ॥ धातूनां शोणिताद्यानां गुरु विद्याद्यथोत्तरम् । अलसेभ्यो विशिष्यन्ते प्राणिनो ये बहुक्रियाः ॥ गौरवं लिंगसामान्ये पुंसां स्त्रीणां च लाघवम् । महाप्रमाणा गुरवः स्वजातौ लघवोऽन्यथा ॥ गुरूणां लाघवं

---

[1] धन्वचारिणाम्.

[1] वयःशरीरा०. [2] परीक्षिता.

विद्यात्संस्कारात्सविपर्ययम् । व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डकाः ॥ अल्पादाने गुरूणां च लघूनां चातिसेवने । मात्राकारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे ॥ गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते । मात्राद्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते ॥ (चरक सूत्रस्थान)। इति मांसवर्गः ।

अत ऊर्ध्वं फलान्युपदेक्ष्यामः[1] ।

तद्यथा—दाडिमामलकबदरकोलकर्कन्धुसौवीरसिञ्चितिकाफलकपित्थमातुलुङ्गाम्राम्रातककरमर्दप्रियालनारङ्गजम्बीरलकुचभव्यपारावतवेत्रफलप्राचीनामलकतिन्तिडीकनीपकोशाम्राम्लीकाप्रभृतीनि ॥१३९॥

अम्लानि रसतः पाके गुरूण्युष्णानि वीर्यतः ।
पित्तलान्यनिलघ्नानि कफोत्क्लेशकराणि च ॥१४०॥

अब यहाँ से आगे फलवर्ग उपदेश करते हैं । जैसे—दाडिम (अनार), आमलक (आँवला), बदर, कोल, कर्कन्धु, सौवीर (और) सिंचिति का फल (ये बेर के पांच प्रकार हैं), कपित्थ, (कैथ), मातुलुंग, आम्र, आम्रातक, करमर्द (करोंदा), प्रियाल (चिरोंजी), नारंग (नारंगी), जम्बीर (नींबू), लकुच, भव्य (कमरख), पारावत, वेत्रफल, प्राचीनामलक (पानी आँवला), तिन्तिडीक (इमली), नीप (कदंबफल), कोशाम्र, अम्लिका (इमली का एक भेद) इत्यादि ॥१३९॥ ये (ऊपर लिखे फल सामान्यतया) रस में खट्टे, विपाक में गुरु, वीर्य में उष्ण, पित्तकारक, वायुनाशक और कफ का क्षोभ करने वाले होते हैं ॥१४०॥

कषायानुरसं तेषां दाडिमं नातिपित्तलम् ।
दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वर्चोविबन्धनम् ॥१४१॥
द्विविधं तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च ।
त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम् ॥२४२॥

(दाडिम—) इनमें से अनार अनुरस में कषाय है, विशेष पित्तकर नहीं है, अग्निदीपक है, रुचिकर है, हृदय के लिये हितकर है और मल को बांधने वाला है ॥१४१॥ यह अनार दो प्रकार का होता है, मीठा और खट्टा । इनमें से मीठा त्रिदोषनाशक, और खट्टा वात तथा कफनाशक (और पित्तजनक) है ॥१४२॥

अम्लं समधुरं तिक्तं कषायं कटुकं सरम् ।
चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम् ॥१४३॥
हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः ।
कफं रूक्षकषायत्वात् फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत् ॥१४४॥

(आमलक—) आँवले का फल अम्ल, मधुर, तिक्त, कषाय, कटुक (लवणवर्ज पंचरस युक्त), सारक, नेत्र के लिये हितकर, सर्वदोषनाशक और वृष्य है ॥१४३॥ यह आँवला अम्लरस से वायु नाश करता है, मधुररस और शीतलता से पित्त की शान्ति करता है, रौक्ष्य और कषाय रस से कफ की शान्ति करता है; (इसलिये) सब फलों में यह अधिक श्रेष्ठ है ॥१४४॥

कर्कन्धुकोलबदरमामं पित्तकफावहम् ।
पक्वं पित्तानिलहरं स्निग्धं समधुरं सरम् ॥१४५॥
पुरातनं तृट्शमनं श्रमघ्नं दीपनं लघु ।
सौवीरं बदरं स्निग्धं मधुरं वातपित्तजित् ॥१४६॥
कषायं स्वादु संग्राहि शीतं शिञ्चितिकाफलम् ।

(बेर—) कर्कन्धु, कोल और बदर (जाति के) कच्चे बेर पित्त और कफकारक होते हैं । ये ही पके हुए पित्त और वायुनाशक, स्निग्ध, मधुर और सारक होते हैं ॥१४५॥ पुराने (सूखे सलवटदार) बेर तृषाशामक, श्रम का परिहार करने वाले, अग्निदीपक और हलके होते हैं । सौवीर जाति का बेर स्निग्ध, मधुर और वातपित्तनाशक होता है ॥१४६॥ शिञ्चिति का फल कषाय, मीठा, ग्राही और शीतल होता है ।

आमं कपित्थमस्वर्यं कफघ्नं ग्राहि वातलम् ॥१४७॥
कफानिलहरं पक्वं मधुराम्लरसं गुरु ।
श्वासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम् ॥१४८॥

(कपित्थ—) कच्चा कैथ स्वर को बिगाड़ता है, कफ का नाश करता है, ग्राही है और वातकारक है ॥१४७॥ पका हुआ कैथ कफ और वातनाशक, मधुर और अम्लरसयुक्त, भारी, श्वासनाशक, कासनाशक, अरुचिनाशक, तृष्णाशामक तथा कण्ठ साफ करने वाला है ॥१४८॥

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम् ।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रिमिकफापहा ॥१४९॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित् ।
मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम् ॥१५०॥
दीपनं लघु संग्राहि गुल्मार्शोघ्नं तु केसरम् ।
शूलाजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमारुते ॥१५१॥
अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते ।

(मातुलुंग—) मातुलुंग हलका, खट्टा, अग्निदीपक, हृद्य है । उसकी छाल तिक्त, दुर्जर, वातनाशक, कृमिनाशक और कफहर है ॥१४९॥ उसका गूदा मीठा, शीतल, भारी, स्निग्ध, वात और पित्तनाशक, बुद्धिवर्धक, शूल, वायु, वमन, कफ और अरुचिनाशक है ॥१५०॥ उसका केसर अग्निदीपक, हलका, ग्राही, गुल्म और अर्शनाशक है । उसका रस शूल, अपचन, मलावरोध, मंदाग्नि, कफ और वात के रोग, अरोचक इन रोगों में विशेषतया उपयुक्त होता है ।

पित्तानिलकरं बालं पित्तलं बद्धकेसरम् ॥१५२॥
हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम् ।
कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु ॥१५३॥
पित्ताविरोधि संपक्वमाम्रं शुक्रविवर्धनम् ।

(आम्र—) बाल आम (जिसके भीतर की गुठली की पूर्ण वृद्धि नहीं हुई है) वातकर और पित्तकर होता है, जिसके भीतरी गुठली पूर्ण होकर सख्त हुई है ऐसा आम (बद्धकेसर=बद्धास्थि) पित्तकारक होता है ॥१५२॥ पका हुआ आम हृद्य (मन को प्रिय), वर्णकारक, रुचिकर, रक्त, मांस और बल बढ़ाने वाला, अनुरस में कषाय, (रस में)

---

[1] फलवर्गानुपदेक्ष्यामः.

[illegible] पित्तनाशक, शरीरपुष्टिकर, [illegible] रुचिकर, भारी ॥१५३॥ पित्त का विरोध न करने वाला और शुक्रल होता है [illegible]

बृंहणं मधुरं बल्यं गुरु विष्टभ्य जीर्यति ॥१५४॥
आम्रातकफलं वृष्यं सस्नेहं श्लेष्मवर्धनम् ।
त्रिदोषविष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम् ॥१५५॥
अम्लं तृषापहं रुच्यं पित्तकृत् करमर्दकम् ।
वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम् ॥१५६॥
हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशोधनम् ।
पित्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥१५७॥
पारावतं समधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत् ।
गरदोषहरं नीपं प्राचीनामलकं तथा ॥१५८॥

आम्रातक फल शरीरपुष्टिकर, मधुर, बलकारक, भारी, पेट में गुड़गुड़ शब्द करके पचन होने वाला, वृष्य, स्निग्ध और कफवर्धक है । लकुच त्रिदोषजनक, विष्टम्भकर और शुक्रनाशक है ॥१५४,१५५॥ करौंदा खट्टा, तृषाशामक, रुचिकारक और पित्तकारक है । प्रियाल (चिरौंजी का फल) वातपित्तनाशक, वृष्य, भारी और शीतल है ॥१५६॥ भव्य हृद्य, मीठा, कषाय, खट्टा, मुखविशोधक, पित्तकफनाशक, ग्राही, भारी, विष्टम्भजनक और शीतल है ॥१५७॥ पारावत का फल मधुर, रुचिकारक, तीक्ष्णाग्नि को मंद करने वाला और वायुनाशक है । नीप (कदंब का फल) विषनाशक और दोषनाशक है । उसी के गुणानुसार पानी आँवला भी होता है ॥१५८॥

वातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत् ।
ग्राह्युष्णं दीपनं रुच्यं संपक्वं कफवातनुत् ॥१५९॥
तस्मादल्पान्तरगुणं कोशाम्रफलमुच्यते ।
अम्लीकायाः फलं पक्वं तद्वद्भेदि तु केवलम् ॥१६०॥
अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् ।
वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु ॥१६१॥
तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ।
वातश्लेष्मविबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तकृत् ।
ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥१६२॥

तिन्तिडी का कच्चा फल वातनाशक और पित्तकारक होता है । वही पक्व फल ग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, रुचिकारक और वातकफनाशक होता है ॥१५९॥ कोशाम्र का फल गुण में तिन्तिडीफल से कुछ कम होता है । इमली का पक्वफल गुण में तिन्तिडीफल के अनुसार परन्तु भेदक होता है ॥१६०॥ नारंग का फल (संतरा) खट्टा, मधुर, हृद्य, विशद, भोजन में रुचि उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, दुर्जर और भारी है ॥१६१॥ जम्बीर (नींबू) तृषा, शूल, कफ, जी मिचलाना, वमन, श्वास, वात, कफ और मलावरोध इनका नाश करने वाला, भारी और पित्तकर होता है । ऐरावत (नारंग का भेद) और दन्तशठ (काठानींबू) खट्टा और रक्तपित्तकारक हैं ॥१६२॥

वक्तव्य—उपर्युक्त दाडिमादिवर्ग के अधिकसंख्य फल अम्ल और किंचित् कषाय होते हैं । इनकी अम्लता सायट्रिक (Citric), टारटरिक, मैलिक, आक्जेलिक (Tartaric, Mallic Oxalic), इत्यादि वानस्पतिक अम्लों (Vegetable acids) की उपस्थिति पर निर्भर होती है । इनका कसैलापन ट्यानिन, ट्यानिक अम्ल, ग्यालिक अम्लों की उपस्थिति पर निर्भर होता है । इनके अतिरिक्त सोडिअम, पोट्यासिअम इत्यादि क्षार, गोंद, जीवद्रव्य 'सी', शर्करादि पदार्थ भी इनमें उपस्थित होते हैं । वानस्पतिक अम्ल भोजन को पचाने में और स्वास्थ्य को ठीक रखने में बहुत भाग लेते हैं । पचन के समय ये कार्बोनेट में परिवर्तित होते हैं और रक्त की क्षारीयता (Alkalinity) स्थिर रखते हैं । आहारद्रव्यों से यदि इनको बिलकुल हटा दिया जावे तो रक्त की स्थिति खराब होकर स्कर्वी (Scurvy) आदि रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये इनका सेवन बहुत आवश्यक है । इनमें स्कर्वी प्रतिषेधक जीवद्रव्य सी (Antiscorbutic Vitamin C) होने के कारण स्कर्वीरोग की चिकित्सा में भी इनका उपयोग बहुत होता है । नारंग, नींबू, संतरा, आम इनमें जीवद्रव्य सी पर्याप्त राशि में होता है ।

क्षीरवृक्षफलजाम्बवराजादनतोदनशीतफलतिन्दुकबकुलधन्वनाश्मन्तकाश्वकर्णफल्गुपरूषकगाङ्गेरुकीपुष्करवर्तिबिल्वबिम्बीप्रभृतीनि ॥१६३॥
फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च ।
संग्राहकाणि रूक्षाणि कषायमधुराणि च ॥१६४॥

क्षीर वृक्षों (न्यग्रोध, औदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष और वेतस) के फल, जामुन, राजादन (खिरनी,), तोदन (काश्मीरी इमली, Morus Indica), शीतफल, तिन्दुक, बकुल, धन्वन (धामन), अश्मन्तक, अश्वकर्ण, फल्गु (अंजीर), परूषक (फालसा), गाङ्गेरुकी (गंगोठ), पुष्करवर्ति, बिल्व, बिम्बी (कुदरु) इत्यादि ॥१६३॥ ये फल शीतल, कफपित्तनाशक, ग्राही, रूक्ष, कषाय और मधुर होते हैं ॥१६४॥

क्षीरवृक्षफलं तेषां गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।
कषायं मधुरं साम्लं नातिमारुतकोपनम् ॥१६५॥
अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।
स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥१६६॥
कषायं मधुरं रूक्षं तोदनं कफवातजित् ।
अम्लोष्णं लघु संग्राहि स्निग्धं पित्ताग्निवर्धनम् ॥१६७॥
आमं कषायं संग्राहि तिन्दुकं वातकोपनम् ।
विपाके गुरु संपक्वं मधुरं कफपित्तजित् ॥१६८॥
मधुरं च कषायं च स्निग्धं संग्राहि बाकुलम् ।
स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥१६९॥
सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित् ।
तद्वद्गाङ्गेरुकं विद्यादश्मन्तकफलानि च ॥१७०॥

इनमें से क्षीर वृक्षों के फल भारी, विष्टम्भजनक, शीतल, कषाय, मधुर, खट्टे होते हैं, और वायु को अधिक प्रकुपित नहीं करते ॥१६५॥ जामुन अतिवातल, (मूत्र और मल का) संग्रहण करने वाला (संग्राहि मूत्रशकृतोः, वाग्भट), कफ

---

१. शुष्कं.

पित्तनाशक होता है। खिरनी का फल स्निग्ध, मधुर, कषाय और भारी होता है ॥१६६॥ तोदन कषाय, मधुर, रूक्ष, कफ-वातनाशक, अम्ल, उष्ण, हलका, ग्राही, स्निग्ध, पित्तल और अग्निवर्धक है ॥१६७॥ कच्चा तिन्दुक कषाय, ग्राही, वातप्रकोपक होता है और पक्व तिन्दुक विपाक में गुरु, मधुर और कफनाशक तथा पित्तनाशक होता है ॥१६८॥ बकुल का फल मधुर, कषाय, स्निग्ध, ग्राही, दाँतों को मजबूत करने वाला और विशद होता है ॥१६९॥ धामन कषाय, शीत, मधुर और कफ तथा पित्त हरण करने वाला है। धामन के गुणानुसार ही गांगेरुक और अश्मन्तक के फल समझने चाहिये ॥१७०॥

विष्टम्भि मधुरं स्निग्धं फल्गुजं तर्पणं गुरु।
अत्यम्लमीषन्मधुरं[1] कषायानुरसं लघु ॥१७१॥
वातघ्नं पित्तजननमामं विद्यात् परूषकम्।
तदेव पक्वं मधुरं वातपित्तनिबर्हणम् ॥१७२॥
विपाके मधुरं शीतं रक्तपित्तप्रसादनम्।
पौष्करं स्वादु विष्टम्भि बल्यं कफकरं गुरु ॥१७३॥
कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम्।
कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम् ॥१७४॥
विद्यात्तदेव संपक्वं मधुरानुरसं गुरु।
विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥१७५॥
बिम्बीफलं साश्वकर्णं स्तन्यकृत् कफपित्तजित्।
तृड्दाहज्वरपित्तासृक्कासश्वासक्षयापहम् ॥१७६॥

अंजीर विष्टम्भजनक, मधुर, स्निग्ध, तृप्तिकारक और गुरु होता है। कच्चा परूषक (फालसा) अत्यन्त खट्टा, किंचित् मीठा, अनुरस में कषाय, हलका ॥१७१॥ वातनाशक और पित्तजनक होता है। वही पक्व होने पर मधुर, वातपित्तनाशक ॥१७२॥ विपाक में मधुर, शीतल और रक्तपित्तप्रसादक होता है। पौष्कर फल (सिंघाड़ा आदि कमल के फल) मधुर, विष्टम्भजनक, बलकारक, कफकारक और गुरु होते हैं ॥१७३॥ कच्चा बिल्वफल कफवातनाशक, तीक्ष्ण, स्निग्ध, ग्राही, अग्निदीपक, (रस में) कटु, तिक्त और कषाय तथा उष्ण होता है ॥१७४॥ वही पक्व फल अनुरस में मधुर, भारी, विदाहजनक, विष्टम्भकारक, दोषोत्पादक और (अधो) वायु में दुर्गंध उत्पन्न करने वाला होता है ॥१७५॥ कुंदरु और अश्वकर्ण दूध उत्पन्न करने वाले, कफपित्तनाशक, तृषा, दाह, ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास और क्षय इनका हरण करने वाले हैं ॥१७६॥

वक्तव्य—पूतिमारुतम्—दुर्गंध्यपानवातकृत्। (अरुणदत्त)। इस क्षीरीवृक्षादि वर्ग के अधिकसंख्य फल कषायरसप्रधान हैं। इनके फलों में रासायनिक दृष्टि से ट्यानिन, ट्यानिक एसिड, ग्यालिक एसिड इत्यादि कषाय रस के अम्ल होते हैं। इनके अतिरिक्त गोंद, शर्करा, क्षार तथा अन्य पदार्थ भी होते हैं। कषायरसप्रधान होने के कारण इनके साधारण गुण धर्म कषाय रस के अनुसार होते हैं। ये फल मल संग्राहक (Astringents) हैं, इसलिये प्रवाहिका, अतिसार, संग्रहणी इत्यादि पतले दस्त होने वाले रोगों में लाभदायक होते हैं। उपर्युक्त फलों में से जम्बु, क्षीरवृक्ष ~~के फल~~ और अश्मन्तक का फल चरक के अनुसार मूत्रसंग्राहक (अर्थात् मूत्र की राशि कम करने वाले) भी हैं—जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकाश्मन्तकसोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणीयानि भवन्ति। (च. सू. अ. ४)। भारतवर्ष में आयुर्वेद के मतानुसार अत्यन्त प्राचीन काल से जामुन (Eugenia jambolana) का उपयोग मधुमेह और बहुमूत्रमेह में किया जाता है। इन रोगों में जामुन का बीज प्रयोग करना चाहिये। सिद्धियोग के प्रमेहाधिकार के 'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थश्योनाकारग्वधासनम्। आम्रं कपित्थं जम्बुं च प्रियालं ककुभं धवम्'॥ इस श्लोक की टीका में श्रीकण्ठदत्त लिखते हैं—आम्रकपित्थं जम्बूनां फलास्थि। रासायनिक विश्लेषण से यह सिद्ध हुआ है कि बीज में जम्बूलाइन (Jambuline) नामक एक ग्लूकोसाइड (Glucoside) होता है, जिसके प्रभाव से मधुमेह में शर्करा तथा मूत्र की राशि कम होती है। पाश्चात्य वैद्य भी आज कल मधुमेह की चिकित्सा में अन्य औषधियों के साथ जामुन का उपयोग (जैसे—Jambul and Codeine, P. D. and Co) करते हैं। बिल्व का भी उपयोग पाश्चात्य वैद्यक में नये और पुराने अतिसार के लिये करते हैं।

तालनारिकेलपनसमोचप्रभृतीनि ॥१७७॥
स्वादुपाकरसान्याहुर्वातपित्तहराणि च।
बलप्रदानि स्निग्धानि बृंहणानि हिमानि च ॥१७८॥

ताल, नारियल, पनस (कटहर Arto carpus Integrifolia), केला प्रभृति फल ॥१७७॥ ये फल रस और विपाक में मधुर, वातपित्तनाशक, बलकारक, स्निग्ध, शरीरपुष्टिकर और शीतल होते हैं ॥१७८॥

फलं स्वादुरसं तेषां तालजं गुरु पित्तजित्।
तद्बीजं स्वादुपाकं च मूत्रलं वातपित्तजित् ॥१७९॥
नालिकेरं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम्।
बलमांसप्रदं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम् ॥१८०॥
पनसं सकषायं तु स्निग्धं स्वादुरसं गुरु।
मोचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम्।
रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु ॥१८१॥

इनमें से ताल का फल रस में मधुर, भारी और पित्तनाशक है। उसका बीज विपाक में मधुर, मूत्रल और वातपित्तनाशक है ॥१७९॥ नारियल (की गिरी) भारी, स्निग्ध, पित्तनाशक, मधुर, शीतल, बल और मांस देने वाली, हृद्य, शरीरपुष्टिकर और मूत्रविशोधक होती है ॥१८०॥ पनस कषायरसयुक्त, मधुर, स्निग्ध और भारी होता है। केला रस में मधुर और कषाय है अत्यंत शीतल नहीं है, रक्तपित्तनाशक, वृष्य, रुचिकर, श्लेष्मकर और भारी है ॥१८१॥

वक्तव्य—तालवर्ग के फल मधुररसभूयिष्ठ हैं। रासायनिक दृष्टि से इनमें स्टार्च, शर्करा इत्यादि कार्बोहैड्रेट अधिक होते हैं। इनके अतिरिक्त इन फलों में मेद, प्रोटीन तथा जीवद्द्रव्य भी होते हैं। इनमें नारिकेल और केला विशेष उल्लेखनीय है। नारियल की गिरी का ताजा दूध शरीरपुष्टि की दृष्टि

---

[1] आमं.

से मछली के तैल (Codliver oil) का मुकाबला कर सकता है। अमेरिका आदि देशों में इसका उपयोग राजयक्ष्मा तथा अन्य क्षयकारक रोगों में शरीरपुष्टि के लिय सफलता से करते हैं। वाग्भट ने अष्टांगहृदय में नारिकेलादि फलों का उपयोग क्षयरोग के लिये लिखा है—बृंहणं गुरु शीतलम्। दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ नारिकेलखंड का भी राजयक्ष्मा में उपयोग होता है। केला भी बहुत पुष्टिकर खाद्य है। इसमें शर्करा, मेद, प्रोटीन, चूना, क्षार, लोह, फास्फारिक अम्ल इत्यादि रासायनिक पदार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त जीवनीयद्रव्य बी. सी भी होते हैं। तीन अच्छी तरह पके हुए केले और डेढ सेर दूध एक मनुष्य के लिये एक समय का उत्तम आहार होता है। अतिसार प्रवाहिकादि रोगों में केला पथ्यकर होता है। इसमें केवल एक दोष यह है कि पचन में कठिन होता है और कुछ लोगों को उसके सेवन से बद्धकोष्ठता उत्पन्न होती है। केला आँतड़ियों में जन्तुनाशन का काम करता है।

द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरमधूकपुष्पप्रभृतीनि ॥१८२॥
रक्तपित्तहराण्याहुर्गुरूणि मधुराणि च।

द्राक्षा (अंगूर), काश्मर्य (खंभारी), खर्जूर (छोहारा और खजूर), मधूकपुष्प (फल) प्रभृति ॥१८२॥ (ये फल सामान्यतया) रक्तपित्तनाशक, भारी और मधुर होते हैं।

तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्निग्धशीतला।
रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा ॥१८३॥
हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्तासृग्वातनाशनम्।
केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्यं फलमुच्यते ॥१८४॥
क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु।
रसे पाके च मधुरं खार्जूरं रक्तपित्तजित् ॥१८५॥
बृंहणीयमहृद्यं च मधूककुसुमं गुरु।
वातपित्तोपशमनं फलं तस्योपदिश्यते ॥१८६॥

इनमें से द्राक्षा दस्तावर, स्वर के लिये हितकर, मधुर, स्निग्ध, शीतल है और रक्तपित्त, ज्वर, श्वास, तृषा, दाह तथा क्षय का नाश करती है ॥१८३॥ काश्मर्यफल हृद्य, मूत्रावरोध, रक्तपित्त और वायु इनका नाश करने वाला, केश के लिये हितकर, रसायन और बुद्धिवर्धक होता है ॥१८४॥ खजूर क्षतक्षयनाशक, हृद्य, शीतल, तृप्तिकारक, रक्तपित्तनाशक, भारी, रस और विपाक में मधुर होता है ॥१८५॥ महुवा के पुष्प शरीरपुष्टिकर, मन को विशेष प्रसन्नता न देने वाले और भारी होते हैं। उसके फल वातपित्तनाशक होते हैं ॥१८६॥

वक्तव्य—द्राक्षादिवर्ग के फल मधुररसप्रधान हैं। इनमें शर्कराजातीय द्रव्य अधिक होता है। इन द्रव्यों से आसव या मद्य प्राचीन तथा अर्वाचीन काल में बनाया जाता है। द्राक्षा के चार भेद होते हैं—१ द्राक्षा (अंगूर), २ कपिलद्राक्षा (काली दाख), ३ क्षुद्र द्राक्षा (किसमिस), ४ गोस्तनीद्राक्षा (मुनक्का)। यहाँ केवल पहले प्रकार की द्राक्षा के गुण वर्णन किये हैं। खर्जूर तीन प्रकार का होता है—१ खर्जूरी (Phoenixsylvestris), २ पिण्डखर्जूरी (छोहारा Phoenix Dactylifera), ३ भूखर्जूरी (Phoenix Farinifera)।

वातामाक्षोडाभिषुकनिचुलपिचुनिकोचकोरुमाणप्रभृतीनि ॥१८७॥
पित्तश्लेष्महराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च।
बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च ॥१८८॥

बादाम, अखरोट, अभिषुक (काजू ?), निचुल (चिलगोजा), पिचु, निकोचक (पिस्ता, Pistacia Vera), उरुमाण (नासपाती ?) प्रभृति फल ॥१८७॥ पित्तकफनाशक, स्निग्ध, उष्ण, दुर्जर, शरीरपुष्टिकर, वातनाशक, बलकारक, और मधुर हैं ॥१८८॥

वक्तव्य—बादाम आदि फल 'सूखे मेवे' वर्ग के हैं। उनमें पौष्टिकांश बहुत होता है। इनका सामान्य रासायनिक संगठन ऐसा है—१५–२० प्रतिशत प्रोटीन, ५०–६० प्रतिशत चरबी, ९–१२ प्रतिशत कार्बोहैड्रेट, ३–५ प्रतिशत सेल्युलोज, १ प्रतिशत खनिज क्षार, ४–५ प्रतिशत पानी। इनमें प्रोटीन और मेद अधिक होने के कारण इनकी बृंहण शक्ति मांस के बराबर होती है। शर्कराजातीय द्रव्य बहुत कम होने के कारण मधुमेही रोगियों के लिये ये फल पथ्यकर होते हैं। परन्तु मांस की अपेक्षा ये पचन में भारी होते हैं। अतः इनको खूब चबा चबा कर खाना चाहिये। प्रधान मेवे का संगठन नीचे दिया है—

नाम	प्रोटीन	वसा	कार्बोहैड्रेट	खनिज	जल
बादाम	२१·०	५४·९	१७·२	२·३	४·६
अखरोट	१५·५७	५७·४३	१३·०८	१·७	१२·२२
पिस्ता	२२·६	५४·८	१५·६	२·८	४·२

कषायं कफपित्तघ्नं किंचित्तिक्तं रुचिप्रदम्।
हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते ॥१८९॥
वसिरं शीतपाक्यं च सारुष्करनिबन्धनम्।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं शीतलं वातकोपनम् ॥१९०॥
विपाके मधुरं चापि रक्तपित्तप्रसादनम्।[1]

लवली फल (हरफा रेवड़ी—Phyllamthus Disticus) कसैला, कफपित्तनाशक, किंचित् कड़वा, रुचिकर, मन को प्रिय, सुगंध युक्त, और विशद होता है ॥१८९॥ वसिर (सूर्यावर्त फल), शीतपाक्य (बलाफल) और अरुष्कर निबन्धन (भल्लातकवृन्त) विष्टम्भजनक, पचने में कठिन, रूक्ष, शीतल, वातप्रकोपक ॥१९०॥ विपाक में मधुर और रक्तपित्त प्रसादक होते हैं।

शीतं कषायं मधुरं टङ्कं मारुतकृद्गुरु ॥१९१॥
स्निग्धोष्णं तिक्तमधुरं वातश्लेष्मघ्नमैङ्गुदम् ॥१९२॥
शमीफलं गुरु स्वादु रूक्षोष्णं केशनाशनम्।
गुरु श्लेष्मातकफलं कफकृन्मधुरं हिमम् ॥१९३॥
करीराक्षकपीलूनि तृणशून्यफलानि च।
स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च ॥१९४॥

---

[1] एतदग्रे—'ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत्' इत्यधिकः पाठः.

तिक्तं पित्तकरं तेषां सरं कटुविपाकि च ।
तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित् ॥१९५॥

टङ्क (नील कपित्थ) शीतल, कषाय, मधुर, वातकारक और भारी है ॥१९१॥ इंगुदीफल स्निग्ध, उष्ण, कड़ुवा, मधुर और वातकफनाशक है ॥१९२॥ शमी का फल भारी, मधुर, रूक्ष, उष्ण और केशनाशक है । श्लेष्मातक (लिसोड़ा, Cordia Myxa) का फल भारी, कफकारक, मधुर और शीतल है ॥१९३॥ करीर (Capparis Aphylla), आक्षिक, पीलु (Salvadora Persica) और तृणशून्य (मल्लिका या केतकी) इनके फल मधुर, कड़वे, चरपरे, गरम और कफ-वातनाशक होते हैं ॥१९४॥ इनमें से पीलु का फल (रस में) कड़वा, पित्तल, दस्तावर, विपाक में कटु, तीक्ष्ण, गरम, कटु, स्नेहयुक्त और कफवातनाशक है ॥१९५॥

आरुष्करं तौवरकं कषायं कटुपाकि च ।
उष्णं क्रिमिज्वरानाहमेहोदावर्तनाशनम् ॥१९६॥
कुष्ठगुल्मोदरार्शोघ्नं कटुपाकि तथैव च ।[1]
करञ्जकिंशुकारिष्टफलं जन्तुप्रमेहनुत् ॥१९७॥
रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।
तिक्तमीषद्विषहितं विडङ्गं क्रिमिनाशनम् ॥१९८॥

तौवरक फल व्रणकारक, कषाय, विपाक में कटु और गरम है और कृमि, ज्वर, अफारा, प्रमेह और उदावर्त इनका नाश करता है ॥१९६॥ करंज, ढाक और नीम के फल कृमि, प्रमेह, कुष्ठ, गुल्म, उदर, और अर्श इनका नाश करने वाले तथा विपाक में कटु होते हैं ॥१९७॥ विडंग रूक्ष, उष्ण, विपाक में कटु, हलका, वातकफनाशक, कड़वा, विष में हितकर और कृमिनाशक होते हैं ॥१९८॥

वक्तव्य—तुवरक, करंज, ढाक, नीम और विडंग आभ्यंतरीय तथा बाह्य प्रयोग से जीवाणुनाशक (Antiseptic) और कृमिनाशक (Anthelmintics) हैं । इनमें से तुवरक, करंज और नीम अनेक प्रकार के त्वचा रोगों में तथा कुष्ठ में लाभदायक होते हैं कुष्ठ के लिये तो पाश्चात्य वैद्यक में भी तुवरक तेल के विविध योगों का ही प्रयोग होता है । वाग्भट ने इसके फल मज्जा का प्रयोग कुष्ठ के लिये लिखा है—रसायनप्रयोगेण तुवरास्थीनि शीलयेत ॥ (चि. अ. १९) । ढाक के बीज का उपयोग गोल कृमि (Round Worm) के लिये उत्तम होता है । विडंग का उपयोग चपटे कृमि (Tape Worm) के लिये उत्तम होता है । इन ओषधियों का समावेश पाश्चात्य वैद्यक में भी किया गया है ।

व्रण्यमुष्णं सरं मेध्यं दोषघ्नं शोफकुष्ठनुत् ।
कषायं दीपनं चाम्लं चक्षुष्यं चाभयाफलम् ॥१९९॥
भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यं क्रिमिनाशनम् ।
चक्षुष्यं स्वादुपाक्याक्षं कषायं कफपित्तजित् ॥२००॥

हरड़े का फल व्रण के लिये हितकर, उष्ण (वीर्य), दस्तावर, बुद्धिवर्धक, दोषनाशक, शोथ और कुष्ठनाशक, कषाय रस वाला, अग्निदीपक, खट्टा और नेत्र के लिये हितकर होता है ॥१९९॥ बहेड़े का फल भेदक, हलका, रूक्ष, उष्ण, स्वरनाशक, कृमिनाशक, नेत्र के लिये हितकर, विपाक में मधुर, कषाय और कफपित्तनाशक है ॥२००॥

कफपित्तहरं रूक्षं वक्त्रक्लेदमलापहम् ।
कषायमीषन्मधुरं किंचित् पूगफलं सरम् ॥२०१॥
जातीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम् ।
कक्कोलकं लवङ्गं च तिक्तं कटु कफापहम् ॥२०२॥
लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम् ।
सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघु लेखनः ॥२०३॥
तृष्णायां मुखशोषे च वैरस्ये चापि पूजितः ।
लताकस्तूरिका तद्वच्छीता बस्तिविशोधनी ॥२०४॥

पूगीफल (सुपारी) कफपित्तनाशक, रूक्ष, मुख का गीलापन और मैल को दूर करने वाला, कषाय, किंचित् मधुर और किंचित् दस्तावर है ॥२०१॥ जातीकोश (जावित्री), कर्पूर, जातीफल, कटुका फल (लताकस्तूरी का या लघुकक्कोलकफल), कक्कोलक (Cubeba officinalis) और लवंग ये कड़वे, चरपरे, कफनाशक ॥२०२॥ हलके, तृषाशामक और मुख का गीलापन तथा दुर्गंध इनके नाश करने वाले हैं । कपूर कड़ुवा, सुगंधयुक्त, शीतल, हलका, लेखन है ॥२०३॥ और तृषा, मुख की खुश्की और अरुचि में फायदेमन्द होता है । लताकस्तूरिका (मुश्क दाना Hibiscus Abelmoschus) कर्पूर के अनुसार गुणवाली, शीतल और मूत्रविशोधक होती है ॥२०४॥

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ।
वैभीतको मदकरः कफमारुतनाशनः ॥२०५॥
कषायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशनः ।
तृष्णाच्छर्द्यनिलघ्नश्च तद्वदामलकस्य च ॥२०६॥
बीजपूरकशम्याकमज्जा कोशाम्रसंभवः ।
स्वादुपाकोऽग्निबलकृत् स्निग्धः पित्तानिलापहः ॥२०७॥
यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादृशम् ।
तस्य तस्यैव वीर्येण मज्जानमपि निर्दिशेत् ॥२०८॥

प्रियालमज्जा (चिरौंजी) मधुर, वृष्य, वातपित्तनाशक है । बहेड़े की मज्जा मदकर और वातकफनाशक है ॥२०५॥ कोलमज्जा (बेर की मींगी), कषाय, मधुर, पित्तनाशक, तृषाशामक, वमनहर और वातहर है । आँवले की गुठली की गिरी भी गुण में कोलमज्जा के गुणानुसार होती है ॥२०६॥ मातुलुंग (बिजोरा), शम्याक (किरमाल), और कोशाम्र इनके बीज की गिरी विपाक में मधुर, अग्नि का बल बढ़ाने वाली, स्निग्ध और वातपित्तनाशक होती है ॥२०७॥ जिस फल का जैसा वीर्य होता है उसी के अनुसार उसकी मज्जा (के गुणों को) जानना चाहिये ॥२०८॥

फलेषु परिपक्कं यद्गुणवत्तदुदाहृतम् ।
बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम् ।
ग्राह्युष्णं दीपनं तद्धि कषायं कटु तिक्तकम् ।
व्याधितं क्रिमिजुष्टं च पाकातीतमकालजम् ॥२०९॥

---

[1] एतदग्रे—'अङ्कोलस्य फलं विस्रं गुरु श्लेष्महरं हिमम्' इत्यधिकः पाठः ।

वर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥२१०॥

इति फलवर्गः।

बिल्वफल के अतिरिक्त अन्य फलों में जो ठीक पके हुए हैं वे ही (अपने) गुणों से युक्त होते हैं। बिल्व तो कच्चा ही गुणकारक होता है। वह ग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, कषाय, कटु और तिक्त (रसयुक्त) होता है ॥२०९॥ जो रोग से खराब हुआ हो, जो कीड़ों से खाया हुआ हो, जो अधिक पका हुआ (गला सड़ा) हो, जो अकाल में उत्पन्न हुआ हो तथा जो अपक्व (कच्चा) हो ऐसा सर्व (प्रकार का) फल त्यागना (खाना नहीं) चाहिये ॥२१०॥

वक्तव्य—खराब भूमि में उत्पन्न हुआ, खराब पानी में डूबा हुआ, मक्खियों से तथा मलमूत्रादि से दूषित हुआ फल सेवन नहीं करना चाहिये—हिमानिलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम्। जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम् ॥ (वाग्भट)। आदिग्रहणेन शवकोथमूत्रपुरीषादीनां ग्रहणम् ॥ (अरुणदत्त)। इस प्रकार के खराब फल सेवन करने से अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पचनसंस्थान के अन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः।—

तत्र पुष्पफलालाबुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥
पित्तघ्नान्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च।
सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके आगे शाकों का वर्णन करते हैं। उनमें पुष्पफल (कूष्मांड), अलाबु (तूंबी), कालिंदक (तरबूज) इत्यादि शाक ॥२११॥ पित्तनाशक, वातजनक, किंचित् कफकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विपाक में मधुर होते हैं ॥२१२॥

पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं मध्यं कफावहम्।
शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥२१३॥
सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम्।
दृष्टिशुक्रक्षयकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥२१४॥
अलाबुर्भिन्नविट्का तु रूक्षा गुर्व्यतिशीतला।
तिक्तालाबुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

इनमें से बालकूष्माण्ड (कच्चा पेठा) पित्तनाशक होता है, मध्य (अधपका) कफनाशक होता है और खूब पका हुआ शुक्ल हलका, उष्ण, किंचित् सलोना, अग्निदीपक और मूत्रविशोधक होता है ॥२१३॥ सब दोषों को शांत करता है, हृदय को हितकर है और (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा प्रभृति) मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये पथ्यकर होता है। कालिन्द दृष्टि और शुक्र का नाशक और वातकफजनक है ॥२१४॥ अलाबु (मीठी तोंबी) मल का भेदन करने वाली, रूक्ष, भारी और अतिशीतल है। कड़वी तोंबी अहृद्य, वमन करने वाली और वातपित्तनाशक होती है ॥२१५॥

वक्तव्य—बेल वाले फलों में कुम्हडा सब से श्रेष्ठ माना गया है—वल्लीफलानां कूष्माण्डं प्रवरम्। (वाग्भट)। कूष्माण्डं प्रवरं वदन्ति भिषजो वल्लीफलानां पुनः ॥ (राजनिघंटुः)।

त्रपुसैर्वारुककर्कारुकशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥
स्वादुतिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च।
सृष्टमूत्रपुरीषाणि[1] रक्तपित्तहराणि च ॥२१७॥

त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककड़ी), कर्कारुक, शीर्णवृन्त (ये ककड़ी के ही भेद हैं) इत्यादि ॥२१६॥ ये रस में मधुर और कड़वे, कफवातकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले और रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२१७॥

बालं सुनील त्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम्।
तत्पाण्डु कफकृज्जीर्णमम्लं वातकफापहम् ॥२१८॥
एर्वारुकं सकर्कारु संपक्वं कफवातकृत्।
सक्षारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥
सक्षारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम्।
भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्ठीलनुल्लघु ॥२२०॥

इनमें से कच्ची नीली ककड़ी पित्तनाशक होती है; पूर्ण पक्व सफेद कफकारक और खट्टी वातकफनाशक होती है ॥२१८॥ पूर्ण पक्व एर्वारुक और कर्कारु कफवातजनक, किंचित् सलोना, मधुर, रुचिकर, अग्निदीपक और किंचित् पित्तकर होता है ॥२१९॥ शीर्णवृन्त खारापन लिये हुए मधुर, कफनाशक, भेदक, अग्निदीपक, हृद्य, आनाह और (मूत्र) अष्ठीला (Enlargement of the prostrate) को दूर करने वाला तथा लघु होता है ॥२२०॥

पिप्पलीमरिचशृङ्गवेरार्द्रकहिङ्गुजीरककुस्तुम्बुरुजम्बीरसुमुखसुरसार्जकभूस्तृणसुगन्धककासमर्दककालमालकुठेरकक्षवकखरपुष्पशिग्रुमधुशिग्रुफणिज्झकसर्षपराजिकाकुलाहलावगुत्थगण्डीरतिलपर्णिकावर्षाभूचित्रकमूलकलशुनपलाण्डुकलायप्रभृतीनि ॥२२१॥
कटून्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च।
कृतान्[2]येषूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

पिप्पली, मरिच, शृङ्गवेर (शुण्ठी), आर्द्रक (अदरख), हिंगु, जीरक, कुस्तुंबुरु (धनिया), जम्बीर (नींबू), सुमुख, सुरस, अर्जक (ये तीन तुलसी के भेद हैं), भूस्तृण (रोहिष), सुगंधक, कासमर्दक (कसोंदी), कालमाल (काला अजवला), कुठेरक (तुलसी का भेद), क्षवक (नाक छिंकनी), खरपुष्प (छिंकनीभेद या वनबर्बरिकाभेद), शिग्रु (सफेद सहिजन), मधुशिग्रु (लाल फूल का सहिजन), फणिज्झक (मरवा), सर्षप (सफेद सरसों), राजिका (राई), कुलाहल, अवगुत्थ (रक्तगुंजा), गण्डीर (सूरण), तिलपर्णिका (रक्तचन्दन या चोरक), वर्षाभू (श्वेत पुनर्नवा), चित्रक, मूलक, लशुन, पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर का साग) प्रभृति ॥२२१॥ सामान्यतया ये साग कटु, उष्ण, रुचिकर, वातकफहर होते हैं, और कई खाद्य

---

[1] गुरुविष्टम्भिशीतानि स्वादूनि कफकृन्ति च। सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ॥. [2] कृतान्नेषू०.

द्रव्यों में संस्कार के लिये (मसाले के रूप में) विविध प्रकार से उपयोग में आते हैं ॥२२२॥

तेषां गुर्वी स्वादुशीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा ।
शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी ॥२२३
स्वादुपाक्यार्द्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च ।
कटूष्णं लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित् ॥२२४
नात्युष्णं नातिशीतं च वीर्यतो मरिचं सितम् ।
गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यं च विशेषतः ॥२२५
नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु ।
वृष्योष्णं रोचनं हृद्यं सस्नेहं लघु दीपनम् ॥२२६
कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूलनुत् ।
कटूष्णं रोचनं हृद्यं वृष्यं चैवार्द्रकं स्मृतम् ॥२२७
लघूष्णं पाचनं हिङ्गु दीपनं कफवातजित् ।
कटु स्निग्धं सरं तीक्ष्णं शूलाजीर्णविबन्धनुत् ॥२२८
तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्धनम् ।
कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् ॥२२९
कारवी करवी तद्वद्विज्ञेया सोपकुञ्चिका ।
भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता ॥२३०
आर्द्रा कुस्तुम्बुरी कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम् ।
सा शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशनी ॥२३१
दोषघ्नी कटुका किंचित् तिक्ता स्रोतोविशोधनी ।

उनमें से हरी (आर्द्रा) पिप्पली भारी, मधुर, शीतल, कफकारक होती है । सूखी पिप्पली कफवातनाशक, वृष्य तथा पित्त का विरोध न करने वाली (कुछ लोगों की दृष्टि से शुष्क पिप्पली पित्तप्रकोपक होती है—शुष्का पित्तप्रकोपिनी राजवल्लभ) होती है ॥२२३॥ हरी (काली) मरिच विपाक में मधुर, भारी, कफ का प्रसेक करने वाली है । सूखी मरिच कटु, गरम, हलकी, अवृष्य और कफवातनाशक होती है ॥२२४॥ सफेद मरिच (शोभांजन के बीज) वीर्य में न बहुत गरम हैं, न शीतल हैं; अन्य प्रकार की मरिच की अपेक्षा अधिक गुणकर हैं, और नेत्र के लिये हितकर हैं ॥२२५॥ शुण्ठी कफवातनाशक, विपाक में मधुर, कटु, वृष्य, उष्ण, रुचिकारक, हृद्य, स्निग्ध, हलकी और अग्निदीपक है ॥२२६॥ अदरख कफवातनाशक, स्वर के लिये हितकर, मलावरोध, अफारा और शूल का नाश करने वाला, कटु, उष्ण, रुचिकारक, हृद्य और वृष्य है ॥२२७॥ हिंगु हलका, उष्ण, पाचक, अग्निदीपक, कफवातनाशक, कटु, स्निग्ध, सारक, तीक्ष्ण, शूल, अजीर्ण और मलावरोधनाशक है ॥२२८॥ दोनों जीरे (श्वेत और पीत) तीक्ष्ण, उष्ण, विपाक में कटु, रुचिकारक, पित्तवर्धक, अग्निदीपक, कटु, वातकफनाशक और सुगंधयुक्त होते हैं ॥२२९॥ कारवी, करवी और उपकुञ्चिका (कलौंजी, ये तीन जीरक के ही भेद हैं) ये भी गुण में जीरक की भाँति होते हैं । हरा धनिया अनेक प्रकार के भक्ष्य (अपूपादि), व्यंजन (मसाले), और भोज्य (अन्नयवागु इत्यादि) पदार्थों में डालने से उनको स्वादु, सुगंधयुक्त और मन को आनंद देने वाले बनाता है । सूखा धनिया विपाक में मधुर, स्निग्ध, तृषाशामक, दाहनाशक ॥२३०,२३१॥ दोषनाशक, कटु, किंचित् कड़वा और स्रोतोविशोधक होता है ।

जम्बीरः पाचनस्तीक्ष्णः क्रिमिवातकफापहः ॥२३२॥
सुरभिर्दीपनो रुच्यो मुखवैशद्यकारकः ।
कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशनः ॥२३३॥
पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः ।
तद्वत्तु सुमुखो ज्ञेयो विशेषाद्गरनाशनः ॥२३४॥
कफघ्ना लघवो रूक्षास्तीक्ष्णोष्णाः पित्तवर्धनाः ।
कटुपाकरसाश्चैव सुरसार्जकभूस्तृणाः ॥२३५॥

जम्बीर (नींबू) पाचक, तीक्ष्ण, कृमि, वात और कफ इनका नाशक ॥२३२॥ सुगन्धि, अग्निदीपक, रुचिकारक और मुख को साफ करने वाला है । सुरसा (तुलसी), कफ, वात, विष, श्वास, कास, दुर्गंध इनका नाश करने वाली ॥२३३॥ पित्तकारक और पार्श्वशूल को दूर करने वाली होती है । सुमुख सुरस की भाँति होती है, परन्तु विशेष करके गर (कृत्रिम विष) का नाश करती है ॥२३४॥ सुरस, अर्जक और भूस्तृण कफनाशक, लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तवर्धक, रस और विपाक में कटु होते हैं ॥२३५॥

मधुरः कफवातघ्नः पाचनः कण्ठशोधनः ।
विशेषतः पित्तहरः सतिक्तः कासमर्दकः ॥२३६॥
कटुः सक्षारमधुरः शिग्रुस्तिक्तोऽथ पिच्छिलः ।
मधुशिग्रुः सरस्तिक्तः शोफघ्नो दीपनः कटुः ॥२३७॥
विदाहि बद्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च ।
त्रिदोषं सार्षपं शाकं गाण्डीरं वेगनाम च ॥२३८॥
चित्रकस्तिलपर्णी च कफशोफहरे लघू ।
वर्षाभूः कफवातघ्नी हिता शोफोदरार्शसाम् ॥२३९॥

कासमर्द मधुर, कफवातनाशक, पाचक, कण्ठशोधक, विशेषरूप से पित्तनाशक और (रस में) कड़वा होता है ॥२३६॥ सहिजना कटु, क्षारपन लिये हुए मधुर, कड़वा और पिच्छिल है । लाल सहिजना सारक, कड़वा, शोथहर, अग्निदीपक और कटु है ॥२३७॥ सरसों का शाक, गण्डीर और वेगनाम (महाकाल फल) विदाहजनक, मलमूत्रावरोधक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण और त्रिदोषजनक है ॥२३८॥ चित्रक और तिलपर्णी कफनाशक, शोथहर, लघु होती हैं । श्वेतपुनर्नवा कफवातनाशक है और शोथ, उदर तथा अर्श के लिये लाभदायक होती है ॥२३९॥

कटुतिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपनी ।
सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका ॥२४०॥
महत्तद्गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत् ।
तदेव स्नेहसिद्धं तु पित्तनुत् कफवातजित् ॥२४१॥
त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु ।
विष्टम्भि वातलं शाकं शुष्कमन्यत्र मूलकात् ॥२४२॥

---

१ क्रिमिवातविषापहः. २ पित्तलः.

पुष्पं च पत्रं च फलं तथैव
यथोत्तरं ते गुरवः प्रदिष्टाः ।
तेषां तु पुष्पं कफपित्तहन्तृ
फलं निहन्यात् कफमारुतौ च ॥२४३॥

(मूली—) मूलकपोतिका (बालमूली) कटु और तिक्तरसयुक्त, हृद्य, रुचिकर, अग्निदीपक, सर्वदोषनाशक, लघु और कंठ के लिये हितकर है ॥२४०॥ बड़ी मूली जो अग्नि पर पक्व नहीं की गई है भारी, विष्टम्भजनक, तीक्ष्ण और त्रिदोषजनक होती है। वही (अग्नि पर तैल घृतादि) स्नेहद्रव्य से सिद्ध की हुई त्रिदोषशामक होती है ॥२४१॥ सूखी मूली त्रिदोषहर, विषदोषनाशक और लघु है। मूली के सिवाय अन्य सब सूखे शाक विष्टम्भजनक और वातकर होते हैं ॥२४२॥ जो गुणधर्म बाल, मध्य, वृद्ध, स्निग्ध, सिद्ध और शुष्क मूली के संबंध में (तथैव) निर्दिष्ट किये हैं वैसे ही मूली के पुष्प, पत्र और फली के बारे में होते हैं। पुष्प, पत्ती और फली उत्तरोत्तर अधिकाधिक हलकी होती हैं। इनमें से पुष्प कफपित्तनाशक हैं, और फली वातकफनाशक होती हैं ॥२४३॥

वक्तव्य—कुछ टीकाकार 'पुष्पं च पत्र च फलं तथैव' इसका अर्थ सर्वसामान्य शाकों के संबंध में समझते हैं और 'लघवः' के स्थान में 'गुरवः' पाठ स्वीकार करते हैं। परन्तु इस प्रकार का अर्थ निम्न कारणों से अनुचित मालूम होता है। वास्तव में यह श्लोक मूली के संबंध में ही लिखा गया है। (१) डल्हणाचार्य भी इस श्लोक को 'मूलकविषयोऽयं' मानते हैं। (२) जिस सिलसिले में यह श्लोक लिखा गया है उसी के अनुसार भी यह मूलकविषयक ही हो सकता है। (३) शाकों की गुरुता के संबंध में स्वतन्त्र वर्णन शाकों का गुण धर्म विवरण पूर्ण करने के पश्चात् किया गया है—पुष्पं पत्रं फलं नालं कन्दाश्च गुरवः क्रमात् ॥ (४) इस श्लोक के वर्णन के अनुसार प्रत्येक शाक के पुष्प कफपित्तनाशक और फल कफवातनाशक नहीं हो सकते हैं। केवल एक ही शाक के बारे में यह हो सकता है और वह शाक पूर्वापर सबंध से मूली ही हो सकता है। (५) राजवल्लभ में ये गुण मूली के शाक के ही वर्णन किये हैं—मूलकं गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत । तदेव स्नेहपक्वं चेत् कफकृद्वातपित्तजित् ॥ शुष्कं त्रिदोषशमन शोथघ्नं गरजिल्लघु । तत् 'पुष्पं' कफपित्तघ्नं तत् 'फलं' कफवातजित् ॥

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च
गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्यः ।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षु-
भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥२४४॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूल-
विबन्धगुल्मारुचिकासशोफान् ।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु-
समीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥२४५॥

(लशुन—) लहशुन स्निग्ध, गरम, तीक्ष्ण, कटु, चिकना, भारी, सारक, (कुछ) मधुर, बलकारक और वृष्य है; बुद्धि, स्वर, वर्ण और नेत्र के लिये हितकर है, टूटी हड्डी को जोड़ता है ॥२४४॥ हृद्रोग, जीर्ण ज्वर, कुक्षिशूल, मलावरोध, गुल्म, अरोचक, कास, शोथ, अर्श, कुष्ठ, अग्निमांद्य, कृमि, वायु, श्वास और कफ इनका नाश करता है ॥२४५॥

वक्तव्य—रसोन—एक रस हीन होने के कारण लशुन 'रसोन' कहलाता है—पंचभिश्च रसैर्युक्तः रसेनाम्लेन वर्जितः । तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः ॥ कटुकश्चापि मूलेषु, तिक्तः पत्रेषु संस्थितः । नाले कषाय उद्दिष्टो, नालाग्रे लवणः स्मृतः ॥ बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः ॥ (भावप्रकाश) । समीरण—पित्तरक्तविनिर्मुक्तसमस्तावरणाकृते । शुद्धे वा विद्यते वायौ न द्रव्यं लशुनात् परम् ॥ (अष्टांगहृदय)। पित्तावृत और रक्तावृत वायु को छोड़कर अन्य सब आवरण युक्त या शुद्ध वायु के लिये लशुन परमौषध है।

नव्यमत—रसोन में स्टार्च, गोंद, अल्ब्यूमिन, शर्करा और एक विशेष उग्रगंध तैल होता है। रसोन के गुणधर्म इसी तैल के ऊपर निर्भर होते हैं। इस तैल में अलिल, प्रोपिल डाय सल्फाइड, डाय अलिल, डाय सल्फाइड (Allyl, Propyl disulphide, Diallyl disulphide) तथा गंधक के अन्य यौगिक होते हैं। इस तैल का गंध बड़ा खराब होता है। इसके गंध के संबंध में जगन्नाथ पंडित लिखते हैं—सकलरसायनमहितो गंधेनैकेन लशुन इव ॥ यह अग्निदीपक, वातानुलोमक, संधिवातनाशक, रसायन (Alterative) और कफनिःसारक (Expcatorant) है। आयुर्वेद में रसोन एक श्रेष्ठ प्रकार का रसायन माना गया है—साक्षादमृतसंभूतेर्ग्रामणीः स रसायनम् । (वाग्भट)। लशुन श्वास, कास, राजयक्ष्मा, फुफ्फुसविद्रधि इत्यादि फुफ्फुस के रोगों में बहुत लाभदायक होता है। इसलिये इसका उपयोग टिंकचर, सायरप तथा Allylco, Allylene, Allylene co इत्यादि पेटेंट दवाई के स्वरूप में आज कल पाश्चात्यवैद्यक में भी किया जाता है।

नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च
तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च ।[1]
बलावहः पित्तकरोऽथ किंचित्
पलाण्डुरग्निं च विवर्धयेत्तु ॥२४६॥
स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकर्ता
बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च ।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः
स पिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः ॥२४७॥

(पलाण्डु—) पलाण्डु (प्याज) अधिक उष्णवीर्य नहीं है, वायुनाशक है, कटु है, भारी है, अधिक कफकारक नहीं है, बलकारक है, किंचित् पित्तकर है और अग्निवर्धक है ॥२४६॥ क्षीरपलाण्डु (प्याज का भेद) स्निग्ध, रुचिकर, धातुओं को स्थिर करने वाला, बलकारक, बुद्धिवर्धक, कफकारक, शरीरपुष्टिकर, मधुर, भारी, रक्तपित्त में हितकर और पिच्छिल है ॥२४७॥

कलायशाकं पित्तघ्नं कफघ्नं वातलं गुरु ।
कषायानुरसं चैव विपाके मधुरं च तत् ॥२४८॥

---

[1] शीतलं.

कलायशाक (मटर का शाक) पित्तकफनाशक, वातजनक, भारी, अनुरस में कषाय और विपाक में मधुर है ॥२४८॥

चुच्चूयूथिकातरुणीजीवन्तीबिम्बीतिकानदी(न्दी)भल्लातकच्छगलान्त्रीवृक्षादनीफञ्जीशाल्मलीशेलुवनस्पतिप्रसवशणकर्बुदारकोविदारप्रभृतीनि ॥२४९॥
कषायस्वादुतिक्तानि रक्तपित्तहराणि च ।
कफघ्नान्यनिलं कुर्युः संग्राहीणि लघूनि च ॥२५०॥

चुच्चू, यूथिका (जूँई Jasminum Auriculatum), तरुणी (सेबंती), जीवन्ती, बिम्बीतिका (कुंदरु Cephalandra Indica की पत्ती), नन्दी (धववृक्ष), भल्लातक (भिलावा), छगलान्त्री (वृद्धदारुक), वृक्षादनी (बंदा), फञ्जी (भारंगी), शाल्मली (सेमल), शेलु (लिसोड़ा), वनस्पति प्रसव (औदुंबरादि अनेक वनस्पति के कोमल पल्लव), शण, कर्बुदार (श्लेष्मातक भेद या श्वेत कांचन), कोविदार (रक्तकांचन) प्रभृति ॥२४९॥ (शाक सामान्यतया) कषाय, मधुर, कड़वे, रक्तपित्तनाशक, कफनाशक, वातल, संग्राही और हलके होते हैं ॥२५०॥

लघुः पाके च जन्तुघ्नः पिच्छिलो व्रणिनां हितः ।
कषायमधुरो ग्राही चुच्चूस्तेषां त्रिदोषहा ॥२५१
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती समुदाहृता ।
वृक्षादनी वातहरा फञ्जी स्वल्पबला मता ॥२५२
क्षीरवृक्षोत्पलादीनां कषायाः पल्लवाः स्मृताः ।
शीताः संग्राहिणः शस्ता रक्तपित्तातिसारिणाम् ॥२५३

इनमें से चुच्चूशाक विपाक में लघु, कृमिनाशक, पिच्छिल, व्रण वालों के लिये हितकर, कषाय और मधुर, ग्राही और त्रिदोषनाशक है ॥२५१॥ जीवन्ती शाक नेत्र के लिये हितकर, सर्वदोषनाशक है। बांदा वातनाशक और फंजीशाक अल्प बलकारक है ॥२५२॥ अश्वत्थादि क्षीर वृक्ष तथा कमल आदि के पत्ते रस में कषाय, शीतल, संग्राहक और रक्तपित्त तथा अतिसार से पीडित रोगियों के लिये लाभदायक होते हैं ॥२५३॥

वक्तव्य—जीवन्ती शाक सर्व शाकों में श्रेष्ठ है। जीवन्तीशाकं शाकानाम्। (चरक)। तथापि इसके स्वरूप के संबंध में प्राचीन काल से ही मतभिन्नता दिखाई देती है। डल्हण के अनुसार जीवन्ती 'पाठासमानपत्रा', श्रीकण्ठ के अनुसार 'जीवन्ती पटोलसदृशैः पत्रैः' होती है।

पुनर्नवावरुणतर्कार्युरुबूकवत्सादनीबिल्वशाकप्रभृतीनि ॥२५४॥
उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च ।
तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोफनाशनम् ॥२५५॥

पुनर्नवा (साठी), वरुण, तर्कारी (अरणी), उरुबक (एरण्ड), वत्सादनी (गिलोय), बिल्व शाक इत्यादि ॥२५४॥ (ये शाक सामान्यतया) गरम, मधुर, कड़वे और वातनाशक हैं। इनमें से साठी का शाक विशेषतया शोथनाशक है ॥२५५॥

वक्तव्य—पुनर्नवा दस्तावर और मूत्रल होने के कारण शोथ का नाश करती है। उसमें पुनर्नवीन (Punarnavine) नामक तत्त्व होता है जो वृक्क के ऊपर कार्य करके मूत्र के द्वारा शरीर में संचित हुए जल का नाश करके शोथ दूर करता है।

तण्डुलीयकोपोदिकाऽश्वबलाचिल्लीपालङ्क्यावास्तूकप्रभृतीनि ॥२५६॥
सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ।
मन्दवातकफान्याहू रक्तपित्तहराणि च ॥२५७॥

तण्डुलीयक (चौलाई, Amaranthus Polygamus), उपोदिका (पोई का शाक, Bassela Alba), अश्वबला (मेथीका भेद), चिल्ली (वास्तुक भेद Chenopodiaccae जाति की शाक), पालंक्या (पालक Spinacea oleracca), वास्तूक (बथुआ Chenopodiaccae जाति का शाक) इत्यादि शाक ॥२५६॥ (सामान्यतया) मलमूत्र के प्रवर्तक, किंचित् क्षार युक्त मधुर, थोड़ा वायु और कफ पैदा करने वाले और रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२५७॥

मधुरो रसपाकाभ्यां रक्तपित्तमदापहः ।
तेषां शीततमो रूक्षस्तण्डुलीयो विषापहः ॥२५८॥
स्वादुपाकरसा वृष्या वातपित्तमदापहा ।
उपोदिका सरा स्निग्धा बल्या श्लेष्मकरी हिमा ॥२५९॥
कटुर्विपाके कृमिहा मेधाग्निबलवर्धनः ।
सक्षारः सर्वदोषघ्नो वास्तूको रोचनः सरः ॥२६०॥
चिल्ली वास्तूकवज्ज्ञेया पालङ्क्या तण्डुलीयवत् ।
वातकृद्बद्धविण्मूत्रा रूक्षा पित्तकफे हिता ॥२६१॥
शाकमाश्वबलं रूक्षं बद्धविण्मूत्रमारुतम् ।

इनमें से चौलाई का शाक रस और विपाक में मधुर, रक्तपित्तनाशक, मदहर, रूक्ष और विषनाशक है ॥२५८॥ पोई का शाक रस और विपाक में मधुर, वृष्य, वातपित्त और मद नाशक, सारक, स्निग्ध, बलकारक, कफकारक और शीतल होता है ॥२५९॥ बथुआ का साग विपाक में कटु, कृमिनाशक, बुद्धि, अग्नि और बल बढ़ाने वाला, किंचित् क्षारीय, सर्वदोषनाशक, रुचिकर और सारक होता है ॥२६०॥ चिल्ली के गुण बथुआ के अनुसार जानने चाहिये। पालक चौलाई के अनुसार, वातकारक, मलमूत्रावरोध, रूक्ष और पित्त कफ में हितकर होती है ॥२६१॥ आश्वबल का शाक रूक्ष और मल, मूत्र तथा अधोवायु का अवरोधक है।

वक्तव्य—वास्तुक और चिल्ली शाक के बीज में चेनोपोडिअम नामक तैल (Oil of chenopodium) होता है। यह तैल केंचवें (गोल कृमि Round Worms) और अंकुश कृमि (Hook Worm) के लिये उत्तम कृमिनाशक (Anthelmintic) सिद्ध हुआ है।

मण्डूकपर्णीसप्तलासुनिषण्णकसुवर्चलापिप्पलीगुडूचीगोजिह्वाकाकमाचीप्रपुन्नाडावल्गुजसतीनबृहतीकण्टकारिकाफलपटोलवार्ताकुकारवेल्लककटुकिकाकेबुकोरुबूकपर्पटककिराततिक्तकर्कोटकारिष्टकोशातकीवेत्रकरीराटरूषकार्कपुष्पीप्रभृतीनि ॥२६२॥

रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च ।
कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च ॥२६३॥

मण्डूकपर्णी, सप्तला, सुनिषण्णक (चौपतिया Marsilea Iwadrifolia), सुवर्चला (सूर्यावर्त, हुरहुर Cleome Vesica), पिप्पली, गुडूची (गिलोय), गोजिह्वा (गोभी Elephantopus Scaber), काकमाची (मकोय Solanum Nigrum), प्रपुन्नाड (पमाड़ Cassia Tora), अवल्गुज (वाकुची Vernonia Anthalmintica), सतीन (मटर का भेद), बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), पटोल (परवल), वार्ताकु (बैंगन), कारवेल्लक (करेला), कटुकिका (अरण्यकासमर्द), केवुक (केऊ Costus Speciosus), उसबूक (रक्त एरण्ड), पर्पटक(पित्तपापड़ा), किराततिक्त (चिरायता), कर्कोटक (ककोड़ा Momordica Dioica), अरिष्ट (नीम), कोशातकी (तोरई), वेत्रकरीर (वेत की कोंपल), अटरूपक (अडूसा), अर्कपुष्पी इत्यादि ॥२६२॥ (ये शाक सामान्यतया) रक्तपित्तनाशक, हृद्य, बहुत हलके हैं और कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, श्वास, कास और अरोचक इनका नाश करते हैं ॥२६३॥

कषाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा ।
लघ्वी मण्डूकपर्णी तु तद्वद्गोजिह्विका मता ॥२६४॥
अविदाही त्रिदोषघ्नः संग्राही सुनिषण्णकः ।
अवल्गुजः कटुः पाके तिक्तः पित्तकफापहः ॥२६५॥
ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम् ।
नात्युष्णशीतं कुष्ठघ्नं काकमाच्यास्तु तद्विधम् ॥२६६॥
कण्डुकुष्ठकृमिघ्नानि कफवातहराणि च ।
फलानि बृहतीनां तु कटुतिक्तलघूनि च ॥२६७॥
कफपित्तहरं व्रण्यमुष्णं तिक्तमवातलम् ।
पटोलं कटुकं पाके वृष्यं , रोचनदीपनम् ॥२६८॥

मण्डूकपर्णी कषाय, पित्त में हितकर, रस और विपाक में मधुर, शीतल और हलकी होती है । उसी के अनुसार गोजिह्वा गुणकारी है ॥२६४॥ सुनिषण्णक विदाह न करने वाला, त्रिदोषनाशक और संग्राही है । अवल्गुज विपाक में कटु, तिक्त और पित्तकफनाशक है ॥२६५॥ सतीन का शाक किंचित् तिक्त, त्रिदोषनाशक, कटु, न बहुत गरम न बहुत शीतल और कुष्ठनाशक है । काकमाची का शाक, इसी के अनुसार होता है ॥२६६॥ बड़ी और छोटी कटेरी के फल कण्डु, कुष्ठ और कृमि के नाशक, कफवातनाशक और कटुतिक्त तथा लघु होते हैं ॥२६७॥ पटोल कफपित्तनाशक, व्रणों में हितकर, उष्ण, तिक्त, वात न करने वाला, विपाक में कटु, वृष्य, रुचिकर और अग्निदीपक होता है ॥२६८॥

कफवातहरं तिक्तं रोचनं कटुकं लघु ।
वार्ताकं दीपनं प्रोक्तं जीर्णं सक्षारपित्तलम् ।
तद्वत् कर्कोटकं विद्यात् कारवेल्लकमेव च ॥२६९॥
अटरूषकवेत्राग्रगुडूचीनिम्बपर्पटाः ।
किराततिक्तसहितास्तिक्ताः पित्तकफापहाः ॥२७०॥
कफापहं शाकमुक्तं वरुणप्रपुनाडयोः ।
रूक्षं लघु च शीतं च वातपित्तप्रकोपणम् ॥२७१॥
दीपनं कालशाकं तु गरदोषहरं कटु ।
कौसुम्भं मधुरं रूक्षमुष्णं श्लेष्महरं लघु ॥२७२॥
वातलं नालिकाशाकं पित्तघ्नं मधुरं च तत् ।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी साम्ला वातकफे हिता ।
उष्णा कषायमधुरा चाङ्गेरी चाग्निदीपनी ॥२७३॥

वार्ताक (बैंगन) कफवातनाशक, तिक्त, रुचिकर, कटु, हलका, अग्निदीपक है । पका हुआ बैंगन (पीला), किंचित् खरोहा और पित्तकारक होता है । वार्ताक के गुणानुसार ही कर्कोटक और करेला होता है ॥२६९॥ अडूसा, वेत के कोंपल, गिलोय, नीम, पित्तपापड़ा, चिरायता रस में कड़वे और पित्तकफनाशक होते हैं ॥२७०॥ वरुण और पवाड़ का शाक कफनाशक, रूक्ष, हलका, शीतल और वातपित्तप्रकोपक होता है ॥२७१॥ (अब इसके पश्चात् उपर्युक्त मण्डूकपर्णीवर्ग में अनिर्दिष्ट परन्तु प्रभृति शब्द से जिनका ग्रहण हो सकता है ऐसे—काल शाक, नाड़िका शाक, कौसुंभ शाक और चांगेरी शाक—शाकों का गुणवर्णन किया है) काल शाक (श्राद्ध शाक) अग्निदीपक, गरदोषनाशक और कटु है । कुसुंभ का शाक मधुर, रूक्ष, गरम, कफनाशक और हलका है ॥२७२॥ नालिका शाक (पटुआ Ipomoea Aquatica) वातकर, पित्तनाशक और मधुर है । चांगेरीशाक (Oxalis Corniculata) ग्रहणी और अर्शनाशक, अम्ल, वात और कफ के लिये हितकर, उष्ण, कषाय और मधुर तथा अग्निदीपक होता है ॥२७३॥

लोणिकाजातुकत्रिपर्णिकापत्तूरजीवकसुवर्चलाडुडुरककुतुम्बककुठिञ्जरकुन्तलिकाकुरण्टिकाप्रभृतयः ॥२७४॥

स्वादुपाकरसाः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः ।
लवणानुरसा रूक्षाः सक्षारा वातलाः सराः ॥२७५॥

लोणिका (Portulaca Oleracea), जातुक (शुक्लशालपर्णी), त्रिपर्णिका (दुग्धिका, वनकार्पासी वा), पत्तूर (शिरबालिकाभेद, शालिंची शाक वा), जीवक, सुवर्चला (सूर्यावर्तभेद), डुडुरक, कुतुम्बक (दोणपुष्प), कुठिंजर, कुन्तलिका (चच्चू के समान दीर्घपत्रा अथवा नीलपियावासा), कुरंटिका (पीला पियावासा) प्रभृति ॥२७४॥ शाक रसविपाक में मधुर, शीतल, कफनाशक, विशेष पित्त न करने वाले, अनुरस में लवण, रूक्ष, क्षारयुक्त, वातल और सारक हैं ॥२७५॥

स्वादुतिक्ता कुन्तलिका सकषाया[1] कुरण्टिका ।
संग्राहि शीतलं चापि लघु दोषापहं तथा ।
राजक्षवकशाकं तु शटीशाकं च तद्विधम् ॥२७६॥
स्वादुपाकरसं शाकं दुर्जरं हरिमन्थजम् ।
भेदनं मधुरं रूक्षं कालायमतिवातलम् ॥२७७॥
स्रंसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।

---

[1] कषाया सकुरण्टिका.

शोफघ्नमुष्णवीर्यं च पत्रं पूतिकरञ्जजम् ॥२७८॥
ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्णं कटु पित्तप्रकोपणम् ।
सुगन्धि विशदं तिक्तं स्वर्यं वातकफापहम् ॥२७९॥
स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वह्निदीपनम् ।
वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्यादिविशोधनम् ॥२८०॥

कुन्तलिका मधुर और तिक्त है, कुरंटिका कषाय है । राजक्षवक (कृष्णराजिका) शाक संग्राही, शीतल, हलका, और त्रिदोषनाशक होता है । शटीशाक (Curcuma Zedoaria) इसी के अनुसार होता है ॥२७६॥ हरिमन्थ का शाक (चने का) रस और विपाक में मधुर और पचन में कठिन होता है । मटर का शाक भेदक, मधुर, रूक्ष और अतिशय वातकर है ॥२७७॥ पूतिकरंज के पत्रों का शाक मल की प्रवृत्ति करने वाला, कटुविपाकी, हलका, वातकफनाशक, शोथहर और उष्णवीर्य है ॥२७८॥ ताम्बूलपत्र (पान) तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, पित्तकर, विशद, तिक्त, स्वर के लिये हितकर, वातकफनाशक, सारक, विपाक में कटु, कषाय तथा अग्निदीपक है, और मुख की खाज, मल, चिकनापन और दुर्गंध इनको दूर करता है ॥२७९,२८०॥

अथ पुष्पवर्गः ।

कोविदारशणशाल्मलीपुष्पाणि मधुराणि मधुरविपाकानि रक्तपित्तहराणि च; वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासापहानि च ॥२८१॥

कोविदार (कचनार), शण और शाल्मली इनके फूल रसविपाक में मधुर और रक्तपित्तनाशक हैं । वृष (अडूसा) और अगस्ति (हदगा) के फूल तिक्त, विपाक में कटु और क्षय और खाँसी को दूर करते हैं ॥२८१॥

आगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां प्रशस्यते[1] ॥२८२॥

अगस्त्य के फूल न बहुत गरम न बहुत शीतल हैं और रतौंधी वालों को लाभदायक होते हैं ॥२८२॥

करीरमधुशिग्रुकुसुमानि कटुविपाकानि वातहराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥२८३॥

रक्तवृक्षस्य निम्बस्य मुष्ककार्कासनस्य च ।
कफपित्तहरं पुष्पं कुष्ठघ्नं कुटजस्य च ॥२८४॥
सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम् ।
मधुरं पिच्छिलं स्निग्धं कुमुदं ह्लादि शीतलम् ।
तस्मादल्पान्तरगुणे विद्यात् कुवलयोत्पले ॥२८५॥

करीर और मधुशिग्रु (लाल सहिजन) के फूल विपाक में कटु, वातनाशक और मलमूत्र की प्रवृत्ति करने वाले हैं ॥२८३॥ रक्तवृक्ष (बंधूक Pentapetes Phoenicea), नीम, मुष्कक, अर्क, असन और कुटज के फूल कफपित्तनाशक और कुष्ठनाशक हैं ॥२८४॥ पद्म (सूर्यविकासी कमल) तिक्त, मधुर, शीतल और कफपित्तनाशक है । कुमुद (चन्द्रोदयविकासी कमल) मधुर, पिच्छिल, स्निग्ध, (दाह नाश करने के कारण) आह्लादजनक और शीतल है । कुवलय और उत्पल कमल कुमुद से गुण में कुछ कम हैं ॥२८५॥

सिन्धुवारं विजानीयाद्धिमं पित्तविनाशनम् ।
मालतीमल्लिके तिक्ते सौरभ्यात् पित्तनाशने ॥२८६॥
सुगन्धि विशदं हृद्यं बाकुलं पाटलानि च ।
श्लेष्मपित्तविषघ्नं तु नागं तद्वच्च कुङ्कुमम् ॥२८७॥
चम्पकं रक्तपित्तघ्नं शीतोष्णं कफनाशनम् ।
किंशुकं कफपित्तघ्नं तद्वदेव कुरण्टकम् ॥२८८॥
मधुशिग्रुकरीराणि कटुश्लेष्महराणि च ।
यथावृक्षं विजानीयात् पुष्पं वृक्षोचितं तथा ॥२८९॥

निर्गुंडी के फूल शीतल और पित्तनाशक हैं । मालती (जाती) और मल्लिका के फूल और सुगन्ध के कारण पित्तनाशक होते हैं ॥२८६॥ बकुल और पाटल के फूल सुगन्धयुक्त, विशद, और हृद्य हैं । नागकेसर कफपित्तनाशक और विषहर है । इसी के अनुसार केसर (Crocus Sativus) के भी गुणधर्म होते हैं ॥२८७॥ चम्पक का फूल रक्तपित्तनाशक, समशीतोष्ण और कफनाशक है । पलाशपुष्प कफपित्तनाशक है और उसी के अनुसार कुरण्टक का पुष्प (पियावासा का पुष्प) होता है ॥२८८॥ लाल सहिजन के कोंपल कटु और कफनाशक हैं । (सर्वसामान्य अनुक्त पुष्पों के तथा वृक्षाश्रित अन्य अंगों के गुणधर्म दिखलाने की दृष्टि से उपसंहार करते हैं) जैसे वृक्ष के गुणधर्म होते हैं वैसे ही उसके पुष्प तथा (कण्टक अवरोहादि) अन्य अंगों के (वृक्षोचित) गुणधर्म होते हैं ॥२८९॥

क्षवककुलेच(व)रवंशकरीरप्रभृतीनि कफहराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥२९०॥

क्षवकं कृमिलं तेषु स्वादुपाकं सपिच्छिलम्[2] ।
विष्यन्दि वातलं नातिपित्तश्लेष्मकरं च तत् ॥२९१॥
वेणोः करीराः कफला मधुरा रसपाकतः ।
विदाहिनो वातकराः[3] सकषाया विरूक्षणाः ॥२९२॥

क्षवक, कुलेचर, वंश करीर प्रभृति कफनाशक और मलमूत्र की प्रवृत्ति करने वाले हैं ॥२९०॥ इनमें से क्षवक कृमिकारक, विपाक में मधुर, पिच्छिल, श्लेष्मस्रावी, वातकर और विशेष वात और कफकारक नहीं है ॥२९१॥ बाँस की गोभ कफकारक, रसविपाक में मधुर, विदाहजनक, वातकारक, कषाय और रूक्षता करने वाली है ॥२९२॥

उद्भिदानि पलालेक्षुकरीषवेणुक्षितिजानि । तत्र पलालजातं मधुरं मधुरविपाकं रूक्षं दोषप्रशमनं च, इक्षुजं मधुरं कषायानुरसं कटुकं[4] शीतलं च, तद्वदेवोष्णं कारीषं कषायं वातकोपनं च, वेणुजातं कषायं वातकोपनं च, भूमिजं गुरु नातिवातलं भूमितश्चास्यानुरसः ॥२९३॥

(उद्भिद—) पलाल (शस्य विरहित काण्ड भूसा आदि), इक्षु (के जूठन), करीष (शुष्क गोबर), वेणु (बाँस लकड़ी आदि) और भूमि इनमें उद्भिद (छत्रकादि) उत्पन्न होते हैं ।

---

[1] मधुरं. [2] ०पिच्छलम्. [3] नातिवला. [4] कटुपाकं.

इनमें से पलाल में उत्पन्न हुआ छत्रक रसविपाक में मधुर, रूक्ष और दोषनाशक है; ईख से उत्पन्न हुआ छत्रक मधुर, अनुरस में कषाय, कटु, और शीतल है; गोमयजन्य छत्रक (गुण में) इक्षुज छत्रक के अनुसार परन्तु उष्ण, कषाय और वातल है; बाँस लकड़ी से उत्पन्न हुआ छत्रक कषाय और वातप्रकोपक है; भूमि में उत्पन्न हुआ छत्रक भारी, विशेष वात उत्पन्न न करने वाला तथा भूमि के गुणानुसार होता है ॥२९३॥

पिण्याक[1]तिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि ॥२९४॥

विष्टम्भिनः स्मृताः सर्वे वटका वातकोपनाः ।
सिण्डाकी वातला सार्द्रा[2] रुचिष्याऽनलदीपनी ॥२९५॥

पिण्याक (खली), तिलकल्कस्थूणिका (तिल के बड़े) और शुष्क शाक सर्व प्रकार के दोषों को प्रकुपित करते हैं ॥२९४॥ सर्व प्रकार के बड़े मलावरोध और वातप्रकोपक होते हैं। सिण्डाकी (मूली आलू आदि की पकौड़ी बड़े) आर्द्रावस्था में (ताजी) वातकर, रुचिकर और अग्निदीपक होती है ॥२९५॥

विड्भेदि गुरु रूक्षं च प्रायो विष्टम्भि दुर्जरम्[3] ।
सकषायं च सर्वं[4] हि स्वादु शाकमुदाहृतम् ॥२९६॥

सर्व मधुर शाक मल का भेद करने वाले, भारी, रूक्ष, प्रायः पेट में विष्टम्भ उत्पन्न करने वाले, पचन में कठिन और किंचित् कषाय रस युक्त होते हैं ॥१९६॥

पुष्पं पत्रं फलं नालं कन्दाश्च गुरवः क्रमात् ।

पुष्पशाक, पत्रशाक, फलशाक और कन्दशाक ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक गरिष्ठ होते हैं।

कर्कशं परिजीर्णं च कृमिजुष्टमदेशजम् ।
वर्जयेत् सर्वशाकं तद्यदकालविरोहि च ॥२९७॥

करड़े, परिजीर्ण (पुराने, बासी या अत्यन्त पककर पीले पड़े हुए), कीड़ों से भक्षित, अयोग्य भूमि में और अयोग्य समय में उत्पन्न हुए सर्व शाक त्याग करने चाहिये ॥२९७॥

वक्तव्य—श्लोक २११ से २९७ तक विविध शाकों के सामान्य तथा विशेष गुणों का वर्णन किया गया है । इनके बारे में सामान्यतया यह कह सकते हैं कि इनमें प्रोटीन, मेद इत्यादि शरीरपुष्टिकर अंश अत्यल्प होते हैं । तथापि इनकी निम्न विशेषताएँ हैं:—(१) इनमें खनिज क्षार जो होते हैं उनके लिए इनका सेवन फायदेमन्द होता है। ये क्षार प्रोटीन, मेद, कार्बोहायड्रेट के परिवर्तन से शरीर में जो अम्ल बनते हैं उनको निर्वीर्य करते हैं। शरीररक्षा के लिये रक्त का क्षारीय होना (अलकलाईन) बहुत आवश्यक है। क्षारीयता का अंश कम होने से अम्लरक्तता (Acidosis) नामक रोग उत्पन्न होता है। (२) इनमें सेल्यूलोज (Cellulose) की राशि भी अधिक होती है। यह पदार्थ मनुष्यों के लिये अपाच्य है, जो आँतड़ियों में हलचल पैदा करके मलोत्सर्ग की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है और मलावरोध को हटाता है। (३) इनमें पोट्यासिअम के लवण होने से ये मूत्रल हैं और पथरी के रोगियों के लिये पथ्यकर होते हैं । (४) इनमें स्कर्वी प्रतिषेधक जीवद्रव्य भी होता है। (५) इनके कारण भोजन में रुचि और खुशबू उत्पन्न होते है। जिससे भोजन पचने में भी सहायता होती है। (६) इनमें कार्बोहैड्रेट कम होने के कारण मधुमेही के लिये भी इनका सेवन अपथ्यकर नहीं होता। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भोजन में साग-सब्जियों का होना बहुत आवश्यक है। शाक-भाजी हमेशा ताजी होनी चाहिये। ताजी न मिले तो न खाना बेहतर है। बासी या सड़ी गली तरकारी खाना ठीक नहीं है। सामान्यतया शाक-सब्जी गंदे पानी से तैयार होती है, इसलिये हमेशा उस पर कीड़े मकोड़े होते हैं और अण्डा देते हैं। इसलिये कच्चा साग बिना अच्छी तरह से धोये और देखे नहीं खाना चाहिये। तरकारी चीरने के पहले उसमें से घास-पात, कीड़ा-मकोड़ा तथा उसका बे-काम भाग निकाल कर फिर चीरना चाहिये।

कन्दानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—विदारीकन्दशतावरीबिसमृणालशृङ्गाटककशेरुकपिण्डालुकमध्वालुकहस्त्यालुककाष्ठालुकशङ्खालुकरक्तालुकेन्दीवरोत्पलकन्दप्रभृतीनि ॥२९८॥

रक्तपित्तहराण्याहुः शीतानि मधुराणि च ।
गुरूणि बहुशुक्राणि स्तन्यवृद्धिकराणि च ॥२९९॥

इसके आगे कन्दों का वर्णन करेंगे—विदारीकन्द (भूमिकूष्माण्ड), शतावरी, बिस (पद्ममूल), मृणाल (स्थूलपद्ममूल), शृंगाटक (सिंगाड़ा), कसेरुक (चिचोड़ Scirpus Hysoor), पिण्डालु (Dioscorea. Globosa), मध्वालुक (Dioscorea Aculcata), हस्त्यालुक, काष्ठालुक, शंखालुक, रक्तालुक (शकरकन्दी), इन्दीवर उत्पल कन्द प्रभृति कन्द ॥२९८॥ रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुर, भारी, अतिशयशुक्रवर्धक और स्तन्यवर्धक होते हैं ॥२६६॥

मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतः स्वर्योऽतिमूत्रलः ।
विदारीकन्दो बल्यस्तु पित्तवातहरश्च सः ॥३००॥
वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी ।
महती चैव हृद्या च मेधाग्निबलवर्धिनी ॥३०१॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी वृष्या शीता रसायनी ।
कफपित्तहरास्तिक्तास्तस्या एवाङ्कुराः स्मृताः ॥३०२॥

विदारीकन्द शरीरपुष्टिकर, वृष्य, शीतल, स्वर के लिये हितकर, अतिमूत्रल, बलवर्धक और वातपित्तनाशक है ॥३००॥ शतावरी वातपित्तनाशक, वृष्य, मधुर और तिक्त है । बड़ी शतावरी (Asparagus Sarmentosus) हृद्य, बुद्धिवर्धक, अग्निदीपक, बलकारक, ग्रहणी और अर्शनाशक, वृष्य, शीतल और रसायन है । उसके अंकुर कफपित्तनाशक होते हैं ॥३०१,३०२॥

अविदाहि बिसं प्रोक्तं रक्तपित्तप्रसादनम् ।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥३०३॥
गुरू विष्टम्भिशीतौ च शृङ्गाटककशेरुकौ ।

---

[1] पिण्याकीतिलपत्रस्थूणिका. [2] सान्द्रा. [3] शीतलं. [4] पत्रशाकं.

पिण्डालुकं कफकरं गुरु वातप्रकोपणम् ॥३०४॥
सुरेन्द्रकन्दः श्लेष्मघ्नो विपाके कटु पित्तकृत् ।

बिस विदाह न करने वाला, रक्तपित्त का प्रसादक, विष्टम्भजनक, पचने में कठिन, रूक्ष, स्वादहीन और वायुवर्धक है ॥३०३॥ शृंगाटक और कसेरुक भारी, विष्टम्भजनक और शीतल हैं । पिण्डालु कफकर, भारी और वातप्रकोपक है ॥३०४॥ सुरेन्दकन्द (वज्रकन्द, जंगली सूरण Synantherias Sylvatica) कफनाशक, विपाक में कटु और पित्तकर है ।

वेणोः करीरा गुरवः कफमारुतकोपनाः ॥३०५॥

बाँस के मूलांकुर गुरु और कफवातप्रकोपक हैं ॥३०५॥

स्थूलसूरणमाणकप्रभृतयः कन्दा ईषत्कषायाः कटुका रूक्षा विष्टम्भिनो गुरवः कफवातलाः पित्तहराश्च ॥३०६॥

माणकं स्वादु शीतं च गुरु चापि प्रकीर्तितम् ।
स्थूलकन्दस्तु नात्युष्णः सूरणो गुदकीलहा ॥३०७॥

स्थूल कन्द, सूरण (जिमीकन्द Amorphophallus Campanulatus), माषलकन्द (माणककन्द Alocasia Indica) प्रभृति कन्द किंचित कषाय, कटु, रूक्ष, विष्टम्भजनक, भारी, कफवातजनक और पित्तहर हैं ॥३०६॥ माणकन्द मधुर, शीतल और गुरु है; स्थूलकन्द विशेष उष्ण नहीं है; और सूरण अर्शनाशक है ॥३०७॥

वक्तव्य—सूरण से यकृत् का कार्य ठीक होकर दस्त भी खुलकर आता है। इससे अर्शगत, सिराओं में संकोच पैदा होकर रक्त इकट्ठा नहीं होने पाता। अतः खूनी बवासीर में सूरण बहुत फायदा करता है। इसका अर्शोघ्न नाम बिलकुल सार्थक है।

कुमुदोत्पलपद्मानां कन्दा मारुतकोपनाः ।
कषायाः पित्तशमना विपाके मधुरा हिमाः ॥३०८॥
वराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः ।
मेहकुष्ठकृमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनः ॥३०९॥

कुमुद, उत्पल और पद्म इनके कन्द वायुकारक, कषाय, पित्तशामक, विपाक में मधुर और शीतल हैं ॥३०८॥ वराहकन्द (Tacca Aspera) कफनाशक, रसविपाक में कटु, प्रमेह, कुष्ठ और कृमि का नाशक, बलकारक, वृष्य और रसायन है ॥३०९॥

तालनारिकेलखर्जूरप्रभृतीनां मस्तकमज्ज्ञानः ॥३१०॥
स्वादुपाकरसानाहू रक्तपित्तहरांस्तथा ।
शुक्रलाननिलघ्नांश्च कफवृद्धिकरानपि ॥३११॥

ताड़, नारियल और खजूर इत्यादि वृक्षों के सिर की गिरी ॥३१०॥ रसविपाक में मधुर, रक्तपित्तनाशक, शुक्रवर्धक, वायुनाशक और कफ की वृद्धि करने वाली होती हैं ॥३११॥

बालं ह्यनार्तवं जीर्णं व्याधितं क्रिमिभक्षितम् ।
कन्दं विवर्जयेत् सर्वं यो वा सम्यङ्न रोहति ॥३१२॥

बाल (कच्चा), बे-ऋतु का, बहुत पुराना, रोग से खराब हुआ, कीड़ों से खाया हुआ और जो ठीक नहीं उग सकता हो, ऐसा कन्द त्यागना चाहिये ॥३१२॥

वक्तव्य—भूमि के पृष्ठभाग के नीचे उत्पन्न होने वाले वनस्पतियों के अंगों की गणना कन्द और मूलों में की जाती है। कन्द और मूलों में वनस्पतियाँ अपने उपयोग के लिये पोषक पदार्थों को एकत्र करती हैं। इनमें से कुछ कंद और मूल मनुष्यों के लिये भी उपयोगी होते हैं। इनमें स्टार्च की राशि अधिक और प्रोटीन तथा चरबी बहुत ही कम होती है। इनमें कुछ खनिज, (विशेष करके पोट्यासिअम) भी होते हैं। इसलिये यद्यपि ये भोजन के प्रधान अंग नहीं बन सकते, तथापि पोषण में कुछ सहायता जरूर देते हैं। आज कल प्रयुक्त होने वाले कुछ कंदों और तरकारियों का रासायनिक संगठन नीचे दिया है।

	नाम	प्रोटीन	वसा	कार्बोहैड्रेट	क्षार	जल
कन्द	आलू	१·२	०·१	१९·७	०·९	७६·७
	रातालु	१·६	०·५	२४·३	०·७	७२·९
	प्याज	१·६	०·३	९·३	०·६	८९·१
	मूली	१·४	०·१	४·६	०·९	९०·८
	गाजर	०·५	०·३	१०·१	०·९	८५·७
	चुकंदर	०·५	०·१	१४·०	९·०	८३·९
	सलगम	०·९	०·१५	६·८	०·८	९३·४
	कसेरुक	४·१	०·१०	१७·६	१·६	७५·१
शाक	बंदगोभी	१·८	०·४	५·८	१·३	८९·६
	फूलगोभी	२·२	०·४	४·७	०·८	९०·७
	टोमाटो	१·३	०·२	५·०	०·७	९६·९
	खीरा	०·८	०·२	३·१	०·५	९५·४
	केला	१·३	०·६	२२·०	०·८	७५·३
	बैंगन	०·८९	०·९४	३·४८	०·२६	९०·९८
	भिंडी	१·९६	१·१	५·७२	०·८	९०·४०
	कद्दू	०·९०	१·०	३·९६	०·७	९३·४०

कन्द और शाकों में थोड़ा सेल्युलोज भी होता है, जिससे दस्त साफ हो जाता है। इसलिये इनमें यद्यपि पौष्टिक अंश कम होता है तथापि इनका भोजन में होना आवश्यक है।

अथ लवणानि—सैन्धवसामुद्रविडसौवर्चलरोमकौद्भिदप्रभृतीनि लवणानि यथोत्तरमुष्णानि वातहराणि कफपित्तकराणि यथापूर्वं स्निग्धानि स्वादूनि सृष्टमूत्रपुरीषाणि चेति ॥३१३॥

लवण—सैन्धव (सैंधानमक), सामुद्र (समुद्र का नमक), बिड़, सौवर्चल, रोमक, उद्भिद प्रभृति लवण उत्तरोत्तर अधिकाधिक गरम, वातहर और कफपित्तकारक होते हैं; और उलटे क्रम से अधिकाधिक स्निग्ध, मधुर और मलमूत्र की प्रवृत्ति करने वाले होते हैं। (सैंधव सब से कम गरम, वातहर और कफपित्तकर होता है; औद्भिद सब से अधिक है। सैन्धव सब से अधिक स्निग्ध, मधुर और सृष्टमूत्रपुरीष होता है; और औद्भिद सब से कम होता है ॥३१३॥

वक्तव्य—सैन्धव—सिंधुदेशोद्भव होने से सैंधव कहलाता है। यह नमक खानों से निकाला जाता है। अंग्रेजी में इसे रॉक सॉल्ट (Rock salt) कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से इसमें

अधिकांश सोडियम क्लोराइड, अत्यल्प प्रमाण में सोडियम सल्फेट और कार्बोनेट और क्वचित् क्यालसिअम और म्याग्नेसिअम क्लोराइड होता है। सामुद्र—यह नमक सूर्य की उष्णता से समुद्र के पानी से बनाया जाता है। सोडियम क्लोराइड के अतिरिक्त अत्यल्प मात्रा में इसमें पोट्यासिअम और म्याग्नेसिअम के क्लोराइड तथा म्याग्नेसिअम और क्यालसिअम के सल्फेट (KCl, $MgCl_2$, $MgSo_4$, $CaSo_4$) होते हैं। विड—इसे काला नमक कहते हैं। आजकल यह नमक कृत्रिम तौर पर खाने का नमक ($NaCl$) ८२ भाग, आंवला १ भाग, बहेड़ा १ भाग और सर्ज्जीक्षार १ भाग इनको एकत्र जलाकर बनाया जाता है। चरक और सुश्रुत के समय विड लवण स्वाभाविक या कृत्रिम था और कैसा बनाया जाता था इसका वर्णन कहीं नहीं मिलता है। इसमें अधिकांश सोडियल क्लोराइड ($NaCl$) और अल्पांश सोडियम सल्फेट (Na_2So_4), म्याग्नेसिया, फेरिक आक्साइड और फेरिक सल्फाइड (Fes) होता है। इसमें गंधक का एक ग्यास (H_2S) होता है जिससे इसमें एक प्रकार की गंध आती है। सौवर्चल—निर्गंध काल लवण। इसे काल लून कहते हैं। इसमें खाने के नमक ($NaCl$) के अतिरिक्त थोड़ा सोडियम सल्फेट (Na_2So_4) होता है। रसशास्त्र में सौवर्चल से 'शोरा' (Saltpetre, KNO_3) समझा जाता है। रोमक—अजमेर के पास जो सांबर सरोवर है, वहाँ से उत्पन्न हुआ। इसको सांबर लवण भी कहते हैं। इसमें खाने के नमक ($NaCl$) के अतिरिक्त सोडियम कार्बोनेट (Na_2Co_3) और सोडियम सल्फेट (Na_2So_4) तथा थोड़ा आयोडिन होता है। औद्भिद—इसको सज्जीमिट्टी या रेहानमक कहते हैं। जमीन से बनाया जाता है इसलिये औद्भिद कहलाता है। इसमें मुख्य सोडियम क्लोराइड और सल्फेट होता है और अल्पांश में सोडियम कार्बोनेट, चूना और शोरा होता है। प्रभृति—गुटिका, ऊषसूत, वालुकैल और शैलमूलाकरोद्भव।

चक्षुष्यं सैन्धवं हृद्यं रुच्यं लघ्वग्निदीपनम् ।
स्निग्धं समधुरं वृष्यं शीतं दोषघ्नमुत्तमम् ॥३१४॥
सामुद्रं मधुरं पाके नात्युष्णमविदाहि च ।
भेदनं स्निग्धमीषच्च शूलघ्नं नातिपित्तलम् ॥३१५॥
सक्षारं दीपनं रूक्षं शूलहृद्रोगनाशनम् ।
रोचनं तीक्ष्णमुष्णं च विडं वातानुलोमनम् ॥३१६॥
लघु सौवर्चलं पाके वीर्योष्णं विशदं कटु ।
गुल्मशूलविबन्धघ्नं हृद्यं सुरभि रोचनम् ॥३१७॥

सैन्धव नेत्र और हृदय के लिये हितकर, रुचिकर, लघु, अग्निदीपक, स्निग्ध, मधुर, वृष्य, शीतल, दोषनाशक और (सर्व लवणों में) श्रेष्ठ (सैन्धवं लवणानाम्। चरक) है ॥३१४॥ सामुद्रलवण विपाक में मधुर है, अतिशय गरम नहीं है, विदाह उत्पन्न करने वाला नहीं है, भेदन है, किंचित् स्निग्ध है, शूलनाशक है और विशेष पित्तकर नहीं है ॥३१५॥ विड़ लवण क्षारीय, अग्निदीपक, रूक्ष, शूल और हृद्रोगनाशक, रुचिकर, तीक्ष्ण, उष्ण और वातानुलोमक (Carminative) है ॥३१६॥ सौवर्चल लवण विपाक में हलका, उष्णवीर्य, विशद, कटु, गुल्म, शूल और मलावरोध इनका नाशक, हृद्य, सुगंधी और रुचिकर है ॥३१७॥

रोमकं तीक्ष्णमत्युष्णं व्यवायि कटुपाकि च ।
वातघ्नं लघु विस्यन्दि सूक्ष्मं विड्भेदि मूत्रलम् ॥३१८॥
लघु तीक्ष्णोष्णमुत्क्लेदि सूक्ष्मं वातानुलोमनम् ।
सतिक्तं कटु सक्षारं विद्याल्लवणमौद्भिदम् ॥३१९॥
कफवातक्रिमिहरं लेखनं पित्तकोपनम् ।
दीपनं पाचनं भेदि लवणं गुटिकाह्वयम् ॥३२०॥

रोमक लवण तीक्ष्ण, अतिशय गरम, व्यवायि (पहले शरीर में व्याप्त होकर पीछे पाक होने वाला), विपाक में कटु, वातनाशक, लघु, विस्यन्दि, सूक्ष्म, दस्तावर और मूत्रजनक है ॥३१८॥ औद्भिद लवण लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, क्लेदजनक, सूक्ष्म, वातानुलोमक (वातादीनामधः प्रवर्तनं सरगुणत्वात्। आढमल्ल), तिक्त, कटु और क्षारीय है ॥३१९॥ गुटिका लवण कफवातनाशक, कृमिहर, लेखन, पित्तकर, अग्निदीपक, पाचक और दस्तावर है ॥३२०॥

ऊषसूतं वालुकैलं शैलमूलाकरोद्भवम् ।
लवणं कटुकं छेदि विहितं कटु चोच्यते ॥३२१॥

ऊषसूत (क्षारमृत्तिका से उत्पन्न हुआ लवण, साजीमाटी), वालुकैल (वालुकामय भूमि से यानि रेगिस्तान में उत्पन्न हुआ लवण), शैलमूलाकरोद्भव (पहाड़ों की जड़ के पास स्थित हुई खानों से निकाला) लवण कटु, (कफ आदि का) छेद करने वाला, विपाक में कटु होता है ॥३२१॥

यवक्षारस्वर्जिकाक्षारोषक्षारपाकिमटङ्कणक्षारप्रभृतयः ।
गुल्मार्शोग्रहणीदोषप्रतिश्यायविनाशनाः[1] ।
क्षारास्तु पाचनाः सर्वे रक्तपित्तकराः सराः ॥३२२॥

(क्षार) यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार, ऊषक्षार, पाकिमक्षार, टंकणक्षार, प्रभृतिक्षार। ये सर्वक्षार पाचक, रक्तपित्तकर और वातानुलोमक होते हैं, और गुल्म, अर्श, ग्रहणीदोष तथा प्रतिश्याय इनका नाश करते हैं ॥३२२॥

वक्तव्य—यवक्षार—यह क्षार यवक्षुप की रक्षा से बनाया जाता है इसलिये 'यवक्षार' कहलाता है। बर्तन (भाण्ड) में पाक बनाकर तैयार किया जाता है इसलिये 'भाण्डक्षार' कहलाता है। यव के अतिरिक्त अन्य वनस्पतियों की लकड़ी (दारु) की रक्षा से भी बनाया जाता है इसलिये 'दारुलवण' भी कहलाता है। रासायनिक दृष्टि से इसमें मुख्य द्रव्य कार्बोनेट ऑफ पोट्याश (Carbonate of Potash) है। इसके सिवाय कुछ अशुद्धियाँ भी होती हैं। इसकी बनावट सूत्रस्थान के ११ वें अध्याय में वर्णन की है। शुद्ध क्षार में यवक्षार ही होता है। स्वर्जिकाक्षार—इसको 'सज्जीखार' कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से इसमें सोडिअम कार्बोनेट (Sodium Carbonate) मुख्य होता है। इसके अतिरिक्त थोड़े अंश में सोडिअम सल्फेट (Sodium Sulphate),

---

१ सूक्ष्मं.

[1] शर्कराश्मरिनाशनाः.

नमक (Sodium Chloride), पोट्याश आदि अन्य लवण और कुछ अशुद्धियाँ होती हैं। पाकिमक्षार—पाक विधि से बनाया हुआ क्षार। इसको शुद्ध शोरा या कलमी शोरा कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से इसमें मुख्य द्रव्य पोट्यासिअम नायट्रेट (Potassium Nitrate) है। इसके अतिरिक्त सोडिअम सल्फेट और क्लोराइड (Sodium Sulphate and Chloride) तथा दूसरी कुछ अशुद्धियाँ भी होती हैं। टंकणक्षार—इसको सोहागा कहते हैं। संस्कृत में इसको 'अन्नभेदी' भी कहते हैं। कारण यह है कि इससे अन्नपचन होता है। रासायनिक दृष्टि से इसमें मुख्य द्रव्य सोडिअम बायबोरेट (Sodium Biborate) है। अंग्रेजी में इसको बोरयाक्स (Borax) कहते हैं।

ज्ञेयौ वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ।
शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शोगुल्मप्लीहविनाशनौ ॥३२३॥
उष्णोऽनिलघ्नः प्रक्लेदी चोषक्षारो बलापहः।
मेदोघ्नः पाकिमः क्षार[1]स्तेषां वस्तिविशोधनः ॥३२४॥
विरूक्षणोऽनिलकरः श्लेष्मघ्नः पित्तदूषणः।
अग्निदीप्तिकरस्तीक्ष्णष्टङ्कणः क्षार उच्यते ॥३२५॥

सर्जीक्षार और यवक्षार अग्निसमान (तीक्ष्ण) होते हैं; और शुक्र, कफ, मलावरोध, अर्श, गुल्म, और प्लीहा (वृद्धि) इनके विनाशक हैं ॥३२३॥ ऊषक्षार उष्ण, वातनाशक, क्लेदजनक और बलनाशक है। पाकिमक्षार मेदनाशक और मूत्रल है ॥३२४॥ टंकणक्षार रूक्षता करने वाला, वातजनक, कफनाशक, पित्त की दुष्टि करने वाला, (जठर की) अग्नि को बढ़ाने वाला और तीक्ष्ण है ॥३२५॥

सुवर्णं स्वादु हृद्यं च बृंहणीयं रसायनम्।
दोषत्रयापहं शीतं चक्षुष्यं विषसूदनम् ॥३२६॥
रूप्यमम्लं सरं शीतं सस्नेहं पित्तवातनुत्।
ताम्रं कषायं मधुरं लेखनं शीतलं सरम् ॥३२७॥
सतिक्तं लेखनं कांस्यं चक्षुष्यं कफवातजित्।
वातकृच्छीतलं लोहं तृष्णापित्तकफापहम् ॥३२८॥
कटु क्रिमिघ्नं लवणं त्रपुसीसं विलेखनम्।
मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैदूर्यस्फटिकादयः ॥३२९॥
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः।
पवित्रा धारणीयाश्च पाप्मालक्ष्मीमलापहाः ॥३३०॥

सुवर्ण मधुर, हृद्य (Cardiac Tonic), शरीरपुष्टिकर, रसायन (Alterative), त्रिदोषनाशक, शीतल, नेत्र के लिये हितकर और विषनाशक है ॥३२६॥ चांदी अम्ल, सारक, शीतल, स्निग्ध और वातपित्तनाशक है। तांबा कषाय, मधुर, लेखन, शीतल और सारक है ॥३२७॥ कांस्य तिक्त लेखन, नेत्र के लिये हितकर और कफवातनाशक है। लोहा वातकर, शीतल, तृषाशामक और पित्तकफनाशक है ॥३२८॥ रांगा और सीसा कटु, कृमिनाशक, लवण और लेखन है। मोती, प्रवाल, हीरा, वैदूर्य, स्फटिक इत्यादि ॥३२९॥ मणि नेत्र के लिये हितकर, शीतल, लेखन, विषनाशक, पवित्र, धारण करने योग्य, पाप, अलक्ष्मी और (शारीरिक) दोषों को दूर करने वाले हैं ॥३३०॥

धान्येषु मांसेषु फलेषु चैव
शाकेषु चानुक्तमिहाप्रमेयात्।
आस्वादतो भूतगुणैश्च मत्वा
तदादिशेद् द्रव्यमनल्पबुद्धिः ॥३३१॥

(संसार में द्रव्य) असंख्य होने के कारण धान्यों में, मांसों में, फलों में, शाकों में (तथा अन्यवर्ग के द्रव्यों में) से जिसका गुणवर्णन यहाँ नहीं हो सका उसको बुद्धिमान् वैद्य चाखकर (मधुरादि रसों के गुणानुसार) तथा (द्रव्यारंभक) भूतगुण (वीर्यविपाक) के अनुसार (अथवा जड़त्वादि भूत गुणों के अनुसार) गुण में जान ले ॥३३१॥

षष्टिका यवगोधूमा लोहिता ये च शालयः।
मुद्गाढकीमसूराश्च धान्येषु प्रवराः स्मृताः ॥३३२॥
लावतित्तिरिसारङ्गकुरङ्गैणकपिञ्जलाः।
मयूरवर्मिकूर्माश्च श्रेष्ठा मांसगणेष्विह ॥३३३॥
दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूषकम्।
राजादनं मातुलुङ्गं फलवर्गे प्रशस्यते ॥३३४॥
सतीनो वास्तुकश्चुच्चूचिल्लीमूलकपोतिकाः।
मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्गे प्रशस्यते ॥३३५॥
गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठं, सैन्धवं लवणेषु च।
धात्रीदाडिममम्लेषु, पिप्पली नागरं कटौ ॥३३६॥
तिक्ते पटोलवार्ताके, मधुरे घृतमुच्यते।
क्षौद्रं, पूगफलं श्रेष्ठं कषाये सपरूषकम् ॥३३७॥
शर्करेक्षुविकारेषु, पाने मध्वासवौ तथा।
परिसंवत्सरं धान्यं, मांसं वयसि मध्यमे ॥३३८॥
अपर्युषितमन्नं तु संस्कृतं मात्रया शुभम्।
फलं पर्यागतं, शाकमशुष्कं तरुणं नवम् ॥३३९॥

अनाजों में साठी चावल, रक्तशालि (भदइयाँ और अगहनियाँ), गेहूँ, मूँग, अरहर और मसूर ये श्रेष्ठ हैं ॥३३२॥ मांसवर्ग में लाव, तीतर, सारंगपक्षी (श्वेत हरिण), एण (काला हरिण), कुरंग (हरिन का एक प्रकार), कपिंजल, मोर, वर्मि (मत्स्य) और कच्छप ये श्रेष्ठ हैं ॥३३३॥ फलवर्ग में अनार, आँवला, अंगूर, खजूर, फालसा, खिरनी और मातुलुंग श्रेष्ठ होते हैं ॥३३४॥ सतीन (मटर), वास्तुक (बथुआ), चुच्चू, चिल्ली, कोमल मूली, मण्डूकपर्णी और जीवन्ती शाकवर्ग में श्रेष्ठ हैं ॥३३५॥ दूध और घृत में गौ का दूध तथा घी श्रेष्ठ है। लवणों में सैंधव श्रेष्ठ है। अम्लद्रव्यों में आँवला और अनार श्रेष्ठ है। कटु द्रव्यों में पिप्पली और सोंठ श्रेष्ठ है ॥३३६॥ तिक्त पदार्थों (शाकों) में परवल और बैंगन श्रेष्ठ है; मधुर द्रव्यों में घी और मधु श्रेष्ठ है; कषाय द्रव्यों में सुपारी और फालसा श्रेष्ठ है ॥३३७॥ गन्ने के पदार्थों में चीनी श्रेष्ठ है; पीने के द्रव्यों में (Beverages) द्राक्षासव श्रेष्ठ है; (धान्यों में) एक वर्ष का पुराना धान्य श्रेष्ठ है;

---

[1] क्षारो मूत्रवस्तिविशोधनः.

और (मांस में) मध्यम आयु के जीव का मांस श्रेष्ठ है ॥३३८॥ ताजा (उसी दिन का बनाया हुआ), मसाले आदि पदार्थ डालकर (उत्तम प्रकार से बनाया हुआ, योग्य मात्रा में सेवन किया हुआ और पथ्यकर जो होता है वह अन्न श्रेष्ठ है; (फलों में) परिपक्कफल श्रेष्ठ है और ताजा (आर्द्र), नया और कोमल शाक (शाकों में) श्रेष्ठ है ॥३३९॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कृतान्नगुणविस्तरम् ॥३४०॥

अब यहाँ से आगे (अग्नि की सहायता से) बनाये हुए विविध अन्नों को गुणविस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥३४०॥

लाजमण्डो विशुद्धानां पथ्यः पाचनदीपनः ।
वातानुलोमनो हृद्यः पिप्पलीनागरायुतः ॥३४१॥
स्वेदाग्निजननी लघ्वी दीपनी बस्तिशोधनी ।
क्षुत्तृट्श्रमग्लानिहरी पेया वातानुलोमनी ॥३४२॥

(विरेचनादि से) शुद्ध हुए मनुष्यों के लिये पिप्पली और सोंठ युक्त लाजमण्ड पथ्यकर, पाचक, अग्निदीपक, वातानुलोमन, हृदय को हितकर है ॥३४१॥ पेया स्वेदल अग्निजनक, लघु, दीपन, मूत्रविशोधक है; क्षुधा, तृषा, श्रम और ग्लानि को दूर करती है, तथा वातानुलोमक है ॥३४२॥

विलेपी तर्पणी हृद्या ग्राहिणी बलवर्धनी ।
पथ्या स्वादुरसा लघ्वी दीपनी क्षुत्तृषापहा ॥३४३॥
बस्तिसंशोधनी वृष्या ज्वरातीसारयोर्हिता ।
शाकमांसफलैर्युक्ता यवाग्वस्ताश्च[2] दुर्जराः ॥३४४॥

विलेपी तृप्तिकारक, हृद्य, ग्राही, बलकारक, पथ्यकर, मधुर, हलकी, अग्निदीपक, तृषाशामक, क्षुधा को दूर करने वाली ॥३४३॥ मूत्रविशोधक (मूत्रल), वृष्य और ज्वर तथा अतिसार में हितकर है। शाक, मांस तथा फलों से बनाई हुई (उपर्युक्त तीनों प्रकार की) यवागू पचन में कठिन होती हैं ॥३४४॥

सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।
विलेपी[3] बहुसिक्था स्याद्यवागूर्विरलद्रवा ॥३४५॥

मण्ड भक्तावयव रहित होता है; पेया भक्तावयव युक्त होती है; और विलेपी यवागू बहुत भक्तावयव युक्त और अल्पद्रव युक्त होती है ॥३४५॥

वक्तव्य—मण्ड, पेया और विलेपी यवागू के ही तीन प्रकार हैं। मण्ड—पके तण्डुलादि के घन भाग में से ऊपर का द्रव भाग छानकर निकाला जाय तो वह 'मण्ड' कहलाता है। छानने की विधि तथा बनाने के द्रव्य के अनुसार मण्ड तीन प्रकार का होता है। जो मण्ड लाजा या भृष्ट तण्डुलों से बनाया जाता है, उसे 'लाजमण्ड' कहते हैं।—'जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुःपलम्। विपचेत् स्रावयेन्मण्डं सभक्तो मधुरो लघुः॥ नीरे चतुर्दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः। लाजैर्वा तण्डुलैर्भृष्टैर्लाजमण्डः प्रकीर्तितः॥ (शार्ङ्गधर)। मण्डस्तु त्रिविधो ज्ञेय एकद्वित्रिपरिस्रुतः। लाजैर्भृष्टैरभृष्टैश्च तण्डुलैः परिसंस्कृतः॥ पेया—चौदह गुने जल में चावल डालकर खूब पकावे, उसको मण्ड की भाँति छाने नहीं, वह द्रवसहित भक्तावयव युक्त पदार्थ पेया है—चतुर्दशगुणे नीरे रक्तशाल्यादिभिः कृता। द्रवाधिका स्वल्पसिक्था पेया प्रोक्ता भिषग्वरैः॥ (भावप्रकाश)। विलेपी—चौगुने जल में चावल डालकर खूब पकावे; वह अल्पद्रव युक्त गाढ़ा पदार्थ विलेपी है—चतुर्गुणाम्बुसिद्धा विलेपी घनसिक्थका। पृथग्द्रवेण रहिता ख्याता शिथिलभक्तिका॥ (भावप्रकाश)। चरक में भी ये ही तीन प्रकार वर्णन किये हैं। कुछ ग्रंथकार और टीकाकार 'यवागू' को कृतान्न का एक स्वतन्त्र चौथा प्रकार मानते हैं।

विष्टम्भी पायसो बल्यो मेदःकफकरो गुरुः ।
कफपित्तकरी बल्या कृशराऽनिलनाशनी ॥३४६॥

पायस (पयसि संस्कृत ओदनः, दूध में चावलों से बनाई हुई खीर) विष्टम्भजनक, बलकारक, मेद और कफकर तथा भारी है। कृशरा (तिल चावल और उड़द की खिचड़ी) कफ पित्तकारक, बलवर्धक और वातनाशक है ॥३४६॥

धौतस्तु विमलः शुद्धो मनोज्ञः सुरभिः समः ।
स्विन्नः सुप्रस्रुतस्तूष्णो विशदस्त्वोदनो लघुः ॥३४७॥
अधौतोऽप्रस्रुतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ।
लघुः सुगन्धिः कफहा विज्ञेयो भृष्टतण्डुलः ॥३४८॥
स्नेहैर्मांसैः फलैः कन्दैर्वैदलाम्लैश्च संयुताः ।
गुरवो बृंहणा बल्या ये च क्षीरोपसाधिताः ॥३४९॥

धोये हुए, निर्मल, शुद्ध, मनोहर, सुगंधित (चावलों का) सब ठीक पका हुआ, मांड निकाला हुआ, गरम और जो चिकना न हो ऐसा भात हलका होता है ॥३४७॥ बिना धोये चावलों का, जिसका मांड न निकाला हो, जो सब ठीक न पका हो और जो ठंडा हो ऐसा भात भारी होता है। भुने हुए चावलों का भात हलका, सुगंधित और कफनाशक होता है ॥३४८॥ जो भात (घृतादि) स्निग्ध पदार्थ, मांस, फल, (आलू वगैरह) कन्द, (माषादि) दाल, अम्ल पदार्थों से तथा दुग्धादि से बनता है वह भारी, शरीरपुष्टिकर और बलकारक होता है ॥३४९॥

सुस्विन्नो निस्तुषो भृष्ट ईषत्सूपो लघुर्हितः ।
स्विन्नं निष्पीडितं शाकं हितं[1] स्यात्स्नेहसंस्कृतम् ॥३५०॥
अस्विन्नं स्नेहरहितमपीडितमतोऽन्यथा ।

ठीक पकी हुई, छिलके उतरी हुई और किंचित् भुनी हुई (दाल का) सूप हलका और हितकर है। खूब पका हुआ, निचोड़ा हुआ और घृतादि से संस्कृत किया हुआ शाक हितकर होता है ॥३५०॥ ठीक न पका हुआ, न निचोड़ा हुआ और घृतादि से न बनाया हुआ शाक विपरीत (अहितकर) होता है।

वक्तव्य—ऊपर चावल का मण्ड निकालने की और स्विन्न शाकों को निचोड़कर पानी निकालने की जो विधि वर्णन की है उससे यद्यपि ये पदार्थ कुछ हलके होते होंगे, तथापि ऐसा करने से इन पदार्थों के खनिज, प्रोटीन जीवद्रव्य इत्यादि निकल जाते हैं। इसलिये स्वस्थ मनुष्यों के लिये सर्वदा इसी विधि से बनाया हुआ चावल और शाक का

---

१ हृद्या सन्तर्पणी वृष्या बृंहणी बलवर्धनी. २ यवाग्वोऽम्लाश्च. विलेप्योम्लाश्च दुर्जराः. ३ यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा.

१ स्नेहसंस्कारितं हिमम्.

सेवन स्वास्थ्य-हानिकर होता है। भोजन के विविध प्रकार को इस प्रकार पकाना चाहिये कि उनके विविध उपादानों का नाश न होने पावे। उपर्युक्त विधि केवल रोगियों के लिये है। खाद्य द्रव्यों को पकाने का सब से उत्तम उपाय उनको भाप के द्वारा गलाना है। रसोई बनाने के लिये आजकल कूकर (Cooker) का जो प्रचार है उसमें इसी विधि से भोज्य पदार्थ पकाये जाते हैं। जहाँ तक हो सके अपने भीतर के रस से ही साग को पकाना चाहिये। यदि साग बहुत ही सूखा हो तो उसमें जितनी जरूरत हो उतना ही पानी डालना चाहिये। परन्तु अधिक पानी डालकर पक जाने पर उसको फेंकना अच्छा नहीं है। चावल के बारे में भी यही ध्यान में रखना चाहिये। अन्यथा क्षार, जीवद्रव्यादि आवश्यक पदार्थों से शरीर वंचित होकर खाद्य द्रव्यों की पौष्टिकता कम होती है, और विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

मांसं स्वभावतो वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम् ॥३५१॥
स्नेहगोरसधान्याम्लफलाम्लकटुकैः सह।
सिद्धं मांसं हितं बल्यं रोचनं बृंहणं गुरु ॥३५२॥
तदेव गोरसादानं सुरभिद्रव्यसंस्कृतम्।
विद्यात्पित्तकफोद्रेकि बलमांसाग्निवर्धनम् ॥३५३॥
परिशुष्कं स्थिरं स्निग्धं हर्षणं प्रीणनं गुरु।
रोचनं बलमेधाग्निमांसौजःशुक्रवर्धनम् ॥३५४॥

(मांस—) मांस स्वभाव से ही वृष्य, स्निग्धताकारक और बल बढ़ाने वाला है ॥३५१॥ (तैलघृतादि) स्निग्ध-पदार्थ, (तक्रादि) गोरस, (कांजिक आदि) धान्याम्ल, (दाडिमादि) फलाम्ल, (मरिचादि) कटु पदार्थ इनसे बनाया हुआ मांस हितकर, बलकारक, रुचिकर, शरीरपुष्टिकर और भारी होता है ॥३५२॥ वही मांस दधि तक्र डालने से और (हिंगुमरिचादि) सुगंध द्रव्य छोड़ने से पित्त और कफ का प्रकोप करता है; और बल, मांस तथा जठराग्नि को बढ़ाता है ॥३५३॥ परिशुष्क मांस शरीरस्थैर्यकर, स्निग्ध, आनन्ददायक, तृप्तिकर, भारी, रुचिकर, बलकारक, बुद्धिवर्धक, अग्निदीपक, मांस बढ़ाने वाला, ओजोवर्धक और शुक्रल है ॥३५४॥

वक्तव्य—स्वभावतः—अन्य पदार्थों का संयोग या संस्कार न होते हुए भी। गोरस—दधि और तक्र। मांस के साथ दूध विरुद्ध होता है इसलिये गोरस में दूध का समावेश नहीं होता है—शाकाम्लपलपिण्याककुलत्थलवणामिषैः। करीरदधिमाषैश्च प्रायः क्षीरं विरुध्यते ॥ परिशुष्क—सिक्तं बहुघृते भृष्टं मुहुरुष्णाम्बुना मृदु। जीरकाद्यैर्घनं मांसं परिशुष्कं तदुच्यते ॥

तदेवोल्लुप्तपिष्टत्वादुल्लुप्तमिति पाचकाः।
परिशुष्कगुणैर्युक्तं वह्नौ पक्वमतो लघु ॥३५५॥
तदेव शूलिकाप्रोतमङ्गारपरिपाचितम्।
ज्ञेयं गुरुतरं किंचित् प्रदिग्धं गुरुपाकतः ॥३५६॥
उल्लुप्तं भर्जितं पिष्टं प्रतप्तं कन्दुपाचितम्।
परिशुष्कं प्रदिग्धं च शूल्यं यच्चान्यदीदृशम् ॥३५७॥
मांसं यत्तैलसिद्धं तद्वीर्योष्णं पित्तकृद्गुरु।
लघ्वग्निदीपनं हृद्यं रुच्यं दृष्टिप्रसादनम् ॥३५८॥
अनुष्णवीर्यं पित्तघ्नं मनोज्ञं घृतसाधितम्।

उसी परिशुष्क मांस को (पहले खूब) कूटने से और (पश्चात्) पिष्टमय बनाने से सूपकार 'उल्लुप्त' कहते हैं। वह उल्लुप्त मांस (कोफ्ता) गुण में परिशुष्क मांस के समान होता है (परन्तु) अंगार पर पकाने से वह उससे भी हलका हो जाता है ॥३५५॥ वही मांस लोहे की शलाका पर लगाकर कोयले की आँच पर पकाया हुआ किंचित् भारी हो जाता है। (स्नेह धान्याम्ल तक्रादि से) प्रदिग्ध मांस विपाक में (थोड़ा) भारी होता है ॥३५६॥ उल्लुप्त, भर्जित, पिष्ट, प्रतप्त, कन्दुपाचित, परिशुष्क, प्रदिग्ध, शूल्य तथा इसी प्रकार का अन्य मांस ॥३५७॥ जो तैल में सिद्ध किया जाता है वह उष्णवीर्य, पित्तकारक, गुरु होता है। जो घृत में तैयार किया जाता है वह हलका, अग्निदीपक, हृद्य, रुचिकर, दृष्टिप्रसादक ॥३५८॥ वीर्य में अधिक उष्ण जो न हो ऐसा पित्तनाशक और मन को प्रिय होता है।

वक्तव्य—भर्जितादि शब्दों की व्याख्या—'भर्जितं' स्याद् घृतादौ तु पिष्ट्वा यत्साधितं पुनः। अपूपादिकृतं पिष्टं दधिदाडिमसौरभैः ॥ 'सिद्धं' साज्यैस्तथाऽजाजीसामुद्रमरिचैरपि। अंगारादिषु यत्पक्वं 'प्रतप्तं' तदुदाहृतम् ॥ पिशितं सौरभैर्लिप्तं कन्दुपक्वं मधुप्रभम्। राजिकाकल्कलिप्तं च 'कन्दुपाचित'मुच्यते ॥ हिङ्गूदके परिक्षिप्तं शूले निष्पीडितं ततः। सिक्त्वा सिक्त्वाऽम्बुधाराभिर्विधूमेऽग्नौ प्रतापयेत् ॥ फलाम्लेनापि यत् पक्वं 'शूल्यं' तत् सौरभान्वितम् ॥

प्रीणनः प्राणजननः श्वासकासक्षयापहः।
वातपित्तश्रमहरो हृद्यो मांसरसः स्मृतः ॥३५९॥
स्मृत्योजःस्वरहीनानां ज्वरक्षीणक्षतोरसाम्।
भग्नविश्लिष्टसन्धीनां कृशानामल्परेतसाम् ॥३६०॥
आप्यायनः संहननः शुक्रदो बलवर्धनः।
स दाडिमयुतो वृष्यः संस्कृतो दोषनाशनः ॥३६१॥

(मांसरस—) मांसरस तृप्तिकारक, प्राणजनक, श्वासकासक्षयनाशक, वातपित्तहर, श्रम दूर करने वाला, हृद्य ॥३५९॥ स्मृति और ओज बढ़ाने वाला, स्वर के लिये हितकर, ज्वर से क्षीण, उरःक्षती, जिनकी हड्डियाँ टूट गई हों या जिनके जोड़ विश्लिष्ट (Dislocated) हो गये हों, दुबले, अल्पवीर्य वाले इनके कमी की पूर्ति करने वाला ॥३६०॥ शरीर दृढ़ करने वाला, वीर्यवर्धक और बल बढ़ाने वाला है। वही मांसरस अनार (के रस) से युक्त तथा कटुकादि से संस्कृत किया हुआ वृष्य और दोषनाशक है ॥३६१॥

प्रीणनः सर्व[1]भूतानां विशेषान्मुखशोषिणाम्।
क्षुत्तृष्णापहरः श्रेष्ठः सौरावः स्वादुशीतलः ॥३६२॥
यन्मांसमुद्धृतरसं न तत् पुष्टिबलावहम्।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥३६३॥
दीप्ताग्नीनां सदा पथ्यः खानिष्कस्तु परं गुरुः ॥३६४॥

मांस का शोरवा सर्व प्राणियों, विशेष करके मुखशोषियों,

---

[1] सर्वधातूनां.

के लिये [illegible] तृप्तिकारक, क्षुधा [illegible] और तृषानाशक, उत्तम, मधुर और शीतल है ॥३६२॥ जिस मांस से रस निकाल लिया हो वह पुष्टिकर और बलवर्धक नहीं होता है। विष्टम्भ करता है; पचन में कठिन है, रूक्ष है, रुचिहीन है और वायुकारक होता है ॥३६३॥ खानिष्क (शुष्कमांसभेद या वेसवारभेद) बहुत भारी है (इसलिये) दीप्ताग्नि वालों के लिये सदा पथ्यकर होता है ॥३६४॥

मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम्।
पिप्पलीशुण्ठिमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम् ॥३६५॥
ऐकध्यं पाचयेत्सम्यग्वेसवार इति स्मृतः।
वेसवारो गुरुः स्निग्धो बल्यो वातरुजापहः ॥३६६॥

(वेसवार—) जो मांस अस्थि निकाल कर, जोश देकर, फिर पत्थर पर चूर्ण किया हो तथा पिप्पली, सोंठ, मिरच, गुड़, घृत मिलाकर ॥३६५॥ इकट्ठा पकाया हो उसे 'वेसवार' कहते हैं। वेसवार भारी, स्निग्ध, बलकारक और वातरोगनाशक है ॥३६६॥

कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां व्रणिनामपि।
ज्ञेयः पथ्यतमश्चैव मुद्गयूषः कृताकृतः ॥३६७॥

कृत और अकृत (दोनों प्रकार के) मुद्गयूष कफनाशक, अग्निदीपक, हृद्य, (विरेचनादि से) शुद्ध और व्रण वालों के लिये सब से अधिक पथ्यकर होते हैं ॥३६७॥

वक्तव्य—यूष—अष्टादशगुणे नीरे शिम्बीधान्यश्रृतो रसः। विरलान्नो घनः किंचित् पेयातो 'यूष' उच्यते॥ (भावप्रकाश)। कृताकृत—स्नेह लवणादि संस्कृत तथा स्नेह लवणादि असंस्कृत—अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम्॥

स तु दाडिममृद्वीकायुक्तः स्याद्रागखाडवः।
रुचिष्यो लघुपाकश्च दोषाणां चाविरोधकृत् ॥३६८॥

वही मुद्गयूष मुनक्का और अनार (के रस से) युक्त होने पर 'रागखाडव' होता है। यह रागखाडव रुचिकर, विपाक में हलका और दोषों का विरोध न करने वाला होता है ॥३६८॥

मसूरमुद्गगोधूमकुलत्थलवणैः कृतः।
कफपित्ताविरोधी स्याद्वातव्याधौ च शस्यते ॥३६९॥
मृद्वीकादाडिमैर्युक्तः स चाप्युक्तोऽनिलार्दिते।
रोचनो दीपनो हृद्यो लघुपाक्युपदिश्यते ॥३७०॥

मसूर, मूँग, गेहूँ, कुलथी इनका लवणयुक्त यूष कफपित्त का विरोधक नहीं है, वातव्याधि के लिये श्रेष्ठ होता है ॥३६९॥ यही मुद्गयूष मुनक्का और दाडिमरस से युक्त होने पर वातव्याधि के लिये (विशेष उपयोगी), रुचिकर, अग्निदीपक, हृद्य और विपाक में हलका होता है ॥३७०॥

पटोलनिम्बयूषौ तु कफमेदोविशोषिणौ।
पित्तघ्नौ दीपनौ हृद्यौ कृमिकुष्ठज्वरापहौ ॥३७१॥
श्वासकासप्रतिश्यायप्रसेकारोचकज्वरान्।
हन्ति मूलकयूषस्तु कफमेदोगलामयान् ॥३७२॥
कुलत्थयूषोऽनिलहा श्वासपीनसनाशनः।
तूणीप्रतूणीकासार्शोगुल्मोदावर्तनाशनः[1] ॥३७३॥

पटोल और नीम के यूष कफ और मेद के शोषण करने वाले, पित्तनाशक, अग्निदीपक, हृद्य, कृमि, कुष्ठ और ज्वर के नाशक हैं ॥३७१॥ मूली का यूष श्वास, कास, जुकाम, अरोचक, ज्वर, कफ, मेद और गले के रोगों को नाश करता है ॥३७२॥ कुलथी का यूष वात, श्वास, पीनस, तूनी, प्रतूनी (ये दोनों वातरोग हैं), कास, बवासीर, गुल्म और उदावर्त इनको नाश करता है ॥३७३॥

दाडिमामलकैर्यूषो हृद्यः संशमनो लघुः।
प्राणाग्निजननो मूर्च्छामेदोघ्नः पित्तवातजित् ॥३७४॥
मुद्गामलकयूषस्तु ग्राही पित्तकफे हितः।
यवकोलकुलत्थानां यूषः कण्ठ्योऽनिलापहः ॥३७५॥
सर्वधान्यकृतस्तद्वद् बृंहणः प्राणवर्धनः।

दाडिम और आँवले के साथ किया हुआ (मुद्गादि का) यूष हृद्य, दोषों का शमन करने वाला, हलका, प्राणजनक, अग्निदीपक, मूर्च्छा और मेदनाशक तथा पित्तवातहर होता है ॥३७४॥ मूँग और आँवले का यूष संग्राहक और पित्तकफ में हितकर है। यव, कोल और कुलथी का यूष कण्ठ के लिये हितकर और वातनाशक है ॥३७५॥ सर्व धान्यों से किया हुआ यूष शरीरपुष्टिकर और शक्तिवर्धक है।

खडकाम्बलिकौ हृद्यौ तथा वातकफे हितौ।
बल्यः कफानिलौ हन्ति दाडिमाम्लोऽग्निदीपनः ॥३७६॥
दध्यम्लः कफकृद्बल्यः स्निग्धो वातहरो गुरुः।
तक्राम्लः पित्तकृत् प्रोक्तो विषरक्तप्रदूषणः ॥३७७॥

खड और काम्बलिक (ये दोनों यूष के भेद हैं, एक में छाछ और शमीधान्य और दूसरे में छाछ और शाक पड़ता है) हृद्य और वातकफ में हितकर होते हैं। जिस (यूष) में अनार की खटाई हो वह बलकारक, कफवातनाशक और अग्निदीपन है ॥३७६॥ जिसमें दही की खटाई पड़ती हो वह कफकर, बलकारक, स्निग्ध, वातनाशक और भारी होता है। जिसमें छाछ की खटाई पड़ती हो वह पित्तकारक और विष तथा रक्त को प्रकुपित करने वाला होता है ॥३७७॥

खडाः खडयवाग्वश्च षा(खा)डवाः पानकानि च।
एवमादीनि चान्यानि क्रियन्ते वैद्यवाक्यतः ॥३७८॥
अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम् ॥३७९॥
अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरन्वितं च यत्।
यथोत्तरं लघु हितं संस्कृतासंस्कृतं रसम् ॥३८०॥

खडयूष, खडयवागू, षाडव, पानक (पन्ने) इत्यादि पदार्थ वैद्य उपदेशानुसार किये जाते हैं ॥३७८॥ ये सब पदार्थ यदि स्नेह, लवण और कटुक के विना किये जायँ तो उन्हें अकृत कहते हैं; और स्नेह, लवण और कटुकयुक्त 'कृत' कहलाते हैं ॥३७९॥ गोरस (दधि तक्र), धान्याम्ल, फलाम्ल इनसे युक्त, कृत (संस्कृत) और अकृत (असंस्कृत) ये

---

[1] गुल्ममेदःकफापहः.

(रसयूषादि) उत्तरोत्तर अधिकाधिक हलके और हितकर होते हैं ॥३८०॥

वक्तव्य—खड—तक्रं कपित्थचांगेरीमरिचाजाजिचित्रकैः । सुपक्वः खडयूषोऽयम् ॥ **खडयवागू—खडयूषसिद्धा यवागू । षाडव—**स्पष्टाम्लमधुरोऽस्पष्टकषायलवणोषणः । अतिक्तः षाडवः कोलकुलत्थबदरैः कृताः ॥ **पानक—**द्राक्षामधूकखर्जूरकाश्मर्यैः सपरूषकाः । तुल्यांशैः कल्पितं पूतं शीतं कर्पूरवासितम् ॥ पानकं पंचसराख्यं दाहतृष्णानिवर्तकम् ॥ त्रिजातमरिचाद्यैस्तु संस्कृताः पानकास्तथा ॥

दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः ।
तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम् ॥३८१॥
सिण्डाकी च गुरूणि स्युः कफपित्तकराणि च ।
तद्वच्च वटकान्याहुर्विदाहीनि गुरूणि च ॥३८२॥
लघवो बृंहणा वृष्या हृद्या रोचनदीपनाः ।
तृष्णामूर्च्छाश्रमच्छर्दिश्रमघ्ना रागषाडवाः ॥३८३॥
रसाला बृंहणी बल्या स्निग्धा वृष्या च रोचनी ।
स्नेहनं गुडसंयुक्तं हृद्यं दध्यनिलापहम् ॥३८४॥

दधिमस्तु (दही का पानी) और खटाई से सिद्ध किया हुआ यूष काम्बलिक कहलाता है । तिल खली के विविध प्रकार, सूखा शाक, अधिक रूढ हुआ शाक ॥३८१॥ और सिण्डाकी भारी और कफपित्तकर होते हैं । इन्हीं के अनुसार गुण में बड़े विदाहजनक और गुरु होते हैं ॥३८२॥ रागषाडव लघु, शरीरपुष्टिकर, वृष्य, हृद्य, रोचन, दीपन हैं, और तृषा, मूर्च्छा, श्रम, वमन और श्रम इनको दूर करते हैं ॥३८३॥ रसाला (शिखरिणी) शरीरपुष्टिकर, बलकारक, स्निग्ध, वृष्य, रुचिकर है । गुडयुक्त दही, स्निग्ध, हृद्य और वातनाशक है ॥३८४॥

वक्तव्य—राग—सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः । जम्बूफलरसैर्युक्तो 'रागो' राजिकया कृतः ॥ **रसाला—**अर्धाढकः सुचिरपर्युषितस्य दध्नः खण्डस्य षोडशपलानि शशिप्रभस्य । सर्पिः पलं मधुपलं मरिचं द्विकर्षं शुण्ठ्याः पलार्धमपि चार्धपलं विडस्य ॥ सूक्ष्मे पटे सुविमले मृदु पाणिघृष्टा कर्पूरधूलिसुरभिकृतपात्रसंस्था । एषा वृकोदरकृता सरसा 'रसाला' ॥ श्रीखण्ड के समान यह एक पकान्न है ।

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः ।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते ॥३८५॥
मन्थः सद्योबलकरः पिपासाश्रमनाशनः ।
साम्लस्नेहगुडो मूत्रकृच्छ्रोदावर्तनाशनः ॥३८६॥
शर्करेक्षुरसद्राक्षायुक्तः पित्तविकारनुत् ।
द्राक्षामधूकसंयुक्तः कफरोगनिबर्हणः ॥३८७॥
वर्गत्रयेणोपहितो मलदोषानुलोमनः ।

घी मिले, ठंडे पानी में घुले, न बहुत पतले न बहुत गाढ़े सत्तु 'मंथ' कहलाते हैं ॥३८५॥ मन्थ तुरन्त बल देने वाला, तृषा और श्रम का नाश करने वाला है । खटाई, स्नेह और गुड युक्त (मंथ) मूत्रकृच्छ्र और उदावर्त का नाशक है ॥३८६॥ शर्करा, गन्ने का रस और अंगूर युक्त (मंथ) पित्तविकार का नाशक है । द्राक्षा और महुवा से युक्त (मंथ) कफरोगनाशक है ॥३८७॥ उपर्युक्त तीनों वर्गों के (साम्लस्नेह गुड, शर्करेक्षुरसद्राक्षा, द्राक्षामधु) पदार्थ युक्त (मंथ) मल और दोष (विशेष करके वात) इनका अनुलोमन करने वाला है ।

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम् ॥३८८॥
तदेव खण्डमृद्वीकाशर्करासहितं पुनः ।
साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम् ॥३८९॥
मार्द्वीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम् ।
परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम् ॥३९०॥
द्रव्यसंयोगसंस्कारं ज्ञात्वा मात्रां च सर्वतः ।
पानकानां यथायोगं गुरुलाघवमादिशेत् ॥३९१॥

इति कृतान्नवर्गः ।

खटाई युक्त या खटाई रहित गुड़ का पानक भारी और मूत्रल है ॥३८८॥ वही गुड़ का पानक मिश्री, मुनक्का, चीनी, अम्ल द्रव्य, (मरिचादि) तीक्ष्ण द्रव्य और कर्पूर युक्त निर्दोष होता है ॥३८९॥ अंगूर का पानक श्रमहर, मूर्च्छा, दाह और तृषा को दूर करता है । फालसा और बेरों का पानक मन को प्रिय और विष्टम्भजनक है ॥३९०॥ पानकों में मिलाये हुए द्रव्य, उन पर किये हुए संस्कार और (उनकी सेवन की हुई) राशि जानकर प्रत्येक पानक के संबंध में हलकापन या भारीपन निश्चय करना चाहिये ॥३९१॥

अथ भक्ष्यवर्गः ।

वक्ष्याम्यतः परं भक्ष्यान् रसवीर्यविपाकतः ॥३९२॥

इसके आगे भक्ष्य पदार्थों (जिनको दाँतों से कूचकर खाना पड़ता है ऐसे पदार्थ, यथा—लड्डू) को रसवीर्यविपाक के अनुसार वर्णन करते हैं ॥३९२॥

भक्ष्याः क्षीरकृता बल्या वृष्या हृद्याः सुगन्धिनः ।
अदाहिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः ॥३९३॥
तेषां प्राणकरा हृद्या घृतपूराः कफावहाः ।
वातपित्तहरा वृष्या गुरवो रक्तमांसलाः ॥३९४॥

दूध से बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ बलकर, वृष्य, मन को प्रिय, सुगंधि, दाह न करने वाले, शरीरपुष्टिकर, अग्निदीपक और पित्तनाशक हैं ॥३९३॥ इनमें से घृतपूर (घेवर) प्राण (बल) दायक, मन को प्रिय, कफकारक, वातपित्तनाशक, वृष्य, भारी और रक्त तथा मांस बढ़ाने वाला है ॥३९४॥

वक्तव्य—घृतपूर—मर्दितां समितां (गोधूमचूर्णं) क्षीरनारिकेरसितादिभिः । अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते ॥

बृंहणा गौडिका भक्ष्या गुरवोऽनिलनाशनाः ।
अदाहिनः पित्तहराः शुक्रलाः कफवर्धनाः ॥३९५॥

गुड़ के भक्ष्य पदार्थ शरीरपुष्टिकर, भारी, वातनाशक, विदाह न करने वाले, पित्तनाशक, शुक्र और कफवर्धक हैं ॥३९५॥

मधुमस्तकसंयावाः पूपा ये ते विशेषतः ।
गुरवो बृंहणाश्चैव मोदकास्तु सुदुर्जराः ॥३९६॥

मधुमस्तक, संयाव और जो पूप होते हैं वे विशेष करके

गुरु और शरी पुष्टिकर हैं। मोदक (लड्डू) पचन में कठिन है ॥३९६॥

वक्तव्य—मधुमस्तक—मधुतैलघृतैर्मध्ये वेष्टिताः समिताश्च याः। मधुमस्तकमुद्दिष्टम् ॥ संयावस्तु घृतक्षीरगुडगोधूमपाकजः ॥

रोचनो दीपनः स्वर्यः पित्तघ्नः पवनापहः ।
[1]गुरुर्मृष्टतमश्चैव सट्टकः प्राणवर्धनः ॥३९७॥

'सट्टक' (श्रीखण्ड सदृश पक्वान्न) रुचिकर, अग्निदीपन, स्वर के लिये हितकर, पित्त और वातनाशक, भारी, अत्यंत मधुर और बलवर्धक है ॥३९७॥

वक्तव्य—सट्टक—लवङ्गव्योपखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्। पक्वं दाडिमसंयुक्तं चन्द्रचूर्णविचूर्णितम्। सट्टकं पाचका ग्राहुः ॥

हृद्यः सुगन्धिर्मधुरः स्निग्धः कफकरो गुरुः ।
वातापहस्तृप्तिकरो बल्यो विष्यन्दनः स्मृतः ॥३९८॥

'विष्यन्दन' हृद्य, सुगंधयुक्त,, मधुर, स्निग्ध, कफकर, भारी, वातनाशक, तृप्तिकारक और बलवर्धक है ॥३९८॥

वक्तव्य—विष्यन्दन—आमगोधूमचूर्णं च सर्पिःक्षीरगुडान्वितम्। नातिसान्द्रो नातिघनो विष्यन्दो नाम नामतः ॥

बृंहणा वातपित्तघ्ना भक्ष्या बल्यास्तु सामिताः ।
हृद्याः पथ्यतमास्तेषां लघवः फेनकादयः ॥३९९॥
मुद्गादिवेसवाराणां पूर्णो[2] विष्टम्भिनो मताः ।
वेसवारैः सपिशितैः संपूर्णा गुरुबृंहणाः ॥४००॥

गेहूँ के पीसान के सर्व पदार्थ शरीरपुष्टिकर, वातपित्तनाशक, बलवर्धक, हृद्य और अत्यंत पथ्यकर होते हैं । उनमें फेनक (फेनी) आदि अत्यंत हलके होते हैं ॥३९९॥ मुग्दादि वेसवार से भरे हुए (सामित) विष्टम्भजनक हैं, और मांसादि वेसवार से भरे हुए भारी और शरीरपुष्टिकर होते हैं ॥४००॥

पाललाः श्लेष्मजननाः, शष्कुल्यः कफपित्तलाः ।

पालल (पलल तिलचूर्णं तेन कृताः पाललाः) कफकारक और शष्कुलि कफपित्तकारक (कफपित्तजनक पदार्थों में श्रेष्ठ । चरक) हैं ।

वीर्योष्णाः पैष्टिका भक्ष्याः कफपित्तप्रकोपणाः ।
विदाहिनो नातिबला गुरवश्च विशेषतः ॥४०१॥

(चावल के) पिष्ट के पदार्थ उष्णवीर्य, कफपित्तप्रकोपक, विदाहजनक, अधिक बल न देने वाले और विशेष करके गुरु होते हैं ॥४०१॥

वैदला लघवो भक्ष्याः कषायाः सृष्टमारुताः ।
विष्टम्भिनः पित्तसमाः श्लेष्मघ्ना भिन्नवर्चसः ॥४०२॥
बल्या वृष्यास्तु गुरवो विज्ञेया माषसाधिताः ।

द्विदल धान्यों के भक्ष्य हलके, कषाय, वायुवर्धक, विष्टम्भजनक, पित्तकर, कफनाशक और मल का भेदन करने वाले हैं ॥४०२॥ (उनमें) उड़द से बनाये हुए भक्ष्य बलकारक, वृष्य और गुरु होते हैं ।

कूर्चिकाविकृता भक्ष्या गुरवो नातिपित्तलाः ॥४०३॥

कूर्चिका (विग्रथित क्षीर, फटे हुए दूध) से बनाये हुए भक्ष्य (जैसे—रसोगुल्ला, संदेश) गुरु हैं और विशेष पित्तकर नहीं हैं ॥४०३॥

विरूढककृता भक्ष्या गुरवोऽनिलपित्तलाः ।
विदाहोत्क्लेशजनना रूक्षा दृष्टिप्रदूषणाः ॥४०४॥

अंकुरित धान्यों से बनाये हुए भक्ष्य भारी, वातपित्तकर, विदाहजनक, उबकी करने वाले, रूक्ष और दृष्टिदूषक होते हैं ॥४०४॥

हृद्याः सुगन्धिनो भक्ष्या[1] लघवो घृतपाचिताः ।
वातपित्तहरा बल्या वर्णदृष्टिप्रसादनाः ॥४०५॥
विदाहिनस्तैलकृता गुरवः कटुपाकिनः ।
उष्णा मारुतदृष्टिघ्नाः पित्तलास्त्वक्प्रदूषणाः ॥४०६॥

घी में बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ मन को प्रिय, सुगंधयुक्त, हलके, वातपित्तनाशक, बलकारक, वर्ण और दृष्टि के प्रसादक होते हैं ॥४०५॥ तेल में बनाये हुए पदार्थ विदाह करने वाले, गुरु, विपाक में कटु, गरम, वातनाशक, दृष्टिदूषक, पित्तकारक और त्वचा को दूषित करने वाले हैं ॥४०६॥

फलमांसेक्षुविकृतितिलमाषोपसंस्कृताः ।
भक्ष्या बल्याश्च गुरवो बृंहणा हृदयप्रियाः ॥४०७॥

फल, मांस, इक्षुरस से बनाये हुए शर्करादि पदार्थ, तिल, उड़द इत्यादि पदार्थ डालकर बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ बलकारक, भारी, शरीरपुष्टिकर और मन को प्रिय होते हैं ॥४०७॥

कपालाङ्गारपक्वास्तु लघवो वातकोपनाः ।
सुपक्वास्तनवश्चैव भूयिष्ठं लघवो मताः ॥४०८॥

कपालांगारों पर पके हुए भक्ष्य हलके और वातप्रकोपक हैं। वे ही पतले और खूब पके हुए हों तो बहुत हलके होते हैं ॥४०८॥

सकिलाटादयो भक्ष्या गुरवः कफवर्धनाः ।
कुल्माषा वातला रूक्षा गुरवो भिन्नवर्चसः ॥४०९॥

किलाटादि से बनाये हुए भक्ष्य गुरु और कफ बढ़ाने वाले होते हैं। कुल्माष वातकर, रूक्ष, गुरु और मल का भेदन करने वाले हैं ॥४०९॥

उदावर्तहरो वाट्यः कासपीनसमेहनुत् ।
धानोलुम्बास्तु लघवः कफमेदोविशोषणाः ॥४१०॥

वाट्य (भृष्टयवकृतभक्ष्य) उदावर्तनाशक है और कास, पीनस तथा प्रमेह दूर करता है । धान (भृष्टयव) और उलुम्ब (अग्निपक्व कलायादि शिम्ब) लघु और कफमेद का शोषण करने वाले हैं ॥४१०॥

शक्तवो बृंहणा वृष्यास्तृष्णापित्तकफापहाः ।
पीताः सद्योबलकरा भेदिनः पवनापहाः ॥४११॥
गुर्वी पिण्डी खराऽत्यर्थं लघ्वी सैव विपर्ययात् ।
शक्तूनामाशु जीर्येत मृदुत्वादवलेहिका ॥४१२॥

शक्तु (भृष्टयवचूर्ण) शरीरपुष्टिकर, वृष्य, तृष्णाशामक, पित्तकफनाशक है, सेवन करते ही बल देता है, भेदी है और वातनाशक है ॥४११॥ उसका अत्यंत कठिन लड्डू भारी होता है और मुलायम लड्डू हलका होता है । उसका अवलेह पतला होने के कारण शीघ्र पचता है ॥४१२॥

---

[1] गुरुर्मिष्ट०. [2] पूर्णो विष्टम्भिनो मतः.

[1] वृष्याः.